रिदास संस्कृत ग्रन्थमाला ४२

॥ श्रीः ॥

ज्ञानशाकुन्तलम्

लि' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

03

निराश्रया न शोभन्ते पण्डिता वनिताल

15



॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

४१

महाकवि श्रीकालिदासप्रणीतम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

'किशोरकेलि' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्

संस्कृतव्याख्याकारः

श्री नवकिशोरकरशास्त्री

(साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरणतीर्थ, न्यायवैशेषिक-वेदान्तशास्त्री)

हिन्दीव्याख्याकारः

श्री रामतेज पाण्डेयः

समीक्षा, टिप्पणी (नोट्स) लेखकः

श्री कान्तानाथशास्त्री तैलङ्ग, एम. ए.

(प्राध्यापक, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी)



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७५

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
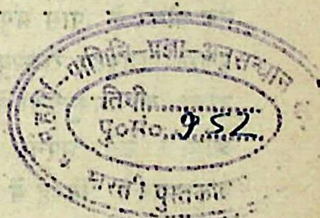
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : अष्टम, वि० सं० २०३२
मूल्य :



गोपाल मन्दिर लेन,
पो० बा० ८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)
फोन : ६३१४५

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी–२२१००१

15



शाकुन्तल-समीक्षा

(प्रो० कान्तानाथ शास्त्री तेलंग)

महाकवि कालिदास

अभिज्ञानशाकुन्तल के कर्ता कालिदास संसार के प्रसिद्ध कवियों में से एक माने जाते हैं। इनके काल, जीवनवृत्त, ग्रन्थ, शैली आदि के विषय में चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज, वाराणसी, से प्रकाशित **कुमारसम्भव** के पञ्चम सर्ग की भूमिका में लिखा जा चुका है। उन विषयों की जानकारी के लिये उक्त भूमिका देखनी चाहिये।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाम क्यों पड़ा ?

राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला से गान्धर्व-विधि से विवाह किया। कुछ दिनों बाद राजा अपने नगर को चला गया। जाते समय वह शकुन्तला को अपने नामाक्षरों से अङ्कित एक अंगूठी दे गया था। कण्व ऋषि को जब इस विवाह का समाचार ज्ञात हुआ तब उन्होंने शकुन्तला को राजा के पास भेजवा दिया। परन्तु दुर्वासा के शाप के कारण राजा उसे पहिचान न सका। शकुन्तला ने राजा की दी हुई अंगूठी दिखला कर उसे बीते वृत्तान्त की याद दिलानी चाही। परन्तु अंगूठी अंगुली में न थी। वह पहिले ही मार्ग में शक्रावतार पर शचीतीर्थ का वन्दन करते समय जल में गिर चुकी थी।

निराश होकर शकुन्तला राजमहल से निकली। इतने में तेजोमयी एक मूर्ति प्रकट हुई और शकुन्तला को लेकर अदृश्य हो गई। इसके बाद राजपुरुषों को एक धीवर के पास अंगूठी मिली। उन्होंने उसे चोर समझ कर पकड़ा। प्रधान राजपुरुष राजश्याल अंगूठी लेकर राजा के पास गया। उसे देखकर राजा को शकुन्तला के साथ अपने गान्धर्वविवाह का वृत्तान्त स्मरण हो आया। उसे अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ और उस समय से वह शकुन्तला के विरह में दुखी रहने लगा। इस प्रकार इस नाटक में अंगूठी रूपी अभिज्ञान से शकुन्तला के पहिचाने जाने का वृत्तान्त होने के कारण इसे **'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'** कहते हैं। यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि पञ्चम अङ्क के अन्त में अंगूठी देख कर राजा को शकुन्तला की जो याद आई उसी के कारण इस नाटक को यह नाम दिया गया है। सप्तम अङ्क में तो एक दूसरे को पहिचान कर मिलन होने के बाद शकुन्तला ने राजा की अंगुली में अंगूठी देखी। अतः यहाँ की घटना के कारण यह नाम नहीं दिया गया है। (देखिए पृ० ५५१)

कथा का मूल

दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा महाभारत और पद्मपुराण में मिलती है। पद्मपुराण की कथा की अपेक्षा महाभारत की कथा पुरानी प्रतीत होती है। वह सीधी सादी और नीरस है। पद्मपुराण की कथा महाभारत और कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की कथाओं के अंशों को जोड़ कर बनाई मालूम पड़ती है। उसके अन्त का बहुत बड़ा भाग कालिदास के शाकुन्तल का सार मात्र प्रतीत होता है। विद्वानों का मत है कि पद्मपुराण का अधिक हिस्सा कालिदास के बाद रचा गया था। कालिदास ने अपने नाटक के लिये कथा महाभारत से ही ली होगी।

महाभारत की कथा

दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा का रूप महाभारत में इस प्रकार है :— एक बार चन्द्रवंशी राजा दुष्यन्त शिकार खेलता हुआ कण्व ऋषि के आश्रम के

पास पहुँचा। उसने सीधे आश्रम में घुस कर पुकारा। परन्तु कण्व उस समय आश्रम में न थे। वे फल लाने के लिए बन गए थे। उनकी धर्म-पुत्री शकुन्तला ने राजा का स्वागत किया। राजा के पूछने पर उसने विश्वामित्र से अपनी उत्पत्ति का सारा हाल कह सुनाया। जब राजा को यह मालूम हुआ कि वह क्षत्रिय की कन्या है तो उसने उसके प्रति अपना प्रेम व्यक्त किया। शकुन्तला ने इस शर्त पर उससे विवाह करना स्वीकार किया कि राजा के मरने पर उसका लड़का राजा होगा। राजा ने उसे वचन दिया और गान्धर्व-विधि से उसका पाणिग्रहण करके उसके साथ सहवास किया। इसके बाद राजा शकुन्तला को यह आश्वासन देकर कि नगर जाकर मैं तुम्हें ले जाने के लिये सेना भेजूंगा, अपनी राजधानी चला गया। मार्ग में वह यह सोचता जाता था कि ऋषि की आज्ञा के बिना मैंने उनकी कन्या का पाणिग्रहण किया। जब उन्हें यह समाचार मालूम होगा तो वे न जाने क्या अनर्थ करेंगे।

राजा के जाने के कुछ ही देर बाद कण्व ऋषि वन से वापस आए। उन्होंने तपोवल से सब वृत्तान्त जान लिया और शकुन्तला के विवाह को अपनी स्वीकृत दे दी। इस घटना के तीन वर्ष बाद शकुन्तला को एक पुत्र हुआ। ६ वर्ष की अवस्था में ही उसका बल और पराक्रम स्पष्ट दिखाई देने लगा। वह बड़े-बड़े सिंह, हाथी, महिष आदि पशुओं को बलपूर्वक आश्रम के वृक्षों में बाँध देता था। उसके इस पराक्रम को देख कर कण्व ऋषि ने उसका नाम सर्वदमन रखा। इस नौ वर्ष के काल तक शकुन्तला तपोवन में ही रही। इसके आगे उसे तपोवन में रखना ऋषि को अच्छा न मालूम हुआ। अतः उन्होंने उसे और उसके पुत्र को कुछ तपस्वियों के साथ राजा के पास भेज दिया। जब शकुन्तला राजा के सामने आई तो राजा ने स्मरण रहते हुए भी कह दिया—'मैं तुम्हें नहीं जानता। यह पुत्र मेरा नहीं है। तुम जहाँ जी चाहे जाओ।'

राजा की बात सुन कर शकुन्तला को बड़ा दुःख हुआ। उसने राजा को बहुत समझाया। परन्तु राजा ने एक न मानी। इस पर निराश होकर शकु-

न्तला जाने ही वाली थी कि इतने में आकाशवाणी हुई। देवताओं ने राजा को कहा कि शकुन्तला तुम्हारी भार्या है और सर्वदमन तुम्हारा पुत्र है। तुम उन्हें रख लो। यह सुन कर पुरोहित और मन्त्रियों की राय से राजा ने दोनों को अपनाया। उसने सर्वदमन का भरत नाम रखा। उसने वहाँ उपस्थित लोगों से कहा कि मुझे सब वृत्तान्त स्मरण था। परन्तु यदि मैं पहिले ही इन्हें स्वीकार कर लेता तो आप लोगों को शङ्का होती। अब आकाशवाणी से देवताओं की स्वीकृति मिल जाने पर इनकी शुद्धि हो गई है।

पद्मपुराण की कथा

पद्मपुराण में भी राजा के द्वारा शकुन्तला के पाणिग्रहण तक की कथा वैसी ही है जैसी महाभारत में। केवल दो अन्तर है। पहली बात तो यह कि महाभारत के अनुसार शकुन्तला ने अपनी उत्पत्ति की कथा राजा को स्वयं बतलाई। पद्मपुराण के अनुसार उसने वह कथा अपनी सखी प्रियंवदा के द्वारा कहलवाई। दूसरी बात यह कि महाभारत के अनुसार जाते समय राजा ने शकुन्तला को कोई प्रत्यभिज्ञान नहीं दिया। पद्मपुराण के अनुसार उसने जाते समय शकुन्तला को अपनी अंगूठी दी। इस घटना के आगे सारी कथा प्रायः अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा के समान है। केवल दो बातों में दोनों का अन्तर है। पहली बात तो यह कि पद्मपुराण के अनुसार शकुन्तला सात महीने का गर्भ होने तक तपोवन में ही रही, जब की नाटक के अनुसार कण्व को दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेमसम्बन्ध का पता लगते ही उसे उसी दिन राजा के घर बिदा किया। दूसरी बात यह कि पद्मपुराण के अनुसार शकुन्तला जब राजनगर जाने लगी तो उसके साथ शार्ङ्गरव, शारद्वत और गौतमी के साथ प्रियंवदा भी गई। मार्ग में सरस्वती के जल में स्नान करते समय शकुन्तला ने प्रत्यभिज्ञानाङ्गुरीयक प्रियंवदा को दी। वह उसके हाथ से जल में गिर पड़ी। प्रियंवदा ने डर के मारे यह बात शकुन्तला से नहीं कही। शकुन्तला भी उसे पूछना भूल गई। राजदरबार में राजा को विश्वास दिलाने के लिये आवश्यकता पड़ने पर शकुन्तला ने प्रियंवदा से अंगूठी मांगी। इस पर प्रियंवदा ने धीरे से उसके कान में

कहा कि वह नदी में गिर गई । यह सुन कर शकुन्ला वेहोश हो गई। इसके अतिरिक्त पद्मपुराण का सब घटनाचक्र शाकुन्तल के समान हैं ।

मूल कथा में परिवर्तन

कालिदास ने मूल कथा महाभारत से ली है । उसमें उन्होंने यत्र तत्र परिवर्तन करके उसे सरस बनाया है । (१) मूल कथा के अनुसार राजा दुष्यन्त शिकार खेलते हुए अपनी सेना के साथ कण्व ऋषि के आश्रम के पास पहुँचा । वह अपनी सेना को बाहर खड़ा करके अकेले सीधे आश्रम में गया । शाकुन्तल के अनुसार शिकार खेलते समय राजा की सेना पीछे छूट गई । राजा केवल सूत के साथ घूमता हुआ आश्रम आ पहुँचा । उसने सहसा आश्रम में प्रवेश नहीं किया । उसने ऐसे समय प्रवेश किया जब तपस्वि-कन्याओं से उससे सहायता पाने की चर्चा चल रही थी । यह घटना बहुत ही स्वाभाविक और सरस ढंग से हुई । पीछे छूटी सेना का भी कवि ने बहुत अच्छा उपयोग किया है । राजा को न पाकर सेना उसे खोजती हुई आश्रम आई । वहाँ उसने गड़बड़ मचानी शुरू की । उस समय राजा शकुन्तला आदि से बातें करने में मग्न था । सेना द्वारा मचाई गड़बड़ी का समाचार सुन कर वह उठ खड़ा हुआ और व्यवस्था करने के लिये बिदा लेकर बाहर आया । इस प्रकार प्रथम मिलन और प्रथम अंक कवि ने बड़ी सफाई से समाप्त किये हैं ।

(२) मूल कथा के अनुसार जब राजा आश्रम में पहुँचा उस समय कण्व ऋषि फल लाने वन गए थे । अतः उनकी धर्म की कन्या शकुन्तला ने राजा का स्वागत किया । राजा के पूछने पर उसने विश्वामित्र से अपनी उत्पत्ति का सारा हाल उसको स्वयं कह सुनाया । राजा के विवाह का प्रस्ताव करने पर उसने उसे कण्व के वन से वापस आने तक रुकने को कहा । परन्तु राजा के जल्दी करने पर उसने शर्त पर विवाह करना स्वीकार कर लिया कि राजा के बाद उसका पुत्र राजा होगा । मुग्धा तपस्वि-कन्या का एक अपरिचित पुरुष के साथ इस प्रकार खुल कर बातें करना अस्वा-

भाविक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त शर्त पर किया हुआ विवाह नीरस घटना होती है। वह एक पक्ष की दृष्टि से मनुष्य की उच्छृङ्खल कामवासना की तृप्ति के लिये किया हुआ अविचारपूर्ण कार्य और दूसरे पक्ष की दृष्टि से व्यापार प्रतीत होता है। इसलिये कालिदास ने इस घटना को भी बदल दिया है। शाकुन्तल के अनुसार राजा को शकुन्तला के जन्म आदि का वृत्तान्त प्रियंवदा और अनसूया से मालूम हुआ। यह स्वाभाविक है। कवि ने कण्व ऋषि को सोमतीर्थ भेज कर राजा को शकुन्तला से मिलने के लिये समय दिया है। इससे भी कथा सरस हो गई है।

(३) मूल कथा के अनुसार कण्व ऋषि को राजा के साथ शकुन्तला के शरीर-सम्बन्ध का पता लगने के बाद भी नौ वर्ष तक वह तपोवन में ही रही। प्रथम तीन वर्ष के बाद उसे पुत्र हुआ। उसके ६ वर्ष का होने पर कण्व को स्मरण आया कि विवाहित लड़की को बहुत दिनों तक पिता के घर न रहना चाहिए। तब उन्होंने उसे शिष्यों के साथ राजा के पास भेज दिया। यह घटना भी बेतुकी मालूम पड़ती है। कालिदास ने इसे बदल दिया है। शाकुन्तल के अनुसार शकुन्तला को पुत्र ठीक समय पर हुआ ऐसा प्रतीत होता है। राजा के साथ शरीर-सम्बन्ध की बात ज्ञात होते ही कण्व ने तुरत उसी दिन उसे राजमहल के लिये बिदा किया। वह गर्भिणी अवस्था में ही राजदरबार में आई। उसे मारीच ऋषि के आश्रम में हेमकूट पर पुत्र उत्पन्न हुआ। इस परिवर्तन से भी कथा में स्वाभाविकता आ गई है। नौ वर्ष के बाद कण्व का यह कहना कि विवाहित लड़की को बहुत दिनों तक पिता के घर न रहना चाहिये, हास्यास्पद हो जाता है।

(४) मूल कथा के अनुसार शकुन्तला पुत्र सहित राजमहल को गई। राजा ने सब वृत्तान्त स्मरण रहते हुए भी जब उसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया तो निराश होकर वह जाने लगी। इतने में आकाशवाणी हुई। देवताओं ने शकुन्तला की बात का समर्थन किया। तब राजा ने पुरोहित आदि की सम्मति से शकुन्तला और उसके पुत्र को अपनाया यह घटना भी नीरस है। यह वैसा ही मालूम होता है जैसे कोई गुलाम न

चाहते हुए भी मालिक की आज्ञा से लाचार होकर कोई बात स्वीकार करे। इस घटना से राजा की कुटिलता, क्रूरता और हृदय की कमजोरी प्रकट होती है। कालिदास ने इसे भी बदल दिया है। शाकुन्तल के अनुसार शकुन्तला गर्भिणी अवस्था में ही राजा के पास गई। दुर्वासा के शाप के कारण उसे वृत्तान्त स्मरण न आया। उसने उसे रखना स्वीकार न किया। इस पर एक अदृश्य मूर्ति शकुन्तला को उठा ले गई। मारीच के आश्रम में हेमकूट पर्वत पर उसे पुत्र हुआ। इधर धीवर से प्राप्त अंगूठी देख कर राजा को सब वृत्तान्त स्मरण आया। वह अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करने लगा। उसका चित्त पुनः शकुन्तला की ओर आकृष्ट हुआ। राजा दानवों को मारकर लौटते समय मारीच के आश्रम में गया। वहाँ उसने पहिले अपने पुत्र को देखा। इसके बाद उसका शकुन्तला से मिलन हुआ। घटनाओं का यह क्रम सरस है। अंगूठी के दर्शन ने राजा की तरफ से तोड़े गए प्रेम-बन्धन को जोड़ दिया। मिलन के पूर्व पुत्र के दर्शन ने उसे दृढ़ कर दिया। पुत्र, पति और पत्नी के बीच की प्रेम की ग्रन्थि होता है कवि ने पुत्र की सत्ता का बड़ा सुन्दर उपयोग किया है।

(५) मूल कथा रोचक बनाने के लिये कालिदास ने अपनी मौलिक कल्पना से और कई बातें उसमें जोड़ दी हैं। दुर्वासा का शाप राजा को कलङ्क से बचाता है। प्रियंवदा और अनुसूया की उपस्थिति प्रथम मिलन के समय की बातचीत को सरस बनाती है। अंगूठी का वृत्तान्त इस कथा में बहुत महत्त्व का है। वह यह शिक्षा देता है कि मनुष्य को अपनी छोटी सी भूल के कारण जगत में बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। वह दुर्वासा के शाप के साथ मिल कर संसार की कटु आलोचना से राजा की रक्षा करता है। अन्त में वही राजा के मन में शकुन्तला के प्रति दूना प्रेम उत्पन्न करता है। विदूषक बीच-बीच में हास्य रस का पुट देकर कथा को ताजगी देता है। मातलि का विदूषक पर आक्रमण राजा की चित्तवृत्ति बदलता है। शकुन्तला के विरह में दुखी राजा उत्साह-हीन अवस्था में था। कदाचित् उस अवस्था

में वह राक्षसों से लड़ने जाने का प्रस्ताव स्वीकार न करता । अतः उसे क्रोध दिलाना आवश्यक था। दुखी पुरुष को क्रोध शीघ्र आता है। क्रोध के बाद उत्साह भरा जा सकता है। यह सब नाटक में मालति ने स्वयं ही स्पष्ट किया है। ये सब बातें महाभारत की मूल कथा में नहीं हैं। ये कवि की अपनी कल्पना के फल हैं।

कथावस्तु की पाँच अर्थप्रकृतियाँ

दशरूपककार तथा दर्पणकार ने अर्थप्रकृति शब्द का अर्थ 'प्रयोजनसिद्धि के हेतु' लिखा है। वस्तुतः अर्थप्रकृतियाँ कथावस्तु के उपादान या सामग्री होती हैं। अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। नायक के मुख्य फल का वह हेतु, जिसका कथा के आरम्भ में बहुत थोड़े में अभिधान किया जाता है, परन्तु आगे चल कर जिसका अनेक प्रकार से विस्तार होता है, 'बीज' कहलाता है। आवान्तर वृत्तान्त से मूल कथा के विच्छिन्न होने पर उसे आगे बढ़ाने वाले हेतु को 'बिन्दु' कहते हैं। वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त जो दूर तक चलता है और मुख्य फल को प्राप्त करने में प्रधान नायक की सहयता करता है, 'पताका' कहलाता है। वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त जो पताका की अपेक्षा छोटा होता है और लक्ष्य तक पहुँचने में नायक की सहायता करता है, 'प्रकरी' कहलाता है। जो कुछ साध्यत्वेन अपेक्षित होता है और जिसकी सिद्धि के लिये प्रयत्न किया जाता है और सामग्री एक की जाती है उसे 'कार्य' कहते हैं। 'यह मुख्य कार्य' और 'आवान्तर कार्य' के भेद से दो प्रकार का होता है। मुख्य कार्य ही कथा का मुख्य फल या प्रयोजन अन्तिम लक्ष्य कहलाता है। आवान्तर कार्य मुख्य कार्य की सिद्धि के साधन होते हैं।

राघवभट्ट के अनुसार प्रथम अङ्क के आरम्भ में 'इदानीमेव' से लेकर 'सोमतीर्थं गतः' (पृ० २४) तक वैखानस की उक्ति शाकुन्तल की कथा का बीज है। हमारे विचार से उपर्युक्त वैखानस की उक्ति के पूर्व 'एष चास्मद्-

गुरोः कण्वस्य' इत्यादि वैखानस की उक्ति से लेकर 'सा खलु विदितभक्तिमां महर्षये निवेदयिष्यति' (पृ० २२–२४) राजा की इस उक्ति तक का अंश कथा का बीज है। वैखानस ने राजा को आश्रम में जाने के लिये उत्साहित किया और राजा ने उसे स्वीकार किया—ये दोनों बातें मिलाकर पूरा बीज है। यदि वैखानस राजा को उत्साहित न करता तो कदाचित् राजा आश्रम की तरफ न जाकर अपने शिविर को लौट जाता। ऐसी अवस्था में कथा आगे बढ़ने ही न पाती। वैखानस के उत्साहित करने पर भी यदि राजा कण्व की अनुपस्थित जान कर आश्रम में जाना स्वीकार न करता तो भी कथा आगे न बढ़ती। अतः दोनों बातों को मिलाकर बीज मानना चाहिये। यही बीज अनेक रूपों में विकसित होकर कथानक को जन्म देता है।

राघवभट्ट के अनुसार द्वितीय अङ्क में 'सखे माधव्य ! अनाप्तचक्षुः फलोऽसि' इत्यादि राजा की उक्ति से लेकर 'सर्वः खलु कान्तम्' इत्यादि (पृ० १०४ १०५) राजा की उक्ति तक का अंश बिन्दु है। मृगयावृत्तान्त से मूल कथा के विच्छिन्न होने पर यह अंश उसे जोड़ता है।

दर्पणकार के अनुसार अभिज्ञानशाकुन्तल में विदूषक का वृत्तान्त पताका है। यह बात ठीक नहीं जँचती। विदूषक राजा को शकुन्तला के साथ स्थायी मिलन रूपी मुख्य फल को प्राप्त करने में कोई सहायता नहीं करता। विदूषक सर्वप्रथम द्वितीय अङ्क में हमारे सामने आता है। मृगयावृत्तान्त के बाद राजा उसे अपने हृदय का रहस्य बतलाता है। परन्तु उससे कोई सहायता पाने के पहिले ही द्वितीय अङ्क के अन्त में उसे नगर विदा कर देता है। इतना ही नहीं विदा करते समय उससे ऐसी बातें कहता है जिससे वह हँसी समझ कर शकुन्तला के वृत्तान्त को एक दम भूल जाता है। यह बात षष्ठ अङ्क में विदूषक की उक्ति से ही स्पष्ट होती। (पृ० ४२५)। तृतीय और चतुर्थ अङ्क में विदूषक का दर्शन नहीं होता। पञ्चम अङ्क के आरम्भ में राजा के साथ पुनः विदूषक दिखाई देता है। परन्तु यहाँ भी राजा उसे

शीघ्र ही हंसवती के पास भेज देता है। विदूषक की अनुपस्थिति में ही शकुन्तला के प्रत्याख्यान का सब वृत्तान्त हो जाता है। इस प्रकार सहायता करने का यह अवसर भी विदूषक के हाथ से निकल जाता है। षष्ठ अंक में पुनः एक बार विदूषक सामने आता है। यहाँ वह उद्यान में शकुन्तला के विरह में दुखी राजा को समझाता है। इसी अङ्क के अन्त में राजा मातलि के साथ राक्षसों से लड़ने चला जाता है। इस प्रकार विदूषक कहीं भी मुख्य फल को प्राप्त करने में राजा की सहायता करता हुआ नहीं दिखाई देता। ऐसी अवस्था में उसके वृत्तान्त को पताका कैसे कहा जाय ? हाँ, द्वितीय अङ्क में जब राजा विदूषक को बतलाता है कि मुझे देख कर शकुन्तला ने अपना प्रेम न छिपाया न खोल ही दिया, तो वह कहता है कि क्या तुम्हारे देखते ही वह तुम्हारी गोद में आकर बैठ जाय। इस व्यङ्ग्य द्वारा वह राजा को प्रयत्न करने के लिये प्रोत्साहित करता है (पृ० ११४–११५)। आगे जब राजा उससे कहता है कि पुनः तपोवन में जाने का कोई उपाय बताओ, तो वह कहता है कि षष्ठांश माँगने के बहाने जा सकते हो (पृ० ११७–११८)। षष्ठ अङ्क में भी दुखी राजा को समझाते हुए वह कहता है कि समय आने पर तुमसे शकुन्तला की अवश्य भेंट होगी (पृ० ४३०)। इसी अङ्क के अन्त में राजा को राक्षसों से लड़ने के लिए ले जाने के पहिले उसकी चित्तवृत्ति बदलने के लिये मातलि विदूषक पर आक्रमण करता है। यदि विदूषक की ये सब सेवाएँ मुख्य फल की प्राप्ति में सहायता मानी जा सकती हों तो विदूषक का वृत्तान्त पताका हो सकता है। हमारे विचार से दुर्वासा के शाप की पृष्ठभूमि वाला अंगूठी का वृत्तान्त इस कथा का पताका है। यह वृत्तान्त महाभारत की मूल कथा में नहीं है। कवि ने इसे जोड़ कर मूल कथा के साथ दिया है। यद्यपि एक बार प्रथम अङ्क में ही राजा के नामाक्षरों से अङ्कित अंगूठी हमारे सामने आती है, तथापि उसका मुख्य वृत्तान्त चतुर्थ अङ्क से प्रारम्भ होता है। चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक में प्रियंवदा कहती है कि यदि दुर्वासा ने—आभरणाभिज्ञान दिखलाने पर शाप की निवृत्ति होगी—ऐसा कहा है तो ठीक है। राजा की दी हुई अंगूठी काम आवेगी। आगे यह शचीतीर्थ में गिर जाती है। आभरण

दिखला कर राजा को विश्वास दिखाने के समय शकुन्तला को अपनी अंगुली में अंगूठी नहीं मिलती। अनन्तर वह धीवर के पास बरामद होती है। उसे देख कर राजा को गान्धर्व विवाह का वृत्तान्त स्मरण आता है। वह इस वृत्तान्त का फल है। यह यहीं गर्भसन्धि में समाप्त हो जाता है। इसके आगे भी मूल कथा के अन्त तक अंगठी कई बार हमारे सामने आती रहती है। पताका के सभी लक्षण इस वृत्तान्त में मिलते हैं। अतः इसे पताका मानना चाहिये। विदूषक और अंगूठी दोनों के वृत्तान्तों को यदि पताका माना जाय तो भी कोई दोष न होगा। एक कथा में एक ही पताका होनी चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। पताका में कोई सजीव पुरुष को ही नायक होना चाहिये ऐसा भी नियम नहीं बनाया जा सकता।

इन्द्र के सारथि मातलि का वृत्तान्त शाकुन्तल की कथा की प्रकरी है। षष्ठ अङ्क के अन्त में मातलि हमारे सामने आता है। वह राजा को राक्षसों से लड़ने के लिये ले जाता है। राक्षसों को परास्त करके लौटते समय मातलि राजा को मारीच ऋषि के आश्रम में ले जाता है। वहाँ राजा की अपने पुत्र और शकुन्तला से भेंट होती है। मारीच के आशीर्वाद से नायक और नायिका का स्थायी मिलन होता है। इस प्रकार यह छोटा सा वृत्तान्त मुख्य कार्य की सिद्धि में सहायक होता है। अतः इसे प्रकरी कहा जा सकता है। पूज्यपाद पं० बलदेव उपाध्याय जी का मत है कि मिश्रकेशी (अन्य संस्करणों में सानुमती) के वृत्तान्त को इस कथा की प्रकरी मानना चाहिये। यह विमर्शसन्धि में आरम्भ होकर निर्वहसन्धि के अन्त तक चला जाता है। मिश्रकेशी षष्ठ अङ्क के आरम्भ में हमारे सामने आती है। वह नियमानुसार अपनी पाली के दिन अप्सरस्तीर्थं पर अपना नियोग पूरा करने जाती है। जाते समय मेनका उसे सकुन्तला के विषय में राजा के भाव का पता लगा कर शाकुन्तला को आश्वासन देने को कहती है (पृ० ३९८–३९९)। मिश्रकेशी उद्यान में जाकर राजा के भावों को समझती है। वहाँ से वह शकुन्तला के पास जाकर राजा का समाचार बतलाती है। उसे धीरज देती है (पृ० ४८०–

४८१)। यह बात सप्तम अङ्क में शकुन्तला की उक्ति से भी मालूम होती है (पृ० ५४१)। इस प्रकार मिश्रकेशी शकुन्ताला का पुनर्मिलन की आशा बँधा कर मुख्य कार्य के सम्पादन में सहायक होती हैं। अतः उसका वृत्तान्त प्रकरी माना जा सकता। यह बात भी युक्तियुक्त मालूम पड़ती है। नायिका की तरफ से पुनर्मिलन में सहायक होनेके कारण मिश्रकेशी का वृत्तान्त और नायक की तरफ से उसमें सहायक होने के कारण मातलि का वृत्तान्त—दोनों को यदि प्रकरी माना जाय तो भी कोई दोष न होगा। एक स्थान में एक ही प्रकरी होनी चाहिए ऐसा तो कोई नियम नहीं है।

नाटक के अन्त में दुष्यन्त और शकुन्तला का स्थायी मिलन होता है। यह मिलन इस नाटक का मुख्य कार्य है।

कथावस्तु के कार्य की पाँच अवस्थाएँ

कथानकों में फलार्थियों के द्वारा प्रारब्ध कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं। इनके नाम ये हैं :—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। फलसिद्धि के लिये औत्सुक्य को आरम्भ कहते हैं। फलप्राप्ति के लिये तेजी से किये जानेवाले व्यापार को प्रयत्न कहते हैं। जिस अवस्था में अनुकूल कारणों के सद्भाव के कारण फल की प्राप्ति सम्भव प्रतीत हो परन्तु विघ्नों के कारण असम्भव भी प्रतीत हो उस संदिग्ध अवस्था को प्राप्त्याशा कहते हैं। जिस अवस्था में विघ्नों के निकल जाने से फल की प्राप्ति निश्चित जान पड़ती है उस अवस्था को नियताप्ति कहते हैं। जिस अवस्था में समग्र फल की प्राप्ति हो जाती है उस अवस्था को फलागम कहते हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अङ्क में राजा की 'अपि नाम कुलपतेः' इत्यादि उक्ति से शकुन्तला के प्रति उसका औत्सुक्य प्रकट होता है (पृ० ४४)। उसी अङ्क में आगे शकुन्तला की कथमिमं जनं प्रेक्ष्य'

(पृ० ५३) इत्यादि उक्ति से राजा के प्रति उसका औत्सुक्य प्रकट होता है। यहाँ अङ्कुरित होने वालों दोनों का एक दूसरे के प्रति प्रेम प्रथम अङ्क के अन्त तक क्रमशः अधिकाधिक व्यक्त होता चला जाता है। अतः प्रथम अङ्क के इस स्थान से अन्त तक के भाग को इस नाटक के कार्य का आरम्भ कह सकते हैं। राघवभट्ट के अनुसार द्वितीय अङ्क में राजा की 'तपस्विभिः कैश्चित् परिज्ञातोऽस्मि' (पृ० ११७) इत्यादि उक्ति से यत्न आरम्भ होता है। यह तृतीय अङ्क के अन्त तक चला जाता है नाटक के इस अंश में दोनों पक्षों से एक दूसरे की प्राप्ति के लिये प्रयत्न होता है। अतः इस अंश को इस नाटक का प्रयत्न कहा जा सकता है। चतुर्थ और पञ्चम अङ्कों में फल की प्राप्ति अनुकूल कारण के सद्भाव के कारण असम्भव प्रतीत होती है। अतः नाटक से इस भाग को कार्याप्त्याशा की अवस्था में कहा जा सकता है। पञ्चम अङ्क के अङ्कावतार में अंगूठी की प्राप्ति हो जाने पर कार्यसिद्धि के मार्ग की सब बाधाएँ निकल जाती हैं। अतः षष्ट अङ्क को नियताप्ति की अवस्था में माना जा सकता है। सप्तम अङ्क में राजा को समग्र फल की प्राप्ति होती है। उसका अपने पुत्र और शकुन्तला से स्थायी मिलन होता है। यह इस नाटक का फलागम है। नाट्यवस्तु के ये विभाग मनःस्थिति के आधार पर किये गए प्रतीत होते हैं।'

कथावस्तु की पाँच सन्धियाँ

मुख्य प्रयोजन से सम्बद्ध कथाओं का आवान्तर एक प्रयोजन से संबंध सन्धि कहलाता है। संस्कृत के नाट्याचार्यों के अनुसार कथावस्तु में पाँच सन्धियाँ होती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—मुखसन्धि, प्रतिमुखसन्धि, गर्भसन्धि, अवमर्शसन्धि (विमर्शसन्धि) और निर्वहणसन्धि। बीज और आरम्भ को मिला कर मुखसन्धि होती है। बिन्दु और यत्न को मिला कर प्रतिमुखसन्धि होती है। पताका और प्राप्त्याशा को मिला कर गर्भसन्धि होती है। यहाँ यह बात जाननी चाहिये कि पताका अनिवार्य नहीं है। किसी-किसी कथा में यह नहीं भी होती। अतः गर्भसन्धि मुख्यरूप से प्राप्त्याशा पर अवलम्बन करती है। प्रकरी और नियताप्ति को मिला कर

अवमर्शसन्धि होती है। यहां पर भी यह बात जाननी चाहिये कि प्रकरी अनिवार्य नहीं है; किसी-किसी कथा में यह नहीं भी होती। अवमर्शसन्धि मुख्यतया नियताप्ति पर अवलम्बन करती है। कथा के जिस भाग में बीज से सम्बद्ध, मुखादि सन्धियों में यथास्थान निहित सब अर्थ मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के उपकरण बन कर उसे सम्पन्न करने की दिशा में अग्रसर होते हैं उसे निर्वहणसन्धि कहते हैं। सन्धियाँ को कथा का स्थूल भाग कहा जा सकता है।

राघवभट्ट के अनुसार शाकुन्तल में प्रथम अङ्क के आरम्भ से लेकर द्वितीय अङ्क में **'उभौ—परिक्रम्योपविष्टौ'** (पृ० १०४) इस कविकृत अभिनयन के निर्देश तक मुखसन्धि है। उसके आगे राजा की **'सखे माधव्य! अनाप्तचक्षुःफलोऽसि'** (पृ० १०४) इत्यादि उक्ति से तृतीय अङ्क के अन्त तक प्रतिमुखसन्धि है। चतुर्थ अङ्क के आरम्भ से लेकर पञ्चम अङ्क में गौतमी की उक्ति के अन्त में **'इति तथा करोति'** (पृ० ३४७) इस कविकृत अभिनय के निर्देश तक गर्भसन्धि है। इसके आगे पञ्चम अङ्क में ही **'राजा—शकुन्तलां निर्वर्ण्य, आत्मगतम्।'** से लेकर षष्ठ अङ्क के अन्त तक अवमर्शसन्धि है। सप्तम अङ्क के आरम्भ से अन्त तक निर्वहणसन्धि है।

साहित्यदर्पणकार के अनुसार सप्तम अङ्क में राजा द्वारा शकुन्तला के पहिचाने जाने तक अवमर्शसन्धि है। इस सन्धि के विषय में दर्पणकार ने जो कुछ कहा है उसके विषय में कुछ न कहना ही अच्छा है। सप्तम अङ्क में राजा द्वारा शकुन्तला के पहिचाने जाने की घटना के आगे अन्त तक निर्वहणसन्धि है।

हमारे विचार से प्रथम अङ्क में मुखसन्धि, द्वितीय और तृतीय अङ्कों में प्रतिमुखसन्धि, चतुर्थ और पञ्चम अङ्कों में गर्भसन्धि, पञ्चम अङ्क के अङ्कावतार से षष्ठ अङ्क के अन्त तक अवमर्शसन्धि और सप्तम में निर्वहणसन्धि है।

कथा का स्थान

अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा स्थूल रूप से तीन भागों में बांटी जा सकती है। इसके प्रथम भाग में अस्थायी मिलन, दूसरे भाग में वियोग और तीसरे भाग में स्थायी मिलन कहा जा सकता है। प्रथम चार अङ्कों में स्थायी मिलन और प्रयाण की तैयारी का वृत्तान्त है। पाँचवें और छठे अङ्कों में वियोग की घटनायें होती हैं। सप्तम अङ्क में स्थायी मिलन होता है। अस्थायी मिलन का घटनाचक्र अर्थात् प्रथम चार अङ्कों की कथा का स्थान तपोवन में कण्व ऋषि का आश्रम है। वियोग के वृत्तान्त का स्थान नगर में राजा का महल और उद्यान हैं। स्थायी मिलन हेमकूट पर्वत—मारीच ऋषि के आश्रम—में होता है। घटनाचक्र को इस प्रकार तीन स्थानों पर विभक्त करके कवि ने यह झलकाया है कि तपोवन सब प्रकार की सुखशान्ति के स्थान हैं और नगर सब प्रकार के कष्ट और सन्तापों की भूमि हैं। कालिदास का यह अटूट विश्वास है कि नगरों के कृत्रिम जीवन से सन्तप्त और ऊबे हुए प्राणियों को ऋषियों के आश्रमों में ही शान्ति मिल सकती है।

कथा का काल

अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा कुल मिलाकर करीब सात वर्ष की कथा मालूम पड़ती है। प्रथम अङ्क में राजा और शकुन्तला की पहली भेंट होती है। परन्तु इस भेंट में बात केवल चक्षूराग और मन की अनन्यपरता तक ही रह जाती है। तृतीय अङ्क में दोनों का दूसरा मिलन होता है। इस बार भी शरीर-सम्बन्ध स्थापित होने के पहिले ही गौतमी के आ जाने से दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। तृतीय अङ्क और चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक के बीच के काल में दोनों का गान्धर्व विवाह होता है और शकुन्तला गर्भिणी होती है। इस बात का पता हमें चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक और चतुर्थ अङ्क से लगता है। पञ्चम अङ्क में राजा शकुन्तला का परित्याग करता है और एक अदृश्य मूर्ति उसे उठा ले जाती है। पञ्चम अङ्क के अङ्कावतार में अंगूठी प्राप्त होती है। षष्ठ अङ्क में राजा विरह में विलाप करता है। सप्तम अङ्क में राजा की शकुन्तला और पुत्र से भेंट होती है। इस समय पुत्र की बातों और कार्यों से अनुमान होता है कि उसकी आयु करीब ६ वर्ष की है। इस घटनाचक्र के आधार पर माना जा सकता है कि यह कथा करीब सात वर्ष की है।

इस नाटक की कालव्याप्ति पर विचार करने के लिए बहुत अधिक स्थान की आवश्यकता है। यहाँ इस विषय पर विस्तार से विचार करना सम्भव नहीं है। प्रत्येक अङ्क के काल के विषय में संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है। प्रथम अङ्क ग्रीष्म ऋतु में आरम्भ होता है। राजा प्रातःकाल करीब ८–९ बजे आश्रम के पास पहुँचता है। आश्रम के मार्ग का ज्ञान करके जाने वालों के वस्त्रों से टपके जल से भींगना, वैखानसों का समिदाहरण के लिये जाना और लड़कियों का वृक्षों को सींचना इस बात का समर्थन करते हैं।

यह अङ्क करीव १०-११ बजे समाप्त हो जाता है। क्योंकि वृक्षों की शाखाओं में बंधे वल्कल अब तक सूखे नहीं हैं।

द्वितीय अङ्क प्रथम अङ्क की घटनाओं के दूसरे दिन प्रातःकाल आरंभ होता है। विदूषक का पहिले दिन की मृगया की निन्दा करना और यह कहना कि 'भोर में ही दुष्ट व्याधों ने अपने कोलाहल से मुझे जगा दिया' इस बात का समर्थन करता है। यह अङ्क करीब मध्याह्न तक समाप्त हो जाता है। विदूषक का यह कहना कि 'आओ पेड़ की छाया में इस शिलातल पर बैठ जाओ' सूचित करता है कि दोनों ने करीब १० बजे बातें आरम्भ कीं। यह गोष्ठी अधिक से अधिक दो घण्टे चली होगी।

तृतीय अङ्क द्वितीय अङ्क की समाप्ति के कम से कम एक पक्ष बाद आरम्भ होता है। इस अङ्क में हम शकुन्तला को असह्य मदनवेदना से पीड़ित पाते हैं। उसकी वेदना को इस हद तक जाने के लिये एक पक्ष तो लगा ही होगा। इसके अतिरिक्त प्रियंवदा का यह कहना कि **'अनुदिवसं परिहीयसे' (पृ० १५८)** और **'सोऽपि राजर्षिः एषु दिवसेषु प्रजागरकृश इव लक्ष्यते' (पृ० १६६)** इसी बात का समर्थन करते हैं। यह अङ्क मध्याह्न में आरम्भ होता है। शिष्य कुश लेकर वन से लौटा है। वह प्रियंवदा के मुख से सुनता है कि शकुन्तला को लू लग गई है। मध्याह्न के पहिले लू लगने की बात पर विश्वास करना कठिन है। यह अङ्क उसी दिन सायंकाल समाप्त होता है। अङ्क के अन्त में **'सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते'** इत्यादि पद्य इस बात का समर्थन करता है।

चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक और तृतीय अङ्क के बीच करीब एक महीने का अन्तर मालूम पड़ता है। विष्कम्भक से प्रतीत होता है कि बीच के इसी काल में राजा और शकुन्तला का गान्धर्व-विवाह होता है और शकुन्तला गर्भवती होती है। विष्कम्भक के दिन ही प्रातःकाल राजा नगर जाता है। संभवतः यह आषाढ़ का प्रथम दिन है। इसके पूर्व दिन मासान्त में इष्टि हुई होगी। विष्कम्भक प्रातः ८ बजे आरम्भ होता है। पूजा के वास्ते फूल तोड़ने के लिए यही समय उचित है। दुर्वासा के शाप के बाद १० बजे तक समाप्त हो जाता है। विष्कम्भक और चतुर्थ अङ्क के बीच करीब ४-५ महीने का अन्तर है। इस अङ्क की घटना शरद में घटती है। इस समय शकुन्तला के शरीर पर गर्भ के चिह्न स्पष्ट दिखाई देते हैं। यह अङ्क भोर में आरम्भ होता है और करीब १० बजे समाप्त होता है।

पञ्चम अङ्क चतुर्थ अङ्क के दूसरे दिन मध्याह्न के पूर्व १०, ११ बजे आरम्भ होता है। उस समय राजा धर्मासन से उठकर अन्तःपुर में जाता हुआ दिखाई देता है। षष्ठ अङ्क में राजा विदूषक से कहता है कि आते समय मैंने शकुन्तला से कहा कि अंगूठी पर खुदे मेरे

नामाक्षर गिनो। जब तक तुम अन्तिम अक्षर पर पहुँचती हो तब तक मेरे नौकर तुम्हें लेने के लिये आ जायेंगे। इससे यह तत्व निकलता है कि आश्रम से नगर जाकर वहाँ से पुनः आश्रम वापस आने में तीन दिन से कम समय लगता होगा। ऐसी अवस्था में पहिले दिन प्रातः दस बजे आश्रम से निकल कर दूसरे दिन मध्याह्न के पूर्व १०-११ बजे शकुन्तला अपने साथियों के साथ राजदरबार पहुँची होगी। यह अङ्क अपराह्ण में करीब ४ बजे समाप्त होता है। प्रत्याख्यान सम्बन्धी बातचीत में चार घण्टे का समय लगा होगा। पञ्चम अङ्क और उसके अङ्कावतार में ६ वर्ष का अन्तर मालूम पड़ता है। क्योंकि षष्ठ अङ्क और सप्तम अङ्क के बीच केवल एक दिन का अन्तर है। परन्तु सप्तम अङ्क में पुत्र ६ वर्ष का दिखाई देता है। अर्थात् यह ६ वर्ष का समय शकुन्तला के प्रत्याख्यान की घटना से लेकर धीवर से अंगूठी प्राप्ति की घटना के बीच होगा। अङ्कावतार प्रातः ९ बजे आरम्भ होता है। क्योंकि यही भरे बजार का समय है। इसी समय अंगूठी बेचने का प्रयत्न करते हुए धीवर को राजपुरुषों ने पकड़ा होगा। राजदरबार से लौटने में शकार की बहुत देर लगती है। अतः अङ्कावतार सायंकाल करीब ६ बजे समाप्त होता है। सब लोगों का शौण्डीक के यहाँ जाना भी इस बात का समर्थन करता है। राजपुरुषों को शराबखाने जाने के लिये यही समय ठीक पड़ता है।

षष्ठ अङ्क और पञ्चम अङ्क के अङ्कावतार में दो सप्ताह से अधिक का अन्तर नहीं मालूम पड़ता। कञ्चुकी कहता है कि अंगूठी की प्राप्ति का वृत्तान्त और उसके फलस्वरूप राजा का शकुन्तला के विरह से पीड़ित रहने का सारा वृत्तान्त बहुलीभूत हो चुका है। इसके बहुलीभूत होने के लिये दो सप्ताह का समय बहुत है। षष्ठ अङ्क प्रातःकाल करीब ९ बजे आरम्भ होता है। क्योंकि मिश्रकेशी प्रातःकाल शचीतीर्थ पर स्नान के समय का अपना नियोग पूरा करके हमारे सामने आती है। यह अङ्क करीब तीन बजे समाप्त होता है क्योंकि इस अङ्क के बीच में एक बार विदूषक कहता है कि भूख मुझे मार डालेगी। यह बात उसने मध्याह्न में कही होगी। इसके बाद की इस अङ्क की घटनाओं के होने के लिये तीन घण्टे का समय लग सकता है। करीब तीन बजे मातलि राजा को राक्षसों से लड़ने के लिये ले जाता है।

सप्तम और षष्ठ अङ्क के बीच केवल एक दिन का अन्तर है। क्योंकि राक्षसों को मार कर लौटते समय राजा मातलि से कहता है कि राक्षसों से लड़ने की उत्सुकता के कारण कल स्वर्ग जाते समय हमने इस देश पर ध्यान नहीं दिया। यह अङ्क करीब १ बजे आरम्भ होता है। शीघ्र ही राजा मारीच ऋषि के आश्रम में पहुँचता है। जिस समय राजा पहुँचता है उस समय मारीच ऋषि स्त्रियों को पातिव्रत्य धर्म की शिक्षा देते रहते हैं। ऐसे प्रवचन प्रायः भोजन के बाद मध्याह्नोत्तर दो बजे के लगभग ही होते हैं।

यह अङ्क करीब ५ बजे समाप्त होता है। राजा के पहुँचने के बाद की घटनाओं को होने के लिये तीन घण्टे का समय लग सकता है।

मुख्य पात्रों के चरित्र

दुष्यन्त—राजा दुष्यन्त इस नाटक का नायक है। यह चन्द्रवंशी क्षत्रिय है। यह धीरोदात्त नायक है। दर्पणकार ने धीरोदात्त नायक के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं :—'अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः। स्थेयान् निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः।' दुष्यन्त में प्रायः ये सब गुण मिलते हैं।

यह तीस वर्ष से ऊपर की उम्र का एक सुन्दर युवक है। इसका शारीरिक परिश्रम के कार्यों में उत्साह इस बात का प्रमाण है। इसका शरीर लम्बा, चौड़ा और सुदृढ़ है। इसके सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों पर इसके बाह्य व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है। भिन्न-भिन्न अवसरों पर अनेक व्यक्तियों द्वारा कहे गए—**दुरवगाहगम्भीराकृतिर्मधुरमालपन् प्रभुत्वदाक्षिण्यं विस्तारयति (पृ० ५४), अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरवर्ष्मा—इत्यादि (पृ० ९६), नागरपरिघप्रांशुबाहुः (पृ० १२३), सम्भावनीयप्रभावा अस्याकृतिः (पृ० ५५६)** ये वाक्य इसकी शरीर-सम्पत्ति व्यक्त करते हैं। यह शूर है। इसे मृगया जैसे खेल, जिन में पौरुष की अपेक्षा होती है, अच्छे लगते हैं। यह राक्षसों से तपोवन की रक्षा करता है। मातलि के आक्रमण से जब विदूषक चिल्लाता है तो यह धनुष ले कर स्वयं उसकी रक्षा के लिए दौड़ता है। इसकी शूरता को इतनी ख्याति है कि इन्द्र भी इसे अपनी सहायता के लिये बुलाता है। इन्द्र का सन्देश मिलते ही यह तुरत बड़े उत्साह से राक्षसों से लड़ने के लिये जाता है। यह मधुर-भाषी भी है। प्रियंवदा इसके मधुर भाषण की तारीफ करती है। प्रथम अङ्क के अन्त में लड़कियों से विदा लेते समय वह कहता है—**'दर्शनेनैव भवतीनां सम्भूतसत्कारोऽस्मि'** (पृ० ७९)। इसकी चाल-ढाल और व्यवहार आकर्षक हैं।

राजा एक उत्तम पति और उत्साही प्रेमी है। इसे अनेक रानियाँ हैं। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार सामर्थ्य होने पर अनेक विवाह करना अनुचित नहीं है। अनेक स्त्रियों से सम्बन्ध रहने पर भी इसे नैतिकता का ख्याल सदा बना रहता है। इसे हम स्त्री-लम्पट नहीं कह सकते। नई स्त्री से प्रेम हो जाने पर भी वह पहिली स्त्रियों का आदर करता है। उनके प्रति अपने कर्तव्य को भूल नहीं जाता है। उनके भी सुख, सुविधा का ध्यान रखता है। शकुन्तला के प्रति अपार प्रेम होने पर भी षष्ठ अङ्क में रानी वसुमती के आने का समाचार पाते ही वह शकुन्तला का चित्र छिपवा देता है; जिससे उसे दुःख न हो। एक तो युवावस्था, दूसरे अनियन्त्रित राजपद, तीसरे बहुविवाह की स्वीकृति देने वाला

सामाजिक वातावरण—ऐसी अवस्था में यदि शकुन्तला के अनुपम सौन्दर्य को देख कर वह मुग्ध हो जाता है तो कौन सी आश्चर्य की बात है। इतना होने पर भी वह अद्वितीय आत्म-संयम का परिचय देता है। इन बातों का निश्चय होने तक कि शकुन्तला अविवाहित है और उसके विवाह का किसी के साथ निश्चय नहीं हुआ, वह क्षत्रिय की लड़की होने के कारण उसके विवाह करने योग्य है, और वह भी उसे चाहती है—वह आगे कदम नहीं बढ़ाता। यदि वह लम्पट होता तो पंचम अङ्क में स्वयं आत्मसमर्पण करने के लिये आई हुई सुन्दरी शकुन्तला को सीधे महल में दाखिल कर लेता। परन्तु उसकी तो मनोवृत्ति यह है 'अनिर्वर्ण्यं परकलत्रम्' (पृ० ३६६)। इस अवसर पर शाप-वश शकुन्तला के साथ अपना सम्बन्ध भूल जाने के कारण वह जो दृढ़ता दिखलाता है वह उसके चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देती है।

पुत्र की दृष्टि से देखने पर भी राजा उत्तम पुत्र सिद्ध होता है। वह एक मातृभक्त, आज्ञाकारी पुत्र है। माता का बुलावा आते ही वह असमञ्जस में पड़ जाता है। ऋषियों को पहिले ही तपोवन की रक्षा का वचन दे चुका है। इधर माता की आज्ञा। वह बड़ी बुद्धिमानी से दोनों तरफ का कार्य सम्पन्न करने का मार्ग निकलता है।

राजा के मन में ऋषियों के प्रति अपार आदर है। प्रथम अङ्क में वैखानस के कहने से वह मृग को छोड़ देता है। उसी अङ्क में तपोवन में प्रवेश करते समय वह कहता है कि विनीत वेश से तपोवन में प्रवेश करना चाहिये। जब हाथी तपोवन में गड़बड़ मचाता है तो वह कहता है 'कथमपराद्धस्तपस्विनामस्मि' (पृ० ७७)। द्वितीय अङ्क में जो तपस्वी तपोवन के निवासियों की तरफ से राजा से तपोवन की रक्षा के लिये प्रार्थना करने जाते हैं तो वह कहता है कि तपस्वियों की क्या आज्ञा है 'किमाज्ञापयन्ति' (पृ० १२६)। पञ्चम अङ्क में जब शार्ङ्गरव राजा को कड़ी बातें कहता है उस समय भी वह क्रुद्ध नहीं होता। केवल—'विशेषण अधिक्षिप्तोऽस्मि' इतना कह कर चुप हो जाता है। सप्तम अङ्क में भी मारीच ऋषि के आश्रम में उसका व्यवहार ऋषियों के प्रति अपार आदर व्यक्त करता है।

दुष्यन्त एक उच्चकोटि का शासक है। इस हैसियत से इसके तीन गुण हमें विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। वे गुण ये हैं—कर्तव्यपरायणता, प्रजाप्रेम और लोभ का अभाव। राजा बड़ा कर्तव्यपरायण है। प्रथम अङ्क के अन्त में जब वह हाथी के उपद्रव का समाचार सुनता है तो वह तुरन्त लड़कियों से विदा लेता है। द्वितीय अङ्क में जब दो तपस्वी तपोवन की रक्षा के लिए उसे बुलाने जाते हैं तो वह कहता है 'गच्छतां भवन्तौ; अहमनुपदमागत एव।' पञ्चम अङ्क में कञ्चुकी की उक्ति (पृ० ३१२) से मालूम पड़ता है कि वह रोज दरबार में बैठता है और प्रजा के मुकदमे सुनता है। उसे

शासन और व्यवस्था के कार्य से फुरसत नहीं मिलती। षष्ठ अङ्क में राजा की 'वेत्रवति ! मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि' इत्यादि उक्ति यह सूचित करती है कि वह रोज मन्त्रियों के कार्य का स्वयं निरीक्षण किये बिना कोई भी आज्ञा प्रसारित नहीं होने देता। राजा बड़ा प्रजावत्सल है। वह अपनी प्रजा को अपने स्वजनों के समान समझता है। षष्ठ अङ्क में वह प्रतीहारी से कहता है कि इस बात की घोषणा करवा दो कि जिसका जो सम्बन्धी मर गया हो वह राजा को अपना सम्बन्धी समझे। राजा बड़ा निर्लोभ है। वह अनुचित मार्ग से अपना कोश बढ़ाना नहीं चाहता। जब वह निःसन्तान धर्मवृद्धि नाम के बनिये के मरने का समाचार सुनता है तो वह उसके धन को अपने कोश में नहीं मिला लेता। वह इस बात की खोज करवाता है कि उसकी स्त्रियों में से कोई गर्भवती है या नहीं। जब उसे यह पाता लगता है कि मृत बनिये की एक स्त्री गर्भवती है तो वह कहता है कि पिता के धन का मालिक वह गर्भ है।

राजा स्वभाव से अविकत्थन है। वह अपने मुँह अपनी तारीफ नहीं करता। जब यह राक्षसों को मार कर लौटता है तो मार्ग में मातलि उसकी तारीफ करता है, तब राजा कहता है कि जो कुछ मैंने किया उसका श्रेय मुझे मत दीजिये, वह सब इन्द्र के प्रभाव से ही मैंने किया। राजा को नैतिक चरित्र के विषय में बड़ा आत्मविश्वास है। जब उसका मन शकुन्तला की तरफ जाता है तो वह कहता है कि यह अवश्य क्षत्रिय के विवाह करने योग्य है। अन्यथा मेरा आर्य मन इसकी तरफ न जाता। 'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा' इत्यादि (पृ० ४५)। राजा की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है। जब वह तपोवन के पास पहुँचता है तो वह झट समझ जाता है कि यह तपोवन का आभोग है। उसका भय से भागते हुए मृग का वर्णन, तपोवन के आभोग का वर्णन और आकाश से पृथ्वी पर उतरते समय अपने अनुभव का वर्णन उसकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हैं। राजा नृत्य, संगीत और चित्रकला में भी निपुण है।

शकुन्तला—एक बार विश्वामित्र के उग्र तप से इन्द्र घबड़ाया। उसने उनका तप भङ्ग करने के लिए मेनका को भेजा। विश्वामित्र मेनका को देखते ही मुग्ध हो गए। मेनका को उनसे एक कन्या उत्पन्न हुई। विश्वामित्र और मेनका उसे छोड़ कर चले गए। एक दिन कण्व ऋषि ने उसे देखा। वे उसे अपने घर ले आये और उसे पाला। इस प्रकार शकुन्तला विश्वामित्र और मेनका की लड़की और कण्व की धर्म की पुत्री है।

शकुन्तला लड़की नहीं है। उसके व्यवहार से वह करीब अठारह वर्ष की युवती प्रतीत होती है। वह बहुत सुन्दर है। उसका सौन्दर्य बनावटी नहीं स्वाभाविक है। उसे देख कर राजा कहता है। 'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः' (पृ० ३३)। प्रियंवदा की 'अत्र तावत् पयोधरविस्तारहेतुकमात्मनो यौवनारम्भमुपालभस्व'—इस उक्ति से यह प्रतीत होता है कि उसके अवयव व्यक्त हो गये हैं। वह सम्भवतः श्याम वर्ण की है। तृतीय अङ्क में

राजा कहता है 'अयं स ते श्यामलतामनोहरम्' इत्यादि (पृ० २१४)। उसका पालन-पोषण तपस्वियों के बीच हुआ है। अतः उसका जीवन भी तापस-कन्या जैसा हो गया है। वह वल्कल पहिनती है। वह शृङ्गार चेष्टाओं से अनभिज्ञ है। साहित्यशास्त्र के अनुसार वह मुग्ध कन्यका नायिका है। विवाह के बाद वह स्वीया, मध्या हो जाती है।

तपोवन में रहते-रहते शकुन्तला का प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। वह लता, वृक्ष और मृग-मृगियों को भी अपने सगे-सम्बन्धी समझती है। इस सम्बन्ध में 'हला अनसूये ! न केवलं तातस्य नियोगः ममापि एतेषु सोदरस्नेहः' (पृ० ३२)। 'एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिः किमपि व्याहरतीव मां चूतवृक्षः' (पृ० ३८)। 'वत्स ! किं मां सहवासपरित्यागिनीमनुबध्नासि' (पृ० २८९)। इत्यादि वाक्य ध्यान देने योग्य हैं। उसके हृदय में तपोवन के जड़ और चेतन सभी पदार्थों के लिये बड़ी सहानुभूति है। वह पहिले आश्रम के पेड़ों को जल से सींच लेती है तब स्वयं जल पीती है। वह प्रिय-मण्डना होने पर भी वृक्षों का कष्ट होने के भय में उनके पल्लव नहीं तोड़ती। 'पातुं न प्रथमं व्यवस्यति'–इत्यादि (पृ० २७८)। यदि चरते समय आश्रम के मृग का मुख कुश-सूची से विद्ध हो जाता है तो उसके मुख में इङ्गुदी का तेल डालकर उसके घाव अच्छे करती है। वह बहुत सुशील है। राजा को देख कर उसके मन में कामविकार उत्पन्न होता है। यह स्वाभाविक है। परन्तु वह अपनी वेदना किसी से कहती नहीं। वह अपनी सखियों से भी इस बात को छिपाती है। जब व्याधि उग्र रूप धारण कर लेती है और सखियाँ बार-बार उससे उसकी व्यथा का कारण पूछती हैं, तब वह उनसे अपना रहस्य कहती है। 'यतः प्रभृति तपोवनरक्षिता स राजर्षिः' इत्यादि (पृ० १६२)। तृतीय अङ्क में जब राजा उसका अञ्चल पकड़ लेता है तो वह कहती है 'पौरव ! रक्ष रक्ष विनयम्' (पृ० २०२)। उसकी यह उक्ति भी उसका विनय और आत्मसंयम व्यक्त करती है। वह लज्जावती है। प्रथम अङ्क में जब राजा उसके रूप की सराहना करता है तो वह लज्जा से सिर नीचा कर लेती है (पृ० ६२–६३)। आगे जब प्रियंवदा उसके विवाह की बात छेड़ती है तो वह वहाँ से जाना चाहती है (पृ० ६५–६६)। तृतीय अङ्क में जब उसकी राजा से एकान्त में भेंट होती है तो उस समय भी वह वहाँ से बार-बार जाने का प्रयत्न करती है। उसका स्वभाव बड़ा सरल है। जब उसकी सखियाँ उसका मजाक उड़ाती हैं तो वह केवल 'एष ते आत्मनश्चित्तगतो मनोरथः' (पृ० ४२–४३) इतना ही कह कर चुप हो जाती है। वह कुलपति की कन्या है। परन्तु उसे इस बात का घमण्ड नहीं है। उसकी सखियाँ भी उसे आज्ञा दे सकती हैं। जब राजा आश्रम में प्रवेश करता है तो प्रियंवदा कहती है 'हला शकुन्तले ! गच्छ, उटजात् फलमिश्रमर्घ्यभाजनमुपाहर' (पृ० ५२) चतुर्थ अङ्क में उसकी सखियाँ उससे कहती हैं कि यदि राजा तुम्हें न पहिचाने तो उसकी अंगूठी दिखाना। यह सुन कर उसका दिल काँप जाता है।

उस समय उसकी सखियाँ कहती हैं 'सखि! मा बिभेहि। स्नेहः पापमाशङ्कते' (पृ० ३०२)। सखियों का इतना कहना ही उसकी घबराहट दूर करने के लिए पर्याप्त हो जाता है। वह उस विषय में और कोई प्रश्न नहीं करती। यह सब उसके स्वभाव की सरलता का परिचायक है। वह काव्यनिर्माण-कला में भी निपुण है। प्रणय-पत्रिका में लिखने के लिये वह स्वयं पद्य बनाती है।

शकुन्तला पति-परायणा है। वह अपने पति को बहुत प्रेम करती है। जब से वह राजा को प्रेम करने लगती है तब से उसके लिये संसार में राजा से बढ़ कर और कोई पदार्थ नहीं रह जाता। गान्धर्व-विधि से विवाह हो जाने पर राजा के प्रति उसका प्रेम और बढ़ जाता है। राजा के नगर चले जाने पर उसका मन निरन्तर उसी की ओर लगा रहता है। जब दुर्वासा तपोवन में प्रवेश करते हैं उस समय उसका मन प्रियतम के चिन्तन में मग्न रहता है। दुर्वासा के आने और क्रोध से शाप देकर चले जाने का उसको कुछ भी पता नहीं चलता। कण्व की आज्ञा पाकर राजा के पास जाते समय उसके मन में एक प्रकार का उत्साह दिखाई देता है। आगे जब राजा शापवश न पहिचानने के कारण उसका परित्याग करता है तो वह कुछ क्षणों के लिए क्रुद्ध हो जाती है। परन्तु उसका क्रोध बहुत काल तक नहीं रहता। जो कुछ हुआ उसके लिये वह राजा को दोष न देकर अपने भाग्य को दोष देती है 'नूनं मे सुखप्रतिबन्धकम्' इत्यादि (पृ० ५४८)। वह राजा को भूल नहीं जाती। वह उसे बराबर प्रेम करती रहती है। वह विरहिणी के वेश में, पतिदेव को हृदय में रखकर, चरित्र की रक्षा करते हुए समय व्यतीत करती है। 'वसने परिधूसरे वसाना इत्यादि (पृ० ५४२)।

शकुन्तला के मन में पूज्यजनों के प्रति बड़ा आदर है। वह राजा को देखकर कहती है 'नैतं जनं पर्य्याहरिष्यम् यद्यात्मनः प्राभविष्यम्' (पृ० ७२)। वह यह जानती है कि वह स्वतन्त्र नहीं है। वह गुरुजनों के अधीन है। यदि वह स्वतन्त्रतापूर्वक कोई काम करेगी तो गुरुजनों का अनादर होगा। तृतीय अङ्क में जब राजा उससे कहता है कि बताओ तुम्हारी क्या सेवा करूँ? तुम्हें नलिनीदल से पंखा झलूँ या तुम्हारे पैर दबाऊँ? तब शकुन्तला कहती है 'न माननीयेषु जनेषु आत्मानमपराधयिष्यामि' (पृ० १९७)। यहाँ भी उसकी उक्ति से पूज्य पुरुषों के प्रति आदर प्रकट होता है। जब शार्ङ्गरव आदि उसे राजा के दरबार में छोड़ कर जाने लगते हैं तो वह भी उनके पीछे-पीछे जाती है। इस पर शार्ङ्गरव कड़क कर उसे कहता है 'आः पुरोभागिनि? किमिदं स्वातन्त्र्यमवलम्बसे' (पृ० ३७३)। इस पर वह डर के मारे काँपने लगती है और आगे नहीं बढ़ती। वह यह समझती है कि अब आगे बढ़ना पूज्य पुरुष का अपमान होगा। सप्तम अङ्क में राजा से पुनः मिलन होने पर वह उसके साथ मारीच ऋषि और अदिति के सामने जाने में लजाती है। उसका अपने पिता के प्रति विशेष आदर और प्रेम है। तपोवन से

विदा होते समय वह कण्व ऋषि के चरणों पर गिर पड़ती है। उससे उन्हें छोड़कर शीघ्र जाते नहीं बनता है।

शकुन्तला का चरित्र केवल संस्कृत साहित्य में ही नहीं, संसार के साहित्य में आदर्श नायिका का चरित्र है। इसकी प्रशंसा पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्त कंठ से की है।

भरत—यह दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र है। अपने व्यवहार से यह करीब ६ वर्ष का प्रतीत होता है। इसकी आकृति राजा से मिलती-जुलती है। इसकी हथेली पर चक्रवर्ती सम्राट् के लक्षण हैं। यह बड़ा निर्भीक है। बच्चा होने पर भी यह बड़ा ताकतवर है। यह सिंह आदि भयानक पशुओं के बच्चों को भी पकड़ कर बेकाबू कर देता है और उससे खेलवाड़ करता है। सप्तम अङ्क में यह एक सिंह के बच्चे को पकड़कर उसके दांत गिनने की चेष्टा करते हुए सामने आता है। जब एक तापसी इसे पास ही खड़ी सिंहिनी को दिखा कर डराना चाहती है तो यह—अरे बाप रे! मैं तो बहुत डर गया—(पृ० ५३३) कह कर उसकी हँसी उड़ाता है। यह सिंहिनी को चिढ़ाने के लिये ओठ दिखाता है। तपोवन के ऋषियों ने इसका नाम **'सर्वदमन'** रखा है। इसका काम देखकर यह नाम अन्वर्थ प्रतीत होता है। इसका कार्य देखकर राजा भी प्रभावित होता है। वह इसको कालान्तर में ज्वाला के रूप में प्रकट होने वाली आग की चिनगारी मानता है। इसे खिलौने बहुत पसन्द हैं। यह मिट्टी का मोर पाकर बहुत खुश होता है। यह अपनी माता को बहुत प्रेम करता है। मोर देते समय तापसी के द्वारा कहे गए—**प्रक्षस्व शकुन्तलावण्यम्** (पृ० ५३५) इस वाक्य को सुन कर इसे अपनी माता शकुन्तला की याद आ जाती है। जब राजा सर्वदमन को पुत्र कह कर पुकारता है तो वह कहता है—**'दुष्यन्तो मम तातः, न खलु त्वम्'**। वह घटना हमें पञ्चम अङ्क की घटना की याद दिलाती है। पञ्चम अङ्क में जब शकुन्तला राजा के सामने गई तो राजा ने कह दिया—तू मेरी भार्या नहीं है। मैं तुझे नहीं जानता। न वहाँ राजा दोषी है और न यहाँ सर्वदमन। परन्तु दैव ने राजा को उसकी ही भाषा में उत्तर दिया। एक प्रकार से अनजान में पुत्र ने माता का बदला लिया है।

कण्व ऋषि—ये कुलपति हैं (पृ० २३)। कुलपति उसे कहते हैं जो दस हजार विद्यार्थियों को अपने आश्रम में रखकर पढ़ाता है और उनके भोजन, वस्त्र और रहने का प्रबन्ध करता है। इनका दूसरा नाम 'काश्यप' है। ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं (पृ० ५९)। चतुर्थ अङ्क में प्रियवंदा की **'अग्निशरणं प्रविष्टस्य'** इत्यादि उक्ति (पृ० २५८) से तथा शकुन्तला को विदा करते सयम स्वयं कण्व की **'अमी वेदीं परितः'** इत्यादि उक्ति (पृ० २७६) से यह प्रतीत होता है कि ये अग्निहोत्री हैं। उन्होंने श्रौत विधि से अग्निहोत्र लिया है। इनके तपोवन में अग्निशाला है। ये स्नान, सन्ध्या आदि कर्मानुष्ठान में निरत, धार्मिक भावना से ओतप्रोत हृदय वाले तेजस्वी ब्राह्मण हैं।

शकुन्तला कण्व की पाली हुई धर्म की कन्या है। उन्होंने उसे अपनी औरस कन्या के समान पाला है। ये उसे बहुत प्रेम करते हैं। इनका प्रेम निःस्वार्थ प्रेम का आदर्श उदाहरण है। ये शकुन्तला के प्रतिकूल दैव को शान्त करने के लिए तीर्थयात्रा करने सोमतीर्थ जाते हैं। शकुन्तला को विदा करते समय इनका हृदय सगे माता-पिता की तरह व्याकुल हो जाता है। आज शकुन्तला जायगी—यह विचार मन में आते ही इनका हृदय घबड़ाने लगता है, गला रुँध जाता है और दृष्टि जड़ हो जाती है (पृ० २७१)। तपस्वी होने पर भी ये अपने दुःख के वेग को रोक नहीं पाते। इनकी **'वत्से ! मामेवं जडीकरोषि। अपयास्यति मे शोकः'** इत्यादि (पृ० ३०५-३०६), **'अनसूये ! प्रियंवदे ! गता वां सहचरी'** (पृ० ३०७) ये उक्तियां वात्सल्य से भरी हैं।

कण्व का तपोबल अपार है। शाकुन्तल के पाठकों पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। तृतीय अङ्क में राजा कहता है **'जाने तपसो वीर्यम्'** (पृ० १४१)। चतुर्थ अङ्क में कण्व की अग्निशरण में **'अशरीरिणी छन्दोमयी वाणी'** राजा के साथ शकुन्तला के सम्बन्ध का समाचार देती है (पृ० २५८)। शकुन्तला की विदाई के दिन तपोवन के वृक्ष वस्त्र और आभूषण देते हैं (पृ० २६७-२६८)। कण्व की उपस्थिति में राक्षस तपोवन के पास नहीं फटकते। उनकी अनुपस्थिति में ही उपद्रव मचाते हैं (पृ० १२६)। तपोबल से उन्हें भूत, भविष्य, वर्तमान प्रत्यक्ष दिखाई देता है। सप्तम अङ्क में मारीच कहते हैं **'तपःप्रभावात् सर्वमिदम्'** इत्यादि (पृ० २७०)। तप के प्रभाव से कण्व को शकुन्तला के पुनर्मिलन का वृत्तान्त मालूम हो गया है।

कण्व तपस्वी होने पर भी व्यावहारिक हैं (पृ० २९६)। वे अव्यावहारिक आदर्शों पर नहीं चलते। उनका हृदय सहानुभूतिपूर्ण है। उन्हें जब राजा के साथ शकुन्तला के सम्बन्ध का पता चलता है तो वे अपनी अनुमति दे देते हैं (पृ० २५६)। इतना ही नहीं वे यहाँ तक कह देते हैं कि मैंने तो दुष्यन्त को तुम्हारे लिये पहिले से ही भर्ता चुना था (पृ० २८५)। उनके मत में क्षत्रियों के लिये गान्धर्व विवाह उत्तम प्रकार का विवाह है। वे शकुन्तला को विदा करते समय राजा को जो सन्देश भेजते हैं यह ध्यान देने योग्य है। वे अपनी लड़की के लिये राजा की अन्य पत्नियों के समान पद चाहते हैं। बस इतनी ही उनकी मांग है। उनके अनुसार अन्य सब पदार्थ तो भाग्याधीन होते हैं (पृ० २९५)। वे शकुन्तला को जो उपदेश देते हैं वह भी आदर्श उपदेश है। उसमें भारतीय भावना कूट-कूट कर भरी है। वे कहते हैं—श्वशुरगृह में जो बड़े लोग हों उनकी सेवा करना, सौतों के साथ सखियों का सा व्यवहार करना, पति अपमान भी करे तो उससे झगड़ा मत करना, सेवकों के साथ उदारता का व्यवहार करना और सम्पत्ति के समय घमण्ड मत करना (पृ० २९७)। वे शकुन्तला के साथ अनसूया और प्रियंवदा को नहीं भेजते क्योंकि उनका भी विवाह करना है (पृ० २९९)। वे युवती कुमारी लड़कियों को विवाहित की लड़की के साथ उसके ससुराल भेजना उचित नहीं समझते।

कण्व मानव स्वभाव को अच्छी तरह समझते हैं। वे जानते हैं कि दुःख का सबसे उत्तम औषध समय है। कुछ समय बीतने पर दुःख अपने आप कम हो जाता है। पतिगृह जाते समय शकुन्तला के यह कहने पर कि देशान्तर जाकर मैं कैसे जीऊँगी, वे उसे समझाते हैं। वे कहते हैं—घबराओ मत। कुलीन और वैभवसम्पन्न पति के घर जाकर जब तुम वहाँ के कार्यों में व्यग्र हो जाओगी और जब तुम्हें पुत्र हो जायेगा तो तुम धीरे-धीरे मेरे विरह को भूल जाओगी। कुटुम्ब के किसी व्यक्ति के परदेश चले जाने पर घर के लोगों को अपना घर सूना लगने लगता है। इसका कारण प्रेम होता है। कुछ दिनों के बाद विरह भूल जाता है और मन स्वस्थ हो जाता है। यह भी मनुष्य स्वभाव का एक रहस्य है। इसे भी कण्व अच्छी तरह जानते हैं। शकुन्तला के जाने पर प्रियंवदा और अनसूया कहती हैं—हम लोग शकुन्तला के बिना सूने तपोवन में प्रवेश कर रहे हैं। इस पर कण्व कहते हैं—प्रेम के कारण ऐसा अनुभव हो रहा है। कण्व कन्या को परकीय द्रव्य मानते हैं। वे उसे एक प्रकार की धरोहर समझते हैं। उसे पति के घर भेज कर वे अन्तरात्मा में विशदता का अनुभव करते हैं।

विदूषक—इसका दूसरा नाम 'माधव्य' है। यह हास्यरस का पात्र है। यह जाति का ब्राह्मण है (पृष्ठ ९२)। संभवतः यह उम्र में राजा से छोटा है। क्योंकि यह अपने को 'राजानुज' और 'युवराज' कहता है (पृ० १३४)। राजा भी इसे ब्राह्मण-बटु कहता है। यह हाथ में सर्वदा एक डंडा रखता है। इसका डंडा टेढ़ा है (पृ० १४१)। यह पेटू है। बीच बीच में इसे खाने की याद आ जाती है (पृ० ९४, ४४३)। यह स्वभाव से डरपोक है। यह राक्षसों के डर से शकुन्तला को देखने जाने से इन्कार करता है (पृ० १२८)। यह राजा के रथ के चक्र का रक्षक होना स्वीकार करता है यदि कोई आकर विघ्न न करे तो (पृ० १२९)। यह राजा का मित्र है। यह उसका मुँहलगा है। यह उससे खूब हँसी करता है। कभी कभी राजा की कमजोरी का लाभ उठाकर यह उसे बेवकूफ भी बनाता है। षष्ठ अङ्क में शकुन्तला का चित्र देखते समय यह भौंरे की बात इस तरह उठाता है कि शकुन्तला के विचार में मग्न राजा उसे सच्चा भौंरा समझ कर बहुत कुछ कह जाता है। तब यह उसे याद दिलाता है कि यह तो चित्र का भौंरा है (पृ० ४५६-४६१)। राजा यह जानता है कि यह चपल है। चपलता के कारण यह गुप्त प्रणय की बातों को रानियों से कह दे सकता है (पृ० १३४)। तथापि वह इससे अपना सब रहस्य कह देता है। प्रेम के सभी कार्यों में यह राजा का अन्तरंग सहायक है। द्वितीय और षष्ठ अङ्क में राजा शकुन्तला-सम्बन्धी अपने भाव इससे कह देता है। पञ्चम अङ्क में हंसवती को समझाने के लिये राजा इसे ही भेजता है।

राजा के साथ विदूषक की मैत्री का अन्य लोग भी लाभ उठाते हैं। उनका इसमें विश्वास है। वे जानते हैं कि यह राजा के सामने उनका भेद नहीं खोलेगा। द्वितीय अङ्क

में राजा के साथ मृगया-सम्बन्धी बातें करने के पहिले सेनापति इसे अपनी तरफ मिला लेता है। वह यह जानता है कि राजा इसका कहना नहीं टालेगा। इसे बोलने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। यह जिसे जो चाहे वह कहता है। कोई भी हँसी में कही हुई इसकी बातों का बुरा नहीं मानता। यह सेनापति को भी 'दास्याः' पुत्रः', जीर्णऋक्षस्य मुखे निपतितो भव' इत्यादि कहता है। यह राजा को भी एकवचन में संबोधन करता है। यह ऊपर से तो बेवकूफ बनता है परन्तु भीतर से बड़ा चतुर है। द्वितीय अङ्क में इससे एकान्त में बातें करने के अभिप्राय से जब राजा रैवतक आदि सेवकों को अपने काम पर भेज देता है तो यह झट राजा का आशय ताड़ जाता है। यह कहता है—'कृतं भवता साम्प्रतं निर्मक्षिकम्' (पृ० १०३)। यह जितनी बातें स्वगत कहता है वे सब इसकी चतुराई झलकाती हैं। इतना होने पर भी कभी कभी इसके कार्य से बुद्धूपन झलकता है। द्वितीय अङ्क में शकुन्तला के साथ गुप्त प्रेम की सब बातें बतला कर अन्त में राजा कहता है कि यह सब मैंने हँसी में कहा है। इसे सच मत मानना। तो यह उस पर विश्वास कर लेता है। इसे चाहे इसका बुद्धूपन कहा जाय या स्वभाव की सरलता।

अनसूया और प्रियंवदा—ये शकुन्तला की सखियां हैं। अनसूया, प्रियंवदा और शकुन्तला तीनों की उम्र में विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि जब राजा इन्हें देखता है तो वह कहता है—'समानवयोरूपरमणीयं सौहार्दमत्र भवतीनाम्' (पृ० ५३)। राजा की इस उक्ति का यह अर्थ न समझना चाहिये कि तीनों की उम्र में कोई अन्तर ही नहीं है। कुछ अन्तर तो अवश्य है। सम्भवतः अनसूया तीनों में बड़ी है। प्रियंवदा उससे छोटी और शकुन्तला उससे छोटी है। चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला के विदा होते समय दोनों सखियां रोने लगती हैं। उस समय कण्व पहिले अनसूया को और बाद प्रियंवदा को सम्बोधन करते कहते हैं—'अलं रुदितेन' इत्यादि (पृ० २८७)। अन्य संस्करणों में वे केवल अनसूया को ही सम्बोधन करके यह बात कहते हैं। यह सूचित करता है कि अनसूया सबसे बड़ी है। प्रथम अङ्क में जब राजा तपोवन में प्रवेश करता है तो अनसूया ही आगे बढ़कर उससे बातें करती है। वह ही शकुन्तला की उत्पत्ति का वृत्तान्त बतलाती है। इससे भी उसी बात का समर्थन होता है। राजा के तपोवन में प्रवेश करने पर प्रियंवदा शकुन्तला को उटज से फलमिश्र अर्घ्यभाजन लाने को कहती है। इससे प्रतीत होता है कि प्रियंवदा शकुन्तला से बड़ी है। सौन्दर्य में प्रायः तीनों समान हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि शकुन्तला में अन्य दोनों की अपेक्षा अधिक लावण्य है। षष्ठ अङ्क में चित्र देखते समय जब विदूषक राजा से पूछता है कि तीनों में शकुन्तला कौन सी है तो मिश्रकेशी—'अनभिज्ञः खल्वेष सखीरूपस्य मोघचक्षुः' इत्यादि (पृ० ४४९) कहकर शकुन्तला को अधिक सुन्दर होना सूचित करती है। अन्त में विदूषक भी सौन्दर्य के

आधार पर ही उसे पहिचानता है। (पृ० ४५०)। शकुन्तला की तरह वे दोनों भी कुमारी हैं (पृ० २९९)।

शकुन्तला के प्रति दोनों का प्रेम सच्चा और निःस्वार्थ है। दोनों उसे अपनी बहिन के समान मानती हैं। वे उसे वृक्षों को सींचने आदि कार्यों में सहायता करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो शकुन्तला का हित करना ही उनके जीवन का लक्ष्य है। काम-वेदना से शकुन्तला के अस्वस्थ होने पर दोनों बहुत चिन्तित होती हैं और उसे स्वस्थ करने के लिये हर प्रकार का उपाय करती हैं। शकुन्तला के सुख के लिये दोनों उसे राजा से मिलाने के लिये उत्सुक हैं। शकुन्तला और राजा के मिलने पर दोनों दूर खड़ी होकर देखती हैं कि कोई वहां जाकर उन्हें देख न ले। जब गौतमी उधर जाती है तो वे चक्रवाकवधू को कुछ कहने के बहाने शकुन्तला को उसकी सूचना देती हैं। दुर्वासा का शाप सुन कर दोनों चिन्तित होती हैं और उनका अनुनय करके शाप निवृत्ति करा लेती हैं। शकुन्तला के विदा होते समय दोनों व्याकुल हो जाती हैं। उन्हें उसके बिना आश्रम सूना मालूम होता है। दोनों फुर्तीली और बुद्धिमती हैं। दोनों का व्यवहार भद्र और आकर्षक है।

उपर्युक्त बातों में दोनों के चरित्र में साम्य है। कुछ दृष्टियों से दोनों के चरित्र में वैषम्य भी है। अनसूया गम्भीर है। वह हँसी मजाक की बातों में विशेष भाग नहीं लेती। उसके कार्य और बातों से प्रौढ़ता झलकती है। वह बहुत अधिक शर्मीली नहीं है। राजा के तपोवन में प्रवेश करने पर वह ही आगे बढ़ कर उससे बातें करती है। वह राजा को विश्वामित्र के मेनका पर आसक्त होने और शकुन्तला की उत्पत्ति का हाल बतलाती है। अपनी सहेलियों को सुखी देख कर उसके मन में किसी प्रकार की असूया नहीं उत्पन्न होती। इसीलिये कवि ने उसका नाम अनसूया रखा है। वह सदा दूसरों को सुखी करने की बात सोचती है। उसके मन में अपने सुख का विचार ही नहीं उत्पन्न होता। प्रियंवदा खुशदिल और मधुरभाषिणी है। उसकी बातें मसखरेपन से भरी होती हैं। उसका मजाक चुभने वाला या अपमानकारक होने के कारण मानसिक कष्ट देने वाला नहीं होता। उसमें एक प्रकार की मिठास होती है। जिससे मजाक किया जाता है उसकी इच्छा होती है कि यह और कुछ कहे। यही कारण है कि जब वह शकुन्तला से मजाक करती है तो गद्गद होकर वह कहती है—'अत एव प्रियंवदेति भण्यसे', 'एष ते आत्मनश्चिन्तगतो मनोरथः' इत्यादि। राजा के साथ चलने वाली बातचीत जब समाप्त होने पर आने लगती है तो प्रियंवदा—'पुनरपि वक्तुकाम इव आर्यो लक्ष्यते' (पृ० ६३) कह कर उसे आगे बढ़ाती है। इससे भी उसकी खुशदिली, मसखरापन और समय की सूझ व्यक्त होती है। इस प्रसङ्ग के आगे बातचीत में प्रियंवदा अधिक भाग लेती है। इसकी इधर की बातों से इसका प्रत्युत्पन्नमतित्व प्रकट होता है। जब राजा कहता है कि हमें आपकी सखी के विषय में और भी कुछ पूछना है तो वह झट कहती है—'अलं

विचारितेन, अनियन्त्रणानुयोगः खलु तपस्विजनः' (पृ० ६४) जब राजा पूछता है कि आपकी सखी विवाहपर्यन्त तपस्विनी रहेगी या जीवन भर ? तो वह दुफन्दे का उत्तर देते हुए कहती है—धर्माचरणपरवश एष जनः, गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः (पृ० ६५)। जब शकुन्तला रुष्ट होकर गौतमी के पास जाना चाहती है तो यह—'द्वे मे वृक्षसेचनके धारयसि, ताभ्यां तावदात्मानं मोचय, ततो गमिष्यसि' (पृ० ६७) कह कर उसे रोकती है।

अनसूया सशङ्क दिखाई देती है। वह किसी भी बात पर सहसा विश्वास नहीं करती। वह हर एक प्रश्न पर सब पहलुओं से विचार करती है। वह किसी भी कार्य से होनेवाली भलाई के साथ उससे होने वाली हानि पर भी विचार करना चाहती है। वह 'उपायं चिन्तयेत् प्राज्ञस्तथापायञ्च चिन्तयेत्, के सिद्धान्त का अनुसरण करने वाली प्रतीत होती है। तृतीय अङ्क में वह राजा से कहती है—'बहुवल्लभाः खलु राजानः श्रूयन्ते। तत् यथा इयं नः प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा करिष्यसि' (पृ० १८८)। प्रियंवदा का स्वभाव ठीक इससे उलटा है। वह बहुत शीघ्र विश्वास कर लेती है। वह किसी भी कार्य से होने वाली भलाई को सोचती है ; बुराई की तरफ उसका ध्यान नहीं जाता। चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक में जब अनसूया चिन्ता प्रकट करती है कि कौन जाने नगर जा कर राजा शकुन्तला का स्मरण करेगा या नहीं तो प्रियंवदा कहती है—'अत्र तावत् विश्वस्ता भव। न हि तादृशाः आकृतिविशेषा गुणविरहिणो भवन्ति, (पृ० २३५)। अनसूया को वर्तमान सुख की अपेक्षा शकुन्तला के भविष्य की अधिक चिन्ता है। वह चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक में प्रियंवदा से कहती है—'हला प्रियंवदे ! यद्यपि गान्धर्वेण विवाहविधिना निर्वृत्तकल्याणा प्रियसखी शकुन्तला अनुरूपभर्तृभागिनी संवृत्ता, तथापि मे न निर्वृतं हृदयम्' (पृ० २३३-२३४), आगे वह कहती है—अद्य स राजर्षिः इष्टिपरिसमाप्त्या ऋषिभिर्विसर्जितः आत्मनो नगरं प्रविश्य अन्तःपुरसमागमादिमं जनं स्मरति न वा' (पृ० २३५)। ठीक इसके विपरीत प्रियंवदा वर्तमान सुख चाहती है। भविष्य की तरफ उसका ध्यान नहीं जाता। वह तृतीय अङ्क में शकुन्तला और दुष्यन्त को मिलाने में बड़ा उत्साह दिखाती है (पृ० १८३-१८६)। दोनों के मिल जाने पर बड़ी खुशी प्रकट करती है। वह कहती है—'अनसूये ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व मेघवाताहतामिव ग्रीष्मे मयूरी क्षणे क्षणे प्रत्यागतजीवितां प्रियसखीम्' (पृ० १९१)। अनसूया की बुद्धि परिपक्व है। उसके विचार व्यावहारिक हैं। उसकी कल्पना ठीक होती है। चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक में जब प्रियंवदा चिन्तित होकर कहती है कि तीर्थयात्रा से लौटने पर शकुन्तला के विवाह का वृत्तान्त सुन कर पिताजी न जाने क्या करेंगे तो वह उसे समझाते हुए कहती है—'अनुरूपस्य वरस्य हस्ते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत् प्रथमः कल्पः। तं यदि दैवं सम्पादयति, ननु कृतार्थो गुरुजनः' (पृ० २३६)। उसकी यह कल्पना सत्य सिद्ध होती है। प्रियंवदा भावावेश में बहती है। वह कोई काम

करने के समय तो बिना सोचे कर जाती है। परन्तु बाद में उसे घबड़ाहट होती है। दुष्यन्त और शकुन्तला को मिलाने के समय तो उसे पिताजी की याद नहीं आती। बाद स्मरण आने पर वह भय में गोते खाने लगती है। वह अनसूया से कहती है—'एतावत् पुनश्चिन्तनीयं—तातस्तीर्थयात्रातः प्रतिनिवृत्तः इमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यते इति' (पृ० २३६)। अनसूया आपत्ति आने पर घबड़ाती नहीं। वह हिम्मत से उपाय द्वारा उसे दूर करने का उपाय करती है। इसके उलटे प्रियंवदा आपत्ति आने पर घबड़ा जाती है। वह अकेली स्वयं आगे बढ़कर उसे टालने के लिये कोई प्रयत्न नहीं कर सकती। दुर्वासा के शाप की बात सुनकर प्रियंवदा घबड़ा जाती है। दुर्वासा के सामने जाने की उसकी हिम्मत नहीं होती। वह अनसूया को भेजती है। अनसूया उनका अनुनय करके शापविमोचन कराती है।

शार्ङ्गरव और शारद्वत—ये दोनों कण्व ऋषि के शिष्य हैं। कण्व ऋषि इनके नाम के साथ आदरसूचक 'मिश्राः' शब्द का प्रयोग करते हैं—'क्व नु ते शार्ङ्गरवशारद्वत-मिश्राः ?' (पृ० २७७)। इससे प्रतीत होता है कि ये दोनों पचीस वर्ष से ऊपर की उम्र के (लगभग तीस वर्ष की उम्र के) प्रौढ युवक हैं। इन दोनों में शारद्वत की अपेक्षा शार्ङ्गरव कुछ बड़ा प्रतीत होता है। यह आश्रम से राजदरबार जाने वाले दल का नेतृत्व करता है। कण्व ऋषि इसी के द्वारा राजा को अपना सन्देश भेजते हैं। दोनों के मन में गुरुभक्ति अपार है। ये दोनों केवल शुष्क तपस्वी नहीं हैं; लोकाचार को भी जानते हैं। शकुन्तला को पहुँचाने जाते समय आश्रम से कुछ दूर जाकर वे दोनों कण्व से कहते हैं—'भगवन्! ओदकान्तं स्निग्धोऽगम्यत इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र नः सन्दिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि' (पृ० २९१)। ये दोनों राजदरबार के शिष्टाचार को भी जानते हैं। राजा के सामने जाते ही हाथ उठाकर उसे आशीर्वाद देते हैं। दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति स्नेह है। राजमहल में पहुँच कर दोनों एक दूसरे से अपना अपना अनुभव कहते हैं। इस अवसर पर शार्ङ्गरव शारद्वत को 'सखे' कह कर सम्बोधन करता है। शारद्वत का अनुभव शार्ङ्गरव से भिन्न होने पर भी वह उसकी दृष्टि का आदर करता है। दोनों मिल जुल कर परस्पर परामर्श से सब काम करते हैं। यद्यपि राजदरबार में आगे बढ़कर शार्ङ्गरव बातें करता है, तथापि जब जब बात बिगड़ने पर आती है शारद्वत उसे अपनी सलाह देता रहता है। शार्ङ्गरव इस पर नाराज नहीं होता। वह उसकी सलाह मान कर अपनी धारा बदल देता है। दोनों को तपोवन से प्रेम और शहर के जीवन से नफरत है।

शार्ङ्गरव और शारद्वत के चरित्रों में अन्तर भी है। शार्ङ्गरव अभ्यास और भावना की धारा में बहता है। उसकी दृष्टि में दार्शनिकता कम है। वह वन में रहने का अभ्यस्त है। उसे एकान्त प्रिय लगता है। बहुत से मनुष्यों से भरा राजमहल देख कर उसे उद्वेग होता है। उसे वह आग लगा मकान प्रतीत होता है। इसके विपरीत शारद्वत की दृष्टि दार्शनि-

कता से भरी है। नगर के सांसारिक सुख में डूबे लोगों को देखकर उसे दया आती है। वह उन्हें अशुचि, अज्ञानी और भवपाश में बद्ध समझता है। शार्ङ्गरव बहुत बोलनेवाला है। उसका स्वभाव आगे बढ़कर बोलने का है। वह गुरुकुल में अपना अधिकार समझता है। शकुन्तला की विदाई के समय देर होने पर वह कण्व ऋषि से कहता है—'भगवन्! दूरमधिरूढः सविता, तत्त्वरयात्रभवतीम्' (पृ० ३०२)। राजदरबार में भी वह ही आगे बढ़कर बातें करता है। शारद्वत का स्वभाव इसके विपरीत है। वह स्वयं आगे बढ़कर कुछ नहीं कहता। उससे कुछ कहने पर वह उसका उचित उत्तर देता है। अत्यावश्यक होने पर यदि वह स्वयं आगे बढ़कर कुछ कहता भी है तो केवल उससे, जिससे वह विशेष हिला मिला है। गुरु को सलाह या प्रेरणा देने की तो बात ही उसके मन में नहीं उठती। गुरु की आज्ञा का पालन करना ही वह अपना कर्तव्य समझता है। शार्ङ्गरव क्रोधी परन्तु सरल स्वभाव का है। वह निडर और बेमुलाहिजे खरी सुनाने वाला है। इस दृष्टि से तो सचमुच वह धनुष की टङ्कार ही है। वह चापलूसी नहीं जानता। जब पुरोहित राजा के विनय की तारीफ करता है (पृ० ३३२) तो वह कहता है कि यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सत्पुरुषों को समृद्धि में अनुद्धत होना ही चाहिये (पृ० ३३३-३४)। शार्ङ्गरव के मुख से कण्व का संदेश सुन कर जब राजा कहता है—'अये! किमिदमुपन्यस्तम्' (पृ० ३४३) तो वह उसके आशय को ठीक नहीं समझ पाता। उसके मन में यह कल्पना भी नहीं उठती कि राजा पाणिग्रहण करना अस्वीकार कर रहा है। वह समझता है कि राजा कह रहा है कि शकुन्तला को यहां क्यों लाए। इसीलिये वह 'सतीमपि' (पृ० ३४४) इत्यादि व्यावहारिक उत्तर देता है। आगे जब राजा कहता है—'किमत्रभवती मया परिणीतपूर्वा' (पृ० ३४५) तब शार्ङ्गरव को रहस्य समझ में आता है। इस पर वह क्रुद्ध होता है। उसका क्रोध धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। बात यहाँ तक चली जाती है कि वह बेधड़क राजा को 'ऐश्वर्यमत्त, (पृ० ३७६) और 'दस्यु' (पृ० ३५२) तक कह डालता है। शारद्वत का स्वभाव इससे उलटा है। वह शान्त और झगड़ा तोड़ने वाला है। वह थोड़ी आवश्यक और समयोचित बातें कहता है। शार्ङ्गरव और राजा का झगड़ा चरम सीमा पर पहुँचा देख वह शार्ङ्गरव को समझाता है। वह कहता है—'शार्ङ्गरव! विरम त्वमिदानीम्' इत्यादि (पृ० ३५२)।

कालिदास ने शारद्वत की अपेक्षा शार्ङ्गरव का चरित्र अधिक विकसित किया है। उन्होंने उसके चरित्र की दो-तीन विशेषतायें और दिखलाई हैं। शार्ङ्गरव अपने गुरु को सर्वज्ञ और सर्वसिद्धि-सम्पन्न समझता है। चतुर्थ अङ्क में वह गुरु को लक्ष्य करके कहता है—'न खलु कश्चिदविषयो नाम धीमताम्' (पृ० २९६)। पञ्चम अङ्क में राजा से बातें करते समय वह कहता है—'स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः' (पृ० ३३९)। शार्ङ्गरव तपोवन में रहने वाले लोगों को सबसे ऊँचे प्राणी समझता है। उसका विश्वास है कि वे कभी झूठ नहीं बोल सकते। राजनीतिज्ञों को वह असत्य और दगाबाजी के वातावरण में

चले मनुष्य समझता है। पञ्चम अङ्क में वह कहता है—'आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यः' इत्यादि (पृ० ३६९)। उसकी इस उक्ति की व्यञ्जना यह है कि राजनीतिज्ञों से सत्य और न्याय की आशा करना भूल है। शार्ङ्गरव स्त्री-स्वातन्त्र्य का समर्थक नहीं है। वह स्त्रियों को स्वतन्त्रतापूर्वक एक कदम भी नहीं उठाने देना चाहता। जब वह शकुन्तला को राजा के सामने छोड़ कर अपने दल के साथ जाने लगता है तो शकुन्तला भी उनके पीछे-पीछे चलती है। इस बात की तरफ गौतमी उसका ध्यान दिलाती है। तब वह शकुन्तला को कड़क कर कहता है—'आः पुरोभागिनि ! किमिदं स्वातन्त्र्यमवलम्बसे' (पृ० ३७३)। यहाँ का प्रकरण पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि वृद्धा गौतमी भी उसका रोब मानती है (पृ० ३७२)।

अभिज्ञानशाकुन्तल में रस

अभिज्ञानशाकुन्तल शृङ्गार रस का नाटक है। इसमें सम्भोग शृङ्गार अङ्गी और विप्रलम्भ शृङ्गार, वीर, अद्भुत, करुण, हास्य, भयानक, रौद्र और वत्सल अङ्ग रस हैं। इनके अतिरिक्त इसमें अनेक सञ्चारी भावों का भी आस्वाद मिलता है। कुछ लोगों का मत है कि इसमें विप्रलम्भ शृङ्गार की अधिक व्याप्ति होने के कारण उसे ही अङ्गी रस मानना चाहिये। यह ठीक नहीं मालूम होता। संस्कृत के नाटक दुःखान्त नहीं होते, वे सुखान्त होते हैं। शाकुन्तल में भी तृतीय अङ्क और सप्तम अङ्क में सम्भोग शृङ्गार है। शृङ्गार रस के नाटक विप्रलम्भपूर्वक होते ही हैं। विप्रलम्भ के बाद आने वाला सम्भोग अधिक आनन्ददायक होता है। नाटक समाप्त होने पर जिस रस का मन पर असर रहे उसे प्रधान रस मानना चाहिये। इस नाटक का अभिनय देख कर बाहर निकलने पर वियोग का मन पर असर नहीं रहता। अन्तिम अङ्क में होने वाले नायक और नायिका के स्थायी मिलन के सुख का प्रभाव प्रेक्षकों के मन पर अधिक काल तक रहता है। इसलिए इसे सम्भोग शृङ्गार का ही नाटक कहना चाहिये।

प्रथम अङ्क का पहिला दृश्य मृग के शिकार का है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार इस दृश्य के 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं' (पृ० १६) इत्यादि पद्य में भयानक रस है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि सम्पूर्ण दृश्य भयानक रस का है। इस दृश्य में शिकार के लिये राजा के उत्साह का मुख्य रूप से आस्वाद होता है। अतः यह दृश्य वीररस का है। इसी अङ्क में आगे राजा के तपोवन में प्रवेश से लेकर हाथी के उपद्रव के समाचार तक नायक और नायिका के मन में अनुराग की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति होती है। अङ्क के अन्त में '(निश्वस्य) गताः सर्वाः' (पृ० ८०) इत्यादि राजा की उक्ति से विप्रलम्भ स्पष्ट झलकता है। तात्पर्य यह कि इस अङ्क में चक्षूराग और मन की अनन्यपरता तक बात जाती है। यह सब अभिलाष की सीमा के अन्दर आता है। अतः यहां विप्रलम्भ शृङ्गार

ही मानना चाहिये। इसी अङ्क में 'तीव्राघातात्' (पृ० ७६) इत्यादि पद्य में भयानक रस है।

द्वितीय अङ्क में हास्य रस प्रधान है। 'उभौ—(राजानं विलोकयतः)' (पृ० १२१) से लेकर 'उभौ—विजयस्व। (इति निष्क्रान्तौ)' (पृ० १२८) तक ऋषिकुमारों के दृश्य में उत्साहोदय का आस्वाद होता है और राजा के युद्धवीर होने की बात ध्वनित होती है।

तृतीय अङ्क के विष्कम्भ में शिष्य की राजविषया रति और शकुन्तला के स्वास्थ्य के लिये चिन्ता, सम्भ्रम आदि भावों का सङ्कर है। तृतीय अङ्क के आरम्भ में विप्रलम्भ शृङ्गार है। 'स्वागतं यथासमीहितफलस्य' (पृ० १८१) इत्यादि से 'शकु०—(वक्त्रं ढौकते)' (पृ० २२०) तक राजा और शकुन्तला के एकान्त-मिलन में संभोग शृङ्गार है। '(नेपथ्ये) चक्रवाकवधु' (पृ० २५१) इत्यादि से 'रहः प्रत्यासत्ति' (पृ० २२९) इत्यादि तक गौतमी के आ जाने से विघ्न के कारण पुनः विप्रलम्भ है '(नेपथ्ये) भो भो राजन्।' (पृ० २३०) इत्यादि से अङ्क के अन्त तक तपस्वियों का भय और राजा का उत्साह व्यक्त होता है। इस विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि इस अङ्क में भी अधिक व्याप्ति विप्रलम्भ की ही है।

चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक में शकुन्तला के भविष्य के विषय में अनसूया की चिन्ता और दुर्वासा का क्रोध व्यक्त होता है। चतुर्थ अङ्क प्रकृतिवर्णन से आरम्भ होता है। परम्परा के अनुसार इस अङ्क में करुण रस प्रधान है। वस्तुतः कन्या के ससुराल जाते समय माता, पिता अदि सम्बन्धियों को जो दुःख होता है वह शुद्ध दुःख नहीं कहा जा सकता। उसमें सुख का मिश्रण रहता है। यदि ऐसा न हो तो कोई कन्या को ससुराल विदा ही न करे। उसका ससुराल जाना इष्ट होता है और इष्टप्राप्ति का परिणाम सुख है। वियोग की कल्पना से कुछ दुःख भी होता है। इस प्रकार ऐसे अवसरों पर सुख और दुःख का सम्मिश्रण रहता है। अतः ऐसे दृश्यों में शुद्ध दुःख को स्थायीभाव मान कर करुण रस मानना ठीक होगा या नहीं यह विचारणीय बात है। यदि ऐसे दृश्यों में करुण की सीमा तक लहराने वाला वत्सल (करुण-वत्सल) अथवा विप्रलम्भ-वत्सल माना जाय तो क्या हानि होगी ?

पञ्चम अङ्क के आरम्भ में क्रमशः कञ्चुकी का अपनी वृद्धावस्था पर खेद, उसकी राजविषया रति, राजा का राजपद के प्रति निर्वेद, वैतालिकों की राजविषया रति तथा राजा और विदूषक के संवाद में हास्य का आस्वाद होता है। हंसवती के वृत्तान्त से राजा का दक्षिणनायकत्व ध्वनित होता है। राजा और शार्ङ्गरव के झगड़े में वीर रस है। दोनों धर्म की रक्षा के लिये झगड़ते हैं। राजा परस्त्री के स्पर्श से उत्पन्न होने वाले पातक से अपने को बचाने पर अड़ा है। शार्ङ्गरव राजा द्वारा गान्धर्वविधि से विवाहित स्त्री को उसी के सिर मढ़ने की कसम लिए हुए है। दोनों धर्मवीर हैं। पुरोहित के बीच-बचाव से दोनों का झगड़ा

बराबरी पर छूटता है। किसी अदृश्य मूर्ति द्वारा शकुन्तला के उड़ा ले जाने के समाचार में अद्भुत रस है। अङ्क के अन्त में अब तक जो कुछ हुआ इसके प्रति राजा की उपेक्षा, पुरोहित का स्वामी की इच्छा के आगे आत्मसमर्पण और शकुन्तला के वृत्तान्त की स्मृति से राजा की बेचैनी झलकती है। पञ्चम अङ्क का अङ्कावतार देश की तात्कालिक स्थिति पर प्रकाश डालता है। इसमें हास्य रस है।

षष्ठ अङ्क में विप्रलम्भ शृङ्गार है। राजा शकुन्तला के विरह में दुःख करता है। वह उसके चित्र को देखकर दिल बहलाता है। वह यह जानता है कि शकुन्तला मरी नहीं है उसे उसकी माता मेनका अथवा उसकी भेजी कोई अप्सरा ले गई है। जब विदूषक उससे पूछता है कि कौन आकाशसञ्चारी उसे ले गया तो वह कहता है—'वयस्य ! कः पतिव्रतां तामन्यः परामर्ष्टुमुत्सहते' इत्यादि (पृ० ४२९)। यद्यपि आगे वह कहता है 'असकृत्स्वैं तदतीतमेव मनोरथानामतटप्रपातः' (पृ० ४३२) तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उसे विदूषक की इस उक्ति में अविश्वास नहीं है कि शकुन्तला का उससे पुनः समागम होगा (पृ० ४३०)। धनवृद्धि वणिक् के वृत्तान्त से राजा की न्यायप्रियता और अपने वंश के लिये सन्तान की चिन्ता व्यक्त होती है। मातलि और विदूषक के दृश्य में राजा का क्रोध प्रकट होता है। अङ्क के अन्त में राक्षसों से लड़ने के लिये राजा का उत्साह उद्बुद्ध होता है। इस अङ्क में विप्रलम्भ शृङ्गार की व्याप्ति अधिक है।

सप्तम अङ्क के आरम्भ में मातलि की राजविषया रति और राजा का विनय प्रकट होता है। आगे रथ के मार्ग का तथा उसके आकाश से पृथ्वी पर उतरने का वर्णन है। इसमें विस्मय स्थायी होने के कारण अद्भुत रस है। 'वल्मीकार्द्धनिमग्नमूर्तिः' इत्यादि (पृ० ५१३) मारीच ऋषि के वर्णन में विस्मय और मुनिविषया रति का संकर है। 'प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता' इत्यादि (पृ० ५१६) पद्य से मारीच ऋषि के तपोवन की समृद्धि और वहाँ के तपस्वियों की निस्पृहता प्रकट होती है। यहाँ भी अद्भुत रस का आस्वाद होता है। सर्वदमनदर्शन के दृश्य में वात्सल्य है। शकुन्तला से स्थायी मिलन में संभोग शृङ्गार है। अन्त में मारीच ऋषि के मङ्गलमय आशीर्वाद और भरतवाक्य के द्वारा लोकमंगल तथा परम पुरुषार्थ मोक्ष की शुभ कामनाओं से नाटक समाप्त होता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल का देश की अवस्था पर प्रकाश

समाज—अभिज्ञानशाकुन्तल से प्रतीत होता है कि उस समय हिन्दू समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में विभक्त था। सम्भव है एक पञ्चम वर्ण भी रहा हो। अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह ये ब्राह्मणों के कर्म माने जाते थे। तपस्वी ब्राह्मण पहिले पाँच कर्म करते थे। वे प्रतिग्रह नहीं लेते थे। वे तपोवनों में रहते थे। उनका जीवन सादा परन्तु विचार उच्च होते थे। कुछ ब्राह्मण नगरों में भी रहते थे। वे प्रतिग्रह लेते थे। वे धनिकों के आश्रय में रहते थे। ऐसे ब्राह्मण तपोवनों में रहने वाले

तपस्वियों की अपेक्षा नीच समझे जाते थे। कण्व ऋषि और उनके शिष्य प्रथम कोटि के ब्राह्मण हैं। राजा का पुरोहित द्वितीय कोटि का है। क्षत्रियों का काम देश की रक्षा करना था। वे युद्धविद्या-विशारद होते थे और सेना में काम करते थे। राजा और उसका सेनापति इसी वर्ग के हैं। वैश्यों का काम व्यापार करना था। कुछ व्यापारी जहाजों में माल लादकर व्यापार के लिये विदेश भी जाते थे। वणिक् धनवृद्धि ऐसा ही एक वारिपथोपजीवी है। शूद्रों का काम सेवा करना था। वे छोटे-छोटे पदों पर नौकरी भी करते थे।

विवाह और स्त्रियों की अवस्था—हिन्दू समाज में बहुविवाह की प्रथा थी। प्रायः धनिक लोग अनेक विवाह किया करते थे। यह प्रथा क्षत्रिय और वैश्यों में बहुत अधिक प्रचलित थी। शूद्रों में आर्थिक कठिनाई के कारण यह प्रथा कम थी। ब्राह्मण ज्ञानी होने के कारण प्रायः एक ही विवाह किया करते थे। अभिज्ञान-शाकुन्तल में राजा और वणिक् धनवृद्धि अनेक भार्या वाले पुरुष हैं।

विवाह की दो विधियां—वैदिक और गान्धर्व बहुत प्रचलित थीं। लोग प्रायः सवर्ण स्त्री से विवाह करना अधिक पसन्द करते थे। अपने से ऊँचे वर्ण की स्त्री से विवाह करना शास्त्रसम्मत नहीं था। समाज में स्त्रियों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। परन्तु उन्हें व्यवहार-स्वातन्त्र्य नहीं था। उनका पुरुषों के अधीन रहना ही वाञ्छनीय समझा जाता था। कुछ स्त्रियाँ तपोवनों में तपस्विनियों के रूप में भी रहती थीं। ये स्त्रियाँ विवाहिता होती थीं या अविवाहिता या विधवा, इस बात का इस नाटक से ठीक पता नहीं चलता। गौतमी इसी प्रकार की एक स्त्री है। शकुन्तला इसे **'तातकण्वस्य धर्मकनीयसी'** कहती है (पृ० २२२–२२३)। इससे यह पता चलता है कि कण्व ऋषि इसे अपनी छोटी बहिन समझते थे। राजा के **'अयि तापसवृद्धे !'** (पृ० ३६०) कहने से पता चलता है कि यह वृद्धा थी। परन्तु यह ब्रह्मचारिणी थी या किसी तपस्वी की ब्याही हुई स्त्री या विधवा, इस बात का ठीक पता नहीं चलता। यदि यह मान लिया जाय कि गौतमी ब्रह्मचारिणी है तो यह कहना पड़ेगा कि उस समय पुरुषों की तरह कुछ स्त्रियाँ भी जन्म भर अविवाहिता रहती थीं। तपस्वियों की ब्याही हुई स्त्रियाँ भी 'तापसी' कहलाती थीं। स्त्रियों में परदे की प्रथा नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि नव-वधू को घूँघट काढ़ना पड़ता था। पञ्चम अङ्क में राजा शकुन्तला को **'अवगुण्ठनवती'** (पृ० ३३५) कहता है। सम्भव है रानियाँ और अन्य धनिकों की स्त्रियाँ घूँघट काढ़ती हों।

रत्नों की चोरी के लिये दण्ड—अभिज्ञानशाकुन्तल से उस समय देश में रत्नों की चोरी के लिये प्रचलित दण्ड-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। पञ्चम अङ्क के अङ्कावतार से मालूम पड़ता है कि उस समय रत्नों की चोरी के लिये प्राणदण्ड दिया जाता था। सूचक नाम का एक सिपाही अपने साथी से कहता है—**'स्फुरतो मे अग्रहस्तौ इमं ग्रन्थिच्छेदकं**

व्यापादयितुम्' (पृ० ३९१) धीवर के मुक्त हो जाने पर सूचक कहता है 'यमवसतिं गत्वा प्रतिनिवृत्तः खल्वेषः' (पृ० ३९३)। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में भी इस अपराध के लिए यही दण्ड दिखलाया है (आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः—अङ्क ५) प्रो० आपटे का कथन है कि यह दण्डविधान मनु और आपस्तम्ब के अनुसार है। बृहस्पति ने प्राणदण्ड के विकल्प में अर्थदण्ड लिखा है। इससे कालिदास के काल पर भी प्रकाश पड़ता है। अवश्य ही कालिदास बृहस्पति से पहले हुए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास के समय राजपुरुष अपराध स्वीकार कराने के लिये अपराधियों को मारते भी थे। धीवर कहता है-'एतावान् तावदेतस्य आगमः। अथ मां मारयतं कुट्टयत वा' (पृ० ३८९)। कुछ लोगों का कहना है कि उस समय राजपुरुष अपराधियों से घूस लेते थे। अभिज्ञानशाकुन्तल से इसका समर्थन नहीं होता। यह कहा जा सकता है कि आरोप-मुक्त होने पर खुशियाली में अभियुक्त जो कुछ देते थे उसे राजपुरुष ले लेते थे। वे घूस लेकर अपराधियों को छोड़ नहीं देते थे। कुछ राजकर्मचारी शराब भी पीते थे।

दायाधिकार के नियम—अभिज्ञानशाकुन्तल के षष्ठ अङ्क में अमात्य पिशुन प्रतिहारी के हाथ राजा की सेवा में एक पत्र भेजता है। उसमें वह लिखता है कि धनवृद्धि नाम का वणिक् मर गया है। उसको कोई सन्तान नहीं है। अतः उसका धन राजस्व हो रहा है। आगे महाराज की जैसी आज्ञा। इस पर राजा पूछता है कि मृत बनिये की स्त्रियों में से कोई गर्भिणी है या नहीं? प्रतीहारी से जब उसे मालूम होता है कि मृत बनिये की स्त्री गर्भिणी है तो वह उससे कहता है कि जाकर अमात्य से कह दो कि वह गर्भ ही पिता के धन का अधिकारी है। इस वृत्तान्त से यह मालूम होता है कि उस समय यदि कोई पुरुष निःसन्तान मर जाता था तो उसका धन राजस्व हो जाता था। गर्भस्थ सन्तान भी पिता के धन का अधिकारी होता था। परन्तु मृतपुरुष की विधवा को पति के धन में कोई भाग नहीं मिलता था। राजा इस बात का पता लगाने का आदेश नहीं देता कि मृत बनिये की कोई विधवा है या नहीं। वह इस बात का पता लगाने को कहता है कि मृत बनिये की स्त्रियों में कोई गर्भिणी है या नहीं। प्रो० आपटे का कहना है कि मनु, आपस्तम्ब और वसिष्ठ विधवा का अधिकार नहीं मानते। नारदस्मृति के अनुसार विधवा को खाना-कपड़ा पाने का अधिकार है। बृहस्पति, शङ्ख, लिखित और याज्ञवल्क्य ने विधवा का अधिकार माना है।

अभिज्ञानशाकुन्तल की एक पहेली

इस नाटक में दुष्यन्त की राजधानी का नाम हस्तिनापुर कहा गया है। विद्वानों का मत है कि यह नगर दुष्यन्त के समय नहीं था। इसे हरिवंश और पुराणों के अनुसार दुष्यन्त से सातवें और महाभारत के अनुसार पांचवें राजा हस्ती ने बसाया था। अतः इस नगर को दुष्यन्त की राजधानी कहना भूल है। संभव है यह भूल कालिदास ने

जानबूझ कर की हो। कालिदास के समय इस नगर का यह नाम बहुत प्रसिद्ध हो चुका होगा। अतः कालिदास ने इसी नाम का प्रयोग किया। जिसमें लोग उसे शीघ्र समझ जायँ। किशोरकेलिकार का कहना है कि उपर्युक्त मत ठीक नहीं है। महाभारत में भी दुष्यन्त की राजधानी का यही नाम माना गया है (पृ० २६२)। दुष्यन्त की राजधानी का वास्तविक नाम और उसका स्थान इस नाटक की एक पहेली है।

कालिदास का प्रकृति-प्रेम

इस विषय पर चौखम्बा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग की प्रस्तावना में लिखा जा चुका है। अभिज्ञानशाकुन्तल से इस विषय पर और प्रकाश पड़ता है। कालिदास प्रकृति को मनुष्य-जीवन से सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं मानते। उनके विचार में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। उन्हें मनुष्य-जीवन में प्रकृति का और प्रकृति में मनुष्य-जीवन का दर्शन मिलता है। शकुन्तला के सान्निध्य में उन्हें सहकारवृक्ष लतासनाथ दिखाई देता है (पृ० ३८)। वे नवमल्लिका और सहकार में वरवधू का सम्बन्ध देखते हैं (पृ० ३९)। कालिदास के मत में प्रकृति की गोद में विहार करते समय मनुष्य को जीवन का पूरा आनन्द मिलता है। कृत्रिमता के वातावरण में जीवन अधूरा और नीरस हो जाता है। प्रकृति में ही सच्चे सौन्दर्य का दर्शन होता है। शकुन्तला का प्रथम दर्शन होते ही राजा दुष्यन्त के मुख से सहसा 'शुद्धान्तदुर्लभमिदम्' (पृ० ३१) इत्यादि पद्य निकल पड़ता है। वह इस बात का अनुभव करने लगता है कि महल के कृत्रिम वातावरण की अपेक्षा वन के प्राकृतिक वातावरण में अधिक सौन्दर्य है। कालिदास के विचार में प्रकृति जड़ पदार्थ नहीं है। उन्हें वह भी चेतनों का सा व्यवहार करती दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार चेतन जगत् के लोग परस्पर प्रेम के कारण सुख-दुःख में एक दूसरे की सहायता करते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी करती है। शकुन्तला की बिदाई के समय तपोवन के वृक्ष अनेक प्रकार के वस्त्र और आभूषण देकर कण्व ऋषि की सहायता करते हैं (पृ० २६७)। पवन से हिलते पल्लवों को देख कर कालिदास को ऐसा भास होता है मानो सहकार शकुन्तला को बुला रहा हो (पृ० ३८)। तपोवन के वृक्ष कोकिल के शब्द द्वारा शकुन्तला की बिदाई में अपनी अनुमति देते मालूम पड़ते हैं। कालिदास का विश्वास है कि प्रकृति भावी मंगल और अमङ्गल की सूचना देती है। माधवीलता का मुकुलित होना शकुन्तला के पाणिग्रहण के समय का सन्निकट होना सूचित करता है (पृ० ४३)। कालिदास के उपास्य देव भगवान् शंकर हैं। उन्हें उनका दर्शन भी प्रकृति में होता है। प्रकृति के आठ रूप ही कालिदास के भगवान् शंकर की आठ मूर्तियाँ हैं। इन्हीं से वे विश्वमङ्गल की प्रार्थना करते हैं।

पात्र-परिचय

पुरुष पात्र

१ सूत्रधार	प्रधान नट।
२ दुष्यन्त	हस्तिनापुर का राजा, नायक।
३ सूत	दुष्यन्त का सारथि।
४ वैखानस	कण्व का शिष्य, एक तपस्वी।
५ माधव्य (विदूषक)	दुष्यन्त का नर्म-सचिव।
६ भद्रसेन	दुष्यन्त का सेनापति।
७ रैवतक (दौवारिक)	द्वारपाल।
८ ऋषिकुमारौ	कण्व के आश्रम में रहनेवाले दो ऋषिकुमार।
९ करभक	हस्तिनापुर से आया हुआ दूत।
१० शिष्य	कण्व का एक शिष्य।
११ हारीत	कण्व का एक शिष्य।
१२ कण्व	शकुन्तला के पालक पिता, कुलपति।
१३ शार्ङ्गरव, १४ शारद्वत	कण्व के शिष्य।
१५ कञ्चुकी (पार्वतायन)	दुष्यन्त का नौकर।
१६ वैतालिकौ	दुष्यन्त के दरबार के दो भाट (स्तुतिपाठक)
१७ उपाध्याय सोमरात (पुरोधा)	दुष्यन्त का पुरोहित।
१८ नागरक श्लाल	प्रधान नगर-रक्षक, दुष्यन्त का साला।
१९ सूचक, २० जालुक — रक्षिणौ	सिपाही।
२१ पुरुष (धीवर)	अंगूठी की चोरी का कथित अपराधी।
२२ मातलि	इन्द्र का सारथि।
२३ बाल (सर्वदमन, भरत)	दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र।
२४ मारीच	महर्षि कश्यप, प्रजापति।
२५ गालव	मारीच का शिष्य।

स्त्री पात्र

१ नटी	सूत्रधार की पत्नी।
२ शकुन्तला	कण्व की धर्म-कन्या, नायिका।
३ अनसूया ४ प्रियंवदा	शकुन्तला की सखियाँ।
५ गौतमी	कण्व की धर्म-भगिनी।
६ प्रतीहारी	दुष्यन्त की परिचायिका।
७ मिश्रकेशी	एक अप्सरा।
८ परभृतिका ९ मधुरिका	प्रमदवन में चित्र बनाने के लिए विदेश से बुलाई हुई दासी।
१० चतुरिका (चेटी)	दुष्यन्त की दासी।
११ प्रथमा तापसी १२ द्वितीया तापसी	मारीच के आश्रम में रहने वाली सर्वदमन (शकुन्तला के पुत्र) की रक्षिकाएँ।
१३ अदिति	मारीच की पत्नी।





अभिज्ञान-शाकुन्तलम्

'किशोरकेलि' व्याख्योपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १ ॥

❀ श्री सरस्वत्यै नमः ❀

मुग्धे ! सुन्दर ! यामि शैलशिखरं, किं तत्र, माहेश्वरि !
ध्यानार्थं, ननु नास्ति काचिदपरा तातस्य गेहे पुनः ।
इत्थं पर्वतनन्दिनीकुतुककृद्वाणीः सुधाह्लादिनीः
शृण्वन् नष्टसमाधिधीः पशुपतिः पायादपायाज्जगत् ॥ १ ॥

कालिदासमपि भाषणेऽधमं या चकार सुकवित्वभाजनम् ।
गद्यपद्यमयशब्दरूपिणीं तां नमामि जगदिष्टसिद्धये ॥ २ ॥

इह खलु महाकविकुलशिरोमणिस्तत्रभवान् कालिदासः निर्मित्सिताभिनव-नाटकस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिमभिलषन् 'रक्षविघ्नोपशान्त्यर्थं नान्दीमादौ प्रयोजयेत्' इत्यालङ्कारिकवचनमनुसरन् परमेश्वरनामसङ्कीर्तनरूपां नान्दीमादौ निर्दिशति—या सृष्टिरिति । या तनुः—मूर्तिः स्रष्टुः-जगन्निर्माणकर्तुः परमेश्वरस्य, आद्या सृष्टिः-

---

जो जलमयी मूर्ति ब्रह्मा की सर्वप्रथम सृष्टि है, जो (अग्निमयी) मूर्ति वैदिक विधानसे हवन की हुई सामग्रियों को- जिन देवताओं के लिए हवन की जाती, उसे-उन देवताओं के पास पहुँचाती है, ईश्वर की जो मूर्ति स्वयं होत्री अर्थात् यजमानस्वरूपा है,

प्राथमिकनिर्माणं, जलरूपेत्यर्थः। तथा चोक्तं मनुना—

'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥' इति।

या मूर्तिः विधिना—होमीयशास्त्रानुसारेण, वैदिकेन विधानेन वेत्यर्थः, हुतं—देवतोद्देशेनाग्नौ प्रक्षिप्तं हवनीकृतमिति यावत्, हविः—आज्यं हवनीयद्रव्यम् वहति—यजमानस्य स्वर्गाद्युद्देश्येन देवान् प्रापयति, अग्निमयीति भावः। तथा च श्रुतिः—'इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्' इति।

या च तनुः, होत्री-हवनकर्त्री यजमानरूपेत्यर्थः। एतेन भगवतो विविधजीवात्मकत्वमपि संसूच्यते। किञ्चास्य होतृत्वे प्रमाणम् ? इति चेन्न, 'मुख्यालाभे प्रतिनिधिः शास्त्रार्थः' इति···उक्तिरेवात्र शरणम्।

ये द्वे मूर्त्ती, कालं—अहोरात्रस्य तिथेश्च प्रवर्त्तनात् सौरं चान्द्रञ्च मासर्त्तुवर्षादिरूपं समयं, विधत्तः—निष्पादयतः, सूर्यचन्द्ररूपे इत्यर्थः। तथा च सूर्यसिद्धान्तः—'उदयादुदयाद्भानोर्भौमसावनवासराः' इति।

श्रुतेः—श्रवणस्य विषयः-शब्दः स एव गुणो यस्याः सा तथोक्ता, आकाशमयीत्यर्थः, तथा चोक्तिः—'आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः' इति, 'शब्दोऽपि च श्रुतेः' इत्यपि; या मूर्त्तिः, विश्वं—सकलं जगत्, व्याप्य—सम्बध्य, स्थिता—विद्यमानाऽस्ति, नभोरूपेत्यर्थः।

यां मूर्तिम्, सर्वबीजानां—सर्वेषां धान्यादिशस्यानां प्रकृतिः-योनिः, अङ्कुराद्युत्पादने कारणम्, इति आहुः-ब्रुवन्ति, बुधा इति शेषः। पृथ्वीरूपेति भावः।

यया च मूर्त्या, प्राणिनः—शरीरिणः, प्राणवन्तः—जीवनवन्तः, प्राणादिवायुपञ्चकशोभिन इत्यर्थः, भवन्तीति शेषः। वायुरूपेत्याशयः। ताभिः—पूर्वोक्ताभिः, प्रत्यक्षाभिः—स्पष्टं लौकिकालौकिकप्रत्यक्षगोचरीभूताभिरत एव कथमप्यपलपितुमशक्याभिरिति भावः। तनुभिः—मूर्तिभिः [उपलक्षितः], प्रसन्नः—जगत्सु कृतप्रसादः, सर्वत्र प्रकाशितस्वसामर्थ्य इति भावः, ईशः—महेश्वरः, वः—युष्मान् विक्रमादित्यादिनृपतीन् सभ्यजनांश्च, अवतु—रक्षतु। ईशस्याष्टमूर्त्तित्वे प्रमाणं यथा—

जो चन्द्रसूर्यात्मक दो मूर्तियाँ दिन तथा रात करती रहती हैं, श्रवणेन्द्रिय का विषयीभूत शब्दों का आश्रय, जो आकाशमयी मूर्ति सारे विश्वमें व्याप्त होकर विद्यमान रहती है, जो क्षितिमयी मूर्ति सब प्रकारके अन्नों की बीजस्वरूपा है और जिससे संसार के सब प्राणी जीवित रहते हैं, वह वायुमयी मूर्ति, ये जो प्रत्यक्ष दृश्यमान भगवान् की आठ मूर्तियाँ हैं उन आठों से (उपलक्षित) प्रसन्न शिवजी आप लोगों की रक्षा करें ॥ १ ॥

[नान्द्यन्ते (१)]

'सूर्यो जलं मही वह्निर्वायुराकाशमेव च । दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः स्मृताः ॥' इति-विष्णुपुराणम् । स्रग्धरा नाम छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' इति लक्षणात् ।

अत्र—'प्राणिनः प्राणवन्तः' इति शब्दद्वयार्थैक्येन आपाततः पुनरुक्तेः प्रतीततया पुनरुक्तता प्रतिभाति, किन्तु 'प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिणः' इत्यमरवचनात् प्राणिपदेन शरीरिमात्राभिधानेन भेदात् भिन्नाकारशब्दगतत्वाच्चोद्देश्यविधेयभावेन भेदात् पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः । तथा चोक्तं दर्पणकारेण—

'आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यवभासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥' इति ।

तथा श्रुतिविषयगुणा इत्यनेन आकाशरूपार्थप्रतीतौ कालक्षेपात् क्लिष्टत्वदोषः । तथा चाह दर्पणे विश्वनाथः—

'अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारिता' इत्युद्दिश्य, क्लिष्टत्वं च—'अर्थप्रतीतौ व्यवहितत्व'मिति ।

तस्य निवारणन्तु—'वितथरवगुणा' इति पाठेन विधेयं कविभिः ।

(१) नान्द्यन्ते इति । विघ्नोपशान्तये प्रथमं विधीयमाना शुभाशीर्वचनसंयुक्ता देवविप्रनृपादीनां स्तुतिः 'नान्दी' । तथा च दर्पणे—

'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोकैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥' इति ।

इह च अष्टविधतनुवर्णनेन परमेश्वरस्य भगवतः सदाशिवस्य स्तुतिः रङ्गस्थसभ्यानामाशीश्चेत्युभयमपि सन्दर्शितम्, किञ्च-'ये द्वे कालं विधत्तः' इत्यंशेन चन्द्रशंसित्वमपि सूचितम् । श्लोकान्तर्वर्त्येकैकं वाक्यमेवात्रैकं पदं भवति । तथाहि—'या स्रष्टुराद्या सृष्टिः' इत्येकम्; 'या विधिहुतं हविर्वहति' इति द्वितीयम्; 'या च होत्री' इति तृतीयम्; 'ये द्वे कालं विधत्तः' इति चतुर्थम्; 'श्रुतिविषयगुणा या विश्वं व्याप्य स्थिता' इति पञ्चमम्; 'यां सर्वबीजप्रकृतिरित्याहुः' इति षष्ठम्; 'यया प्राणिनः प्राणवन्तः' इति सप्तमम्; 'प्रसन्नः ईशः ताभिः प्रत्यक्षाभिरष्टाभिस्त-

(१) विघ्नशान्तिके लिये सबसे पहिले जो ईशप्रार्थना की जाती है, उसे लोग 'नान्दी' कहते हैं, उस) नान्दीके हो जाने के बाद ।

तुभिः वः अवतु' इति स्वष्टमं वाक्यरूपं पदम्। इत्येवमष्टपदात्मिकेयं नान्दी। न च पूर्वोक्तैकैकवाक्यस्य त्वेकैकपदत्वे किं मानम्? इति वाच्यम्,—

'श्लोकपादः पदं केचित् सुप्तिङन्तमथापरे।
परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे॥'

इति नाट्यप्रदीपप्रतिपादितवाक्यस्य समुपस्थितत्वात्। ननु पुनः किन्नामिकेयं नान्दी? इत्युच्यते—'या स्रष्टुराद्या सृष्टिः' इत्यंशेन सर्वोपरिस्थितत्वादादिमतया 'कण्वरूपा' काचिद् व्यक्तिः सूच्यते। 'या विधिहुतं हविर्वहति' इति पदांशेन महाराजदुष्यन्तवितरितवीर्यप्रवणाद् 'शकुन्तला' इति। 'ये द्वे कालं विधत्तः' इत्यनेन राजवीर्यनिक्षेपसमयसम्पादनात् 'अनसूया—प्रियंवदे' इति व्यक्तिद्वयं निर्दिश्यते। 'या विश्वं व्याप्य स्थिता' इत्यनेन गगनसर्पकिणी मिश्रकेशी। 'यां सर्वबीजप्रकृतिरित्याहुः' इत्यनेन परब्रह्मरूपत्वात् 'अदितिकश्यपौ'। 'प्राणिनो यया प्राणवन्तः' इत्यंशेन च सर्वाण्येव पूर्वापरनिर्दिष्टानि सूतविदूषकादीनि पात्राणि निर्दिश्यन्ते; पवनेन प्राणिनां प्राणवत्त्वलाभ इव अस्यापि काव्यस्य तैस्तैः पात्रैरेव नाटकत्वलाभात्। अत एवेयं पत्रावली संज्ञिका नान्दीति। किमत्र प्रमाणम्? इति चेच्छृणु-

'यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः।
श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावलीति सा'॥ इति दर्पणोक्तम्।

नान्द्याः—उक्तलक्षणरूपाया अन्ते—पाठसमाप्तौ—

सूत्रधारः—(पृ० ५) सूत्रं नाटकीयकथासूचकवाक्यं धारयति समुपस्थापयति यः सः—प्रधाननट इत्यर्थः। तथाहि—

'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः॥' इति।

अपरञ्च—'नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते।
रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते॥' इति।

एवञ्च—'चतुरातोद्यनिष्णातोऽनेकभूषासमावृतः।
नानाभाषणतत्त्वज्ञो नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित्।
वेशोपचारचतुरः पौरुषणविचक्षणः।
नानागतिप्रचारज्ञो रसभावविशारदः॥
नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वितः।
छन्दोविधानतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः॥
तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारणः।
अवधाय प्रयोक्ता च योक्तॄणामुपदेशकः॥
एवंगुणगणोपेतः सूत्रधारोऽभिधीयते।' इति।

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण(१) । [नेपथ्याभि(२)मुखमवलोक्य] आर्ये ! यदि नेपथ्यविधानमवसितं तदिहागम्यताम् ।

नटी—[प्रविश्य] आर्य ! इयमहमस्मि । आज्ञापयतु आर्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति । (अज्ज ! इअह्मि । आणवेदु अज्जो को णिओओ अणुचिठ्ठिअदु (३) त्ति ।

---

(१) अलमिति । अतिविस्तरेण—नान्दीपाठस्य अत्यन्तप्राचुर्येण, अलम्—इतोऽधिकं नान्दीपाठो मा विधेय इत्यर्थः । यदीतोऽपि बहुतरं नान्दीपाठो भवेत्तदा कालक्षेपो भविष्यति, अतोऽधिकनान्दीपाठनिधानं व्यर्थमेवेति तात्पर्यम् । अत्र वारणार्थे तृतीया । विस्तर इत्यत्र—'प्रथने वावशब्दे' (पा० ३।३।३३) इति शब्दप्रथने घञ्प्रत्ययस्य निषेधादप्प्रत्ययः । अन्यत्र तु विस्तारः, वृक्षासनयोस्तु विष्टर इत्येव भवतीति बोध्यम् ।

(२) नेपथ्याभिमुखमिति । नेपथ्याभिमुखं-वेशरचनागृहाभिमुखमवलोक्य—अत्र नटी विद्यते न वा इति दृष्ट्वा । यदि अन्यत्र सभाभिमुखं दृष्टिं निक्षिप्य सम्बोधयेत्तदाऽवश्यं तस्य लोकानभिज्ञत्वं स्यात्, सम्बोध्यस्य वस्तुतः तदुपस्थितस्थानाभिमुखेनैव सम्बोधनं विधेयमिति लोकव्यवहारसिद्धत्वात् । अन्यथा विरक्ताः सभ्या भवेयुरित्यवधेयम् ।

आर्ये—श्रेष्ठे, साध्वि, प्रिये ! 'पत्नी चार्येति संभाष्या' इति भरतः । पत्न्याः सम्बोधनमिदम् । आर्यपदं तद्भार्यायाः सदाचारिणीत्वं सूचयति । न च नटोक्तौ 'आर्ये' इति सम्बोधनमनुचितमिति वाच्यम्, 'वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परम्' इति साहित्यदर्पणोक्तेर्विद्यमानत्वात् । नेपथ्यविधानम्—पात्रावबोधकवेशरचना, शृङ्गारविधानमिति वा । यदि अवसितं-परिसमाप्तम्, तत्—तदा, इह—अस्मिन् स्थाने, आगम्यताम्—त्वमागच्छेत्यर्थः ।

(३) नटीति । प्रविश्य—रङ्गशालायामिति शेषः, प्रवेशं विधाय । आर्य—प्रिय, सूत्रधारसंबोधनमिदम्, इयमहम्—[नटी स्वात्मानं निर्दिशति—इयमहमिति] अस्मि—उपस्थिता, आगतास्मीत्यर्थः । आर्यः—पूज्यः [भवान्], आज्ञा-

---

(१) सूत्रधार—बस, अब अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं । (नेपथ्य की ओर देखकर) ।

(२) आर्ये ! नेपथ्यविधान (खिलाड़ियों का वेश-भूषा से सुसज्जित होना आदि काम) समाप्त हो चुका हो तो यहाँ आओ ।

(३) नटी—(प्रवेश करके) आर्य ! मैं यह आई, आप आज्ञा दीजिये मेरे लिये क्या आदेश है ?

सूत्र—आर्ये! इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्यां च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः, तत्प्रतिपात्रमाधीयतां (१) यत्नः।

पयतु-निर्दिशतु, मामिति शेषः, आदेशमात्रेणैवाहं तदर्थं यतिष्ये इति हृदयम्। कः-कतमः, नियोगः-निदेशः, [मया] अनुष्ठीयताम्-क्रियताम्, इति। भवदाज्ञानन्तरमेव तत्कार्यसम्पादनतत्परा भवामीति भावः।

(१) सूत्रेति। आर्ये!-प्रिये, इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोः = रसाः-शृङ्गारादयो नव। तथा चाह दर्पणे—

'शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
'बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः॥' इति।

भावाः—प्रधानतः प्रतीयमाना रसाभिव्यञ्जकाः सञ्चारिभावा देवराजादिविषयका उद्बुद्धमात्रा रत्यादिस्थायिभावाश्च, तथा चोक्तं दर्पणकारैः—

'सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते'॥ इति।

तेषां विशेषः—प्रकृष्टो भेदः तस्य दीक्षागुरुः—प्रधानोपदेशकः, रसभावविषये विशेषेण दीक्षागुरुरिति वा, तस्य रसभावविशेषदीक्षागुरोः—रसभावविषयेषु प्रधानशिक्षकस्य, विक्रमे—पराक्रमे, आदित्यः—सूर्य इवेति तस्य विक्रमादित्यस्य 'विक्रमादित्य' इतिप्रसिद्धाभिधेयस्य नरपतेः, अभिरूपाः-पण्डिता विद्वांस एव भूयिष्ठाः—बहुतरा यस्यां सा विद्वद्बहुलेत्यर्थः, परिषत्—सभा [समुपस्थिताऽस्तीति शेषः]। अस्यां च-अत्र परिषदि, कालिदासेन-तन्नामकेन केनचिद्विख्यातमहाकविना ग्रथितं-निबद्धं यद्वस्तु—इतिवृत्तं सर्वविषय इति वा यत्र तथोक्तेन, नवेन—नूतनेन, अपूर्वेणेति यावत्, नेतः पूर्वं किमपि सकलरससञ्चारमिश्रितं तादृशं नाटकमासीदिति शकुन्तलामधिकृत्य कृतं पुस्तकं शाकुन्तलम्, अभिज्ञानं च तत् शाकुन्तलं च-अभिज्ञानशाकुन्तलम्। [अत्र अङ्गुरीयकदर्शनद्वारा नायककर्तृकशकुन्तलापरिणयविषयकावबोधस्य प्रधानवृत्तान्ततयाभिज्ञानशाकुन्तलमिति नाटकस्य नाम कृतं बोध्यम्]। नाटकेन—दृश्यकाव्यविशेषेण, तथा च दर्पणे—

(१) सूत्रधार—आर्ये! शृङ्गारादिक नव रसों तथा भावों के दीक्षागुरु महाराज विक्रमादित्य की विद्वानों से भरी हुई यह सभा है। अतः हमें कालिदास के बनाये हुए 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नवीन नाटकसे इस सभाकी सेवा करनी चाहिये। इसके लिए तुम प्रत्येक पात्रको आदरपूर्वक समझा दो।

नटी—सुविहितप्रयोगतया आर्यस्य न किमपि परिहास्यते । (सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्स ण किंपि (१)परिहाइस्सदि ।)

सूत्र—[सस्मितम्] आर्ये ! कथयामि ते (२) भूतार्थम् ।

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।

'नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम्' इति ।

तल्लक्षणमपि तत्रैव—

'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्' इत्यादि । उपस्थातव्यम्—आराधनीयम्, नाटकस्यास्याभिनयं विधाय रङ्गस्थान् सभ्यान् सन्तोषयाम इति निष्कृष्टम् ।

तत्—तस्मात्, प्रतिपात्रं—प्रतिकुशीलवम्, एतन्नाटकान्तर्गतप्रत्येकाभिनेतृविषये इत्यर्थः, यत्नः-अभिनयचारुतोत्पादाय विशेषतया आदरः आधीयताम्—क्रियताम् । [तेन च सर्वैरभिनेतृभिः स्वस्वकर्मणि सावधानैर्भवितव्यमिति भावः] अयमेव त्वां प्रति मे नियोग इति तात्पर्यम् ।

(१) नटीति । सुविहितः—सम्यक् सम्पादितः प्रयोगः—अभिनयव्यापारो येन तस्य भावस्तया, एतेनाभिनयप्रशंसाविधानेन रङ्गस्थानां सभ्यानां समुन्मुखीकरणात् प्ररोचना नाम भारतीवृत्तेरङ्गं संदर्शितम् । यथा दर्पणे—

'उन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना' इति ।

तथा व्याजेन नटस्य प्रशंसाऽपि सूचितेति बोध्यम् । आर्यस्य-भवतः, किमपि—अभिनये कश्चिदपि प्रयोगः, न परिहास्यते—न परिहीणं भविष्यति न स्खलितं भविष्यतीत्यर्थः । तथा च प्रतिपात्रयत्नाधाने न किञ्चित्प्रयोजनम्, यथा सर्वदा तथैवाद्यापीति भावः ।

(२)सूत्रेति । स्मितम्=ईषद् हास्यं तेन सहेति सस्मिम्—नटीकृतप्रशंसाया निर्मूलत्वद्योतनाय स्मितकरणमिति बोध्यम् । आर्ये=प्रिये, ते-तव समीपे, भूतार्थम्—सत्यविषयं, 'भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ न्याय्ये सत्योपमानयोः' इति विश्वः, कथयामि—निगदामि ।

उपर्युक्तं युक्त्या समर्थयति—आपरितोषेति । विदुषां—पण्डितानाम्, आपरितोषात्-सन्तोषप्राप्तिपर्यन्तम्, यावद्विज्ञाः सन्तोषं न प्राप्स्यन्ति तावत्कालमित्यर्थः ।

---

(१) नटी—हमारे साथ पात्र काम करने में बड़े निपुण हैं, इनके कारण आपका कुछ भी परिहास नहीं होगा ।

(२) सूत्रधार—(मुस्कुराता हुआ आर्ये ! मैं तुमसे सच कहता हूँ कि :—

जब तक विद्वान् लोग मेरे कौशलसे गद्गद न हो जायँ, तब तक मैं अपने नाट्य-कार्य को

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ २ ॥

प्रयोगविज्ञानम्, प्रयोगस्य आङ्गिक-वाचिक-आहार्यसात्त्विकरूपाभिनयचतुष्टय-क्रियाकलापस्य विज्ञानम्-विशेषशिक्षाम्, साधु—सम्यगुत्कृष्टमेव स्थितम्, इति तु न मन्ये—न स्वीकरोमीत्यर्थः। कुतः ? इति चेत् , तत्राह—बलवदपीति शिक्षितानां—विज्ञानाम्, मादृशानामशिक्षितानां कथा तु दूरे तिष्ठत्विति भावः, बलवदपि—सुदृढमपि, चेतः—मनः, आत्मनि-स्वस्मिन्, विषये, अप्रत्ययम्—अविश्वसनीयम्, भवतीति शेषः। लोकेऽस्मिन् वस्तुतः सुशिक्षिता अपि जना मदीयेयं शिक्षा समुत्कृष्टैवेति निश्चेतुं न शक्नुवन्ति, मादृशानां मन्दमतीनां जनानां कथा तु तत्र दूरतः परिहरणीया इति निष्कृष्टार्थः। अत एव सुविहितेत्यादिना त्वया प्रकटितोऽपि विश्वासो न मयि समुचित इति भावः।

काव्येऽत्र पूर्वार्द्धे—विद्वद्भिरेव निरीक्षणीयं मदीयाभिनयकौशलमिति अन्तर्हिताभिप्रायबलात्—पर्यायोक्तिरलङ्कारः। यथा चाह दर्पणकारः—

'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' इति। भामहोऽपि—

'पर्यायोक्तं प्रकारेण यदन्येनाभिधीयते।
वाच्यवाचकशक्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥' इति।

परार्द्धे तु—सामान्येन विशेषस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासः तल्लक्षणञ्च—

'सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा मतः।' इति।

अत्र द्वयोरप्यलङ्कारयोरङ्गाङ्गित्वरूपेण सांकर्यम्। केचित्तु-'अर्थान्तरन्यासोऽयम्-अर्थापत्त्या सङ्कीर्यते, इति वदन्ति। इयमार्या नाम गीतिः। तथा चोक्तम्—

'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥' इति।
'पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति त्रिधा।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत् ॥' इति च।

अत्र गणनियमो यथा—

'लक्ष्मैतत् सप्त गणा गोपेता भवति नेह विषमे जः।
षष्ठो जश्च न लघु वा प्रथमार्द्धे नियतमार्यायाः' ॥

अच्छा नहीं कह सकता। क्योंकि 'मैं इस कामको कर ही लूँगा' ऐसी बलवती धारणा रहने पर भी शिक्षितोंके सामने स्वयं अपने चित्तको विश्वास नहीं होता (अर्थात् यह सन्देह बना ही रहता है कि शिक्षित लोग इससे सन्तुष्ट होंगे या नहीं) ॥ २ ॥

नटी—[सविनयम्] एवमेतत् । अनन्तरकरणीयमिदानीमार्य आज्ञापयतु । (एवं णेदं । अणंतरकरणिज्जं दाणिं अज्जो (१) आणवेदु ।)

सूत्र—आर्ये ! किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रमोदहेतोर्गीतात्करणीयमस्ति (२) ।

षष्ठे द्वितीयलात् परके न्ले मुखलाच्च सयतिपदनियमः ।
चरमेऽर्द्धे पञ्चमके तस्मादिह भवति षष्ठो लः ॥

आर्यायाः पूर्वार्द्धे सप्त गुणाः स्युरन्ते तु गुरुवर्ण एकः । तत्र विषमे=प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमरूपे मध्यगुरुर्गणो न स्यात् । षष्ठो गणो लघुचतुष्टयात्मको मध्यगुरुको वा स्यात् । तत्र षष्ठे न्ले लघुचतुष्टयात्मके सति द्वितीयलघुवर्णादारभ्य सयतिपदं प्रवर्त्तते । परके सप्तमे लघुचतुष्टयात्मके सति प्रथमलघुवर्णादारभ्य पदप्रवृत्तिः स्यात् । तथा परार्द्धे तु पञ्चमगणे लघुचतुष्टयात्मके सति तत्रापि तस्मात् प्रथमाक्षरादारभ्य पदप्रवृत्तिर्भवति । तथा चान्तिमार्द्धे षष्ठो गण एकलघुवर्णात्मक एव भवति न तु पूर्वार्द्धवत् मध्यगुरुः सर्वलघुर्वा भवतीति तात्पर्यम् ।

गणस्तु चतुर्मात्रात्मकः पञ्चविध एव भवति । तथा चोक्तम्—

'ज्ञेयाः सर्वान्तमध्यादिगुरवोऽत्र चतुष्कलाः ।
गणाश्चतुर्लघूपेताः पञ्चार्यादिषु विश्रुताः ॥' इति ।

अस्यार्थः—सर्वगुरुः-गुरुवर्णद्वयम्, अन्तगुरुः-गुरुवर्णान्तं लघुवर्णद्वयम्, मध्यगुरुः—लघुवर्णद्वयसंकलितो गुरुवर्णः, आदिगुरुः—गुरुवर्णपूर्वकं लघुवर्णद्वयम्, तथा लघुवर्णचतुष्टयात्मको गणो भवतीत्यवधेयम् ॥ २ ॥

(१) नटीति । विनयेन सहेति सविनयं-विनयपूर्वकं, विनीतभावमवलम्ब्येति भावः । एतत् भवदुक्तम्, एवम्—इत्थं, समीचीनमेवेत्यर्थः । [अनेन नटकथनस्वीकारेण तत्प्रशंसापि सूच्यते] अनन्तरकरणीयम्-उत्तरकालकर्तव्यम्, परस्तात् यत् कर्त्तव्यं तत्सर्वमित्यर्थः, आर्यः—भवान्, आज्ञापयतु—कथनेनानुमोदयतु ।

(२) सूत्रेति । आर्ये-प्रिये, अस्याः—एतत्समुपस्थितायाः परिषदः-सभायाः, श्रुतिप्रमोदहेतोः—श्रुतेः—श्रवणस्य प्रमोदः—आमोदस्तस्य हेतुः—करणं तस्मात्, श्रवणसुखसम्पादकात्, गीतात्—गानात्, अन्यत् परम्, किं करणीयमस्ति ?—किं विधेयमस्ति ?, अतः गीतमेव आरभ्यतामित्याशयः

(१)नटी— (विनयपूर्वक) आपका कहना ठीक है । अब इसके आगे जो करना हो वह बताइए ।

(२) सूत्रधार—आर्ये ! गाने के अतिरिक्त इस सभा के श्रवण को आनन्द देनेवाला और कौन काम हो सकता है ?

नटी—अथ कतमं पुनः ऋतुमधिकृत्य गास्यामि ! (अध कदमं उण उदुं अधिकरिअ (१) गाइस्सं ।)

सूत्र—आर्ये ! नन्विममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमय-मधिकृत्य गीयताम् । सम्प्रति (२) हि—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥ ३ ॥

(१) नटीति । अथेति प्रश्नार्थे । कतमं-षण्णामृतूनां मध्ये कम्, [निर्धारणे डतमः] ऋतुमधिकृत्य-आश्रित्य, गास्यामि-गानं विधास्यामि ।

(२) सूत्रेति । आर्ये—प्रिये, नन्वित्यनुनये, अनुज्ञायां वा, अचिरप्रवृत्तम्—सम्प्रति समुपस्थितम्, [अचिरेति विशेषणेन कुसुमपल्लवादीनां नूतनतया सौरभ-सौन्दर्यातिशयो व्यञ्जितः] उपभोगक्षमं-सेवनार्हं, शीतलमन्दसुगन्धपवनादिसेव नयोग्यमित्यर्थः । [एतेन अभिनयजनितखेदापनोदः प्रकटितः] ग्रीष्मसमयमेव—ग्रीष्मर्तुमेव, तावदधिकृत्य-आश्रित्य, ग्रीष्मसमयवर्णनमुखेनेत्यर्थः, गीयतां—गानं क्रियताम् । ग्रीष्मप्रवृत्तिं समाश्रित्य गीयतामित्युक्तत्वात्तत्प्रवृत्तिं दर्शयति-सम्प्रति हीति । इदानीन्तु इत्यर्थः, अस्य श्लोकेनान्वयः ।

सुभगेति । स्वतिशयेन भगो बलो येष्वेतादृशाः सलिलावगाहा येषु ते तथोक्ताः, सुभगोऽतिमनोहरः सलिलेषु जलेष्ववगाहो मज्जनं येषु ते इति वा; पाटलानां—पाटलनामधेयकुसुमानां संसर्गेण-स्पर्शेन सुरभिः-सुगन्धिः वनवातः—काननपवनो येषु ते, तथोक्ताः; प्रकृष्टा छाया यत्र तादृशे स्थाने सुलभा—अनायासलभ्या निद्रा-सुप्तिर्येषु ते तथा; परिणामे—परिपाके सायंकाले इति यावत्, रमणीयाः—मनोहराः; सुखविहारायेति भावः, दिवसाः, यत्र वर्त्तन्ते इति शेषः । [एवं सर्वगुणसम्पन्नं ग्रीष्मकालमधिकृत्य गीयतामित्याशयः] अत्र सर्वविशेषणैः प्रकृते स्वीयश्रमापनोदो ध्वन्यते, अत एव परिकरालङ्कारः । तथा च—

'उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः ॥' इति ।

(१) नटी—तो फिर किस ऋतुका गाना गाया जाय ?

(२) सूत्रधार—आर्ये ! यह जो अभी शीतल, मन्द, सुगन्ध पवनादि सेवन करने योग्य ग्रीष्मऋतु विद्यमान हैं, उसीका गाना गाओ । क्योंकि इस समय :—

जल में स्नान करना अच्छा लगता है । पाटल (पुष्पविशेष) से टकरा-टकराकर वन-वायु सुगन्धित हो रही है, जहाँ कि अच्छी तरह छाया हो, ऐसे स्थानों में नींद मजे से आती है और सूर्यास्त के समय का दिन बड़ा सुन्दर मालूम होता है ॥ ३ ॥

नटी—तथा । (१) । (तह ।) (इति गायति)

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः पश्य सुकुमारकेसरशिखानि ।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥ ४ ॥
(ईषदीषच्चुम्बिआइं भमरेहिं उह सुउमारकेसरसिहाइं ।)
ओदंसअंति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥)

कर्णालङ्कारीकुर्वन्ति

ग्रीष्मसमयस्वभाववर्णनात् , स्वभावोक्तिश्च । तथा चाह दण्डी—

'नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्मता ॥' इति ।

केचित्तु—दिवसानां शीतेन वर्णनीयताप्रतिपादनं प्रति सुभगसलिलावगाहत्वादिकारणकलापानां सूपन्यासात् समुच्चयोऽलङ्कार इति वदन्ति ।

'समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके ।
खले कपोतिकान्यायात् तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥
गुणः क्रिया वा युगपत् स्यातां यद्वा गुणक्रिये ॥'

इति दर्पणोक्तलक्षणात् श्रुतिवृत्त्यनुप्रासौ शब्दालङ्कारौ । आर्या जातिः । तल्लक्षणं तु प्रागुक्तम् ॥ ३ ॥

(१) नटीति । तथेति स्वीकारोक्तिः तदेव करोमीत्यर्थः ।

ईषदीषदिति । प्रमदाः—प्रकृष्टो मदो रूपसौभाग्यजनितो विकारविशेषो यासां ताः, मदविह्वलास्तरुण्य इत्यर्थः । मदातिरेकाद्भूषणार्थं पुष्पावचयनमासां प्रसिद्धम् । तथाऽपि दयमानाः—सदयाः सत्यः, सुकुमारकेसरशिखानि—सुकुमाराः-कोमलाः केसराणां-किञ्जल्कानां शिखा येषां तानि, भ्रमरैः—मधुकरैः, ईषदीषत्-अनिर्भरं यथा स्यात्तथा चुम्बितानि-स्पृष्टानि, एवम्भूतानि शिरीषकुसुमानि=तदाख्यपुष्पाणि, अवतंसयन्ति-कर्णालङ्कारीकुर्वन्ति, इति पश्येत्यन्वयः । ग्रीष्मसमय एव शिरीषकुसुमानां विकसनादियं ग्रीष्मसमयमधिकृत्यैव गानप्रवृत्तिरिति बोध्यम् ।

अत्र सुकुमारकेसरशिखानि कुसुमानि सन्तीति हेतोर्दयमानाः सत्यः प्रमदा अवतंसयन्तीति हेतुहेतुमद्भावात् पदार्थलिङ्गकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।

तथा चोक्तम्—

'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ।' इति ।

इयमुद्गाथा नाम जातिः । तथा चोक्तं पिङ्गले—

'पुव्वद्धे उत्तद्धे मत्ता तीसत्तत्ति सुभअ संभणिआ ।
सो उग्गाहो वुत्तो पिङ्गलक इदिट्टसद्दिमत्तङ्गो ॥

(२) नटी—जो आज्ञा (गाती है) :—

यह देखो ! भ्रमरसमूह ने धीरे-धीरे चुम्बन करते हुए जिनके रसों को चूस लिया है,

सूत्र—आर्ये ! साधु गीतम्। अहो ! रागापहृतचित्तवृत्तिरालिखित इव विभाति सर्वतो रङ्गः। तदिदानीं कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः ?(१)।

नटी—ननु प्रथममेव आर्येण आज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम अपूर्वं नाटकमभिनीयतामिति। (णं पढमं ज्जेव अज्जेण आणत्तं अहिण्णाणसउंतलं णाम अउव्वं णाडअं अहिणीअदु(२)त्ति।)

अस्यानुवादस्तु—

पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्ध मात्रास्त्रिंशदिति सुभग संभणिताः।
वा उद्गाथा उक्ता पिङ्गलकविदृष्टषष्टिमात्राङ्गाः॥ इति॥ ४॥

(१) सूत्रेति। आर्ये-प्रिये, साधु गीतम्-अत्यन्तसमीचीनतया गानं कृतमित्यर्थः। साधुत्वं दर्शयति—अहो इति। अहो ! इत्याश्चर्यं, रङ्गः—रङ्गभूमिः, नाट्यशाला, तत्रस्थलोकगण इति वा, रागेण-गीतस्वरेण, अपहृता-बलादाकृष्य नीता चित्तवृत्तिर्यस्य स तथोक्तः सन् [बद्धः इति पाठे तु, रागे-गानस्वरे बद्धा-लीना, चित्तवृत्तिर्यस्य स इत्यर्थः] अत एव सर्वतः—समन्ततः, आलिखितः—चित्रित इव विभाति-प्रकाशते, अत्र इवशब्दस्योत्प्रेक्षाव्यञ्जकतयोत्प्रेक्षालङ्कारः। तत्-तावत्, कतमं-कम्, प्रयोगम्—अभिनयम्, आश्रित्य-अवलम्ब्य, एनं—रङ्गम्, आराधयामः—सन्तोषयामः, वयमिति शेषः।

(२) नटीति। नन्विति सम्बोधने। प्रथमं-पूर्वम्, आर्येण-भवता, आज्ञप्तम्-उपदिष्टम्, 'अभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभि'रित्यादिनेति शेषः। किमित्याज्ञप्तमित्याह—अभिज्ञानशाकुन्तलमिति। अपूर्वम्—अभिनवम्, चेतोहरमिति यावत्। अभिनीयताम्, अस्माभिरिति शेषः। पुनश्चात्र ते प्रश्ना न सङ्गच्छन्ते इत्यभिप्रायः।

ऐसे कोमल केसर युक्त गुच्छोंवाले शिरीषके फूलोंको, मदमाती युवतियाँ सदयभाव (आह्लाद) से अपने-अपने कर्णफूल बना रही हैं॥ ४॥

(१) सूत्रधार—आर्ये ! तुमने बहुत अच्छा गाना गाया। ओह ! तुम्हारे रागने सब का चित्त चुरा लिया है, देखो, इस समय यह नाट्यसभा किसी चित्रकारके लिखित चित्र की तरह शोभ रही है। अतः बताओ, इस समय हमलोग किस अभिनय से सभा को प्रसन्न करें ?

(२) नटी—आप तो पहले ही कह चुके हैं, कि आज अभिज्ञानशाकुन्तलनामक अपूर्व नाटकका अभिनय किया जायगा—आप उसे भूल तो नहीं गये हैं ?

सूत्र—आर्ये। सम्यगनुबोधितोऽस्मि। अस्मिन् क्षणे खलु विस्मृतं मयैतत्। (१)कुतः—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥ ५ ॥

इति निष्क्रान्तौ। (२)

इति प्रस्तावना। (३)

(१) सूत्रेति। सम्यगनुबोधितः—त्वया सम्यक् स्मारितः! अस्मिन् क्षणे खलु—तव गानक्षण एव। एतत्—'नवेनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः' इत्यादि वचनम्।

विस्मरणकारणं निर्वक्ति—तवेति। अतिरंहसा-वेगातिशयशालिना; अत एव हारिणा—हर्तुं शीलमस्येति तेन दूरमाकर्षतेत्यर्थः, सारङ्गेण-मृगेण, एषः-वनधावी राजा दुष्यन्त इव, हारिणा-मनोहारिणा, चित्ताकर्षकेणेति, यावत्, तव गीतरागेण-गानस्वरेण, प्रसभं-बलात्, हृतः-आसक्तचित्तः, अस्मि। राजपक्षे दूरं प्रच्यावितः। अत्र श्रौती उपमालंकारः। तदुक्तं दर्पणे—

'श्रौती यथेववाशब्दाविवार्थो वा वतिर्यदि' इति मेदिनी। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्। 'युजोजन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्त्तितम्' इति ॥ ५॥

(२) इतीति। निष्क्रान्तौ—रङ्गशालातो निर्गतौ नटनटाविति शेषः।

(३) प्रस्तावनेति। तल्लक्षणं यथाह दर्पणे—

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ॥ इति।

अत्र सादृश्याद् दुष्यन्तप्रवेशरूपकार्यान्तरप्रसाधनाद् अवलगिताख्यप्रस्तावना

'यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत् प्रसाध्यते।
प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः॥' इति दर्पणोक्तेः।

(१) सूत्रधार—आर्ये! तुमने अच्छी याद दिलायी। इस समय तो मैं उस बात को भूल ही गया था। क्योंकिः—

बड़े वेगसे भागते मृगद्वारा भगाकर दूर पहुँचाये हुए इन राजा दुष्यन्त के समान तुम्हारे मनोहर गानेने हठात् मेरा मन मोह लिया था ॥ ५ ॥

(२) (दोनों चले जाते हैं)।

(३) प्रस्तावना समाप्त।

[ततः प्रविशति रथारूढः सशरचापहस्तो मृगमनुसरन् राजा(१)सूतश्च]

(१) तत इति। शरेण सह वर्त्तत इति सशरं-बाणयुक्तं, चापं-धनुर्हस्ते यस्य स तथोक्तः—धृतधनुर्बाणः, राजा दुष्यन्तः सूतः-तत्सारथिश्च मृगं-कञ्चिद्धरिणम्, अनुसरन्-अनुधावन्, प्रविशति नाट्यशालायामिति भावः। 'सूतः क्षत्ता च सारथिः' इत्यमरः

अयं नायको धीरोदात्तः। धीरोदात्तस्य संस्कृतं पाठ्यं सूतस्यापि। तदुक्तञ्चादिभरते—

'धीरोद्धते धीरललिते धीरोदात्ते तथैव च।
धीरप्रशान्ते च तथा पाठ्यं योज्यं च संस्कृतम्' ॥ इति।

मातृगुप्ताचार्यैश्च—

'संमतानां देवतानां राजन्यामात्यसैनिके।
वणिङ्मागधसूतानां पाठ्यं योज्यं च संस्कृतम्' ॥ इति।

धीरोदात्तस्य लक्षणमुक्तं दर्पणे—

'अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः' ॥ इति।

तद्गुणास्तूक्ताः सुधाकरे—

'तद्गुणास्तु महाभाग्यमौदार्यं स्थैर्यदक्षते।
औज्ज्वल्यं धार्मिकत्वं च कुलीनत्वं च वाग्मिता ॥
कृतज्ञत्वं नयज्ञत्वं शुचिता मानशीलता।
तेजस्वित्वं कलावत्त्वं प्रजारञ्जकतादयः'। इति ॥

इत आरभ्य एतदङ्कसमाप्तिं यावन्मुखसन्धिः। तथा चात्र 'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर ! हतास्त्वं खलु कृती' इत्युक्तप्रकारेण राज्ञः शकुन्तलाप्राप्तावौत्सुक्याद् 'कधं इमं जणं पेक्खिअ-' इति वचनेन शकुन्तलायाश्च राजप्राप्तौ औत्सुक्यादारम्भोनामाद्या कार्यावस्थाऽभिहिता। यथोक्तं दर्पणे—

'भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये' इति ॥

तथैवानुसूयाप्रियंवदाभ्यां परिवर्द्धितं शकुन्तलादुष्यन्तयोरन्योन्यप्रेम्यप्रेमबीजं नामार्थप्रकृतिः। तथा चोक्तं साहित्यदर्पणे—

'अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते ॥'

(१) (इसके बाद रथ पर सवार हाथमें धनुष-बाण लिये राजा दुष्यन्त और सारथि मृग का पीछा करते हुए रङ्गमञ्च पर आते हैं)

सूतः—[राजानं मृगञ्चावलोक्य (१) आयुष्मन् !

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।
मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम् ॥ ६ ॥

तथा—

'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम्' ॥ इति ।

(१) सूत इति । आयुरस्यास्तीति आयुष्मान्, तत्सम्बोधने आयुष्मन्! प्रशस्तायुःशालिन्! । सूतस्य संस्कृतभाषणे प्राक् प्रमाणमुपदर्शितम् । 'आयुष्मन् रथिनं सूतः' इति दर्पणवचनात् सूतस्य राजानमुद्दिश्य 'आयुष्मन्' इति सम्बोधनं ज्ञेयम् । भरतोऽप्याह—'आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी सूतेन सर्वदा' इति । सूतलक्षणमुक्तं मात्स्ये—

'निमित्तशकुनज्ञानी हयशिक्षाविशारदः ।
स्वामिभक्तो महोत्साहः सर्वेषां च प्रियंवदः ॥
शूरश्च कृतविद्यश्च सारथिः परिकीर्तितः' । इति ।

कृष्णसार इति । कृष्णश्चासौ सारः—शबलश्च कृष्णसारः तस्मिन् कृष्णसारे—पलायमाने मृगविशेषे 'वर्णो वर्णेन' समासः । तथा ज्यां-गुणमधिकृत्य वर्तत इति अधिज्यं कार्मुकं धनुर्यस्य तस्मिन्, त्वयि दुष्यन्ते, चकारेण तुल्यकालता द्योत्यते । चक्षुर्ददत्—अर्पयन्, अहमिति योज्यम् । एकस्य चक्षुषो युगपदनेकत्र वर्तमानत्वाद्विशेषालंकारः । मृगमनुसरतीति तं मृगानुसारिणं—मृगरूपधारियज्ञानुसारिणमित्यर्थः, प्रकृते तदनुसारित्वं प्रकरणलभ्यम्, साक्षात्-प्रत्यक्षम्, पिनाकिनं—पिनाकधनुर्धारिणं शिवमिव पश्यामि—अवलोकयामि ।

अत्र प्रकृताप्रकृतयोः दुष्यन्तपिनाकिनोस्तादात्म्यसम्बन्धमात्रस्य सम्भाव्यमानत्वादुत्प्रेक्षालंकारः, नोपमा, साक्षाच्छब्दवैयर्थ्यात्क्रियानन्तरमिवशब्दसद्भावाच्च । तथा चोक्तं भामहेन—'नोपमानं तिङन्तेन' इति । उपमायां तु पिनाकिनमिव साक्षात्पश्यामीत्येव कथञ्चिद्योजने ददच्चक्षुरित्यनेन पौनरुक्तयं स्यात् ।

इदमत्र पुरावृत्तम्—दक्षयज्ञे पतिनिन्दामसहमानाया भवान्याः अग्नौ देहत्यागमाकर्ण्य हन्तुमागच्छन्तं कुपितं पिनाकिनं पश्यन् दक्षो यज्ञे गृहीतमृगस्वरूपः पलायामास । ततः पिनाकी तमनुसरन् शिरश्चिच्छेद ॥ ६ ॥

(१) सारथि—(राजा तथा मृग को देखकर) आयुष्मन् !

इस कृष्णसार (मृग) और धनुष चढ़ाये हुए आपको देखने से ऐसा मालूम होता है, मानो साक्षात् शिवजी मृग का पीछा करते हुए भागे जा रहे हैं ॥ ६ ॥

राजा—सूत ! दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः(१) सोऽयमिदानीमपि-

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
शष्पैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ ७ ॥

(१) राजेति । सारङ्गमाहन्तुं दूरं तमनुसरन् राजा सूताय तमर्थं वदति—सूतेति । अमुना सारङ्गेण—मृगेण, वयं दूरमाकृष्टाः—आकृष्यानीताः । सोऽयं सारङ्गः, इदानीमपि, दूरमाकृष्यापि, अस्माभिस्तदनुधावनेऽपि वा, प्रयातीति श्लोकस्थक्रियया सहान्वयः ।

ग्रीवेति । अनु—पश्चात् पतति, धावति स्यन्दने रथे 'शताङ्गः स्यन्दनो रथः, इत्यमरः । अस्मत्स्यन्दनमुद्दिश्येत्यर्थः । ग्रीवायाः कन्धरायाः भङ्गेन परावृत्त्या' अभिरामं मनोहरं यथा स्यात्तथा, मुहुः पुनः पुनः, बद्धा दृष्टिर्येन स बद्धदृष्टिः दत्त-चक्षुः, 'दृष्टिर्ज्ञानेऽपि दर्शने' इत्यमरः । शरस्य बाणस्य, पतनभयात् स्वगात्रे संपातत्रासेन हेतुना, भूयसा बहुलेन, पश्चार्द्धेन-कायस्य पश्चाद्भागेन, पूर्वकायं कायस्य पूर्वार्द्धम्, प्रविष्ट इवेति गूढोत्प्रेक्षा, मण्डलीभूत इवेत्यर्थः । तदुक्तं–'इवादिकपदाभावे गूढोत्प्रेक्षां प्रचक्षते' इति । अग्रचरणद्वयाभ्यन्तरे निवेशितकायपश्चादवयव इवेति भावः । अर्द्धावलीढैः—अर्द्धजग्धैः, श्रमेण-भयाद् द्रुततरगमनायासेन विवृतं-व्यात्तं यन्मुखं तस्मात् भ्रंशिभिः—अधःपतद्भिः, शष्पैः—बालतृणैः, कीर्णं—व्याप्तं वर्त्म—गमनमार्गो यस्य सः । उदग्रम्—उच्चम् प्लुतं—प्लवनं यस्य स तस्य भावस्तस्मात् उत्कटोत्प्लवनादिति भावः । वियति—आकाशे; बहुतरम्—अधिकम्, उर्व्यां-भूमौ, स्तोकम्—अल्पम्, प्रयाति—गच्छति इति पश्येति वाक्यस्य कर्मत्वम् ।

अत्र मृगस्य स्वभाववर्णनात् प्रधानः स्वभावोक्तिरलङ्कार उक्तं हि दर्पणे—'स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियावस्तुवर्णनम्' इति । पश्चादर्द्धमिति पश्चार्द्धम्, पृषोदरादित्वात् साध्यम् । अत्र च वीरो रसः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ७ ॥

(२) राजा—सारथि ! यह मृग हम लोगोंको बहुत दूर तक दौड़ा लाया । यह अब भी पीछे दौड़ते हुये रथ को बारबार गर्दन मोड़कर देखता है, बाण लगने के भय से अपने शरीर का पिछला भाग अगले भाग में समेट लेता है, थकावट से मुँह खुल जाने के कारण आधी-आधी चबाई हुई घासोंके गिरते रहने से रास्ता भर गया है, देखो न, ऊँची ऊँची चौकड़ी मारता हुआ यह अधिकतर आकाश में ही उड़ता है, पृथ्वी पर तो बहुत ही कम चलता है ॥ ७ ॥

[सविस्मयम्] कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तोऽयं( )मृगः।

सूतः—उद्घातिनी भूमिरिति रश्मिसंयमनात् रथस्य मन्दीभूतो वेगः; तेनैष मृगो विप्रकृष्टः संवृत्तः। सम्प्रति समदेशवर्त्ती न ते दुरासदो (२) भविष्यति।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः (३)।

सूतः—यथाज्ञापयत्यायुष्मान्। [इति भूयो रथवेगं सूचयित्वा] आयुष्मन्! पश्य पश्य। एते (४) हि—

(१) सविस्मयमिति। विस्मयाविष्टसाहेत्यर्थः। अयं मृगः, अनुपततः—पश्चाद्धावत एव, मे—मम, कथं प्रयत्नेन—दूरगततया कृच्छ्रेण प्रेक्षणीयः—निरीक्षणीयः, संवृत्तः—संजातः। मृगस्य दृष्टेरतिक्रमणं स्यन्दनस्य च हीनवेगत्वं विस्मयकारणम्। एतेन सूतस्य तिरस्कारोऽप्याक्षिप्यते।

(२) सूत इति। सूतः स्वदोषस्य परिजिहीर्षया रथस्य मन्दगमननिदानमाह–उद्घातिनीति। उद्घातयति—पादस्खलनं जनयतीति उद्घातिनी—स्खलनयोग्या, 'उद्घातः कथ्यते पादस्खलने समुपक्रमे' इति विश्वः। निम्नोन्नतेति यावत्। भूमिः—रथगमनपथः इति हेतोः, रश्मीनां—प्रग्रहाणां संयमनात्—आकर्षणात् 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः, मन्दीभूतः—अल्पीभूतः वेगः। तेन—हेतुना, एष मृगः—अयं सारङ्गः, विप्रकृष्टः—दूरवर्त्ती, संवृत्तः—संजातः। सम्प्रति—इदानीं, समदेशवर्त्ती—समतलभूमिवर्त्ती, रथ इति शेषः। दुरासदः—दुर्लभः, न भविष्यति—शीघ्रं लभ्यार्हो भविष्यतीति भावः।

(३) राजेति। तेन हि समतलभूमिवर्त्तित्वेनैव हेतुना, अभीषवः–प्रग्रहाः, 'अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इत्यमरः। मुच्यन्तां–रथस्य वेगसम्पादनार्थं हस्ताच्छिथिलीक्रियन्ताम्।

(४) सूत इति। यथा आज्ञापयति—यथोपदिशति, तथा क्रियते इति शेषः। एत इति श्लोकघटकवाजिन इति कर्तृपदस्य विशेषणम्।

(१) (आश्चर्य के साथ) मैं इसके पीछे दौड़ ही रहा हूँ, इतनेमें यह इतनी दूर हो गया कि कठिनता से दिखाई पड़ता है !

(२) सारथि—यह जमीन ऊँची नीची है, इसलिये मैंने बागडोर खींच रखी थी अत एव रथ का वेग कम हो गया था। इसी कारण वह दूर निकल गया। अब रथ के समतल भूमि में पहुँचने पर उसका मिल जाना कठिन नहीं होगा।

(३) राजा—तो तुम रास ढीली कर दो।

(४) सारथि—आयुष्मान् की जैसी आज्ञा। (ऐसा करके और रथ का वेग दिखाता हुआ) आयुष्मान्! देखिये, देखिये :—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकायाः
स्वेषामपि प्रसरतां रजसामलङ्घ्याः ।
निष्कम्पचामरशिखाश्च्युतकर्णभङ्गा
धावन्ति वर्त्मनि तरन्ति नु वाजिनस्ते ॥ ८ ॥

राजा—[सहर्षम्] नूनमतीत्य हरिणं हरयो वर्तन्ते । यतः (१)—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्द्धा विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत् ।

मुक्तेष्विति । रश्मिषु–प्रग्रहेषु, मुक्तेषु—संयमनाच्छिथिलीकृतेषु, सत्सु, निरायतः—नितरां दीर्घः पूर्वकायः—देहपूर्वभागो येषां ते तथोक्ताः । तथा प्रसरतां—वाताहत्या पृष्ठतः सम्मुखे प्रचलताम्, स्वेषां–स्वखुरोत्थानाम्, रजसामपि—धूलीनामपि, अलङ्घ्याः—अनतिक्रमणीयाः। एतेनाश्वानां–वातातिशायिवेगगामित्वं सूच्यते । तथा निष्कम्पाः—द्रुतगमनान्निश्चलाश्चामराणाम्—आगलशिरोलोम्नां भूषार्थं बद्धानां वा शिखाः—अग्रभागाः येषां ते । तथा च्युताः—अपगताः कर्णयोर्भङ्गाः—अवनतयो येषां ते, निष्कम्पोर्ध्वीकृतकर्णा इति भावः । ते–तव, वाजिनः—अश्वाः, वर्त्मनि—गन्तव्यमार्गे, धावन्ति—द्रुततरं गच्छन्ति, नु–किम्, तरन्ति—प्लवन्ते, आकाशे इति शेषः, इति पश्य । पश्येति गद्येन साकमन्वयः । अत्र स्वभावोक्तिरलंकारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८ ॥

(१) राजेति । वाजिनामतिवेगगमनं दृष्ट्वा हरिणसम्प्राप्तिकामनया सहर्षं—सानन्दमाहेति शेषः । नूनम्—अवश्यम्, अथवा नूनमिति—तर्कयामीत्यर्थः, 'नूनं तर्केऽर्थनिश्चये' इत्यमरः । हरयः—अश्वा मदीया इत्यर्थः, 'हरिरिन्द्रे हरिर्विष्णौ हरिरश्वे हरी रवौ' इत्यनेकार्थध्वनिमञ्जरी । हरिणं—लक्ष्यभूतमृगम्, अतीत्य—अतिक्रम्य, वर्तन्ते–वर्तिष्यन्ते वेगेनेति भावः । अत्र भविष्यत्सामीप्ये लट् ।

यदालोक इति । रथस्य जवो–वेगस्तस्मात्, यद्वस्तु, आलोके—दूराद्दर्शनेन,

---

रस्सी छोड़ देने पर ये लम्बे-चौड़े शरीर के पूर्व भाग वाले घोड़े अपने ही पैरों से उड़ती हुई धूल से भी आगे रहते हैं (अर्थात् इन पर धूल नहीं लगने पाती)। देखिये न, चमर के समान लगी हुई इनके मस्तक की कलँगी तनिक भी नहीं हिलती-डुलती और इन्होंने अपने कानों को भी खड़े कर लिये हैं । (अभी यह नहीं निश्चय किया जा सकता कि) आप के घोड़े जमीन पर दौड़ते हैं या (अकाश में) उड़ रहे हैं ॥ ८ ॥

(१) राजा—(प्रसन्नता के साथ) निःसन्देह, इन हमारे घोड़ों ने हिरन को पछाड़ दिया क्योंकि—

जो पहले देखने में सूक्ष्म दीखता है, वही रथ के वेग से एकाएक बड़ा भारी हो जाता है,

प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किञ्चित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥ ९ ॥

सूतः—पश्यैनं (१)व्यापाद्यमानम् ।

[राजा—शरसन्धानं (२)नाटयति] ।

[नेपथ्ये] भो भो राजन् ! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न (३) हन्तव्यः ।

सूतः—[आकर्ण्य अवलोक्य च] आयुष्मन् ! (४) अस्य खलु ते

'आलोकौ दर्शनद्योतौ' इत्यमरः, सूक्ष्मम्—अतिदूरतया क्षुद्रम्, आसीत्—यद् दूरे सूक्ष्मं दृश्यत इत्यर्थः; तद्वस्तु, सहसा—हठादेव, विपुलतां—विशालताम्, व्रजति—प्राप्नोति सामीप्यादिति भाव; स्थूलं दृश्यत इत्यर्थः । तथा यद्वस्तु, अद्धा—तत्त्वत एव, विच्छिन्नं—पृथक्-पृथक् विभक्तम्, आसीत्, 'तत्त्वे त्वद्धाञ्जसा द्वयम्' इत्यमरः; तद् वस्तु, कृतसन्धानमिव-कृतसन्धिवद् भवति, अपृथग्भूतमिव दृश्यत इत्यर्थः । तथा यद् वस्तु, प्रकृत्या-स्वभावत एव, वक्रं—विषमरेखं कुटिलमिति यावत्, आसीत् तदपि वस्तु, समा रेखा आभोगो यस्य तत् तादृशं भवति, ऋज्वित्यर्थः । 'रेखा स्यादल्पके छद्मन्याभोगोल्लेखयोरपि' इति हैमः । तथा किञ्चिद् वस्तु, मे-मम, नयनयोः—नेत्रयोः, क्षणमपि—स्वल्पकालमपि, न दूरे—असन्निधाने, न वा पार्श्वे—सन्निधाने विद्यते इति शेषः । अतिशीघ्रगमनाद्धेतोर्वस्तूनां सन्निहितासन्निहितत्वव्यवस्था न वर्त्तत इति भावः ।

श्लोकेऽस्मिन् कृतसन्धानमिवेत्यत्रोत्प्रेक्षालंकारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ९ ॥

(१) सूत इति । व्यापाद्य—वध्यमेनं हरिणमिति यावत् ।

(२) शरसन्धानं—चापे शरारोपम् । हरिणवधायेति भावः ।

(३) नेपथ्य इति । यवनिकामध्ये इत्यर्थः । भो भो इति न हन्तव्यो न हन्तव्य इति च सम्भ्रमे द्विर्वचनम् । आश्रममृग इत्यनेनात्र हिंसा अतीवानुचितेति सूच्यते ।

(४) सूत इति । आकर्ण्य—नेपथ्योत्थवाक्यमिति शेषः । अवलोक्य—पश्चा-

---

जो बीच से अलग है, वह जुड़ा हुआ मालूम पड़ता है । जो वस्तु स्वभावतः टेढ़ी है, वह भी नेत्रों को सीधी मालूम पड़ती है । (मतलब यह है कि) कोई वस्तु इस समय रथ के वेग से क्षण भर भी मेरे पास दूर नहीं रह जाती ॥ ९ ॥

(१) सूत—देखो, अब इसका शिकार करो (शिकार करने योग्य नजदीक है) ।

(२) (राजा—बाण चढ़ाता है) ।

(३) (नेपथ्य से) हे राजन् ! यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारो, मत मारो ।

(४ (सूत—(सुन और देखकर) आयुष्मन् ! आपके बाणके के सम्मुख इस मृग—

बाणपातपथवर्त्तिनः कृष्णसारस्यान्तरायौ तपस्विनौ संवृत्तौ ।

राजा—[ससम्भ्रमम्] प्रगृह्यन्तामभीषवः(१) ।

सूतः—यथाज्ञापयत्यायुष्मान् [इति तथा करोति (२)] ।

[ततः प्रविशति सशिष्यो वैखानसः (३)]

वैखानसः—[हस्तमुद्यम्य] राजन् ! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः(४) ।

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः ।

भिमुखमिति भावः। आयुष्मन्निति। ते—तव, वाणपातस्य पन्था वाणपातपथः, तत्र वर्त्तत इति वाणपातपथवर्त्ती तस्य, अनेन नैकट्यं सूच्यते, कृष्णसारस्य-मृगस्य, हत्यासंबन्धे, अन्तरायौ—मृगरक्षणाय बाणपातनिवारकत्वेन विघ्नभूतौ, 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूह' इत्यमरः। संवृत्तौ—उपस्थितौ ।

(१) राजेति । ससम्भ्रमं—सत्वरम्, 'सम्भ्रमस्त्वरे'त्यमरः । प्रगृह्यन्तां—समाकृष्यन्ताम्, अभीषवः—वाजिरज्जवः । रथः स्थाप्यतामिति भावः ।

(२) सूत इति । यथाऽऽज्ञापयति—उपदिशति तथा करोमीति शेषः । तथा करोति—अभीषुं प्रगृह्य रथं स्थापयतीत्यर्थः ।

(३) वैखानस इति । कश्चित्तापसः 'वैखानसो वनेवासी वानप्रस्थश्च तापसः' इति वैजयन्ती ।

(४) वैखानस इति । हस्तमुद्यम्य—मृगमारणवारणाय करमुन्नमय्येत्यर्थः । राजानं मृगमारणात्प्रतिषेधति—भो भो इति । वैखानसानामपि संस्कृतं भाष्यम् । तदुक्तम्—'परिव्राण्मुनिशाक्येषु तापसश्रोत्रियेषु च । द्विजा ये चैव लिङ्गस्थाः संस्कृतं तेषु योजयेत् ॥' इति । राजन् इति नृपाय संबोधनम् 'राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यः' इति भरतवचनात् । न हन्तव्यो न हन्तव्य इति पूर्ववत्संभ्रमे द्विर्वचनम् ।

न खल्विति । तूलराशौ कार्पासव्यूहे, अग्निरिव; मृदुनि—सुकुमारे, अस्मिन् मृगशरीरे, अयं बाणः-तव करस्थित इति भावः, न खलु न खलु सन्निपात्यः-नैव

बीच में दो तपस्वी आश्रम के हैं ।

(१) राजा—(विस्मय के साथ) रास कड़ी करो ।

(२) सूत—आयुष्मान् की जैसी आज्ञा । (रथ रोक लेता है ।)

(३) (इसके बाद अपने शिष्य के साथ एक तपस्वी का प्रवेश) ।

(४) तपस्वी—(हाथ उठाकर) हे राजन् ! यह आश्रम का मृग है । इसे मत मारो, मत मारो ।

रुई के गोदाम में अग्नि फेंकनेके समान (करते हुये) इस मृग के कोमल शरीर पर

क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥ १० ॥
तदाशु कृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम् ।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥ ११ ॥

निक्षेप्यः, वत्सलत्वात्सम्भ्रमेणात्र द्विर्वचनम्, खल्वत्र चानुनये । बाणस्यानिक्षेपणे कारणं निर्वक्ति—क्वेति । बतेति खेदप्रकाशः । अल्पा हरिणा हरिणकास्तेषां—क्षुद्रमृगाणाम्, अल्पार्थे कन्, अतिलोलम्—अत्यन्तचञ्चलम्, स्वल्पबाधया विनाशित्वादिति भावः, जीवितं—जीवनम्, क्व च—कुत्र च वर्तत इति शेषः । निशिताः—तीक्ष्णाः, निपाताः—अग्रभागा येषां ते तथा सूचीधारवद्येषां दुःसहत्वमभिव्यज्यते, वज्रस्येव—कुलिशवत् सारः—बलं येषां ते, अतिकठिना इत्यर्थः, ते—तव, शराः—बाणाश्च ? वर्तन्ते, द्वौ क्वशब्दौ स्वर्गपातालवन्महदन्तरं सूचयतः । नखच्छेद्ये कुठाराघातवत्तस्मिन्हते प्रहरणमयुक्तमित्यभिप्रायः ।

अत्रान्तिमचरणद्वयवाक्यार्थरूपसामान्येनादिमचरणद्वयवाक्यार्थरूपविशेषस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासो नामालंकारः, स च तूलराशाविवाग्निः इत्युत्थितोपमालङ्कारेण लोलजीवितवज्रसारशरयोरतिविरुद्धयोरघटितघटनाद्विषमालङ्कारेण च सार्द्धमङ्गाङ्गिभावरूपः । वज्रसारा इत्यत्र च लुप्तोपमा ज्ञेया । मालिनी नाम वृत्तम् । तल्लक्षणन्तु—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ॥ १० ॥

अथ राजानं मृगवधाय समूलं सोपपत्तिकं च प्रतिषेधति— तदिति । तत्—तस्मात्कारणात्, आश्रममृगत्वाच्छरस्य वज्रकठोरत्वाद्वा वध्यमानत्वाभावादित्यर्थः । कृतं सन्धानं यस्य तम्, मृगोपरि निक्षेपणायेति शेषः, सायकं—बाणं, 'शरे खड्गे च सायकः' इत्यमरः । आशु—शीघ्रम्, संहर—प्रत्यावर्त्य स्वं स्थानं प्रापय, विधौ प्रार्थनायां वा लोट् । तत्रान्वयव्यतिरेकिहेतुमुपदिशति—आर्तेति । वो—युष्माकं क्षत्रियाणाम्, शस्त्रं—बाणादि, आर्तानां—पीडितानां त्राणाय—रक्षणाय, विपन्नांस्त्रातुमित्यर्थः, अत्र कामन्दकः—'पीडितानामनाथानां कुर्यादश्रुप्रमार्जनमि'ति । तुमर्थे चतुर्थी । अनागसि—निरपराधे प्राणिनि, 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । प्रहर्तुं—प्रक्षेप्तुं न औचित्यमिति शेषः ।

अत्र पूर्वार्द्धं प्रति परभागस्थवाक्ययुग्मस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमिति केचित् । पूर्ववदर्थान्तरन्यास इत्यन्ये ॥ ११ ॥

यह बाण मत मारो । कहाँ मृगों का अतिशय चञ्चल जीवन और कहाँ तीखे वज्र के समान कठोर आप के बाण ! ॥ १० ॥

इस प्रकार धनुष पर चढ़ाये हुए अपने बाण को तुरन्त उतार लो ! तुम लोगों का अस्त्र दुखियों का दुःख दूर करने के लिये है, निरपराधों को मारने के लिए नहीं है ॥ ११ ॥

राजा—[सप्रणामम्] एष प्रतिसंहृत एव [इति यथोक्तं करोति (१) ।

वैखानसः—[सहर्षम्] सदृशमेवैतत् पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः (२) ।

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव ।
पुत्रमेवङ्गुणोपेतं चक्रवर्त्तिनमाप्नुहि ॥ १२ ॥

[इतरोऽपि—हस्तमुद्यस्य] सर्वथा चक्रवर्त्तिनं पुत्रमाप्नुहि (३) ।

राजा—[सप्रणामम्] प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचः (४) ।

वैखानसः-राजन्! समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्(५)एष चास्मद्गुरोः

(१) राजेति । एष–बाणः, प्रतिसंहृतः—निवर्त्तितः । इति–एवमुक्त्वा, यथोक्तं करोति–बाणं तूणीरे प्रतिसंहरति ।

(२) वैखेति । एतत्--अस्मत्कथनमात्रेण बाणप्रतिसंहरणम् , पुरुवंशप्रदीपस्य–ययातिकनीयःपुत्रकुलप्रकाशकस्य, भवतः–दुष्यन्तस्य, सदृशमेव–सङ्गतं खलु ।

अथ राज्ञो बाणप्रतिसंहरणकार्येण तुष्टो वैखानसः सप्रशंसमाशिषमर्पयति जन्मेति । पुरोः–तदाख्यययातिनन्दनस्य राज्ञः वंशे, यस्य–ते जन्म, तस्य तव–ते, इदम्–अस्मदुक्तकरणं बाणप्रतिसंहरणरूपमित्यर्थः, युक्तरूपम्—अतिशयेन युक्तम्, 'प्रशंसायां रूपप्' पुरुवंशजस्य पूर्वानुवर्तनाद्युक्ततरमित्यर्थः । अत्र वैखानसस्य हर्षोऽभिव्यज्यते । इयं राज्ञः प्रशंसा । आशिषं प्रयच्छति—पुत्रमिति । एवं गुणैः त्वद्गुणसामान्यैर्दयादाक्षिण्यादिभिरित्यर्थः, उपेतं–युक्तम्, चक्रवर्त्तिनं–सार्वभौमम्, 'चक्रवर्त्ती सार्वभौमः' इत्यमरः । पुत्रमाप्नुहि–लभस्व । अत्र युक्तरूपत्वे पुरुवंशजननस्य कारणत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १२ ॥

(३) इतर इति । इतरः सहागतः शिष्यः । उद्यम्य—उत्थाप्य, आशिषं प्रयच्छतीति शेषः । सर्वथा-बाढम्, 'सर्वथा हेतुबाढयोः' इति मेदिनी ।

(४) राजेति । सप्रणाममित्यनेन राज्ञो भक्त्यतिशयः कृतार्थता च द्योत्यते । ब्राह्मणवचः-आशीर्वचनमित्यर्थः । प्रतिगृहीतम्--अङ्गीकृतम्, ऋतत्वादिति भावः ।

(५) वैखेति । यस्य कस्यचिदप्यतिथेरातिथ्यं कार्यमिति राज्ञां तदकरणे

(१) राजा—(प्रणाम करके) लीजिये, मैंने उतार लिया (धनुष से बाण उतारता है)

(२) तपस्वी—पुरुवंश में उत्पन्न तुम जैसे श्रेष्ठ राजा के लिये यही उचित है । जिसका जन्म महाराज पुरु के वंश में हुआ है, उसको ऐसा ही करना चाहिये । जाओ, तुम अपने ही गुणों से युक्त एक चक्रवर्ती बेटा पाओ ॥ १२ ॥

(३) (दूसरा भी हाथ उठाकर) हाँ, चक्रवर्ती ही पुत्र पाओ ।

(४) राजा—(प्रणाम करके) मैंने (आप) ब्राह्मणों का वाक्य स्वीकार कर लिया ।

(५) तपस्वी—राजन् ! हम लोग समिधा लेने जा रहे हैं । यह हमारे गुरु कुलपति

कण्वस्य कुलपतेः साधिदैवत एव शकुन्तलया अनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते । न चेदन्यकार्यातिपातस्तदत्र प्रविश्य प्रतिगृह्यतामतिथिसत्कारः । अपि च—

धर्म्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य ।

नियमभङ्गः स्यादित्याह—राजन्निति । समिधां–होमीयकाष्ठानाम्, आहरणाय आनयनाय । तुमर्थे चतुर्थी । प्रस्थिताः–वर्त्तमाने क्तप्रत्यय इति केचित् । गुरोः कार्यत्वात्संप्रति भवता सार्द्धमाश्रमपदं गन्तुं न शक्नुम इति वैखानसाभिप्रायः, तेन च तेषां विषादोऽपि सूच्यते । अनुमालिनीतीरं—मालिनीति नाम काचिन्नदी तस्याः तीरे इत्यर्थः, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । एतेनाश्रमपदस्य निवासार्हत्वमतोऽवश्यं भवता तद् द्रष्टव्यमिति च सूच्यते । शकुन्तलयैव -कण्वदुहित्रैव, साधिदैवतः–साधिष्ठातृजनः, शकुन्तलाधिष्ठित इत्यर्थः । अभेदे तृतीया । एषः–पुरो दृश्यमानः, अस्मद्गुरोः–अस्माकमुपाध्यायस्य, कुलपतेः–अयुतशिष्यपोषकस्य, कण्वस्य, तदाख्यमुनेः, तदुक्तम्—'मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नपानादिपोषणात् । अध्यापयति विप्रर्षिः स वै कुलपतिः स्मृतः ॥' इति । आश्रमः–मठो दृश्यते, 'ब्रह्मचर्यादिचतुष्के मठादौ चाश्रमोऽस्त्रियाम्' इति रुद्रः । चेद् यदि अन्यस्य कार्यस्य अतिपातः–अत्ययः, न स्यात्, एतेन राज्ञो नानाकार्याकुलत्वं सूच्यते । राजबहुमानद्योतकोपचारोक्तिरियम् । तत्–तदा, अत्र–आश्रमे, प्रविश्य, अतिथिसत्कारः—आतिथ्यम्, प्रतिगृह्यतां–स्वीक्रियताम्, प्रार्थनायां लोट् । अत्रोल्लेखो नाम नाट्यालङ्कारः । तल्लक्षणम्—'कार्यग्रहणमुल्लेख' इति ।

आश्रमगमने आतिथ्यं परिगृह्णताऽन्यदपि द्रष्टव्यमस्ति, तदाह—धर्म्या इति । धर्मादनपेता धर्म्याः—धर्मयुक्ताः, प्रतिहताः—भवद्बाहुबलेनापसारिताः विघ्ना यासां तास्तथोक्ताः, एतेन राज्ञः प्रतापातिशयः सूच्यते । तपो धनं येषां तेषां -तपस्विनाम्, क्रियाः यज्ञकर्माणि, समवलोक्य–सम्यग् अवेक्ष्य, मौर्व्याः—धनुर्गुणस्य यः किणः–तच्चालनजनितः शुष्कव्रणः स एव अङ्कः—चिह्नं भूषणं वा यत्र तादृशः 'अङ्को भूषणलक्ष्मसु' इति हैमः । अनेन राज्ञः सदैव लोकभयापसारणोद्योगः सूच्यते, मे–मम दुष्यन्तस्य, भुजः–बाहुः, कियदिति–किंपरिमाणकं पालयति, इति त्वं ज्ञास्यसीति सम्बन्धः । भुज इति एकवचनेन परापेक्षत्वं ध्वन्यते ।

कण्व का आश्रम मालिनी नदी के तट के समीप दिखाई पड़ रहा है । वहां इस समय (हमारी गुरुपुत्री) शकुन्तला मौजूद है । यदि आपको और काम का हर्ज न हो तो वहां जाकर आतिथ्यसत्कार ग्रहण कीजिये । और—

तपस्वियों की निर्विघ्न होती हुई क्रियाओं को देखकर आप यह भी जान लेंगे कि सदा

ज्ञास्यसि 'कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क' इति ॥ १३ ॥

राजा—अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः ? (१)।

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्कारायादिश्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः (२)।

राजा—भवतु। तामेव द्रक्ष्यामि। सा खलु विदितभक्तिर्मां महर्षये निवेदयिष्यति (३)।

अत्र साभिप्रायविशेषणस्य प्रकृतोपयोगित्वज्ञापनात् परिकरालंकारः। तदुक्तम्—'उक्तिविंशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः' इति। तपोधनानां क्रियानुपहतिकथनेन राज्ञः प्रतापातिशयानुमानाच्च नाट्यलक्षणमत्र ज्ञप्तिरिति। तदुक्तं विश्वनाथेन—'ज्ञप्तिः केनचिदंशेन किञ्चिद्यत्रानुमीयते' इति॥ इयमार्या॥ १३॥

(१) राजेति। वैखानसवचनेनाश्रमगमनं निश्चित्य कण्वसान्निध्यं पृच्छति—अपीति। अपिः प्रश्ने। 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः। सन्निहितः वर्त्तत इत्यर्थः।

(२) वैखेति। इदानीमेव सम्प्रति हि, एतेन कण्वस्य विलम्बेनागमनं सूच्यते। दुहितरं—पुत्रीं शकुन्तलाम्, एतेन वात्सल्यं सूचितम्। अतिथिसत्काराय—अतिथिपूजायै, आदिश्य—उक्त्वा, अस्याः—शकुन्तलायाः, प्रतिकूलं—विघ्नरूपम्, दैवं—पूर्वजन्मकर्मदोषम्, तदुक्तम्—'तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदैहिकम्' इति, शमयितुं—शान्तिमानेतुमनुष्ठानादिति भावः। सोमतीर्थं—तन्नामकसिद्धपीठं गतः कुलपतिरिति प्रकरणादध्याहारः।

(३) राजेति। भवत्विस्त्ययमात्मसंवेदद्योतकम्। यथाऽऽह यादवः—'भव स्वान्तरसंवेदे निर्दोषे स्मरणेऽपि च' इति। क्रिया चेत् तदा तिष्ठतु स्थगयेत्यर्थः। तां शकुन्तलाम्, विदिता अवगता भक्तिः—कण्वेऽनुरागो यया सा, महर्षये कण्वाय कुलपतये, मां—भक्तिमन्तं निवेदयिष्यति—सा मम भक्तिं कण्वाय निवेदयिष्यतीति भावः।

धनुष की डोरी चढ़ाने से रगड़ खाये हुए आपके हाथ किस तरह लोगों की रक्षा करते हैं॥

(१) राजा—तो क्या कुलपति जी भी यहाँ हैं ?

(२) तपस्वी—अभी ही अपनी कन्या शकुन्तला को अतिथिसत्कार के लिये नियुक्त करके, शकुन्तला के प्रतिकूल भाग्य की शान्ति के लिये सोमतीर्थ गये हैं।

(३) राजा—अच्छा, चलकर उसीको देखता हूँ। वह हमारी भक्ति देखकर महर्षि कण्व से हमारे आने का समाचार कह देगी।

वैखानसः—साधयामस्तावत्। इति सशिष्यो निष्क्रान्तः (१)।]

राजा—सूत ! नोदय अश्वान्, पुण्याश्रमदर्शनेनात्मानं पुनीमहे (२)।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् [इति भूयो रथवेगं रूपयति (३)]।

राजा—[समन्तादवलोक्य] सूत ! अकथितोऽपि ज्ञायत एवायमाभोगस्तपोवनस्य (४)।

सूतः—कथमिव ! (५)।

राजा—किं न पश्यति भवान् (६) इह हि—

(१) वैखेति। तावदिति वाक्यालङ्कारे। साधयामः—गच्छामः। तदुक्तं दर्पणे-'प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते' इति। यथा रघुवंशे—'साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते' इति।

(२) राजेति। नोदय—प्रेरय। पुण्यः पवित्रः य आश्रमस्तस्य दर्शनेन, पुण्यं—पवित्रं यद् आश्रमस्य दर्शनं तेनेति वा, पुण्यपदमाश्रमस्य दर्शनस्य वा विशेषणम्=पुनीमहे-पवित्रीकुर्महे। वर्त्तमानसामीप्ये भविष्यति लट्।

(३) सूत इति। भूय इति पुनरर्थे 'भूयांस्त्रिषु बहुतरे पुनरर्थे त्वदोऽव्ययम्'इति मेदिनी।

(४) राजेति। अकथितोऽपि केश्चिदनुक्तोऽपि, तपोवनस्य अयमाभोगः परिपूर्णता, सीमेति यावत्, ज्ञायत एव—अनुमीयत खलु। एतेन राज्ञः सूक्ष्मार्थद्रष्टृत्वं द्योत्यते।

(५) सूत इति। ज्ञानकारणं पृच्छति कथमिति, केन प्रकारेण।

(६) राजेति। न पश्यति, तपोवनस्याभोगानिति शेषः। हि यस्मादिह—तपोवने, एत इति श्लोकस्थेनान्वयः।

(१) तपस्वी—अच्छा, तो अब हम जाते हैं। (शिष्य के साथ चला जाता है)

(२) राजा—सारथि ! चलने दो घोड़ों को। चलो, इस पुनीत आश्रम को देखकर अपनी आत्मा पवित्र करें।

(३) सूत—जैसी आयुष्मान् की आज्ञा। फिर अपने रथ का वेग दिखाता है।

(४) राजा—(चारों ओर देखकर) सारथि ! बिना कहे ही ज्ञात हो जाता है कि यह पूरा तपोवन ही है।

(५) सूत—कैसे ?

(६) राजा—क्या आप नहीं देख रहे हैं यहाँ—

नीवाराः शुक-कोटरार्भक-मुख-भ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिःष्यन्दरेखाङ्किताः ॥ १४ ॥

नीवारा इति। तरूणां—वृक्षाणाम्, अधः–तलप्रदेशे, शुकानां–तन्नामकपक्षिणां ये कोटरार्भकाः—तरुविवरस्थशावकास्तेषां मुखेभ्यः–चञ्चुटेभ्यो भ्रष्टा विगलिताः, नीवाराः—तृणधान्यानि दृश्यन्त इति क्रियाध्याहारान्न्यूनपदताभावः, 'नीवारास्तृणधान्यानि' इत्यमरः। अनेन शुकानां निर्भयावस्थित्या दुर्जनाप्रवेशस्तेन चाश्रमाणां मनोहारितया बहुला रतिर्ध्वन्यते। नीवाराणामन्यत्रानाधिक्यादत्र तु बाहुल्येन प्रतीयमानत्वादयं खलु तपोवनस्याभोग इति भावः। क्वचित्—कस्मिन्नपि भागे, इङ्गुदीनां—तापसतरूणां फलानि भिन्दन्ति—स्नेहनिःसारणाय विदारयन्ति पिंषन्तीति इङ्गुदीफलभिदः, अत एव प्रस्निग्धाः—प्रकर्षेण चिक्कणाः तैलाभ्यक्तिता एव, उपलाः—प्रस्तराः सूच्यन्ते—प्रकाश्यन्ते। मुनयस्तु इङ्गुदीतैलेनाभ्यङ्गप्रदीपादिकर्म सम्पादयन्तीत्यत्र च तद्बाहुल्यदर्शनात्तपोवनमिदमित्यनुमानम्। सूच पैशुन्ये इत्यस्माच्चौरादिकात्कर्मणि लट्। विश्वासोपगमात् मुनीनां वात्सल्येन विश्वासलाभात् अत्रास्मान् न कोऽपि द्विष्यादिति बुद्ध्येति भावः। अभिन्ना-विशेषमप्राप्ता यथापूर्वमवस्थिता गतिः—सञ्चारो येषां ते तथोक्ताः सन्तः मृगाः—तत्रस्था हरिणाः, शब्दं—रथोत्थध्वनिं, सहन्ते—निर्भयं समाकर्णयन्ति, शब्दमसहमाना न धावन्तीति भावः। अन्यत्र मृगाणामिदमाकारदर्शनाभावादत्र तु तद्बाहुल्येन दर्शनात्तपोवनमिदमित्यनुमानम्। तथा तोयाधारपथाः—उटजाज्जलाशयगमनमार्गाः, च–सर्वसमुच्चये। वल्कलानां-परिहिततरुत्वचां शिखाः—अग्राणि तासां निःष्यन्देन जलधारया याः रेखास्ताभिरङ्किताः चिह्निता इति शेषः। एतेन स्नातागततापसगतिः प्रदर्शिता। तेन चायं तपोवनाभोग इत्यनुमानम्।

अत्र काव्यलिङ्गानुमानसमुच्चयस्वभावोक्त्योऽलङ्काराः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। तल्लक्षणम्—'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति ॥ १४ ॥

घोंसलों में बैठे हुए, सुग्गों के बच्चों के मुख से गिरे हुए धान, वृक्ष के नीचे पड़े हैं। कहीं कहीं इङ्गुदी के फल तोड़ने से चिकने पत्थर दिखाई दे रहे हैं। यहाँ के रहने वाले मृगों को विश्वास हो गया है (कि इन्हें कोई मारेगा नहीं) इसलिये ये अपनी साधारण चाल चलते हुए हमारे रथ का शब्द सहन कर रहे हैं। जलस्थान को जाने वाले मार्ग भी वल्कल के छोर से गिरने वाले पानी से चिह्नित हो रहे हैं ॥ १४ ॥

अपि च—

कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूला-
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन ।
एते चार्वागुपवनभुवि छिन्नदर्भाङ्कुरायां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति ॥ १५ ॥

सूतः—सर्वमुपपन्नम् (१) ।

कुल्येति । पवनेन—वायुना, चपलैः—तरङ्गितैः, कुल्यानां—कृत्रिमक्षुद्रसरिताम्, अम्भोभिः—जलैः, शाखिनः-तीरस्थिताः वृक्षाः, धौतानि—क्षालितानि मूलानि येषां ते तथाभूताः, भवन्ति इति शेषः, 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः। तादृशी कृत्रिमा सरित् तपोवन एव जलरक्षणाय संभाव्यते, अतोऽयं तपोवनस्याभोग इति भावः । तथा आज्यस्य—वह्नौ हुतहविषः धूमोद्गमेन—धूमसम्पर्केणेति भावः, किसलयरुचां—पल्लवदीप्तीनां रागः—रक्तिमा, भिन्नः—विनष्टो वैपरीत्यं गत इति यावत् 'रागः क्लेशादिके रक्ते मात्सर्ये लोहितादिषु' इति शाश्वतः । बहुतरहविर्धूमस्यान्यत्रासम्भवादत्र च तस्य बाहुल्येन सद्भावात्तपोवनस्यैवायमाभोग इति भावः । तथा एते—दृश्यमाना हरिणशिशवः-मृगपोताश्च, नष्टाशङ्काः-जन्मप्रभृति कैश्चिदपि द्वेषानवलोकनान्निर्भीकाः सन्तः, छिन्नाः-तेषां भक्षणाय मुनिभिर्लूनाः, दर्भाणां—कुशानामङ्कुराः अग्रभागा यस्यां तथोक्तायाम्, उपवनभुवि-उद्यानभूमौ, अर्वाक्—अस्माकं निकट एव, मन्दमन्दं-स्वेच्छया स्वैरं स्वैरम्, चरति—पर्यटन्ति । मृगाणां निर्भयभ्रमणदर्शनादयं तपोवनस्याभोग एवेति नृपाभिप्रायः ।

अत्रापि काव्यलिङ्गानुमानसमुच्चयस्वभावोक्तयश्चालङ्काराः । मन्दाक्रान्ता नाम वृत्तम् । तल्लक्षणं त्विदम्-'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति ॥

(१) सूत इति । सर्वं यद्यद्भवतोक्तं तत्कृत्स्नम्, उपपन्नं—युक्तम्, तथावद् दृश्यत इति भावः ।

वायु के झोकों से चञ्चल बनावटी नदी के पानी से आस-पास के वृक्षों की जड़ धुल गयी है, हवन के धूम से नवीन पल्लवों की लालिमा और ही प्रकार की हो गयी है, जिनसे कुश के अंकुर उखाड़ दिये गये हैं, ऐसी उपवनभूमि में ये हरिण के बच्चे निर्भीक भाव से धीरे-धीरे चर रहे हैं ॥ १५ ॥

(१) सूत—आपका कहना यथार्थ है ।

राजा—[स्तोकमन्तरं गत्वा] आश्रमोपरोधो माभूत्, तदिहैव रथं स्थापय, यावदवतरामि (१)।

सूतः—धृताः प्रग्रहाः, अवतरत्वायुष्मान् (२)।

राजा—[अवतीर्य्य आत्मानमवलोक्य च] सूत ! विनीतवेशेन प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि, तदिमानि तावद् गृह्यन्तामाभरणानि धनुश्च। [इति सूतस्यार्पयति] (३)।

सूतः—[गृह्णाति] (४)।

(१) राजेति । स्तोकं—किञ्चित्, अन्तरम्–तपोवनाभ्यन्तरं गत्वा, सूतमाहेति शेषः। आश्रमोपरोधः–रथप्रवेशेन आश्रमस्य पीडा, माभूत्–न भवतु, तत्—तस्मात्कारणात्, रथं–स्यन्दनम्, इहैव–आश्रमस्य किञ्चिद्दूर एव, स्थापय–स्थिरी कुरु। यावदवतरामि–रथादवतरणपर्यन्तमित्यर्थः।

(२) सूत इति। धृताः—गृहीताः, प्रग्रहाः–अश्वरज्जवः। भवतामवतरणायेति भावः।

(३) राजेति। विनीतवेशेन–अनुद्धताभरणेन, शुद्धवेशेनेति यावत्, तपोवनानि–मुनिवासभूतानि स्थानानि; प्रवेष्टव्यानि–गम्यानि। तपस्विनां समीपे सर्वलोभावेन विनयावलम्बनं समुचितमिति राजाभिप्रायः। तत्–तस्मात्कारणात्, आभरणानि किरीटकुण्डलादीनि, धनुः–कार्मुकञ्च, गृह्यन्तां–रचयन्ताम्। एतेषां वीरत्वव्यञ्जकत्वात्तपोवनेऽविनीतताप्रकाशो भवेदिति भावः।

अत्र नीतिनामा नाट्यालङ्कारः। तथा च साहित्यदर्पणे–'नीतिः शास्त्रेण वर्त्तनम्' इति। सूतस्यार्पयतीत्यत्र रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यादिवत्सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी बोध्या।

(४) सूत इति। गृह्णाति राज्ञ आभरणानि धनुश्चेति शेषः।

(१) राजा—(कुछ आगे बढ़कर) आश्रमनिवासियों को किसी प्रकार की बाधा न हो, इसलिये आप रथ यहाँ ही रोक दें। मैं उतर जाऊँ।

(२) सूत—मैंने घोड़ों की रास कड़ी कर ली है, आप उतरें।

(३) राजा (उतर कर और अपने को देखकर) सारथी ! तपोवनों में विनीत वेश से प्रविष्ट होना चाहिये। इसलिये इन आभूषणों तथा इस धनुष को आप सम्हालें। (ऐसा कह कर राजा सारथी को सब देता है)

(४) सारथी–(लेता है)

राजा—यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्य निवर्त्तिष्ये, तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः (१) ।

सूतः—यथाज्ञापयत्यायुष्मान् [इति निष्क्रान्तः] ।

राजा—[परिक्रम्यावलोक्य च] इदमाश्रमपदं तावत् प्रविशामि । [प्रविश्य प्रवेष्टकेन निमित्तं सूचयित्वा] अये !-(२) ।

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ १६ ॥

(१) राजेति । यावत्-यावता कालेन । प्रत्यवेक्ष्य-योगक्षेमपर्यालोचनपूर्वकमवेक्षणं कृत्वा, निवर्त्तिष्ये-प्रत्यागमिष्यामि । तावत्-तत्कालपर्यन्तम्, आर्द्राणि-सिक्तानि पृष्ठानि येषां ते तथोक्ताः । एतेन तेषां श्रमापनोद उक्तः । पृष्ठप्रक्षालनं हि वाजिनां विशेषतः श्रमहरं भवति । तथोक्तं बाणभट्टेन—'स्नानार्द्रपृष्ठतया विगतश्रमेषु वाजिषु' इति ।

(२) राजेति । परिक्रम्य-तत्र कियत्पदं सञ्चर्य । आश्रम एव पदं-स्थानमित्याश्रमपदम् । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः, प्रवेष्टकेन-बाहुना दक्षिणेनेति भावः । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः । निमित्तं-स्पन्दनरूपं मङ्गललक्षणम्, 'निमित्तं हेतुलक्ष्मणोः' इत्यमरः । सूचयित्वा-निरूप्य, (दक्षिणबाहुस्पन्दफलमाहाद्भुतसागरे—'वामेतरकरस्पंदो वरस्त्रीलाभसूचकः') इति । अये इति सम्भ्रमोक्तिः । 'अये क्रोधे विषादे च सम्भ्रमे स्मरणेऽपि च' इति मेदिनी ।

शान्तमिति । इदं-परिदृश्यमानम्, आश्रमपदं-आश्रमस्थानम्, शान्तं-शमप्रधानं शान्तरसस्यास्पदं, न तु शृङ्गारस्य तपस्विनामाश्रमत्वादिति भावः । तात्स्थ्यात्तन्निवासिनो जनाः शमधना न तु शृङ्गारिण इति केषांचित् व्याख्यानम् । तथा च, अस्य-बाहुस्फुरणस्य, फलं स्त्रीलाभः कुतः ? कथं सम्भवति ? न कथमपीत्यर्थः । शान्तरसपूर्णे शृङ्गारस्य प्रादुर्भावः कथमपि न सम्भवतीति भावः । उक्तविप्रतिपत्तिं समाधत्ते-अथवेति । अथवेति समाधानान्तरे, भवितव्यानाम्-अवश्यसम्भाव्यानामर्थानाम्

(१) राजा—जब तक मैं आश्रमनिवासियों का दर्शन करके लौटूं, तब तक आप घोड़ों को ठण्डा कर लीजिये ।

सूत—जैसी आज्ञा । (राजा का प्रस्थान)

(२) राजा—(लौटकर और देखकर) यही आश्रम है, चलूँ । (आगे बढ़कर और दाहिने हाथको फड़कते दिखाकर) एँ !—यह आश्रम शान्त स्थान है और दाहिनी भुजा

[नेपथ्ये] इत इतः प्रियसख्यौ (१)! (इदो-इदो पिअसहीओ!।)

राजा—[कर्णं दत्वा] अये! दक्षिणेन वृक्षवाटिकामालाप इव श्रूयते, यावदत्र गच्छामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] अये! एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्त्तन्ते [निरूप्य] अहो! मधुरमासां दर्शनम् (२)—

द्वाराणि—उपायाः, सर्वत्र भवन्ति ईश्वराधीनत्वात् सर्वत्र देशे सर्वस्मिन् काले वाऽनायासमुत्पद्यन्त इति भावः। 'द्वारं पुनर्निर्गमनेऽभ्युपाये' इति विश्वः। अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालंकारः। अथवा इत्यनेन पूर्वोक्तप्रतिषेध आक्षेपालंकार इति कस्यचिद्व्याख्यानम्। इयमार्या जातिः॥ १६॥

(१) नेपथ्य इति। शकुन्तलाया उक्तिरियम्। प्रियसख्यौ-अनसूयाप्रियंवदे, इत इतः-अस्यामस्यां दिशि इत्यर्थः। आगच्छतमिति शेषः। वीप्सायां द्विर्वचनम्। इयं शौरसेनी भाषा। योषितां स्वियं भाषा प्रयोक्तव्या। तदुक्तं दर्पणे—'शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनाञ्च योषिताम्' इति।

(२) राजेति। कर्णं दत्वा-तदालापं श्रोतुं कर्णं नियोज्य। अये इति सम्भ्रमे सकौतुके स्मरणे आत्मसम्बोधने वा। दक्षिणस्यां दिशीति दक्षिणेन। इदमव्ययम्। वृक्षवाटिकाम्—उपवनम्, 'एनपा द्वितीया' इति द्वितीया, उपवनस्य सन्निकृष्टदक्षिणपार्श्वे इत्यर्थः। 'अमात्यगणिकागेहोपवने वृक्षवाटिका' इत्यमरसिंहोक्तमुपलक्षणम्। आलाप इव—परस्परसंभाषणमिव। इवेति प्रतीतौ। आलापस्यास्पष्टताद्योतकं वा। अये इति विस्मये। यावदिति अवधारणे। अत्र-वृक्षवाटिकां दक्षिणेन स्वप्रमाणानुरूपैः—निजनिजशरीरप्रमाणयोग्यैः। एतेनाग्राम्यत्वं व्यज्यते। सेचनघटैः-वृक्षेषु जलप्रदानसाधनकलशैः। बालपादपेभ्यः-क्षुद्रवृक्षेभ्यः, पयः-जलं दातुमित एव-अस्यां दिश्येव, अभिवर्तन्ते-अभिमुखमागच्छन्ति। अत्र बालकेभ्यः स्तन्यपानस्य समाधिः। अहो इत्याश्चर्ये, आसां-तपस्विकन्यकानाम्, दृश्यते इति दर्शनं—रूपम्, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति कर्मणि ल्युट्। मधुरं-प्रियं, चित्ताह्लादकरम्। 'मधुरं रसवत्स्वादुप्रियेषु' इति विश्वः।

फड़क रही है, इसका फल यहाँ पर कैसे प्राप्त हो सकता है? (दाहिनी भुजा का फड़कना अच्छी स्त्री प्राप्त होने का सूचक है, परन्तु यहाँ तो उसकी सम्भावना नहीं है) अथवा होने वाली बात के लिये सर्वत्र द्वार खुले रहते हैं॥ १६॥

(१) (नेपथ्य में) प्रियसखियो! इधर आओ, इधर।

(२) राजा—(कान देकर) अये! दाहिनी ओर की वाटिका में बातचीत सुनायी दे रही है, चलो यहाँ भी चलें। (चलकर और देखकर) हाँ, ये तपस्वियों की बालिकायें

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥ १७ ॥

यावदेनाश्छायामिमामाश्रित्य प्रतिपालयामि । [इति विलोकयन् स्थितः] (१) ।

[ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला] (२)

एका—हला शकुन्तले ! त्वत्तोऽपि तातकण्वस्य आश्रमवृक्षाः प्रियतरा इति तर्कयामि; येन नवमालिकाकुसुमपरिपेलवापि त्वम् एतेषामालवालपरिपूरणे नियुक्ता (३) । [हला सउन्तले ! तत्तो वि तादकण्णस्स अस्समरुक्खआ पिअदरा त्ति तक्केमि; जेण णोमालिआकुसुमपरिपेलवावि तुमं एदाणं आलवालपरिऊरणे णिउत्ता ।)

शुद्धान्तेति । आश्रमे वस्तुं शीलं यस्य तथाभूतस्य, जनस्य शकुन्तलादिरूपस्य लोकस्य, आश्रमेत्यादिना तादृग्रूपासंभवो द्योत्यते । इदं वपुः—शरीरं लावण्यं वा, 'वपुः शरीरे लावण्य' इति केशवः । यदि शुद्धान्तेषु—राजान्तःपुरेषु, दुर्लभं दुष्प्रापम् । अथवा, शुद्धान्ताः राजस्त्रियस्तास्स्य्यादिति क्षीरस्वामी । तासां दुर्लभं भवेदिति शेषः । अभूतपूर्वदृष्टत्वादीदृग्रूपस्येति भावः । 'स्त्र्यगारं भूभुजामन्तःपुरं स्यादवरोधनम् । शुद्धान्तश्चावरोधश्च' इत्यमरः । तदा वनलताभिः—अयत्नेन वर्द्धिताभिरिति भावः, गुणैः—सौकुमार्यादिभिः, उद्यानलताः—अत्यन्तयत्नवर्धिता इति भावः, दूरीकृताः पराजिता इत्यर्थः, खल्विति निश्चये ।

अत्रासम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कारः । दृष्टान्तालङ्कार इति केचित् । शकुन्तलायाः कमनीयताऽद्वितीयेति वस्त्वलङ्कारेण ध्वन्यते । आर्या जातिरियम् ॥१७॥

(१) यावदिति । इमां—तादृशीम्, छायामाश्रित्य—आश्रयं नीत्वा, एताः—सव्यापारमागच्छन्तीस्तपस्विकन्यकाः, प्रतिपालयामि—प्रतीक्षे ।

(२) तत इति । ततः—तदनन्तरम् । यथोक्तव्यापारा—वृक्षसेचनाय घटं वहन्ती सखीभ्याम्—अनसूयाप्रियंवदाभ्याम् ।

(३) एकेति । हलेति सख्याः संबोधने । 'हण्डे हञ्जे हलाह्वाने नीचां चेटीं

अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार (छोटे-बड़े) घड़े लिये छोटे-छोटे पौधों को सींचने के लिये इधर ही आ रही हैं (देखकर) अहो ! इनका रूप तो बड़ा ही सुन्दर है ।

यदि महलों के लिये दुर्लभ यह स्वरूप आश्रमवासिनी बालिकाओं में दीख रहा है तो मानों वनलताओं ने अपने गुणों से बगीचे की लताओं को परास्त कर दिया है ॥ १७ ॥

(१) तो थोड़ी देर इस छाया में खड़ा होकर इनकी प्रतीक्षा करूँ (देखता हुआ खड़ा हो जाता है)

(२) (इसके बाद पौधों को सींचती हुई अपनी सखियों के साथ शकुन्तला आती है)

(३) एक सखी—प्यारी शकुन्तला ! मालूम होता है कि पिता कण्व को ये आश्रम के

शकु०—हला अनसूये ! न केवलं तातस्य नियोगः, ममापि एतेषु (१) सहोदरस्नेहः। (हला अणसूए ! ण केवलं तादस्स णिओओ, मम वि एदेसुं सहोअरसिणेहो।) [इति वृक्षसेचनं नाटयति]

द्वितीया—सखि शकुन्तले ! उदकं लम्भिता एते ग्रीष्मकालकुसुमदायिनः आश्रमवृक्षाः। इदानीम् अतिक्रान्तकुसुमसमयानपि वृक्षान् सिञ्चामः तेन अनभिसन्धिगुरुको धर्मो भविष्यति (२)। (सहि सउन्तले ! उदअं लम्भिदा एदे गिम्हआलकुसुमदाइणो अस्समरुक्खआ। दाणिं अदिक्कन्तकुसुमसमए वि रुक्खके सिञ्चह्म, तेण अणहिसन्धिगुरुओ धम्मो भविस्सदि।)

सखीं प्रति' इत्यमरः। त्वत्तोऽपि-त्वामपेक्ष्यापि, 'पञ्चम्यास्तसिल्' प्रियतराः—अतिप्रियाः इति तर्कयामि-संभावयामि। तर्कहेतुमाह—येनेति। येन-कारणेन-नवमालिकायाः कुसुमवत् पेलवापि-सर्वतः सुकुमारापि, 'पेलवं कोमलमिति' त्रिकाण्डशेषः। एतेषाम्-आश्रमपादपानाम्, आलवालानां-जलग्रहणाय वृक्षमूलस्थितक्षुद्रखातानाम्, परिपूरणे-तोयैः पूरणकर्मणि न तु सेकमात्रे।

(१) शकु इति। नियोगः आदेशः। तातनियोगमात्रमालवालपूरणे न कारणमित्यर्थः। ममापीति। अपिशब्दात् तातस्य पुत्रस्नेह इवेत्यर्थः। एतेषु-पादपेषु, सहोदरवत् स्नेहः। एकतपोवनगर्भजाततयेति भावः। नाटयति-नाट्येन रूपयति।

(२) द्वितीयेति। उदकम्-अस्माभिः सिक्तं जलम्, लम्भिताः प्रापिताः। अतिक्रान्तः—अतिवाहितः कुसुमानां-पुष्पाणां समयः उत्पादनकालो यैस्तान् ग्रीष्मेतरकालोत्पादितकुसुमानित्यर्थः। नास्ति अभिसन्धिः-फलाशा यस्मिन् तथाविधः अत एव गुरुरेव गुरुकः-महान्, धर्मः-कल्याणम्। तदुक्तं नारदेन—

'पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनपेक्ष्य प्रयोजनम्।
केवलं धर्मबुद्ध्या तु धर्मदानं तदुच्यते'॥ इति॥

वृक्ष तुम से भी अधिक प्रिय हैं। इसीलिये नवीन फूलों से भी कोमल तुमको इन्हें सींचने के लिये नियुक्त किया है।

(१) शकुन्तला—सखी अनसूया ! केवल पिता की आज्ञा ही नहीं है, किन्तु मेरा भी इन पर सगे भाई जैसा स्नेह है। (वृक्ष सींचती है)

(२) दूसरी सखी—सखी शकुन्तला ! इन ग्रीष्म काल में फूल देने वाले वृक्षों को

शकु—हला प्रियंवदे ! रमणीयं मन्त्रयसि (१)। (हला पिअंवदे ! रमणिज्जं मंतेसि !) [इति भूयो वृक्षसेचनं नाटयति]।

राजा—(निर्वर्ण्य आत्मगतम्] कथमियं सा कण्वदुहिता शकुन्तला ! [सविस्मयम्] अहो ! असाधुदर्शी खलु भगवान् कण्वः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते (२)।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपु-
स्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।

(१) शकु इति। रमणीयं–न्याय्यत्वात् शोभनं यथा स्यात्तथा, मन्त्रयसि—कथयसि। भूयः–पुनः।

(२) राजेति। निर्वर्ण्य–ललितरूपलावण्यशालिनीं यथोक्तव्यापारवतीञ्च शकुन्तलां निरीक्ष्य, 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः। आत्मगतं स्वगतम्, अन्यैरश्राव्यमित्यर्थः, तदुक्तं दर्पणे—'अश्राव्यं खलु तद्वस्तु यदिह स्वगतं मतम्' इति। कथमिति सम्भावनायाम्। सा–इति पूर्वं वैखानसैरुक्ता। अहो इत्याश्चर्ये। असाधुदर्शी–असम्यग् द्रष्टा, अविवेकी इति भावः। आश्रमधर्मे–तापसव्रते, वृक्षसेचनातिथिसपर्यादिकर्मणि वा। नियुङ्क्ते—व्यापारयति।

कण्वस्यासाधुदर्शित्वं पुनः प्रतिपादयति—इदमिति। यः–ऋषिः, इदं–पुरोदृश्यमानं शाकुन्तलीयमिति भावः, अव्याजेन–स्वभावत एव, न तु भूषणादिनेत्यर्थः, मनोहरं–सुन्दरम्, वपुः–शरीरम्, किलेति अनुकम्पायामसहने वा, तपःक्षमं—तपःसाधनयोग्यम्, तपःक्लममिति पाठान्तरे—तपस्याक्लेशनिरतमित्यर्थः, साधयितुं—सम्पादयितुम्, इच्छति—वाञ्छति। सः—ऋषिः कण्वः, ध्रुवं—निश्चितम्, 'ध्रुवो भभेदे क्लीबन्तु निश्चिते शाश्वते त्रिषु'इत्यमरः, नीलोत्पलपत्रस्य—इन्दीवरदलस्य, धारया—पार्श्वदेशेन निशितमुखेनेत्यर्थः, 'खड्गादीनां च निशितमुखे धारा प्रकीर्त्यते' इति विश्वः, नीलोत्पलपत्रेत्यनेन सौकुमार्यमुक्तम्, धारेत्यनेन च खड्गादिसाम्यमुक्तम्, शमीलतां–शमीशाखां, लताकारां शमीं वा, छेत्तुं–कर्त्तितुम्, खण्डितुं वा व्यवस्यति—प्रयतते। शमीपदेन काठिन्यं च सूच्यते। अत्र तादृश-

सींच चुकी। अब चलो, उन वृक्षों को भी सीचें, कि जिनके फूलने का समय बीत चुका है, ऐसा करने से निष्काम कर्म का महान् फल प्राप्त होगा।

(१) शकुन्तला—सखी प्रियंवदा ! तुम ठीक सलाह दे रही हो। (फिर सींचती है)

(२) राजा—(देखकर स्वगत) तो क्या यही वह कण्व की पुत्री शकुन्तला है ? (विस्मय के साथ) ओह ! महाराज कण्व बड़े विवेकहीन है, जो इसे आश्रमधर्ममें नियुक्त किये हुए हैं। जो ऋषि इस स्वाभाविक सुन्दर शरीर से तपस्या का कष्ट-साधना करनेके लिये इच्छा

ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥ १८ ॥

भवतु, पादपान्तरित एव विश्वस्तां तावदेनां पश्यामि। [इति तथा करोति] (१)।

शकु—हला अनसूये! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया दृढं पीडितास्मि, तत् शिथिलय तावदेनम् (२)। (हला अणसूए ! अदिपिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदाए दढं पीडिदा ह्मि, ता सिढिलेहि दावं णं।)

सुकुमारवपुषा तपःक्षमसाधनवाञ्छा नीलोत्पलपत्रधारया शमीलताच्छेदनवाञ्छावदिति बिम्बप्रतिबिम्बभावचरत्वादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे— 'सम्भवन् वस्तुसंबन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना' ॥ इति ॥

ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा च पूर्वार्धे च विरूपसंघटनाद् विषमालंकारो व्यज्यते। अत्र च शकुन्तलायां राज्ञः प्रागुत्पन्नानुरागस्य बाहुल्यप्रकाशनात्परिकरो नाम मुखसन्ध्यङ्गम्। तदुक्तम्—'समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः' इति।

अनेन चाभिप्रायरूपं नाटकलक्षणमुक्तम्। तल्लक्षणन्तु—'अभिप्रायस्तु सादृश्यादद्भुतार्थस्य कल्पना' इति साहित्यदर्पणे। वंशस्थवृत्तम् ॥ १८ ॥

(१) भवत्विति। भवतु—कण्वोऽसाधुदर्शी साधुदर्शी वाऽस्तु, तस्मिन्न मे किञ्चित्साध्यमिति भावः। स्वाभिमतमेव करोमीत्याह—पादपेति। पादपान्तरित एव-तरुव्यवहितावयव एव न तु प्रत्यक्षीभूतः सन्, विश्वस्तां-मददर्शनान्निर्जनत्वेन सखीजनैकसान्निध्याद्वा अनुद्विग्नचित्ताम्, एनां-शकुन्तलां पश्यामि-दर्शनेनात्मानं विनोदयामि। अन्यथा सम्यग् द्रष्टुं न शक्यामीति भावः।

(२) शकु इति। अतिपिनद्धेन-दृढं बद्धेन, 'अमुक्तः प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापिनद्धवत्' इत्यमरः। वल्कलेन-तरुत्वग्वाससा, दृढं—बलवत्, पीडितास्मि-पीडां गमितास्मि। तत्-तस्मात्, एनं-वल्कलं शिथिलय-शिथिलं कुरु।

रखता है, वह नीलकमल के पत्र की धारा से शमी वृक्ष काटना चाहता है ॥ १८ ॥

(१) अस्तु, इस वृक्ष की आड़ से ही इस विश्वस्त स्वरूप को निहारूँ। (छिप कर देखता है);

(२) शकुन्तला—सखी अनसूया! प्रियंवदा ने इस वल्कले को बहुत अधिक कस दिया है, इससे मुझे कष्ट हो रहा है, इसलिये तुम इसे ढीला कर दो।

[अन—शिथिलयति । (१) ।

प्रियं—[सहासम्] अत्र तावत् पयोधरविस्तारहेतुकम् आत्मनो यौवनारम्भम् उपालभस्व, मां किमुपालभसे ? (२) । (एत्थ दाव पओहरवित्थारहेदुअं अत्तणो जोव्वणारंभं उवालह, मं किं उवालहसि ? ।

राजा—सम्यगियमाह (३) ।

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन ।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण ॥ १९ ॥

---

(१) अनेति । शिथिलयति-शिथिलं करोति वल्कलमिति शेषः ।

(२) प्रियमिति । अत्र-अस्मिन् पीडाविषये, पयोधरयोः-कुचयोः, विस्तारस्य-औन्नत्यस्य, हेतुकं-कारणभूतम् , आत्मनः-स्वस्य, यौवनं-तारुण्यम् , उपालभस्व-तिरस्कुरु । मां कथमुपालभसे-स्वयौवनारम्भमज्ञात्वा निरपराधां मां कथं तिरस्करोषीत्यर्थः । तव यौवनारम्भात् स्तनौ पीवरौ जातौ, अतस्ते पीडा भवति न तु मत्कर्तृकवल्कलबन्धनेनेत्यवधारयेति भावः ।

(३) राजेति । इयं-सहचरी प्रियंवदा, सम्यगाह—तथ्यं वदति । 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यगि'त्यमरः । तथाहि—यौवनारम्भादेव स्तनयोः स्वभावतो विस्ताराद् दृढबन्धनप्रतीतिर्न तु सख्या पूर्वापेक्षया बलवद्बद्धेति भावः ।

ननु अस्या यौवनोदयः पूर्वं कथमप्रतीत आसीदित्यत आह—इदमिति । इदं-सम्प्रति दृश्यमानम्, अभिनवं-नवीनम्, अस्याः शकुन्तलायाः वपुः—शरीरम्, स्कन्धदेशे स्कन्धोपरिभागे, उपहितः—दत्तः सूक्ष्मः-क्षुद्रः ग्रन्थिः-श्लेषार्थं बन्धनं यस्य तेन, तथा स्तनयुगस्य-कुचद्वयस्य यः परिणाहो-विशालता 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः, तमाच्छादयतीति तथाभूतेन, वल्कलेन-परिहिततरुत्वचा, पाण्डुपत्राणां-परिणततया पाण्डुरवर्णानां दलानाम्, उदरेण गर्भेण, पिनद्धं-बद्धम् आच्छादितमिति यावत्, कुसुमं—पुष्पमिव, स्वां-स्वकीयाम्, शोभां-कान्तिम्, न पुष्यति-

---

(१) (अनसूया-ढीला कर देती है)

(२) प्रियंवदा-(हँसकर) यहाँ तो तुम्हें अपने स्तनों की बढ़ती के कारण अपने यौवनारम्भ को उलाहना देना चाहिये था, मुझे क्यों उलाहना दे रही हो ?

(३) राजा—यह ठीक कह रही है ।

इसका नवयौवन काँधे पर बँधे हुए महीन गाँठ वाले तथा दोनों स्तनों के विस्तार को आच्छादित करने वाले वल्कल से उसी तरह अपनी शोभा को नहीं पुष्ट करता जैसे पीले

अथवा काममननुरूपमस्या वपुषो वल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्यति । कुतः ?—(१)

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥ २० ॥

न बिभर्ति तथा हि वल्कलावृतदेहतया स्तनपीवरत्वादेरप्रत्यक्षत्वाद्यौवनाविर्भावः प्रागप्रतीत आसीदिति भावः ।

अत्रोपमालंकारः, स चात्र श्रौतः । मालिनी नाम वृत्तम् । तल्लक्षणम्—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ॥ १९ ॥

(१) वल्कलावृततया अस्याः वपुः स्वां शोभां न पुष्यति इति वदन्नपि तस्यां जनितप्रगाढानुरागतया शोभां पुष्यतीति समर्थयते—अथवेति । अस्याः–शकुन्तलायाः, वपुषः–शरीरस्य, कामम्–अत्यर्थम्, अननुरूपम्–अयोग्यमपि, वल्कलं, पुनरलंकारश्रियम्—आभरणजनितशोभाम्, न पुष्यति–न बिभर्ति इति न, अपितु पुष्यत्येवेत्यर्थः, उभौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत इति न्यायात् ।

अत्र हेतुत्वेन पद्यमवतारयति—सरसिजमिति । शैवलेन–जलनील्या, 'जलनीली तु शैवालं शैवलम्' इत्यमरः, अनुविद्धं–संपृक्तमपि, सरसिजं–पद्मम्, रम्यं–मनोहरमेव भवति । तथा हिमांशोः—चन्द्रस्य, लक्ष्म–कलङ्कः, मलिनमपि लक्ष्मीं–शोभाम् तनोति–विस्तारयति, 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव दृश्यते' इति शाश्वतः । तदिव इयं तन्वी—कृशाङ्गी शकुन्तला, वल्कलेनापि—तुच्छतरुत्वचापि तुच्छवस्तुसम्पर्केणापि, पट्टवस्त्रमण्डनादीनां का कथेत्यर्थः; अधिकमनोज्ञा अति मनोहरा दृश्यत इति शेषः । हि—यतः, मधुराणां सुन्दराणां स्वभावतः सर्वजनाह्लादिनीनामिति भावः, आकृतीनाम्–अवयवानां सम्बन्धे, किमिव–वस्तु, मण्डनं–भूषणं न भवति ? अपि तु यावद्वस्तुमात्रमपि मण्डनं भवत्येवेत्यर्थः । तथा च अतितुच्छवल्कलमपि अस्या विभूषणशोभां बिभर्त्येवेति भावः ।

पीले पत्तों के बीच में पड़ा हुआ फूल पूरी तौर से अपनी शोभा न दिखा कर थोड़ा-थोड़ा दीखता रहता है ॥ १९ ॥

(१) यद्यपि यह वल्कल इसके अनुकूल नहीं है, फिर भी यह इसके अलंकार की शोभा का काम नहीं देता; यह बात नहीं है । क्योंकि–सेवार से आच्छादित रहता हुआ भी कमल सुन्दर ही मालूम होता है, और चन्द्रमा की मलीन चाँदनी भी सुन्दर ही

अपि च—

कठिनमपि मृगाक्ष्या वल्कलं कान्तरूपं
न मनसि रुचिभङ्गं स्वल्पमप्यादधाति ।
विकचसरसिजायाः स्तोकनिर्मुक्तकण्ठं
निजमिव कमलिन्याः कर्कशं वृन्तजालम् ॥ २१ ॥

शकु—[अग्रतोऽवलोक्य] सख्यौ ! एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिः (१)

अत्रोपमानोपमेययोरेकस्यापि सौन्दर्यरूपसमानधर्मस्य वाक्यभेदेन पृथङ्निर्देशात्प्रतिवस्तूपमालङ्कारः । तल्लक्षणं दर्पणे—

'प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥' इति ।

चतुर्थचरणे सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासाऽलङ्कार इत्यनयोः संसृष्टिः । मालिनी वृत्तम्, लक्षणमुक्तम् ॥ २० ॥

कठिनमिति । मृगस्येवाक्षिणी यस्यास्तस्याः—हरिणनयनायाः, शकुन्तलायाः, कठिनमपि—कर्कशं रूक्षमपि कान्तरूपं—रुचिराङ्गसम्पर्केण मनोहराकारम्, वल्कलं कर्तृ, विकचं—प्रफुल्लं सरसिजं—पद्मपुष्पं यस्यास्तस्याः, कमलिन्याः—कमललतायाः, स्तोकम्—ईषद् यथा स्यात्तथा निर्मुक्तः—जलसम्पर्कं त्यक्त्वोपर्युत्थितः कण्ठः—निजाधोदेशो यस्य तत्, 'निर्मुक्तस्त्यक्तसंपर्के मुक्तकञ्चुकभोगिनी'ति मेदिनी, कर्कशं—कठिनम्, निजं—स्वकम्, 'स्वके नित्ये निजं त्रिषु'इत्यमरः । वृन्तजालं—वृन्तसमूह इव, मनसि—चेतसि, स्वल्पमपि—किञ्चिदपि रुचिभङ्गम्—अनुरागच्युतिमप्रीतिमिति यावत्, न आदधाति—न जनयति, आश्चर्यकारित्वादिति भावः । श्रौत्युपमालङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ २१ ॥

(१) शकु इति । एष चूतवृक्षः-आम्रवृक्षः । वातेन—वायुना ईरिताः—सञ्चा-

---

दीखती हैं । उसी तरह यह कृशाङ्गी इस वल्कल से और भी सुन्दर मालूम होती है । मधुर अर्थात् स्वभावतः सबको प्रिय लगने वाली आकृतियों के लिए कौन सी वस्तु अलङ्कार नहीं बनती ? अर्थात् सभी वस्तु अलङ्कार हो जाती है ॥ २० ॥

इस मृगनयनी के लिये यद्यपि यह वल्कल कठोर (सुन्दर नहीं) है फिर भी सुन्दर ही मालूम पड़ता है और यह मन की रुचि में कुछ भी विकार नहीं उत्पन्न करता । जैसे कि जल से थोड़ा बाहर निकला हुआ विकसित कमलिनी का अपना कर्कश वृन्तसमूह बुरा नहीं लगता ॥ २१ ॥

(१) शकुन्तला—(आगे देखकर) सखियो ! यह आम का वृक्ष वायु से हिलती

किमपि व्याहरतीव मां चूतवृक्षः । तद् यावदेनं सम्भावयामि । [सहीओ ! एस वादेरिदपल्लवाङ्गुलीहिं किंपि वाहरेदि विअ मं चूअरुक्खओ । ता जाव णं संभावेमि ।) [इति तथा करोति] ।

प्रियं—हला शकुन्तले ! इहैव मुहूर्त्तकं तिष्ठ(१) । [हला सउन्तले ! इध ज्जेव मुहुत्तअं चिट्ठ ।)

शकु—किं निमित्तम् ? (२) । (किं णिमित्तम् ? ।)

प्रियं—त्वया समीपस्थितया लतासनाथ इव अयं चूतवृक्षः प्रतिभाति (३) । (तए समीवट्ठिदाए लदासणाधो विअ अअं चूअरुक्खओ पडिहादि ।)

शकु—अत एव त्वं प्रियंवदेति भण्यसे (४) । (अदो ज्जेव तुमं पिअंवद त्ति भणीअसि ।)

लिताः पल्लवाः—पत्राण्येवाङ्गुल्यस्ताभिः, मां किमपि पयोदानायेति भावः, व्याहरतीव—कथयतीव 'व्याहार उक्ति'रित्यमरः । पल्लवाङ्गुलीचालनरूपसङ्केतेन पयोदानाय मां स्पष्टमाह्वयतीवेत्यर्थः । तद्—तस्मात्, यावदित्यवधारणे, एनं—चूतवृक्षम्, सम्भावयामि—पयोदानेन अभिनन्दामि । यथा केनचित् बुभुक्षुणा बहुजनसंविधे साध्वसेन किञ्चिद्वक्तुमक्षमतयाऽङ्गुल्यादिचालनमुद्रया क्षुधां स्वप्रियजनें निवेदयति तथैवायं चूतवृक्ष इति चूतवृक्षे तादृशजनव्यवहारसमारोपात्, इह समासोक्तिरलंकारः । व्याहरतीवेत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा च ।

(१) प्रियमिति । मुहूर्त्तम्—किञ्चित्कालम् ।

(२) शकु इति । किं निमित्तम्-केन हेतुना तिष्ठामीति शेषः ।

(३) प्रियमिति । लतासनाथः—लतायुक्त इवेत्युत्प्रेक्षा । लतासहचर इवेति वा । तेन शकुन्तलायां लतासादृश्यमित्युपमालंकारो ध्वन्यते ।

(४) शकु इति । अत एव—एवमेव, प्रियवचनकथनादेव । प्रियं वदतीति—प्रियंवदा 'प्रियवशे वदः खच् ।' अत्र वचने प्रियत्वञ्च—

पल्लवरूपी उँगलियों से जैसे कुछ कहने के लिए बुला रहा है । अच्छा चलो, अभिनन्दन करें ।

(वृक्ष के पास जाती है)

(१) प्रियंवदा—सखि शकुन्तले ! थोड़ी देर यहाँ ही ठहरो ।

(२) शकुन्तला—किस लिए ?

(३) प्रियंवदा—तुम्हारे पास रहने से यह आम का वृक्ष लतासनाथ सा दीखता है ।

(४) शकुन्तला—(मीठी बातें करती हो) इसी से तुम प्रियंवदा कहलाती हो ।

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा (१) । तथाह्यस्याः—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥ २२ ॥

अन—हला शकुन्तले ! इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनतोषिणीति नवमालिका; एनां विस्मृतासि ? (२) (हला सउन्तले ! इअं सअंवरवहु सहआरस्स तुए किदणामहेआ वनदोसिणी त्ति णोमालिआ णं

त्वया स लतासनाथ इवेति प्रियंवदायाः चूतवृक्षे नायिकयेव लतयाऽभूतपूर्वशोभित्वस्याकांक्षया शकुन्तलायाश्च पतिसनाथत्वस्याकांक्षया बोध्यम् । भण्यसे=अस्मद्विधैरभिधीयसे ।

(१) राजेति । अवितथं—सत्यम् । 'वितथं त्वनृतं वच' इत्यमरः । शकुन्तलायां यल्लतासादृश्यं प्रियंवदयाऽरोपितं तदव्यभिचारीत्यर्थः ।

शकुन्तलाया लतासाधर्म्यं साधयितुमाह—तथाहीति । अस्याः—शकुन्तलाया इति श्लोकस्थिताधरादिपदेनान्वयः ।

अधर इति । अधरः=अधरोष्ठः, किसलयस्य-पल्लवस्येव रागो—लौहित्यं यस्य स तथाभूतः । रागेण किसलयतुल्य इति भावः । बाहू-भुजौ, कोमलयोः-मृदुलयोः विटपयोः-स्कन्धोर्ध्वशाखयोः अनुकारिणौ-तत्सदृशावित्यर्थः । तथा अङ्गेषु-शरीरावयवेषु, कुसुममिव-पुष्पमिव, लोभनीयं-चित्ताकर्षकम्, यौवनं-तारुण्यम्, सन्नद्धं—संजातं-स्वात्मना प्रकटीभूतमित्यर्थः । अङ्गेष्विति बहुवचनेन वदने कान्तिमत्त्वम्, नेत्रयोरनुरागः, कण्ठे कम्बुसाम्यं त्रिरेखावत्त्वं च, कुचयोरौन्नत्यम्, नाभौ निम्नत्वम्, नितम्बे मध्यनिम्नत्वं मांसलत्वञ्च, जघनजङ्घाजानुषु मांसलत्वम्, ऊर्वोर्विशालत्वं मृदुलत्वं शीतलत्वं च, पदयोर्मंदालसत्वमित्यादि सूच्यते । कुसुममिति जात्येकवचनम् । अत्रोपमालङ्कारः । पदोच्चयो नाम नाटकलक्षणमुक्तं दर्पणे—

'सञ्चयोऽर्थानुरूपो यः पदानां स पदोच्चयः' इति । आर्या जातिः ॥ २२ ॥

(२) अन इति । सहकारस्य—आम्रवृक्षस्य, स्वयं वृणोतीति स्वयंवरा सा चासौ वधूश्चेति स्वयंवरवधूः । स्वयमेव कृताश्रयणाद्वधूरिव स्थिता इत्यर्थः । तेन लुप्तोपमलंकारः । वनम्-आश्रमोद्यानं तोषयति-सौरभ्येणानन्दयतीति 'वनतोषिणी'

---

(१) राजा—प्रियंवदा सच कहती है । इसका—

अधरोष्ठ नवपल्लव के समान लाल है, दोनों हाथ दो कोमल शाखाओं की भाँति हैं, और फूल के समान सुन्दर दीखने वाला यौवन इसके सब अङ्गों में व्याप्त है ॥ २२ ॥

(२) अनसूया—सखी शकुन्तला ! यह इस आमवृक्ष की स्वयंवर (अपने आप वर

विसुमरिदासि ? ।)

शकु—तत आत्मानमपि विस्मरिष्यामि । [लतामुपेत्य अवलोक्य च] हला ! रमणीयः खलु कालः अस्य पादपमिथुनस्य रतिकरः संवृत्तः । येन नवकुसुमयौवना नवमालिका, अयमपि बहुफलतया उपभोगक्षमः सहकारः (१) । [तदो अत्ताणंपि विसुमरिस्सं । हला ? रमणीओ क्खु कालो

इति-इत्थम्, त्वया—शकुन्तलया कृतं नामधेयं—नाम यस्याः सा तथोक्ता नवमालिका । एनां-नवमालिकां विस्मृताऽसि ? नो चेदेतदवधिकालं कथं न तत्र जल मदाः । स्मृधातोर्ज्ञानार्थत्वाद्वर्तमाने कर्त्तरि क्तः ।

(१) शकु इति । ततः-तर्हि मया, नवमालिकाविस्मरणे कृते सतीत्यर्थः । आत्मान स्वस्वरूपमपि विस्मरिष्यामि । अस्या विस्मरणमात्मविस्मरणवदसम्भव्यमिति भावः । एतेन नवमालिकायां शकुन्तलाया आत्मवत्प्रेमातिरेको व्यञ्जितः ।

लतां-पूर्वोक्तां नवमालिकाम्, अवलोक्य दृष्ट्वा, सकौतुकमाह-हलेति । पादपमिथुनस्य-नवमालिकासहकारयोः, पादपशब्दस्य तरुलतासाधारण्यात् । रतिकरः—प्रेमवर्द्धकः सुरतयोग्यश्च, कालः समयः संवृत्तः उपस्थितः ।

तत्र हेतुं दर्शयति-येनेति । नवं कुसुमं-पुष्पं स्त्रीपक्षे रजश्च यस्मिन् तथाभूतं यौवनं-तारुण्यं यस्याः सा तादृशी तवमालिका-वनतोषिणी । 'कुसुमं स्त्रीरजः पुष्पम्' इति त्रिकाण्डशेषः । बहूनि फलानि-आम्राणि, 'पुरुषपक्षे रेतांसि यस्य तस्य भावस्तया 'लाभनिष्पत्तिभोगेषु फले बीजे धने फलम्' इति यादवः । उपभोगक्षमः—लोकैः सेव्यः, अन्यत्र संभोगयोग्यश्च ।

अत्र लिङ्गविशेषणादिना नायकनायिकाव्यवहारसमारोपप्रतीतेः समासोक्तिः । तथा च दर्पणे—

'समासोक्तिःसमैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः । व्यवहारःसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥'

सा च कुसुमफलादिश्लिष्टपदविभवेन श्लेषमूला । तथा लतापादपसिद्धार्थैः समं स्त्रीपुरुषदाम्पत्यरूपाप्रसिद्धार्थप्रकाशनेन श्लिष्टलक्षणचित्रार्थत्वेन च शोभेति नाम नाटकलक्षणम् । तथा च दर्पणे—

'सिद्धैरर्थैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थःप्रकाशते । श्लिष्टलक्षणचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते ॥

पसन्द करने वाली) वधू है । तुम्ही ने तो इस नवमल्लिका का 'वनतोषिणी' नाम रक्खा था ? क्या इसे भूल गयी ?

(१) शकुन्तला—(यदि इसे भूलूँगी) तो अपने को भी भूल जाऊँगी । [लता के पास जाकर और उसे देखकर] सखी ! इन दोनों [वृक्ष तथा लता] का यह अनुराग बढ़ानेवाला समय आ गया है । क्योंकि नवमालिका नवीन कुसुमरूपी यौवन से लदी है ।

इमस्स पादवमिहुणस्स रदिअरो संवुत्तो । जेण णवकुसुमजोव्वणा णोमालिआ अअं पि बहुफलदाए उअभोअक्खमो सहआरो ।) [इति पश्यन्ती तिष्ठति] ।

प्रियं—[सस्मितम्] अनसूये ! जानासि किं निमित्तं शकुन्तला वनतोषिणीमतिमात्रं प्रेक्षत इति (१) । (अणसूए ! जाणासि किं णिमित्तं सउन्तला वणदोसिणीं अदिमेत्तं पेक्खदि त्ति ।)

अन—न खलु विभावयामि, तत् कथय मे (२) । (ण क्खु विभावेमि, ता कधेहि मे ।

प्रियं—यथा वनतोषिणी अनुरूपेण पादपेन सङ्गता, तथा अहमपि आत्मनः अनुरूपं वरं लभेय इति (३) । (जह वणदोसिणी अणुरूवेण पादवेण

पश्यन्ती—साभिलाषमवलोकयन्ती, तिष्ठति । एतेन शकुन्तलायास्तादृश्युवकसम्मेलनेच्छा संसूच्यते । अयं च तस्याः प्रथमचित्तविकाररूपो भावः । तथोक्तं दर्पणे—'निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया' इति ।

(१) प्रियमिति । सस्मितमिति शकुन्तलायास्तथैवाभिलाष इति यथा तत्त्वसंवेदनादिति भावः । अतिमात्रं—मुहुर्मुहुः, प्रेक्षते—पर्यवलोकयति ।

(२) अनेति । विभावयामि—अवधारयामि, तन्निमित्तमिति भावः । एतेन श्रवणात्रहितत्वं सूच्यते ।

(३) प्रियमिति । शकुन्तलाया मनोभावं विशदीकरोति—यथेति । अनुरूपेण-रूपादिगुणैः सदृशेन, सङ्गता—सम्मिलिता, आत्मनः अनुरूपं—रूपादिगुणैः सदृशम्, लभेयेति ममाप्येवमनुरूपो वरो भवत्विति प्रार्थना । इति—अस्मात्कारणात्, अतिमात्रं प्रेक्षत इति पूर्वेण सम्बन्धः ।

सहकार भी बहुत फलों से लदे रहने के कारण इनका उपभोग करने में समर्थ हो गया है ।

(देखती हुई खड़ी हो जाती है ।)

(१) प्रियंवदा-(मुस्कुराती हुई) अनसूया ! तू जानती है कि शकुन्तला वनतोषिणी को सबसे अधिक क्यों देखती है ।

(२) अनसूया—मैं नहीं जानती, मुझे बताओ ।

(३) प्रियंवदा—जैसे वनतोषिणी अपने अनुरूप वृक्ष की जीवनसंगिनी बन गयी है, उसी तरह मैं भी अपने अनुरूप वर पाऊँ, इसलिए ।

सञ्जदा, तह अहंपि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअं त्ति ।)

शकु—एष ते आत्मनश्चित्तगतो मनोरथः (१)। (एस दे अत्तणो चित्तगदो मणोरहो) [इति कलसमावर्जयति]।

अन—हला शकुन्तले ! इयं ताताकण्वेन त्वमिव स्वहस्तेन संवर्द्धिता माधवीलता, तत् कथमिमां विस्मृतासि ? (२)। (हला सउन्तले ! इअं तादकण्णेण तुमं विअ सहत्थेण संवड्ढिदा माहवीलदा, ता कधं इमं विसुमरिदासि?)

शकु—तत आत्मानमपि विस्मरिष्यामि। (लतामुपेत्यावलोक्य च सहर्षम्) आश्चर्यमाश्चर्यम् । प्रियंवदे ! प्रियं ते निवेदयामि (३)। (तदो अत्ताणंपि विसुमरिस्सं । अच्चरीअं अच्चरीअं, पिअंवदे ! पिअं दे णिवेदेमि ।)

प्रियं-सखि ! किं मे प्रियम् ? । (सहि ! किं मे पिअं ? ।) (४)

शकु—असमये खल्वेषा आमूलात् मुकुलिता माधवीलता (५)। (असमए क्खु एसा आमूलादो मुउलिदा माहवीलदा ।)

---

(१) शकु इति । आत्मनः—निजस्यैव, मनोरथः—अभिलाषः, न तु ममेति भावः । त्वं हि निजानुरूपं वरमाकांक्षसे न त्वहमित्यर्थः। आवर्जयति—जलदानायाधोमुखं करोति, पादपमिथुनालवाले इति शेषः ।

(२) अनेति । त्वमिवेति माधवीलतायां निरतिशयवात्सल्यं द्योत्यते । विस्मृतासि, जलं दातुमिति भावः ।

(३) शकु इति । आत्मानमपि विस्मरिष्यामि-यथा नाम आत्मा हिताहितविषये सततमविस्मरणीयस्तथेयमपि अविस्मरणीयेति भावः ।

(४) प्रियमिति । किमिति प्रश्ने । मे-मम, प्रियम्-प्रीतिकरं यत्त्वं निवेदयसीति शेषः ।

(५)शकु इति । मुकुलानि सञ्जातानि अस्या इति मुकुलिता, तारकादित्वादितच् ।

---

(१) शकुन्तला—यह तुम्हारे मन की बात है । (घड़ा उड़ेलती है)

(२) अनसूया—सखी शकुन्तला ! पिता कण्व ने इस माधवीलता को भी तुम्हारे साथ ही साथ अपने हाथ से सींचकर बड़ा किया है, क्या इसे भूल गयी ?

(३) शकुन्तला—तो मैं अपने को भी भूल जाऊँगी (लता के पास जाकर और उसे देखकर हर्ष के साथ) आश्चर्य है, मैं तुम्हें प्रिय लगनेवाली बात कहती हूँ ।

(४) प्रियंवदा—वह मुझे प्रिय लगने वाली कौन सी बात है ।

(५) शकुन्तला—यह माधवीलता असमय में मूलभाग से लेकर अन्त तक मुकुलित हो गयी है (कलियों से लद गयी है)।

उभे—[सत्वरमुपगम्य] सखि ! सत्यं सत्यम् ? (१)। (सहि ! सच्चं सच्चं ? ।)

शकु—सत्यं किं न प्रेक्षेथे (२)। (सच्चं किं ण पेक्खध ।)

प्रियं—(सहर्षं निरूप्य) सखि ! तेन हि प्रतिप्रियं ते निवेदयामि (३)। (सहि ! तेण हि पडिप्पिअं दे णिवेदेमि ।)

शकु—किं मे प्रतिप्रियम् ? (४)। (किं मे पडिप्पिअं ? ।)

प्रियं—आसन्नपाणिग्रहणासि त्वम् (५)। [आसण्णपाणिग्गहणासि तुमं ।]

शकु—[सासूयमिव] एष ते आत्मनश्चित्तगतो मनोरथः, तन्न ते वचनं श्रोष्यामि (६)। [एस दे अत्तणो चित्तगदो मणोरहो, ता ण दे वअणं सुणिस्सं ।]

प्रियं—सखि ! न खलु ते परिहासेन भणामि, श्रुतं मया तातकण्वस्य मुखात् तव कल्याणसूचकम् एतन्निमित्तमिति (७)। [सहि ! ण क्खु परि-

---

(१) उभे इति । सत्वरं-शीघ्रम्, उपगम्य-माधवीलतासमीपं गत्वा, असमये मुकुलानामाश्चर्यविधायकत्वात् गमनशैघ्र्यं बोध्यम् ।

(५) प्रियमिति । आसन्नं सन्निहितं पाणिग्रहणं-विवाहो यस्याः सा तथोक्ता ।

(६) शकु इति । सासूयमिव—भ्रुकुट्यादिना बही रोषं सूचयित्वेवेत्यर्थः । न त्वन्तरिति भावः । एतेन सा पाणिग्रहणाभिलाषिणीति सूच्यते । आत्मनः-स्वस्यैव, एषः-पाणिग्रहणरूपः, मनोरथः-अभिलाषः । न तु ममेति भावः । तत्-तस्मात्, स्वयं पाणिग्रहणमभिलष्य ममोपरि तस्यारोपादित्यर्थः । न ते—तव, वचनं श्रोष्यामि, अन्तर्भावस्तु पाणिग्रहणवार्त्ताकरणात् श्रोष्यामीति ।

(७) प्रियमिति । परिहासेन-लीलाकरणच्छलेनेत्यर्थः । एतत्—आसामयिक-

---

(१) दोनों—(तुरन्त पास जाकर) सखी ! सच है सच ?

(२) शकुन्तला—पूछती क्या हो, देखती नहीं ?

(३) प्रियंवदा—(सहर्ष देखकर) सखी ! इसके बदले मैं भी तुम्हें एक प्रिय बात सुनती हूँ ।

(४) शकुन्तला—मेरे लिये कौन सी प्रिय बात है ?

(५) प्रियंवदा—शीघ्र ही तुम्हारा ब्याह होनेवाला है ।

(६) शकुन्तला—(कोसती हुई सी) यह तुम्हारे मन की बात है । अब मैं तुम्हारी बात नहीं सुनूँगी ।

(७) प्रियंवदा—सखी ! मैं परिहास नहीं करती । मैंने पिता कण्व के मुख से सुना

हासेण भणामि, सुदं मए तादकण्णस्स मुहादो तुह कल्लाणसूअअं एदं णिमित्तं त्ति ।

अन—हला प्रियंवदे ! अत एव सस्नेहा शकुन्तला माधवीलतां सिञ्चति (१) । (हला पिअंवदे । अदो ससिणेहा सउन्तला माहवीलदं सिञ्चदि ।)

शकु—यतो भगिनी मे भवति, ततः किमिति न सिञ्चामि (२) । (जदो बहिणी मे भोदि, तदो किं त्ति ण सिञ्चेमि ।) [इति कलसमावर्जयति] ।

राजा— अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा भवेत् ? अथवा कृतं सन्देहेन (३)—

माधवीलतामुकुलरूपं, निमित्तं—लक्षणम्, कल्याणसूचकं-पाणिग्रहणरूपशुभनिवेदकमित्यर्थः । एकदा तातेन कथितं यत्—माधवीलताया यदि असमये मुकुलानि भवेयुः तर्हि शकुन्तलायाः पाणिग्रहणमवश्यं भविष्यतीति भावार्थः ।

(१) अनेति । अत एव-असमये मुकुलोद्गमेन तस्याः पाणिग्रहणरूपमङ्गलज्ञापकादेवेत्यर्थः ।

(२) शकु इति । यतः-यस्मात् कारणात् । भगिनी—एककण्वपरिवर्द्धितत्वाद् भगिनीरूपेत्यर्थः, माधवीलतेति शेषः । अनेन स्नेहबाहुल्यं सूच्यते । आवर्जयति—जलसेचनायाधोमुखं करोतीत्यर्थः ।

(३) राजेति । अपि नामेति सम्भावनायाम् । इयं—शकुन्तला, कुलपतेः—अयुतशिष्यपोषकस्य कण्वस्य, असवर्णम्—असमानं क्षत्रियादि क्षेत्रं—कलत्रं तत्र सम्भवः—जन्म यस्याः सा तथोक्ता, 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रित्यमरः । स्यात्—भवेत् , यदीयं ब्राह्मणेतरजातीयपत्नीगर्भसम्भूता स्यात् तर्हि मे परिणययोग्या भवेदन्यथा शास्त्रनिषेधात् अभिलाषो व्यर्थ इति भावः । तथा च स्मृतिः—

'शूद्रस्य भार्या शूद्रैव सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा च क्षत्रियस्य ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥' इति ।

पूर्वोक्तमाक्षिपति—अथवेति । सन्देहेन—आशङ्कया, कृतम्—अलम्, सन्देहो न कार्य इत्यर्थः । 'वारणार्थयोगे तृतीया' इति तृतीया ।

था कि यह निमित्त (माधवीलता का मुकुलित होना) तेरे लिये कल्याणसूचक है ।

(१) अन—सखी प्रियंवदा ! इसीसे शकुन्तला माधवीलताको बड़े चावसे सींचती है ।

(२) शकुन्तला—जब यह मेरी बहन है, तो मैं इसे क्यों न सीचूँ ? (घड़ा उँड़ेलती है) ।

(३) राजा—तो क्या यह कुलपति (कण्व) की ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी और वर्ण से उत्पन्न कन्या है ? अथवा सन्देह करना व्यर्थ है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ २३ ॥
तथापि तत्त्वत एवैनामुपलप्स्ये (१) ।
शकु—[ससम्भ्रमम्] अम्मो ? (२) सलिलसेकसम्भ्रमोद्गतो नवमालिका-

तदेव द्रढयति—असंशयमिति । असंशयं-नूनमेव, इयं शकुन्तलेति अनुपज्यते, क्षत्रस्य-क्षत्रियस्य परिग्रहक्षमा-पत्नीत्वेन ग्रहणयोग्या, 'क्षत्रं क्षत्रियराजन्यौ' इति नाममाला, 'परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः' इति विश्वः । यत्-यस्मात्, मे—विद्याविनयादिगुणसम्पन्नस्य मम, आर्यं—निषिद्धाचरणविमुखत्वेन साधु, निर्दोषमिति यावत्, मनः—अन्तःकरणम्, अस्यां-शकुन्तलायाम्, अभिलाषि-अभिलाषयुक्तं भवतीति शेषः । अर्थान्तरं न्यस्यति—सतामिति । हि-यस्मात्, सन्देहपदेषु-संशयास्पदेषु, वस्तुषु-विषयेषु, सतां-सज्जनानाम्, अन्तःकरणस्य-मनसः प्रवृत्तयः-प्रवर्त्तनानि, प्रमाणं—निर्णयहेतुः । तथाह मनुः—'साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च' इति । तथा च अस्यां शकुन्तलायां मदन्तःकरणस्य बलवत्प्रवृत्तत्वादियमवश्यं क्षत्रपरिग्रहयोग्येति भावः ।

अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः, एवं मत्परिग्रहक्षमेति नोक्त्वा क्षत्रपरिग्रहक्षमेति सामान्योक्तेरप्रस्तुतप्रशंसा । तया च नायकगतमौचित्यं ध्वनितम् ।

तथा राज्ञः शकुन्तलायामनुरागस्य काव्यार्थस्य निश्चितत्वेनोपन्यासात्परिन्यासो नाम मुखसन्धेरङ्गम्, तदुक्तं दर्पणे—'तन्निष्पत्तिः परिन्यासः' इति । अन्तःकरणप्रवृत्तयः प्रमाणमिति वेदाः प्रमाणमितिवद् अजहल्लिङ्गत्वात् बहुत्वावच्छिन्नप्रवृत्तेरेकप्रमाणत्वाच्च भिन्नलिङ्गवचनत्वे । वंशस्थविलवृत्तम् ॥ २३ ॥

(१) तथापीति । इयं क्षत्रपरिग्रहक्षमेति अन्तःकरणप्रवृत्तिप्रमाणेन निश्चितेऽपीत्यर्थः । तत्त्वतः-सखीसकाशात् शब्दादिप्रमाणेन यथार्थतः, एनां-शकुन्तलाम्, उपलप्स्ये-ज्ञास्यामि । अन्तःकरणप्रवृत्तिरूपप्रमाणस्यापि कदाचिद्व्यभिचारदर्शनात् सखीनां मुखादस्या यथावस्थितिमवगमिष्यामीत्यर्थः ।

(२) शकु इति । ससंभ्रमं—सोद्वेगम्, अम्म इति विस्मये, 'विस्मये दुःसहे

इसमें सन्देह नहीं कि यह क्षत्रिय के ग्रहण करने योग्य है । क्योंकि मेरा साधु मन इसे चाहता है । किसी सन्दिग्ध वस्तु में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं ॥ २३ ॥

(१) फिर भी यथार्थ बात तो यह है कि मैं इसे अवश्य पाऊँगा !

(२) शकुन्तला—(घबराहट के साथ) ओह ! पानी डालने पर अचकचा कर यह

मुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते । (अम्मो ! सलिलसेअसम्भमुग्गदो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टदि ।) [इति भ्रमरबाधां नाटयति] ।

राजा—[सस्पृहं विलोक्य] साधु बाधनमपि रमणीयमस्याः (१)

यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्त्तते ततस्ततः प्रेरितवामलोचना ।
विवर्त्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते भयादकामापि हि दृष्टिविभ्रमम् ॥२४॥

अम्मो नित्यं स्त्रीभिः प्रयुज्यते' इति भरतवचनात् । सलिलसेकेन-जलसेचनेन यः सम्भ्रमः-त्वरा तेन उद्गतः उड्डीनः, मधुकरः-भ्रमरः, नवमालिकाम् उज्झित्वा-त्यक्त्वा, मे-मम, वदनं-मुखम्, अभिवर्त्तते-लक्ष्यीकृत्याऽऽगच्छतीत्यर्थः । अनेनास्याः पद्मिनीत्वं व्यज्यते । तथा चोक्तम्—

'कमलमुकुलमृद्वी फुल्लराजीवगन्धा सुरतपयसि यस्याः सौरभं दिव्यमङ्गे । इति ।

भ्रमरस्य बाधां-निराकरणम्; नाटयति अभिनयति ।

(१) राजेति । सस्पृहं तद्गतचित्ततया साभिलाषम्, विलोक्य-दृष्ट्वा कथयतीति शेषः । साधु-शोभनम्, बाधनम्-भ्रमरनिराकरणम्, अस्याः शकुन्तलायाः ।

भ्रमरबाधने मनोहरत्वं स्पष्टयति—यत इति । हि,यस्मात् , षट्चरणः-भ्रमरः यतो यतः-यस्यां यस्यां दिशि, सलग्यास्तलिक् , अभिवर्त्तते-अस्या मुखं लक्ष्यीकृत्य भ्रमति । ततस्ततः-तस्यां तस्यां दिशि, प्रेरिते-चालिते वामे-सुन्दरे लोचने-नयने यया सा तथोक्ता 'वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे' इति विश्वः, 'वामो वल्गुप्रतीपयोः' इत्यमरोऽपि, तथा विवर्त्तिते-प्रतिक्षणं परिवर्तिते भ्रुवौ-दृग्भ्यामूर्ध्वभागौ यया सा तथोक्ता सती, इयं शकुन्तला, अकामापि-अकारणादप्रवृत्तमदनापि शिक्षितुमनभिलषन्त्यपि वा, भयात्-भ्रमरदर्शनभीत्या, अद्य-अधुना, दृष्टिविभ्रमं-दृग्विलासं, भविष्यत्प्रियतमनायके मनोवृत्तिप्रकाशनायेति भावः, शिक्षते-अभ्यसितुं प्रवर्त्तत इवेत्यर्थः । सामान्यतो दृष्टिविभ्रमरूपं कार्यं प्रति सकामत्वस्य कारणत्वम् । अत्र तु तस्याकामेत्यादिना प्रतिषेधादहेतुककार्योत्पत्त्या विभावनालंकारः । यथोक्तं दर्पणे—

'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते' इति ।

स च भयादित्यन्यकारणाभिधानादुक्तनिमित्तः । तदुक्तं तत्रैव—'उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा' इति । तथा शिक्षत इत्यत्र शिक्षत इवेति सम्भावनाप्रतीतेरुत्प्रेक्षा-

---

भौंरा नवमालती को छोड़कर मेरे मुँह की ओर दौड़ रहा है । (भौंरे को भगाने का नाट्य करती है) ।

(१) राजा—(स्पृहा के साथ देखकर) वाह ! भ्रमर को हटाने की इसकी चेष्टा भी कैसी सुन्दर मालूम होती है । (क्योंकि—)

यह भौंरा जिस ओर जाता है, उसी ओर यह अपने सुन्दर नेत्रों को घुमाती है ।

अपि च—[सासूयमिव] [१]।

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर! हतास्त्वं खलु कृती ॥२५॥

लंकारः। स च सम्भावनाव्यञ्जकेवशब्दाभावात् प्रतीयमानः। अनयोः पुरस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। वंशस्थविलं नाम वृत्तम् ॥ २४ ॥

(१) अपि चेति। सासूयमिव—असूयासहितमिव। वक्ष्यमाणक्रमेण शकुन्तलायां भ्रमरस्य कृतित्वदर्शनादात्मनश्चाक्षमता राज्ञः सासूयत्वम्।

चलेति। मधुकर!—हे भ्रमर!, करं-पाणिं व्याधुन्वत्याः—भ्रमरनिराकरणाय इतस्ततो विलोलयन्त्याः अस्याः शकुन्तलाया इति शेषः, वेपथुमतीं—त्वद्भयेन आरोपपक्षे कामावेगेन कम्पमानाम्, अतिचपलामिति यावत्, अत एव चलौ—चञ्चलौ अपाङ्गौ—नेत्रप्रान्तभागौ यस्यास्तथाभूताम्, 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः, दृष्टिं—नयनं तद्द्वयमिति भावः, बहुशः वारं वारं स्पृशसि दंष्टुमित्यर्थः, आरोपपक्षे चुम्बसि। रहस्यं-गोप्यमाचष्टे आख्याति वेति रहस्याख्यायी स इव, कर्णान्तिकचरः—श्रवणेन्द्रियसमीपगामी सन्, मृदु-कोमलं मन्दं वा यथा स्यात्तथा स्वनसि—शब्दं करोषि, आरोपपक्षे ब्रवीषि। तथा रतिसर्वस्वं रतेः—सुरतेच्छायाः सर्वस्वं-प्रधानकारणम्, यद्वा रतौ सर्वस्वमिवादरणीयम्, यद्वा रतेः—कामपत्न्याः सर्वस्वं—युवजये परमसहायम्, अधरं-दन्तच्छदं पिबसि-दशसि, आरोपपक्षे चुम्बसि। अत एव वयम्—अर्थादहम्, तत्त्वान्वेषात्-'कस्येयं कन्या? का वेयम्? मम परिग्रहक्षमा न वा?' इत्यादितथ्यानुसन्धानात्, हताः-हतप्रायाः, वञ्चिता इति यावत्, दैवेनेति शेषः। किन्तु त्वं खलु-नूनं, कृती-कृतकर्मा धन्य इत्यर्थः।

अत्र दृष्टिस्पर्शनमृदुकथनाधरपानरूपतथाभूतकार्येण मधुकरे प्रच्छन्नश्रृङ्गारिनायकव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः। 'वयं तत्त्वान्वेषाद् हताः त्वं खलु कृती' इत्युपमानाधिक्याद् व्यतिरेकः। मधुकरकृतित्वे प्रथमत्रिचरणगतवाक्यार्थानां हेतुत्वेनो-

(इससे ज्ञात होता है कि) यद्यपि शकुन्तला कामवासना से रहित है, फिर भी भयवश आंखें नचाना सीख रही हैं ॥ २४ ॥

(१) और (असूया के साथ)—

ओ भ्रमर! शकुन्तला बार बार हाथ से हटाती है, फिर भी तू उसके चञ्चल नेत्रों को छूता है, गुप्त भाषाभाषी के समान इसके कानों के समीप जाकर मीठी बातें गुनगुनाता है,

अपि च—लोलां दृष्टिमितस्ततो वितनुते सभ्रूलताविभ्रमा-
माभुग्नेन विवर्तिता वलिमता मध्येन कम्रस्तनी।
हस्ताग्रं विधुनोति पल्लवनिभं शीत्कारभिन्नाधरा
जातेयं भ्रमराभिलङ्घनभिया वाद्यैर्विना नर्त्तकी ॥ २६ ॥

पन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकः काव्यलिङ्गालंकारः। रहस्याख्यायीवेति क्रियोत्प्रेक्षा। इत्येषामलंकाराणां परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। शिखरिणी नाम वृत्तम् ॥ २५ ॥

लोलामिति। कम्रौ-शोभनौ स्पृहणीयावित्यर्थः, स्तनौ यस्याः सा, इयं शकुन्तला, भ्रुवौ लते इव तयोर्विभ्रमेण-विलासेन सह वर्तत इति तां सभ्रूलताविभ्रमाम्, लोलां-चञ्चलाम्, दृष्टिं-नयनम्, इतस्ततः-सर्वासु दिक्षु, वितनुते-विक्षिपति विस्तार्य चालयतीत्यर्थः। कुतो भ्रमर आगच्छतीति परिज्ञानार्थमिति भावः। आभुग्नेन-ईषद्वक्रेण, वलिमता त्रिवलियुक्तेन, मध्येन-शरीरमध्यभागेन, विवर्तिता-परिवर्त्तिता, आत्मानं भ्रमरदंशनात्त्रातुमिति भावः। तथा शीत्कारेण-भ्रमरभयोत्पादितेन शीच्छीदिति शब्देन भिन्नौ-विश्लिष्टौ अधरौ-ओष्ठयुगलौ यस्याः सा तथाभूता सती, पल्लवनिभं-किसलयोपमम्, हस्ताग्रस्यातिकोमलत्वात् रक्तवर्णत्वाच्चेति भावः, हस्ताग्रं हस्तस्याग्रभागम्, विधुनोति—भ्रमरनिराकरणाय कम्पयति। अत एव भ्रमरेण यदभिलङ्घनं-बाधनं तस्मात् या भीः-भयं तया, वाद्यैर्विना नृत्योचितवाद्याभावेनापि, नर्त्तकी-नर्त्तकीप्राया जाता।

अत्र 'वाद्यैर्विना नर्त्तकी' इति नृत्यं प्रति दृष्टिविक्षेपशरीरचालनहस्ताग्रविधूननादिरूपप्रथमपादत्रयगतवाक्यार्थानां हेतुत्वाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। यदुक्तं विश्वनाथेन—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति। 'नर्त्तकीधर्माणामुपादानात् तुल्ययोगिता' इति केचित्। 'वाद्यैर्विना' इति विधानादधिकारूढवैशिष्ट्यरूपं रूपकम्। भ्रुवौ लतेव पल्लवनिभमित्यत्र चोपमा। नर्त्तकीत्यत्र नर्त्तकीवेति सम्भावनाप्रतीयमानोत्प्रेक्षेति कश्चित्। एतेषामलंकाराणां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। शार्दूलविक्रीडितं नाम वृत्तम् ॥ २६ ॥

इसके रतिसर्वस्व अधर का पान करता है। हम तत्त्वान्वेषण में लग कर असफल रहे और तू ने सफलता प्राप्त कर ली ॥ २५ ॥

और—

यह सुन्दर स्तनों वाली शकुन्तला भ्रूविलास के साथ अपनी चंचल दृष्टि इधर-उधर घुमा रही है, कुछ तिरछे और तरंगशाली मध्यभाग को इधर-उधर मोड़ रही है, पल्लव के समान कोमल हाथ झटकारती है और जब सीत्कार करने लगती है तो दोनों होंठ अलग-अलग हो जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि भ्रमर के कटने के भय से यह बिना बाजों के ही नर्तकी बन गयी है ॥ २६ ॥

शकु—हला ! परित्रायेथां परित्रायेथां मामनेन दुष्टमधुकरेणाभिभूयमानाम् (१)। (हला ! परित्ताअध परित्ताअध मं इमिणा दुट्ठमहुअरेण अहिहूअमाणं।)

उभे—[सस्मितम्] के आवां परित्राणे ? अत्र तावत् दुष्यन्तमाक्रन्द, यतो राजरक्षितानि तपोवनानि (२)। (का अम्हो परित्ताणे ? एत्थ दाव दुस्सन्दं अक्कन्द, जदो राअरक्खिदाइं तवोवणाइं !)

राजा—अवसरः खल्वयमस्माकमात्मानं दर्शयितुम्। न भेतव्यं न भेतव्यम् । [इत्यर्द्धोक्ते स्वगतम्] एवं हि राजाहमस्तीति परिज्ञानं भविष्यति ! भवतु अतिथिसमाचारमेवावलम्बिष्ये (३) ।

---

(१) शकु इति । परित्रायेथामिति मुग्धात्वेन कातरोक्तिः । युवामिति भावः । अभिभूयमानां—व्याकुलीक्रियमाणाम् ।

(२) उभे इति । अनसूयाप्रियंवदे इत्यर्थः । सस्मितमिति—सेपहासमित्यर्थः । साधारणभ्रमराक्रमणेनैवेयं शकुन्तलेऽत्यधीरा भवतीति सोपहासमिति भावः । परित्राणे—भ्रमराक्रमणाद्रक्षणे, आवाम्—अनसूयाप्रियंवदे, के—अक्षमे इत्यर्थः, स्वह्लव स्त्रीस्वभावादिति भावः । दुष्यन्तं—तपोवनाधिपतिं राजानम्, आक्रन्द—आह्वय, तपोवनानां राजरक्षितत्वादिति भावः 'आक्रन्दः क्रन्दनाह्वाने' इति विश्वः, 'क्रन्दने रोदनाह्वाने' इत्यमरश्च । तत्र हेतुमाहतुः—यत इति ।

(३) राजेति । अवसरः—समयः, यद्विषयकचर्चोत्थापनादित्याशयः । न भेतव्यं—भयं मा कुरु । अर्द्धोक्ते—वाक्यस्यार्द्धोच्चारणं कृत्वेत्यर्थः । स्वगतम्—आत्मगतम्, अश्राव्यमिति यावत् । एवं हि—दुष्यन्तविषयकप्रस्तावनासमकालमात्मप्रकाशे कृते । अहं राजा—दुष्यन्तः । परिज्ञानं—परिचयः । तेन प्रशान्तेऽस्मिन् तपोवने हठान्मुनिकन्यानां समीपे कथं राजोपस्थित इति संशयः स्यादिति भावः । भवतु—अस्तु सर्वत्रातिथयोऽबाध्यमानप्रसरा भवन्तीति संशयो न भविष्यतीति बुद्ध्येति भावः । अस्य 'परिज्ञानमिति पूर्वपदेन साकं सम्बन्धः । अतिथेः—आगन्तुकस्य समाचारं—व्यवहारम्, अवलम्बिष्ये-आश्रयिष्ये, उदासीनवदाचरामीत्यर्थः ।

---

(१) शकुन्तला—सखी ! इस दुष्ट मधुकर ने मुझे परेशान कर दिया है, इससे मुझे बचाओ-बचाओ ।

(२) दोनों-(मुस्करा कर) हम रक्षा करनेवाली कौन हैं ? इसके लिये राजा दुष्यन्त को पुकारो, जिससे इस तपोवन की रक्षा होती है ।

(३) राजा—मेरे प्रकट होने का यही अवसर है । मत डरो, मत डरो । (इतन आधा वाक्य कह कर सोचता है ।) यदि ऐसा करूंगा तो ये समझ जायें कि 'मैं ही राजा दुष्यन्त हूँ' । अच्छा कोई हर्ज नहीं । इससे मैं इनका अतिथि तो बन जाऊँगा ।

शकु—नैष दुर्विनीतो विरमति, तदन्यतो गमिष्यामि। हा धिक्! हा धिक्! कथमितोऽपि मामनुसरति तत् परित्रायेथां माम्। [पदान्तरे सदृष्टिक्षेपम्] (१) (ण एसो दुव्विणीदो विरमदि, ता अण्णदो गमिस्सं। हद्धी! हद्धी! कधं इदो वि मं अणुसरदि, ता परित्ताअध मं।)

राजा—[सत्वरमुपगम्य] आ! (२)।

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु॥ २७॥

---

(१) शकु इति। दुर्विनीतः—दुर्णयकारी, एषः-मधुकरः, न विरमति—विरतिं न लभते, बाधनादिति शेषः। अन्यतः-अन्यस्मिन् स्थाने। अन्यत्पदमिति पदान्तरं तस्मिन् पदान्तरे—स्थानान्तरे गत्वेति शेषः। दृष्ट्याः क्षेपो—भ्रमराधिष्ठितस्थाने दृष्टिदानं तेन सह वर्तत इति सदृष्टिक्षेपम्, भ्रमरो विरतो न वेति परिज्ञानार्थमिति भावः। हा धिगिति विषादे। इतोऽपि—अस्मिन् स्थानेऽपि, सप्तम्यां तसिल्।

(२) राजेति। सत्वरं—त्वरितम्, उपगम्य-शकुन्तलादीनां समीपं गत्वा, आहेति शेषः। आ इति कोपप्रकाशे, 'आस्तु स्यात् कोपपीडयो'रित्यमरः।

क इति। दुर्विनीतानाम्—अविनीतानाम्; दुष्टानाम्, शासितरि-दण्डादिना शासनकर्त्तरि, पौरवे—पुरुवंशप्रसूते राजनि, वसुमतीं—रत्नगर्भां वसुन्धराम्, अनेन रक्षणीयत्वं ध्वन्यते, शासति—पालयति सति, कोऽयम्, मुग्धासु—स्वभावसरलासु, तपस्विकन्यासु, तपस्विपदेनात्यन्तासम्भाव्याविनयस्थानत्वं व्यज्यते, अविनयम्-असदाचारम्, आचरति,-व्यवहरति? स मे सर्वथा दण्ड्य इति भावः। अहो प्रभावो भगवतः कामदेवस्य यद्धीरस्यापि राज्ञो दुष्यन्तस्य धियं तुच्छभ्रमरास्फालने चालयामासेति धन्यं रचनाकौशलं कविवरस्य।

अत्र भ्रमर इति मयि—दुष्यन्त इति शकुन्तलायाञ्चेति प्रस्तुतानां प्रतिपाद्यानां कोऽयमिति पौरव इति तपस्विकन्यास्विति अप्रस्तुतैर्निबन्धनादप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः। तेन च स्वप्रतापस्य व्यापकत्वं राजभावगोपनञ्च ध्वन्यते। अत्र दण्डलक्षणं सान्ध्यङ्गान्तरमुपक्षिप्तम्। तदुक्तं सुधाकरे—'दण्डस्त्वविनयादीनां दृष्टया श्रुत्या च तर्जनम्' इति। 'शासति शासितरि' इत्यत्र छेकानुप्रासः। आर्या जातिः॥ २७॥

---

(१) शकुन्तला—यह दुष्ट भ्रमर नहीं मानता। इस कारण मैं दूसरी जगह चली जाती हूँ। (आँखों से देखती हुई पैर बढ़ाती है।) हाय, हाय! यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ता। अतः मेरी रक्षा करो—मुझे इससे बचाओ!

(२) राजा—(झटपट सामने आकर) ओह!

दुष्टों पर शासन करनेवाले पुरुवंशी राजा जब पृथ्वी का शासन कर रहे हैं तो इन सरल स्वभाववाली तपस्विकन्याओं पर कौन अन्याय कर रहा है॥ २७॥

[सर्वा राजानं दृष्ट्वा किञ्चिदिव सम्भ्रान्ताः ।] (१)

सख्यौ—आर्य ! न किमपि अत्याहितम् , किन्तु खलु इयं प्रियसखी दुष्टमधुकरेण आकुलीक्रियमाणा कातरीभूता (२) । (अज्ज ! ण किंपि अचाहिदं किण्णु क्खु इअं पिअसहि दुट्ठमहुअरेण आउलीकिअमाणा कादरीभूदा ।) [इति शकुन्तलां दर्शयतः ।]

राजा—[शकुन्तलामुपेत्य] अयि ! तपो वर्द्धते ? (३)

शकु—[ससाध्वसावनतमुखी तिष्ठति ।] (४)

अन—इदानीम् अतिथिविशेषलाभेन (५) । (दाणि अदिधिविसेसलाहेण) ।

---

(१) सर्वा इति । सर्वाः—ताः कन्याः, सम्भ्रान्ताः—चकिताः, कस्येदं महापुरुषस्यातर्कितमागमनमिति बुद्ध्येति भावः ।

(२) सख्याविति । अत्याहितम्—महाभीतिः, 'अत्याहितं महाभीतिः कर्मजीवानपेक्षि च' इत्यमरः । प्रियसखीत्यनेन शकुन्तलायां सख्योः स्नेहातिशयः सूच्यते तस्याः प्राधान्यं च । शकुन्तलां दर्शयत इति । शकुन्तलायाः प्रदर्शनं स्ववाक्यस्य सत्यताप्रतिपादनार्थेति बोध्यम् ।

(३) राजेति । अयीति कोमलामन्त्रणे । तपो वर्द्धते—निर्विघ्नेन तपो वर्तते ननु ? इत्यर्थः ।

(४) शकु इति । साध्वसेन—भयेन लज्जया वा सह वर्तते इति ससाध्वसा, अतर्कितोपगतमहापुरुषदर्शनादिति भावः । अवनतमुखी—नम्रमुखी किञ्चिदुत्तरमदत्त्वेति शेषः ।

(५) अनेति । तस्यामेवम्भूतायां सत्यां कर्त्तव्यधियाऽनसूया प्रतिवक्ति—इदानीमिति । विशिष्टोऽतिथिरित्यतिथिविशेषस्तस्य लाभेन—प्राप्त्या, भवल्लाभेनेत्यर्थः, तपो वर्द्धत इति पूर्वेणानुषज्यते । अनेनानुवृत्तिनामा नाट्यालङ्कार उक्तः । तल्लक्षणं तु—'प्रश्रयादनुवर्त्तनम् अनुवृत्तिः' इति दर्पणे ।

---

(१) (सब राजा को देखकर कुछ घबड़ा सी जाती हैं ।)

(२) दोनों सखियाँ—आर्य ! भय का कोई बड़ा कारण नहीं हैं, यह मेरी प्रियसखी एक दुष्ट भ्रमर द्वारा सतायी गयी थी, इससे घबड़ा उठी । (ऐसा कहकर दोनों शकुन्तला को दिखाती हैं ।)

(३) राजा—(शकुन्तला के पास जाकर) अयि ! तुम्हारी तपस्या तो बढ़ रही है न ?

(४) शकुन्तला—(लज्जा से मस्तक झुका लेती है ।)

(५) अनसूया—आप जैसे विशेष अतिथि को पाकर तपस्या बढ़ ही रही है !

प्रियं—स्वागतमार्यस्य । हला शकुन्तले ! गच्छ, उटजात् फलमिश्रमर्घ्यभाजनमुपहर, इदमपि पादोदकं भविष्यति (१) । (साअदं अज्जस्स । हला सउन्तले ! गच्छ, उडआदो फलमिस्सं अग्घभाअणं उवहर, इदंपि पाओदअं भविस्सदि) [इति घटं दर्शयति ।]

राजा—भवतीनां सूनृतयैव वाचा कृतमातिथ्यम् (२) ।

अन—अस्यां तावत् प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायामुपविश्य आर्यः परिश्रममपनयतु (३) । (इमस्सिं दाव पच्छाअसीदलाए सत्तवण्णवेदिआए उवविसिअ अज्जो परिस्समं अवणेदु ।)

राजा—नूनं यूयमप्यनेन धर्मकर्मणा परिश्रान्ताः, तन्मुहूर्तमुपविशत(४) ।

---

(१) प्रियमिति । आर्यस्य—साधोः भवतः, 'महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः' इत्यमरः । स्वागतं-शुभागमनम्, भावे क्तः । अनेन किमिति काकुर्व्यज्यते । उटजात्—पर्णशालायाः फलेन मिश्रं—युक्तमिति फलमिश्रम्, अर्घ्यभाजनम्—अर्घ्यपात्रम्, उपहर—आनय । इदमपि—वृक्षसेचनार्थमानीतं घटस्थितजलमपि, पादोदकं—पादप्रक्षालनजलम्, भविष्यति । प्रथममतिथये पाद्यं देयमिति भावः । एतेन तासां त्वरा व्यज्यते ।

(२) राजेति । सूनृतया—सत्यया प्रियया च, 'सूनृतं तु प्रिये सत्ये' इत्यमरः, वाचा—वाक्येनैव, आतिथ्यम्—अतिथिसत्कारः, कृतं—विहितम्, स्वरूपेण पुनः करणमनावश्यकमेवेत्याशयः ।

(३) अनेति । प्रकृष्टा छाया प्रच्छायं तेन शीतला तस्याम्, अथवा प्रकृष्टा छाया यस्यां सा प्रच्छाया अत एव शीतला तस्याम्, सप्तपर्णवेदिकायां—विषमच्छदवृक्षस्य मूलस्थचतुरस्रभूमावित्यर्थः ।

(४) राजेति । अनेन—परिदृश्यमानेन, धर्मकर्मणा—जलसेचनादिरूपधर्मकार्येण, नूनं—निश्चितमेव, यूयं—भवत्यः, परिश्रान्ताः—क्लान्ताः ।

---

(१) प्रियंवदा—आप तो सुख से यहाँ आ गये न ? सखी शकुन्तला ! जाओ, कुटिया से फलयुक्त अर्घ ले आओ और यह जल पैर धोनेके काम आ जायगा (घड़ेको दिखाती है) ।

(२) राजा—कष्ट न करिये, आप लोगों की सत्य तथा मीठी बातों से ही हमारा आतिथ्यसत्कार हो गया ।

(३) अनसूया—आप इस विशाल छायायुक्त सप्तपर्ण की वेदी पर बैठकर सुस्ता लीजिये ।

(४) राजा—आप भी इस (वृक्षसेचनरूप) धर्मकार्य से थक गयी होंगी, इसलिये थोड़ी देर के लिये बैठ जाइये ।

प्रियं—[जनान्तिकम्] हला शकुन्तले ! उचितं नः अतिथिपर्युपासनम्, तद् एहि, उपविशामः (१) । (हला सउन्तले ! उइदं णो अदिधिपज्जुवासणं ता एहि उवविसह्म ।) [इति सर्वा उपविशन्ति ।]

शकु—[आत्मगतम्] कथमिदं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता (२) । (कधं इमं जणं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअ ह्मि संवुत्ता ।)

राजा—[सर्वा अवलोक्य] अहो ! समानवयोरूपरमणीयं सौहार्दमत्रभवतीनाम् (३) ।

---

(१) प्रियमिति । जनस्य-उद्देश्यभूतलोकस्य अन्तिकं—समीपमिति जनान्तिकम्—अनन्यबोध्यमित्यर्थः, तद् यथा स्यात् तथा ।
तथोक्तं दर्पणे—

'त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योऽन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ॥'

त्रिपताकलक्षणमुक्तं सङ्गीतरत्नाकरे—

'स एव त्रिपताकः स्याद् वक्रितानामिकाङ्गुलिः' इति ॥

(२) शकु इति । तपोवनस्य—आश्रमस्य विरोधिनः-तपोविनाशकतया विरुद्धस्येत्यर्थः । विकारस्य—विकृतेःकामावेगस्येति भावः, कर्त्तरि षष्ठी, गमनीया-प्रापणीया । एतेन महाननर्थो भवतीति भावः । अत्र शकुन्तलाया भावो नाम सात्त्विकोऽलङ्कारः प्रदर्शितः तदुक्तं दर्पणे—

'निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया इति ॥

(३) राजेति । अहो इति कौतुके । अत्रभवतीनां—पूज्यानां युष्माकमित्यर्थः, पूज्यत्वञ्च तपस्वित्वेनेति भावः । सौहार्द-परस्परमैत्री, समानानि-अन्योन्यतुल्यानि वयांसि रूपाणि—सौन्दर्याण्याकृतयः स्वभावाश्च वा 'अथ रूपं नपुंसकं स्वभावाकृतिसौन्दर्ये' इत्यमरः, तैः रमणीयं—मनोहरम् । तदुक्तम्—

'समैर्विरोधो मैत्री च न च पुष्टविपुष्टयोः' इति ।

---

(१) प्रियंवदा—(छिपाकर शकुन्तला से) सखी शकुन्तला ! हमें अतिथि का सत्कार करना चाहिये, तो आओ बैठ जायँ । (सब बैठती हैं ।)

(२) शकुन्तला—(स्वगत) इस मनुष्य को देखकर मैं तपस्विजनों के विरुद्ध विचारों का लक्ष्य क्यों बनी जा रही हूँ ।

(३) राजा—(सब को देख कर) समान अवस्था और समान रूप होने से आपकी मित्रता भी बड़ी सुन्दर मालूम होती है ।

प्रियं—[जनान्तिकम्] हला अनसूये ! को नु खलु एष दुरवगाह-गम्भीराकृतिर्मधुरमालपन् प्रभुत्वदाक्षिण्यं विस्तारयति (१)। (हला अणसूए ! को णु क्खु एसो दुरवगाहगम्भीराकिदी महुरं आलवन्तो पहुत्तदाक्खिण्णं वित्थारेदि ।)

अन—हला ! ममापि अस्ति कौतूहलम्, तत् प्रक्ष्यामि तावदेनम् । [प्रकाशम्,] आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मामालापयति । कतरो राजर्षिवंशः अलंक्रियते आर्येण ? कतमो वा देशो विरहपर्युत्सुकः क्रियते ? किं निमित्तं वा आर्येण सुकुमारेण तपोवनगमनपरिश्रमे आत्मा उपनीतः ? (२)। (हला ! मम वि अत्थि कोदूहलं ता पुच्छिस्सं दाव णं। अज्जस्स

(१) प्रियमिति । दुःखेनावगाह्यते इति दुरवगाहा—दुष्प्रवेशा, दुर्बोधस्वभावेति यावत्, गम्भीरा—'गाम्भीर्यं यत्प्रभावेण विकारो नोपलक्ष्यते' इत्युक्तप्रकारा सद्व्यञ्जिकेत्यर्थः, आकृतिर्यस्य सः । प्रभुत्वं—प्रभावः, निग्रहानुग्रहसामर्थ्यमित्यर्थः, 'कः पौरवे वसुमतीम्' इत्याद्युक्तप्रकारेणेति भावः, दाक्षिण्यम्—औदार्यम्, 'न भेतव्यं न भेतव्यम्' इत्याद्युक्तरूपेणेति भावः, तयोः समाहारस्तत्, विस्तारयति—प्रकटयति । एतेन राज्ञो विकारहेतौ सति निसर्गधैर्यावलम्बनाद् धीरोदात्तनायकत्वं सूचितं कविवरेण । यथाह विश्वनाथः—

'अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान् निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥' इति ।

(२) अनेति । प्रकाशं—सर्वश्राव्यं 'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्' इति विश्वनाथवचनात् । मधुरालापजनितः—प्रियालापोद्भवः, विश्रम्भः—विश्वासः 'अस्माभिर्जिज्ञास्यमानोऽपि भवान्न विरज्यते' इत्येवंरूपो भाव इत्यर्थः, आलापयति—आलपितुं नियोजयति । एतेन स्वौद्धत्यस्य परिहारः । किं तदित्याह—कतर इति । आर्येण—माननीयेन भवता, कतरः—द्वयोश्चन्द्रवंशसूर्यवंशरूपयो राजर्षिवंशयोर्मध्ये कः राजर्षिवंशः, अलंक्रियते—जन्मना विभूष्यते । कस्मिन् वंशे कुलभूषणभूतस्य भवतो जन्म इत्यर्थः । भवज्जन्मनः पूर्वतपोबाहुल्यहेतुकत्वाद् यद्वंशे जातस्तेषां राजर्षित्वं सिद्ध-

(१) प्रियंवदा—(चुपके से) सखी अनसूया ! ये कौन हैं, इनकी गंभीर आकृति है और स्वभाव भी दुर्बोध है, मीठी-मीठी बातें करते हुये ये प्रभुता की उदारता बिखेर रहे हैं ।

(२) अनसूया—सखी ! मुझे भी यही कौतूहल है, तो आवो पूछ ही न लें । (प्रकट) आपके मधुर भाषण से उत्पन्न ढिठाई मुझे आप से कुछ पूछने के लिए विवश कर रही है ।

महुरालाबज्जणिदो विस्सम्भो मं आलावेदि। कदरो राएसिवंसो अलङ्करीअदि अज्जेण? कदमो वा देसो विरहपज्जुस्सुओ करीअदि ? किं णिमित्तं वा अज्जेण सुउमारेण तवोवणगमणपरिस्समे अप्पा उवणीदो? ।)

शकु—[आत्मगतम्] हृदय! मा उत्ताम्य, यत् त्वया चिन्तितं तदनसूया मन्त्रयति (१)। (हिअअ! मा उत्तम्म, जं तुए चिन्तिदं तं अणसूआ मन्तेदि)

राजा—[स्वगतम्] कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि, कथं वात्मनः(२)

मेवेति भावः। कतमो वा–बहूनां देशानां मध्ये को वा देशः, विरहेण–स्ववियोगेन, पर्युत्सुकः—उत्कण्ठितः क्रियते, कस्माद् देशादागतोऽसीत्यर्थः, अचेतनस्य देशस्य विरहपर्युत्सुकत्वोक्त्या राज्ञः सकलगुणानुरागो ध्वन्यते। सुकुमारेण—मृदुलाङ्गेन एतेन परिश्रमानर्हत्वं सूच्यते। 'तपोवनगमनपरिश्रमे' इत्यत्र तपोवनपदेन तस्य राजभवनापेक्षया न्यूनत्वं सूच्यते, तेन राजभवनयोग्यस्य भवतो नात्रत्यधिकप्रयोजनमिति व्यज्यते। अत एव परिश्रमपदम्। फलान्तराभावात्परिश्रममात्रमिति भावः। आत्मा—देहः, 'आत्मा देहे धृतौ जीवे' इति विश्वः, उपनीतः–उपस्थापितः किमागमनकारणमित्यर्थः।

अत्र गम्यस्य भङ्ग्याभिधानात् पर्यायोक्तिरलङ्कारः। 'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' इति दर्पणोक्तेः।

(१) शकु इति। मा उत्ताम्य—तत्वजिज्ञासया सन्तापं मा कृथाः। सन्तापाकरणे कारणमाह—यत् त्वयेति। चिन्तितं—प्रष्टव्यत्वेन निश्चितम्। मन्त्रयति—पृच्छति। तेन ते एतद्विषयकं तत्त्वज्ञानं भविष्यतीति भावः। अनेन हावलक्षणो विकार उक्तः तदुक्तम्—

'भावादीषत्प्रकाशो यः स हाव इति कथ्यते' इति।

(२) राजेति। कथमिति विमर्शे। आत्मानं निवेदयामि—राजा दुष्यन्तोऽहमिति स्वात्मपरिचयं ददामीत्यर्थः, एवं सति एकान्ते तपोवनमध्ये कन्याजनसविधे प्रच्छन्न-

हों, तो आप किस राजर्षि के वंश को अलंकृत कर रहे हैं ? आप किस देश को विरहोत्कण्ठित कर यहाँ पधारे हैं ? और आप जैसे सुकुमार व्यक्ति ने किस लिये तपोवन आने के घोर परिश्रम में अपने को डाला है।

(१) शकुन्तला—(स्वगत) हृदय! अधिक उतावले मत बनो, तुमने जो सोचा था वही बात अनुसूया पूछ रही है।

(२) राजा—(स्वगत) अब किस तरह अपना परिचय दूँ और (नहीं देता हूँ, तो)

परिहारं करोमि । भवतु, एवं तावत् । [प्रकाशम्] भवति ! वेदविदस्मि राज्ञः पौरवस्य नगरधर्माधिकारे नियुक्तः पुण्याश्रमदर्शनप्रसङ्गेन धर्मारण्यमिदमायातः ।

अन—अद्य सनाथा धर्मचारिणः(१) । (अज्ज सणाधा धम्मआरिणो ।)

प्रवेशेनास्मदभिप्रायः प्रकटयेतेति भावः । वाशब्दः समुच्चये । आत्मनः—स्वस्य, परिहारम्—अन्यरूपेणाभिधाय गोपनं करोमि । एवं च सति अधर्मः स्यात् ।

'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥' इति स्मृतेः ।

विचार्य—कञ्चिदुपायं निश्चित्याह–भवत्वित्यादि । एवम्–इत्थं तावत् कथनीयमिति शेषः । तेन चोभयस्य सङ्कटस्य मोचनं भवेदित्यर्थः । भवतीति जिज्ञासमानाया अनसूयायाः सम्बोधनम् । अस्मीति अहमर्थेऽव्ययम्, वेदवित्–वेदज्ञः, एतेन स्वस्य ब्राह्मणजातिः सूचिता । अन्यत्र क्षत्रियत्वेनापि वेदज्ञः । पौरवस्य—पुरुवंशोद्भवस्य, राज्ञः दुष्यन्तस्य, नगरधर्माधिकारे–राजधानीस्थधर्मकार्यावेक्षणे नियुक्तः—स्थापितः, अहं राज्ञो दुष्यन्तस्य सचिव इति भावः । अन्यत्र पौरवस्य–पुरुवंशीयराज्ञः, नगराणि—राज्यानीति उपलक्षणं, धर्माः—प्रजापालनादयः शौचाचारादयो वा तेषामधिकारे नियुक्तः—व्यापारितः, वेधसेति शेषः । दुष्यन्त इति प्रसिद्धोऽहमिति भावः । पुण्याश्रमदर्शनप्रसङ्गेन–तदधिकारनियुक्तत्वेन यावतां पुण्याश्रमाणामभावाभिभवादिदूरीकरणार्थं पर्यवेक्षणप्रसङ्गेन, इदं धर्मारण्यं—तपोवनम्, आयातः–आगतः, अन्यत्र मृगयाकरणावसरे कतिचिद्वैखानसैरनुरोधकरणात् पुण्याश्रमदर्शनप्रसङ्गेनेदं धर्मारण्यमागत इति सुगमम् । अनेन द्व्यर्थवचनविन्यासेन राज्ञो मिथ्यावादित्वमपहृतम् । इदमेकं पताकास्थानम् । तदुक्तं दर्पणे—

द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।
प्रधानार्थान्तराक्षेपो पताकास्थानकं परम् ॥ इति ।

अत्रैकतरोऽर्थो व्यङ्ग्यो न तु श्लेषालङ्कार उभयार्थयोर्वाच्यत्वाभावात्, उभयार्थयोर्वाच्यत्वे श्लेषालङ्कार इति विश्वनाथादिभिरङ्गीकारात् ।

(१) अनेति । धर्मचारिणः—धर्माचरणतत्पराः, तापसा इति यावत्, नाथेन

कैसे अपना पिण्ड छुड़ाऊँ ? अच्छा ऐसे ही सही । (प्रकट) आर्ये ! मैं वेदविद् पंडित तथा राजा की कचहरी का धर्माधिकारी (जज) हूँ । पवित्र आश्रमों को देखते-देखते इस पुनीत तपोवन में भी आ पहुँचा ।

(१) अनसूया—धर्ममय कर्म करने वाले हम सब लोग आज सनाथ हो गये ।

शकु—[शृङ्गारलज्जां नाटयति ।] (१)

सख्यौ—[उभयोराकारं विदित्वा] हला शकुन्तले ! यदि अद्य तात इह सन्निहितो भवेत्…। (२) (हलासउन्तले ! जइ अज्ज तादो इध सण्णिहिदो भवे"।

शकु—ततः किं भवेत् (३) । (तदो किं भवे ।)

प्रभुणा सह वर्त्तमाना इति सनाथाः, भवदागमनेनेति भावः। एतेन राजकशरण्यं सूच्यते। अत्र वयमिति विशेषे वक्तव्ये धर्मचारिण इति सामान्यवचनाद् अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः।

(१) शकु इति। शृङ्गारलज्जां—मदजनितलज्जासूचकबहिर्विकारम्, सनाथपदप्रयोगादिति भावः। नाटयति—क्रिययाऽभिनयति। शृङ्गारलक्षणं यथा—

'पराङ्मुखीकृतं शीर्षं परावृत्तमुदीरितम्।
तत्कार्यं कोपलज्जादिकृते वक्त्रापसारणे ॥' इत्यादि।

अथवा—प्रकृष्टा रतिः—शृङ्गारस्तेन या लज्जा—कन्याजनसुलभा व्रीडा तां नाटयति—अभिनयति। तदुक्तम्—

'प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यसक्तयोः। प्रकृष्यमाणश्शृङ्गारः……॥' इति।
'दुराचारादिभिर्व्रीडाधार्ष्ट्याभावस्तमुन्नयेत्। साचीकृताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः॥

अत्र हावलक्षणो नायिकाङ्गजोऽलङ्कार उक्तः। तदुक्तं दर्पणे—

'भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु सम्भोगेच्छाप्रकाशकः।
भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते ॥' इति ॥

(२) सख्याविति। उभयोः—राज्ञः शकुन्तलायाश्च, आकारं—शरीरभावं, कम्परोमाञ्चादिविकारमिति यावत्, विदित्वा—परस्परानुरागकृतत्वेनावगम्य। तातः—कण्वः, इह—अस्मिन्नाश्रमे, सन्निहितः—उपस्थितो भवेत्, सोमतीर्थात् प्रत्यागच्छेदिति भावः।

(३) शकु इति। ततः—तदा तातसन्निधाने इत्यर्थः।

---

(१) शकुन्तला—(शृङ्गार लज्जा का अभिनय करती है।)

(२) दोनों सखियाँ—(राजा तथा शकुन्तला की आकृति देखकर) सखी शकुन्तला ! आज यदि कहीं पिताजी यहाँ होते……।

(३) शकुन्तला—तो क्या होता ?

सख्यौ—ततो जीवितसर्वस्वेनापि इमम् अतिथिविशेषं कृतार्थं करोति। (१) (तदो जीविदसव्वस्सेण वि इमं अदिधिविसेसं कदत्थं करेदि।)

शकु—[सकृतककोपम्] अपेतम्, युवां किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयथः, न वां वचनं श्रोष्यामि (२)। (अवेध, तुम्हे किंपि हिअए कदुअ मन्तेध, ण वो वअणं सुणिस्सं।

राजा—वयमपि भवत्योः सखीगतं किञ्चित् पृच्छामः (३)

सख्यौ—आर्य! अनुग्रहेऽपि अभ्यर्थना (४)! (अज्ज! अणुग्गहे वि अब्भत्थणा।)

---

(१) सख्याविति। ततः—तदा, जीवितं, यस् सर्वस्वं—दारापत्यादिरूपं धनं तस्य हि कस्मैचिद्देयत्वाज्जीवितसर्वस्वपदेनोच्यते। प्रकृते तु—जीवितसर्वस्वेन—प्राणाधिकया शकुन्तलया इत्यर्थः, नैष्ठिकब्रह्मचारिणः कण्वस्य पुत्रदाराणामसम्भवात्। अथवा—जीवितस्य—आत्मनो जीवनस्य सर्वस्वेनापि—सर्वसम्पत्तिस्वरूपेणापि वस्तुना, शकुन्तलयेत्यर्थः। इमं—लोकोत्तरगुणविशिष्टम्, अतिथिविशेषं—साधारणविलक्षणमतिथिम्, कृतार्थं—कृतप्रयोजनं सफलमनोरथमिति भावः, करोति—करिष्यतीति भविष्यत्सामीप्ये लट्। तदास्मै अतिथये लोकोत्तरगुणशालिने त्वां दत्त्वाऽऽत्मानमानन्दयेदिति निष्कर्षः।

(२) शकु इति। कृतककोपेन—कृत्रिमरोषेण सहेति सकृतककोपं तद् यथा स्यात्तथा। अत्र कृतकेतिपदोपादानेन शकुन्तलाया अपि तथाविधाभिप्रायो वर्त्तत इति सूच्यते। 'कृतकः स्यात् पुमान् कृष्णखर्परे चाप्यसम्भवे। पुत्रभेदे कृत्रिमे च त्रिषु' इति शब्दार्णवः। अपेतम्—दूरमपसरतम्। किमपि—तपोनिष्ठत्वादवाच्यं मत्परिणयविषयमिति भावः। हृदये कृत्वा—अभिसन्धाय, मन्त्रयथः—कथयथः। वां—युवयोः वचनं न श्रोष्यामीति असंबद्धप्रलापित्वादिति भावः।

(३) राजेति। वयमपि—अहमपीत्यर्थः, 'वास्मदश्चे'ति बहुवचनाभिधानात्। भवत्योः—युवयोः, सखीगतं—शकुन्तलासम्बद्धम्, पृच्छामः—ज्ञातुमिच्छामः, अत्र काका प्रार्थनाऽभिव्यज्यते।

(४) सख्याविति। अनुग्रहेऽपि—अनुग्रहपदेऽपि, अभ्यर्थना—प्रार्थना क्रियत

---

(१) दोनों सखियाँ—तो वे अपने जीवन का सर्वस्व (अर्थात् तुझे) देकर इस विशेष अतिथि को कृतार्थ कर देंगे।

(२) शकुन्तला—(बनावटी गुस्से से) जाओ, तुम अपने मन में मैल रखकर ऐसा कहती हो, इसलिये तुम्हारी बातें नहीं सुनूँगी।

(३) राजा—मैं भी आपकी सखी के बारे में कुछ पूछ सकता हूँ?

(४) दोनों सखियाँ—आर्य! कृपा करने के स्थान पर भी प्रार्थना?

राजा—तत्रभवान् कण्वः शाश्वते ब्रह्मणि वर्त्तते, इयञ्च वः सखी तस्यात्मजा, कथमेतत् ? (१)

अन—शृणोतु आर्यः । अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः (२) । (सुणादु अज्जो । अत्थि को वि कोसिओ त्ति गोत्तणामहेओ महाप्पहावो राएसी ।

राजा—स खलु भगवान् कौशिकः (३) ।

इति शेषः । तथा च भवद्विधानामस्मद्विधासु प्रश्नोऽनुग्रह एव । सुतरां तत्र पुनः प्रार्थना कथमपि नोपयुज्यत इति भावः ।

(१) राजेति । तत्रभवान्—पूज्यः, कण्वः—तन्नाममहर्षिः, शाश्वते—नित्ये, 'शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यसदातनसनातनाः' इत्यमरः, ब्रह्मणि—ब्रह्मचर्यव्रते वर्त्तते, नैष्ठिकब्रह्मचारीति यावत् । तदुक्तं कूर्मपुराणे—

'ब्रह्मचार्युपकुर्वाणो नैष्ठिको ब्रह्मतत्परः ।
योऽधीत्य विधिवद्वेदान् गृहस्थाश्रममाव्रजेत् ।
उपकुर्वाणको ज्ञेयो नैष्ठिको मरणान्तिकः ॥' इति ।

इयं च, वः—युष्माकम्, सखी—शकुन्तला, तस्य—महर्षेः कण्वस्य आत्मजा—औरसजाता कन्या, एतत् कथं—केन प्रकारेण ? सम्भवतीत्यर्थः । तथा च दारपरिग्रहं विनौरसापत्यासम्भवात् कण्वस्य च नैष्ठिकब्रह्मचारित्वेन सर्वप्रकारमैथुनरहितत्वात्तस्येयं शकुन्तला औरसी कन्येति परस्परमसङ्गतमिति भावः । यथोक्तं भगवता याज्ञवल्क्येन—

अवकीर्णी भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् ।
गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुध्यति ॥

(२) अनेति । कुशिकस्य राज्ञोऽपत्यं पुमान् कौशिकः, इति—इत्थं गोत्रनामधेयं—वंशानुभावकं—नाम यस्य तथोक्तः, महाप्रभावो—महातेजाः 'प्रभावः शक्तितेजसो'रिति विश्वः, राजर्षिः—क्षत्रियतपस्वी विश्वामित्र इति यावत् ।

(३) राजेति । अनसूयावचनाज्जातस्मृतिराह—स इत्यादि । सः—सर्वत्र प्रसिद्धख्यातिः, भगवान्—लोकातीतमाहात्म्ययुक्तः यः खलु क्षत्रियोऽपि स्वमाहात्म्येन विप्रत्वमापेति भावः ।

---

(१) राजा—पूज्य महर्षि कण्व तो शाश्वत ब्रह्मचारी हैं, तो यह आपकी सखी उनकी पुत्री हैं, यह कैसे ?

(२) अनसूया—श्रीमन् ! सुनिये ! कौशिक इस गोत्र नाम के कोई एक बड़े भारी राजर्षि हो गये हैं ।

(३) राजा—हाँ, वे भगवान् कौशिक थे ।

अन—तं सख्याः प्रभवमवगच्छ । उज्झितायाः शरीरसंवर्द्धनादिभिः पुनस्तातकण्वोऽपि एतस्याः पिता (१) । (तं सहीए पहवं अवगच्छ । उज्झिदाए सरीरसम्बड्ढणादिहिं उण तादकण्णो वि एदाए पिदा ।)

राजा—उज्झितशब्देन जनितं नः कुतूहलम् । तदामूलाच्छ्रोतुमिच्छामः (२) ।

अन—शृणोतु आर्यः । पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे(३)तपसि वर्त्तमानस्य

(१) अनेति । तं—कौशिकम्, सख्याः—शकुन्तलायाः, प्रभवं—जन्मकारणं जनकमिति यावत्, अवगच्छ—जानीहि, उज्झितायाः—त्यक्ताया अस्या इति शेषः, शरीरस्य संवर्द्धनादिभिः-अन्नादिना परिपोषणादिभिर्न तु उत्पादनयेति भावः, आदिना विनयाधानादेः परिग्रहः । पुनरित्यविशेषे पिता—धर्मपितेति भावः ।

तदुक्तम्—

'अन्नदाता भयत्राता यस्य कन्या विवाहिता ।
जनयितोपनेता च पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥' इति ।

अन्यच्च—'शरीरकृत् प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते ।
क्रमेणैते त्रयः प्रोक्ताः पितरो धर्मसाधनाः ॥' इति ।

अपरञ्च—'कन्यादाताऽन्नदाता च ज्ञानदाताऽभयप्रदः ।
जन्मदो मन्त्रदो ज्येष्ठभ्राता च पितरः स्मृताः ॥' इति ।

(२) राजेति । राजर्षिबीजभूतत्वात्तां स्वपरिग्रहयोग्यां मन्यमानेन तत एव प्रवर्द्धमानानुरागेण च तन्मातरमपि ज्ञातुं तदुत्पत्तिं विस्तरेण श्रोतुकामेन भङ्ग्यन्तरेणोच्यते—उज्झितशब्देनेति । उज्झितशब्देन—भवत्या पूर्वकथितेन उज्झितायाः शरीरसंवर्द्धनादिभिरिति वाक्यान्तर्गतत्यागार्थकोज्झितशब्देनेत्यर्थः, न त्वनुरागेणेति स्वानुरागगोपनं सूच्यते । कुतूहलं—कौतुकम्, सविशेषश्रवणेच्छेति यावत् । तत्—तस्मात्, आमूलात्—आदित आरभ्य, 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' इति मर्यादार्थकाङ्योगे मूलशब्दात् पञ्चमी ।

(३) अनेति । पुरा—अतीते काले, किलेति परम्परागतलोकवार्त्तायाम्

(१) अनसूया—उन्हीं को मेरी सखी का पिता समझें । जब यह त्याग दी गई तो पिता कण्व ने इसे पाल-पोस कर बढ़ाया, इसलिये वे भी इसके पिता हैं ।

(२) राजा—'त्याग' इस शब्द ने मेरे हृदय में कुतूहल पैदा कर दिया है । इसलिये मैं आदि से यह कथा सुनना चाहता हूँ ।

(३) अनसूया—सुनिये श्रीमन् ! बहुत दिन हुये, जब कि वे राजर्षि उग्र तपस्या में

कथमपि जातशङ्कैर्देवैः मेनका नाम अप्सराः नियमविघ्नकारिणी प्रेषिता। (सुणादु अज्जो। पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वत्तमाणस्स कधंपि जादसङ्केहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा णिअमविग्घआरिणि पेसिदा।)

राजा—अस्त्येवान्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्। ततस्ततः? (१)

अन०—ततो वसन्तावताररमणीये समये उन्मादहेतुकं तस्या रूपं प्रेक्ष्य···(२)। (तदो वसन्तावदाररमणीए समाए उम्मादहेदुअं ताए रूवं पेक्खिअ···। [इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयति।]

वार्त्ता सम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः, उग्रे उत्कटे, 'उग्रः शूद्रासुते चण्डे श्रीकण्ठे चोत्कटेऽपि च' इति विश्वः, तपसि—कृच्छ्रचान्द्रायणादिनियमे, वर्तमानस्य—तदाचरत इत्यर्थः, तस्य राजर्षेर्विश्वामित्रस्य, समीपे इति शेषः, कथमपि—केनापि हेतुना स्वस्वाधिकारलोपाशङ्कयेति तात्पर्यम्, जातशङ्कैः—जातभयैः, देवैः, नियमस्य—तपसः, विघ्नकारिणी—भङ्गकारिणी, मेनका नाम अप्सराः—सुराङ्गना, प्रेषिता—प्रेरिता।

यद्यपि 'स्त्रियां बहुष्वप्सरस' इत्यमरसम्मतो बहुवचनान्त एवाप्सरःशब्दस्तथापि क्वचिदेकवचनान्तोऽपि स्वीकार्यः प्रमाणं यथा—

'आपः सुमनसः वर्षाः अप्सराः सिकताः समाः।
एते स्त्रियां बहुत्वे स्युरेकत्वेऽप्युत्तरत्रयम्॥' इति।
'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्यादेकत्वेऽप्सरा अपी'ति शब्दार्णवोऽपि।

(१) राजेति। देवानाम्—इन्द्रादीनाम्, अन्येषां यः समाधिः—तपोनियमः तस्माद् भीरुत्वं—भयशीलत्वमस्त्येव, पुराणादावेवं बहुशः श्रुतत्वादिति भावः। प्रकृतमनुसारयति—ततस्तत इति।

(२) अनेति। वसन्तस्य—ऋतोः, अवतारेण—प्रवृत्त्या रमणीयः—मनोहरस्तस्मिन्, समये, उन्मादहेतुकं—चित्तविभ्रमहेतुभूतं, कामविकारोद्दीपकमिति यावत्, तस्याः—मेनकायाः, रूपं-सौन्दर्यम्, प्रेक्ष्य—दृष्ट्वा, तया सह रन्तुं प्रवृत्तो राजर्षिर्गर्भमजनयदिति वाक्यशेषस्य प्रेक्ष्येत्यन्तमर्द्धम्। लज्जां नाटयति—अभिनयति, अधोमुखादिनेति भावः।

मग्न थे जिससे देवताओं को किसी तरह का भय हुआ और उन्होंने नियम में विघ्न डालने वाली मेनका नाम की अप्सरा भेजी।

(१) राजा—दूसरों की तपस्या देखकर देवताओं को भय होता है। फिर क्या हुआ?

(२) अनसूया—इसके बाद बसन्त ऋतु के संचार से उस रमणीय समय में उस मेनका का मादक रूप देखकर···। (ऐसा आधा ही वाक्य कहकर लज्जित हो जाती है।)

राजा—पुरस्तादवगम्यत एव सर्वथा अप्सरःसम्भवैषा (१)।

अन—अथ किम् (२)। (अधइं)!

राजा—उपपद्यते (३)।

मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य सम्भवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ २८ ॥

(१) राजेति। पुरस्तात् अग्रतः, इतः परमिति यावत्, अवगम्यते-ज्ञायते एव, यदघटत्त्ते कथनमनावश्यकमिति भावः। एषा—शकुन्तला, सर्वथेति-प्रतिज्ञायाम्, 'सर्वथा सर्वप्रकारे प्रतिज्ञाभृशहेतुषु' इति शब्दार्णवः, अप्सरःसम्भवा—अप्सरोगर्भसम्भूता। अस्याः अप्सरःसम्भवत्वे नास्ति संशयलेशोऽपीति भावः।

(२) अनेति। अथ किमित्यङ्गीकारे, 'अङ्गीकारेऽपि चाथ किम्' इति हारावली, एतदेव स्वीकरोमीत्यर्थः। 'अत्थि कोसिओ त्ति गोत्तणामहेओ राएसी' इत्यत आरभ्य 'अथ किम्' इत्येतदन्त-सन्दर्भोक्तौ आख्यानाभिधो नाट्यालङ्कारः।

तल्लक्षणम्—'आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः' इति।

(३) राजेति। उपपद्यते—युज्यते, अस्या अप्सरःसम्भवत्वमिति भावः।

कथमप्सरःसम्भवत्वमस्या उपपद्यत इत्याह—मानुषीभ्य इति। मानुषीभ्यः—~~मानवजातिस्त्रीभ्यः~~; अस्य—दृश्यमानस्य शकुन्तलासंबन्धिनः, रूपस्य—सौन्दर्यस्य आकृतेर्वा, कथं नु सम्भवः—समुद्भवः स्यात्, कथमपि नेत्यर्थः, सर्वथा मानुषाकृतिवैलक्षण्यादिति भावः। उक्तमर्थं द्रढयति—नेत्यादि। प्रभया—त्विषा, तरलं—भास्वरं, प्रभा तरला-चञ्चला यस्य तदिति वा, 'तरलं चञ्चले पिङ्गे हारमध्यमणावपि, भास्वरे चे'ति विश्वः, ज्योतिः-तेजः विद्युदित्यर्थः, 'चन्द्रादि' इति केचित् वसुधातलात्—भूतलात्, न उदेति—नोदयं लभते नोत्पद्यत इत्यर्थः। यथा विद्युत् भूतलान्नोत्पद्यते तथेयं मानुष्या न सम्भवतीति भावः।

अत्र एकस्या एव उत्पत्तिक्रियायाः सम्भवोदयपदाभ्यां पृथङ् निर्देशात् प्रतिवस्तूपमालङ्कारः। दृष्टान्तालङ्कार इति केचित्, तच्चिन्त्यम्। अनेन निदर्शनं नाम नाटकभूषणमुपक्षिप्तम्। यदाह विश्वनाथो दर्पणे—

(१) राजा—आगे के सब समाचार से मालूम ही पड़ता है कि यह अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न हुई है।

(२) अनसूया—और क्या ?

(३) राजा—ठीक है—

मनुष्य जाति की स्त्री से ऐसे रूप की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है ? प्रकाश से तरल ज्योति (अर्थात् बिजली) पृथ्वी से नहीं उत्पन्न होती है ॥ २८ ॥

शकु—[सव्रीडाऽधोमुखी तिष्ठति ।] (१)

राजा—[आत्मगतम्] हन्त ! लब्धावकाशो मे मनोरथः (२) ।

प्रियं—[सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य] पुनरपि वक्तुकाम इव आर्यो लक्ष्यते (३) । (पुणो वि वत्तुकामो विअ अज्जो लक्खीअदि ।)

शकु—[सखीमङ्गुल्या तर्जयति ।] (४)

राजा—सम्यगुपलक्षितं भवत्या । अस्ति नः सच्चरितश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम् (५) ।

'पदार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्त्तनम् ।
परपक्षव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते' ॥ इति ।

तथात्र विलोभनाभिधं मुखसन्ध्यङ्गं चोपन्यस्तम्, यथाह तत्रैव—'गुणाख्यानं विलोभनमि'ति । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २८ ॥

(१) शकु इति । सव्रीडा—सलज्जा, कण्वकौशिकयोस्तादृशाचारकथाप्रस्तावात् समक्षमेव स्वगुणकीर्त्तनाकर्णनाच्चेति भावः ।

(२) राजेति । स्वाभिलाषानुकूलां शकुन्तलोत्पत्तिमाकर्ण्य परिणययोग्येयमिति निश्चिन्वन् स्वयं परामृशति--हन्तेत्यादि । हन्तेति हर्षे । लब्धः-प्राप्तः अवकाशः—प्रवेशद्वारं येन सः तथोक्तः, मे—मम, मनोरथः—अभिलाषः शकुन्तलायाः अप्सरःसम्भवत्वान्मम पाणिग्रहणाभिलाषः सावलम्ब इति भावः । अनेन धार्मिकस्यास्य राज्ञः सन्तोषो गम्यते । अत्र युक्तिर्नाम सन्धेरङ्गम् ।

(३) प्रियमिति । राज्ञः शकुन्तलासम्बन्धिगुणकीर्त्तनेन तीव्रानुरागं मत्वा शृङ्गारोदयात् सलज्जामधोमुखीं शकुन्तलां कौतुकात् पुनरपि व्रीडयितुं प्रियंवदायाः सस्मितावलोकनम् । पुनरपि—अन्यदपि, वक्तुकामः—कथनेच्छुरिव अधरपरिस्पन्दादिदर्शनादिति भावः, लक्ष्यते—प्रतीयते ।

(४) शकु इति । सखीं—प्रियंवदाम्, अङ्गुल्या—तर्जन्या संकेतेन, तर्जयति—भर्त्सयति, पुनरालापप्रतिषेधाभिप्रायेणेति भावः ।

(५) राजेति । सम्यक्—यथार्थम्, उपलक्षितम्—उन्नीतम्, अहं वक्तुकाम इति भावः, सच्चरितस्य—सदाचारस्य श्रवणलोभात्—श्रवणौत्सुक्यात्, नः—

---

(१) शकुन्तला—(लज्जित होकर नीचे मुँह किये बैठी रहती है ।)

(२) राजा—(स्वगत) मेरी इच्छा पूर्ण होने का मौका हाथ आ गया ।

(३) प्रियंवदा—(मुसकराती हुई और शकुन्तला को देखकर) मालूम पड़ता है, अभी आप और कुछ कहना चाहते हैं ।

(४) शकुन्तला—(प्रियंवदा को अँगुली से संकेत कर धमकाती है ।)

(५) राजा—आपने ठीक अनुमान किया । आप लोगों का सुंदर वृत्तान्त सुनने के लोभ से हमें अभी और कुछ जानना है ।

प्रियं—तेन हि अलं विचारितेन, अनियन्त्रणानुयोगः खलु तपस्विजनः (१)। (तेण हि अलं विआरिदेण, अणिज्जन्तणाणुजोओ क्खु तवस्सिजणो।)

राजा—एतत् पृच्छामि (२)—

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्
व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव सदृशेक्षणवल्लभाभि-
राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ॥ २९ ॥

अस्माकं, ममेत्यर्थः, 'एकत्वे द्वित्वे चास्मदो बहुवचनं वा' इति बहुवचनात्। अन्यदपि-अपरं च, प्रष्टव्यं—जिज्ञास्यमस्ति।

(१) प्रियमिति। तेन हि—प्रष्टव्यान्तरसद्भावेनैव हेतुना, विचारितेन प्रष्टव्यं न वेति विचारेणालम्—अवितर्कं झटित्येव पृच्छतु इत्यर्थः। नियन्त्रणा-देशकालादिभिर्निर्दिष्टनियमः, न विद्यते नियन्त्रणा-देशकालादिभिर्निश्चितनियमो यस्मिन् सः अनियन्त्रणः अनुयोगः—प्रश्नो यस्मिन् स तथाभूतः, 'यन्त्रणं स्यान्नियमने बन्धने रक्षणेऽपि च' इति विश्वः, 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः, तपस्विजनः-मुनिजनः तथा च—मुनिजनस्य सर्वथा विकाररहितत्वात् तथाभूतानामस्माकं सन्निधाननियमेनैव सर्वं प्रष्टुमर्हसीति तात्पर्यम्।

(२) राजेति—एतत्—वक्ष्यमाणम्, पृच्छामि—ज्ञातुमिच्छामि।

किं तदित्याह—वैखानसमिति। अनया-शकुन्तलया, आप्रदानात्-वराय प्रदानपर्यन्तं, परिणयपर्यन्तमित्यर्थः, मदनस्य-कामदेवस्य, व्यापारः-व्यवहारः अष्टाङ्गमैथुनमिति यावत्, तं रुणद्धि—परिहरतीति तत् तथाभूतं, वैखानसं—तापसं व्रतं—नियमो ब्रह्मचर्यादिरित्यर्थः, किं निषेवितव्यं—पालयितव्यम् ? आहो—अथवा 'आहो उताहो किमुत विकल्पे' इत्यमरः। सदृशे—स्वसमाने ईक्षणे—नयने यासां ताः, अत एव वल्लभाः—प्रियास्ताभिः 'दयितं वल्लभं प्रियम्' इत्यमरः, हरिणाङ्गनाभिः—मृगवधूभिर्मृगीभिः, समं-सह 'साकं सार्द्धं समं सह' इत्यमरः, अत्यन्तमेव सातिरेकमेव यावज्जीवनमेवेत्यर्थः, निवत्स्यति—वसतिं करिष्यति तपोवनमध्ये स्थास्यतीत्यर्थः। तथा चेयं भवदीया प्रियसखी किमुपकुर्वाणब्रह्मचर्ये तिष्ठत्यथ नैष्ठिकब्रह्मचर्ये वेति भावार्थः।

(१) प्रियंवदा—यदि ऐसा है तो अधिक सोच-विचार करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि तपस्विजनों के पास कुछ पूछने के लिये कोई विशेष नियम नहीं रहता।

(२) राजा—मैं यह पूछता हूँ कि—

यह आपकी सखी विवाह होने के पूर्व तक ही इस तरह ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये रहेंगी।

प्रियं—आर्य ! धर्माचरणपरवश एष जनः, गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः (१) । (अज्ज ! धम्माअरणपरवसो एस जणो, गुरुणो उण से अणुरूअवरप्पदाणे संकप्पो ।)

राजा—[सहर्षमात्मगतम्] (२)—

तत्र स्त्रीणां ब्रह्मचर्यद्वैविध्ये हारीतवचनम्—'द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च । तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्यचर्येति सद्योवधूनामुपनयनं कृत्वा विवाहः कार्य इति ।

यमोऽप्याह—'पुरा कल्पेषु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनञ्च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा ॥' इति ।

अत्र केचित्—वैखानसमित्यादिश्लोकपूर्वार्द्धेन किमियं शकुन्तला कस्मैचिद् राज्ञे देयेति अत्यन्तमेवेत्याद्युत्तरार्द्धेन च कस्मैचित्तपस्विने वेति राज्ञः प्रश्नद्वयम्, तेन अग्रे 'अनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः' इति प्रियंवदाप्रत्युत्तरं संघटते इति प्राहुः । अत्र विशेषणस्य साभिप्रायत्वात् परिकरालंकारः, यथोक्तं दर्पणे—

'उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः' । इति ।

वसन्ततिलकं वृत्तम्-'उक्तं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणम् ॥

(१) प्रियमिति । एषः जनः-शकुन्तला, धर्माचरणस्य धर्मानुष्ठानस्य परवशः-अधीनः अत एवाऽधर्मं नोपयातुमर्हतीति भावः । तेन स्वयंग्रहरूपाधर्मविमुखता सूचिता । प्रकृतमुत्तरमाह-पुनः-किन्तु, अस्याः शकुन्तलायाः, गुरोः-पितुः कण्वस्य, अनुरूपाय—रूपस्य योग्याय वराय—जामात्रे प्रदाने—समर्पणे, संकल्पः—मनोभिलाषोऽस्तीति शेषः । एतेन अनयाऽऽप्रदानाद् वैखानसं व्रतं निषेवितव्यमित्युत्तरं दत्तम् । अत्रोत्तराद् राजकृतप्रश्नस्य स्वपरिणयक्षमत्वोन्नयनाद् उत्तरालङ्कारः, यथोक्तं दर्पणकृता—'उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि' इति । किं चात्र राज्ञः शकुन्तलाप्राप्तिरूपस्य बीजार्थस्य 'अनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः' इत्यादिवचनेन प्ररोहितत्वादुद्भेदो नामाङ्गम्, तथा चोक्तं तेनैव—

'बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः' इति ।

(२) राजेति । 'गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः' इत्युत्तरश्रवणात् शकुन्तलाप्राप्तिः कथञ्चिद्भविष्यतीत्याशयेन राज्ञो हर्षः ।

या समान नेत्र होने से प्रिय हरिण की स्त्रियों के साथ बहुत दिनों तक (जन्म भर) निवास करेंगी ॥ २९ ॥

(१) प्रियंवदा—आर्य ! यह व्यक्ति तो धर्मानुष्ठान के अधीन है, परन्तु पिताजी का विचार इसे किसी अनुरूप वर को देने का है ।

(२) राजा—(प्रसन्नता के साथ स्वगत)—

भव हृदय ! साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः ।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥ ३० ॥

शकु—[सरोषमिव] अनसूये ! अहं गमिष्यामि (१) । (अणसूए ! अहं गमिस्सं ।)

अन—किं निमित्तम् (२) (किं णिमित्तं ?)

भवेति । हे हृदय ! साभिलाषं—शकुन्तलाविषये गृहीतसङ्कल्पं भव, यथेष्टमेनामभिलषेत्यर्थः । विधावनुमतौ वा लोट् । तत्र हेतुमाह–सम्प्रतीति । सम्प्रति–इदानीं, सन्देहस्य—'इयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा न वा, तथा किमुपकुर्वाणा नैष्ठिकी ब्रह्मचारिणी वेति' संशयस्य, निर्णयः—'उपकुर्वाणब्रह्मचारिणी शकुन्तला क्षत्रियाणां च परिग्रहक्षमा' इति निश्चयो जातः । 'गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः' इति प्रियंवदावचनादिति भावः । सन्देहनिर्णययोर्दृष्टान्तेन स्वरूपे व्याचष्टे—यत्—शकुन्तलारूपं वस्तु, अग्निं—तापसकन्यात्वेन ब्रह्मचारितया च अग्नितुल्यं स्पर्शानर्हमित्यर्थः, तत्परिग्रहे पापकारित्वादिति भावः । आशङ्कसे—संशयं करोषि, तत् शङ्कितम्, इदं शकुन्तलारूपं वस्तु, स्पर्शक्षमं—स्पर्शार्हं सुखस्पर्शमिति यावत्, रत्नं—मणिस्वरूपं जातमिति शेषः, नाग्नितुल्यं, स्पर्शार्हमित्यर्थः अप्सरःसम्भवाद् राजर्षिबीजभूतत्वाच्च अब्राह्मणीरूपोपकुर्वाणा परिणययोग्येति अस्याः परिग्रहे पापं न भविष्यतीति भावः । अत्र परार्द्धवाक्यार्थस्य पूर्वार्द्धं प्रति हेतुत्वात् काव्यलिङ्गम् । 'अग्निं रत्न'मित्यादौ समासाभावात् व्यस्तरूपकम् । हर्षौत्सुक्यादयो भावाः । किं च सुखस्य गम्यमानतया प्राप्तिर्नाम मुखसन्धेरङ्गम् । तल्लक्षणं तु—'प्राप्तिः सुखागमः' इति । आर्या जातिः ॥ ३० ॥

(१) शकु इति । सरोषमिव सक्रोधमिव । दराक्षेपोपपादितया लज्जया नायकसन्निधौ स्थातुमशक्यत्वात् प्रियंवदां प्रति रोषः । इवशब्देन रोषस्य कृत्रिमत्वं तेन हि मनसि हर्षश्च द्योत्यते ।

(२) अनेति । गमनहेतुं जानन्त्यपि तन्निरोधार्थं पृच्छति—किन्निमित्तमिति, गमिष्यसीति शेषः ।

हे हृदय ! तुम अभिलाषी बनो, अब तो सन्देह भी निवृत्त हो गया। जिसको तुम अग्नि समझ रहे थे, वह स्पर्श करने योग्य रत्न निकला ॥ ३० ॥

(१) शकुन्तला—(कुछ कुपित सी होकर) अनसूया ! मैं जाती हूँ।

(२) अनसूया—किसलिये ?

शकु—इमामसम्बद्धप्रलापिनीं प्रियंवदाम् आर्यायै गौतम्यै गत्वा निवेदयिष्यामि (१)। (इमं असम्बद्धप्पलाविणिं पिअंवदं अज्जाए गोदमीए गदुअ णिवेदइस्सं।) [इत्युत्तिष्ठति]।

अनु—सखि ! न युक्तमाश्रमवासिनो जनस्य अकृतसत्कारमतिथिविशेषम् उज्झित्वा स्वच्छन्दतो गमनम् (२)। (सहि ! ण जुत्तं अस्समवासिणो जणस्स अकिदसक्कारं अदिधिविसेसं उज्झिअ सच्छन्ददो गमणं।)

शकु—[उत्तरमदत्त्वैव प्रस्थिता। (३)

---

(१) शकु इति। निमित्तमाह—इमामिति। असम्बद्धप्रलापिनीम्—अप्रस्तुतत्वादसंलग्नभाषिणीम्। आर्यायै—माननीयायै, गौतम्यै—गौतमी नाम शकुन्तलाया मातृस्थानीया कण्वस्य धर्मभगिनी, तस्यै इत्यर्थः, निवेदयिष्यामि—ज्ञापयिष्यामि। सति विशेष्ये बाधे विशेषणमुपसंक्रामतीति न्यायात् प्रियंवदाया असंबद्धप्रलापिनीत्वं निवेदयिष्यामीत्यर्थः, गौतम्याः शासनेन पुनरेवमसम्बद्धप्रलापित्वादिरूपदोषाणां निवृत्त्यर्थमिति भावः।

(२) अनेति। धर्मलोपोपन्यासच्छलेन तस्या गूढं नायकाभिप्रायं जानन्ती अनसूया सोपहासं पुनरपि प्रतिषेधति—सखीति। सखि—शकुन्तले ! अकृतः सत्कारः भच्यपेयार्पणादिभिः पूजा यस्य सः तथोक्तम्, अतिथिविशेषम्—अतिथिरूपं राजानमित्यर्थः, उज्झित्वा-त्यक्त्वा, स्वच्छन्दतः-स्वाभिप्रायतः, 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः, गमनं—पलायनम्, आश्रमवासिनः—तपोवनगतस्य जनस्य तपस्विमात्रस्येत्यर्थः, एतेन धर्मनिरतत्वं सूच्यते। न युक्तम्-असङ्गतम्, तपस्विनियमभङ्गप्रसङ्गादिति भावः। अत्र साभिलाषमेनं हृदयवल्लभमनादृत्य स्वेच्छया गमनं ते नोचितमित्युपहासो व्यङ्ग्यः।

(३) शकु इति। उत्तरं—प्रतिवचनम्, अदत्त्वैव—नोक्त्वैव, प्रस्थिता प्रस्थातुमारब्धवती। आदिकर्मणि क्तः।

---

(१) शकुन्तला—यह प्रियंवदा जो असम्बद्ध (ऊट-पटाँग) बातें करती है, मैं जाकर आर्या गौतमी से कहूँगी। (उठ खड़ी होती है।)

(२) अनसूया—सखी ! जिसका अभी आतिथ्यसत्कार भी नहीं किया गया है, ऐसे एक विशेष अतिथि को छोड़कर इच्छानुसार चल देना आश्रमवासी लोगों के लिए उचित नहीं है।

(३) शकुन्तला—(बिना कुछ उत्तर दिये ही चल पड़ती है।)

राजा—[स्वगतम्] कथमियं गच्छति [जिघृक्षुरिव पुनरिच्छां निगृह्य] अहो ! चेष्टानुरूपिणी कामिजनचित्तवृत्तिः। अहं हि (१)—

अनुयास्यन् मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्वस्थानादचलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः॥ ३१॥

प्रियं—[शकुन्तलामुपेत्य] हला चण्डि ! नार्हसिगन्तुम् (२)। (हला चण्डि ! णारिहसि गन्तुम्।)

---

(१) राजेति। इयं—शकुन्तला, कथंशब्दः सविषादसम्भ्रमव्यञ्जकः, कथं गच्छति-न गच्छत्विति भावः। राज्ञस्तद्रूपसुधापानोत्सवविच्छेदात् शकुन्तलाया गमनमनभिमतमिति व्यज्यते। जिघृक्षुरिव-ग्रहीतुमिच्छुरिव, शकुन्तलामिति शेषः, अनेन प्रबलौत्सुक्यं तस्य च धारावाहिकतया कालाक्षमत्वं च व्यज्यते। इच्छां-जिघृक्षाम्, निगृह्य-बलपूर्वकं दमयित्वा, विनयादिनेति भावः। अहो—आश्चर्यम्, कामिजनस्य—कामप्रयुक्तस्य लोकस्य चित्तवृत्तिः—इच्छा, चेष्टानुरूपिणी—शरीर-कृतव्यापारातुल्यरूपा, बाह्यशारीरिकव्यापारो यस्यां यस्यां दशायां येन येन रूपेण प्रभवति चित्तवृत्तिरपि तस्यां तस्यां दशायां तेन तेनैव रूपेण भवितुमर्हतीत्यर्थः। उक्तं सामान्यमर्थं प्रकृतेन स्ववृत्तान्तेन समर्थयितुमाह—अहं हीति। हि—यस्मात्, अहमित्यस्य 'स्वस्थानादचलन्नपि गत्वेव प्रतिनिवृत्त' इति श्लोकस्थेनान्वयः।

अनुयास्यन्निति। मुनितनयां—कण्वपुत्रीं शकुन्तलाम्, अनुयास्यन्—तद्रूप-दर्शनादिलोभाद् अनुगमिष्यन्, सहसा—हठात्, स्वाविनयव्यक्तिमनादृत्येति यावत्, विनयेन—जितेन्द्रियतया 'इन्द्रियाणां जयं प्राह विनयं भरतो मुनिः' इति श्रवणात्, स्वाभाविकधीरतया वेत्यर्थः, वारितः—निषिद्धः प्रसरः—गतिरावेगो वा यस्य स तादृशः सन्, अत एव स्वस्थानात्—अध्युषितप्रदेशात्, अचलन्नपि—पदमेकमगच्छ-न्नपि, गत्वा पुनः प्रतिनिवृत्तः—प्रत्यागत इव, अस्मीति शेषः।

तत्र भावाभिमानिनी वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा 'अचलन्नपि गत्वा' इति विरोधाभास-श्चालङ्कारौ। आर्या जातिः॥ ३१॥

(२) प्रियमिति। उपेत्य—उपगम्य। चण्डि !—अतिकोपने ! 'चण्डस्त्व-

---

(१) राजा—(स्वगत) क्या यह जा रही है ? (मानो पकड़ने की इच्छा करता है, फिर रुक जाता है।) आश्चर्य की बात है कि कामियों की चित्तवृत्ति भी बाहरी घटनाओं के अनुरूप ही होती है। मैं ही—

शकुन्तला के पीछे पीछे जाने की तैयारी कर चुका था, सहसा शिष्टाचार ने रोक दिया। यद्यपि यह शरीर इस स्थान से नहीं हटा, परन्तु मैं मानो जाकर लौट आया॥ ३१॥

(२) प्रियंवदा—(शकुन्तला के पास जाकर) अरी चण्डि ! तू नहीं जा सकती।

शकु । [परिवृत्य सभ्रूभङ्गम्] किमिति ? (१) (किं त्ति !)

प्रियं—द्वे मे वृक्षसेचनके धारयसि, ताभ्यां तावदात्मानं मोचय; ततो गमिष्यसि (२) । (दुवे मे रुक्खसेअणके धारेसि, तेहिं दाव अत्ताणं मोआवेहि तदो गमिस्ससि ।) [इति बलान्निवर्त्तयति ।]

राजा—भद्रे ! वृक्षसेचनादेवात्रभवतीं परिश्रान्तां तर्कयामि । तथा ह्यस्याः (३)—

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा-
दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः ।

त्यन्तकोपनः' इत्यमरः 'गौरादित्वात् ङीष्', गन्तुम्—इतोऽन्यत्र यातुं, नार्हसि—नोपयुक्ताऽसि ।

(१) शकु इति । परिवृत्य—सम्मुखीभूय, भ्रूभङ्गेन—भ्रूकौटिल्येन सहितमिति सभ्रूभङ्गम् । इति—मम गतिनिरोधः, किं–कथं, क्रियत इति शेषः । अथवा–किमिति—किंहेतुकम्, 'इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु' इत्यमरः ।

(२) प्रियमिति । मे—मह्यम् 'धारेरुत्तमर्णः' इति सम्प्रदाने चतुर्थी, द्वे वृक्षसेचनके—वृक्षः सिच्यते आभ्यामित्यतोऽल्पार्थे कन्, तथोक्ते—उदकपूर्णघटावित्यर्थः, वृक्षालवाले जलसेकौ वा । धारयसि—ऋणत्वेन धत्से, तथा च—पूर्वेद्युस्त्वया वारद्वयं वृक्षसेचनं मह्यं दातुमङ्गीकृत्य मत्तो गृहीतम्, तत् ते ऋणत्वेन जातम् इति भावः । ताभ्याम्—ऋणबन्धभूताभ्यां वृक्षसेचनाभ्याम्, आत्मानं मोचय—त्याजय, तद् वृक्षसेचनद्वयं दत्वाऽऽत्मानं मुक्तं कुर्वित्यर्थः । ताभ्यामित्यत्राण्यन्तकर्त्तरि तृतीया बाध्या । निवर्त्तयति—स्वस्थानं प्रापयति ।

(३) राजेति । भद्रे—प्रियंवदे ! अत्रभवतीं—मुनिदुहितृत्वेन पूज्यां शकुन्तलाम्, परिश्रान्तां—परितः श्रमयुक्ताम्, तर्कयामि—लक्षयामि ।

तदेव दर्शयति—तथा हीति । अस्याः–शकुन्तलायाः बाहू अतिमात्रलोहिततलावित्यादिश्लोकस्थेन वाक्येन सम्बन्धः ।

स्रस्तांसाविति । बाहू–भुजौ, करद्वयमित्यर्थः, घटानां—जलपूर्णकुम्भानाम् उत्क्षेपणात्—जलसेचनायोत्तोलनात् हेतोः, हेतुरयं सर्वत्र योज्यः, स्रस्तौ-परिश्रान्ततया

---

(१) शकुन्तला—(लौट कर और भौहें तानकर) क्यों ?

(२) प्रियंवदा—तू हमारे दो वृक्ष सींचने की ऋणी है । अपना पहले उनसे छुटकारा करा ले, तब जा । बलपूर्वक लौटा लाती है ।)

(३) राजा—भद्रे ! वृक्षों के सींचने से ही मैं आपको थकी समझता हूँ । जैसे कि—

बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः ॥ ३२ ॥
तदहमेनामनृणां करोमि । [इत्यङ्गुरीयकं ददाति ।] (१)

अवनतौ अंसौ—भुजशिरसी ययोस्तादृशौ, 'स्कन्धो भुजशिरोऽसोऽस्त्री' इत्यमरः, प्रकृत्या तु नतावधुनाऽतिनतावित्यर्थः । तथा अतिमात्रम्—अत्यर्थं लोहिते—रक्तवर्णे घटवर्पणादिति भावः, तले—करतले ययोस्तौ तथाभूतौ, च जातौ इति शेषः, स्वभावतस्तु करतलं रक्तवर्णमासीत् सम्प्रत्यतिमात्रं रक्तवर्णं जातमित्यर्थः । एतेन विशेषणयुग्मेनोत्तमनायिकात्वं ध्वन्यते । अत्र तलशब्दः करतलवाचकः, बहुसान्निध्यात्, 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहण' मिति न्यायाद्वा, भीमो भीमसेन इत्यादिवत् । प्रमाणाधिकः—स्वाभाविकादधिको द्वादशाङ्गुलाधिक इति यावत्, श्वासः—निःश्वासः, अद्यापि—इदानीमपि, जलसेचनक्षणादूर्ध्वमपीत्यर्थः, स्तनयोर्वेपथुं—कम्पं स्पन्दमित्यर्थः, 'द्वितोऽथुच्' (सि० कौ० सू०) इति अथुच् प्रत्ययः, जनयति—उत्पादयति । तथा वदने—मुखमण्डले, घर्माम्भसा—स्वेदवारिणा, कर्णभूषणभूते शिरीषकुसुमे रुणद्धि—सुकुमारतया स्वेदजललग्नतया च दोलनात् स्थगयतीति तथोक्तम्, जालकं—बिन्दुकदम्बकम् , बद्धं—धृतं जनितमित्यर्थः । स्वेदस्य सर्वाङ्गसम्भवेऽपि वल्कलाच्छादितेतराङ्गतयाऽदृष्टचरत्वाद् वदने इत्यभिहितम् , वदने इति कपोलयोरित्यर्थः, अनुरागिणामादौ तत्रैव दृक्पातसम्भवात् , कर्णाभरणशिरीषरोधसम्भवाच्च । तथा बन्धे—केशबन्धने, स्रंसिनि—स्खलिते सति, एकेन हस्तेन अपरस्य घटोद्वहने निहतत्वादिति भावः, यमिताः—संयतीकृताः यद्वा इत्यर्थः, मूर्धजाः—केशाश्च, पर्याकुलाः—प्राप्तविकीर्णभावाः विषमा इत्यर्थः, स्थिता इति शेषः ।

अत्र शकुन्तलानिष्ठस्य परिश्रान्तत्वस्य समर्थनं प्रति बहुविधकारणानामभिहितत्वात् समुच्चयालंकारः, स्वभावोक्तिरिति केचित् , तच्चिन्त्यम् , तन्मूलकविच्छित्तेरभावात् । स्तनवेपथुं जनयतीत्यत्र स्तनवेपथुजननेन हेतुना श्वासे प्रमाणाधिकत्वं साधितमित्यनुमानम्, शार्दूलविक्रीडितं नाम वृत्तम् ॥ ३२ ॥

(१) तदिति । तत्—यस्मादियं परिश्रमातुरतया यावद्दणमोचने सम्प्रत्यशक्ता

इसके बार-बार घड़े उठाने से दोनों हाथों की हथेलियां लाल हो गयी हैं, दोनों कन्धे झुक गये हैं, प्रमाण से अधिक श्वास लेने के कारण स्तन कांप रहे हैं, पसीने की बूँदें मुख पर छायी हुई हैं, इसीसे दोनों कानों के शिरीषकुसुम अवरुद्ध हो गये हैं और बन्धन खुल जाने के कारण केवल एक हाथ से लपेटे हुए केश अब भी बिखरे हुए हैं ॥ ३२ ॥

(१) इसलिये मैं इन्हें ऋणमुक्त कर देता हूँ । (अपनी अँगूठी देता है ।)

[सख्यौ प्रतिगृह्य नामाक्षराणि वाचयित्वा च परस्परमवलोकयतः ।] (१)

राजा—अलमन्यथा सम्भावनया, राज्ञः प्रतिग्रहोऽयम् (२) ।

प्रियं—तेन हि नार्हति इदमङ्गुरीयकमङ्गुलीवियोगम् । आर्यस्य वचनादेव अनृणा एषा भवतु (३) । (तेण हि णारिहदि एदं अङ्गुलीअं अङ्गुलीविओअं । अज्जस्स वअणादो ज्जेव अणिणा एसा भोदु ।)

तस्मादित्यर्थः, एनां—शकुन्तलाम्, अनृणाम्—ऋणमुक्तां करोमि इत्युक्त्वा अङ्गुरीयकं ददाति—अर्पयति, राजेति शेषः । शकुन्तला इदं मद्दत्ताङ्गुरीयकं गृहीत्वा ऋणशोधनाय प्रियंवदायै ददातु तेन चानृणा भवतु, लोका हि प्रतिनिधिवस्तुप्रदानेनाप्यनृणा भवन्तीति दर्शनादित्याशयः ।

(१) सख्याविति । प्रतिगृह्य राज्ञो हस्तादङ्गुरीयकं शकुन्तलाप्रतिनिधिभावेन गृहीत्वा, नामाक्षराणि—अङ्गुरीयाङ्कितान् दुष्यन्तस्य नामवर्णान् , वाचयित्वा पठित्वा, परस्परम्—अन्योन्यम्, अवलोकयतः—कथमत्रायं महाराजो दुष्यन्तश्छद्मना समायात इति सविस्मयं पश्यत इत्यर्थः ।

(२) राजेति । अन्यथा सम्भावनया—'दुष्यन्त' इति नामाक्षरावलोकनेन मम नृपत्वसम्भावनया, अलम्—अहं राजा दुष्यन्त इति सम्भावना न कार्या इत्यर्थः । ननु तर्हि कथमिदं तदीयमङ्गुरीयकं तव करे लब्धमित्यत आह—राज्ञ इति । राज्ञः—दुष्यन्तात् , अयं प्रतिगृह्यत इति प्रतिग्रहः—आदानम्, दुष्यन्तेन मह्यमिदमङ्गुरीयकं पारितोपिकं दत्तमतो मया च तत्सकाशाद् गृहीतमित्यर्थः । तथा चाहं न महाराजो दुष्यन्तः किन्तु तत्पुरुष एवाहमिति भावः । अत्र—अन्यथा सम्भावनया—राजस्वग्रहणेन दोषस्पर्शाशङ्कया अलम्, राज्ञः—दुष्यन्तस्य मम, सकाशादयं प्रतिग्रहः शकुन्तलाया इति शेषः । अयमर्थो राज्ञोऽसत्यवादित्वभिया कार्यः ।

(३) प्रियमिति । विदग्धा प्रियंवदा तदर्थं सम्यगावगम्य भङ्ग्या प्रतिवक्ति—तेन हीति । तेन हि—राज्ञः प्रतिगृहीतत्वेनैव कारणेन अङ्गुलीवियोगं—भवदङ्गुलीविच्छेदं, नार्हति—न कर्त्तुं युक्तं भवति, भवतामङ्गुल्यामेवेदं तिष्ठत्विति भावः ।

(१) (दोनों सखियां अँगूठी लेकर और उसमें खुदा हुआ नाम पढ़कर दोनों एक दूसरी का मुँह ताकती रह जाती हैं ।)

(२) राजा—आप और किसी बात का ख्याल न करें । यह मुझे राजा के यहाँ से दान में मिली थी ।

(३) प्रियंवदा—यदि ऐसा है तो इस अँगूठी का आप की उँगली से बिछुड़ना ठीक नहीं है । मैं आपके कहने ही से इसे ऋणमुक्त कर देती हूँ ।

अन—हला शकुन्तले ! मोचितासि अनुकम्पिना आर्येण, अथवा राजर्षिणा । तत् कस्मिन्निदानीं गमिष्यसि (१) ? (हला सउन्तले ! मोआविदासि अणुकम्पिणा अज्जेण अहवा राएसिणा । ता कहिं दाणिं गमिस्ससि ?)

शकु—[आत्मगतम्] नैतं जनं पर्यहरिष्यम्, यद्यात्मनः प्राभविष्यम् (२) । (ण एदं जणं परिहरिस्सं, जइ अत्तणो पहविस्सं ।)

प्रियं—किमिदानीं न गम्यते ? (३) (किं दाणिं ण गच्छीअदि ?)

कथं तर्हीयमृणान्मुक्ता भविष्यतीत्यत आह—आर्यस्येति । आर्यस्य—भवतः, वचनादेव—'एनामनृणां करोमी'ति वचनेनैव, एषा—शकुन्तला, अनृणा—ऋणमुक्ता, महद्वचनस्याव्यर्थत्वात् 'अहमेनामनृणां करोमी'ति वाक्यादेवास्या ऋणशोधनं जातमिति भावार्थः ।

(१) अनेति । अनुकम्पिना—दयालुना, आर्येण—धर्मसचिवेनामुना, अङ्गुरीयकगतनामाक्षरदर्शनेन महाराजदुष्यन्तोऽयमिति जातसंशयादाह—अथवेति । राजर्षिणा—महाराजेन दुष्यन्तेन, मोचितासि—अनृणीकृतासि । तत्—तस्मात्, कस्मिन्—एतत्स्थानं परित्यज्य कस्मिन् स्थाने, इदानीम्—अधुना, गमिष्यसि, विशिष्टातिथेर्महाराजस्य सपर्यामकृत्वेति शेषः । तथैव करोषि चेत् तदा महाजनायाऽवज्ञा तव च धाष्टर्यं संसूच्येतेति भावः ।

(२) शकु इति । एतं जनं—राजानम्, न पर्यहरिष्यम्—न पर्यत्यक्ष्यम्, यदि आत्मनः—स्वस्येति कर्मणि षष्ठी, प्राभविष्यम्—प्रभुः-अधिकारिणी अभविष्यम् । तथा हि—यद्यहं पितुरधीना नाऽभविष्यम्, तर्ह्येनमेव धीरोदात्तनायकं नृपतिं प्राणार्पणपूर्वकं पतित्वेनावरिष्यमिति तात्पर्यम् । एतेन शकुन्तलायाः पित्रायत्ततया तत्करणाक्षमत्वेन महद्दुःखं भवतीति प्रकाश्यते ।

अत्र नायिकायाः शकुन्तलाया अनुरागात्मकबीजोदयात् समाधानं नाम मुखसन्ध्यङ्गम्, तल्लक्षणन्तु—

'बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ॥' इति ।

(३) प्रियमिति । शकुन्तलाया जनितमन्तर्विकारमनुमाय सकौतुकमाह—किमिति । अत्र परिभावना नाम मुखसन्ध्यङ्गम् । तदुक्तं दर्पणे—

'कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना' इति ॥

---

(१) अनसूया—सखी शकुन्तला ! दयालु आर्य अथवा राजर्षि ने तुम्हें ऋण से छुटकारा दिला दिया । अतः बताओ अब कहाँ जाओगी ?

(२) शकुन्तला—(स्वगत) यदि मैं स्वतन्त्र होती तो इस व्यक्ति को कभी न छोड़ती ।

(३) प्रियंवदा—अब क्यों नहीं जाती ?

शकु—इदानीं किं तव आयत्तास्मि ? यतो मे रोचते, ततो गमिष्यामि (१) । (दाणिं किं तुह आअत्तह्मि ? जदो मे रोअदि, तदो गमिस्सं ।)

राजा—[शकुन्तलां विलोकयन्नात्मगतम्] किं खलु यथा वयमस्यामियमपि अस्मान् प्रति तथा स्यात् ? अथवा लब्धावकाशा मे मनोवृत्तिः । कुतः (२)—

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यवहिता मयि भाषमाणे ।

नन्वत्र परिभावनाङ्गनिवेशे विधानपरिभावनयोः पौर्वापर्यभङ्गप्रसङ्ग इति चेन्न 'एतानि चाङ्गानि उक्तेनैव पौर्वापर्येण भवन्ति; अङ्गान्तराणि त्वन्यथापि' इत्यादिवचनेन स्पष्टं दर्पणकृताऽनयोः पौर्वापर्यसंप्लवस्य स्वीकृतत्वात् । तथा चानयोः पौर्वापर्यभङ्गे न कश्चित् दोष इति सर्वमवदातम् ।

(१) शकु इति । आयत्ता—वशं गता, अधीनेति यावत्, 'अधीने निघ्न आयत्त' इत्यमरः, नाहं तवायत्ता इत्यर्थः । सम्प्रति तु महाभागस्य आयत्ताऽस्मि इति गूढार्थः । यतो—यस्मिन् काले, मे—मह्यं रोचते, 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणे' इति चतुर्थी ।

(२) राजेति । किं खल्वित्येताभ्यां वितर्कगर्भप्रश्नो द्योत्यते । अस्यां—शकुन्तलायाम्, यथा—येन रूपेण, अनुरक्ता इति शेषः । इयं—शकुन्तलाऽपि, तथा—तेनैव रूपेण, अस्मान् प्रति—मां प्रति इत्यर्थः, प्रतियोगे द्वितीया, अनुरक्तेति शेषः । पुनः किमपि विचिन्त्याह—अथवेति । लब्धावकाशा—प्राप्तविषयद्वारा, मनोवृत्तिः— निश्चयात्मिकेत्यर्थः । तथा हि—मम निश्चयरूपा प्रवृत्तिः शकुन्तलागतानुरागविषयस्पर्शं द्वारं प्रापेत्यर्थः ।

अत्र पूर्वकल्पस्य संशयात्मकत्वाद् दुःखम्, अथवेत्युत्तरकल्पेऽनुरागनिश्चयात् सुखमित्यर्थस्य सुखदुःखकृततया विधानं नाम मुखसन्ध्यङ्गम् । तल्लक्षणं तु—

'सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम्' इति ।

ननु मनोवृत्तेस्तथाभूतत्वे कश्चात्र हेतुरिति हेतुप्रदर्शनपूर्वकं विवृणोति—वाचमिति । यद्यपि, इयं—शकुन्तला, मद्वचोभिः—ममोक्तिभिः सह, वाचं—निजोक्तिम्, न मिश्रयति—न संमेलयति, साक्षान्मया सह नालपतीत्यर्थः । अत्र भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं ग्राम्यतादोषनिरसनायेति बोध्यम् । अथ च वाचं वचोभिरिति स्त्री·

(१) शकुन्तला—क्या मैं तुम्हारे अधीन हूं ? जब मेरी इच्छा होगी, तब जाऊँगी ।

(२) राजा—(शकुन्तला को देखता हुआ स्वगत) क्या मैं जैसे इसमें अनुरक्त हूं, उसी तरह यह भी मुझ पर अनुराग रखती होगी ? अथवा मेरी चित्तवृत्ति को ही यह अवसर मिल गया है । क्योंकि—

यद्यपि जिस समय मैं बात करता हूँ, यह अपना मत नहीं प्रकट करती, फिर भी

कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीयं
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥ २३ ॥

[नेपथ्ये] भो भास्तपस्विनः ! तपोवनसन्निहितसत्त्वरक्षणाय सज्जीभवन्तु भवन्तः, प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी राजा दुष्यन्तः (१)।

नपुंसकलिङ्गनिर्देशेन स्वीयां सखीमपि तन्मिषेण मेलयतीति ध्वन्यते। तथापीति अध्याहार्यम्, मयि भाषमाणे—यत् किञ्चित् कथयति सति, अवहिता—मदुक्तौ दत्तावधाना सती, कर्णं ददाति—निक्षिपति, मदुक्तिं सादरं शृणोतीति भावः। एवं यद्यपि, मदाननस्य—मन्मुखस्य सम्मुखी—अभिमुखी सती, कामं—पर्याप्तम्, 'कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्' इत्यमरः। यथा स्यात्तथा, न तिष्ठति—स्थितिमाश्रयते, तथापि तु—किन्तु, अस्याः—शकुन्तलायाः, दृष्टिः—दृक्, भूयिष्ठं—सातिशयं यथा स्यात्तथा, प्रायश इत्यर्थः, अन्यः—मद्भिन्नो विषयः—लक्ष्यो यस्याः सा तथोक्ता, न—नैवेत्यर्थः। अत्र चरणत्रयेऽस्मच्छब्दत्रयेण सौभाग्यातिशयो द्योत्यते। अत्र च अनुरागोत्पत्तिनिर्णयरूपं कार्यं प्रति कर्णप्रदानान्यदर्शनरूपहेतुद्वयस्योपन्यासात् समुच्चयालङ्कारः। किञ्चात्र विलासो नाम नायिकायाः स्वभावजोऽलंकारोऽभिहितः। तथा च दर्पणे—

'यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्। विशेषस्तु विलासः स्यात्' इति। अनुरागेङ्गितमपि सम्यगुक्तम्, यदुक्तं तत्रैव—

'दृष्ट्वा दर्शयति व्रीडां सम्मुखं नैव पश्यति।
प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वाऽतिक्रान्तं पश्यति प्रियम् ॥
अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत् सावधाना च तत्कथाम्।
शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालाऽनुरागिणी ॥'

वृत्तं नाम वसन्ततिलकम् ॥ २३ ॥

(१) प्रकृतकथाविच्छेदार्थभङ्गान्तरारम्भेच्छुः कविराह—नेपथ्य इति। नेपथ्ये—जवनिकामध्ये। भो भोरिति सम्भ्रमे द्विरुक्तिः, तपोवनसन्निहितानाम्—आश्रमसन्निधाववस्थितानां सत्त्वानां-मृगादिजन्तूनां रक्षणाय—रक्षणार्थम्, 'सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः, असज्जाः सज्जाः भवन्तु इति सज्जीभवन्तु—उद्युक्ता भवन्तु—सज्जाशब्दादभूततद्भावे च्विप्रत्ययः दीर्घश्च। प्रत्यासन्नः—सन्निहितः, किलेति

सावधानी के साथ मेरी बातें सुनती है। यद्यपि यह मेरे मुँह के सामने नहीं बैठती, फिर भी अधिकतर इसकी निगाह दूसरी ओर नहीं जाती ॥ २३ ॥

(१) (नेपथ्य में) हे हे तपस्वियो ! तपोवन के आस-पास रहने वाले जीवों की रक्षा करने के लिए तैयार हो जाओ। शिकारी राजा दुष्यन्त इस वन में आ रहा है। देखो—

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु ।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु ॥ ३४ ॥

वार्तायां सम्भावने वा, 'वार्त्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः, मृग्यन्ते जन्तवो यस्यां क्रियायां सा मृगया पशुहिंसा तस्यै विहरति विचरतीति मृगयाविहारी । राजा प्रत्यासन्न इत्यनेन ईतिभीतिरुपदर्शिता । तथा च मनुः—

'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः ।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥' इति ।

केचित्त्वत्र दुष्यन्त इति राजनामश्रवणेन शकुन्तलायाः प्रोत्साहनाद्भेदलक्षणमङ्गमुपक्षिप्तमित्याहुः, 'भेदः प्रोत्साहना मता' इति तल्लक्षणोक्तेः । चूलिकानामार्थोपक्षेपकोऽयमित्यपरे—

'अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका' ॥ इति दर्पणोक्तेः ।

प्रत्यासन्न इति यदुक्तं तत्र हेतुं दर्शयति—तुरगेति । तथाहि—राजप्रत्यासत्तिहेतोरित्यर्थः; अथवा 'तमेवार्थं जानीहि' इति चार्थः । तुरगाणां—राजाश्वानां खुरैर्हतः—क्षुण्णो हननेनोरिक्षप्त इति यावत्, परिणतः—अस्तमयोन्मुखो यः अरुणः—सूर्यः तस्य प्रकाश इव प्रकाशो दीप्तिर्यस्य स तथाभूतः, पाटलवर्ण इत्यर्थः । एतेन पर्वतीयगैरिकप्रदेशोत्थितत्वं रेणोः सूचितम् । रेणुः—धूलिः 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः' इत्यमरः, जातावेकवचनम्, शलभानां—पतङ्गानां समूहः—वृन्दमिव 'समौ पतङ्गशलभौ' इत्यमरः; तत्र शलभानां छदलौहित्याल्लौहित्यप्रायत्वमिति नोपमानांशे न्यूनता । विटपेषु—वृक्षशाखासु विषक्तानि—विलम्बितानि जलार्द्राणि—मुनीनां स्नानजलस्तिमितानि वल्कलानि—वृक्षत्वचो येषां तथोक्तेषु, आश्रमद्रुमेषु—तपोवनवृक्षेषु, पतति—वातसंयोगेनोड्डीय संसजति ।

अत्र धूलिपातेन वैवर्ण्यसम्भावनया अमेध्यत्वाशंकया च विटपेभ्यो वल्कलापसारणं क्रियन्तामिति ध्वन्यते, तुरगेत्यनेन सेनाबाहुल्यमाश्रमपदेन च तुरगाणामतिसान्निध्यं द्योत्यते । उपद्रवाय समुत्थितानां पतङ्गसमूहानां लौहित्यं प्रायशो दृश्यते । शलभसंघसाम्योक्त्या धूलीनामीतिभेदवत्तपोवनोपद्रवकारित्वमपि सूच्यते । परिणतारुणप्रकाश इति लुप्तोपमा, शलभसमूह इवेति च श्रौतोपमा, अनयोश्च परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । तथा 'तुरगखुरहतः' अत एव 'परिणतारुणप्रकाश' इति तत्कार्यं रेणूद्धूननादिकमुक्तमित्यप्रस्तुतप्रशंसालंकारः, न पर्यायोक्तम्, कार्यस्या-

घोड़ों की टाप से उड़ी हुई, अस्ताचलगमनोन्मुख सूर्य के प्रकाश की भाँति तथा टिड्डीदल के समान रक्तवर्ण की धूलि-जिन वृक्षों पर गीले वल्कल वस्त्र सूखने के लिए डाले गये थे, उन पर पड़ रही है ॥ ३४ ॥

राजा—[स्वगतम्] अहो धिक्! मदन्वेषिणः सैनिकास्तपोवनमभिरुन्धन्ति (१)।

[पुनर्नेपथ्ये] भो भोस्तपस्विनः! पर्याकुलयन् वृद्धस्त्रीकुमारान् एष गजः प्राप्तः (२)—

तीव्राघातादभिमुखतरुस्कन्धभग्नैकदन्तः
प्रौढाकृष्टव्रततिवलयासञ्जनाज्जातपाशः।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
धर्मारण्यं विशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ॥ ३५ ॥

प्रस्तुतत्वात्। यथात्र राज्ञः प्रत्यासन्नत्वमवश्यं वक्तव्यं तद्वत्कार्यस्यानावश्यकत्वात्, पर्यायोक्ते तु कारणवत् कार्यमपि प्रस्तुतमेवेत्यर्थद्योतनिका। पुष्पिताग्रा नाम वृत्तम्, तदुक्तम्—

'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।' इति ॥३४॥

(१) राजेति। अहो इति विस्मये। धिगिति निन्दायाम्, मामिति शेषः। आश्रमपीडायै प्रथममेव सैन्यानां निवारणाकरणादविविच्यकारितयाऽऽत्मानं निन्दामीत्यर्थः। सैनिकाः—सेनासमवेताः सैन्याः, 'सेनायां समवेता ये सैन्यास्तु सैनिकाश्च ते' इत्यमरः। हस्त्यश्वरथपदातिसमुदायः सेना। अभिरुन्धन्ति—समन्तात् परिवेष्ट्य पीडयन्ति।

(२) पुनरिति। पर्याकुलयन्—भयेन व्यस्तीकुर्वन्। प्राप्तः—उपागतः।

तीव्रेति। तीव्राघातात्—कठोरप्रहारात्, अभिमुखस्य—सम्मुखीनस्य तरोः—द्रुमस्य स्कन्धे-प्रकाण्डे भग्न एको दन्तो यस्य स तथाभूतः, एकदन्तेनैव दृढप्रहारसम्भवादिति भावः, प्रौढं—प्रवृद्धमत्यन्तमिति यावत् तद्यथा स्यात्तथा, 'प्रवृद्धं प्रौढमेधितम्' इत्यमरः, आकृष्टस्य—आक्षिप्तस्य व्रततिवलयस्य—लतामण्डलस्य, आसञ्जनात्—परिवेष्टनात्, जातः पाशः—बन्धनं यस्य स तथाभूतः, 'पाशः पक्षादिबन्धने' इति विश्वः, भिन्नं—भीत्युत्पादनात् पृथक्कृतं सारङ्गाणां—हरि-

---

(१) राजा—(स्वगत) हाय! मालूम होता है कि हमको खोजने वाले सैनिकों ने यह तपोवन घेर लिया है।

(२) (फिर नेपथ्य में) हे हे तपस्वियो! बूढ़े, स्त्री तथा बच्चों को व्याकुल करता हुआ यह एक हाथी भी आ पहुँचा—

सामने के एक वृक्ष पर तीव्र आघात करने से इसका एक दाँत टूट गया है, खूब जोरों के साथ लताओं के लिपट जाने से वे लतायें इसके पैर में पाश के समान मालूम पड़ रही है,

सर्वाः—[श्रुत्वा ससम्भ्रममुत्तिष्ठन्ति ।] (१)

राजा—[स्वगतम्] अहो धिक् ! कथमपराद्धस्तपस्विनामस्मि । भवतु, प्रतिगच्छामि तावत् ।

सख्यौ—महाभाग ! अनेन हस्तिसम्भ्रमेण पर्याकुलाः स्मः । तदनुजानीहि न उटजगमने (३) । (महाभाअ ! इमिणा हत्थिसम्भमेण पज्जाउला ह्म । तां अणुजाणीहि णो उडअगमणे ।)

णानां यूथं—कुलं येन स तथाभूतः, स्यन्दनस्य—रथस्य आलोकेन—दर्शनेन भीतः—त्रस्तः, अनेन विशेषणचतुष्टयेन वेगातिशयो व्यज्यते, गजः—वन्यो हस्ती, सेनागजस्य स्यन्दनभीरुत्वासम्भवादिति भावः, मूर्त्तः—शरीरधारी तपसः—धर्मकर्मणः विघ्न इव, भयोत्पादनेन धर्मकर्मभङ्गकरणादिति भावः, नः—अस्माकम्, धर्मारण्यं—तपोवनम्, विरुजति—परिपीडयति । अत्राऽऽघातादिनिमित्तेन गजे मूर्त्तिमत्तपोविघ्नत्वमुत्प्रेक्षालङ्कारः । यदुक्तं काव्यप्रकाशे—

'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।' इति ।

भयानको रसः, गजगतभयं स्थायिभावः, दुष्यन्तसेनारथाद्यवलोकनं विभावः,

भयानको रसः, गजगतभयं स्थायिभावः, दुष्यन्तसेनारथाद्यवलोकनं विभावः,

पार्श्वावलोकनपलायनादयो व्यभिचारिणः, मन्दाक्रान्ता वृत्तम्, तल्लक्षणन्तु—

'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ गौ ययुग्मम्' इति ॥ ३५ ॥

(१) सर्वा इति । ससम्भ्रमं—सभयम्, उत्तिष्ठन्ति उटजगमनायेति शेषः ।

(२) राजेति । अहो विषादे, धिङ् मामिति शेषः । तपस्विनामिति सम्बन्धे षष्ठी । अपराद्धः—कृतापराधोऽस्मि । विना हेतुमनिष्टसम्पादनादिति भावः । भवतु तदपराध इति शेषः । प्रतिगच्छामि—सैन्यानां समीपमेव प्रत्यावर्त्ते इत्यर्थः, तपोवनावरोधात्तान्निषेद्धुं गजं विचारयितुं चेति भावः ।

(३) सख्याविति । महाभाग—महोदय !, हस्तिसम्भ्रमेण—करिसंवेगेन 'समौ संवेगसम्भ्रमा'वित्यमरः पर्याकुलाः—अतिव्यस्ताः । नः—अस्मान्, उटजगमने—पर्णशालागमने, अनुजानीहि—अनुमन्यस्व ।

इसने जङ्गली मृगों को तितर-बितर कर दिया है, राजा का रथ देख कर यह भयभीत हाथी मूर्तिमान् विघ्न के समान हमारे तपोवन को बहुत कष्ट पहुँचा रहा है ॥ ३५ ॥

(१) सब सखियाँ—(सुन कर उठ खड़ी होती हैं ।)

(२) राजा—(स्वगत) हाय ! क्या मैं तपस्वियों की दृष्टि में अपराधी ठहर गया ! खैर, जाकर देखूँ ।

(३) दोनों सखियाँ—महाभाग ! इस हाथी के भय से हम सब घबड़ा गयी हैं । इसलिये अब आप हमें अपनी कुटिया पर जाने की आज्ञा दें ।

अन—[शकुन्तलां प्रति] हला शकुन्तले ! पर्याकुला आर्या गौतमी भविष्यति, तदेहि शीघ्रमेकस्था भवामः (१)। (हला सउन्तले ! पज्जाउला अज्जा गोदमी भविस्सदि, ता एहि सीग्घं एकत्था होह्म ।)

शकु—[गतिरोधं रूपयित्वा] हा धिक् ! हा धिक् ! ऊरुस्तम्भविह्वलाऽस्मि संवृत्ता (२)। (हद्धी ! हद्धी ! ऊरुत्थम्भविब्भलम्हि संवुत्ता ।)

राजा—स्वैरं स्वैरं गच्छन्तु भवत्यः। आश्रमबाधा यथा न भवति, तथाहमपि यतिष्ये (३)।

सख्यौ—महाभाग ! विदितभूयिष्ठोऽसि। साम्प्रतमुपचारमध्यस्थतया अपराद्धाः स्मः। तन्मर्षय, असम्भावितसत्कारं भूयोऽपि प्रत्यवेक्षणनिमित्तमार्यं विज्ञापयामः (४)। (महाभाअ ! विदिदभूइट्ठोसि। सम्पदं उव-

(१) अनेति। पर्याकुला—अस्मदनवलोकनेन व्याकुला। एकस्थाः—उटजगमनाय मिलिताः, भवामो वयमिति शेषः।

(२) शकु इति। गतिरोधं—गमनप्रतिबन्धम्, रूपयित्वा—नाटयित्वा। हा धिगिति शब्दाभ्यां सत्वरगमनस्य व्याघाताद्विषादात्मभर्त्सने व्यज्येते। ऊर्वोः स्तम्भेन-एकत्र बहुकालं व्याप्यावस्थानेन नाड्यां रक्तादेर्गमनागमनरोधाज्जातेनोर्वोः स्थैर्येणेत्यर्थः, विह्वला—विवशा, संवृत्ताऽस्मि—अहमिति शेषः।

(३) राजेति। स्वैरं स्वैरं-मन्दं मन्दम्, अतित्वरयालम्, सम्प्रत्यपि शीघ्रगमने ताद्दक्कारणानुपस्थितत्वादिति भावः। 'मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैर'मित्यमरः। गमनशैघ्र्यप्रतिषेधे कारणमाह—आश्रमेति। आश्रमबाधा—आश्रमोपद्रवः। यतिष्ये—यत्नं करिष्ये।

(४) सख्याविति। महान् भागः—भाग्यं यस्य सः तत्संबोधने महाभाग !, विदितं-परिज्ञातं भूयिष्ठं-बहुलमस्माकमाचारेङ्गितादि येन सः। एतेन शकुन्तलाया मनोगतभावज्ञातचरेण भवता तां स्मृत्वा पुनरेवात्रावश्यमागन्तव्यमिति सख्यो-

(१) अनसूया—(शकुन्तला के प्रति) सखी शकुन्तला ! आर्या गौतमी घबड़ायेंगी, इसलिये आओ, शीघ्र हम लोग एकत्रित हो जायँ।

(२) शकुन्तला—(गतिरोध का अभिनय करती हुई) हाय ! हाय ! झुनझुनी चढ़ जाने से मैं तो विह्वल हो गयी—चला ही नहीं जाता।

(३) राजा—आप लोग धीरे धीरे जायँ। आश्रमवासियों को जिससे कुछ कष्ट न हो, मैं भी वही यत्न करूँगा।

(४) दोनों सखियाँ—महाभाग ! आप तो सब जानते ही हैं। इस समय आपकी

आरमज्झत्थदाए अवरुद्ध ह्मः तं मरिसेहि, असम्भाविदसक्कारं भूओ वि पच्चवेक्खणणिमित्तं अज्जं विण्णवेह्म ।)

राजा—मा मैवम् । दर्शनेनैव भवतीनां सम्भूतसत्कारोऽस्मि (१) ।

शकु—हला अनसूये ! अभिनव-कुश-सूचि-परिक्षतं मे चरणम्, कुरुबक शाखा-परिलग्नञ्च वल्कलम् । तावत् प्रतिपालयतं माम्, यावदेनं मोचयामि (२) ! (हला अणसूए ! अहिणवकुससूइपरिक्खदं मे चलणं कुरुवअसाहापरिलग्गञ्च वक्कलं, दाव परिवालेध मं, जाव णं मोआवेमि ।) [इति राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता ।]

गूढाभिप्रायो व्यज्यते । साम्प्रतम्—इदानीम् उपचारेषु—भवतः सत्कारेषु मध्यस्थतया—उदासीनतया यथोचितसपर्याऽकरणेनेत्यर्थः, हेतुना, अपराद्धाः—अपराधवत्यः, स्मः भवामः, वयमिति शेषः, निश्चितकर्त्तव्यातिलंघनादिति भावः । तत्—तदपराधम्, मर्षय—क्षमस्व । असम्भावितः—अस्माभिरनाचरितः सत्कारः—सपर्या यस्य तं तथाभूतम् आर्यम्, भूयोऽपि—पुनरपि, प्रत्यवेक्षणनिमित्तम्—सन्दर्शनार्थम्, विज्ञापयामः—निवेदयामः, अस्मभ्यं दर्शनं दातुमस्मत्तश्च सत्कारं ग्रहीतुं भवतां पुनरप्यत्रागमनं प्रार्थयाम इति तात्पर्यम् ।

(१) राजेति । एवं—भवत्योरुक्तप्रकारमसम्भावितसत्कारत्वम्, मा मा—नहि नहि, सम्भ्रमे द्विरुक्तिः, सञ्जातमिति शेषः । कुत इत्यत्राह—दर्शनेनेत्यादि । सम्भूतसत्कारः—सञ्जातसपर्यः, अस्मि—अहमिति शेषः । एतेन तद्दर्शनस्य सर्वेन्द्रियतर्पणकारित्वं व्यज्यते । भवतीनां दर्शनेनैवैतादृशी मे प्रीतिः सञ्जाता या हि प्रभूतपरिचर्यया नितरां दुष्करा, तस्माद्भवत्यो निरपराधा एवेति भावः ।

(२) शकु इति । अभिनवया कुशस्य सूच्या—शिखया परिक्षतं—विद्धम्, 'सूचिर्नृत्यप्रभेदे च व्यधनीशिखयोरपि' इति रत्नकोषः, अभिनवपदेन तैक्ष्ण्यं तेन चातीव पीडादातृत्वं सूच्यते, अयञ्चाऽर्थः प्रतीक्षायामसाधारणो हेतुः । वल्कलञ्च परिहिततरुत्वक् च कुरुबकस्य—तन्नामकवृक्षभेदस्य, शाखायां परिलग्नम्—मम तु द्रुतगामित्वेनासावधानतया संलग्नम् । प्रतिपालयतं—प्रतीक्षेथाम् । एतद्धि मुग्धानायिकायाश्छलेन नायकदर्शनमित्यवधेयम् । यदुक्तं वात्स्यायनकामसूत्रे—

सेवा से पराङ्मुख होने के कारण हम अपराधिनी हैं । क्षमा करियेगा । हमने अभी आपकी सेवा नहीं की है, इसलिये आप से अनुरोध करती है कि फिर दर्शन दीजियेगा ।

(१) राजा—नहीं नहीं, आप लोगों के दर्शन ही से मेरा पर्याप्त सत्कार हो गया ।

(२) शकुन्तला—सखी अनसूया ! नवीन कुश के अङ्कुर गड़ने से मेरे पैर में घाव हो गया है और इस कुरबक की शाखा में वस्त्र भी फँस गया है, इसलिये थोड़ी देर मेरी प्रतीक्षा

राजा—[निःश्वस्य] गताः सर्वाः ! भवतु अहमपि गच्छामि, शकुन्तलादर्शनादेव मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति । यावदनुयात्रिकानतदूरे तपोवनस्य निवेशयामि । न खलु शक्तोऽस्मि शकुन्तलादर्शनव्यापारादात्मानं निवर्त्तयितुम् । मम हि (१)—

'दूरे स्थिता पश्यतु मामिति मन्यमाना परिजनं समदनविकारमाभाषते' इति । एनं वल्कलम्, सव्याजं-सकपटम्, 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः, एतेन नायिकाया राजनि महानान्तरानुरागो द्योत्यते । तथा ह्यत्रानुरागरूपबीजस्य पुनः प्रादुर्भावादुद्भेदो नाम मुखसन्ध्यङ्गम्, तदुक्तम्—

'बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः' इति ।

(१) राजेति । निःश्वस्य—दीर्घनिःश्वासं त्यक्त्वा । भवतु—आसां गमनमिति शेषः, गमनं निवार्यासां रक्षणोपाय एव न दृश्यत इति भावः । अहमपि गच्छामि,-इहावस्थितेरफलत्वादित्यभिप्रायः । मन्दं-स्वल्पीकृतम् औत्सुक्यम्—उत्साहो यस्य स तादृशः, न त्वनुत्सुकः, तेन राज्ञोऽन्तःपुरेषु दाक्षिण्यं सूच्यते । नगरगमनं-राजधानीं प्रति गमनम्, प्रतियोगे द्वितीया, यावत्—सर्वान्, अनुयात्रिकान्-अनुगामिनः सैनिकान्, 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः, निवेशयामि-स्थापयामि, आश्रमोपरोधनिवारणायेति भावः । अत्र करणं नाम मुखसन्ध्यङ्गम्, तदुक्तम्—

'करणं पुनः प्रकृत्यर्थसमारम्भ' इति ।

एवं कर्त्तव्यं विचिन्त्य पुनस्तत्रासमर्थः सन् व्यनक्ति—न खल्विति । शकुन्तलादर्शनव्यापारात्-शकुन्तलादर्शनरूपपदार्थात्, 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' (पा० वा०) इत्यपादाने पञ्चमी, आत्मानं—हृदयम्, निवर्त्तयितुं—समाक्रष्टुं, अनुरागवर्तनस्य दुर्निवार्यत्वादिति भावः, एतेन निवर्त्तनाय बहुधा यत्नः क्रियत इति द्योत्यते । तत्र हेतुमाह—मम हीति ।

करो, जिससे मैं इसे छुड़ा लूँ । (राजा को इस बहाने थोड़ी देर देख कर शकुन्तला दोनों सखियों के साथ चली जाती हैं ।)

(१) राजा—(ठंडी सांस लेकर) सब चली गयी ! चलो, हम भी चलें । शकुन्तला को देखने से ही अब मेरी अपने नगर लौटने की इच्छा मन्द हो गयी है । चलो चलें, और अपने सेवकों को आश्रम से दूर पर ही ठहरा दें । मैं शकुन्तला के देखने के व्यापार से निवृत्त होने में असमर्थ हूँ । क्योंकि—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः ।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥ ३६ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे (१)]

प्रथमोऽङ्कः (२) ।

गच्छतीति । ममेति पूर्वोक्तमनुसन्धातव्यम् । मम शरीरम्, पुरः—अग्रतः 'स्यात् पुरः पुरतोऽग्रतः' इत्यमरः, गच्छति, अनुयात्रिकान् प्रतीति भावः । किन्तु प्रतिवातं,—वातं—वायुं प्रति, प्रातिकूल्यार्थेऽव्ययीभावः, वाय्वभिमुखं यथा स्यात्तथेत्यर्थः, नीयमानस्य—चाल्यमानस्य, केतोः—पताकायाः, चीनांशुकं—चीनदेशोद्भवं सूक्ष्मवस्त्रमिव, तत्कृतपताकेवेत्यर्थः । असंस्थितम्—अस्थिरम्, चेतः—स्वान्तम्, पश्चात्—पश्चात् दिशि, शकुन्तलाभिमुखमित्यर्थः, धावति—वेगेन चलति, तदनुरागादिभिः समाकर्षणादिति भावः । वाताभिमुखं नीयमानो यथा ध्वजः पुरतो गच्छति तदुपरि स्थिता पताका वातवेगेन पश्चाच्चाल्यते तद्वच्छरीरमनुयात्रिकाभिमुखं नीयमानं सत् पुरः शनैश्चलति चेतस्तु तदनुरागेण विमूढं सत् तां प्रत्येव पश्चाच्चाल्यत इति निष्कृष्टार्थः । अत्रोपमालङ्कारः, स च श्रौतः । तथा शरीरमग्रे शनैर्गच्छति चेतः पुनः शकुन्तलां प्रति पश्चाद्धावतीति सम्बन्धेऽसम्बन्धलक्षणाऽसम्बन्धे सम्बन्धलक्षणा चातिशयोक्तिः । आर्या जातिः ॥ ३६ ॥

(१) इतीति । इत्येवं रूपेण, सर्वे—अभिनेतारः । अत्र सर्वेषां संहतिभेदनाद् भेदो नाम मुखसन्ध्यङ्गम्, तदुक्तं दर्पणे—'भेदः संहतिभेदनात्' इति ।

(२) प्रथम इति । अङ्कः—नाटकस्य परिच्छेदः, समाप्तिं गत इति शेषः । 'अङ्कः स्थानेऽन्तिके मन्तौ रूपकोत्सङ्गलक्ष्मसु । नाटकादिपरिच्छेदे चित्रयुक्ते च भूषणे' इति विश्वः ।

इति प्रथमाङ्के किशोरकेलिः ।

जैसे पताका के रेशमी कपड़े को वायु के प्रतिकूल संचालित करने पर पताका दंड तो आगे बढ़ता है किन्तु उसका कपड़ा पीछे की ओर उड़ता रहता है, उसी तरह मेरा शरीर तो आगे जाता है, पर मन पीछे ही भाग रहा है ॥ ३६ ॥

(१) सब चले जाते हैं ।

(२) इति प्रथमोऽङ्कः ।

द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति विदूषकः (१)]

अनादिमध्यान्तमशेषमीड्यं निष्पङ्कलेशं विमलप्रकाशम् ।
नैसर्गिकाज्ञानविघातदक्षं गुरोः पदाम्भोजयुगं भजामः ॥

(१) तत इति । प्रथमाङ्के शकुन्तलादुष्यन्तयोर्दैवादेव परस्परदर्शनेन उद्बोधिताया रतेः सम्मुखसंलापादिना क्रमेण पुष्टतां 'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते' इति तयोर्वियोगश्चोपवर्ण्य अत्र द्वितीयाङ्के राज्ञो दुष्यन्तस्य विषादादिभिर्व्यभिचारिभिर्गुणकथनादिभिरनुभावैश्च तादृशरतेः परिपुष्टताप्रदर्शनेन विप्रलम्भं वर्णयिष्यन् तदुपभोगाय श्रृङ्गारसहायविशेषस्य विदूषकस्य प्रवेशमाह—प्रविशति विदूषक इति ।

उक्तं च दर्पणे—

'श्रृंगारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः ।
भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः ॥' इति ।

विदूषकलक्षणं तु तत्रैव—

'कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः ॥' इति ।

अस्य प्राकृतं पाठ्यम्—

'विदूषकविटादीनां पाठ्यन्तु प्राकृतं भवेत्' । इत्याद्युक्तेः ।

इत आरभ्य—'सहि अदो ज्जेव णिव्वन्धो । सिणिद्धजणसंविभत्तं क्खु दुक्खं सज्जवेअणं भोदि' इति तृतीयाङ्कगतसखीद्वयोक्त्यन्तं यावत् प्रतिमुखसन्धिरभिहितः । एवं चात्र शकुन्तलावाप्तिरूपफलप्राप्तौ राज्ञो दुष्यन्तस्य शकुन्तलान्वेषणरूपस्त्वरान्वितो व्यापारः, स च प्रयत्नो नाम द्वितीया कार्यावस्था निबद्धा—

'प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः' इति दर्पणोक्तेः ।

किं च मुखसन्धौ निविष्टस्य शकुन्तलादुष्यन्तयोः सम्मेलनरूपफलोपायभूतस्य परस्परानुरागस्य 'कामं प्रिया न सुलभा' इत्यादिना राज्ञि दुष्यन्ते लक्ष्यतया उद्भेदो दर्शितः, शकुन्तलायान्तु व्यक्तानभिहिततयाऽवस्थामात्रेण सूचितत्वादलक्ष्य इव उद्भेदो दर्शितः । तदुक्तं तत्रैव—

'फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशितः ।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ॥' इति ।

(१) (तदन्तर विदूषक का प्रवेश)

विदू—[निश्वस्य] भोः । हतोऽस्मि एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णः । अयं मृगः, अयं वराहः, अयं शार्दूल इति मध्यन्दिनेऽपि ग्रीष्मे विरलपादपच्छायासु वनराजिषु आहिण्डय पत्रसङ्करकषायविरसानि उष्णकटुकानि पीयन्ते गिरिनदीसलिलानि (१) । (भो । हदो-ह्मि एदस्स मिअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो अअं मिओ, अअं वराहो, अअं सद्दूलो त्ति मज्झन्दिणे वि गिह्मे विरलपादवच्छाआसुं वणराइसुं आहिण्डिअ पत्तसङ्करकसाअविरसाइं उण्णकडुआइ पिज्जन्ति गिरिणईसलिलाइं ।)

अस्य प्रासङ्गिकवृत्तस्यासमाप्तिव्याप्तेरियं पताका—'व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते' इति दर्पणवचनादिति केचित् ।

(१) विदू इति । निश्वस्य दीर्घमिति शेषः । अत्र निःश्वस्येति पाठयं विसर्गरहितस्य तस्य बहुलप्रयोगादर्शनात् । भो इति । भो इति विषादसूचकमव्ययमिति केचित्, 'भोस्तु सम्बोधनविषादयोः' इति मेदिनीवचनं तेषां हि मते प्रमाणम्; अनधिकारमन्त्रणमित्यपरे, चिन्तायामित्यन्ये, एतेषां मते तु 'प्रमोदभयचिन्तासु विषादे च निरूपणे' इत्यादिवचनं प्रमाणत्वेन गृहीतम् । वस्तुतस्तु अपरेषां मतमप्रामाणिकत्वेन न सम्यक् । वयस्यभावेन—सहचरतया सवयस्कतया वा 'वयस्यः स्निग्धः सवयाः' इत्यमरः । निर्विण्णः—प्राप्तनिर्वेदो नितरां दुःखित इति यावत्, अथवा निर्वेदः—स्वावमानना, सा चात्र दुःखजेति दुःखमप्यनेन द्योत्यते, वयस्यभावेन निर्विण्ण इत्यनेन तं प्रति निन्दा च सूच्यते । निर्वेदस्य कारणमाह—अयमित्यादि । दिनस्य मध्यमिति मध्यंदिनम्, राजदन्तादित्वात् परनिपातः, अलुक्समासश्च, ग्रीष्मे-ग्रीष्मसमये मध्यंदिनेऽपि-मध्याह्नेऽपि, एतेन तापातिशयः सूच्यते । विरलाः—पचेलिमपत्रापगमात् सान्तराः, अन्तरान्तरातापयुक्ता इत्यर्थः, पादपानां छाया यासु, वनराजिषु—वनश्रेणीषु 'वीथ्यालिरावलिः पंक्तिश्रेणीलेखास्तु राजयः' इत्यमरः । आहिण्डय,—परिभ्रम्य, 'आङ्पूर्वस्य हिडि गतावि'त्यस्य ल्यपि रूपम् । पत्राणां—विविधपादपपर्णानां संकरेण—एकत्रसमवायेन 'सङ्करोऽग्निचटत्कारे क्षिप्तधूल्यादिकेषु च । संमार्जन्या विरुद्धानामेकाधिकरणस्थितौ' इति शब्दार्णवः, कषा-

---

(१) विदूषक—(ठंढी साँस लेकर) हाय ! इस शिकारी राजा का मित्र बनकर, दुःख भोगते भोगते मैं तो मर गया । गर्मी की दुपहरिया में भी 'यह हरिन,' 'यह सुअर,' 'यह व्याघ्र' चिल्लाता हुआ विरले पेड़ों की छायायुक्त वनों में मारा फिरना पड़ता है ! पत्तियों के सड़ने से विरस, गरम और कडुआ पर्वतीय तप्त नदियों का पानी पीना पड़ता है ।

अनियतवेलञ्च उष्णोष्णमांसभूयिष्ठं भुज्यते (१)। (अणिअदवेलञ्च उण्णोण्णमंसभूइट्ठं भुञ्जीअदि।)

तुरगगजानाञ्च शब्देन रात्रावपि मे नास्ति प्रकामशयितव्यम् (२)। (तुरअगआणाअ सद्देण रत्तिं पि मे णत्थि पकामसुइदव्वं।)

महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शाकुनिकलुब्धैः कर्णोपघातिना वनगमनकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि (३)। (महन्ते ज्जेव पच्चूसे दासीए पुत्तेहिं साउणिअलुद्धेहिं कण्णोपघादिणा वणगमणकोलाहलेण पडिबोधिदह्मि।)

याणि—सनिर्यासानि, 'निर्यासेऽपि कषायोऽथ सुरभौ लोहितेऽन्यव'दिति विश्वः, अत एव विरसानि—निःस्वादानि, तथा उष्णानि च तानि तपनतापसम्पर्कादिति भावः, कटुकानि—अल्पकटूनि चेति तथाभूतानि, गिरिणदीसलिलानि—पर्वतनिर्झरतोयानि, 'गिरिणदी' इत्यत्र णत्वं 'गिरिनद्यादीनां वा' इति वार्त्तिकात्, पीयन्ते।

(१) अपरनिर्वेदकारणमाह—अनियतेति। अनियता—नियमरहिता वेला-कालो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, आपेक्षिकानुकूल्येन क्वचित् पूर्वाह्णे कदाचिन्मध्याह्ने कदाचिदपराह्णे कदाचिद्रात्रौ वेत्यर्थः, उष्णोष्णम्—उष्णप्रकारं मांसमेव भूयिष्ठम्—अन्यस्माद् भक्ष्यादधिकतरं यत्र तत्, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति उष्णशब्दस्य द्विर्वचनम्, भुज्यते च। एतेन आजन्माभ्यस्तभक्ष्यालाभान्महान् क्लेशः सूचितः।

(२) तुरगेति। रात्रावपि—रजन्यामपि, तुरगगजानां—सेनान्तर्गतहस्त्यश्वजन्तूनाम्, शब्देन—रवेण, प्रकामशयितव्यं—यथेप्सितनिद्रा नास्ति। 'कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्' इत्यमरः।

(३) ननु प्रभाते यथेष्टं शयीय प्रायेण तदानीं हस्त्यश्वादीनां शब्दप्रवृत्तेरभावदर्शनादिति चेत्तत्राह—महत्येवेति। महत्येव प्रत्यूषे—सूर्योदयात् प्राङ्नाडीचतुष्टयात्मकः कालः प्रत्यूषः तस्य महत्त्वं दीर्घत्वम्, प्रत्यूषारम्भमात्र एवेत्यर्थः, दास्याः पुत्रैः—अतिनीचैः, 'पुत्रेऽन्यतरस्यामि'त्यलुक्, शाकुनिकलुब्धैः—शकुनान् हिंसन्तीति शाकुनिकाः ते च ते, लुब्धाश्चेति तैः, पक्षिहिंसकव्याधैरित्यर्थः, 'शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः' इत्यमरः, 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकोऽपि सः' इति स एव कोषः, कर्तृभिः, कर्णोपघातिना—कर्कशत्वात् श्रवणोद्वेजनकारिणा, वनगमनकोलाहलेन—वनगमने—वनगमनकाले यः कोलाहलः—कलकलः तेन, करणेन, प्रति-

---

(१) बिना किसी निर्दिष्ट समय पर गरम-गरम मांस खाना होता है। (२) हाथी और घोड़ों के शोरगुल से रात्रिको मजे में सोने को भी नहीं मिलता। (३) बड़े तड़के ही इन मजदूरनो के छोकरों का कान फाड़ देने वाला वन चलने की तैयारी का कोलाहल सुन कर जाग जाता हूँ।

एतावतापि मे पीडा न संवृत्ता, यतः अयं गण्डस्य उपरि विस्फोटकः संवृत्तः (१)। (एत्तिकेण वि मे पीडा ण संवुत्ता जदो अअं गण्डस्स उवरि विप्फोडओ संवुत्तो ।)

तेन हि किल अस्मासु अवहीनेषु तत्रभवता मृगानुसारिणा आश्रमपदं प्रविष्टेन मम अधन्यतया शकुन्तला नाम कापि तपस्विकन्यका दृष्टा, तां प्रेक्ष्य साम्प्रतं नगरगमनस्य कथामपि न करोति (२)। (तेण हि किल अह्मेसुं अवहीणेसुं तत्थभवदा मिआणुसारिणा अस्समपदं पविट्ठेण मम अधण्णदाए सउन्तला णाम कावि तवस्सिकण्णआ दिट्ठा, तं पेक्खिअ सम्पदं णअरगमणस्स कथम्पि ण करेदि ।)

एवमेव (३) चिन्तयतः मे प्रभाता अक्ष्णोः रजनी, का गतिः । यावदेनं

बोधितः—जागरितोऽस्मि । तत्कथय ? कथं वा प्रभातेऽपि प्रकामनिद्रेति भावः ।

(१) अथ उक्तादधिकं दुःखान्तरं मनसि निधायाह—एतावतेति । हेत्वर्थे तृतीया, एतावतापि—पूर्वोक्तप्रकारेणापि हेतुना । मे—मम, पीडा—दुःसहदुःखम्, संवृत्ता—सञ्जाता । एतत्परिमाणेनाप्यसुविधामनुभूयापि न मे दुःखमपसृतमित्यर्थः। किमवशिष्टमित्यत आह—यत इति । गण्डस्य-कपोलस्य । विस्फोटकः—असह्यपीडाकरस्फोटविशेषः । संवृत्तः संजातः, तेनैवातिदुःसहं दुःखं सम्भूतमिति भावः ।

(२) अपरं दुःखमाह—तेनेति । तेन—उक्तविधया दुःखपरम्परया क्लिश्यमानेष्वित्यर्थः, अवहीनेषु—राज्ञः शीघ्रगमनात् पश्चात् पतितेषु सत्सु इत्यर्थः, तत्रभवता—मान्येन राज्ञा दुष्यन्तेन, मृगानुसारिणा—मृगमनुधावता, आश्रमपदं—तपोवनस्थानम्, प्रविष्टेन—गतेन सता, अधन्यतया—असुकृतकारितया दुर्भाग्यतयेत्यर्थः । तपस्विकन्यका—मुनिकन्या, दृष्टा—अवलोकिता । नगरगमनस्य—राजधान्यां गमनस्य, कथामपि—प्रस्तावनामपि न करोति—कर्तुं न यतते । ततश्चाशु दुःखनिवृत्त्युपायो नास्तीत्यभिप्रायः ।

(३) एवमिति । एवमेव—अनेन प्रकारेणैव, चिन्तयतः—शय्यायां विलुठ्य

(१) इतना होने पर भी मुझे विशेष कष्ट नहीं होता, फिर भी कपोल के ऊपर यह एक फोड़ा निकल आया (उसी से अधिकदुःख हो रहा है), (२) मालूम होता है इन्हीं कारणों से राजा ने हमको पीछे छोड़ दिया और एक हरिन के पीछे भागते-भागते तपोवन में जा पहुँचे, हमारे ही अभाग्य से उन्होंने वहाँ शकुन्तला नाम की कोई एक ऋषिकन्या देखी है। उसे देखकर अब घर चलने का नाम भी नहीं लेते। (३) रात को सोता हूँ तो यही सोचते सोचते मेरी आँखों के सामने सवेरा हो जाता है, इसके लिये उपाय ही क्या है ? जो हो,

कृताचारपरिग्रहं प्रियवयस्यं प्रेक्षे। (एवं ज्जेव चिन्तअन्तस्स मे पहादा अच्छिसुं रअणी, का गदी। जाव णं किदआआरपरिग्गहं पिअवअस्सं पेक्खामि।)

[परिक्रम्यावलोक्य च] एष बाणासनहस्तः हृदयनिहितप्रियजनः वनपुष्पमालाधारी इत एव आगच्छति प्रियवयस्यः (१) ! (एसो बाणासणहत्थो हिअअ-णिहिद-पिअअणो वणपुप्फमालाहारी इदो ज्जेव आअच्छदि पिअवअस्सो।)

भवतु, अङ्गभङ्गविकलो भूत्वा स्थास्यामि! एवमपि नाम विश्रामं लभेय। (भोदु, अङ्ग भङ्ग-विअलो भविअ चिट्ठिस्सं। एव्वम्पि णाम विस्सामं लहेअं।) [इति दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थितः। (२)]

भावयतः, अक्ष्णोः—नयनयोः, रजनी—रात्रिः, प्रभाता—अवसानप्राप्ता, आसीदिति शेषः। उक्तविधदुःखप्रवाहचिन्तया निद्रां विनैव रजनिरतीतेति भावः। एतदनुरूपमाह यथानर्घराघवे,—'धिक् चिन्तया रजनिरद्य नः प्रभाता' इति। का गतिः—दुःखोन्मूलने क उपायः, न काचिदपीत्यर्थः। 'गतिः स्त्री मार्गदशयोर्ज्ञाने यात्राभ्युपाययोः' इति मेदिनी। कृताचारपरिग्रहं,-कृतः आचारपरिग्रहो येन तम्, धृतमृगयोचितवेशमित्यर्थः।

(१) परिक्रम्येति। परिक्रम्य—इतस्ततः किञ्चित् सञ्चर्य। बाणाः अस्यन्ते क्षिप्यन्ते अनेनेति बाणासनं धनुस्तद्धस्ते यस्य स तथाभूतः, धनुर्धर इत्यर्थः। हृदये—मनसि निहितः—आरोपितः प्रियजनः—प्रणयिजनः शकुन्तलेति भावः, यस्य येन वा तथोक्तः शकुन्तलामनुस्मरन् इत्यर्थः। एतद्धि मुखनेत्रादिभङ्ग्यादिना तर्कितमिति विभावनीयम्। वनपुष्पाणाम्—आरण्यककुसुमानां मालां—स्रजं धर्तुं शीलं यस्य स तथोक्तः शीलार्थे णिनिः।

(२) अथ विश्रान्तिलाभे कमप्युपायं पश्यन् आह—भवत्वित्यादि। भवतु—मृगयाकरणादि इति शेषः। अङ्गानां—करपादाद्यवयवानां भङ्गेन—अलीकवक्रतासम्पादनेनेत्यर्थः विकलः अप्राकृतिकावस्थः, विवश इति यावत्, एवमपि-ईदृगवस्था,

चलो, मृगयावेशधारी प्रिय मित्र राजाको देखें। (१) (थोड़ा आगे बढ़कर और देखकर) यह हाथ में धनुष लिये, अपने प्रियजन शकुन्तला को हृदय में बिठाये और वनपुष्पों की माला पहने मेरे प्रियमित्र महोदय इधर ही आ रहे हैं ! (२) अच्छा, मैं भी अङ्गभङ्ग से विकल सा-होकर यहाँ ही बैठूँगा। देखें, ऐसा करने से भी शायद विश्राम करने का अवसर हाथ लग जाय। (ऐसा कह कर छड़ी के सहारे बैठ जाता है।)

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा । (१)]

राजा—[आत्मगतम् । (२)]

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि ।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥ १ ॥

नेनापि । नासेति सम्भावनायाम् । विश्रामं—मृगयाव्यापाराद् सुस्थताम् । लभेय-प्राप्नुयाम् । सर्वाङ्गपीडामभिनीय मया स्थितं चेत् तर्हि राज्ञो मयि विश्रमानुमतिः कथञ्चिद्भविष्यतीति माधव्यस्य सम्भावनेति बोध्यम् । दण्डकाष्ठं—काष्ठमयीं यष्टिम् । अवलम्ब्य—आश्रित्य धृत्वेति यावत् ।

(१) तत इति । यथानिर्दिष्टः—बाणासनहस्तो हृदयनिहितप्रियजनो वन-पुष्पमालाधारी चेत्येवंरूपः ।

(२) राजेति । स्निग्धमिति पद्यान्तोक्तेः कर्तृपदमिदम् । आत्मगतम्-स्वगतम् । काममिति । प्रिया—शकुन्तला, कामम्—अतिशयेन, न सुलभा—न सुखलभ्या, अस्वाधीनत्वाद् गुरोरपि तस्या असमीपवर्त्तित्वाच्चेति भावः, कथञ्चिद्बहुप्रयासेन तु लभ्या भवेदित्यर्थः । ननु तथा सति किं प्रयत्नेन ? इत्याह—तु—किन्तु, मनः—मदीयं चेतः, तस्याः—प्रियायाः शकुन्तलायाः ये भावाः—अनुरागव्यञ्जकस्निग्ध-कटाक्षविक्षेपादिचेष्टाविशेषाः तेषां दर्शनेन—अवलोकनेन 'स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु' इति न्यायात्, आश्वसिति—तत्प्राप्तिसम्भावनया प्राप्तानन्दं भवतीति तत् तथाभूतं संवृत्तम् इति शेषः । ननु लिप्सितायाः दुर्लभत्वे कथं वा चित्तस्य आश्वासिता इत्याह—अकृतार्थेऽपीति । मनसिजे—कामे, अकृतार्थेऽपि—तदर्थीभूतसुरतसम्भोगानुत्पत्त्याऽचरितार्थे सत्यपि उभयप्रार्थना—प्रियाया मम चान्योन्यानुरागः, रतिं—स्वस्वविषयस्सम्मेलनजन्यां प्रीतिम्, कुरुते—उत्पादयति । तथा च—अजातसङ्गमयोर्बहुप्रयासलभ्यत्वेन निराशयोरपि नायकनायिकयोः परस्परानुरागचर्वणं मनसि कमपि प्रमोदमुत्पादयतीत्यर्थः ।

अत्र पूर्वार्द्धविशेषस्य परार्द्धसामान्येन समर्थनादर्थान्तरन्यासालङ्कारः । अथ च मनसिजः—कन्दर्पः अकृतार्थः रतिं—सुरतं कुरुते, अथवा मनसिजे—कन्दर्पे अकृतार्थेऽपि असुरतित्वादिति भावः, रतिं—कन्दर्पभार्यां कुरुते—इति विरोधाभासः अनुरागरूपार्थकरणे विरोधपरिहारात् । तथा च 'रतिः कामस्त्रियां रागे सुरतेऽपि रतिः स्मृता' इति धरणिः । अपि च अप्रस्तुतनायकनायिकात्मकोभयसामान्यात् प्रस्तुतद्-

(१) (इसके बाद निर्दिष्ट वेश से सुसज्जित राजा आता है ।)

(२) राजा—(स्वगत) शकुन्तला का मिलना बिल्कुल आसान नहीं है, किन्तु उसके भावों को देखकर मेरे मन को ढाढ़स हो गया है । इसका कारण यह है यदि काम सफल

[स्मितं कृत्वा] एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विप्रलभ्यते । कुतः (१)—

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत् प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव ।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि तत्सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत् किल मत्परायणमहो कामः स्वतां पश्यति ॥ २ ॥

ष्यन्तशकुन्तलारूपनायकनायिकाप्रत्यायनादप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार इति सर्वेषां सङ्करः। अत्र च विलासनाम प्रतिमुखसन्ध्यङ्गम्, राज्ञो दुष्यन्तस्य शकुन्तलायां समीहाकरणात्, यथोक्तं कविराजमहापात्रेण साहित्यदर्पणे—'समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते' इति द्युमार्या जातिः ॥ १ ॥

(१) स्मितमिति । स्मितम्—अलीकेऽपि सत्यताबुद्धिः कामिनामिति आत्मजो भ्रान्तत्वव्यञ्जकमीषद्धास्यम्, कृत्वा—अभिनीय, तथा चोत्तमानां स्मितलक्षणम्— 'ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः । अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेद्' इति । तदेव स्वस्य भ्रान्तत्वं व्याचष्टे—एवमित्यादि । एवम्—इत्थमेव, अहमिवेति भावः, आत्माभिप्रायेण—स्वस्याशयेन, निजचित्तवृत्तिसाम्येनेति भावः, संभाविता—स्थिरीकृता, इष्टजनस्य—अभिलषितजनस्य नायकनायिकारूपस्येत्यर्थः, चित्तवृत्तिः—मनोगतभावो येन सः तथोक्तः, प्रार्थयिता—काममिता, विप्रलभ्यते—वञ्चितो भवति, यथा मम तस्यां तथा तस्या अपि मयि मनोभाव इति मन्यमानोऽहं (दुष्यन्तः) प्रतारित इति प्रस्तुतविशेषार्थः । किन्तु अहमिति नोक्त्वा प्रार्थयिता इति सामान्योक्तेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः ।

आत्माभिप्रायमात्रेण कथं तादृग् इष्टजनचित्तवृत्तिः सम्भाविता भवतीति सामान्यस्य साधनायाह—कुत इति ।

तदेव विशिष्य दर्शयति—स्निग्धमिति । तया—शकुन्तलया, नयने—नेत्रयुगलम्, अन्यतः—अन्यस्यां दिशि अन्यत्र तरुलतादौ वा, प्रेरयन्त्याऽपि—स्फुटं पातयन्त्याऽपि, स्निग्धं—साभिलाषं, यद् वीक्षितम्—व्याजेन तारकायुग्मं सञ्चा-

नहीं भी होता तो नायक-नायिका की परस्पर प्रार्थना उन दोनों को आनन्दित ही करती रहती है ॥ १ ॥

(१) (मुस्करा कर) जो प्राणी अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार अपनी प्रेयसी की भी मनोवृत्ति को समझता है, वह प्रार्थी इसी तरह धोखा खाता है; क्योंकि—

शकुन्तला ने दूसरी ओर देखकर भी प्रेम के साथ हमीं को देखा था । विलासभाव से हमको देखने के लिये ही तो मानो वह अपने नितम्बभार से धीरे धीरे चल रही थी ।

विदू—[तथा स्थित एव] भो महाराज ! न मे हस्तः प्रसरति, तत् वाचामात्रेण जाप्यसे । जयतु जयतु भवान् (१) । (भो महाराअ ! ण मे हत्थो पसरदि, ता वाआमेत्तेण जआवीअसि । जअदु जअदु भवं ।)

यावलोकितम्, भावे क्तः, स्निग्धदृष्टिलक्षणं यथा,—'विकाशिस्निग्धमधुरा चतुरे विभ्रती भ्रुवौ । कटाक्षिणी साभिलाषा दृष्टिः स्निग्धाभिधीयते ॥' इति, स्निग्धलक्षणमाह दिवाकरः—'स्निग्धं तद् यस्य विषयस्तत् प्रभाभिलितो भवेत् ।' इति । तथा नितम्बयोः—कटिपश्चाद्भागयोः गुरुतया-पृथुलत्वेन भारवत्तया, 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः' इत्यमरः, नितम्बयोरिति द्विवचनेन मध्यनिम्नता गौरवाधिक्यं तेन यौवनोज्जृम्भणं च ध्वनितम्, विलासादिव—मामुद्दिश्य अङ्गक्रियादिषु वैशिष्ट्यं प्रदर्श्यैव, तदुक्तं—'तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियादिषु' इति, तात्कालिकः—वल्लभालोकनादिजन्यः, मन्दं—मन्थरं, मृदु यथा स्यात् तथा, यातं—गतम्, पूर्ववत् क्तः । तथा मा गाः—न गच्छ, एतेर्लुङि मध्यमपुरुषैकवचनम् 'इणः सेर्लोपे गाः (सि० च० वा०) इति गादेशः माङ्योगे अटो लोपः' (सि० च० वा) इति अटो लोपः, इति—इत्थमुक्त्वा, अवरुद्धया—प्रियसख्या प्रियंवदयाऽनुरुद्धया सख्या तया शकुन्तलया, सखी—अनुरोधकर्त्री प्रियंवदा, यदपि तत्—यच्च तत्, 'दाणि किं तुह आअओम्हि' इत्येवमुक्तरीत्येति भावः, सासूयं—भ्रूभङ्गसूचितेर्ष्यापूर्वकम्, यथा स्यात्तथा, उक्ता—अभिहिता । तत् सर्वम्—सानुरागावलोकनमन्थरगमनसभ्रूभङ्गवाक्यादि, मत्परायणम्—अहमेव परम् अयनम्—आश्रयः विषयो यस्य तत् तथाभूतम्, मदनुरागाविष्करणतत्परमित्यर्थः, किलेति सम्भावनायाम्, सम्भावयमीत्यर्थः । अहो—आश्चर्यं, कामः—मदनावेशोऽभिलाषः, स्वताम्—आत्मीयताम् अन्यविषयकाणामपि भावानां स्वविषयकतामित्यर्थः, पश्यति—जानाति—सम्भावयतीत्यर्थः ।

अत्र 'कामः स्वतां पश्यति' इति सामान्येन पूर्वविशेषस्य समर्थनाद् अर्थान्तरन्यासः । विलासादिव इति हेतूत्प्रेक्षा । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

(१) विदू इति । तथा स्थितः—काष्ठदण्डमवलम्ब्य अङ्गवैकल्यप्रदर्शनेन स्थित एव, न तु तत्समीपमपि गतवानिति भावः । प्रसरति-प्रचलति, आशीर्वादादिसमु-

और जब एक सखी ने कहा—'मत जाओ' तो उसने झिड़ककर उसे जो कुछ उत्तर दिया था; वह सब मेरे ही लिये था । कितने आश्चर्य की बात है कि काम परविषयक व्यापार को भी अपने ही लिए समझ लेता है ॥ २ ॥

(१) विदूषक—(उसी तरह ही बैठे-बैठे) महाराज ! मेरा हाथ नहीं फैलाता, इसलिये मैं वचनों से ही आपकी संवर्धना करता हूँ । आपकी जय हो, जय हो !

राजा—[विलोक्य सस्मितम्] कुतोऽयं गात्रोपघातः (१)।

विदू—कथं कुत इति, स्वयमेव अक्षि भङ्क्त्वा अश्रुकारणं पृच्छसि (२)। (कघं कुदो त्ति, सअं ज्जेव अच्छि भञ्जिअ अस्सुकारणं पुच्छसि।)

राजा—न खल्ववगच्छामि भिन्नार्थमभिधीयताम् (३)।

विदू—यद् वेतसः कुब्जस्य लीलां विडम्बयति, तत् किम् आत्मनः प्रभावेण ? अथवा नदीवेगस्य ? (४) (जं वेदसो खुज्जस्य लीलं विडम्बेदि, तं किं अत्तणो पहावेण अधवा णईवेअस्स ?)

दाचाराय हस्तस्योद्यमादेरावश्यकत्वेऽपि गात्रोपघाताद्धेतोर्हस्तः प्रसर्तुं न शक्नोतीति भावः। तत्—तस्मात्, वाचामात्रेण—केवलेन वचसा, न तु हस्तोद्यमेनेत्यर्थः, जाप्यसे—जयीक्रियसे 'क्रीङ्जीनां णौ' (पा० सू०) इत्यात्वम्, 'अर्त्तिह्रीव्लीरी-क्नूयी'इत्यादिना पुक् च। वाचेति भागुरिमतेनाऽऽप्।

(१) राजेति। कुतः—कस्मात्कारणात्। गात्रोपघातः,—गात्रस्य—अङ्गस्य उपघातः—वैकल्यमित्यर्थः।

(२) विदू इति। अक्षि भङ्क्त्वा—नेत्रमुपमर्द्येत्यर्थः। कुत इति—कस्मात् कारणादिदमश्रु निःसरति ? इत्थम्, अश्रुणः—निःसृतस्य नेत्राम्बुनः कारणं-हेतुम्, कथं पृच्छसीति वाक्यान्वयः। त्वमेव ममाङ्गवैकल्ये हेतुरिति भावः।

(३) राजेति। अवगच्छामि—तव वचनाशयमिति शेषः, भिन्नार्थं—भिन्नः उक्तादन्यः अर्थस्तात्पर्यं यस्य तत् तथोक्तम्, स्पष्टार्थकवचनमित्यर्थः। अभिधीयतां—कथ्यताम्।

(४) विदू इति। वेतसः—वानीर इति प्रसिद्धो लताविशेषः, नदीतटारूढ इति शेषः, यत् कुब्जस्य—उन्नतपृष्ठस्य जनस्य, लीलां—क्रियाम्, 'लीला विलासक्रिययोः' इत्यमरः। वक्रभावमित्यर्थः, विडम्बयति—अनुकरोति, नदीवेगवशात्तिरश्चीनतया प्रह्वीभवतीत्यर्थः, तत्—वक्रीभावेन कुब्जलीलाविडम्बनम्, आत्मनः प्रभावेण—स्वस्य शक्त्या। नदीवेगस्य प्रभावेणेत्यनुषज्यते, 'प्रभावः शक्तितेजसोः' इति विश्वः।

---

(१) राजा—(देखकर मुसकराते हुए) तुम्हारे अङ्ग क्यों जकड़ गये हैं ?

(२) विदूषक—वाह ! स्वयं आँख फोड़ कर आँसू गिरने का कारण पूछते हो ?

(३) राजा—मैंने तुम्हारे कहने का मतलब नहीं समझा, साफ साफ कहो।

(४) विदूषक—बेंत जो कुबड़े का अनुकरण करता है, वह अपने मन से या नदीवेग के प्रभाव से ?

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम् (१) ।

विदू—ममापि भवान् (२) (मम वि भवं ।)

राजा—कथमिव ? (३) ।

विदू—युक्तं नाम एवम्, यत् त्वया राजकार्याणि उज्झित्वा तादृशम् अस्खलितपदं प्रदेशञ्च वनचरवृत्तिना भवितव्यमिति । किमत्र मन्त्र्यताम्, अहं पुनर्ब्राह्मणः प्रत्यहं श्वापदानुसरणैः संक्षोभितसन्धिबन्धनानाङ्गानामनीशोऽस्मि । तत् प्रसीद मे, एकाहमपि तावद् विश्रम्यताम्(४) ।

---

(१) राजेति । तत्र-वेतसस्य कुब्जलीलाविडम्बने, नदीवेगः कारणम्—नदीवेग एव वेतसं कुब्जं करोतीत्यर्थः ।

(२) विदू इति । भवान्-गात्रोपघाते कारणमित्यनुषङ्गः ।

(३) राजेति । कथमिव—तव गात्रोपघाते कारणं भवामीत्यर्थः ।

(४) विदू इति । एवं—वक्ष्यमाणप्रकारं भवदाचरणम्, युक्तं-संगतम् नामेति सम्भावनायाम्, अस्य वाक्यार्थस्य परवर्तिवाक्यार्थेन साकं तात्पर्यानुपपत्त्या विपरीतलक्षणाश्रयणाद् अतीवायुक्तमित्यर्थो लभ्यते । तत् किम् ? इत्याह—यदिति । राजकार्याणि—प्रजाशासनादीनि, उज्झित्वा-परित्यज्य, अस्खलितपदं-न स्खलितं-न प्रभ्रष्टं पदं—कुलपरम्परायाताधिपत्यं पादविन्यासो वा यस्मिन् तादृशम्, प्रदेशं-राजधानीञ्च उज्झित्वेत्येतेन साकमन्वयः, त्वया-राज्ञा, वनेचरस्य-सततं वनविहरणशीलस्य व्याधादेर्वृत्तिरिव—मृगयादिरूप आजीव इव वृत्तिः—मृगयादिरूप आजीवो व्यापारो वा यस्य तथोक्तेन, भवितव्यम्—अभूयत इति, भावे भूते तव्यप्रत्ययः, कृत्यानां कालत्रये विधानात् । तथा च प्रजापालनादि राजोचितं कर्म परित्यज्य यत्त्वया हिंसात्मिका मृगयाऽऽचर्यते किं च सर्वतो निर्द्वन्द्वं स्वनगरं त्यक्त्वा बहुविधद्वन्द्वसंकुले विपिने विचर्यते तन्नितान्तं मन्दमिति समुदितोऽर्थः ।

ननु आस्तां तावद्युक्तायुक्तत्वे विचारणा तव गात्रोपघाते कथं कारणमहं भवामि इति प्रश्नस्य किमुत्तरं दीयत इत्याह—किमत्रेति । अत्र—भवत्कृतप्रश्ने किं मन्त्र्य-

---

(१) राजा—उसमें तो नदी का वेग ही कारण होता है ।

(२) विदूषक—तो मेरे अङ्गभङ्ग के कारण तुम हो ।

(३) राजा—कैसे !

(४) विदूषक—यही बात तो है ही, क्योंकि तुम राजकार्य और उतना अच्छा स्थिरः पद स्थान छोड़कर बिल्कुल बहेलिया हो गये हो । मैं तुम्हारे प्रश्न का क्या उत्तर दूँ, ब्राह्मण होकर भी मैं प्रतिदिन हिंस्र जीवों का पीछा करता हूँ, इससे मेरे सन्धिस्थान के

(जुत्तं णाम एव्वं, जं तुए रज्जकज्जाइं उज्झिअ तादिसं अक्खलिदपदं पदेसं च वणचलवित्तिणा होदव्वं त्ति । किं एत्थ मन्तीअदु ? अहं उण बम्मणो पच्चहं सापदाणुसरणेहिं संक्खोहिदसन्धिबन्धणाणं अत्तणो अङ्गाणं अणीसोह्मि । ता पसीद मे, एक्काहम्पि दाव विसमीअदु ।

राजा—[आत्मगतम् ।] अयमेवमाह, ममापि कण्वसुतामनुस्मृत्य मृगयां प्रति निरुत्सुकं चेतः तथाहि (१)—

न नमयितुमधिज्यमुत्सहिष्ये धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु ।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव लोचनकान्तिसंविभागः ॥३॥

ताम्—उत्तरं प्रदीयतां मयेति भावः, स्वयमेव विचारमात्रेण ज्ञातव्यत्वात्सदुत्तरं नापेचयते इत्यर्थः । अपरमाह—अहमिति । श्वभ्यः—कुक्कुरेभ्यः आपदः येषां ते श्वापदाः—सिंहव्याघ्रादयः निपातनादकारान्तता, अथवा श्वभिः—कुक्कुरैः आपद्यन्ते—इति श्वापदाः कर्मणि घञ्; अथवा शुनां कुक्कुराणाम् आपदो येभ्यस्ते श्वापदाः—विपद्यन्ते हिंस्रजन्तवः; अथवा शुनः पादा इव पादा येषामिति श्वापदाः; श्वानो हि तान् पदवीमन्विष्य बहिष्कुर्वन्तीति तेषां श्वापदत्वं बोध्यम् । 'श्वापदो ना हिंस्रपशा'विति शब्दार्णवः । तेषाम् अनुसरणैः—पश्चात्पश्चाद्धावनैः संक्षोभितानि—सम्यक् चलितानि सन्धिबन्धनानि संयोगसन्धानस्थानानि येषां तथाभूतानाम्, अङ्गानां—हस्तपादाद्यवयवानाम्, अनीशः—वहनसञ्चालनादावक्षमः—अस्मि, महत्तरव्यथाऽनुभवादित्यर्थः । तथा च भवदनुमत्यैव श्वापदानुसरणे विनियुक्तस्य ममाङ्गानामुपघाते भवानेवाऽसाधारणो हेतुरिति भावः ।

(१) राजेति । अयं—वयस्यो माधव्यः, कण्वसुतां—शकुन्तलाम्, अनुस्मृत्य—मनसिकृत्य, मृगयां प्रतीत्यत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशेन उत्तमाङ्गनासक्तौ साधारणपूर्वाङ्गनायां विरक्तत्वमुचितमिति वस्तु ध्वनितम् ।

निरौत्सुक्यस्य कार्यमाह—नेति । अध्यारूढा ज्या—मौर्वी यस्मिन् तदधिज्यं, गुणयुक्तमित्यर्थः । तथा आहितः—लक्ष्यभेदनाय संयोजितः सायकः—बाणो यस्मिन् तदाहितसायकं शरयुक्तमित्यर्थः, 'शरे खड्गे च सायक' इत्यमरः, इदं—प्रत्यक्षं दृश्यमानं धनुः, मृगेषु—हरिणेषु विषयेषु, तान् लक्ष्यीकृत्येत्यर्थः, नमयितुं—ज्याकर्ष-

सब बन्धन अपनी अपनी जगह से हट गये हैं और इसी से अब मैं अपने अङ्गों से कुछ भी काम नहीं ले सकता । इससे मुझ पर प्रसन्न हो जाओ और एक दिन तो विश्राम कर लो ।

(१) राजा—(स्वगत) ये ऐसा कह रहे हैं और शकुन्तला का स्मरण करते रहने के कारण शिकार के प्रति मेरा भी मन खट्टा हो गया है । क्योंकि :—

धनुष चढ़ा हुआ है, उस पर बाण भी है, फिर भी मैं हरिनों के ऊपर इसे चला नहीं

विदू—[राज्ञो मुखमवलोक्य) अत्रभवान् किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयति, अरण्ये खलु मया रुदितम् (१) । (अत्तभवं किम्पि हिअए कदुअ मन्तेदि, अरण्ये वखु मए रुदिदं ।)

राजा—[सस्मितम्] अनतिक्रमणीयं सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि (२) ।

णेन वक्रीकर्तुं कर्णान्तिकमाक्रष्टुमिति यावत्, न उत्सहिष्ये—शक्नोमि । कस्मादसमर्थ इत्याह,—सहेति । यैः—मृगैः, सहवसितम्-एकत्र वासम्, एकत्रावासनिबन्धनं सौहार्दमिति भावः; 'वसतिः स्यात् स्त्रियां वासे यामिन्याञ्च निकेतने' इति मेदिनी, उपेत्य—प्राप्य, प्रियायाः—शकुन्तलायाः, लोचनयोः—नयनयोः, कान्तेः—शोभायाः, संविभागः—सम्यग् विभज्यार्पणं कृत इव । तथा च प्रियाकृतसौहार्देषु विषयेषु मम सौहार्दकरणमेवोचितं न पुनस्तेषु हिंसेति भावः ।

अत्र परार्द्धवाक्यार्थस्य पूर्वार्द्धवाक्यार्थं प्रति हेतुत्वेनोपन्यासात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, भावाभिमानिनी वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा च, अनयोरलंकारयोर्मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः ।

अत्र च मृगलोचनमिव शकुन्तलालोचनं रमणीयमित्युपमालंकारो ध्वन्यते । पुष्पिताग्रा नाम वृत्तम् ॥ ३ ॥

(१) विदू इति । किमपि—अकथनीयं वस्तु, हृदये कृत्वा—चिन्तयित्वा, मन्त्रयति—अस्पष्टं भाषते । अरण्य इति । मया खलु अरण्ये रुदितम्—अरण्यरोदनमिव मद्वचनं व्यर्थं जातं; भवतामन्यत्र चित्तव्याक्षेपादित्याशयः । मद्वचनं किञ्चिदपि न शृणोषीत्युपालम्भः ।

(२) राजेति । सस्मितेति स्मितेन हास्यसमुद्भावनया हृदिस्थमर्थं गोपयति । सुहृदो वाक्यमनतिक्रमणीयम्-अलंघनीयम्, इति-अस्मात्कारणात्, स्थितोऽस्मि-मृगयाव्यापारान्मनो निवर्त्यावस्थितोऽस्मीत्यर्थः ।

सकता । क्योंकि इन्हीं (मृगों) ने साथ रहने के कारण नेत्रसौन्दर्य का कुछ भाग उस मेरी प्रियतमा शकुन्तला से ले लिया है ॥ ३ ॥

(१) विदूषक—(राजा के मुँह की ओर देखकर) तुम मन ही मन न जाने क्या सोच रहे हो, मैंने तुमसे कहा क्या, मानों, अरण्यरोदन किया ।

(२) राजा—(मुस्करा कर) मित्र की नहीं बात टाली जा सकती, इसीसे मैं चुप हो गया ।

विदू—[सपरितोषम्] तेन हि त्वं चिरं जीव (१)। (तेण हि तुमं चिरं जीव।) [इत्युत्थातुमिच्छति।]

राजा—तिष्ठ, शृणु मे सावशेषं वचः (२)।

विदू—आज्ञापयतु भवान् (३)। (आणवेदु भवं।)

राजा—विश्रान्तेन भवता ममान्यस्मिन्ननायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम् (४)।

विदू—किं मोदकखादिकायाम् (५)? (किं मोदअखज्जिआए)

राजा—यद् वक्ष्यामि (६)।

---

(१) विदू इति। सपरितोषं—सन्तोषव्यञ्जकं वदनप्रसन्नतादिकं रूपयित्वेत्यर्थः। तेन हि—मद्वचनपालनेनैव हेतुना, चिरं जीवेति विश्रामावसरे लाभादाशीर्वचनम्। इति;—उक्त्वेति शेषः, उत्थातुं—विश्रामकरणार्थं गमनायेति भावः, इच्छति—उपक्रमते।

(२) राजेति। तिष्ठ—स्थिरो भव। सावशेषं—शेषपर्यन्तम्।

(३) विदू इति। आज्ञापयतु सावशेषं वच इति शेषः।

(४) राजेति। विश्रान्तेन—मृगयाव्यापारात् कृतश्रमापनोदनेन 'गत्यर्थाकर्मकात् कर्त्तरि' इत्यादिना अकर्मकात् श्राम्यतेः कर्त्तरि क्तः। अन्यस्मिन्—मृगयेतरस्मिन्, अनायासे-विना परिश्रमेण साध्ये। तथा चाऽपरिश्रमसाध्येऽस्मिन्नवश्यं स्वीकारः कर्त्तव्य इति भावः।

(५) विदू इति। मोदकखादिकायाम्—मोदकं—लड्डुकाख्यमिष्टद्रव्यविशेषस्तस्य खादिकायां-भक्षणे। विदूषकस्य राज्ञे कौतुकोक्तिरियम्। भावे ण्वुच्।

(६) राजेति। यद्वक्ष्यामि,—तत्र भवता सहायेन भवितव्यमिति शेषः।

---

(१) विदूषक—(सन्तुष्ट होकर) यदि ऐसा है तो तुम बहुत समय तक जीवित रहो।

(ऐसा कह कर उठना चाहता है।)

(२) राजा—ठहरो, मेरी पूरी बात तो सुन लो।

(३) विदूषक—आज्ञा दीजिये।

(४) राजा—तुम आराम कर लेने के बाद मुझे एक अनायास सिद्ध होने योग्य काम में सहायता दो।

(५) विदूषक—क्या लड्डू खाने के काम में?

(६) राजा—जो काम मैं बतानेवाला हूँ।

विदू—गृहीतः क्षण (१)। (गहीदो क्खणो ।)

राजा—कः कोऽत्र भोः ! (२)

दौवारिकः। [प्रविश्य] आज्ञापयतु भर्ता (३)। (आणवेदु भट्टा ।)

राजा—रैवतक ! सेनापतिस्तावदाहूयताम् (४)।

दौवा—तथा । [इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह प्रविश्य ।] एतु एतु आर्यः । एष आलापदत्तकर्णः भर्ता इह एव तिष्ठति, उपसर्पतु एनमार्यः (५)। (तह । एदु एदुअज्जो । एस आलावदिण्णक्कण्णो भट्टा इधज्जेव चिट्ठदि, उवसप्पदु णं अज्जो ।)

---

(१) विदू इति । क्षणः-श्रवणावसरः, निर्व्यापारस्थितिर्वा गृहीतः-अवलम्बितः, श्रवणसमाप्तिपर्यन्तं स्थितोऽस्मीति तात्पर्यम्, 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षण' इत्यमरः ।

(२) राजेति । भो इति अनिर्दिष्टपरिजनाह्वाने । अत्र कः कः—परिजनः वर्त्तत इति शेषः ।

(३) दौवेति । द्वारि नियुक्तो दौवारिकः । भर्त्ता-प्रभुः राजेत्यर्थः । एतेन स्वामिभक्तिः तदाज्ञानुष्ठानौत्सुक्यं च द्योत्यते । 'नीचेषु प्राकृतं भवेत्' इति श्रवणात् दौवारिकस्य नीचपात्रत्वात् प्राकृतं भाष्यम् । 'भट्टेति चाधमैः' इति साहित्यदर्पणवचनात् भट्टेति दौवारिकस्य राज्ञे सम्बोधनम् ।

(४) राजेति—रैवतकेति दौवारिकस्य नाम ।

(५) दौवेति । तथा—यथा भवताऽदिष्टं तथा करोमीत्यर्थः । आलापे—आवयोः कथोपकथने दत्तौ-पातितौ कर्णौ येन स यथाभूतः, भर्त्ता-स्वामी राजा । एनं-भर्त्तारम्, आर्यः—भद्रो भवानित्यर्थः ।

---

(१) विदूषक—मैं वह कहने के लिये आपको अवसर देता हूँ !

(२) राजा—ओ यहाँ कौन है ?

(३) द्वारपाल—(आ कर) महाराज ! आज्ञा दें !

(४) राजा—रैवतक ! सेनापति को बुला लाओ ।

(५) द्वारपाल—जो आज्ञा (जाकर सेनापति के साथ वापस आता है) यहाँ आइए, यहाँ आइए । हम लोगों की बात सुनने के लिये कान लगाये, महाराज यहाँ ही बैठे हुए हैं, आप इनके पास जाइये ।

सेना· [राजानमवलोक्य स्वगतम् ।] दृष्टदोषापि मृगया स्वामिनि केवलं गुणायैव संवृत्ता । तथा हि देवः (१)—

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरवर्ष्मा
रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नः ।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥ ४ ॥

---

(१) सेनेति । दृष्टः–पशुहिंसाफलकतया प्रत्यक्षप्रायः, 'स्त्रियोऽक्षा मृगया पान' मित्यादिना 'न मृगयाभिरतिर्न दुरोदर' मित्यादिना च शास्त्रेण वा ज्ञातः दोषः–दूष्यभावो यस्याः सा दृष्टदोषा, भवन्निचे अन्यस्मिन् जने इत्यर्थः । मृगया-पशुमारणरूपा हिंसा, स्वामिनि राजनि भवति, केवलम् एकमात्रम्, गुणायैव गुण-सम्पादनार्थमेव । गुणान् दर्शयितुमाह—तथा हीति । देवो राजा बिभर्त्तीति श्लोकस्थक्रियापदेनान्वयः । 'राजा भट्टारको देव' इत्यमरः ।

अनेति । अनवरतं निरन्तरं यद् धनुषः ज्यायाः मौर्व्याः आस्फालनं कर्षणं तेन क्रूरं–कठिनं वर्ष्म–शरीरं यस्य तथाभूतः, 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । अनेन दिव्यास्त्रप्रहारसहनक्षमत्वं शरीरस्य व्यज्यते । अत एव रविकिरणान्–सौररश्मीन् सहिष्णुः–सोढा, आतपेऽप्यक्लान्त इत्यर्थः, अनेन दुःखसहिष्णुत्वं ध्वन्यते । तथा स्वेदलेशैः–घर्मजलकणैः, अभिन्नः–अविशिष्टः, युक्त इति केचिदर्थयन्ति । अनेन श्रमजयित्वं द्योत्यते । तेन हि गिरौ चरतीति गिरिचरः–पर्वतीयः नागः–हस्तीव, 'गजेऽपि नागमातङ्गौ' इत्यमरः, अपचितं–तादृशपरिश्रमेण क्षीणमपि, व्यायत-त्वात्–परिच्छदावृतत्वेन विशालत्वस्थूलत्वाभ्यां दृश्यमानत्वादित्यर्थः । गजपक्षे दीर्घत्वात् । अलक्ष्यं–क्षीणतयाऽदृश्यम्, तथा प्राणः–बलमेव सारः–स्थिरांशो यस्मिन् तत् तथाभूतं बलवत्तरमित्यर्थः, गात्रं–शरीराद्यवयवनिवहम्, बिभर्ति—वहति ।

अयं भावः—अन्यस्तु नृपतिर्जन्मतोऽत्यन्तसुखभोगाविच्छिन्नतया कोमलकायः सौरतापासहिष्णुः क्षुद्रेऽपि कर्मणि स्वेदातुरो घातुकजन्तुमात्रेभ्यश्च विपन्नो भवतीति

---

(१) सेनापति—(राजा को देखकर आप ही आप) यद्यपि मृगया में दोष ही दोष है, फिर भी स्वामी में वह गुण हो गया है । क्योंकि :—

सदैव धनुष की डोरी खींचने से महाराज की देह कठिन हो गयी है, सूर्य की किरण (घाम) बर्दाश्त कर सकते हैं और पसीने की बूँदें निकलने से विह्वल नहीं होते । यद्यपि इनके सब अङ्ग दुबले-पतले है, कपड़े पहनने पर भी वे मोटे नहीं कहे जा सकते, फिर भी पर्वतीय हाथी की तरह केवल बलवान् शरीर धारण किये हैं ॥ ४ ॥

[उपगम्य] जयति जयति स्वामी । स्वामिन् ! गृहीतमृगप्रचारं सूचितश्वापदमरण्यम्, तत् किमन्यदनुष्ठीयताम् ? (१)

राजा—भद्रसेन ! भग्नोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माधव्येन (२)।

सेना—[जनान्तिकम्] सखे ! माधव्य ! स्थिरप्रतिज्ञो भव, (३) अहं

तथाविधे मृगया केवलं दृष्टदोषैव भवति परन्तु अस्माकं राजनि अनवरतज्यास्फालनकठिनकायतया सौरतापसहिष्णुतया च प्रभूतेऽपि कायिककर्मणि स्वेदानातुरिततया घातुकजन्तुसामान्येऽपि अविपन्नतया च गुणायैव नितरां भवतीति।

अत्र श्लेषोपमा, परिकरश्च; साभिप्रायविशेषणप्राचुर्यात्। मालिनी नाम वृत्तम् ॥

(१) उपेति। उपगम्य-राज्ञोऽन्तिकं प्राप्य। जयतीत्याद्याचारः स्वोपस्थितिं सूचयति । गृहीतेति;-गृहीतः अवगतः मृगाणां-हरिणानां प्रचारः-गमनागमनं यत्र तत्तथोक्तम्, तथा सूचिताः-अनुमापिताः श्वापदा-व्याघ्रादिहिंस्रजन्तवो यस्मिन् तत्तथोक्तम्, अस्तीति शेषः। तथा च अरण्यस्य कस्मिन् प्रदेशे मृगाः प्रचरन्ति कुत्र वा व्याघ्रादिहिंस्रजन्तवः सन्ति, तत्सर्वं सम्यगवगतमस्माभिरिति तात्पर्यम्। एतेन एतदर्थपरिज्ञानाय राज्ञः सेनापतये आदेश आसीदिति मन्तव्यम्। तत्-तस्मात्, अन्यत्-इतो भिन्नम्, किं-कार्यम्, अनुष्ठीयतां—सम्पाद्यतां मयेति शेषः, तद्भवद्भिरादिश्यतामिति भावः।

(२) राजेति। भद्राः—क्षेमकारिण्यः सेनाः यस्य स तथोक्तस्तत्सम्बोधने भद्रसेन !, भद्रसेन इति सेनापतेर्नामधेयम्। मृगयाम्—आखेटमपवदति—निन्दतीति मृगयापवादी तेन मृगयापवादिना—आखेटविद्वेषिणा इत्यर्थः, माधव्येन-विदूषकेण माधवे-वसन्ते साधुरिति माधव्यो विदूषकस्य नाम, तदुक्तं दर्पणकारैः—'कुसुमवसन्ताद्यभिधः' इत्यादि। भग्नः—नष्ट उत्साहः—उद्यमो यस्य स तथाभूतः—मन्दीकृतोत्साह इत्यर्थः। तथा च—अद्य न किञ्चिदनुष्ठातव्यम्, विश्राम्यतामित्यभिप्रायः।

(३) सेनेति। राज्ञो विश्रमवचनमाकर्ण्य हृष्यन् सेनापतिर्विदूषकमाह—सख इति। आत्मनः सहकर्मित्वेन विदूषकं प्रति सेनापतेः सख इति सम्बोधनम्।

---

(१) (पास जाकर) प्रभु की जय हो, जय हो। महाराज ! वन में मृगों के रहने की जगह मालूम कर ली गयी और हिंसक जन्तुओं का भी पता लग गया है, अब इसके आगे जो करना हो वह कहिये ?

(२) राजा—भद्रसेन ! मृगया का अपवाद करने वाले माधव्य ने हमको मृगया से हतोत्साह कर दिया है।

(३) सेनापति—(विदूषक से धीरे-धीरे) मित्र माधव्य ! तुम अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़

तावत् स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये । [प्रकाशम्] देव प्रलपत्येष वैधेयः, ननु प्रभुरेव निदर्शनम् । पश्यतु देवः—

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः,
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।

स्थिरप्रतिज्ञः—दृढनिश्चयः, भव; मृगयानिषेधे इति शेषः । क्षणान्तरे चाञ्चल्यात् स्वामिनः प्रकृतबुद्धिमनुसरेति भावः । स्वकृत्यं तस्मै प्रकाशयति—'अहमिति, स्वामिनः—राज्ञश्चित्तमनुवर्तिष्ये-अनुसरिष्यामि, स्वामिनो यादृशिच्छा भवति तामेवाभिनन्दामीत्यर्थः । विधेयः—आत्मनः कार्याकार्यविवेकशून्यतया समेषामेव वचने स्थितः; स एव वैधेयः-मूढः, स्वार्थेऽण् 'अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशाः' इत्यमरः, प्रलपति-उन्मत्त इव निरर्थकं वक्तीत्यर्थः, अनर्थकं मृगयां निन्दतीति यावत्, 'प्रलापोऽनर्थकं वच' इत्यमरः; अनेन तद्वचनस्य युक्तिभिश्चित्तशून्यत्वं द्योत्यते । कुत इत्याह;—नन्वित्यादि । नन्विति दृढामन्त्रणे । प्रभुः-स्वामी भवानेव, निदर्शनं-मृगयाया गुणत्वे दृष्टान्तः । पश्यतु-वक्ष्यमाणं विचारयतु ।

किं तत् विचार्यं कुतो वा अहम् (दुष्यन्तः) एव निदर्शनमित्याशङ्कायामप्रस्तुतप्रशंसामुखेन व्याचष्टे—मेद इति । वपुः-शरीरम्, मेदसः-शरीरस्थौल्यापादकधातुविशेषस्य, वसाया इत्यर्थः । छेदेन मृगयाजनितश्रमाधिकतया ह्रासेन कृशं क्षीणम्-उदरं यत्र तथाभूतं; उक्तं च भावप्रकाशे—

'मेदो हि सर्वजन्तूनामुदरेष्वस्थिषु स्थितम् ।
अत एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत् ॥
अव्यायामदिवास्वप्नश्लेष्मलाहारसेविनः ।
मधुरोऽन्नरसः प्रायः स्नेहान्मेदो विवर्द्धयेत्' ॥' इति ।

अत एव लघु-भारहीनं सत्, अत एव चोत्साहयोग्यं-समुद्यमशक्तं सर्वकर्मक्षमम्, भवति । अपि च सत्त्वानां-प्राणिनां हन्तव्यानां सिंहव्याघ्रादीनामिति भावः, 'सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः, भयक्रोधयोः-भये क्रोधे च, तत्काले इत्यर्थः, विकृतिमत्-विकृतिर्विद्यते यस्मिंस्तत्-सञ्जातविकारम्, चित्तं-चेतः, लक्ष्यते चेष्टाविशेषदर्शनेन बुध्यते । अत एव रणकाले महती सुविधैव भवेत् इति भावः । चले

रहो, मैं स्वामी की मनोवृत्ति का अनुसरण करता हूँ । (प्रकट) महाराज ! यह मूर्ख यों ही बक रहा है, क्योंकि मृगया की उपकारिताके सम्बन्ध में श्रीमान् ही दृष्टान्त हैं । आप देखें—

मृगया के परिश्रम से मेद (बढ़ी चर्बी) नष्ट हो जाती और निकली हुई पेटी सिकुड़ जाती है, इससे शरीर हल्का और फुर्तीला रहता है, भय तथा क्रोध के समय जनजन्तुओं का

उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले,
मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ॥ ५ ॥

विदू—(सरोषम्) अपेहि रे उत्साहहेतुक ! अत्रभवान् प्रकृतिमापन्नः, त्वं तावद् दास्याः पुत्रः अटवीतः अटवीमाहिण्डमानः यावत् शृगालमृगलोलुपस्य कस्यापि जीर्णऋक्षस्य मुखे निपतितो भव (१) । (अवेहि रे उच्छाअहेदुअ ! अत्तभवं पइदिं आवण्णो, तुमं दाव दासीए पुत्तो अडइदो अडइं

चञ्चले गतिमतीत्यर्थः, लक्ष्ये—शरव्ये, यद् इषवः—शराः, सिध्यन्ति—कृतकार्या भवन्ति न तु कदाचित् स्खलन्ति, स च, धन्विनां—धानुष्काणाम्, 'धन्वी धनुष्मान् धानुष्कः' इत्यमरः, उत्कर्षः—निपुणता, प्राधान्यं भवतीति शेषः । अत एव मृगयाम्—आखेटकम्, मिथ्या हि—मुधैव, हिशब्दोऽवधारणे, व्यसनं—दोषोत्पादकम्, वदन्ति मन्वादय इति शेषः, उक्तप्रकारेण मृगयायाः सार्थकत्वदर्शनाद् व्यसनस्य निरर्थकत्वमिति भावः । अथ मृगयायाः प्रसिद्धं विनोददातृत्वं मनसिकृत्याह;—ईदृगिति । ईदृक्—ईदृशः, विनोदः—प्रमोदः, कुतः मृगयाभिन्नात् कस्माद्व्यापाराद्युत्पद्यते, न कुतोऽपीत्यर्थः । अत एव एष वैधेयो माधव्य उन्मत्तवत् प्रलपत्येवेति भावः । मृगयाया व्यसनत्वमाह मनुः—

'मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियोन्मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशमो गुणः ॥'

अत्र मृगयाया व्यसनत्वस्य मिथ्यात्वं प्रति नानाकारणाभिधानात् समुच्चयालङ्कारः । तथा वदन्तीत्यन्तवाक्यं प्रति पूर्ववाक्यत्रयार्थाः कारणत्वप्रयुक्ता इति वाक्यार्थहेतुकः काव्यलिङ्गालङ्कारः, दण्डापूपिकन्यायेन चार्थागमादर्थापत्तिश्चेति, एतेषां मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

(१) विदू इति । सरोषमिति;—राजानं प्रति सेनापतेः स्वप्रतिकूलोपदेशनात् विदूषकस्य सेनापतेरुपरि रोषः । उत्साहे—राज्ञः उत्साहकरणे हेतुरेव हेतुरेवस्तत्सम्बोधने हे उत्साहहेतुक !—उत्साहपोषक ! अपेहि—अपसर, दूरं गच्छ । अत्र भवान्—मान्यो महाराजः, प्रकृतिमापन्नः—मत्प्रबोधनात् स्वभावं सम्प्राप्तः, 'प्रकृति-

मानस-विचार भी मालूम हो जाता है और धनुर्धारियों के लिये यही विशेषता की बात होती है कि भागते हुए निशाने पर भी उनका बाण सफल हो । इसी से जो बड़े बड़े महर्षियों ने मृगया को व्यसन कहा है, वह ठीक नहीं है । मृगया के सिवा भला इस तरह का आनन्द और कहीं मिल सकता है ? ॥ ५ ॥

(१) विदूषक—(क्रोध के साथ) अरे उत्साह बढ़ाने वाले ! जा जा । महाराज सब

आहिण्डन्तो जाव सिआलमिअलोलुअस्स कस्स वि जिण्णरिच्छस्स मुहे णिवडिदो होहि ।)

राजा—सेनापते ! आश्रमसन्निकर्षे स्थितोऽस्मीति वचनं ते नाभिनन्दामि । अद्य तावत् (१)

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं,
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।

गुणसाम्ये स्यात् अमात्यादिस्वभावयो'रिति मेदिनी । स्वात्मप्रतिकूलस्य राजोत्साहस्य वर्द्धनात् सेनापतिं शपति;—त्वमिति । दास्याः पुत्रः—नीच इत्यर्थः, अटवीतोऽवीम्—अरण्यादरण्यम्, आहिण्डमानः—परिभ्राम्यन्, शृगालमृगलोलुपस्य—शृगालमृगस्वादनाभिलाषिणः, नरनासिकालोलुपस्येति पाठान्तरम् । नासिकालोलुपस्येति स्वभावोक्तिः । भल्लूका दृष्टिपथमागतानां नराणां नासिकामेव प्रथमं खादन्तीति प्रसिद्धिः । जीर्णऋक्षस्य—वृद्धभल्लूकस्य भल्लूकस्य जीर्णत्वविशेषणं लोलुपत्वातिशयद्योतनार्थम् । मुखे निपतितो भवेति;—जीर्णऋक्षस्ते नासिकां लेढु इत्यर्थः ।

(१) राजेति । सेनापते ! भद्रसेन ! आश्रमस्य-तपोवनस्य, सन्निकर्षे-सन्निधौ, स्थितोऽस्मि-वर्त्ते, इति-अस्मात्, ते-तव, वचनं नाभिनन्दामि-न प्रशंसामि, तथा च आश्रमस्य सन्निधाववस्थाने तत्रत्यानां प्राणिनां हननस्यैकान्ततोऽन्याय्यत्वादिति भावः । अद्य तावदिति गाहन्तामित्यादिभिः निम्नोक्तश्लोकीयक्रियाभिः साकमन्वयः ।

गाहन्तामिति । महिषाः-शृङ्गिपशुविशेषाः, शृङ्गैः-विषाणैः मुहुः वारं-वारं, ताडितम्-आहतम्, निपानस्य-जलाशयस्य सलिलं-जलम्, गाहन्तां-विलोडयन्तु, महिषाणां सलिलावगाहनं जठरानलस्य सदा प्रज्वलनात्तच्छान्त्यर्थमिति प्रसिद्धिः । मृगकुलं-हरिणवृन्दम्, छायासु-अनातपेषु तद्विशिष्टप्रदेशेष्वित्यर्थः । बद्धं-रचितं कदम्बकं-संहतिभावो येन तत् तादृशं सत्, रोमन्थं-चर्वितस्य शष्पादेरुद्गीर्य चर्वणम्, अभ्यस्यतु-पौनःपुन्येनानुतिष्ठतु । वराहाणां-शूकराणां पतिभिः—यूथनाथैः, विश्रब्धैः-अस्माकमनवलोकनाद्भयशून्यतया विश्वासप्रयुक्तचित्तैः सद्भिः, पल्वले-अल्प-

समझते है । तू दासी का बेटा एक वन से दूसरे वन में घूमता हुआ सियार या मृग के लोभी किसी बूढ़े रीछ के मुँह में जा पड़े ।

(१) राजा—सेनापति ! मैं इस समय आश्रम के पास हूँ । इसलिये तुम्हारी सलाह की सराहना नहीं करता । आज—

भैंसे अपनी सींग से बार-बार मथे हुए सरोवर के पानी में नहायें, मृगगण कीसि वृक्ष

विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥ ६ ॥

जलाशये, मुस्तानां-तदाख्यतृणविशेषाणां क्षतिः-कन्दग्रहणार्थं मूलोत्पाटनेन ध्वंसः, क्रियताम् 'मुस्ता मुस्तकमस्त्रियाम्'इत्यमरः, वराहाः पङ्कप्रायाल्पजलाशये मुस्ताकन्दभक्षणाय तपनतापादात्मनो रक्षणाय च प्रवेष्टुकामा भवन्तीति प्रसिद्धिः। तथा इदमस्मद्धनुश्च, शिथिलः—एककोटेरवमोचनाच्छिथिलीभूतः ज्यायाः-मौर्व्या बन्धः-अन्यकोटिबन्धनं यस्य तत् तादृशं सत्, विश्रामं-निर्व्यापारवत्तया विश्रान्तिम्, लभतां—मृगयानिवृत्त्या शरचालनाय गुणाकर्षणाभावान्निर्व्यापारं तिष्ठतु इति भावः। एतेनैतत्पर्यन्तं विश्रान्तेर्दौर्लभ्यमासीदिति सूचितम्।

अस्मद्धनुरित्यनेन आत्मनः सर्वाङ्गस्वामित्वस्य जीवनरूपत्वं धनुषो ध्वन्यते, तस्मात्तस्य विश्रामाभावे सर्वमप्यङ्गं संशयितं स्यादतस्तस्य विश्राम आवश्यकः। अस्मदर्थस्य चेतनस्य तत्कर्तृत्वे युक्तेऽप्यचेतने धनुषि तत्कर्तृत्वारोपणं चारुत्वावगाहनाय, यदुक्तं व्यक्तिविवेककारैः-'प्रकृतमपि यत्र हित्वाऽकर्तृकत्वं युष्मदर्थस्य। चारुत्वायान्यत्रारोप्येत गुणः स तु न दोषः' इति। अस्मदिति पञ्चमीबहुवचनं पृथक् पदं विश्राममित्यनेन सह सम्बध्यत इति प्राञ्चः। विश्राममिति पदस्यापाणिनीयसिद्धत्वेऽपि बहुलमहाकविप्रयोगदर्शनात् सम्यक्त्वम् यथोक्तं भट्टनारायणपादैः—

'विश्रामस्यापशब्दत्वं वृत्युक्तं नाद्रियामहे।
मुरारिभवभूत्यादीनप्रमाणीकरोति कः॥' इति।

तत् परिवर्त्तनेन साहसिका विश्रान्तिमिति पठन्ति। अत्र केचित्—

राज्ञो नायिकावियोगेन दुःखितस्यान्येषां तद्वियोगाद् दुःखं माभूदित्यभिप्रायेणोक्तिरियमिति वदन्ति।

तथा च तेषाम्—महिषाश्च महिष्यश्चेति महिषाः, मृगाश्च मृग्यश्चेति मृगाः, इत्येकशेषसमासाश्रयणेन महिषादिस्त्रीपुंसमिथुनपरतया, मुस्ताविश्रान्तिज्यानां स्त्रीलिङ्गनिर्दिष्टानां नायिकात्वारोपवशेन, क्षतौ दन्तक्षतारोपेण, बन्धपदस्य सुरतबन्धार्थपरत्वेन, आबद्धस्य स्नेहार्थत्वेन चेति व्याख्यानम्।

अत्र च पद्ये लिङ्गकारकवचनप्रत्ययादिविषयो भग्नप्रक्रमतादोषः। तस्य परिहारप्रकारस्तु काव्यप्रकाशिकादिभ्यः समुन्नेयः, पिष्टपेषणभिया तत्रास्माभिर्जोषमेवास्यते। वस्तुतस्तु-रसैकतानो महाकविरेवंविधेऽकिञ्चित्करे दोषे मनो न निदधौ। स्वभावोक्तिरतिशयोक्तिश्चालङ्कारौ। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ६॥

की छाया में इकट्ठे होकर जुगाली करें, बड़े-बड़े शूकरों का समूह विश्वस्तचित्त होकर छोटे छोटे तालाबों के मोथे खायें और यह ढीली प्रत्यंचावाला मेरा धनुष भी आराम करे ॥ ६ ॥

सेना—यथा प्रभविष्णवे रोचते (१)।

राजा—तेन हि निवर्त्तस्व पुरोगतान् धनुर्ग्राहिणः। यथा च मे सैनिकास्तपोवनं नाभिरुन्धन्ति, दूरात् परिहरन्ति च, तथा निषेद्धव्याः। पश्य (२)—

शमप्रधानेषु तपोवनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला अपि सूर्यकान्तास्ते ह्यन्यतेजोऽभिभवाद्दहन्ति ॥७॥

(१) सेनेति। प्रभवति तच्छीलः प्रभविष्णुस्तस्मै प्रभविष्णवे–प्रभुत्वशीलाय भवते राज्ञे, यथा रोचते, तथैवास्त्विति शेषः, 'भुवश्च'–इतीष्णुच्, 'रुच्यर्थानामि'ति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी।

(२) राजेति। तेन हि–विश्रान्तेर्भवतोऽप्यभिलषितत्वेनैव, पुरोगतान्–मृगयाकरणायाग्रचारिणः, धनुर्ग्राहिणः–धानुष्कान्, निवर्त्तय–प्रत्यावर्त्तय, नाभिरुन्धन्ति–नो परिपीडयन्ति, दूरात् परिहरन्ति–दूरत एव परित्यजन्ति, निषेद्धव्याः–प्रतिषेधनीयाः, सैनिका इति सम्बध्यते। निषेधस्यावश्यकत्वं दर्शयितुमाह—पश्येति।

शमेति। शमः–शान्तिरेव प्रधानं–श्रेष्ठं बहुलमिति यावत्, येषु तथाभूतेषु तपोवनेषु–आश्रमपदेषु, गूढं हि–प्रच्छन्नमेव, अनभिभवदशायामप्रकाशमेवेत्यर्थः, दाहः–भस्मीकरणमात्मा–स्वरूपं यस्य तत् तादृशम्–दहनस्वभावकम्, तेजः–ब्रह्मवर्चसम्, अस्ति, हि–तथा हि, स्पर्शे–स्पर्शनविषये, अनुकूलाः—प्रच्छन्नतेजस्कत्वेन सुखदायिनोऽपि, ते–विख्याताः, सूर्यकान्ताः–स्वाभिधानप्रसिद्धाः तपनतापसम्पर्केणानलोद्गारिणो मणिविशेषाः, अन्येन तेजसा सूर्येणेत्यर्थः, अभिभवात्–समाक्रमणात्, स्पर्शेनेति भावः, दहन्ति–दाहकारणं तेज उद्वमन्ति।

अयमाशयः—सूर्यकान्तमणयः प्रच्छन्नतेजस्कतया स्पर्शसहा अपि यथा तपनतापसमाकर्षणेनान्तर्निगूढं तेज उद्गीर्य दाहहेतवो भवन्ति तद्वत्तपोवनानि शान्तिबहुलान्यपि केषाञ्चिदविनीतानां समाकर्षणेन झटिति तपस्विगणमुखेन तेज उद्गीर्य भस्मसात् कुर्वन्त्येवेति। तथा च सैनिकाः निषेद्धव्या इति भावः। सूर्यवत् कान्ताः–रमणीया इति सूर्यकान्ताः, तापसाः, स्पर्शः–सम्पर्कः, अनुकूलः–प्रियो तेषां ते

(१) सेनापति—जैसी प्रभु की इच्छा।

(२) राजा—तो फिर जो धनुर्धर आगे बढ़ गये उन्हें वापस बुला लो। और जैसे मेरे सैनिक इस तपोवन को घेरें नहीं–दूर ही रहें, ऐसी आज्ञा दे दो। देखो—

इन शान्तिप्रधान तपोवनों में एक प्रकार का गुप्त और दाहात्मक तेज छिपा रहता है। जैसे कि सूर्यकान्तमणि छूने लायक होता है, किन्तु किसी दूसरे तेज से अभिभूत होकर जलने लगता है ॥ ७ ॥

सेना—यथाज्ञापयति स्वामी ।

विदू—भोः उत्साहहेतुक ! निष्क्रम निष्क्रम (१)। (भो उच्छाअहेतुअ ! णिक्कम णिक्कम ।) .

[सेनापतिर्निष्क्रान्तः ।]

राजा—[परिजनानवलोक्य] मृगयावेशमपनयन्तु भवन्तः । रैवतक ! त्वमपि स्वनियोगमशून्यं कुरु (२) ।

रैव—यत् महाराज आज्ञापयति (३) । (जं महाराओ आणवेदि ।)

[इति निष्क्रान्तः ।]

विदू—कृतं भवता साम्प्रतं निर्म्मक्षिकम् ; तदस्मिन् पादपच्छायाविरचितवितानसनाथे शिलातले उपविशतु भवान् ; यावदहमपि सुखासीनो भवामि (४) । (किदं भअदा सम्पदं णिम्मक्खिअं, ता इमस्सिं पादवच्छा-

---

स्पर्शानुकूलाः—शान्ता अपि इति केचिच्छ्लेषमुखेन व्याख्यानयन्ति । केचिच्च—अपेः परिवर्त्तनेन इवशब्दमुद्धोषयन्ति, तयोर्मतेऽत्र श्लेषोपमालङ्कारौ । प्रकृते तु दृष्टान्तोलङ्कारः, काव्यलिङ्गमित्यन्ये । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ७ ॥

(१) विदू इति । उत्साहे कुत्सितो हेतुरिति उत्साहहेतुकस्तत्सम्बोधने हे उत्साहहेतुक ! मृगयाविषये राज्ञ उत्साहोत्पादक ! कुत्सायामर्थे कः । निष्क्रम-अपगच्छ । वीप्सायां द्विर्वचनम् ।

(२) राजेति । परिजनान्—भृत्यवर्गान् । मृगयोचितो वेशो मृगयावेशस्तं;—मृगयोचितवेशं, सन्नाहमित्यर्थः । अपनयन्तु—परित्यजन्तु, मृगयानिवृत्याऽस्यानावश्यकत्वादिति भावः । रैवतकेति दौवारिकनामधेयम् । स्वस्य—आत्मनो नियोगम्—अधिकारम्, अशून्यं—पूर्णं कुरु, पूर्वं यथा द्वारमिदानीं पालयेत्यर्थः ।

(४) विदू इति । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्, मक्षिकाप्यत्र नेत्यतिशयोक्तिः, जनराहित्यमिदानीं कृतमिति भावः, अभावार्थेऽव्ययीभावः समासोऽत्र । पादपानांशाखिनां छायाभिर्विरचितं—विहितं यद्वितानं—चन्द्रातपः 'चाँदुआ' इति एकदेशि-

---

सेनापति—स्वामी की जैसी आज्ञा ।

(१) विदूषक—ओ उत्साह बढ़ानेवाले ! निकल, निकल यहाँ से । (सेनापति चला जाता है ।)

(२) राजा—(अपने परिजनों को देखकर) आप लोग भी इस मृगयावेश को उतार दें । रैवतक ! तू भी अपने काम पर !

(३) रैवतक—महाराज की जो आज्ञा । (चला जाता है ।)

(४) विदूषक—तुमने तो इस स्थान को मक्षिकाशून्य कर दिया है । तो आओ, इस

आविरइद विदाण·सणाहे सिलाअले उवविसदु भवं; जाव अहम्पि सुहासीनो होमि ।)

राजा—गच्छाग्रतः (१) ।

विदू—एतु एतु भवान् (२) । (एदु एदु भवं ।)

उभौ—[परिक्रम्योपविष्टौ ।] (३)

राजा—सखे माधव्य ! अनाप्तचक्षुःफलोऽसि येन त्वया द्रष्टव्यानां परं न दृष्टम् (४) ।

विदू—ननु भवानेव मे अग्रतो वर्त्तते (५) । (णं भवं ज्जेव मे अग्गदो वट्टदि ।)

भाषा तत्सनाथे—तत्सहिते, वृक्षच्छायात्मकचन्द्रातपाच्छादिते इत्यर्थः, शिलातले—प्रस्तरपट्टोपरि उपविशतु—निषीदतु । सुखासीनः—सुखं यथा भवति तथाऽऽसीनः—सुखोपविष्टः स्वैरालापकरणाय पूर्वं प्रार्थितविश्रामलाभाय चेति भावः ।

(१) राजेति । अग्रतः—पुरतः, गच्छ—मार्गप्रदर्शनायेति भावः ।

(२) विदू । एतु एत्विति वीप्सायां द्विरुक्तिः । मत्पृष्ठत आगच्छत्वित्यर्थः । अयं मार्गादेशाचारः ।

(३) उभाविति । उभौ—राजा विदूषकश्चेति द्वौ । परिक्रम्य—पादक्रमणं निरूप्य ।

(४) राजेति । न आप्तम् । अनाप्तम्—अलब्धं चक्षुषोः—नयनयोः फलं—कमनीयवस्तुदर्शनं येनासौ तथोक्तः, चक्षुःफलं न लब्धवानसि इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह;—येनेति । येन—हेतुना । द्रष्टव्यानां—दर्शनयोग्यानां वस्तूनां मध्ये इति भावः, परं—श्रेष्ठं वस्तु, न दृष्टं—नावलोकितम् । एतेन तादृशस्य वस्तुनः पुनर्दुर्लभत्वं पूर्वं च सुलभत्वं द्योत्यते ।

(५) विदू इति । नन्विति प्रश्ने सम्बोधने वा, भावेन—द्रष्टव्यतम इत्य°,

---

शिला पर बैठो, वृक्ष की छाया इस पर चंदोवे का काम दे रही है । मैं भी अब आनन्द के साथ इस पर बैठता हूँ ।

(१) राजा—चलो, आगे बढ़ो ।

(२) विदूषक—आप भी आइए-आइए ।

(३) दोनों—(आगे बढ़कर दोनों एक शिलाखण्ड पर बैठ जाते हैं) ।

(४) राजा—सखे माधव्य ! तुमने इन आँखों से कोई लाभ नहीं उठाया । क्योंकि—तुमने देखने योग्य सब वस्तुओं से उत्तम वस्तु नहीं देखी ।

(५) विदूषक—एक तो आप ही मेरे सामने बैठे हैं ।

राजा—सर्वः खलु कान्तमात्मानं पश्यति । अहन्तु तामेवाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि (१) ।

विदू—[स्वगतम्] भवतु, नास्य प्रश्रयं वर्द्धयिष्यामि । [प्रकाशम्] भोः ! यदि सा तपस्विकन्या अनभ्यर्थनीया; तत् किं तया दृष्टया ? (२) । (भोदु, ण से परसअं वड्ढइस्सं । भो ! जइ सा तवस्सिकण्णआ अणब्भत्थणीआ, ता किं ताए दिट्ठआए ।)

अग्रतः—सम्मुखे, वर्त्तते—तिष्ठति । तथा च—द्रष्टव्याग्रगण्यस्य भवतो मत्सम्मुखवर्त्तित्वात् कथं वा मया द्रष्टव्यानां परं न दृष्टमिति भावः । अनेन राज्ञो दुष्यन्तस्य परमरमणीयाऽऽकृतिमत्त्वं द्योत्यते ।

अत्र केचित्—'नर्मसचिवो माधव्यस्तदाशयं जानन्नपि तदारम्भाननुगुणं हास्यप्रौढ्याऽऽह;—नन्विति । दर्शनीयस्य मम दर्शनादवाप्तचक्षुःफलस्त्वम्, मम हि मत्सौन्दर्यदर्शनासम्भावादहं न तथा, ततस्त्वदुक्तं समीचीनमेवेत्यर्थः' इति । इदं प्रागमनं नाम प्रतिमुखसन्ध्यङ्गम्, 'प्रागमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम्' इति तल्लक्षणात् ।

(१) राजेति । सर्वः खलु—समस्त एव जनः, आत्मानम्—निजजनं स्वं वा, कान्तं—सुन्दरम्, पश्यति—विजानाति, सौन्दर्यदर्शने स्वात्मीयत्वस्य प्रयोजकतया आत्मीयस्य मम सौन्दर्यं भवान् यदभिजानाति तन्न वास्तवमिति भावः । अहन्तु—अहं पुनः, आश्रमस्य—तपोवनस्य कण्वमहर्षेस्तपःसाधनस्थानस्येति भावः, ललामभूतां-भूषणस्वरूपाम् 'ललामं पुच्छपुण्ड्राश्वभूषाप्राधान्यकेतुषु' इत्यमरः, तां शकुन्तलां-कण्वपालितां कन्यामेव, न तु यत्किञ्चिद्वस्त्विति भावः, अधिकृत्य-आश्रित्य, ब्रवीमि—दृष्टव्यानां परमिति वच्मि इति भावः ।

(२) विदू इति । भवतु, दृष्टव्यानां परं शकुन्तलेति शेषः । अस्य-राज्ञो दुष्यन्तस्य, पश्रयं—प्रणयातिशयम्, 'प्रश्रयप्रणयौ समौ' इत्यमरः, शकुन्तलाया उपर्यनुरागमित्यर्थः, न वर्द्धयामि—अनुकूलवचनप्रयोगेण न पोषयामि, किन्तु प्रतिकूलोक्त्या छेदयामीति भावः । सा—शकुन्तला नाम मुनिकन्या, तपस्विनः-कण्वस्य-कन्या, प्रतिपालितत्वादिति भावः । अत एव अनभ्यर्थनीया—न अभ्यर्थनीया, न प्रा 'नीया, दर्शनेन तावन्न किञ्चिदपि फलमित्यर्थः । ब्रह्मतापसकन्यात्वेन तद्दर्शना-

---

(१) राजा—सब लोग अपने को सुन्दर ही समझते हैं । परन्तु मैं तो इस आश्रम की अलङ्कारस्वरूपा शकुन्तला को लक्ष्य कर ऐसा कहता हूँ ।

(२) विदूषक—(स्वगत) मैं इस मामले को आगे नहीं बढ़ने दूँगा (प्रकाश कर) क्यों जी ! यदि वह तपस्विकुमारी है, इसलिये माँगी नहीं जा सकती तो उसको देखने से क्या लाभ ?

राजा—धिङ्मूर्ख (१)!

निवारितनिमेषाभिर्नेत्रपङ्क्तिभिरुन्मुखः।
नवामिन्दुकलां लोकः केन भावेन पश्यति॥ ८॥

न च परिहार्ये वस्तुनि दुष्यन्तस्य मनः प्रवर्त्तते (२)।

भ्यर्थनयोर्निष्फलतया प्रतिलोमपरिणयस्याशास्त्रमूलकत्वेन तस्य च महानरकजनकतया तद्दर्शनाभ्यर्थनादिकं नितान्तं गर्ह्यमित्याशयः।

(१) राजेति। मूर्खं इति सम्बोधनम्, धिक्, त्वामिति पूरणीयम्। तव तु मूर्खत्वेन लोकप्रकृतेरज्ञतया त्वां भर्त्सयामीत्यर्थः। 'धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोः' इत्यमरः। निवारितेति। लोकः—समस्त एव जनः, सम्पन्नो व्रीहिरितिवज्जात्यपेक्षायामेकत्वम्। उद्-ऊर्ध्वं मुखं यस्य स तथाभूतः-ऊर्ध्ववदनः सन्, निवारितः-निवर्त्तितः निमेषः-स्पन्दनं याभिस्तथोक्ताभिः—निर्निमेषाभिः, नेत्रपङ्क्तिभिः—नयनश्रेणिभिः, नवां—नवोदिताम्, शुक्लपक्षद्वितीयामुदितामित्यर्थः, इन्दुकलां—चन्द्ररेखाम्, केन भावेन-केनाशयेन, पश्यति!—दृष्ट्वा नन्दति? । तथा च—यदेन्दुकला बहुदूरवर्त्तितया अलभ्याऽपि लोको नयनानन्दसम्पादनायैव नवोदितां तां सादरं पश्यति तथा स शकुन्तला मुनिकन्यात्वेनाऽलभ्याऽपि नयनानन्दसम्पादनायैव दर्शनार्हति भावः, अत्र तु लोकातीतसौन्दर्यातिशय एव परमानन्दकन्दास्वादनजनकतयाऽसाधारणो हेतुर्न पुनस्त्वया कृतसिद्धान्तोऽन्यो जिघृक्षादिरूपो हेतुरिति तात्पर्यम्।

अत्र अप्रस्तुतेन्दुकलारूपात् प्रस्तुतायाः शकुन्तलायाः प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः। यथोक्तं काव्यप्रकाशे—'अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया' इति। अयमर्थः—अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा इति। प्राच्यास्त्वत्र अप्रस्तुतप्रशंसावादिनः, नव्यास्तु विदूषकवाक्यं प्रति व्यतिरेकेण दृष्टान्ताभिधानात् दृष्टान्तालङ्कार इति प्राहुः। एवञ्च शकुन्तलादर्शनमतीवानन्दजनकमित्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः॥ ८॥

(२) सम्प्रति सा तपस्विकन्याऽपि अभ्यर्थनीयैवेति वेदयितुमाह—न चेति। परिहार्ये—कथञ्चिदपि परित्याज्ये, वस्तुनि—विषये; अग्राह्यपदार्थमात्रेऽपि, दुष्यन्तस्य—पुरुवंशसन्तते राज्ञो मम, मनो न प्रवर्त्तते-प्रवृत्तिमद् न भवति। एवञ्च-

---

(१) राजा—हट मूर्ख!

कोई मनुष्य ऊपर मुँह उठाकर निर्निमेष दृष्टि से नवीन चन्द्रकला को किस भाव से देखता है?॥ ८॥

(२) और यह भी जान लो कि किसी परित्याज्य वस्तु पर दुष्यन्त का मन नहीं प्रवृत्त होता।

विदू—तत् कथय (१) । (ता कधेहि ।)

राजा (२)—

ललिताप्सरोभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम् ।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥ ९ ॥

आत्मनो मम मनसः प्रवृत्तिवशान्न खलु सा मुनिकन्या परित्याज्या परन्तु यथासम्भवं ग्राह्यैवेति भावः ।

(१) विदू इति । सा मुनिकन्यापि अपरिहार्यैवेति राज्ञा यद् उक्तं तदपरिहार्यताबीजं शुश्रूषमाण आह—तदिति । तत्—तावत्, कथय—आमूलतः शकुन्तलेतिवृत्तमिति शेषः ।

(२) राजेति । अपरिहार्यताबीजमाह—ललितेति । ललितायाः—रमणीयाया अप्सरसः—मेनकाया भवतीति तथोक्तं मेनकागर्भसम्भूतमित्यर्थः, 'ललितं त्रिषु सुन्दरम्' इत्यमरः । मुनेः—विश्वामित्रस्य अपत्यम्—औरसजातम्, तथा;-तया-मेनकया उज्झितं—राजर्षिवीर्यत्वात् पूर्वं त्यक्तं सत्, पश्चात् अधिगतं—प्राप्तं कण्वेनेत्यर्थः, स्नातानुलिप्तवत् 'पूर्वकाल' इत्यादिना कर्मधारयः, मुनेः—कण्वस्य अपत्यं—ललिता कन्या, सा शकुन्तलेति चात्र योज्यम् । तत्रोपमामाह;—अर्कस्येति । शिथिलं—श्लथीभूतं वृन्ताद् विश्लथमित्यर्थः, एतेन काकतालीयन्यायेन प्राप्तं पुनः केनचिदानीय प्रदत्तमिति ध्वनितः; तथा तदपि चक्षुर्मात्रगोचरस्य एव मुनेरपत्यत्वभ्रमोऽपि न भविष्यतीति च सूचितम्, अर्कस्य—तदाख्यवृक्षस्य, आकन्देति देशविशेषे प्रसिद्धस्य पादपस्य, उपरि च्युतं—गलितम्, न तु तस्मात् जातमित्यर्थः, अत्र मुन्युपमानेन तदुत्पन्नत्वस्यात्यन्तासम्भाव्यत्वं सूचितम्, नवमालिकायाः—सप्तलतायाः कुसुममिव—पुष्पमिव स्थितम्, अनेनास्या अतिशयपेलवत्वं ध्वन्यते ।

तथा च—यथा कुसुमं नवमालिकालतासकाशाद् विच्छिन्नं तथा इयमपि मुनिकन्या जनयित्र्या मेनकायाः सकाशात् विच्छिन्ना, एवञ्च कुसुमं यथा वृन्तात् प्रच्युतम्, तथेयमपि स्वपितुर्विश्वामित्रात् प्रच्युता, अन्यच्च यथा कुसुममर्कस्योपरि निपतितं तथेयमपि महर्षेः कण्वस्याश्रमे पतिता इति सर्वं सुसङ्गतम् ।

(१) विदूषक—तो कहो ।

(२) राजा—वह ऋषि की सन्तान है अवश्य, किन्तु एक सुन्दरी अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न हुई है वह अप्सरा उसे छोड़कर चली गयी और किसी ने उसे ले लिया । तात्पर्य यह है कि जैसे नवमालिका का कुसुम गुच्छ से टूटकर मदार के वृक्ष पर जा पड़े, ठीक इसी भाव से वह इस आश्रम में रह रही है ॥ ९ ॥

विदू—[विहस्य] भोः ! यथा पिण्डीखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिड्यां श्रद्धा भवति, तथा अन्तःपुरस्त्रीरत्नपरिभोगिनो भवत इयं प्रार्थना (१)।
(भो ! जधा पिण्डीखज्जुरेहिं उव्वेजिदस्स तिन्तडीए सद्धा भोदि, तधा अन्तेउर-इत्थिआ-रअणपरिभोइणो भअदो इअं पत्थणा ।)

राजा—एनां न जानासि, येनैवमवादीः (२)।

अत्र शिथिलभावेन स्थितं कुसुममिवेत्युपमानोपमेयभावस्य स्फुटत्वेनोपमालङ्कारः आख्यानं नाट्यालङ्कारश्च 'आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः' इति विश्वनाथवचनात् ॥९॥

(१) विदू इति । विहस्य—मध्यमं हासं कृत्वा 'मध्यमं स्याद् विहसितम्' इत्यमरः। मुनिभिः सहवासान्नूनमियं विस्मृतविलासा कथञ्चिदपि तवानुरूपा न भवितुमर्हतीति मन्यमानस्य विदूषकस्य 'विहस्य' इति वचनम् । पिण्डीखर्जूरैः—तन्नामकमधुरखर्ज्जूरविशेषैः, 'पिण्डी तु पिण्डीतगरेऽलाबूखर्ज्जूरभेदयोः' इति मेदिनी, उद्वेजितस्य—जिह्वाजाड्यं प्रापितस्य, माधुर्याज्जनितजिह्वाजडिम्नः जनस्येत्यर्थः, तिन्तिड्याम्—अम्लरसवत्यां चिञ्चायाम्, श्रद्धा—अभिलाषः । मधुरभक्षणेन हि जनितं रसजाड्यमम्लरसभक्षणेन निवर्त्तत इति परीक्षितम्, यथा सौन्दर्यलहर्याम्—

'स्मितज्योत्स्नाजालं तव वदनचन्द्रस्य पिबतां
चकोराणामासीदतिरसतया चञ्चुजडिमा।
अतस्ते शीतांशोरमृत-लहरीमम्ल रुचयः
पिबन्ति स्वच्छन्दं निशि निशि भृशं काञ्जिकधिया' ॥ इति ।

अन्तःपुरे यानि स्त्रीरत्नानि—रमणीवर्याणि, तथा चोक्तं—'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमिति कथ्यते' इति, तेषां परिभोगशीलस्य, भवतः—तव, इयं—वन्यशकुन्तलाविषया प्रार्थना, आकांक्षा, अनुराग इति यावत्, यथा मधुरेणोद्विग्नोऽह्यमपि तिन्तिडीफलं बहु मन्यते तथा त्वयाऽपि वन्या सा शकुन्तला प्रशस्यते इति सरलार्थः ।

एतेन अन्तःपुराधिवासिनीभ्यो योषिद्भ्यः शकुन्तलाया हीनत्वं ध्वनितम् ।

(२) राजेति । एनां—शकुन्तलाम्, न जानासि—न पश्यसि इति क्वचित् पाठः । येन—हेतुना, एवं—यथेत्यादि पूर्वोक्तप्रकारम्, अवादीः—उक्तवानसि । तथा च—अन्तःपुरवासिनीभ्यः स्त्रीभ्यः शकुन्तला समुत्कृष्टैवेत्याशयः ।

---

(१) विदूषक—(हँसकर) ह-ह-ह ! जैसे कोई अतिशय मीठा खर्जूर का फल खा कर तिन्तिडी (इमली) का फल खाने की इच्छा करे, इसी तरह आप भी अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ विलास कर इस तरह की इच्छा करते हैं ।

(२) राजा—मित्र ! तुम उसे नहीं जानते, इसी से ऐसा कहते हो ।

विदू—तत् खलु रमणीयं नाम, यत् भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति (१) । (तं क्खु रमणीअं णाम जं भअदोवि विह्मअं उप्पादेति ।)

राजा—वयस्य ! किं बहुना (२)—

चित्ते निवेश्य परिकल्पितसर्वयोगान्
रूपोच्चयेन विधिना विहिता कृशाङ्गी ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ १० ॥

(१) विदू इति । पुनः पुनरुच्यमानराजवचनेन सञ्जातयथार्थप्रत्ययः सन्नाह—तदिति । तत्—शकुन्तलात्मकं वस्तु, खलु—निश्चितम्, रमणीयं नाम—अवश्यमेव सुन्दरमिति सम्भावयामि, सम्भावना चात्मनो दर्शनाभावादिति बोध्यम् । यद्—वस्तु, भवतोऽपि—अशेषरमणीयवस्तुदर्शनेऽपि अविस्मितस्य तवेत्यर्थः, विस्मयं—कौतुकम्, उत्पादयति—जनयति । अपिना अस्मदादीनां विस्मयोत्पादने किं वक्तव्यमिति सूचितम् । तथा च त्वत्कौतुकोत्पादनात् सा सौन्दर्यातिशयशालिन्येवेत्यनुमिनोमीति भावः ।

(२) राजेति । बहुना—विशेषकथनेन, किं प्रयोजनमिति शेषः, अल्पकथनेनैव सर्वतो भवता बुध्यमानत्वादिति भावः । 'किं बहुना' इत्यनेन तस्याः प्रत्यङ्गवर्णनां कर्तुमस्माभिर्न शक्या इति सूचितम् ।

शकुन्तलारूपस्य अत्यन्तविस्मयकारित्वमाख्यातुमारभते—चित्त इति । धातुः विधातुर्ब्रह्मणः विभुत्वं—निर्माणकौशलम्, तस्याः—शकुन्तलायाः, वपुः—शरीरञ्च, अलौकिकाविगीतसुन्दरमित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम् । अनुचिन्त्य—चिन्तयित्वा वर्त्तमानस्येति शेषः, विधातुः सर्वविधनिर्माणसामर्थ्यं निरतिशयशकुन्तलालावण्यञ्च विमृशत इत्यर्थः, मे—मम, विधिना—ब्रह्मणा सृष्टिकर्त्रा, परिकल्पिताः—तदैवाभिनवसृष्टाः सर्वे योगाः—उपमानकारणानि तान्, चित्ते—स्वान्ते, निवेश्य—निधाय, रूपोच्चयेन—सौन्दर्यराशिना करणेन, विहिता—निर्मिता, सा कृशाङ्गी—तन्वङ्गी सा शकुन्तला, अपरा—अद्वितीया साधारणविलक्षणेति भावः, स्त्रीरत्नमिव स्त्रीरत्नं तस्य सृष्टिः—सर्वोत्तमभावे च निर्मिता रत्नोपमा स्त्री, [इति] प्रतिभाति-प्रतिभासते, तत्प्रीतिगोचरीभवतीत्यर्थः, तथाविधसुन्दर्या अन्यत्रानवलोकनादिति भावः ।

(१) विदूषक—मेरा जहाँ तक विचार है, वह अवश्य सुन्दरी होगी । क्योंकि उसने तुम्हें भी विस्मय में डाल दिया है ।

(२) राजा—मित्र ! अधिक क्या बतलाऊँ—विधाता की सृष्टि करने की सामर्थ्य तथा शकुन्तला की देह को देखने से मालूम होता है कि विधाता ने सृष्टि करने की सब

पच्छाडिता

विदू—सर्वथा प्रत्यादेशः खलु सा रूपवतीनाम् (१)। (सव्वधा पच्चादेशो क्खु सा रूववदीणं।)

अत्र शकुन्तला विधातुः स्त्रीरत्नसृष्टिध्यानयोरभेदेऽपि अपरेत्यनेन भेदारोपाद् अभेदे भेदलक्षणातिशयोक्तिः, तथैवोदाहृतं दर्पणे—

'अयं राजा अपरः पाकशासन' इति।

अत्र च क्वचित् पुस्तके—

'चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा, रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु'। इति पाठान्तरम्।

इदमत्र व्याख्यानम्;—विधिना-ब्रह्मणा, चित्रे-आलेख्ये, निवेश्य-चित्रयित्वा, परिकल्पितसत्त्वयोगा—कृतप्राणयोगा नु, 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वम्' इत्यमरः। चित्रे च यावद्रुचि मार्जनलेखनयोः सम्भवादित्याशयः। रूपाणां—चन्द्रचकोरकमलकुमुदलक्षणानाम् उच्चयेन—समुदायेन त्रिभुवनवर्त्तिरूपसमूहेनोपादानकारणेनेत्यर्थः, मनसा करणेन, कृता नु। अत एव करस्पर्शाद्यभावात्तादृशं कान्तिमत्त्वमेतादृग्लक्षणत्वादिकमिति भावः। एतेन 'यत्स्पर्शासहताङ्गेषु कोमलस्यापि वस्तुनः, तत् सौकुमार्यम्' इति सौकुमार्यं व्यज्यते। अस्मिन् पक्षे सन्देहालङ्कारः। केचित्तु नुशब्दस्य वितर्कवाचित्वादुत्प्रेक्षालङ्कार इति मन्यन्ते।

क्वचिच्च—

'रूपोच्चयेन घटिता मनसा कृता नु' इति पाठः।

तत्र—मनसा कृता—ध्याता, रूपोच्चयेन घटिता—योजिता, नु इति योजनीयम्। मनसि ध्याताया रूपनिवेशनेन श्लक्ष्णत्वं तादृशकान्तिमत्त्वादि व्यज्यते। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १० ॥

(१) विदू इति। सा—शकुन्तला, सर्वथा—नूनम्, सर्वरूपेणेत्यर्थः, 'सर्वथा सर्वप्रकारे प्रतिज्ञाभृशहेतुष्वि'ति शब्दार्णवः, 'सर्वथा हेतुबाढयो'रिति विश्वः, रूपवतीनां-तदभिमानिनीनाम् अन्यासां सुन्दरीणां स्त्रीणाम्, प्रत्यादेशः खलु निराकरणकारिण्येव, 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इति न्यायात्, 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्यमरः, इति मन्ये इति पूरणीयम्, भवत्कृततद्वर्णनाश्रवणादिति भावः,

---

सामग्रियों को मन में रखकर केवल रूपराशि के द्वारा इस कृशाङ्गी की रचना की है। इसी से उन्होंने एक विलक्षण स्त्रीरत्न को खड़ा कर दिया है ॥ १० ॥

(१) विदूषक—यदि ऐसा है तो उसने संसार की सब सुन्दरियों को पछाड़ दिया।

राजा—इदञ्च मे मनसि वर्त्तते (१)—
अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनामुक्तं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।

कर्रुहे नखः कररुहै

अनेन तस्याः सर्वापेक्षया गुणोत्कर्ष उक्तः । अत्र हेतोः शकुन्तलाया हेतुमता प्रत्यादेशेन सह तादात्म्याभिधानात् हेतुरलङ्कारः । तल्लक्षणमुक्तं दर्पणे—

'अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह' । इति ।

(१) राजेति । इदं—वक्ष्यमाणप्रकारं च, मे—मम, मनसि—चित्ते, वर्तते । एतदप्यहं चिन्तयामीत्यर्थः ।

मनोगतम् इदंपदार्थं विवृणोति—अनाघ्रातमिति ।—न आघ्रातमनाघ्रातं—केनचिदपि अकृतगन्धोपलम्भम्, कुसुमं—पुष्पमिव; एतेनामोदसत्ता ध्वनिता । कररुहैः—नखैः, पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, अलूनम्—अच्छिन्नम् अक्षुण्णमिति यावत्, किसलयं-पल्लवमिव, एतेनाक्लान्तत्वं ध्वनितम् । अनामुक्तम्—अङ्गेषु अपरिहितं रत्नं—मणिरिव, 'आमुक्तः प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापिनद्धवत्' इत्यमरः, (अनामुक्तमिति परिवर्तनेन अनाविद्धमिति केचित् पठन्ति अनाविद्धम्—आसमन्ताद्वेधरहितम्, स्थूलवेधनत्वं दोषाय भवति, 'अथवाऽनाविद्धम्-अकुटिलम्, कुटिलस्य दुष्टत्वात्, 'आविद्धं कुटिलं भुग्नम्' इत्यमरः, अनेन दोषराहित्यं सूचितम्) तथा च सारसमुच्चये—

'वृत्तं स्निग्धसमुज्ज्वलं शुचिगुरु श्वेतं बृहत्कोमलं
स्वच्छान्तं समसूक्ष्मवेधसुरभि त्रासादिभिर्वर्जितम्' ॥ इति

तथा—

'दग्धं रत्नमवर्त्तुलं लघु' इत्यपि ।

अनास्वादितः—केनापि रसनयाऽननुभूतः रसः—स्वादो यस्य तत् तथोक्तम्, नवं—सद्यः समानीतम्, न तु पर्युषितमित्यर्थः, मधु—क्षौद्रमिव, 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि' इत्यमरः, एतेनातिहृद्यत्वं व्यञ्जितम् । केचिदत्र मधुपदेन मद्यरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति, तन्मन्दम्, नवमिति विशेषणस्य वैयर्थ्यापातात्, पुरातनस्यैव तस्य समुत्कृष्टत्वात्, 'पुराणसीधुं नवपाटलं च' इत्येवं रघावप्युक्तत्वाच्च । पुण्यानां—यागादिजनितसुकृतानाम्, अखण्डं—परिपूर्णम्, न तु अङ्गवैगुण्यकृतकिञ्चिदूनमिति भावः, फलमिव—परीपाक एव, एतेनात्यन्ताभिलाषणीयता व्यञ्जिता । अनघं

(१) राजा—और यह बात भी मेरे मन में है—

बिना सूँघे हुए फूल की तरह, नख से बिना तोड़े हुए पल्लव के समान, बिना पहने हुए रत्नों के समान, बिना चक्खी हुई नवीन शहद की नाईं और पुण्य के अखण्ड फल की

अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति भुवि ॥ ११ ॥

निष्पापं दुष्कृतजनितकुत्सितत्वादिदोषरहितं मनोज्ञमित्यर्थः, 'अनघं निर्मलापापमनोज्ञेष्वभिधेयवत्' इति मेदिनी। तस्याः—शकुन्तलायाः रूपं—सौन्दर्यम्, इह भुवि—अस्मिन् जगति, कं—सुकृतिनं; यं भोक्तारं—स्वसम्भोगकर्त्तारम्, समुपस्थास्यति—सेविष्यते, इति न जाने—न वेद्मि, तमिति शेषः। यमुपस्थास्यति स वै महाभागधेय इति भावः।

अत्र अनाघ्रातमिति विशेषणेन आघ्राणार्थं गृहीतस्य कथमपि करदलिततया कथञ्चित् सौन्दर्यव्याघातः सम्भवेदित्यस्य सोऽपाक्रियते।

कररुहैरलूनमिति विशेषणेन नखच्छिन्नस्य पल्लवादेः कथञ्चिद्वैरूप्यं सम्भवेदिति तन्निरस्यते।

अनामुक्तमिति विशेषणेन परिहृतस्य रत्नादेः कथञ्चिद् घर्षणादिनाऽवयवापचयेन स्वरूपापचयो भवेदिति तन्निराक्रियते।

नवमनास्वादितरसञ्चेति विशेषणद्वयेन पर्युषितस्य तथाऽऽस्वादितस्य च रसस्य आश्रयवैषम्यात् स्वरूपवैषम्यं कथञ्चित् सम्भवतीति तद् व्युदस्यते।

अखण्डमिति विशेषणेन च फलस्य खण्डत्वे तद्भोक्तुर्भोगांशे वैकल्यं स्यादिति तद् प्रत्याख्यायते। अत एवात्र परिकरालङ्कारः। तदुक्तम्—

'उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः' इति।

तेन च शकुन्तलारूपस्य सम्भोगरहिततया सम्पूर्णं स्वास्थ्यं परमाभिनवत्वञ्चेति वस्तु व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।

सम्पूर्णपद्येन च नायकस्य निरतिशयं तत्सम्भोगाकाङ्क्षा उद्बुद्धा इति वस्तुना वस्तुध्वनिश्च।

इह गुणसङ्कीर्त्तनं नाम नाट्यलक्षणं 'गुणानां कीर्त्तनं यत्तु तदेव गुणकीर्त्तनम्' इति दर्पणोक्तलक्षणात्।

अत्रेवशब्दस्य पुष्पमित्यादेः सर्वत्र योजनात् श्रीकृष्णादिशरीरे अखण्डपुण्यफलत्वस्य सुप्रसिद्धत्वाच्च मालोपमालङ्कारः। उक्तं च दर्पणे—

'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते'। इति।

शिखरिणी नाम वृत्तम् ॥ ११ ॥

तरह शकुन्तला का मनोहर रूप पृथिवीतल के किस भोगी को प्राप्त होगा, यह मैं नहीं जानता ॥ ११ ॥

विदू—तेन हि लघु लघु गच्छतु भवान्, मा यावत् सा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य हस्ते निपतिष्यति (१)। (तेण हि लहुं लहुं गच्छदु भवं; मा जाव सा कस्सवि तवस्सिणो इङ्गुदीतेल्लचिक्कणसीसस्स हत्थे णिवडिस्सदि।)

राजा—परवती खलु तत्रभवती, न च सन्निहितगुरुजना (२)।

विदू—अथ तव उपरि कीदृशः अस्याः चित्तरागः (३)? (अध तुह उवरि कीदिसो से चित्तराओ?)

(१) विदू इति। तेन—भवद्वचनेन निरतिशयसौन्दर्याश्रयत्वेन अनिश्चितोपभोक्तृत्वेन च कारणेनेत्यर्थः। लघु लघु—शीघ्रं शीघ्रम् 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। सा—शकुन्तला, यावत्, इङ्गुदीनां तलेन चिक्कणं—समग्रकचापगमनेन हेतुना मसृणं शीर्षं—मस्तकं यस्य तस्य, तपस्विनः—तापसस्य, एतेन दीनस्येति ध्वन्यते, तथा च रमणीमणिभूतायाः शकुन्तलायाः कस्यचिद् विलासविमुखस्य विकृताकृतेस्तापसस्य हस्तगमनं महामणिमालायाः वानरगलार्पणमिव गोमये नलिन्याः स्फुरणमिव च समेषामेव नितरां दुःखावहं भवितेत्यतस्तेषां हस्ते पतनात् पूर्वं तां स्वीकुरुतां भवानिति भावः।

(२) राजेति। लघुपरित्राणस्य अशक्यतां सविषादमाह—परवतीत्यादि। तत्रभवती–मुनिकन्यात्वेन कामिनीरत्नभूतत्वाद्वा मान्या शकुन्तला परवती खलु—गुरुपरतन्त्रैव, सुतरामात्मानं मह्यं समर्पयितुं न शक्नुयादिति भावः, अनेन 'धर्माचरणेऽपि' इत्याद्युक्तमनुसंहितम्। ननु तस्या गुरुरेव—प्रार्थ्यताम्? इत्यत्राह—न चेत्यादि। सन्निहितः—उपस्थितः, गुरुजनः—प्रभुभूतः—पित्रादिजनः यस्याः सा तथाभूता च न। इदानीमित्यादि वैखानसोक्तमनुसंहितम्। अतः शीघ्रं तत्परिग्रहो न सुकर इति भावः। कारणनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसा।

(३) विदू इति। तदुक्त्या समागमस्य कालविलम्बमाशङ्क्याश्वासनोपायमन्विच्छंस्तत्र प्रधानभूतं तदनुरागं पृच्छति,—अथेत्यादि। अथेति प्रश्ने 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः। अस्याः—शकुन्तलायाः, चित्तरागः—चेतसोऽनुरागः। कीदृशः—अस्ति न वा? आद्ये कियान्। त्वयि तस्या अनुरागो नास्ति चेत् तत्प्राप्तिकामना सुतरामनर्थिकैवेति भावः।

(१) विदूषक—तो अब आप जल्दी वहाँ पहुँच जाइये, कहीं वह इङ्गुदीफल के तेल से चिकनी खोपड़ीवाले किसी तपस्वी के हाथ न पड़ जाय।

(२) राजा—वे पराधीन हैं और उनके गुरुजन भी वहाँ मौजूद नहीं हैं।

(३) विदूषक—आप में उसका अनुराग कैसा है?

राजा—वयस्य ! स्वभावादेवाप्रगल्भास्तपस्विकन्यकाः । तथापि तु(१)

अभिमुखे मयि संवृतमीक्षितं
हसितमन्यनिमित्तकथोदयम् ।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया
न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥ १२ ॥

(१) राजेति । रागवत्यामपि तस्यामनुरागो दुर्लक्ष एवेत्याह-वयस्येति । अप्रगल्भाः-अचपलाः अतीव मुग्धा इत्यर्थः । अत्र च तपस्विकन्यका इति आर्थहेतुत्वेन योज्यम् । नागरिकलोकैः संलापमात्रस्याप्यशक्यकरत्वात् इति भावः । तथापि—अप्रगल्भत्वेऽपि, तु—पुनः, तथा हृद्गतो भावः किञ्चित् सूचितः, किञ्चिच्च संवृत इत्यग्रिमश्लोकेन सम्बध्यते ।

अभिमुख इति । मयि अभिमुखे—तत्सम्मुखवर्त्तिनि सति, तद्वदनमण्डलमवलोकयति सतीत्यर्थः, तथा ईक्षितं—मदवलोकनम्, अर्थात् मन्मुखोपरि दृष्टिदानम्, संवृतं-सङ्कोचितम् 'अर्थात्तत आकृष्यान्यत्र समर्पितम्' इति भावः । अनेन शृङ्गारलज्जा ध्वन्यते । तथा अन्यदेव निमित्तं-निदानं वा यस्याः सा अन्यनिमित्ता सा चासौ कथा चेति सा तस्या उदयः—उत्पत्तिर्यस्य तादृशम्, हसितं—हास्यं कृतम्, अन्येन हेतुना कथामुद्भाव्य अहासीदित्यर्थः । अथवा अन्येन निमित्तेन-हेतुना, कथायाः-वाग्व्यवहारस्य उदयः—उत्पत्तिर्यत्र तद्यथा—स्यात्तथा—कथान्तरच्छलेनेत्यर्थः, हसितं हसनं कृतं तयेति शेषः । मन्दहासोऽप्यभूत्तत्र निमित्तान्तरं चोद्भावितमिति भावः । एतेन हासस्य स्वरसतः प्रवृत्तिर्द्योत्यते । हसितलक्षणमाह मातृगुप्तः—

'विकासितकपोलान्तमुत्फुल्लामललोचनम् ।
किञ्चिल्लक्षितदन्ताग्रं हसितं तद्विदो विदुः' ॥ इति ।

अनेनास्या उत्तमनायिकात्वं स्वानुरागोऽपि ध्वन्यते यदुक्तं तेनैव—

'उत्तमस्य समुद्दिष्टं स्मितं हसितमेव च' ॥ इति ।

अतः—अस्मात्कारणात्, तया—शकुन्तलया, विनयेन शिष्टाचारेण सुशिक्षितत्वेन वा कर्त्रा, वारिता-संस्तम्भिता वृत्तिः—प्रसरो यस्य स तथाभूतः, मदनः कामः, न विवृतः-ईक्षणसंवरणान्न व्यक्तीकृतः, न च संवृतः-तथाविधहसितान्न वा गृहीतः ।

तथा च मुग्धात्वेन ईक्षणसंवरणाद् गोपितोऽपि कामभावः हसितेन स्फुटीकृत एवेति भावः । अनेन च मुग्धानायिकात्वं ध्वन्यते ।

(१) राजा—तपस्वियों की बालिकायें स्वभावतः भोली भाली होती हैं । फिर भी—जब मैं सामने रहता हूँ तो वह मेरी ओर से आँखें फेर लेती है और किसी बात का लक्ष्य कर हँसती है । इसी से वह अपनी कामवृत्तिको विनय द्वारा रोकती है । इन बातों से ज्ञात होता है कि वह काम को न तो प्रकाशित करती और न छिपाती ही है ॥ १२ ॥

विदू—[विहस्य] किं दृष्टिमात्रेणैव भवतः अङ्कम् आरोहतु (१)। (किं दिट्ठिमेत्तेण ज्जेव भअदो अङ्कं आरोहदु ।)

राजा—सखीभ्यां मिथः प्रस्थाने पुनः सलीलया तत्र भवत्या मयि भूयिष्ठमाविष्कृतो भावः । तथाहि (२)—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।

अत्र व्यक्तीकृतत्वाव्यक्तीकृतत्वरूपविरुद्धधर्मयोः समावेशाद्विरोधः, तस्य च मुग्धात्वेन परिहाराद् विरोधाभासोऽलङ्कारः । मदनो न विवृतः, न वा संवृत इति यथासंख्यालङ्कार इति नव्याः । द्रुतविलम्बितं नाम वृत्तम् । 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति तल्लक्षणम् ॥ १२ ॥

(१) विदू इति । राज्ञ उत्कण्ठातिरेकानुमानाद् विदूषकस्य हासः । शकुन्तलया सम्यगनुरागस्यानाविष्करणं त्वय्यविश्वासादेवेति नायकोद्धर्षणाय सकौतुकमाह—किमिति । अङ्कम्—क्रोडम्, आरोहतु—अध्यारोहेत्, त्वामभिसरतु, कुतोऽपि नेत्यर्थः, शनैः शनैः सर्वं भविष्यतीति भावः ।

(२) राजेति । सखीभ्याम्—अनसूयाप्रियंवदाभ्यां सहेत्यर्थं, सहार्थे तृतीया, मिथः—रहसि 'मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि' इत्यमरः । सख्यौ पश्चात्कृत्याग्रगमनाद्विजनावस्थायामित्यर्थः; प्रस्थाने—पर्णशालां प्रति गमनकाले पुनरिति विशेषे, सलीलया—सविलासया, लीलाञ्चितलोललोचनया, 'लीला विलासक्रिययोः' इत्यमरः, तत्रभवत्या—मान्यार्हया शकुन्तलया, मयि—मद्विषये, भावः—चित्तानुरागः, 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु' इत्यमरः, भूयिष्ठं—बहुलम्, आविष्कारक्रियाविशेषणमेतत्, आविष्कृतः—प्रकटितः । कीदृशः स भावः इत्याह;—तथाहीति ।

भावाविष्करणप्रकारमाह;—दर्भेति । तन्वी—कृशाङ्गी सा शकुन्तला, तन्वीति विरहारम्भ एव तस्या विशेषतोऽपि तानवमासीदिति सूचयति, कतिचित्—द्वित्राणि न तु अधिकानि, पदानि—पदप्राप्यस्थानानि, गत्वा—चलित्वैव, पदानीति अध्व-

(१) विदूषक—(हँसकर) तो क्या आप चाहते थे कि वह देखते ही आपकी गोद में आ बैठे ।

(२) राजा—जब वे अपने सखियों के साथ जाने लगी थीं, तब उन्होंने विलास के साथ अच्छी तरह अपना भाव प्रकट किया था । जैसे—

कुछ ही पैर आगे बढ़कर वह तन्वी एकाएक यह कह कर बैठ गयी कि मेरे पैर में

आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥ १३ ॥

विदू—गृहीतपाथेयः कृतोऽसि तया। अतः अनुरक्तं तपोवनमिति तर्कयामि (१)। (गहीदपाधेओ किदोसि तए। अदो अणुरत्तं तपोवणं त्ति तक्केमि।)

वाचकत्वादत्यन्तसंयोगे द्वितीया, अकाण्डे—अनवसरे, वस्तुतो दर्भाङ्कुरावेधेऽपि हठादित्यर्थः, दर्भाङ्कुरेण—कुशाङ्कुरेण कुशाग्रभागसूच्या, न तु दर्भेण; तस्य दर्शनयोग्यतया व्याजो न स्यात्, अङ्कुरस्य तु अदृश्यमानतया व्याजसम्भवात्, अतोऽङ्कुरपदेन व्याजेन विलम्बितमिति ध्वनितम्, चरणः—पादः, क्षतः—विदीर्णः, इति एवमुक्त्वैति शेषः, स्थिता—मामवलोकितुमवस्थिता दर्भाङ्कुरोद्धरणव्याजेन गतिं निवर्त्तितवतीत्यर्थः। तथा द्रुमाणां—तरूणाम्, शाखासु—विटपेषु, असक्तमपि—अलग्नमपि, वल्कलं—परिहिततरुत्वचम्, विमोचयन्ती—मन्दं मोचनव्यापारन्नाटयन्ती सती, विवृत्तं—मदवलोकनार्थं प्रत्यावृत्तं वदनं—मुखं यस्याः सा तथाभूता, पश्चाद्भ्रमितवदनेत्यर्थः, चासीत्—मामवलोकयितुं स्थिता। कुशसूच्या चरणव्यथाव्याजेनावस्थानं शाखासूत्तरीयविमोचनकपटेन वदनस्य पश्चाद्विवर्त्तनं चेत्येताभ्यां सा स्वानुरागं प्रकाशयदिति भावः।

अत्र स्फुटं प्रकाशितस्य नायिकाया नायकविलोकनार्थमवस्थानस्य वदनविवर्त्तनस्य च चरणव्यथनवल्कलमोचनरूपव्याजेन गोपनात् व्याजोक्तिरलङ्कार इति कश्चित्। परे तु 'असक्तमपि मोचयन्ती' इति विरोधाभास इति। हेतुरलङ्कारोऽप्यत्रेति प्राच्याः प्राहुः। मुग्धानामेष स्वभाव इति स्वभावोक्तिरिति नव्याः।

अनेन मुग्धानायिकाया अनुरागेङ्गितानि प्रकाशितानि, उक्तं हि कामसूत्रे—

'दूरे स्थिता पश्यतु मामिति मन्यमाना परिजनं समदनविकारमाभाषते' इति। रतिविलासेऽपि—'विलम्बस्तु पथि व्याजात् परावृत्यापि दर्शनम्'। इत्यादि।

अत्र च नायिकागतलज्जा औत्सुक्यं नायकस्य विस्मयश्च व्यज्यते इति साहित्यगुरवः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १३ ॥

(१) विदू इति। तया-शकुन्तलया, गृहीतं-लब्धं पाथेयं-मार्गे व्ययसाधनं धनं येन तथाभूतः, पथि साधु इति पाथेयम्, पथिन् शब्दात् 'पथ्यतिथिवसति-

---

कुश का अङ्कुर गड़ गया है। इसके बाद वृक्षों की शाखा में फँसी वल्कल की साड़ी छुड़ाने का बहाना करती हुई मेरी ही ओर मुँह किये थी ॥ १३ ॥

(१) विदूषक—तब तो उन्होंने तुम्हें पाथेय (रास्ते का खर्च) भी दे दिया। इससे तो मालूम पड़ता है कि सारा तपोवन तुम पर आसक्त हो गया है।

राजा—सखे ! तपस्विभिः कैश्चित् परिज्ञातोऽस्मि । चिन्तय तावत् केनापदेशेन पुनराश्रमपदं गच्छामः (१) ?

विदू—कः अपरः अपदेशः; ननु भवान् राजा (२) । (को अवरो अबदेसो; णं भवं राआ ।

राजा—ततः किम् ? (३)

स्वपतेर्ढञ् (पा० सू०) इति ढञ् प्रत्ययः, कृतोऽसि वदनविवृत्यादिनेति शेषः, यथा कश्चित्स्थानान्तरे देशान्तरे वा गमनसमये परिजनेन गृहीतसम्बलो भवति तथा तया सानुरागदृष्टिदानादिना गृहीतपाथेयः संवृत्तोऽसि तेनैव च मार्गक्लेशनिवारणात् इति भावः । अतः—शकुन्तलाया अनुरक्तत्वादेव, तपोवनम्—इदं धर्मारण्यम्, अनुरक्तम्—अनुरागवत् त्वयि जातमिति शेषः, तस्या अनुरक्ततया इदं तपोवनमपि अनुरागतामापन्नमित्यर्थः । इति तर्कयामि—सम्भावयामि । अयमाशयः—

सम्प्रति शकुन्तलाया एव मुनेः प्रियकन्यात्वेन तद्द्वारेण च समस्ततपोवनाधिष्ठातृतया तस्यास्त्वयि अनुरागे सति तदधिष्ठितस्य तपोवनमात्रस्य स्वभावत एव त्वयि सम्यगनुरागः सम्भवेत्, यत्राधिष्ठातृप्रेम तत्र तदधिकृतानां समेषामेवेति साहचर्यनियमात् इति ।

(१) राजेति । परिज्ञातोऽस्मि—अहं तपोवनमागत इति परिचितोऽस्मि । एवं हि यदि मृगयाकारणसमये तपस्विभिरनवगतोऽभविष्यम्, तर्हि रहसि प्रच्छन्नभावेन यातायातकरणे अकस्माच्च तपस्विभिर्दृष्टस्यापि मे अन्यव्यपदेशेन दोषमार्जनमभविष्यत् ; किन्तु तपस्विभिः परिज्ञातदशायां प्रच्छन्नभावेन यातायातकरणे दैवाच्च तैः प्रत्यक्षे जाते मम नितरां दुर्व्यवहारस्तेषां सविधे प्रकाश्येतेति भावः । अपदेशेन—व्याजेन, 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च' इत्यमरः । अत्र सन्तापनाभिधं मुखसन्धेरङ्गमुक्तम् । तल्लक्षणं तु दर्पणे—

'उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत्' । इति ।

(२) विदू इति । ननु—यतः

(३) राजेति । ततः—राजत्वादेव, किं—को वाऽपदेशो वर्त्तितुमर्हति ? इति भावः ।

(१) राजा—मित्र ! कुछ तपस्वियों ने मुझे पहचान लिया है । अब तुम यह सोचो कि मैं किस बहाने से आश्रम पर जाऊँ ?

(२) विदूषक—और कौन बहाना करोगे, तुम तो राजा हो (जहाँ चाहो, वहाँ जा सकते हो) ।

(३) राजा—तो इससे क्या ?

विदू—नीवारषष्ठभागं तापसा मे उपहरन्तु इति (१)। (णीवारच्छट्ठभाअं तावसा मे उवहरन्तु त्ति।)

राजा—मूर्ख! अन्यमेव भागधेयमेते तपस्विनो मे निर्वपन्ति, यो रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यते। पश्य (२)—

(१) विदू इति। नीवाराणां—सम्पादिततृणधान्यानाम्, षष्ठं भागं—राजदेयं करस्वरूपं षष्ठमंशम्, तापसाः—तपस्विनः, मे—मह्यम्, उपहरन्तु—ददतु, इति व्यपदेश इत्यर्थः, करादानार्थमेव पुनराश्रमपदे समागमनमित्यपदेशो भवितुमर्हतीति भावः। तदुक्तं मनुना—

'पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥
आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानाञ्च पुष्पमूलफलस्य च॥
पत्रशाकतृणानाञ्च वैदलस्य च चर्मणाम्।
मृण्मयानाञ्च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च॥' इति।

वस्तुतस्तु—तत्र हि विदूषकस्य बुद्ध्यनुरूपोऽपि स्थूलापदेशस्तथापि नाटकीयचमत्काराधायकत्वाद्रमणीय एव।

(२) राजेति। अन्यमेव—धान्यादिषष्ठभागातिरिक्तमेव, तपोरूपमित्यर्थः, भागधेयं—करम्, 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमरः, मे—मह्यम्, निर्वपन्ति—समर्पयन्ति। यः—भागधेयः, रत्नराशीन्—महार्हमणिस्तूपानपि, विहाय—विगणय्य, अभिनन्द्यते—अस्माभिः प्रशस्यते, तथा च—नीवाराणां षष्ठांशापेक्षया प्रशंसनीयं तपसः पुण्यभागं मे तापसाः स्वयमेव वितरन्ति, अत एव तवायं नीवारभागयाचनापदेशो रत्नप्रदानात् सीसकयाचनोपदेश इवेति भावः। एवं हि मनुनाऽप्युक्तम्—

'म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्।
न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन्॥' इति।
'यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।
तस्यापि तत् क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति॥
श्रुतवित्ते विदित्वास्य धर्म्यां वृत्तिं प्रकल्पयेत्।
संरक्षेत् सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम्॥' इति।

(१) विदूषक—जाकर कहो कि सब तपस्वी नीवार का छठा भाग मेरे हवाले करें।
(२) राजा—मूर्ख! ये तपस्वी मुझे और ही 'कर' देते हैं, जो रत्नराशि से भी बढ़

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद्धनम् ।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥ १४ ॥

(नेपथ्ये)

हन्त ! सिद्धार्थौ स्वः (१) ।

अत्र मूर्ख इति विदूषकं प्रति राज्ञः प्रत्यक्षनिष्ठुरवचनात् वज्रं नाम प्रतिमुखसन्धेरङ्गमभिहितम् ।

तदुक्तं दर्पणे—

'प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रम्' इति लक्षणम् । पश्य—विचारय ।

तापसोपह्रियमाणं भागधेयं व्यनक्ति—यदिति । नृपाणां महीपानाम्, वर्णेभ्यः—ब्राह्मणादिभ्यः, 'वर्णाः स्युर्ब्राह्मणादयः' इत्यमरः । यत्—धनमिति शेषः, उत्तिष्ठति—कररूपेण करमायच्छति, तद्धनं—शस्यादिकरभूतम्, क्षयि—अचिरस्थायि, वह्नि, तस्करादिभिर्विनाशीत्यर्थः, प्रकारसहस्रैरपि न स्थायीति व्यज्यते, तथैव परम्पराधारादर्शनादिति भावः । किन्तु आरण्यकाः—अरण्यवासिनस्तपस्विनः आश्रमणि इति यावत्, नः—अस्मभ्यं राजभ्य इत्यर्थः, अक्षय्यं—वह्न्यादिभिश्चौरादिभिर्वा क्षेतुमशक्यम् अविनश्वरमिति यावत्, 'क्षय्यजय्यौ 'शक्यार्थे' इत्यादिना सिद्धम्, प्रकारसहस्रैरपि न नश्यतीति ध्वन्यन्ते, तपसः—स्वस्वसञ्चिततपस्याया धर्मस्येति यावत्, षड्भागं—षष्ठांशम्, षष्ठो भागः षड्भागः 'संख्यावाचकानां वृत्तिविषये पूरणार्थत्वनियमात्' पूरणार्थत्वम्, ददति हि—अप्रत्यक्षरूपेणार्पयन्त्येव । अत एव तापसेभ्यः करग्रहणच्छलेन पुनराश्रमप्रवेशो नितरामसम्भाव्य एव, कदाप्येवमकृतत्वादिति । तदुक्तं मनुना—

संरक्षमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्द्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ इति ।

अपि च—यदधीते यद् यजते यद्ददाति यदर्चति ।
तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ इति ।

अत्र सामान्यधनापेक्षया तापसप्रदत्ततपःषड्भागस्य प्रकृष्टतयाऽऽधिक्येन वर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः ॥ १४ ॥

(१) नेपथ्ये इति । अथ तपोवनप्रत्यासन्न राजानमाकर्ण्य तस्य च कदाचित्

कर है । साधारण प्रजा से जो कर उतरता है, वह विनाशशील है । किन्तु ये तपस्वी हमको अपनी तपस्या का छठा भाग देते हैं, जिनका कभी नाश नहीं होता ॥ १४ ॥

(१) (नेपथ्य में) अच्छा हुआ, हम दोनों की कामना पूर्ण हो गयी ।

राजा—[कर्णं दत्त्वा] अये ! प्रशान्तस्वरैस्तपस्विभिर्भवितव्यम् (१)।

(प्रविश्य)

दौवारिकः—जयतु जयतु भर्त्ता। एतौ द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतिहार-भूमिम् उपस्थितौ (२)। (जअदु जअदु भट्टा। एदे दुवे इसिकुमारआ पडिहार-भूमिं उवत्थिदा।)

राजा—अविलम्बं प्रवेशय तौ (३)।

दौवा—यत् भर्त्ता आज्ञापयति। [इति निष्क्रम्य, ऋषिकुमाराभ्यां सह पुनः प्रविश्य।] इत इतो भवन्तौ (४)। (जं भट्टा आणवेदि। इदो इदो भवन्ता।)

स्वनगरगमनं भवेत् यदि; तर्हि अस्माकं कार्यसिद्धिर्दुराराध्यैवेति समाशंक्य 'यज्ञ-रक्षां प्रार्थयतमि'ति गुरुभिरादिष्टौ त्वरितगती तद्दर्शनोत्सुकावृषिकुमारौ श्रुतनृप-सान्निध्यौ सहर्षमाहतुः—

हन्तेति। हन्त हर्षे। सिद्धार्थौ—कृतकृत्यौ, स्वः—भवावः, आवामिति भावः। सिद्धार्थत्वं च राजर्षेर्झटिति बोध्यम्। मुनिकुमारयोर्वचनमेतन्नेपथ्यादुद्भूतम्।

(१) राजेति। कर्णं दत्त्वा—नेपथ्योत्थवचनं श्रुत्वेत्यर्थः। अये इति संभ्रमे, 'अये क्रोधे विषादे च सम्भ्रमे स्मरणेपि च' इति मेदिनी। प्रशान्ताः—अनुद्धताः स्वरा येषां तैस्तथोक्तैः, मधुरकण्ठैरित्यर्थः, अत एव तपस्विभिः—तापसैः, भवितव्यम्, भावे तव्यप्रत्ययः। तपस्विनामेवेयं वाणी कोमलस्वरत्वादिति तर्कयामीत्यर्थः।

(२) प्रविश्येति। प्रतिहारभूमिं—द्वारप्रदेशम् 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः' इत्य-मरः, घञि वैकल्पिकदीर्घः, पक्षे प्रतिहारः, तद्वत् निहारः पक्षे नीहार इति सिध्यति, उपस्थितौ—सम्प्राप्तौ। श्रुत्वा भवन्तः प्रमाणम् इति भावः।

(४) दौवेति। इत इतः—अमुनानेन मार्गेणेत्यर्थः, भवन्तौ—पूज्यौ आग-

---

(१) राजा—(कान देकर) ओह ! इस प्रकार का शान्त स्वर तपस्वियों का ही हो सकता है।

(२) द्वारपाल—(आकर) महाराज की जय हो, जय हो। द्वार पर दो तपस्विकुमार खड़े हैं।

(३) राजा—उनको तुरन्त यहाँ लाओ।

(४) द्वारपाल—महाराज की जो आज्ञा। (जाकर और तपस्वि-बालकों को सा लेकर फिर आता है।) आप इधर से आवें, इधर से।

उभौ—[राजानं विलोकयतः ।] (१)

एकः—अहो ! दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयताऽस्य वपुषः । अथवा उपपन्नमेतदस्मिन् ऋषिकल्पे राजनि । कुतः (२)—

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति ।

च्छतामिति शेषः । भवन्ताविति मूलभूतभवच्छब्दः पूजार्थकयुष्मदर्थे । इत इति तृतीयायां तस् 'सर्वविभक्तिभ्यस्तस्' इति वचनात् ।

(१) उभाविति । उभौ—मुनिकुमारौ । राजानं—दुष्यन्तम्, विलोकयतः अवलोकनेन तस्य भावं विभावयतः । राजानं विलोकत इति तिङन्तेनोक्तिर्दर्शनस्य प्राधान्यं सूचयति । तच्च वक्ष्यमाणविवरणोपयोगीति बोध्यम् ।

(२) एक इति । उभयोर्मुनिकुमारयोर्मध्येऽन्यतरः, तयोरेक इत्यर्थः । अथ राज्ञि दुष्यन्ते मुनिसाधारणीमाकृतिमवेक्ष्य विस्मयमान आह;—अहो ! इति । अहो इत्याश्चर्ये । अस्य—राज्ञो दुष्यन्तस्य, अन्येषामनभिभवनीयताप्रतीतिहेतुकान्तिविशेषो दीप्तिस्तद्वतोऽपि—महातेजःशालिनोऽपीत्यर्थः, वपुषः–देहस्य, विश्वसनीयता–प्रसन्नत्वं सद्व्यवहारकारित्वेनेति भावः । तथा च;—प्रायेणैव दीप्तिमतः प्रचण्डप्रकृतिकतया समुद्वेजकत्वमेव दृश्यते; परमस्य तु राज्ञो दीप्तिमत्त्वेऽपि तद्वैलक्षण्येन प्रसन्नतैवेत्यतोवाश्चर्यमिति तात्पर्यम् । पूर्वोक्तमाक्षिप्याह;—अथवेति । नेदमद्भुतमित्यर्थः । एतत्—दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयत्वम्, उपपन्नं—युक्तम् । ऋषिकल्पे—मुनिसदृशे । 'ईषदसमाप्तौ कल्पप्' इति कल्पप् ।

दुष्यन्तस्य राजर्षित्वं समर्थयति—अध्याक्रान्ते । अमुना—राज्ञा दुष्यन्तेनाऽपि, न केवलं मुनिनेत्यपेरर्थः, एवं सर्वत्रेति बोध्यम्, सर्वभोग्ये—वनितासम्भोगादिभोगास्पदे, अन्यत्र धार्मिकजनाश्रयणीये, आश्रमे—गार्हस्थ्याश्रमे, पक्षे—तपोवनस्थितमठे, 'आश्रमो व्रतिनां मठे' इति हैमः, वसतिः—स्थितिः, आध्याक्रान्ता—अधिकृता । तथा च यथा मुनयः आश्रमे निवसन्ति तथाऽयमप्याश्रमे निवसति, सुतरामाश्रमवासित्वसाम्येनायं मुनिरेवेति भावः । अथवा राजपक्षे,—सर्वभोग्ये—सर्वैराश्रमिभिर्भोग्ये, आश्रमे—गृहस्थाश्रमे इत्यर्थः ।

---

(१) दोनों—(राजा को देखते हैं ।)

(२) एक—ओह ! तेजस्वी होते हुए भी इसकी देह में विश्वास की योग्यता विद्यमान है अथवा ऋषि के तुल्य इस राजा में यह गुण होना ही चाहिये । क्योंकि—

ये भी सर्वभोग्य आश्रम में रहते हैं, प्रजापालन करके प्रतिदिन ये भी तपस्या का

अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥ १५ ॥

तथा च पद्मपुराणम्—

'यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते चतुराश्रमाः' ॥ इति ।

किञ्च—'यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः' ॥ इति ।
वर्त्तन्ते गृहिणस्तद्वदाश्रित्येतर आश्रमाः' इति ।

मनुरपि—

'गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्त्ति हि' ॥ इति ।

तथा, अयमपि राजा दुष्यन्तोऽपि, रक्षैव योगः—उपायः, अथवा रक्षायाः योगः—उद्योगो रक्षायोगस्तस्माद् रक्षायोगात्—प्रजापरिपालनादित्यर्थः, पक्षे रक्षार्थं—शरीररक्षार्थं योगः—अष्टाङ्गः प्रागुक्तरूपस्तस्मात्—तदर्थम्, प्रत्यहं—प्रतिदिनम्, तपः—कृच्छ्रचान्द्रायणादि, पक्षे लोकोत्तरं धर्मञ्च, सञ्चिनोति—अर्जयति। एवञ्च—तपःसञ्चयनादिनाऽयं मुनिरेवेति भावः। तथा वशिनः—इन्द्रियजितः, अस्य—राज्ञो दुष्यन्तस्यापि, वशित्वञ्चास्य प्रजानुरञ्जनधर्मसञ्चयादिना बोध्यम्, केवलं—विशेषेण प्रकृतमुनिभ्य इत्यर्थः, राजा इति शब्दः पूर्वस्मिन् यस्य स राजपूर्वः—राजोपपदविशिष्ट इत्यर्थः, पुण्यः—मन्त्रवत् पवित्रः, मुनिरिति शब्दः—राजर्षिरिति आनुपूर्वीकः शब्दः मुहुः—पुनः पुनर्भृशं वा, चारणानां—कुशीलवानां द्वन्द्वं—स्त्रीपुंसयुगलं तेन गीतः—कीर्तितः सन्नित्यर्थः। 'चारणास्तु कुशीलवाः इत्यमरः। चारणलक्षणमाह रत्नाकरे—

'किङ्किणी वाद्यवेदी च वृतो विकटनर्तकैः ।
मर्मज्ञः सर्वरागेषु चतुरश्चारणो मतः' ॥ इति ।

द्यां—स्वर्गमन्तरीक्षं वा, 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः, स्पृशति—प्रयाति, पक्षे वटुभिरुच्चारितोऽध्ययनकाले ब्रह्मनादस्तथा निरुपपदमुनिशब्दोऽन्तरीक्षपर्यन्तचरो भवति। तथा चास्य चारणद्वन्द्वगानां राजर्षिशब्दश्च इति व्यावर्त्तकः अतश्चास्य राजत्वमुनित्वोभयत्वाभ्यां विश्वसनीयत्वे नातिचित्रमिति भावः।

अत्र 'आश्रमे' 'सर्वभोग्य' इत्यादिश्लिष्टपदैरनेकार्थाभिधानात् श्लेषः, केवलं 'राजपूर्वः' इति मुन्यपेक्षयाधिक्याभिधानाद् व्यतिरेकश्च, सामान्यधनापेक्षया

संचय करते हैं और इन्द्रियों को जीतने के कारण ये महात्मा भी 'मुनि' यह पुनीत नाम धारण करते हैं। लेकिन उसके पूर्व में 'राज' यह शब्द अधिक है, वही 'राजा मुनि' या 'राजर्षि' शब्द अभी भी बन्दीजन-दम्पती द्वारा गीयमान होकर स्वर्ग का स्पर्श करता है॥१५॥

द्वितीयः—सखे ! अयं स वलभित्सखो दुष्यन्तः ? (१)

प्रथमः—अथकिम् (२) ?

द्वितीयः—तेन हि (३)—

नैतच्चित्रं, यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।

सुकृतांशस्याधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकालङ्कार इति कस्यचित् कथनम् । अध्याक्रान्तेत्याद्यारभ्य नैतच्चित्रमित्त्याद्यन्तं राज्ञो दुष्यन्तस्य प्रशंसाभिधानात् पुष्पं नाम प्रतिमुखसन्धेरङ्गम्, तल्लक्षणं यथा दर्पणे—

'पुष्पं विशेषवचनं मतमि'ति ।

इह च विशेषं च नाटयलक्षणम्, अध्याक्रान्तेत्यादिसामान्यधर्मकथनपूर्वकं 'केवलं राजपूर्वः' इति विशेषस्य कथनात् । तथोक्तं दर्पणे—

'अर्थान् सिद्धान् बहूनुक्त्वा विशेषोक्तिर्विशेषणम्' ॥ इति ।

मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ १५ ॥

(१) द्वितीय इति । द्वितीयः-पूर्ववक्तृभिन्नो मुनिकुमारः । पूर्वोक्तवचनमाकर्ण्य सप्रत्यभिज्ञो द्वितीयः सविस्मयमाह;—सुख इति । सः—प्रसिद्धः, बलं—तन्नामासुरं भिनत्ति—विदारयतीति बलभित्—इन्द्रः तस्य सखा—मित्रमिति बलभित्सखः, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति सखिशब्दात् टच्प्रत्ययः दुर्जयदानवहननार्थौ साहाय्यकरणादिन्द्रस्य मित्रभूत इत्यर्थः । अनेन वक्ष्यमाणराक्षसकर्तृकोत्पद्यमानविघ्नापसरणक्षमत्वं ध्वन्यते । 'बलभिद् वज्री वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः ।

(२) प्रथम इति । अथकिं—किमन्यत्, यदुक्तं तदेवेत्यर्थः, 'अङ्गीकारेऽपि चाथकिम्' इति हारावली । अथकिमित्येकमव्ययम् ।

(३) द्वितीय इति । तेन हि—तेनैव हेतुना, दुष्यन्तत्वेनैवेत्यर्थः ।

अथ द्वितीयः प्रथमोक्त्योद्बुद्धस्मृती राज्ञः चात्रमुपवर्णयति;—नैतदिति । नगरस्य—लक्षणया नगरद्वारस्य, यौ परिघौ—अर्गलौ—इवेति प्रांशू—उन्नतौ बाहू भुजौ यस्य स तथाभूतः, 'परिघो योगभेदेऽस्त्रे मुद्गरेऽर्गलघातयोः' इति विश्वः, दीर्घं प्रांशुर्विशालञ्च' इति धनञ्जयः, परिघ आयुधविशेष इति कस्यचिद् व्याख्यानम्, नगरपदेन भुजयोरतिदीर्घता सूचिता, नगरपरिघोपमया च वैरिविजयेऽसाधारण-

(१) द्वितीय कुमार—मित्र ! यही क्या इन्द्र के मित्र दुष्यत हैं ।

(२) पहला—और क्या !

(३) दूसरा—इसी से तो—

नगर के अर्गल दण्ड की तरह लम्बी भुजावाले ये यदि श्याम-समुद्र-वेष्टित पृथ्वी का

७ मां अभिज्ञा

आशंसन्ते समितिषु सुराः सक्तवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥ १६ ॥

ऋमता द्योतिता, अयं—राजा दुष्यन्तः, एकः—एकाक्येव, न तु सहायान्तरेणेत्यर्थः, उदधेः—सागरस्य, श्यामः—नीलिमा जलभाग इति यावत्; स एव सीमा—मर्यादा यस्यास्ताम्, अथवा उदधिरेव श्यामा सीमा यस्यास्तां—निःशेषामित्यर्थः, जलाद्यात्मकस्य सागरस्य दूरतो नीलिमोपलब्धेस्तत्र श्यामसीमत्वारोपः, यद्वा श्यामश्चासावुदधिरित्युदधिश्यामः सः सीमा यस्यास्तां राजदन्तादित्वाच्छ्यामशब्दस्य परनिपातः, कृत्स्नां-समग्राम्, धरित्रीं-भुवं, यद् भुनक्ति-पालयति, 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदनियमादस्य धर्मप्रधानत्वेन पालन एव कृत्यबुद्धिरभ्यवहारस्त्वानुषङ्गिक इति ध्वनितम्, एतन्न चित्रं—नाश्चर्यम्, सामान्यत एकस्यैव पृथिवीपालने आश्चर्यत्वेऽपि एतद्विषये नाश्चर्यमित्यर्थः। कुत एतदित्याह;—हि—यतः; दैत्यैः—असुरैः सहेत्यर्थः, सक्तं—सम्भृतं वैरं—विद्वेषो येषां ते तथाभूताः, 'वैरं विरोधो विद्वेषः' इत्यमरः, सुराः—अमराः, समितिषु—युद्धेषु, 'समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः, अस्य—राज्ञो दुष्यन्तस्य, अधिज्ये—अधिगतगुणे, धनुषि-कार्मुके, पुरु—अत्यन्तं, हूतं—यज्ञकर्मणि हव्यं यस्य स पुरुहूतः शतमख इन्द्रस्तस्येदमिति तस्मिन् पौरुहूते—माहेन्द्रे, वज्रे—कुलिशे च, राज्ञो दुष्यन्तस्य धनुषः प्राथम्येनाभिधानात्तस्यैव वज्रापेक्षया प्राधान्यं, वज्रस्य तु पश्चान्निर्देशाद् धनुषोऽपेक्षया गौणत्वं ध्वनितमिति तद्द्वारा पुरुहूतापेक्षया राज्ञश्चोत्कर्षप्रतीतेर्व्यतिरेको द्योत्यते 'अत्राशंसाविषयत्वेन वज्रधनुषोरिन्द्रदुष्यन्तयोश्चोपमानोपमेयभावः प्रतीयते, न तु व्यतिरेकः' इति केचित्, विजयं—विशेषेण जयम्, आशंसन्ते—आकाङ्क्षन्ति, उभयोस्तुल्यतयैव दुष्करकार्यनिर्वर्त्तकत्वप्रत्यायनादिति भावः। तथा च पुरुहूतसमवीरत्वादेक एव राजा दुष्यन्तः पृथिवीं पालयतीति नास्ति विस्मयावसर इति तात्पर्यम्।

अत्र प्रस्तुतस्य दुष्यन्तधनुषोऽप्रस्तुतस्य पुरुहूतवज्रस्य चैकविजयक्रियया सहाभिसम्बन्धाद्दीपकालङ्कारः। तथा च विश्वनाथः—

'अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते'। इति ॥

उपमाकाव्यलिङ्गयोः संसृष्टिः, द्रव्यसमुच्चयश्चेति केचित्। नगरेत्यादिविशेषणे लुप्तोपमा ज्ञेया।

पालन करते हैं तो इसके आश्चर्य की कोई बात नहीं है क्योंकि जब कभी देवताओं का दैत्यों के साथ विरोध होता है, तब देवतागण चढ़ी हुई डोरी वाले इसके धनुष और इन्द्र के वज्र में ही जयलाभ की आशा करते हैं ॥ १६ ॥



उभौ—[उपगम्य] विजयस्व राजन् ! (१) ।

राजा—[आसनादुत्थाय] अभिवादये भवन्तौ (२) ।

उभौ—स्वस्ति भवते [इतिफलान्युपनयतः । (३) ।

राजा—[सप्रणामं परिगृह्य] आगमनप्रयोजनं श्रोतुमिच्छामि (४) ।

उभौ—विदितो भवानिहस्थस्तपस्विनाम् । ते च भवन्तमभ्यर्थयन्ते (५) ।

'आशंसन्त' इति आङः शासि इच्छायामिति धातोर्लटि रूपं न तु शंस स्तुताविस्यस्य, तस्य परस्मैपदित्वादिति बोध्यम् । अत्र मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ १६ ॥

(१) उभाविति । विजयस्वेत्याचारः । 'विपराभ्यां जेः' इत्यात्मनेपदम् ।

(२) राजेति । अभिवादये—प्रणमामि, फलवत्कर्त्तर्यात्मनेपदम् । अभीत्यादिकमप्याचारः । आसनादुत्थायेत्याद्याचारेणादरातिशयो द्योत्यते ।

(३) उभाविति । स्वस्ति—मङ्गलम्, शुभमस्तु इत्यर्थः, 'स्वस्ति मङ्गलाशीर्वादपापनिर्णेजनादिषु' इति भागुरिः, भवते इति 'नमः स्वस्ति' इत्यादि (सि० च०) सूत्रेण फलानि उपनयतः—अर्पयतः । तथा चोक्तम्—

'देवो राजा गुरुर्भार्या वैद्यो नक्षत्रपाठकः ।
रिक्तपाणिर्न गन्तव्यस्तत्र कार्यं न सिध्यति ॥' इति ।

किञ्च—

'रिक्तपाणिर्न पश्येत्त राजानं देवतां गुरुम् ।
नैमित्तिकञ्च वैद्यञ्च फलेन फलमादिशेत्' ॥' इति ।

इत्यादिस्मृतिवाक्येन रिक्तहस्तेन राजादिदर्शने नैष्फल्यमुक्त्वा किञ्चित्फलाद्यर्पणे विधिरुक्तः ।

(४) राजेति । सप्रणामं—प्रणामपूर्वकमित्यर्थः । परिगृह्य—मुनिकुमाराभ्यामुपनीयार्पितानि फलानि सादरं स्वीकृत्य ।

(५) उभाविति । भवान् इहस्थः–अस्मिन् तपोवने एव स्थितः [इत्येवंरूपेण]

---

(१) दोनों—(पास जाकर) महाराज की जय हो ।

(२) राजा—(आसन से उठकर) मैं आप दोनों को प्रणाम करता हूँ ।

(३) दोनों—आप का कल्याण हो । (फल भेंट करते हैं ।)

(४) राजा—(प्रणाम करता हुआ लेता है ।) मैं आपके आगमन का कारण सुनना चाहता हूँ ।

(५) दोनों—तपस्वियों को मालूम हो गया है कि आप यहाँ हैं । इसी से वे सब आप से कुछ प्रार्थना करते हैं ।

राजा—किमाज्ञापयन्ति ? (१)

उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य कुलपतेरसान्निध्यात् रक्षांसि नः इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति, तत् कतिपयदिवसमात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति (२)।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि (३) !

तपस्विनां—तपोवनवासिनां तापसानां विदितः—अवगतः। विदित इति वर्तमाने क्तः। तद्योगात् तपस्विनामिति 'वर्तमानाधारार्थक्तस्य योगे षष्ठी' इति (सि० च० वा०) सूत्रेण कर्त्तरि षष्ठी।

(२) उभाविति। प्रार्थनाप्रकारमाहतुः;—तत्रेत्यादि । तत्रभवतः—पूज्यस्य, कुलपतेः—अयुतशिष्यपोषकस्य प्रागुक्तलक्षणलक्षितस्योपाध्यायस्य महर्षेः कण्वस्य; एताभ्यां विशेषणाभ्यां कण्वस्य प्रभावातिशयस्तेन तत्सन्निधाने तु विघ्नोत्पादनाभावश्च व्यज्यते। असान्निध्यात्—सान्निध्याभावात्, निर्भीकतयेति भावः, असान्निध्यादित्यनेन वैखानसोक्तमनुसन्दधाति। रक्षांसि—राक्षसाः, नः—अस्माकम्, इष्टिविघ्नं—यागव्याघातम्, 'इष्टिर्यागेच्छयोः' इत्यमरः। तत्—तस्माद् हेतोः, कतिपयदिवसमात्रं—कियन्त्यपि दिनानि, न पुनर्दीर्घकालमिति मात्रपदस्यार्थः, सारथिरेव द्वितीयो यस्य सः तेन अन्यान् जनान् विसृज्य केवलेन सारथिनैव सहेत्यर्थः बहुतरलोकसमागमे आश्रमोपरोधः स्यादिति बहुभिरलमिति भावः। सनाथीक्रियतां—स्वाभियुक्तः क्रियताम् , इति ते भवन्तमभ्यर्थयन्त इति पूर्वोक्तयाभिसम्बन्धः। कुलपतेरसान्निध्यादाश्रमोऽस्वामिको वर्तते सम्प्रति भवतां समागमेन सस्वामिको भवतु, तेन च कुलपतेः शापप्रभावादिव भवतो बाणप्रभावाद् भीतानि सन्ति रक्षांसि यज्ञान्तरायकरणाय न पुनरागमिष्यन्तीति भावार्थः।

अत्रोपन्यासो नाम प्रतिमुखसन्धेरङ्गम्, तदुक्तं दर्पणे–

'उपन्यासः प्रसादनम्' इति।

(३) राजेति। अनुगृहीतोऽस्मीत्यनेन भङ्ग्या तदुक्तमङ्गीकृतम्।

---

(१) राजा—उनकी क्या आज्ञा है ?

(२) दोनों—पूज्य कुलपति कण्व इस समय यहाँ नहीं है, इस कारण राक्षस हमारे यज्ञ में बाधा डालते हैं। अतएव आप अपने सारथी के साथ कुछ दिन के लिये इस आश्रम को सनाथ करें।

(३) राजा—मैं इसके लिये आपका अनुगृहीत हूँ।

विदू—[अपवार्य] एष इदानीं भवतः अनुकूलः गलहस्त (१)। (एस दाणिं भअदो अणुऊलो गलहत्थो ।)

राजा—[स्मितं कृत्वा ।] रैवतक ! मद्वचनादुच्यतां सारथिः, सबाणकार्मुकं रथमुपस्थापयेति (२)।

दौवा—यत् देव आज्ञापयति (३)। (जं देवो आणवेदि ।) [इति निष्क्रान्तः ।]

उभौ—[सहर्षम् ।] (४)

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि ।

---

(१) विदू इति । अपवार्य—परावर्त्तनेन मुनिकुमारावश्रावयित्वा । तदुक्तं सामन्तमहापात्रेण—

'......तद्भवेदपवारितम् । रहस्यन्तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥ इति ।

इदानीम्—आश्रमवासोपायचिन्ताकाले, अनुकूलः—भवदीयकार्यसिद्धौ सहायकः अपदेशं विनापि वासोपायत्वादिति भावः, गलहस्ता—गले बलपूर्वकहस्तदानेन कर्मणि नियोगः, संवृत्त इति शेषः । तथा च—मुनिभिः, सम्प्रति राक्षसापसारणकर्मणि बलपूर्वकस्ते नियोगः शकुन्तलादर्शनरूपस्वाभीष्टसिद्धिजनकत्वात् प्रीतिकरः संवृत्त इति निष्कृष्टार्थः ।

(२) राजेति । स्मितं कृत्वेति राज्ञः स्मितकरणं विदूषकेण तादृशवैदग्ध्योक्तिप्रकाशनात्तस्य च तथात्वत्वादिति भावः । बाणेन—कार्मुकेण धनुषा च सहेति सबाणकार्मुकम् । उपस्थापय—मत्समीपमाहरेत्यर्थः । इतीत्यस्य उच्यतामित्य नेन सहान्वयः ।

(४) उभाविति । सहर्षमिति, तद्वचनश्रवणं हर्षकारणम् ।

अनुकारिणीति । पूर्वेषां—पूर्वपुरुषाणाम्, ययातिपूर्वादिपूर्वनृपाणाम्, कर्मणि षष्ठी; अनुकारिणि—रूपचारित्र्यशौर्यपावित्र्यदानादिभिरनुकरणकर्त्तरि, सदृशे इत्यर्थः, त्वयि—दुष्यन्ते, इदं—मुनिवचनपालनं तेष्वभयप्रदानं च, युक्तरूपम्—

---

(१) विदूषक—(राजा से चुपके-चुपके) इस समय यह तुम्हारे अनुकूल गलहस्त उपस्थित हो गया । (यानी मुनियों ने जबर्दस्ती तुम्हें इस काम में लगा दिया ।)

(२) राजा—(मुस्करा कर) रैवतक ! हमारे आदेशानुसार जाकर सारथि से कहो कि धनुषबाण समेत रथ को यहाँ लावे ।

(३) द्वारपाल—श्रीमान् की जो आज्ञा । (चला जाता है)

(४) दोनों—(प्रसन्नता से) आप अपने पूर्वजों के अनुरूप ही ऐसा कर रहे हैं ।

आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ॥ १८ ॥

राजा—[सप्रणामम् ।] गच्छतां भवन्तौ; अहमनुपदमागत एव (१) ।

उभौ—विजयस्व । [इति निष्क्रान्तौ । (२)

राजा—माधव्य ! अप्यस्ति ते कुतूहलं शकुन्तलादर्शनं प्रति (३) ।

विदू—प्रथममपरिबाधमासीत ; साम्प्रतं राक्षसवृत्तान्तेन सपरिबाधम् (४) । (पढमं अपरिबाधं आसी; साम्पदं रक्खसवुत्तन्तेण सपरिबाधं ।)

अतिशयेन युक्तं, योग्यमेवेत्यर्थः । युक्तशब्दात्प्रशंसायां रूपप् । तथाहि,—पौरवाः—पुरुवंश्या नृपतयः, आपन्नानाम्—आपद्युक्तानाम् अभयमेव सत्रं—यागस्तेषु विषये, विपन्नाश्रयप्रदानरूपयज्ञेषु विषये इत्यर्थः, 'आपन्न आपत्प्राप्तः स्यात्' इत्यमरः, 'सत्रमाच्छादने यज्ञे' इत्यमरश्च, दीक्षिताः—धृतव्रताः । खल्विति प्रसिद्धौ ।

अत्र पूर्वार्द्धे काव्यलिङ्गम्, उत्तरार्द्धे रूपकम्, परन्तु उत्तरार्द्धगतकारणद्वारा प्रथमार्द्धगतकार्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ १७ ॥

(१) राजेति । गच्छतामिति यज्ञोपक्रमाय मुनिजननिवेदनायेति भावः । पदस्य पश्चादनुपदं—भवतः पृष्ठत इत्यर्थः । अव्ययीभावः । आगत इति अतीतत्वेन निर्देशो विलम्बाभावं द्योतयति । अत्र मुनिकुमारयोरागमनफलं सुव्यक्तम् ।

(२) राजेति । अथ मुनिकुमारागमनेन विच्छिन्नां प्रकृतकथामवसरप्राप्तामनुसन्दधानो राजा समयोचितमाह—माधव्येत्यादि । अपिशब्दोऽत्र प्रश्नार्थकः । अत्र मध्ये प्रशमनं मध्ये पुनरुद्दीपनञ्च प्रकृतरसस्य परिपोषकमेव, यथाह ध्वनिकारः—

'उद्दीपनप्रशमने यथावसरम्' इत्यादि ।

(४) विदू इति । प्रथम-राक्षसोपद्रववार्त्ताश्रवणात् प्राक् अपरिबाधं—बाधाविरहितम्, आसीत्तत्कुतूहलमिति शेषः, राक्षसोपद्रवाभावादिति भावः । साम्प्रतम्—अस्मिन् क्षणे, सपरिबाधं—बाधसहितमेव कुतूहलं वर्त्तत इति शेषः, राक्षसोपद्रवभयादिति भावः ।

क्योंकि सब पुरुवंशी राजा लोग विपद्ग्रस्त लोगों के भय दूर करने के यज्ञ में सदैव दीक्षित रहते आये है ॥ १७ ॥

(१) राजा—(प्रणामपूर्वक) आप लोग चलें । मैं आपके पीछे आता हूँ ।

(२) दोनों—आपकी जय हो (दोनों चले जाते है ।)

(३) राजा—माधव्य ! क्या शकुन्तला को देखने की तुम्हारी भी इच्छा है ।

(४) विदूषक—पहले तो कोई बाधा नहीं थी, लेकिन अब राक्षसों का वृत्तान्त सुनकर वहाँ जाना बाधायुक्त हो गया है ।

राजा—मा भैषीः, ननु मत्समीप एव वर्त्तिष्यसे (१)

विदू—एष तत्र रथचक्ररक्षीभूतोऽस्मि, यदि न कोऽपि आगत्य विघ्नं करोति (२)। (एस तुह रधचक्क-रक्खीभूदोहि, जइ ण कोवि आअच्छिअ विग्घं करेदि ।)

दौवारिका:—[प्रविश्य] जयतु जयतु भर्त्ता । सज्जो रथः भर्त्तुविजयप्रयाणमपेक्षते । एष पुनर्नगराद् देवीनामाज्ञप्तिहरः करभक आगतः (३)। (जअदु जअदु) भट्टा ! सज्जो रधो भत्तुणो विजअप्पआणं अवेक्खदि । एस उण णअरादो देवीणं आणत्तिहरो करभओ आअदो)

राजा—[सादरम्] किमम्बाभिः प्रेषितः ? (४)।

---

(१) राजेति । मा भैषीः-भयं मा कुरु, माङ्योगेन लुङ् । नन्विति सम्बोधने । वर्त्तिष्यसे-स्थास्यसि । मत्समीपावस्थाने तु राक्षसेभ्यो भयं ते न भविष्यतीत्याशयः।

(२) विदू इति । रथस्य चक्रे रक्षतीति तद्भूतः—रथचक्ररक्षकः, अस्मि—भवामि, युद्धसमये युध्यमानस्य नेतुः रथचकरक्षायै कस्यचित् पुरुषस्यापेक्षितत्वादिति भावः । एतेन विदूषकस्य राज्ञा सहाश्रमपदगमनेऽङ्गीकारः सूच्यते । विघ्नं-रथरक्षासम्बन्धे उपद्रवम्, एतेन अहो ! वीरत्वं विदूषकभट्टस्येति परिहासो द्योत्यते ।

(३) प्रविश्येति । सज्जः—सन्नद्धः । भर्त्तुः—स्वामिनो महाराजस्य भवतः, विजयप्रयाणं—विजययात्राम्, अपेक्षते—प्रतीक्षते । नगरात्—राजधानीतः, देवीनां—राजमातॄणाम्, आज्ञप्तिम्-आदेशं हरतीति तच्छीलः-समाचारवाहक इत्यर्थः । करभकः—तन्नामा दूतः । करभकशब्दार्थवशाद् दूतस्य उष्ट्रवद् बलवत्त्वं सूच्यते ।

(४) राजेति । सादरम्—आदरपूर्वकम्, एतेन राज्ञो मातृभक्तिस्तया च·सना तनधर्मप्राणता सूचिता ।

---

(१)—राजा—डरो मत, तुम मेरे पास ही रहोगे !

(२) विदूषक—अच्छा मैं तुम्हारे रथ के पहिये की रखवाली करता रहूँगा, लेकिन जब तक कोई विघ्न न आ उपस्थित हो ।

(३) द्वारपाल—(आकर) महाराज की जय हो, जय हो । रथ तैयार होकर आपकी विजययात्रा की प्रतीक्षा कर रहा है और माताओं का समाचार लाने वाला यह करभक भी आया है ।

(४) राजा—(आदर के साथ) क्या माताओं ने भेजा है ?

दौवा—अथ किम् (१)? (अधइं ?)

राजा—तेन हि प्रवेश्यताम् (२)।

दौवा—तथा। [इति निष्क्रम्य पुनः करभकेण सह प्रविश्य] करभक! एष भर्त्ता उपसर्पतु भवान् (३)। (तह। करअअ! एसो भट्टा उवसप्पदु भवं।)

करभकः—[उपसृत्य प्रणम्य च।] जयतु जयतु भर्त्ता। देव्य आज्ञापयन्ति (४) (जअदु जअदु भट्टा। देवीओ आणवेन्ति।)

राजा—किमाज्ञापयन्ति? (५)।

कर—आगामिनि चतुर्थदिवसे पुत्रपिण्डपालनो नाम उपवासो भविष्यति, तस्मिन् दीर्घायुषाऽवश्यं वयं सम्भावयितव्या इति (६)। (आआमिणि चउठ्ठदिअसे पुत्तपिण्डपालो णाम उववासो भविस्सदि, तहि दीहाउणा अवस्सं अह्मे सम्भावइदव्वा त्ति।)

---

(१) दौवेति। अथ किम्—एवमेतत्।

(२) राजेति। तेन हि—अम्बाभिः प्रेषितत्वेनैव हेतुना, प्रवेश्यतां—समागम्यताम्।

(३) दौवेति। तथा—करभकं प्रवेशयामीत्यर्थः।

(४) करेति। देव्यः—अम्बाः।

(५) राजेति। आज्ञापयन्ति—आदिशन्ति।

(६) करेति। पुत्रपिण्डानां—पुत्रेण दास्यमानानां पिण्डानां, पालनं—रक्षणं सम्भावनमिति यावत्, यस्मात् स तथाभूतः। उपवासो—व्रतविशेषः। तस्मिन् समये योषितामेषः प्रचलितो व्रतविशेषः पुत्रपिण्डपालनो नामाऽऽसीत्। आत्मना मरणात् पूर्वं पुत्रमरणे पिण्डलोपाशङ्कया तन्निवृत्यर्थोऽयं व्रतारम्भः। सम्प्रत्यपि

---

(१) द्वारापाल—और क्या?

(२) राजा—तो उसे बुला लाओ।

(३) द्वारपाल—अच्छा, (इसके बाद जाकर करभक के साथ पुनः आकर) करभक महाराज यहाँ है, जाइये।

(४) करभक—(पास जाकर और प्रणाम करके) महाराज की जय हो, जय हो! मातायें आपको आज्ञा देती हैं?

(५) राजा—क्या आज्ञा देती हैं?

(६) करभक—आगामी चौथे दिन 'पुत्रपिण्डपालन' नाम का उपवास होगा, उस दिन तुम अवश्य उपस्थित होकर हमको आनन्दित करो।

राजा—इतस्तपस्विनां कार्यम्, इतो गुरुजनाज्ञा, उभयमप्यनतिक्रमणीयम्, तत् किमत्र प्रतिविधेयम् (१) ?

विदू—भोः त्रिशङ्कुरिव अन्तरा तिष्ठ (२) । (भो ! तिसङ्क विअ अन्तरा चिट्‌ठ ।)

कुत्रचित् प्रान्तेषु अस्य व्रतविशेषस्य समाचारो दृश्यते । दीर्घायुषा—अतिशयेनायुष्मता त्वया पुत्रेणेत्याशयः । दीर्घायुषेति वात्सल्यद्योतकम् । सम्भावयितव्याः—आगमनेन परितोषणीयाः । 'प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति' इति पाठः क्वचिद् दृश्यते । तत्रोपवासान्ते पारणा—व्रताङ्गभोजनं भविष्यतीत्यर्थः । पूर्वमुपवासवचनश्रवणं विशेषतो मातुरुपवासवाक्यश्रवणं दुःखदं भविष्यतीति 'प्रवृत्तपारण' इति प्रथममुपन्यस्तम् ।

(१) राजेति । तदाकर्ण्य चिन्तयति:—इत इत्यादि । इतः—अस्मिन् तपोवने, तपस्विनां,—तापसानां, कार्यं—राक्षसोपद्रवनिराकरणम्, इतः—अन्यत्र, नगरे इत्यर्थः' गुरुजनानां—मातृणामाज्ञा—नगरगमनायाऽऽदेशः । अत्र स्थातव्यमथवा तत्र गन्तव्यमिति भावः । अनतिक्रमणीयम्—अनुल्लंघनीयम्, द्वयोरपि पक्षयोर्गुरुत्वादिति भावः । अनतिक्रमणीयमिति निषेधमुखेनोक्तिरतिक्रमणस्य दोषत्वं सूचयति । अत्र 'तपस्विकार्यं' तत्र 'गुरुजनाज्ञा'इत्येताभ्यां द्वयोरवश्यानुष्ठेयत्वेन समप्राधान्यमित इत इत्याभ्यां युगपत् कर्त्तुमशक्यत्वं च व्यज्यते । तेन कर्त्तव्यमूढत्वं च सूच्यते । अत आह—किमिति । किम्—अनयोः कार्ययोः कतरत्, प्रतिविधेयम्—अनुष्ठातव्यम् । यद्वा अत्र किं प्रतिविधेयं—कः प्रतिकारः करणीयः ।

(२) विदू इति । नर्मसचिवस्तच्छ्रुत्वा सपरिहासमाह—त्रिशङ्कुरिवेति । त्रिशङ्कुर्नाम सूर्यवंशीयः कश्चिन्नृपः । तस्य च कथा रामायणादौ प्रसिद्धा, स इव अन्तरा—मध्ये, युगपदनुष्ठानस्याशक्यत्वादेकतरानुष्ठानस्यानर्थकत्वाच्चोभयत्रानुपयुक्तोऽसीति परिहासः । विदूषकवचनेषु हास्यव्यञ्जकत्वं स्फुटमेव । उक्तं च—

'विदूषकस्य हास्यं तु नायके हास्यकारणम्' ॥ इति ।

तल्लक्षणमाह—'भाषणाकृतिवेषाणां क्रियायाश्च विकारतः ।
लौल्यादेश्च परस्थानामेषामनुकृतेरिति ॥'

यथा त्रिशङ्कुर्न दिवं न च भूमिमन्तरैव तिष्ठति तथा त्वमन्तरा तिष्ठेत्यर्थः । इयमत्र पौराणिकी वार्त्ता,—

---

(१) राजा—इधर तपस्वियोंका काम है, उधर गुरुजनों की आज्ञा है ! दोनों ही अलंघनीय हैं अत एव इस धर्मसंकट के समय क्या करना चाहिए ?

(२) विदूषक—बस, त्रिशंकु की तरह आप बीच में ही लटके रहिए !

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि (१)—

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः।
पुरः प्रतिहतं शैलैः स्रोतः स्रोतोवहां यथा ॥ १८ ॥

पुरा, किल त्रिशङ्कुनामा कश्चित् सूर्यवंश्यो नृपतिः सशरीर एव त्रिदिवं यियासुरेकदाऽऽत्मनो गुरुं वशिष्ठं सम्प्राप्तस्तेन च 'न तवास्ति यागेऽधिकारः' इति प्रत्यादिष्टो गुरुपुत्रानुपागतः। तैश्च 'गुरुं विहायास्मानुपागत' इति दोषेण 'गुरुद्रोहिन्! चाण्डालत्वं गच्छ' इत्यभिशप्तोऽतिदुःखितः क्षोभेण गुरुविद्वेषिणं विश्वामित्रमाश्रयमाप। स तु विश्वामित्रो वशिष्ठविद्वेषितया तं याज्यत्वेन मत्वा तदभिमतं यागं सम्पाद्य वीप्सितं तं त्रिदिवं सशरीरं प्रेषयामास। त्रिशङ्कुरपि यागस्य विश्वामित्रस्य च प्रभावेण सशरीर एव त्रिदिवं चचाल। त्रिदिवद्वारमायातं तं देवराजो 'गुरुविद्वेषी अभिशप्तश्च त्वम्' इति निर्भर्त्स्य त्रिदिवादधोऽन्तरिक्षे पातयामास। अधःपतंश्च त्रिशङ्कुः 'गुरो! अधः पतन्तं मां परित्रायस्व' इत्याक्रोशन् 'न पत तत्रैव तिष्ठ' इति विश्वामित्रेण भाषितः स्वर्गमर्त्यान्तराले एवावाक्शिरस्तिष्ठतीति रामायणादौ विशेषेणानुसन्धातव्यम्। त्रिशङ्कुरिति नामकरणनिदानमुक्तं रामायणे, यथा—

'पितुश्च परितोषेण गुरोर्दोग्ध्रीवधेन च।
अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रमः॥
एवं त्रीण्यस्य शङ्कूनि तानि दृष्ट्वा महातपाः।
त्रिशङ्कुरिति होवाच त्रिशङ्कुरिति स स्मृतः' ॥

त्रयः शङ्कवः—अपराधाः यस्य स इति विग्रहः।

(१) राजेति। नायं हास्यावसर इत्याह;—सत्यमित्यादि। सत्यमिति उपहासप्रतिषेधायेति केचित्। तथा च विदूषकस्य पूर्वोक्तप्रकारेण वाणीमाकर्ण्य राजा पूर्वकथितं मम वाक्यसकलमनेनोपहासास्पदं मन्यत इत्याशंक्य तत्प्रतिषेधकरणायाह;—सत्यमिति। सत्यं—यथार्थमेव, आकुलीभूतः—व्यग्रीभूतः कर्त्तव्यविचाराक्षमत्वादिति भावः। अस्मि—अहमित्यर्थः।

आकुलीभावं विवृणोति—कृत्ययोरिति। कृत्ययोः—आश्रमपालन—मातृसम्भावनरूपयोः कार्ययोः, भिन्नौ—परस्परव्यवहितौ देशौ—आश्रयस्थाने ययोस्तौ तथोक्तत्वात्—तपोवननगररूपदेशद्वयसाध्यत्वात्, मे—मम, मनः—अन्तःकरणम्, पुरः—अग्रतः,

(१) राजा—सचमुच, मैं व्याकुल हो रहा हूँ—

पत्थरों के सामने पड़ जाने से नदी का प्रवाह दो भागों में विभक्त होकर बहने लगता है उसी तरह मेरा मन भी दूर-दूर के दो कार्यों के कारण द्विविधा में पड़ा है ॥१८॥

[विचिन्त्य ।] सखे ! माधव्य ! त्वमप्यम्बाभिः पुत्र इव गृहीतः, स भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रतामस्माकमावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकार्यमनुष्ठातुमर्हति (१) ।

विदू—भो ! मा राक्षसभीरुकं माम् अवगच्छ (२) । (भो ! मा रक्खसभीरुअं मं अवगच्छ)

राजा—[स्मितं कृत्वा ।] महाब्राह्मण ! कथमिदं त्वयि सम्भाव्यते ? (३) ।

शैलैः-शिलासंघातैः, प्रतिहतं-प्रतिरुद्धम्, स्रोतोवहां-सरिताम्, स्रोतो यथा-प्रवाह इव, द्वैधीभवति-नैकत्र कर्मणि स्वजने युगपद् द्वयोः कर्त्तव्यत्वबुद्धया संशेते इत्यर्थः। स्रोतःपक्षे तु उभयदिग्गामि भवति। द्वैधीभवतीति द्विशब्दात् प्रकारार्थे 'द्वित्र्योश्च धमुञ्' इति धाप्रत्ययस्थाने धमुञादेशः, ततोऽद्वैधं द्वैधं भवतीत्यभूततद्भावार्थे च्विप्रत्ययः।

अत्र श्रौती उपमा। स्रोतोमनःपदयोरुपमानोपमेययोः शब्दकृतसादृश्यनिबन्धनात्। तथा मनसो निरवयवत्वेन द्वैधीभवनासम्बन्धेऽपि तत् सम्बन्धाभिधानाद् असम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिः उपमया द्वयोः कृत्ययोः समप्राधान्यमप्रतिविधेयत्वादिकं च द्योत्यते। स्रोतः स्रोत इत्यत्र लाटानुप्रासः। एतेषां संसृष्टिः ॥ १८ ॥

(१) विचिन्त्येति । विचार्येत्यर्थः। विचिन्त्येति प्रतिभागुणं द्योतयति। चिन्तितमाह-सख इत्यादि । गृहीतः-मानितः, सन्ततं मत्सखत्वादिति भावः। अस्माकं-मम, वाऽस्मदश्चेति बहुत्वविधानात्, तपस्विनां कार्ये व्यग्रतां-व्यासक्तताम्, 'व्यग्रो व्यासक्त आकुले' इत्यमरः। आवेद्य-विज्ञाप्य, अनुष्ठातुं-कर्त्तुमर्हति मत्प्रतिनिधिरूपेणेति भावः।

(२) विदू इति। राजाऽऽज्ञयावश्यमेव राजधानी गन्तव्या। तत्र गमने राक्षसदर्शनं न पुनर्भवेदिति विचिन्त्य प्रतिज्ञामुखेनाचष्टे-भो इति। अवगच्छ-जानीहि। अनेनात्मनो रक्षियोगेनैव राजधान्यां गच्छामि न तु राक्षसभीरुत्वेनेति भावः। अनेनात्मनो राक्षसभयं स्थिरमेवेति द्योत्यते। अहो वीर्यप्रभावो विदूषकभट्टस्य ।

(३) राजेति। साम्प्रतमत्र राक्षसानामनुपस्थितावेवेयं ते प्रतिज्ञेति जानतो-

---

(१) (सोचकर) सखे माधव्य ! तुमको भी मेरी माताओं ने बेटे की तरह ही माना है। इसलिए तुम यहाँ से लौट जाओ और 'मैं मुनियों के काम में व्यग्र हूँ' यह उन्हें समझा कर माताओं के पुत्र का जो कार्य हो, उसे निबटा दो !

(२) विदूषक—हैं, हमें राक्षसभीरु मत समझो।

(३) राजा—(मुस्करा कर) हे महाब्राह्मण ! तुम्हारे विषय में ऐसा सोच ही कैसे सकता हूँ ?

विदू—तेन हि राजानुज इव गन्तुमिच्छामि (१)। (तेण हि राआणुअ विअ गच्छिदुं इच्छेसि।)

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वानेवानुयात्रिकास्त्वयैव सह प्रेषयिष्यामि (२)।

विदू—[सगर्वम्] युवराजोऽस्मि इदानीं संवृत्तः (३)। (जुअराओम्हि दाणिं संवुत्तो।)

राजा—[आत्मगतम्।] चपलोऽयं ब्राह्मणवटुः (४) कदाचिदिमामस्मत-

राज्ञः स्मितकरणम्। महाब्राह्मण-ब्राह्मणश्रेष्ठ !, विपरीतलक्षणया रूढ्या वा निन्दितब्राह्मणपरत्वात् निकृष्टविप्र इत्यर्थः। तथा चोक्तम्—

'शंखे तैले तथा मांसे वैद्ये ज्यौतिषिके द्विजे।
यात्रायामथ (पथि) निद्रायां महच्छब्दो न दीयते॥ इति।

इदं-राक्षसभीरुत्वम्, त्वयि कथं सम्भाव्यते-कथमपि न सम्भाव्यत इत्यर्थः, महावीरत्वादिति भावः। मन्नियोगादेव गम्यत इत्यनुमतं; तद्गम्यतामिति यावत्। नर्मोक्तिरियम्।

(१) विदू इति। तदा सन्तुष्यन्नाह-तेनेति। तेन हि-त्वत्प्रतिनिधित्वेन गमनमनुमतं चेत्तदेत्यर्थः। राजानुज इवेति साटोपेनेति भावः।

(२) राजेति। नन्वित्यनुज्ञाने। तपोवनोपरोधः-लतापादपादित्रोटनभञ्जनादिनाऽऽश्रमपीडा, परिहरणीयः-निवारणीयः, इति हेतोः-अनुयात्रिकान्-अनुगतान् सैनिकान्। अनुयात्रा-पश्चादागमनेन संवृत्ता इत्यनुयात्रिका इति व्युत्पत्तिवाक्यम्। तेन हि तपोवनस्योपरोधो मा भूदिति भावः।

(३) विदू-इति प्रहृष्टो नर्मसचिवः सचापल्यमाह-युवराजेति। मया सह गमनेन राजानुयात्रिकाणां ममानुयात्रिकत्वेनैव युवराजः-राजकुमारः, संवृत्तोऽस्मि-भवामि। तथाविधगमनाटोपसम्भावनादिति भावः। 'युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः' इति नाट्योक्तावमरः।

(४) राजेति। अथ विदूषकस्य विसर्जने किञ्चिद्दोषमाशङ्कते;-चपल इति।

---

(१) विदूषक—तो फिर मैं राजा के छोटे भाई की तरह जाना चाहता हूँ।

(२) राजा—हमें इस तपोवन को नुकसान से बचाना है, इसलिए अपने सब अनुचरों को मैं तुम्हारे ही साथ लौटा दूँगा।

(३) विदूषक—(गर्व से) तो अब मैं युवराज हो गया।

(४) राजा-(स्वगत) यह ब्राह्मणबालक चंचल है, कहीं मेरी (शकुन्तलासम्बन्धी)

प्रार्थनामन्तःपुरिकाभ्यो निवेदयेत् । भवत्वेवं तावद्बुद्ध्यामि । [विदूषकस्य हस्तं गृहीत्वा प्रकाशम् ।] सखे ! माधव्य ! ऋषिगौरवादाश्रमपदं प्रविशामि, न खलु सत्यमेव तापसकन्यायामभिलाषो मे । पश्य—

क्व वयं, क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सह वर्द्धितो जनः ।
परिहासविजल्पितं सखे ? परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥ १९ ॥

चपलः–अव्यवस्थितचित्तः, ब्राह्मणबटुः–ब्राह्मणबालकः, बटुरिति ब्राह्मणनिन्दायाम्, अल्पवयस्कत्वेन वाच्यावाच्यादिविवेकशून्यहृदय इत्यर्थः । इमां–शकुन्तलाविषयिकाम्, अस्मत्प्रार्थनां–मम लिप्साम्, अन्तःपुरिकाभ्यः–अन्तःपुरस्थायिनीभ्यः प्रथमोढाभ्यः स्त्रीभ्यः । निवेदयेत्–अस्मद्वृत्तान्तप्रसङ्गेन कथयेत् सम्भावनायां लिङ् । इति सम्भावयामीत्यर्थः । तथात्वे चादाक्षिण्यप्रसङ्गेन दोषः स्यादिति भावः । अथ तत्परिहारं विमृशन्नाह;–भवत्वित्यादि । एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण । हस्तं गृहीत्वेत्यनेन नर्मसख्यं व्यज्यते । ऋषिगौरवात् । ऋषीणां सम्मानार्हत्वेन तदनुरोधस्य सर्वतो रक्षणीयत्वादित्यर्थः । अत्र प्रथमं प्रकाशितस्य शकुन्तलानुरागप्रकाशनरूपवृत्तान्तस्य ऋषिगौरवपालनव्याजेनापलापकरणाय हस्तधारणरूपव्यापारेण नर्मसचिवस्यानुनयकरणात् प्रतिमुखसन्धेः पर्युपासनं नामाङ्गम् । यदुक्तं विश्वनाथेन—

'कृतस्यानुनयं पुनः । स्यात्पर्युपासनम्' । इति ॥

किञ्च विपर्ययो नाम नाट्यलक्षणमपि । तल्लक्षणं त्विदम्—

'विचारस्यान्यथाभावः सन्देहात्तु विपर्ययः ।' इति ॥

क्वेति । वयं–सकलकलाकोविदा नागरिका जना इत्यर्थः । वयमित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम् । तेनानेकराजोपचारयुक्तत्वं नानावैदग्ध्यकुशलत्वं च द्योत्यते । क्व–कुत्र, वर्त्तामहे इति शेषः । मृगशावैः–हरिणशिशुभिः सह वर्द्धितः–प्रतिपालितः कण्वेनेति भावः, वर्द्धितपदार्थसमर्थनार्थं शावपदम् । 'सममेधित' इति पाठे समानोऽर्थः । अत एव परोक्षः–कंश्चिदपि करणैरगोचरीभूतः मनो मथ्नातीति मन्मथः–कामो येन स एकान्ततोऽपि मुग्ध इत्यर्थः, जनः–शकुन्तलारूपजनः, क्व–कुत्र वर्त्तते, क्वेत्यधिकरणाक्षेपे । द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः । तथा हि वयं तादृशो जनश्चेत्युभयमेकस्मिन्नभिलाषरूपेऽधिकरणे कर्तृत्वेन कर्मत्वेन च नान्वयमाप्तं शक्नो-

प्रार्थना को रानियों से न कह दे । अच्छा, मैं इसके लिये समझा दूंगा । (विदूषक का हाथ पकड़ कर प्रकटरूप से) मित्र माधव्य ! ऋषियों के गौरव का ख्याल करके ही मैं तपोवन में रुक रहा हूँ । उस तपस्वि–कन्या की अभिलाषा सम्बन्धी बात सच नहीं है । देखो—

कहाँ हम और कहाँ कामकला से एकबार भी अनभिज्ञ तथा हिरनों के बच्चों के साथ पली हुई वह । अतएव हे सखे ! हँसी-हँसी में मैंने जो कुछ कहा था, उसे सच न मान लेना ।

विदू—एवमेतत् (१) (एवण्णेदं)

राजा—माधव्य ! त्वमपि स्वनियोगमनुतिष्ठ, अहमपि तपोवनरक्षार्थं तत्रैव गच्छामि (२) ।

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे] (३)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

तीत्यर्थः । अतः परमार्थमिति मा मंस्था इत्याह;—परिहासेत्यादि । अत एव हे सखे ! परिहासेन-कौतुकेन विजल्पितं-विविधं संजल्पितम्, अनर्थकमभिहितमित्यर्थः, वचः-शकुन्तलानुरागविषयकं पूर्वोक्तं वचनजातम्, परमार्थेन-यथार्थरूपेण, प्रकृत्यादित्वात् तृतीया, न गृह्यतां-सत्तया नावधार्यताम्, प्रायशः परिहासगर्भवचनजातस्यालीकत्वादिति भावः । ननु अनृतभाषणमसङ्गतमिति चेत्, सत्यम्, अनृतभाषणस्यासङ्गतत्वेऽपि प्रकृते नर्मण्यनृतं न निषिद्धम् । यथोक्तम्—'न नर्मयुक्तं ह्यनृतं हिनस्ति' । इति ।

यद्यपि 'न वितथा परिहासकथास्वपी'त्याद्याचारदर्शनादनृतोक्तिर्न युक्ता तथापि धीरोदात्तत्वपरिपालनार्थं नायकेनैवमुपन्यस्तम् । अथवा न खलु सत्यमेवेत्यत्र ऋषिगौरवान्न खलु गच्छामि किन्तु सत्यमेव शकुन्तलायामभिलापः । अत्र वयमिति परोक्षमन्मथो जन इति परस्परविरुद्धयोः संघटनरूपो विषमालङ्कारः तथा परोक्षमन्मथत्वमुद्दिश्य मृगशावैः सह वर्द्धितत्वरूपस्य वाक्यार्थस्य हेतुत्वेन विधानाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । अनयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः । अत्र परिकर इति केचित् । सुन्दरी वृत्तम् । 'अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः समरा लगौ यदि सुन्दरी तदा' इति लक्षणात् ॥ १९ ॥

(१) विदू इति । एतत्-पूर्वोक्तम्, एवं-परिहासविजल्पितमेवेत्यर्थः । तन्मया परमार्थेन नावधृतमिति भावः ।

(२) राजेति । स्वनियोगं-ममादेशं, नगरगमनाय त्वां प्रत्याज्ञाम्, अनुतिष्ठ-परिरक्ष । तत्रैव-शकुन्तलावाससमीपभूमावेव ।

इति किशोरकेलिव्याख्यायां द्वितीयोऽङ्कः समाप्तः ।

---

(१) विदूषक—ठीक है ।

(२) राजा—माधव्य ! तुम अपने कर्तव्य का पालन करो और मैं तपोवन की रक्षा के लिए वहाँ ही जाता हूँ ।

(३) (सब जाते हैं) ।

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्यः (१)]

शिष्यः—[विचिन्त्य सविस्मयम्] अहो ! महाप्रभावो राजा दुष्यन्तः; येन प्रविष्टमात्र एवाश्रमं तत्रभवति सारथिद्वितीये राजनि निरुपप्लवानि नः कर्म्माणि संवृत्तानि (२) ।

काशीं प्राकाशयद् यः सकलतनुभृतां श्रेयसे सानुकम्पः
सम्पन्नः सर्वशक्तया सुरनरनिकरैः स्तूयमानाङ्घ्रिपद्मः ।
सद्यः पापानि यस्य प्रशमयति शिरःसङ्गतो गाङ्गतोयं
सोऽयं श्रीव्योमकेशः कलयतु कुशलस्तोममस्मिन् निबन्धे ॥

(१) अथ पूर्वोत्तरवस्तुवृत्तसंघटनाय विष्कम्भकरचनामुखेन कथामारभते-तत इति । पूर्ववृत्तानन्तरमित्यर्थः । कुशान् यागार्थं दर्भान्, आदाय-वनादानीय, यजमानशिष्यः;-यागाय प्रवृत्तो यजमानः स चासौ शिष्यश्चेत्यर्थः । यद्वा यजमानस्य-याज्ञिकस्य मुनेः कण्वस्य, शिष्यः ।

(२) शिष्य इति । अथ शिष्यः कुशानाददान उटजमाव्रजन् पथि राजप्रभावं विचिन्तयन् सविस्मयमाह-अहो इति । विस्मयस्य विभावमाह;-महानुभाव इत्यादि । महान् अनुभावो यस्य सः-महातेजाः, अनभिभवनीयताप्रतीतिहेतुप्रभावविशेष इत्यर्थः, 'अनुभावः प्रभावे च' इत्यमरः । राजेत्यनेन प्रभुशक्तिसम्पद्दुष्यन्त इत्यनेन तपस्विनां वात्सल्यातिशयश्च द्योत्यते । प्रभावमहत्तां कारणप्रदर्शनमुखेन व्याचष्टे;-येनेत्यादिना । येन-हेतुना, प्रविष्टमात्र एव-प्रविष्टे सत्येव, यद्वा प्रवेशकाल एवेत्यर्थः, मात्रैवाभ्यां कालविलम्बाभावः सूच्यते । तत्रभवति-मान्ये, सारथिर्द्वितीयो यस्य तस्मिन्-बहुसहायरहिते इत्यर्थः, राजनि, आश्रमपदं प्रविष्टमात्रे एव वा सम्बन्धः । अत्र राजपदेन दुष्टनिग्रहशिष्टानुरञ्जनादि द्योत्यते । नः-अस्माकं कर्माणि-यज्ञकार्याणि, निरुपप्लवानि-उपद्रवशून्यानि, संवृत्तानि-निष्पन्नानि । अत्र राक्षसनिराकरणरूपकारणे वक्तव्ये कार्यरूपकर्मनिरुपद्रवतोक्तेः पर्यायोक्त्यलङ्कारः ।

---

(१) (तदनन्तर कुश लिये और यज्ञ में प्रवृत्त एक ऋषिशिष्य का प्रवेश ।)

(२) शिष्य—(सोचकर विस्मय के साथ) ओह ! राजा दुष्यन्त बड़े प्रभावशाली हैं, केवल सारथी को अपने साथ लिए उस राजा के आते ही हम लोगों के यज्ञकार्य बिना किसी उपद्रव के सम्पन्न हो गये । क्योंकि :—

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हुङ्कारेणेव धनुषः स हि विघ्नान् व्यपोहति ॥ १ ॥ निरस्यति

यावदेतान् वेदिसंस्तरणार्थं दर्भान् ऋत्विग्भ्य उपाहरामि। [परिक्रम्या- वलोक्य च। आकाशे।] (१) प्रियंवदे! कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च

कथं निरुपप्लवानीत्यत्राह—का कथेति। बाणसन्धाने-धनुषि बाणारोपणे, का कथा? किमुच्यते? कमुत्येनार्थापत्तिः, यद्वा बाणसंधाने विषये का कथा-तत्प्रसङ्ग एव नास्तीत्यर्थः। तद्धेतुमाह-ज्येत्यादि। हि यतः, सः राजा, दूरतः-दूरात्, धनुषः-कोदण्डस्य हुङ्कारेणेव-हुमिति शब्देनेव, ज्याशब्देनैव-मौर्वीध्वनिनैव, विघ्नान्-अन्तरायभूतान्, यज्ञविघ्नकारिणो राक्षसानित्यर्थः, व्यपोहति-अपसारयति। दूरत इत्यत्राप्यन्वेति। अत्र का कथेत्यर्थापत्त्यलङ्कारः, हुङ्कारेणेवेति उत्प्रेक्षा, सा च गुण-निरूपिता, अनयोर्मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। दूरत इत्यनेन विघ्नानां प्रत्यासत्तिनिरा-सत्वं द्योत्यते। उत्प्रेक्षायां तु विघ्नदूरीकरणं निमित्तं ज्याशब्दस्यानायाससाध्यत्वं भयाव-हत्वमव्यभिचारि निग्रहसामर्थ्यं च द्योत्यते। धनुषो मुनित्वप्रतीत्या समासोक्तिग-र्भेयमुत्प्रेक्षा रूपकगर्भा वा। हुंकारेणेव धनुषो ज्याशब्देनेति वा सम्बन्धः। उप-मया धनुषो मुनिसाम्यं गम्यत इति केचित्। काव्यलिङ्गमित्यपरे। अत्र हि वीरो रसो मुनिनिष्ठविस्मयादेरङ्गम्, विस्मयादिभिश्च राजविषयिका रतिरुपस्क्रियते। अत्र कुलकुण्डलिनीविषयसमाधिः, विघ्ननिवारकत्वेन हुङ्कारस्य कवचत्वं प्रसिद्धम् ॥ १ ॥

(१) यावदिति। अनेन स्वकृत्यमनुसन्दधाति। यावदिति वाक्यालङ्कारे वेद्यां-यागार्थंविरचितपरिष्कृतभूमौ संस्तरणार्थं-पातनार्थम्, 'वेदिः परिष्कृता भूमिः' इत्यमरः। वक्ष्यति च 'प्रान्तसंस्तीर्णदर्भा' इतीति पूर्वापरवाक्ययोः सङ्गतिः। दर्भान् कुशान्, ऋत्विग्भ्यः-याजकेभ्यः, उपनयामि-समर्पयामि, वर्तमानसामीप्ये लट्। परिक्रम्य-यज्ञशालागमनार्थमीषत्पादप्रक्षेपं कृत्वा, अवलोक्य-प्रियंवदाकर्तृकं नलिनी-पत्रानयनं विलोक्य। आकाशे-निरालम्बे, रङ्गभूमौ प्रियंवदाभावेऽपीत्यर्थः।

'किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥'

यस्य-जनस्योपभोगाय, कस्येति सामान्ये नपुंसकं वा, उशीरानुलेपनं-पिष्ट वीरणमूलम्, 'स्याद् वीरणं वीरतरं मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्' इत्यमरः। शरीर

बाण के सन्धान की तो बात ही क्या! हुङ्कार सरीखे केवल प्रत्यञ्चा का टंकार करते ही, वह विघ्नों को दूर कर दिया करता है ॥ १ ॥

(१) चलो, वेदीपर बिछाने के लिए ये कुश ऋत्विजोंको दे आऊँ। (आगे बढ़कर देखता है। आकाश की ओर मुख करके) प्रियंवदे! तुम यह उशीर (खश) का लेप और मृणाल-

नलिनीदलानि नीयन्ते ? [श्रुतिमभिनीय ।] किं कथयसि 'आतपलङ्घनाद्बलवदसुस्थशरीरा शकुन्तला, तस्याः शरीरनिर्वापणाय' इति ? प्रियंवदे ! यत्नादुपचर्य्यताम् , सा हि तत्रभवतः कुलपतेर्द्वितीयमुच्छ्वसितम् ।

निर्वापणायेत्यपकृष्यत इति केचित् । मृणालवन्ति—मृणालसनाथानि, नलिनीदलानि-अरविन्दपलाशानि, नीयन्ते-प्राप्यन्ते, त्वयेति शेषः । इदं हि सर्वं 'स्तनन्यस्ते'ति वक्ष्यमाणोपयोगि । श्रुतिमभिनीय-श्रवणं रूपयित्वा, आकर्णनायेव कर्णं दत्त्वेति यावत् । भावनया तदुत्तरमनूद्य पृच्छति;-किमित्यादि । आतपलङ्घनात्—आतपो ग्रीष्मस्तस्य लङ्घनात्-प्राप्तेः, यद्वा आतपः-सूर्यप्रकाशस्तत्र लङ्घनात्-सञ्चारात्, यद्वा आतपेन-रवितापेन लङ्घनात्-उद्यानपरिष्कारादिकर्मणि प्लवनात्, शरीरव्यापनादित्यर्थः, 'लङ्घनं तूपवासे स्यात् क्रमणे प्लवनेऽपि च' इति मेदिनी, बलवत्-अत्यर्थम् असुस्थं-तपनक्लिन्नतयाऽप्रकृतिस्थं शरीरं यस्याः सा । शकुन्तलेत्यस्वास्थ्याल्लालनीयत्वं द्योतयति । एतेन वक्ष्यमाणः कथांशः सूचितः । तस्याः—शकुन्तलायाः शरीरनिर्वापणाय-शरीरस्य सन्तापोपशमनाय । इतीति किं कथयसीति वाक्येन साकमन्वयः । इत्यन्तं प्रियंवदावाक्यानुकरणम् । देहस्य तापोपशमनायोशीरानुलेपनविधिमाहुश्चरकाः—

'फलिनीलोध्रसेव्याम्बु हेमपत्रं कुटन्नटम् । कालीयकरसोपेतं दाहे शस्तं प्रलेपनम् ॥'

सेव्यं नामोशीरम् 'अभयं नलदं सेव्यममृणालं जलाशयम्' इत्यमरोक्तेः ।

सुश्रुतस्तु—

'शीतं विधानमत ऊर्द्ध्वमहं प्रवक्ष्ये दाहप्रशान्तिकरमृद्धिमतां नराणाम् ।
तत्रादितो मलयजेन हितः प्रदेहश्चन्द्रांशुहारतुहिनोदकशीतलेन ॥'
'शीताम्बुशीतलतरैश्च शयानमेव हारैर्मृणालवलयैरबलाः स्पृशेयुः ।
भिन्नोत्पलोज्ज्वलहिमे शयने शयीत पत्रेषु वा सजलबिन्दुषु पद्मिनीनाम् ॥' इति ॥

एवञ्च—'दाहाभिभूतमथवा परिषेचयेत्तु शीतैरुशीरजलचन्दनवारिभिस्तत् ।' इत्यपि ॥

हि-यतः, सा-शकुन्तला, तत्रभवतः-पूज्यस्य, कुलपतेः-अयुतशिष्यपोषकस्य कण्वस्य, द्वितीयम्-अपरम्, उच्छ्वसितं-जीवनम्, बहिश्चरप्राणभूता सेत्यर्थः, तथैव तदुपरि तेन स्नेहकरणादिति भावः । कुलपतेरुच्छ्वसितमित्यादिनाऽस्माकमप्युच्छ्वसितमेवेति द्योत्यते । सा द्वितीयमुच्छ्वसितमिति रूपकम् । तत्र शकुन्तलोच्छ्वसितयोर्भेदेऽपि अभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिरिति केचित् । जीवनवद् वत्सलेति तात्पर्यम् । अत एवाहमपि सहकरिष्यामीत्याह;-अहमपीत्यादि । वैतानिकं-यागसम्भवम्,

युक्त कमल के पत्ते किसके लिए ले जारही हो ? (सुनकर) क्या कहती हो, लू लग जाने से शकुन्तला का शरीर अस्वस्थ हो गया है, उसी को आराम करने के लिए ? प्रियंवदे ! बड़ी

अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्या एव गौतमीहस्ते विसर्जयामि ।

[इति निष्क्रान्तः ।]

विष्कम्भकः (१) ।

[ततः प्रविशति समदनावस्थो राजा । (२)]

'क्रतुविस्तारयोरस्त्री वितान' मित्यमरः, शान्त्युदकं-शान्त्यर्थमुदकम्; तापशान्तिकरं यागीयजलशेषं तीर्थजलमित्यर्थः, अस्यै-शकुन्तलायै एव; शकुन्तलार्थमेव गौतम्याः-तदाख्यायाः कण्वस्य धर्मभगिन्याः शकुन्तलामातृस्थानीयायाश्च कस्याश्चित् तापस्याः, हस्ते विसर्जयामि-प्रेरयामि, केनचिद्दृत्विजेति शेषः । इति उक्त्वेति शेषः ।

(१) विष्कम्भक इति । विष्कम्भाति-वियोजयति पूर्वापरकथाभाग यः सः तदाख्यः कथाभागविशेष इत्यर्थः । तदुक्तं दर्पणकृता—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात् स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥ इति ।

प्रकृते च 'अहो महाप्रभावो राजा दुष्यन्तः' इत्यारभ्य 'स हि विघ्नान् व्यपोहति' इत्येतदन्तं वृत्तकथांशनिर्देशश्च । 'प्रियंवदे कस्येदमि' त्यारभ्य 'गौतमीहस्ते विसर्जयामि' इत्येतदन्तं वर्तिष्यमाणकथांशनिर्देशश्च । एवं वृत्तवर्तिष्यमाणोभयकथांशनिदर्शनादयं विष्कम्भकः । केचित्तु-वृत्तांशेऽनिरूपितेऽपि वर्तिष्यमाणमात्रनिदर्शनादेवायमत्र प्रकृते विष्कम्भक इति प्राहुः, तच्चिन्त्यम् । स च यजमानशिष्यरूपमध्यमपात्रेण प्रयोजितत्वेन शुद्धो बोध्यः । संस्कृतभाषिमात्रसम्प्रयोजितः शुद्धस्तदितरमिश्रितभाषिपात्रयोजितस्तु संकीर्ण इति रहस्यमनुसन्धेयम् ।

(२) अथोद्वृद्धानुरागयोर्नायकयोर्मदनावस्थावर्णनेन विप्रलम्भं सोपस्कारं प्रदर्शयिष्यन् आदौ नायकप्रवेशमाह-तत इति । मदनावस्थया सह वर्तत इति समदनावस्थः—उत्कण्ठादिस्मरदशाक्रान्तः 'कामयमानावस्थ' इति क्वचित् पाठः, तत्र कामयमानस्य-विरहिणः अवस्थाऽस्यास्तीति स एवार्थः । अर्शादित्वादच् । कामयमानस्यावस्था यस्येत्यवस्थायां कामयमानत्वमारोप्य कामयमाना अवस्था यस्येति विग्रह इति केषांचिद् व्याख्यानम् । 'कामयानमावस्थ' इत्यपि क्वचित् पाठः तत्रः,—

सावधानी से उसकी सेवा करो, वह पूज्य कुलपतिका दूसरा प्राण है । मैं गौतमीके हाथोंसे यज्ञका शान्तिजल उसके लिए भेजता हूँ । (इतना कहकर प्रस्थान) ।

(१) विष्कम्भकः ।

(२) (इसके बाद से सकामभावसे राजा दुष्यन्त का प्रवेश ।)

राजा—[सचिन्तं निःश्वस्य ।] (१)—

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम् ।
न च निम्नादिव सलिलं निवर्त्तते मे ततो हृदयम् ॥ २ ॥

कामस्य याने = उद्गमे या अवस्था उत्कण्ठादिः सा यस्यासावित्यर्थः । तदवस्थास्तु-
'दृङ्मनःसर्वसङ्कल्पो जागरः कृशता रतिः ।
ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ताः' । इत्याद्युक्ताः । राजा—दुष्यन्तः ।

(१) राजेति । चिन्तया-शकुन्तलानुस्मृत्या सह वर्त्तत इति सचिन्तम्, स्मृतिश्च प्रगाढानुरागवशाद् बोध्या । क्वचित् सचिन्तमिति पदं नास्ति । निःश्वस्य-दीर्घनिःश्वासमुत्सृज्येत्यर्थः । चिन्तायां दीर्घनिःश्वासत्यागस्तु सर्वत्र स्वाभाविकः ।

अथ समदनावस्थो राजा मनसि तत्प्राप्त्यर्थं कञ्चिदुपायमालोचयन् झटिति तस्य वैषम्यसाधकत्वं निरूपयन् सविह्वलमाह—जाने इत्यादि । तपसः-तपस्यायाः, मुनीनामिति भावः, 'तपस' इति सामान्येनैकवचनम् 'तत् सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' इत्यादिवत्, वीर्यं-सामर्थ्यं,निग्रहानुग्रहसामर्थ्यरूपं प्रभावमिति यावत्, जाने-अहमवगच्छामि, जाने इति विश्वासं द्योतयति, तथा च तस्याः बलादपहरणे रहःसम्भोगे वा कदाचित्तज्जानन् मुनिस्तपसः प्रभावेण मां भस्मसात् करिष्यतीति बलादपहारो रहःसङ्गमो वा न कार्यं इति कार्यरूपः प्रस्तुतार्थः प्रतीयते । अथ त्वयि सा अनुरागिणी यदि स्वयं सङ्गमाय प्रवर्त्तेतेत्यत्राह—सेति । सा बाला-शकुन्तला, सेत्यनुभूतार्थकं कटाक्षमन्दस्मितादीनां स्मृतिं ततस्तस्याः, स्वानुरागञ्च द्योतयति, बालेति कर्त्तव्यानवबोधा द्योत्यते, परवती—पराधीना, गुर्वायत्ता इति यावत्, इति मे-मम, विदितं-ज्ञातम्, एतेन बालतया कर्त्तव्यविमूढा सा सख्युपदिष्टाऽपि पराधीनतया न प्रवर्त्तितुं क्षमेतेति सख्यनुमतिद्वारेण सङ्गमोऽपि दुराप इति पूर्ववत् प्रस्तुतार्थो गम्यते । अतस्तस्या आत्मदानमपि न सम्भवतीति भावः । मे विदितमित्यत्र 'मे' इति नपुंसके भावे क्तस्य शेषविवक्षया कर्त्तरि वा षष्ठी । नन्वेवं चेत्ततो मनो निवर्त्यतामित्यत्राह—न चेति । निम्नात्-नीचैर्भूतलभागात्, सलिलं-जलमिव, ततः-शकुन्तलातः, मे-मम, हृदयं-चेतः, न निवर्त्तते-नोत्थातुमर्हति, न पराङ्मुखं भवतीत्यर्थः, शकुन्तलातो मनो न निवर्तयितुं शक्नोमीति भावः । 'अलमस्मि ततो

(२) राजा—(सचिन्तभाव से ठण्डी साँस लेते हैं)—

मैं तपस्या का बल जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि शकुन्तला पराधीन है । फिर भी जैसे किसी नीची जगह से जल ऊपर को (अपने आप) नहीं चढ़ता, उसी तरह मेरा मन उसकी ओर से फिरता ही नहीं है ॥ २ ॥

भगवन् ! मन्मथ ! कुसुमायुधस्य सतस्तैक्ष्ण्यमेतत् । [स्मृत्वा] आं ज्ञातम् (१)—

अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस्त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ ।
त्वमन्यथा मन्मथ ! मद्विधानां भस्मावशेषः कथमेवमुष्णः ॥ ३ ॥

हृदयं तथापि नेदं निवर्त्तयितु'मिति क्वचित् पाठः, यत्र-ततः शकुन्तलायाः सकाशात्, हृदयं-चेतः, निवर्त्तयितुं-प्रत्यावर्त्तयितुम्; नालमस्मि-न समर्थो भवामीत्यर्थः। अत्र प्रथमार्द्धे कारणनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसा। द्वितीयार्द्धे श्रौतोपमालङ्कारः। आर्या जातिः ॥ २ ॥

(१) भगवन्निति। हे भगवन् !-माहात्म्यशालिन् ! सर्वत्र समानसामर्थ्यप्रकाशनादिति भावः, 'भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु' इत्यमरः, मनो मथ्नातीति तत्सम्बोधने हे मन्मथ !-काम ! यद्वा मां मथतीति मन्मथ-मम सन्तापक ! मथतेरच्प्रत्ययः। कुसुमं-पुष्पमात्रम् आयुधम्-अस्त्रं यस्य तथाभूतस्य-पुष्पशरस्येत्यर्थः सतः, कुसुमायुधस्येत्यनेनालौकिकं तव धनुर्धरत्वमायुधस्य स्वतः परपीडाक्षमत्वं च द्योत्यते। एतत्-ईदृशं तैक्ष्ण्यम्-उग्रता। एवञ्च भवतः कुसुमायुधत्वेन कुसुमधर्मस्य मृदुत्वस्यैव सम्भाव्यमानत्वे ईदृशी उग्रताऽऽश्चर्यकर्यवेति भावः। अत्र कारणविरुद्धगुणोत्पत्तेर्विषमालंकृतिः, यथोक्तमालोके—

'विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम्' इति। स्मृत्वा-स्मरणप्रकारं रूपयित्वा, स्मरणकालीनप्रकारस्तु भ्रूविकुञ्चनालचयावलोकनादिरूपः। चिन्तया तीक्ष्णताबीजनिश्चयादाह-आमिति। आमिति स्मरणार्थमव्ययम्, 'आं' ज्ञाने निश्चयस्मृत्योः' इति मेदिनी, ज्ञातं-कुसुमायुधस्य पुष्परूपस्यापि शरस्य च तीक्ष्णताबीजमवगतमित्यर्थः।

ज्ञानप्रकारं विविच्छिरया व्याचष्टे—अद्यापीति। हे मन्मथ !-काम !, अम्बुराशौ-समुद्रे, 'वारिराशिरब्धा'विति शब्दार्णवः, और्वः—वाडवाग्निरिव 'और्वस्तु वाडवो वडवानलः' इत्यमरः, हरस्य-त्र्यम्बकस्य (रुद्रस्य) कोपवह्निः-क्रोधोद्भूतकपाललोचनाग्निः, अद्यापि—इदानीमपि, बहुतिथे काले गतेऽपीत्यर्थः, त्वयि—मन्मथे, ज्वलति-दीप्यते, न निर्वाणतां गत इत्यर्थः, इति नूनं-ध्रुवम्। अन्यथा-नो चेत्, निर्वाणतां गतश्चेत्तदेत्यर्थः, भस्मैव अवशेषः-चरमदशा यस्य तथाभूतो भस्ममात्रा

(१) भगवन् मन्मथ ! तुम तो कुसुमायुध हो, फिर तुम में इतनी प्रखरता कहाँ से आयी ? (स्मरण करके) ओह ! समझ गया—

समुद्र के वडवानल की तरह महादेव का क्रोधानल आज भी तुम्हारे शरीर में धधक रहा है। ऐसा न होता तो हे कामदेव ! भस्ममात्र अवशिष्ट रहते हुए तुम हमलोगों के लिए इतने गरम कभी न होते ॥ ३ ॥

अपि च—त्वया चन्द्रमसा च अतिविश्वसनीयाभ्यामभिसन्धीयते कामिसार्थः । कुतः (१)—

वशिष्ट इत्यर्थः । रुद्रेण दग्धीकरणादिति भावः, त्वं-मन्मथः, मद्विधानां-मादृशानां-विरहविधुराणां कृते इति तात्पर्यम्, कथम्—केन वा हेतुना, एवं—अनेन प्रकारेण, उष्णः—सन्तापको भवसीति शेषः ।

पुरा किल अयोनिजं पुत्रम् प्रेप्सुनोर्वेण महर्षिणा स्वौरसो निर्मन्थनेनोत्पादितः पुत्रोऽम्बुराशौ वडवामुखे निहित इति पुराणादावनुसंधेयम् । स एवौर्व इति प्रख्यायते । तथा च उर्वस्यापत्यं पुमानौर्वः—वडवानल इति विग्रहः संगच्छते ।

तथा पुरा देवसन्तापकतारकनामासुरस्य वधार्थमुपायकरणाय ब्रह्मणः सकाशं सकला देवा आगत्य तं तुष्टुवुः, स्तुतिभिः सन्तुष्टो ब्रह्मा 'सेनानीजननायोग्रयोगभङ्गकरणाय यत्न आदौ करणीय' इति देवानुपदिदेश; ततो ब्रह्मान्तिकादागतैरिन्द्रमुख्यैर्देवैरादिष्ट उग्रयोगभङ्गाय तदुपरि विक्षिप्तसायको मकरध्वजः क्रुद्धस्योग्रस्य कोपवह्निना निर्दग्धतां गत इति कथा शैवागमादिष्वनुसन्धातव्या । अत्रोष्णत्वेन वह्निमत्त्वसाधनान्मन्मथे हरकोपानलज्वलनसद्भावानुभवरूपवैचित्र्यज्ञानादनुमानालंकारः, यदुक्तं दर्पणकृता—

'अनुमानन्तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्' । इति ।

यद्वात्र पूर्वार्द्धार्थं प्रति उत्तरार्द्धार्थस्य हेतुत्वात्काव्यलिङ्गालंकारः, स च अम्बुराशावौर्व इवेत्युपमालंकारघटितः-इति केचित् । ममेत्यनभिधाय मद्विधेत्यभिधानादप्रस्तुतप्रशंसा च । हरकोप एव वह्निरिति रूपकम् । नूनमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकतयात्रोत्प्रेक्षालंकार इति केचित्, तन्न, नूनमित्यस्य निश्चयार्थकत्वेनैवात्रानुभूयमानत्वात्, अनिश्चितत्वेन प्रतीतेरुत्प्रेक्षेति सर्वानुभवसिद्धत्वात् । 'ज्ञप्तिः केनचिदंशेन किञ्चिद्यत्रानुमीयते' । इति । दर्पणोक्त्येह ज्ञप्तिर्नाम नाट्यलक्षणम् ॥ ३ ॥

(१) इदानीं कामस्य चन्द्रमसा सहोपालम्भकरणायारभते—अपि चेति त्वया-मन्मथेन, चन्द्रमसा-चन्द्रेण च, युवाभ्यामित्यर्थः, अतिविश्वसनीयाभ्यां-मृदुत्वेनातिविश्वस्ताभ्यां सद्भ्यामित्यर्थः, कामिसार्थः—कामुकगोष्ठी, अभिसन्धीयते—तीव्रताप्रकाशनात् प्रतार्यते । 'वञ्चनं चाभिसन्धानं व्यलीकञ्च प्रतारणम्, इति हेमचन्द्रः ।

---

(१) तुम तथा चन्द्रमा संसार के बड़े विश्वासपात्र हो, फिर भी तुम दोनों मिलकर कामियों को सताते हो । क्योंकिः—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥ ४ ॥

तदेव वञ्चनानिदानं व्याचष्टे—तवेति। तव मन्मथस्य वञ्चकस्येत्यर्थः, कुसुमानि-पुष्पाणि शराः-सायका यस्य तस्य भावस्तत्त्वं पुष्पबाणसंज्ञत्वमित्यर्थः, कुसुमशरत्वमित्यनेन शराणां कोमलत्वसौम्यत्वादयो द्योत्यन्ते, इन्दोः-चन्द्रमसः, शीता-शीतला रश्मयः-कराः यस्य तस्य भावस्तत्त्वं हिमांशुसंज्ञत्वमित्यर्थः, शीतरश्मित्वमिति शैत्यकारित्वमेव सम्भाव्यं न तापकारित्वं किं पुनर्दाहकत्वमिति ध्वनितम्, इदं द्वयम्-एतदुभयम्, मद्विधेषु—मादृशेषु विरहिषु विषये, अयथार्थम्-अनन्वर्थसंज्ञत्वं विरुद्धार्थमिति यावत्, दृश्यते-ज्ञायते, यथा हि कुसुमशरस्यापि तव मामुद्दिश्या-कुसुमशरत्वं जातं शीतरश्मेरपीन्दोरुष्णरश्मित्वं जातमिति भावः। उक्तमर्थं साधयति-विसृजतीति। इन्दुः-चन्द्रमाः, हिमं गर्भे-अभ्यन्तरे येषां तैस्तथोक्तैः मयूखैः रश्मिभिः अग्निम्-अनलम्, विसृजति—विशेषेण वर्षति, रश्मीनामन्तर्हिमं तदंतश्चाग्निरिति भावः, ननु तदानीं मध्याह्नत्वेन चन्द्रोदयासम्भवात् सम्भवेऽप्यकिञ्चित्करत्वात् कथं वर्त्तमानत्वम्, उच्यते, तदापि दुःखातिशयेन तदनुसन्धानाद् वर्तमाननिर्देशः। त्वमपि-तथा मन्मथोऽपि, कुसुमबाणान्—पुष्पतया परिदृश्यमानान् सायकान्, वज्राणां सार इव सारो बलं येषां ते वज्रसाराः, 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः, वज्रसारो नामायोविशेष इति अवज्रसारान् वज्रसारान् करोषीति वज्रसारीकरोषि—वज्राणामिव कुसुमानां काठिन्यमाधाय प्रहरसीत्यर्थः। अहो युवयोर्वञ्चनावैदुष्यमिति भावः। 'अभूततद्भावे च्विप्रत्ययः'। अत्र क्रमभंगेऽपि राज्ञ उन्मादव्यञ्जकत्वाद् गुणत्वमेव केचित्तु चन्द्रप्रसङ्गस्य दृष्टान्तार्थकत्वाद्—

'उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ'। (र० स० ३।२३)

इति रघुकाव्यवद् दृष्टान्तकथनेन प्रतिज्ञार्थे स्थिरीकृते पश्चाद्दार्ष्टान्तिककथने तत्प्रतीतेः सौकर्यमिति तवेत्याद्युद्देश्यक्रमेण पश्चान्निर्देष्टव्यस्यापि चन्द्रस्य पूर्वनिर्देश इति नात्र तद्दोष इत्याहुः। कथितपदत्वदोषोऽप्यत्रोन्मादोक्तित्वादेव समाधेयः।

अत्र हि 'मयि इति विशेषे वक्तव्ये मद्विधेष्विति सामान्यवचनादप्रस्तुतप्रशंसा।

तुम्हारा कुसुमायुध होना और चन्द्रमा का शीतरश्मि कहा जाना, ये दोनों बातें हम जैसे के लिए यथार्थ नहीं हैं। चन्द्रमा अपनी हिम से भरी हुई किरणों के द्वारा आग बरसाता है और तुम अपने कुसुमसायकों को वज्र की तरह तीक्ष्ण बना रहे हो ॥ ४ ॥

अथवा (१)

अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजामावहन्नभिमतो मे ।
यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ॥ ५ ॥

कुसुमबाणानित्यत्र कुसुमेषु यद्बाणत्वमारोपितं तद्विरहदुःखदत्वेन प्रकृतोपयोगीति परिणामश्च 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इति तल्लक्षणात् । वज्रसारीकरोषीत्यत्रोपमा, सा च समासगता । प्रधानतया कुसुमशरत्वस्य शीतरश्मित्वस्य चायथार्थत्वं प्रति परार्द्धवाक्यार्थद्वयस्य हेतुत्वेनोपन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, हिमगर्भेभ्यो मयूखेभ्योऽग्निविसर्गोत्पत्तेः कुसुमबाणेभ्यो वज्रवत्प्रहारोत्पत्तेश्च विषमालङ्कारद्वयञ्च । केचित्त्वत्रापह्नुतिमलङ्कारं प्रतिज्ञाय दण्डयुक्तमुदाहरन्ति, तद्यथा—

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम् ।
न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति ॥
चन्द्रिका चन्दनं मन्दो गन्धवाहश्च दक्षिणः ।
सेयमग्निमयी वृष्टिः शीता किल परान् प्रति ॥
शैशिर्यमभ्युपेत्यैव परेष्वात्मनि कामिनाम् ।
औष्ण्यप्रदर्शनात्तस्य सैषा विषयनिह्नुतिः ॥ इति ।

एतेषामलङ्काराणामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । त्वं त्वेति मिन्दोर्मिदमिति च्छेकवृत्त्यनुप्रासौ शब्दालङ्कारौ । अत्र च गुणातिपातो नाम नाट्यलक्षणम्, तदुक्तं दर्पणे—
'गुणातिपातः कार्यं यद्विपरीतं गुणान् प्रति' इति । मालिनी नाम वृत्तम् ॥ ४ ॥

व्याचष्टे—अथवेति ।

अनिशमिति । मकरकेतुः—मकरध्वजः कामः, मदिरे—मत्तखञ्जनपक्षिणाविव आयते—दीर्घे आकर्णविस्तृते इति यावत् नयने—नेत्रे यस्यास्तां तादृशीम्, 'मदिरा मत्तखञ्जन' इति शब्दरत्नावली, तां—शकुन्तलाम्, अधिकृत्य—उद्दिश्य, यदि प्रहरति—शरैर्विध्यति मामिति शेषः, अर्थात्—मामुद्दिश्य तां तामुद्दिश्य च मां प्रहरतीति, इति—एवंविधे सति, अनिशं—निरन्तरम्, मे मम, मनसः—चेतसः, रुजं—पीडाम्, आवहन्—दधदपि, उत्पादयन्नपीत्यर्थः, अभिमतः—आनुकूल्येन हेतुना सम्मतः, स्यादिति शेषः, तदुपरि ममानुरागस्य सततं विद्यमानतया यथाऽहं कामेन पीडितः, तथैव मदुपरि अनुरागवशेन सा यदि कामेन पीडिता स्यात्, तदोभयानुरागस्य उभयपीडायाश्च समानतया अवश्यमुभयोः, सङ्गमनं भविष्यत्येवेति तथाविधपीडा सम्मतैवेति भावः ।

(१) अथवा—कामदेव मेरे उद्देश्यसे 'यदि उस मादकताभरी नेत्रवाली शकुन्तला को मारकर मुझे मारते हैं तो हमेशा के लिए मेरे मनमें दुःख उत्पन्न होते हुए भी मुझे प्रिय ही मालूम होता है ॥ ५ ॥

भगवन् ! एवमुपालब्धस्य ते न मां प्रत्यनुक्रोशः (१) ।
वृथैव सङ्कल्पशतैरजस्रम्, अनङ्ग ! नीतोऽसि मयाऽतिवृद्धिम् ।
आकृष्य चापं श्रवणोपकण्ठे मय्येव युक्तस्तव बाणमोक्षः ॥ ६ ॥

अभिमत इति ज्ञानार्थत्वाद् वर्त्तमाने क्तः। 'मत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च' (३-४-७२) इति ज्ञानार्थानां क्तविधानात् । 'क्तस्य च वर्त्तमाने' (२-३-६७) इति सूत्रेण 'मे' वर्त्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी । अत्र 'रुजमावहन्नप्यभिमतः' इति विरोधस्याभासमानत्वाद् विरोधाभासोऽलंकारः, तत्परिहारस्तु चिरप्रयुक्तत्वादेव करणीयः । आर्या जातिः ॥ ५ ॥

(१) भगवन्निति । हे भगवन् !—सर्वशक्तिसम्पन्न ! मन्मथ ! एवं—पूर्वोक्तप्रकारेण, वञ्चकत्वादिनेत्यर्थः, उपालब्धस्य–भर्त्सितस्य दुरुक्तस्येति यावत्, अत्र जटाधरः–'दुर्वादः स्यादुपालम्भस्तत्र यः स्तुतिपूर्वकः । सोल्लुण्ठनं सनिन्दस्तु यस्तत्र परिभाषणम् ॥' इति ।

ते-तव, अनुक्रोशः–कृपा, नोत्पद्यत इति शेषः, 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशोऽपी'त्यमरः । केनचिद् दुःखितेन भर्त्सितो दुःखदः सन्तापितो भूत्वा तदुपरि कृपामातनोतीति त्वयि न दृश्यत इति भावः ।

वृथैवेति । हे अनङ्ग !–काम ! मया–दुष्यन्तेन अजस्रम्–अनिशम्, संकल्पशतैः–प्रियतमां शकुन्तलामधिकृत्य बहुभिर्मनोरथैः, 'इत्थं तया सह विहरिष्यामि, एवञ्च सम्भोगमापादयिष्यामि' एवंविधैर्नानामानसकर्मभिरित्यर्थः, 'संकल्पः कर्म मानसमि'त्यमरः, वृथैव–निष्फलमेव, अतिवृद्धिम्–अतीव वैपुल्यम्, नीतः–गमितः, असि त्वमिति भावः । ननु राज्ञ एवंविधसङ्कल्पशतैः कथं कामस्य वृद्धिरिति चेत्, उच्यते, कामस्यानङ्गत्वेन सङ्कल्पजन्यादेव राज्ञस्तथाविधसङ्कल्पबाहुल्ये तस्य बाहुल्यं ध्रुवमेव । ननु तथा सति कथं वातिवृद्धेर्वैयर्थ्यापादनमित्यत्राह—आकृष्येति । श्रवणस्योपकण्ठे श्रवणोपकण्ठे—कर्णान्तिके, कर्णपर्यन्तमित्यर्थः, 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इत्यमरः, चापं–धनुः, आकृष्य–आरोप्य वर्त्तमानस्येति शेषः, तव–अनङ्गस्य, मय्येव–परिवर्द्धयितर्येव बाणमोचः–शराणां विक्षेपः, युक्तः ? किं समुचितः, नैव समुचित इत्यर्थः । अयमर्थो विपरीतलक्षणया काक्वा वा बोध्यः । अत्र राजा परिवर्द्धितस्य कामस्य तदुपकृतिविधानमेवोचितमासीत् तत्रापकारित्वेन

(१) भगवन् ! इस तरह (दुःखी मन से) मैं तुम्हारा तिरस्कार करता हूँ, फिर भी मेरे प्रति तुम्हारे मन में दया नहीं उत्पन्न होती ?

हे अनङ्ग ! नित्य सैकड़ों तरह के व्यर्थ सङ्कल्प करके मैंने तुम्हें इतना अधिक बढ़ाया है । ऐसी दशा में क्या यह उचित है कि कानों तक धनुष खींचकर तुम मुझ पर बाण छोड़ो ॥६॥

[सखेदं परिक्रम्य] क्व नु खलु निरस्तविघ्नैस्तपस्विभिरनुज्ञातः खिन्नमात्मानं विनोदयामि ।(१) न च प्रियादर्शनादृते । शरणमन्यत् यावदेनामन्विष्यामि । [ऊर्ध्वमवलोक्य] इमामुग्रतपां वेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना तत्रभवती शकुन्तला गमयति । भवतु, तत्रैव

बाणमोचस्तु विसदृशो जात इति दृश्यमानविरुद्धार्थसम्प्राप्तिरूपत्वाद् विषादनं नामालङ्कारः, तथोक्तं जयदेवेन—'इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम्' । इति । तथाऽतिवर्धनस्य वैयर्थ्यं प्रति परार्द्धवाक्यार्थस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् काव्यलिङ्गमित्यनयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । अत्र च कामस्य बाणमोचेण राज्ञो व्यसनपातात् प्रतिमुखसन्धेर्विरोधो नामाङ्गम्, यथोक्तं विश्वनाथेन—

'विरोधो व्यसनप्राप्तिः' इति । उपजातिर्नाम वृत्तम् ॥ ६ ॥

(१) सखेदमिति । कञ्चुकिरियम् । खेदेन सहितं यथा स्यात्तथा सखेदं-सपरितापम्, परिक्रम्य-सञ्चारमुपन्यस्य । निरस्ता विघ्ना येषां तैर्निरस्तविघ्नैः-दूरीकृतराक्षसकर्तृकयज्ञव्याघातैः, निर्विघ्नसमाप्तयागैरित्यर्थः, तपस्विभिः—मुनिभिः, अनुज्ञातः—पूर्ववद्यथेष्टसञ्चरणादिविषये अनुमोदितः, अहं दुष्यन्तः, क्व कस्मिन् देशे, नु शब्दः खलु शब्दश्च वितर्के, यद्वा खल्विति वाक्यालङ्कारे, खिन्नं-परितप्तं शकुन्तलाविरहेणेति भावः, आत्मानं-मनः; विनोदयामि-सन्तापापनोदं करोमि । उपवनविचरणादिरूपं कञ्चिदात्मविनोदनोपायं निश्चित्य तद्वारयति, न चेति । प्रियायाः—शकुन्तलायाः दर्शनादृते-दर्शनमन्तरेण 'पृथग्विनान्तरेणर्ते' इत्यमरः । ऋतेयोगे पञ्चमी, अन्यत-उपवनविहरणादिरूपं किमपि वस्तु शरणं—सन्तापापनोदकत्वेन रक्षितृ, न—नास्ति, प्रियादर्शनमेव शरणमिति भावः । यावद् इत्यवधारणे । एनां-शकुन्तलाम्, अन्विष्यामि-अन्विच्छामि । ऊर्ध्वमवलोक्य—कालपरिज्ञानार्थं सूर्याभिमुखं दृष्ट्वा, उग्रम्—उत्कटं तपतीत्युग्रतपा तां प्रखरतापवतीम् माध्यन्दिनीमिति यावत्, वेलां समयञ्च, उग्रतपामिति विशेषणेन वेलायां औष्ण्यातिशयः, तेनान्यत्रानतिवाह्यत्वं च द्योत्यते । प्रायेणेति सम्भावनार्थकमव्ययम्, तस्य गमयतीति क्रियया सहान्वयः । लतावलयवत्सु-लतामण्डपवेष्टितेषु, अनेन शैत्यातिशयो द्योत्यते-तदभ्यन्तरे निविश्येति भावः, मालिनीतीरेषु मालिनीनाम नदी तस्याः तटभूमिषु,

(१) (दुःख के साथ कुछ आगे बढ़कर) विघ्न दूर हो जाने के बाद तपस्वी लोग अब मुझे जाने की अनुमति दे चुके हैं, तो इस समय मैं कहाँ जाकर अपने सन्तप्त मन को सान्त्वना दूं । शकुन्तला को देखने के सिवाय और किसी तरह भी मेरा सन्ताप दूर नहीं हो सकता । तो चलो, उन्हीं को ढूँढ़ूँ ।(ऊपर की ओर देखकर) यह तीव्र गर्मी का समय लतायुक्त मालिनी नदी के तटपर शकुन्तला अपनी सखियों के साथ बिताती होगी । अच्छा,

तावद् गच्छामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] अनया बालपादपवीथ्या सुतनुरचिरं गतेति तर्कयामि। कुतः—

सम्मीलन्ति न तावद्बन्धनकोषास्तयाऽवचितपुष्पाः।
क्षीरस्निग्धाश्चामी दृश्यन्ते किसलयच्छेदाः ॥ ७ ॥

[स्पर्शं रूपयित्वा।] अहो! प्रवातसुभगोऽयं वनोद्देशः (१)।

तीरेष्विति बहुवचनं लतावलयबहुत्वकटाक्षेण, तेन विश्रामस्थानव्यत्यासे सन्तापोऽपि किञ्चिदिवोपशाम्यतीति सूच्यते। यथा मेघदूते-'स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु' इति। गमयति--यापयति, वेलामित्यनेन सम्बन्धः।

सुतनुः—शोभनगात्री शकुन्तला अनया-परिदृश्यमानया, बालपादपवीथ्या--नवीनतरुलतापरिसरमार्गेण, बालाश्च ते पादपा बालपादपास्तेषां वीथिस्तयेति विग्रहः, अनतिविलम्बम्, तर्कयामि--विभावयामि।

अत्र विचारो नाम नाट्यलक्षणम्, यथोक्तं दर्पणे-'विचारो युक्तवाक्यैर्यदप्रत्यक्षार्थसाधनम्' इति। अचिरप्रयाणे हेतुमुत्थापयति--कुत इति।

सम्मीलन्तीति। तया--सुतन्वा शकुन्तलया, अवचितानि--कराभ्यां लूनानि पुष्पाणि--कुसुमानि येषां ते, अमी--परिदृश्यमानाः बन्धनकोषाः—पुष्पबन्धनाधारभूता वृन्तोर्ध्वभागा इति यावत्, न तावत् नेदानीमपि, तावत्पदं वाक्यालङ्कारे इति केचित्, सम्मीलन्ति-सङ्कुचन्ति, सुचिरप्राणे तु बन्धकोषाः सम्मीलयिष्यन्त्येवेति भावः। तथा अमी किसलयच्छेदाः पल्लवखण्डाश्च 'छेदः खण्डोऽस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः, क्षीरेण-प्रसवसङ्गप्रवृत्तनिर्यासेन स्निग्धाः-सस्नेहाः, दृश्यन्ते-उपलक्ष्यन्ते। सुचिरं पत्रत्रोटने तु तत्प्रवृत्तनिर्यासशोषणसम्भवाद्वृत्तैवाऽभविष्यदिति भावः। अत्र एकयैव दर्शनक्रियया सह कर्मतारूपेण बन्धनकोषकिसलयच्छेदपयोरप्रस्तुतपदार्थयोरभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिताऽलंकृतिः, किं च शकुन्तलायास्तस्यामेव बालपादपवीथ्यामचिरगमनं जातमिति तदचिरगमनकार्यप्रतिपादनयोर्द्विविधकारणोपन्यासाच्च समुच्चयालङ्कार इत्यनयोरेकाधिकरणाऽनुप्रवेशात् सङ्करः। स्वभावोक्तिरिति केचित्, अचिरसञ्चितपत्रपुष्पादेस्तथैव दर्शनात्। आर्या जातिः ॥ ७ ॥

(१) स्पर्शमिति। स्पर्शं-वातस्पर्शम्, रूपयित्वा-अभिनीय, वायोः स्पर्शात्तु

तो वहीं चलूं। (चलकर और देखकर) इन छोटे २ पौधों से युक्त मार्ग से वह तन्वंगी अभी ही गयी है ऐसा मुझे विश्वास होता है। क्योंकि--

जिन वृन्तों से उसने फूल तोड़े हैं, वे अभी अस्त-व्यस्त ही हैं और अभी भी बहुत से पत्ते दूध गिरने के कारण तर हैं ॥ ७ ॥

(१) (स्पर्श करके) ओह ! इस स्थान पर अच्छी तरह हवा आ रही है—

शक्योऽरविन्दैःसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम् ।
अङ्गैरनङ्ग-तप्तैर्निर्दयमालिङ्गितुं पवनः ॥ ८ ॥

मवं त्वचाऽभिनीयेत्यर्थः, अहो ! इति हर्षे विस्मये वा । प्रकृष्टः-शैत्यसौगन्ध्यमान्द्य-गुणत्रयवान् प्रसूतो वा वातः-मारुतो यत्र अत एव सुभगः-सुखकर इति प्रवातसुभगः प्रवातेन—तादृशगुणशालिना वातेन सुभगः-मनोहर इति वा, अयं परिदृश्यमानः, वनोद्देशः—वनैकभागः ।

'सुन्दरेऽधिकभागे च दुर्दिनेतरवासरे । तुरीयांशे श्रीमति च सुभग-' इति शब्दार्णवः ।

वातस्य प्रकृष्टत्वं समर्थयन् तेन च वनोद्देशस्य सुभगत्वं समर्थयति—शक्य इति । अरविन्दैः—अम्भोरुहैः, सुरभिः—सुगन्धिः, 'सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत् सुरभिः स्मृतः' इति विश्वः । एतेन पवनस्य सौगन्ध्यं दर्शितम्; तथा मालिन्याः—तन्नामसरितः तरङ्गानां—कल्लोलानाम्, कणवाही-जलबिन्दुधारी, एतेन पवनस्य शीतत्वं प्रदर्शितम्, एवम्भूतः पवनः—वनमारुतः, अनङ्गेन-कामेन, तप्तैः-सन्तप्तैः, कामजनितदाहवद्भिरित्यर्थः, अङ्गैः—शरीरावयवैः, निर्दयं—गाढं यथा भवति तथा; आतृप्तीत्यर्थः; आलिङ्गितुं—परिसेवितुम्, शक्यः—योग्यः, मयेति शेषः । एतेन पवनस्य मान्द्यमपि ध्वनितम्, तेन च वनोद्देशस्य सुभगत्वं समर्थितम् । अत्र पवनस्य शिशिरोपचारप्रवृत्तप्रियसुहृत्समाधिः ।

अत्र केचित् :—तादृशपवनस्योद्दीपकत्वेन विरहिणां क्लेशजनकत्वेऽपि तत्स्पर्शजजन्यहर्षप्रदर्शनात्तत्र नायिकागमनस्य पवनस्य तदङ्गस्पर्शस्य च सम्भावना नायकस्यास्तीति प्रतीयते । यथा मेघकाव्ये—

'आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः,
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तव······'इति ।

मालतीमाधवेऽपि—

'तामीषत्प्रचलविलोचनामताङ्गीमालिङ्गन् पवन मम स्पृशाङ्गमङ्गम्' । इत्याहुः ।

श्लोकोऽयं कविना रामायणीयं—

'मेघोदरविनिर्मुक्ताः कल्हारस्पर्शशीतलाः ।
शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकिगन्धिनः' ॥

पद्यमिदमनुकृत्य निबद्ध इति प्रतीयते । तच्च कवेर्न दोषाय ध्वनिप्रभेदानुगृहीतत्वात् । तदाह ध्वनिकृत्—

'अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेणापि भूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि' ॥ इति ।

कमल से स्पृष्ट होने के कारण सुगन्धित और मालिनी नदी के तरङ्गों के कणों को उड़ाने वाली वायु का इन कामसन्तप्त अङ्गों द्वारा आलिंगन करने के लिए मैं समर्थ होऊँगा ॥ ८ ॥

[विलोक्य] हन्त ! अस्मिन् वेतसलतामण्डपे सन्निहितया शकुन्तलया भवितव्यम् । तथाहि (१)—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात् पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥ ९ ॥

अत्र च सौरभाधारभूतैररविन्दप्रसरेणुभिस्तरङ्गसूक्ष्मकणैश्च सान्द्रत्वान्मदघनत्वाच्च पवनस्य मूर्तत्वप्रतीतेरालिङ्गनशक्यत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति गम्योत्प्रेक्षा । तच्छक्यत्वासम्बन्धेति तदुक्तेरतिशयोक्तिर्वा स्वभावोक्तिश्च । आर्या जातिः ॥ ८ ॥

(१) विलोक्येति । प्रियागमनसूचकं पादचिह्नं निरीक्ष्येत्यर्थः । हन्त इति हर्षे । इहैव कुत्रचित् शकुन्तलया भवितव्यमिति सम्भावना राज्ञो हर्ष इति बोध्यम् । वेतसलतामण्डपे—वेत्रवल्लीविरचितमण्डपे, सन्निहितया—अवस्थितया । भवितव्यमिति भावे तव्यप्रत्ययः ।

उक्तार्थे लिङ्गमाह-अभ्युन्नतेति । अस्य—लतामण्डपस्य, पाण्डुः सिकता यस्मिन् तस्मिन् पाण्डुसिकते—पाण्डुरवर्णवालुकाविशिष्टे, द्वारे—प्रवेशमार्गे, पाण्डुसिकतेत्यादिना तत्प्रतिबिम्बयोग्यत्वं ध्वन्यते, तत्प्रवेशसूचनार्थं द्वारग्रहणम्, पुरस्तात्—अङ्गुल्यादिभागे, अभ्युन्नता-गुल्फचिह्नापेक्षया कियदंशेन समुन्नता, सञ्चरणक्रियायां गुल्फस्यैवातिशयेन भाराक्रान्तत्वादङ्गुल्यादेस्तादृशाभावादिति भावः, तथा पश्चात्—पार्ष्णिभागे गुल्फनिक्षेपस्थाने इत्यर्थः, जघनस्य—श्रोणीपुरोभागस्य, गौरवात्—गुरुत्वाद्भारवत्तया, अवगाढा—पुरस्तादङ्गुल्यादिविहितचिह्नापेक्षया किंचिन्निम्ना, अनेन पूर्वानुभूततदीययौवनदशापरिपोषणस्मरणं तेन तदानींतनमौत्सुक्यविशेषं च द्योत्यते, 'जघनं कटौ, स्त्रियाः श्रोणीपुरोभागे' इति हैमः, अभिनवा—सद्यःपतिता, सम्प्रत्यपि सिकतापातादिभिरविनष्टत्वादिति भावः, पदपङ्क्तिः—गमनकालीनचरणविन्यासजन्यचिह्नश्रेणी, दृश्यते—विलोक्यते । अन्यासां स्त्रीणामनसूयाप्रियंवदयोर्वा तादृशजघनगुरुत्वासम्भवात्प्रियतमायाः शकुन्तलाया एवेयं पदपङ्क्तिरिति भावः । अभिनवेत्यादिना पदपङ्क्तेरविकलत्वं तदानीमेव लतामण्डपप्रवेशश्चेति द्योत्यते ।

अत्र अनेन मार्गेण लतामण्डपं प्रविष्टेति वक्तव्ये यत्तत्कार्यरूपपदपङ्क्तिवर्णनं तत् पर्यायोक्तम् । तथा पदपङ्क्तिदर्शनरूपैः साधनैस्तत्प्रवेशरूपस्य साध्यस्य प्रतीतेरनुमानञ्च । पादचिह्नस्वभाववर्णनात् स्वभावोक्तिश्च स्पष्टैव ।

भोजेनात्र प्रत्यक्षालङ्कारोऽङ्गीकृतः, 'प्रत्यक्षमक्षजं ज्ञान'मिति तल्लक्षणात् । उदाहृतं च—'वीक्ष्यते स्म शनकैर्नववध्वा' इति ।

(१) (देखकर) हाँ इस बेत के लतामण्डप में शकुन्तला अवश्य होगी । क्योंकि—इसके द्वार की उज्ज्वल बालुका राशि पर आगे की ओर ऊँची और जघनभाग के बोझ से पिछली तरफ गहरी पदपंक्ति दिखायी देती है ॥ ९ ॥

यावद्विटपान्तरेणावलोकयामि । [तथा कृत्वा सहर्षम्] अये ! लब्धं नेत्रनिर्वाणम् । एषा मनोरथप्रिया मे सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामुपास्यते । भवतु, लताव्यवहितः शृणोमि विस्रब्धकथितान्यासाम् । [इति विलोकयन् स्थितः] (१)

[ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला (२)

न चात्र पूर्वं पुरोभागस्य पश्चात् पश्चाद्भागस्य वर्णनमिति वर्ण्यक्रमभङ्ग इति वाच्यम् , राज्ञो लतामण्डपपृष्ठभाग एव स्थितत्वात्तत एव पदपङ्क्तौ दृष्टिपाताच्च, तुंगस्थाने एवादौ दृष्टिप्रसरणात् , अतस्तस्यैवाग्रे वर्णनमिति सर्वमवदातम् ।

'यावदेनामन्विष्यामी' त्यारभ्य, 'पदपंक्तिर्दृश्यतेऽभिनवा' इत्येतदन्तं परिसर्पो नाम प्रतिमुखसन्धेरंगम् । तदुक्तं दर्पणे—

'इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते' । इति ॥ आर्या जातिः ॥ ९ ॥

(१) यावदिति । विटपान्तरेण—शाखावकाशेन, 'अन्तरमवकाशावधि' इत्यमरः । लतामण्डपे प्रियतमां यथाचिन्तितमवलोक्याह—अये इति । अये इति हर्षे । नेत्रनिर्वाणं—नेत्रयोः—नयनयोर्निर्वाणं—निर्वृतिकरं निर्वृतिर्वा । लब्धमिति नष्टस्वप्रतियोगितयोक्तिः पूर्वनष्टत्वं सूचयति । अनेनेन्द्रियान्तराणामप्यचिरेण निर्वाणं स्यादित्याशंसा सूच्यते । मनोरथप्रिया—मनोरथेन—मनःसंकल्पेन अभिलाषमात्रेणैवेति यावत् , प्रिया—हृदयवल्लभा न तु तत्त्वेन कल्पिता अपरिणीतत्वादिति भावः, शकुन्तला, कुसुमास्तरणम्,—कुसुमान्येवास्तरणम्—उत्तरच्छदः, काठिन्यपरिहार्यर्थं रचिता पुष्पशय्येत्यर्थः, तेन सह वर्तत इति तत् , 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (१-४-४६) इत्याधारे कर्मता, अधिशयाना—अधितिष्ठन्ती, सखीभ्याम्—अनसूयाप्रियंवदाभ्याम्, उपास्यते—शुश्रूष्यते । लताव्यवहितः, लतया व्यवहितः—गोपितसर्वावयवः, आसाम्—अनसूयाप्रियंवदाभ्यां सह शकुन्तलाया इत्यर्थः, विस्रब्धकथितानि—रहस्यवार्त्ताः आत्मप्रकाशे तु वार्त्ताव्याघातो भवेदिति भावः । श्रोष्यामीति श्रोत्रनिर्वाणपूर्वरङ्गः ।

(२) अथ हृदयवल्लभं राजानं विमुच्योटजगमनानन्तरं वर्द्धमानमनोभवातङ्काः सखीमात्रशरणाया निदाघातपव्यपदेशेन मालिनीतीरलतामण्डपशिलापट्ट-

---

(२) वृक्षों के भीतर से देखूं तो ? (देखकर हर्ष के साथ) अहो ! नेत्रों को आनन्द मिल गया । यह मेरी प्राणप्रिया फूल बिछे हुए पत्थर पर लेटी है, और उसकी दोनों सखियाँ सेवा कर रही हैं । अच्छा, लताओं में छिपकर इनकी विश्वासभरी बातें सुनूं । (देखता हुआ खड़ा हो जाता है)।

(२) (इसके बाद पूर्वोक्त व्यापारयुक्त शकुन्तला सखियों के साथ आती है)।

सख्यौ—[उपवीज्य] हला शकुन्तले ! अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः ? (१) (हला सउन्तले ! अवि सुहाअदि दे णलिणीवत्तवादो ?)

शकु—[सखेदम्] किं वीजयतो मां प्रियसख्यौ ? (२) (किं वीजअन्ति मं पियसहीओ ?)

सख्यौ—(सविषादं परस्परमवलोकयतः ।] (३)

सन्निविष्टायाः क्षणं क्षणं मूर्च्छाभिभूताया नायिकायाः शकुन्तलायाः प्रवेशमाह,—तत इति । यथोक्तव्यापारा—यथोक्तो व्यापारो यस्याः सेति विग्रहः, सखीभ्यामुपास्यमाना सकुसुमास्तरणशिलापट्टमधितिष्ठन्ती चेत्यर्थः, शकुन्तला—सा कण्वपुत्री, सखीभ्यां—पूर्वोक्ताभ्यामनसूयाप्रियंवदाभ्यां सह, प्रविशति—रङ्गभूमावुपस्थिता भवति, लक्षणया रङ्गभूमौ सभ्यानां दृग्विषयीभवतीत्यर्थः ।

अत्र वर्णसंहारो नाम प्रतिमुखसन्ध्यङ्गं राज्ञा शकुन्तलादेरुपगमात् , तदाह भरतः—

'चतुर्वर्णोपगमनं वर्णसंहार इष्यते' । इति । चातुर्वर्ण्योपगमनं नाम—नाटकीयपात्राणां परस्परावाप्तिः (प्राप्तिः) इत्यभिनवगुप्तव्याकृतितात्पर्यात् ।

(१) सख्याविति । प्रियसख्यावनसूयाप्रियंवदे वीजनाप्रतिपत्तिशंकया कातरभूते जिज्ञासेते:—हलेति । हलेति सम्बोधनकाक्वा सख्योरपि समदुःखसुखतया दुःखानुवेधः सूच्यते । अपेः प्रश्नार्थकत्वम् । नलिनीपत्रवातः—कमलिनीदलवीजनजनितमारुतः, ते—तव, सुखयति—सुखमुत्पादयति, तापापनोदं करोति किंस्विदित्यर्थः । ते इति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । नलिनीपत्रवात इत्यनेन वातस्य शैत्यातिशयः सूचितः । प्रश्नार्थकेनापिना तस्यास्तापातिशयोऽपि द्योतितः ।

(२) शकु इति । किं वीजयतः—व्यजनं कुरुतः । किमित्यादिनायिकोक्त्या वीजनादिकं तया न ज्ञातमिति 'मूर्च्छावस्था सूचिता' इति केचित् , तेन तापाधिक्यं च ध्वन्यते । 'विषयनिवृत्तिरवस्था' इति अपरे । अत्र विधूतं नाम प्रतिमुखसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम्, तल्लक्षणं दशरूपके—'विधूतं स्यादरतिः' । इति ।

दर्पणेऽपि—'कृतस्यानुनयस्यादौ विधूतं त्वपरिग्रहः' । इति ।

(३) सख्याविति । सविषादमिति विषादे तस्यास्तदवस्थाज्ञानं हेतुः । विषादः विषण्णता । तथा चोक्तम्—

'या दृष्टिः पतितापाङ्गा विस्तारितपुटद्वया ।
निमेषिण्यस्ततारा च विषण्णा सा विशादिनी' ॥ इति ।

---

(१) दोनों सखियाँ—(पंखा झलकर) सखी शकुन्तला ! कमल के पत्तों की हवा तो अच्छी लगती है न !

(२) शकुन्तला—(खेद के साथ) सखियों ! आप क्या पंखा हाँक रही हैं ?

(३) दोनों सखियाँ—(परस्पर एक दूसरी को करुणादृष्टि से देखती हैं ।)

राजा—बलवदसुस्थशरीरा तत्रभवती दृश्यते । [सवितर्कम् ।] तत् किमयमातपदोषः स्यात्, उत यथा मे मनसि वर्त्तते । [साभिलाषं निर्वर्ण्य] अथवा कृतं सन्देहेन (१)—

स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं तदपि कमनीयं वपुरिदम् ।

परस्परम्—अन्योन्यमवलोकयतः—नाट्येन पश्यतः । एतेन सख्योरत्यर्थमातङ्कः सूचितः । वीजिताऽपीयं न बुध्यते, दृढा कामबाधा, नूनं मूर्च्छितेयम्, किमत्र कुर्व इति सूचनार्थं परस्परावलोकनम् ।

(१) राजेति । शकुन्तलायास्तथाविधामवस्थां सख्योश्च तादृशीं प्रवृत्तिञ्चावलोक्याह—बलवदिति । बलवत्—अधिकम् असुस्थं—सुस्थताहीनं शरीरं यस्याः सा तथोक्ता, तत्र भवती—शकुन्तला, दृश्यते—शयनवीजनादिना ज्ञायते । अस्वास्थ्यहेतुं विकल्पयति—तदिति । तत्—अस्वास्थ्यम्, यावदिति केचित्, आतपस्य—ग्रीष्मस्य दोषः, आतप एव दोष इति वा । अत्र हेतुहेतुमतोरैक्यारोपः । किं स्यादिति सम्भावनायाम् । विकल्पान्तरमाह—उत इति । उत—अथवा, उत इति विकल्पान्तरद्योतकमव्ययम् । यथा मे मनसि वर्त्तते—यौवनाविर्भावान्मदनजनितसन्ताप एवायमिति यन्मया सम्भावितं तथैव तत् स्यादिति भावः । साभिलाषं—तदभिलाषकत्वेन सस्पृहं, निर्वर्ण्य—निरीक्ष्य, निरीक्षणेन कमपि विशेषमुपलभ्य द्वितीयपक्षं राद्धान्तीकुर्वन्नाह—अथ वेति । सन्देहेन—अयमातपजनितदोषः कामसन्तापो वा इति संशयेन, कृतम्—अलम्, सन्देहस्यावकाशो नास्तीत्यर्थः । 'कृतं युगेऽलमर्थे च' इति मेदिनी, कृतमित्यस्य वारणार्थकत्वात्तद्योगे तृतीया ।

ननु कृतं सन्देहेनेति यदुक्तं किन्तत्र कारणमित्यत्राह—स्तनेति । स्तनयोः—कुचयोः न्यस्तं—तापोपशमनाय दत्तम् उशीरं—नलदानुलेपो यत्र तत्तादृशम्, 'शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला' इति कामशास्त्रात्तरुण्या अङ्गभूतौ स्तनौ हिमकाले उष्णौ ग्रीष्मकाले शीतलाविति सिद्धान्तः । परन्तु तत्काले तयोस्तादृशोरपि स्तनयोस्तापाधिक्यं द्योतयितुं स्तनन्यस्तेत्युक्तिर्न हस्तादिन्यस्तेति । तथा प्रशिथिलं—शरीरकार्श्यात् श्लथीभूतं मृणालं—पद्मखण्डमेव एकम्—अनन्यं वलयं यत्र तत् तथोक्तम्, यद्वा प्रशिथिलं—शरीरतापातिशयात् शुष्कतया म्लानमयथास्थितञ्च

(१) राजा—शकुन्तला का शरीर बहुत ही अस्वस्थ दिखाई पड़ रहा है । (वितर्क के साथ) यह लू लगने के कारण है या जैसे मेरे मनमें (सन्ताप) है, उसी प्रकार इसे भी है । (चाव के साथ देखकर) अथवा सन्देह करना व्यर्थ है—स्तन पर उशीर का लेप किया हुआ है, मृणाल (कमलदण्ड) की बनी हुई एक वलय (कंकण) ढीली पड़ गयी है, और

समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ॥ १० ॥

प्रियं—[जनान्तिकम्] अनसूये (१) तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य

मृणालस्यैकम्—असहायं वलयं यत्र तादृशम्, अनेन सन्तापातिशयश्च सूच्यते, एकेत्यनेनाभरणान्तराभावश्च, समुदितेन च विशेषणेनेयं पीडा कतिपयदिनस्थायिनी न तु बहुदिनजनितेति ध्वन्यते। प्रियायाः—शकुन्तलायाः इदं परिदृश्यमानं वपुः-शरीरम्, साबाधम्,—आ समन्ताद् बाधया—पीडया सहितं वर्त्तत इति शेषः, तदपि—साबाधत्वेन प्रतीयमानमपि, कमनीयं—चेतोहरम्; अत्रानेन श्लोकचरणद्वयेन अमुष्यास्तापो मदनप्रकृतिकः कमनीयतासमानाधिकरणतापत्वादित्यनुमाने विशेषणभागस्य पक्षधर्मत्वं दर्शितम्, अथेदानीं व्याप्तिप्रदर्शनायारभते—समेत्यादि। मनसिजः—कामः, निदाघः—ग्रीष्मः, तयोः प्रसरौ—वेगौ तयोः, तापः-दाहः, समः-तुल्यः, कामम्—इत्यनुमतम्, 'अकामानुमतौ कामम्' इत्यमरः, भेदमाह—नत्विति। तु-किन्तु, युवतिषु-आरूढयौवनासु तरुणीषु विषये, ग्रीष्मस्य—निदाघस्य, अपराद्धं—तापकष्टप्रदत्वादपराधः, एवम्—ईदृशम्, सुभगं-सौन्दर्याधायकत्वात्तत्सम्पादकम्, न भवतीत्यन्वयः। ग्रीष्मतापे वपुरेवं कमनीयं न भवतीत्यन्वयः। तथा चास्याः कामतापेनैवेदमस्वास्थ्यमिति न संशयावकाश इत्याशयः।

अत्र शकुन्तलावपुष एकविधसन्तापनिरूपणरूपकार्यसिद्ध्यर्थं 'स्तनन्यस्तोशीरम्' 'प्रशिथिलमृणालैकवलयम्' इति वपुषो द्विविधविशेषणरूपकारणोपन्यासात् समुच्चयालङ्कारः, एवमपि वपुषः सुस्थतादिरूपहेतुं विनापि कमनीयतात्मककार्योत्पत्तेः साबाधत्वरूपकारणसद्भावेऽपि वैरूप्यादिरूपकार्यानुत्पत्तेश्च विभावनाविशेषोक्त्यलङ्कारयोः सन्देहसंकर इत्यनयोः परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः इति केचित्। किं चात्रोपमानोपमेययोः स्मरातपसन्तापयोर्नत्वित्यादिनैकस्य वैधर्म्यप्रतिपादनमुखेनापकर्षकथनात् पारिशेष्यादपरस्याधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः। तथा स्तनन्यस्तेत्यनेन स्तनयोः सन्तापातिशयप्रतीत्या यतोऽपि तापस्य कामप्रकृतिकत्वेनानुमीयमानत्वादनुमानालङ्कारो गम्यः। इति वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिः। युवतिष्विति सामान्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसा च। शिखरिणी नाम वृत्तम् ॥ १० ॥

(१) प्रियमिति। अथ प्रियंवदा शकुन्तलायास्तापस्य शिशिरोपचारेणासाध्य-

यद्यपि इसके शरीर में पीडा अधिक है, फिर भी इसका शरीर सुन्दर दीखता है। काम तथा गर्मी दोनों की वेदना समान है· यह मैं जानता हूँ। किन्तु ग्रीष्म युवतियों पर इस प्रकार का सुन्दर अपराध नहीं कर सकता ॥ १० ॥

(१) प्रियंवदा—(चुपके से)अनसूया ; उन राजर्षि के प्रथम दर्शन से ही शकुन्तला

पर्युत्सुकमनाः शकुन्तला; न खल्वस्या अन्यनिमित्त आतङ्को भवेत् । (अणसूए ! तस्य राएसिणो पढुमदंसणादो आरम्भिअ पज्जुस्सुअमणा सउन्तला ण क्खु से अण्णणिमित्तो आतङ्को भवे ।)

अन—सखि ! ममापि एतादृशी आशङ्का हृदयस्य, भवतु, प्रक्ष्यामि तावदेनाम् । सखि ! प्रष्टव्याऽसि किमपि । बलीयान् खलु ते अङ्गानां सन्तापः (१) । (सहि ! मम वि एआरिसी आसङ्का हिअअस्स । भोदु, पुच्छिस्सं दाव णं । [प्रकाशम्] सहि ! पुच्छिदव्वासि किम्पि । बलीओ क्खु दे अवाणं सन्दावो ।)

राजा—वक्तव्यमेव (२)—

शमनत्वं निश्चित्य तस्य च कामप्रकृतिकत्वं मन्यमानाऽऽह-अनसूये इति । तस्ये-त्यनुभूतार्थकम्, राजर्षेः-दुष्यन्तस्य, प्रथमदर्शनादित्यत्र 'अन्यारादितरर्ते०' (२-३-२९) इत्यादिना पञ्चमी, पर्युत्सुकमनाः-कामेनोत्कण्ठमाना । अन्यन्निमित्तं-निदानं यस्य सोऽन्यनिमित्तः, आतङ्कः—सन्तापः, 'रुक्तापशङ्कास्वातङ्कः' इत्यमरः । पूर्वा-परपर्यालोचनयेदमेवायातीति भावः ।

(१) अनेति । अनसूया तदुक्तमनुवदति—सखीति । ममापि हृदयस्येति सम्बन्धः । तादृशी-राजर्षेर्दर्शनात् प्रभृति पर्युत्सुकमनस्त्वेन शकुन्तलाया राजर्षि-निमित्तकोऽयमातङ्क इत्येवंरूपेत्यर्थः, आशङ्का—वितर्कः, न पुनस्तत्त्वतः, हृदयपदा-भिधानादिति भावः । एतदवधिवाक्यमप्रकाशमेवेति ग्राह्यमग्रे प्रकाशपदोपादानात् । आशङ्कितस्य दृढीकरणाय तामेव पृच्छति—सखीति । कुतः प्रष्टव्यत्वमित्यत्राह—बलीयानिति । खल्विति हेतौ । बलीयान्—प्रबलतरः सन्तापः—पीडा, अतः प्रष्ट-व्यत्वमिति भावः ।

(२) राजेति । वक्तव्यमेव—बलीयानिति प्रष्टव्यमेवेत्यर्थः । क्वचित् पुस्तकेऽयं पाठो न दृश्यते ।

उत्कण्ठित है, उसे सन्ताप के सिवाय और कोई प्रकार का सन्ताप है, यह विश्वास ही नहीं होता ।

(१) अनसूया—सखी ! मेरे हृदय में भी इसी प्रकार की आशंका है । अच्छा तो, इसी से पूछूँ । (प्रकाश) सखी ! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहती हूँ । क्योंकि तुम्हारे अङ्ग का सन्ताप अत्यधिक है ।

(२) राजा—पूछना ही चाहिए । क्योंकि—

शशिकरविशदान्यस्यास्तथाहि दुःसहनिदाघशंसीनि ।
भिन्नानि श्यामिकया मृणालनिर्माणवलयानि ॥ ११ ॥

शकु- [पूर्वार्द्धेन शयनादुत्थाय] हला ! भण, यद् वक्तुकामाऽसि (१)। (हला ! भण, जं वत्तुकामाऽसि ।)

अन--हला शकुन्तले ! अलब्धान्तरा वयं ते मनोगतस्य वृत्तान्तस्य; किन्तु यादृशी इतिहासकथानुबन्धेषु कामिजनानामवस्था श्रूयते; तादृशी तवेति तर्कयामि । तत् कथय, किंनिमित्तं ते अयम् आयास इति । विकारं परमार्थतः अज्ञात्वा अनारम्भः किल प्रतीकारस्य (२) । (हला सउन्तले ! अलब्भन्तरा अह्मे दे मणोगदस्स वुत्तन्तस्स; किन्तु जादिसि इतिहासकधाणुबन्धेसुं कामिजणाणं अवत्था सुणीअदि तादिसी तुह त्ति तक्केमि । ता कधेहि

प्रष्टव्यत्वं साधयति—शशीति । तथा हि—तेन रूपेणैव, शशिनः—चन्द्रस्य कराः—रश्मय इव विशदानि—प्रकृत्यैव स्वच्छानि, अस्याः शकुन्तलायाः, मृणालनिर्माणवलयानि—मृणालैः, निर्माणं येषां तानि च तानि वलयानि चेति विग्रहः, बिसनिर्मितकरकङ्कणानीत्यर्थः, श्यामिकया—अङ्गतापजनितकालिम्ना कृष्णरेखयेति यावत्, भिन्नानि—संसक्तानि सन्ति, दुःसहनिदाघशंसीनि,—दुःसहं निदाघं शंसन्ति—द्योतयन्तीति तथोक्तानि, असह्यसन्तापसूचकानि संवृत्तानीति शेषः ।

शशिकरविशदानीत्यत्रोपमा, सा हि समासगा लुप्ता । उत्तरार्द्धे वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमिति केचित्, अनुमानमित्यपरे । आर्या जातिः ॥ ११ ॥

(१) शकु इति । पूर्वार्द्धेन पूर्वभागेन, शरीरस्येति शेषः, शयनात्—पुष्पमय्याः शय्यायाः, 'शय्यायां शयनीयवत्, शयनम्' इत्यमरः । शरीरास्वस्थतया सर्वाङ्गचालनासामर्थ्यात् पूर्वार्द्धेनेति वचनमिति बोध्यम् । कथय भण, वक्तुकामाऽसि वक्तुमिच्छसि 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि' इति तुम्-प्रत्ययस्यान्त्यलोपः ।

(२) अनेति । अथ तदाग्रहदर्शनादनसूया सभूमिकाबन्धं विवक्षितं पृच्छति, हलेति । अलब्धान्तरा–न लब्धं न परिज्ञातम् अन्तरं तत्त्वं याभिस्ता अनवगतरहस्या इत्यर्थः, त्वया कदाचिदपि अप्रकाशितत्वादिति भावः । मनोगतस्य हृदयस्थि-

---

चन्द्रकिरण के समान इसके उज्वल मृणालकङ्कण काले होकर दुःसह सन्ताप की, सूचना दे रहे हैं ॥ ११ ॥

(१) शकुन्तला—(देह के अगले भाग द्वारा शय्या से थोड़ा उठकर) सखी ! बोलो, क्या कहना चहती हो ?

(२) अनसूया—शकुन्तला ! तुम्हारे मनोगत भावों के भीतर तो हम घुस नहीं सकतीं लेकिन, ऐतिहासिक कथाओं से कामियों की जो हालत सुनी जाती है, वही दशा तुम्हारी है,

किंणिमित्तं दे अअं आआसत्ति । विआरं परमत्थदो अआणिअ अणारम्भो किल पदीआरस्स ।)

राजा--अनसूययाऽपि मदीयस्तर्कोऽवगतः (१) ।

शकु--बलीयानायासः, न शक्नोमि सहसा निवेदयितुम् (२) ।

(बलीओ, आआसो, ण शक्कणोमि सहसा णिवेदिदुं ।)

प्रियं--सुष्ठु खल्वेषा भणति, किमेतमात्मन उपद्रवं निगूहसि, अनुदिवसं खलु परिहीयसे । (३) अङ्गेषु लावण्यमयी छाया केवलं त्वां

तस्य, वृत्तान्तस्य-चरितस्य विषयस्येत्यर्थः । कथं तर्हि तत्सम्भावनेत्यत आह—किन्त्विति । इतिहासकथानां-पुरावृत्तोपाख्यानानाम्, अनुबन्धेषु-गोष्ठीषु, इतिहासनिबन्धनेष्विति पाठान्तरम्, तत्र-निबन्धनं-प्रबन्धः, कामिजनानां-कामातुराणाम्, अवस्था-दशाविशेषः, श्रूयते-श्रवणविषयीक्रियते, तादृशीति अवस्थेत्यनुषज्यते, तर्कयामि-विभावयामि, किंनिमित्तं-किमर्थम्, आयासः-शरीरसन्तापः । परमार्थतः—तत्त्वतः, विकारं-रोगम्, अज्ञात्वा-अविज्ञाय, प्रतीकारस्य-चिकित्सायाः, अनारम्भः-आरम्भो नास्ति, किलेति प्रसिद्धौ, वस्तुतो विकारज्ञाने प्रतिक्रिया कार्येति तत्त्वाया-सनिमित्तं भणेति भावः । यदुक्तं वैद्यकतन्त्रे-'व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानम्' इति । अत्र कार्यकारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः ।

(१) राजेति । तर्कः-सन्तापः, काममूलक इत्यभ्यूहः । मम यथैव सम्भावनाऽस्ति तथैवानया पृच्छ्यत इत्यर्थः ।

(२) इति । बलीयान्—बलवत्तरः, आयासः-सन्तापः । सहसा-अतर्कितम् , निवेदयितुं-तत्त्वतो ज्ञापयितुम्, न शक्नोमि-आमूलाद्वक्तुं न समर्था भवामीत्यर्थः । किञ्चित् स्वस्थतायां सत्यां निवेदयामीति भावः । अत्र निवेदनेच्छा वर्त्तत इति द्योत्यते; तेन लज्जा ततश्च किं कर्त्तव्यमिति चिन्ता च व्यज्यते ।

(३) प्रियमिति । एषा—अनसूया, सुष्ठु-युक्तियुक्तं, भणति-कथयति, अनेन तद्वचसो ग्राह्यत्वं द्योत्यते, तथा ममाऽपि एतस्मिन् प्रश्नेऽभिप्रायोऽस्तीति च ध्वनितम् । उपद्रवं-विकारम्, निगूहसि-संवृणोषि । नैतद्युक्तमित्याह-अन्विति । अनुदिनं-प्रतिदिनम्, वीप्सार्थेऽव्ययीभावः । परिहीयसे-क्रमशः पूर्वापेक्षया क्षीयसे ।

ऐसा अनुमान होता है । तो तुम्हीं बतलाओ, तुम्हें यह सन्ताप क्यों है? जब तक अच्छी तरह विकार का पता न लग जाय, तब तक प्रतीकार किया ही नहीं जा सकता ।

(१) राजा—अनसूया भी मेरे मनकी धारणा समझ गयी है ।

(२) शकुन्तला—बड़ी तकलीफ है, एकाएक मैं नहीं बता सकती ।

(३) प्रियंवदा—यह ठीक तो कह रही है । तुम अपना उपद्रव छिपाती क्यों हो ? तुम

न मुञ्चति। (सुट्ठु क्खु एसा भणादि, किं एह आत्तणो उपद्दवं णिगूहसि अणुदिअसं क्खु परिहीअसि। अङ्गेसुं लावण्णमई छाया केवलं तुमं ण मुञ्चादि।)

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा। तथाहि (१)—

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।

वर्त्तमाननिर्देशेन वयस्य विरतिर्नासीदिति द्योत्यते। नन्वेतत् ग्रीष्मातपलंघनवशादेवेति चेदत आह—अङ्गेष्विति। लावण्यं प्रचुरं यत्र सा लावण्यमयी—लावण्यप्रचुरा, तदुक्तम्—'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।

प्रतिभाति यदङ्गेषुतल्लावण्यमिहोच्यते'॥ इति॥

छाया—कान्तिः, 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः'। इत्यमरः। न मुञ्चति—न परित्यजति, स्वभावसुन्दरत्वादिति भावः। अत्र छायेति स्त्रीलिङ्गेन न मुञ्चतीत्यनेन च यथा प्रियसखी विरहादिना खिन्नां नायिकां कदाचिन्न परित्यजति तथा छाया त्वामित्युपमालङ्कारो ध्वन्यते।

(१) राजेति। अवितथं—सत्यम्, आह—अनुदिवसं परिहीयस इति ब्रवीति। तदवितथत्वं प्रतिपादयितुमाह—तथाहीति।

क्षामेति। आननं—शकुन्तलाया मुखम्, क्षामक्षामौ—अतिशयेन क्षीणौ सङ्कुचितावित्यर्थः, कपोलौ—गण्डौ यस्य तत्तथाभूतम्, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्वचनम्; मुखस्य दुःखे सङ्कोचो सुखे विकासः, यथा हि शिशुपालवधकाव्ये—'परिफुल्लगण्डफलकाः परस्परं परिरेभिरे' इत्यादि। तथा उरः—वक्षःस्थलम्, काठिन्यमुक्तौ—वल्कलशिथिलीकरणसमये दृष्टपूर्वः प्रतिक्षणं परिपोषस्तेन काठिन्यञ्च तेन रहितौ स्तनौ यस्य तत् तथाभूतम्, अनेन पूर्वं स्तनमण्डलान्तरितत्वादुरो द्रष्टुं न शक्यमिदानीमिमौ स्तनाविदमुर इति स्पष्टं ज्ञातुं शक्यमिति द्योत्यते। तथा मध्यः मध्यावयवः, कटिदेश इत्यर्थः, अतिशयेन क्लान्तः क्लान्ततरः—नितरां दुर्बलः, पूर्वं मध्यस्य निविडपीनस्तनयुगलाक्रान्त्या क्लान्तत्वसिद्धावपीदानीं क्लान्ततर इति विशेषवचनम्। तथा अंसौ स्कन्धौ भुजाविति कस्यचिद्व्याख्यानम्; प्रकामविनतौ—प्रकर्षेणावनतौ, क्षीणामंसयोर्विनतत्वधर्मसिद्धावपि प्रकामेति विशिष्टवचनम्, अनेन तयोर्ग्लान्यति-

---

दिन-प्रतिदिन घुलती जा रही हो। केवल लावण्यमयी छाया तुम्हें नहीं छोड़ती।

(१) राजा—प्रियंवदा सच कहती है। क्योंकि—

शकुन्तला के मुखमण्डल के दोनों कपोल धँस गये हैं, वक्षःस्थल के दोनों स्तन अपनी कड़ाई त्याग चुके हैं, मध्यभाग बहुत दुर्बल हो गया है, दोनों कन्धे अत्यधिक झुक गये हैं,

शोच्या च प्रियदर्शना च मदनग्लानेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ॥ १२ ॥

शकु—(निश्वस्य) कस्य वा अन्यस्य कथयिष्यामि, किन्तु आयास-हेतुका वो भविष्यामि (१)। (कस्स वा अण्णस्स कधइस्सं, किन्तु आआसहेदुआ वो भविस्सं)

शयो द्योत्यते। तथा छविः-देहद्युतिश्च, पाण्डुरा-पाण्डुवर्णा, पाण्डुरत्वमुत्कण्ठावशात् यथा हि मालतीमाधवे—'अभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तिः कपोलः' इति।

अत एव मदनग्लाना—कामविकृता, इयं—शकुन्तला, पत्राणां—पर्णानां शोषणेन—शोषणकर्मकारिणा सारभूतरसग्रहणाच्छोषं कुर्वतेत्यर्थः, शोषयतेर्नन्द्यादित्वात् 'कृत्यल्युटो बहुलमि'ति बहुलग्रहणाद्वा कर्तरि ल्युट्, मरुता—वायुना, स्पृष्टा—लंघिता, स्पर्शेन तत्कार्यं पत्रपाण्डुरीकरणं लक्ष्यते, माधवीलता इव—तन्नामवल्लीव, शोच्या—उक्तकार्कश्यवैवर्ण्यादिना शोचनीया च, प्रियं—मनोज्ञं दर्शनं—प्रतिकृतिर्यस्याः सा तथाभूता च, लावण्यानपायादिति भावः, आलक्ष्यते—परिदृश्यते। तथा च प्रियंवदोक्तमवितथमेवेति भावः।

अत्र शोच्या च प्रियदर्शना चेति विरोधाभासः, शोच्यः—अनुकम्पार्हेत्यर्थ-करणेन विरोधपरिहारात्। मदनेन क्लिष्टेति शोच्यत्वे हेतुत्वोपादानात् काव्यलिङ्गम्, उपमा च, स्वभावोक्तिरिति केचित्। परे तु :—'प्रियंवदावचनसमर्थनरूपं कार्यं प्रति आननादेः क्षामक्षामकपोलत्वादिरूपबहुविधहेतोरुपन्यासात् समुच्चयालंकार' इति प्राहुः। शब्दालंकारोऽनुप्रासोऽत्र।

अत्र चोरःप्रभृतीनामेकवचनान्तत्वमुद्दिष्टं; किन्तु मध्ये अंसाविति द्विवचनतानिर्देशनाद् भग्नप्रक्रमता दोषः, स च विरहिवाक्यान्तर्गतत्वादेव समाधेयः, किञ्च मध्यवर्णनात् परं पुनरंसवर्णनादुत्थितः स च दोषस्तयैव रीत्या परिहर्त्तव्यः। तथैव-शब्दस्य लतापदोत्तरान्वयित्वेनाकांक्षितत्वात् तदुत्तरवर्त्तित्वेन प्रक्षेपो युक्तः, परन्तु तत्पदात् पूर्वं प्रक्षेपादस्थानपदता। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ १२ ॥

(१) शकु इति। अथ शकुन्तला सखीनिर्बन्धनेन शिथिलीकृतलज्जाऽपि स्वसन्तापस्याप्रतिकार्यत्वं मनसिकृत्याह-कस्येत्यादि। अन्यस्य-युवाभ्यामपरस्य, कस्य

शरीर की कान्ति पीली पड़ गयी है। अतएव पत्तों को सुखाने वाली हवा के लगने से मुरझाई हुई माधवीलता के समान यह कामपीड़िता शकुन्तला शोच्या (शोचनीया) तथा प्रियदर्शना (देखने में सुन्दर) दीखती है ॥ १२ ॥

(१) शकुन्तला—(ठंढी साँस लेकर) कहूँगी तो और किससे कहूँगी, किन्तु कहने से तुम लोगों को कष्ट होगा।

उभे—सखि ! अत एव निर्बन्धः । स्निग्धजनसंविभक्तं खलु दुःखं सह्यवेदनं भवति (१) । (सहि ! अदो ज्जेव णिम्बन्धो । सिणिद्धजण-संविभत्तं क्खु, दुक्खं सज्झवेअणं भोदि ।)

राजा—

पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम् ।

जनस्य वा, समीपे कथयिष्यामि न कस्यापीत्यर्थः । स्नेहसौहार्दादिना युवयोरेवावश्यं कथनीयं युष्मत्तुल्यापरविस्रम्भयुक्तबन्धुजनाभावादिति भावः । तर्हि कथं न कथ्यत इत्यत्राह—किन्त्विति । आयासहेतुका—समदुःखसुखत्वात् परिश्रमहेतुभूता, वः—युष्माकम् भविष्यामि—मत्सन्तापस्याशक्यप्रतिक्रियत्वात् समदुःखयोर्दुःखमेव भविष्यतीत्यर्थः । अत एव न कथयामीति भावः ।

(१) उभे इति । अथानसूयाप्रियंवदे तत एव कथनीयमित्याहतुः—सखीति । अतएव-अपरस्यान्तिकेऽवाच्यतया स्नेहविस्रम्भादिनाऽभिन्नहृदयत्वेन आवयोः समीपे कथनीयत्वादेव, यद्वा आवयोरायासः स्यादित्यत एवेत्यर्थः । निर्बन्धः-तवायासनिमित्तं श्रोतुमाग्रहः । ननु ततः किं भवेदित्यत्राह—स्निग्धजनेति । खलु—यस्मात्, दुःखं—क्लेशः, स्निग्धजनेषु—वयस्यजनेषु. संविभक्तं—सम्यग्विभज्यार्पितं सत्, 'वयस्यः स्निग्धः सवया' इत्यमरः, सह्या—सोढुं शक्या सहनीयेत्यर्थः । वेदना—उपभोगो यस्य तत् तथोक्तं, शिथिलं भवतीत्यर्थः । यथा कस्यचित् भारवाहकस्य भारसंविभागेन दुःखं लघु भवति तद्वदिति भावः ।

अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । इत्यर्थद्योतनिका । इत्यन्तः प्रतिमुखसन्धिः सन्दर्शितः ।

अथ राजा दुष्यन्तः 'अहमेवास्य आयासस्य हेतुरि'ति निश्चिन्वानोऽपि सखीजनस्य आग्रहातिशयेऽपि शकुन्तलायाः प्रतिवचनादाने विलम्बबुद्ध्याचयापायशंकया परामृशति—पृष्टेति । समे—न्यूनातिरेकशून्ये दुःखसुखे यस्य तथाभूतेन, दुःखसाम्यस्य प्रेमप्रकर्षगमकत्वात्तद्द्योतनाय दुःखपदस्य पूर्वनिपातः, जनेन—अनसूयाप्रियंवदालक्षणेन सखीद्वयेनेति यावत्, पृष्टा—आधिहेतुप्रकाशनाय जिज्ञासिता, इयं बाला—मुग्धा शकुन्तला, बालेति कैतवानभिज्ञत्वं द्योत्यते, तेन च सत्यवचनमेव वक्ष्यतीति ध्वन्यते, मनोगतं—मनसि विद्यमानम्, आधेः—मनस्तापस्य हेतुं-निदानम् 'पुंस्या-

---

(१) दोनों—सखि ! इसीलिए तो हम आग्रह करती हैं । क्योंकि अपने प्रियजनों में दुःख बाँट देने से उसकी वेदना सह्य हो जाती है ।

राजा—इसके सुख तथा दुःख में बराबर हिस्सा बटाने वाली सखियों ने कारण पूछा है

दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण-
मत्रोत्तरश्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥ १३ ॥

धिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः, न वक्ष्यति—श्रावयिष्यति, इति न, अपि तु सखी-जननिर्बन्धेन वक्ष्यत्येवेति भावः, एतदर्थमेव नद्वयम् । किन्तु अनया—बालया शकुन्तलया, विवृत्य वदनं परावृत्य, सतृष्णं-सस्पृहं यथा स्यात्तथा, 'तृष्णे स्पृहापिपासे द्वे' इत्यमरः, बहुशः—असकृत्, दृष्टोऽपि-प्रथमदिन एव वीक्षितोऽपि, एवं वीक्षणेनाहमेवाधिहेतुरिति निश्चिन्वानोऽपीत्यर्थः, अहमिति शेषः, अत्र सखीप्रश्ने, उत्तरस्य-सखीप्रश्ने प्रतिवचनस्य श्रवणे-श्रवणविषये कातरतां किमेषा वक्ष्यतीत्यधीरताम्, गतोऽस्मि—प्राप्तोऽस्मि, प्रथमदर्शनदिने तथैवाभिलापप्रकाशनात् किं मद्धेतुकेयमवस्थाऽथवाऽन्यहेतुकेति संशयस्य सम्प्रति निरसनीयत्वात् कातरितोऽस्मीत्यर्थः । 'अत्रोत्तर' इत्यत्र 'अत्रान्तरे' इति पाठान्तरम्, तत्र प्रश्नप्रतिवचनयोर्मध्ये इत्यर्थः ।

अत्र बालात्वेन मनोगतं बहिःप्रकाशयिष्यत्येवेति हेतुहेतुमद्भावात् काव्यलिङ्गम् । उत्तरार्द्धे विभावनाविशेषोक्त्योः सन्देहसङ्करः ।

इत्याद्यारभ्यैतदङ्कसमाप्तिं यावद् गर्भसन्धिरभिहितः । किं च शकुन्तलादुष्यन्तयोः परस्परसम्प्राप्त्यपायोपायशङ्के दर्शिते; ताभ्यां हि ऐकान्तिकप्राप्त्याशङ्काकरणात् प्राप्त्याशाऽभिधा तृतीया कार्यावस्था निरूपिता । तथा च पृष्टा जनेनेत्यादिना दुष्यन्तस्य शकुन्तलाप्राप्तौ उपायशङ्का, अग्रे 'अवहीरणाभीरुअं वेवदि मे हिअअं' इत्यादिना शकुन्तलायाश्च दुष्यन्तप्राप्तौ अपायशङ्का च बोध्या । प्राप्त्याशालक्षणमाह दर्पणे—'उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशाप्राप्तिसम्भवः ॥' इति ।

गर्भसन्धेरेकैकमङ्गं यथास्थानं वक्ष्यते ।

किं चैवं नायकनायिकयोरन्यसम्प्राप्तिः फलं, फलस्य चाभ्यर्हितोपायोऽन्योन्यानुरागः, अनुरागस्तु प्रागङ्कुरितोऽत्र सम्यगुद्भिन्नः, तस्य च 'दृष्टा जनेने'त्यादिना नायकनिरूपितः 'अवहीरणाभीरुअं वेवदि मे हिअअं' इति नायिकानिरूपितश्च संशयनिबन्धनो ह्रासः, परस्परान्वेषणं तु समुल्वणितमेवेति तत्तत् तत्र तत्रोन्नेयम् । यदुक्तं विश्वनाथेन—'फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन । गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान् मुहुः ॥' वसन्ततिलकं नाम वृत्तम् ॥ १३ ॥

किन्तु उन्हें यह अपनी मनःपीडा का कारण नहीं बतावेगी, यह बात नहीं है, अर्थात् बतावेगी अवश्य । लेकिन उस समय उन्होंने (शकुन्तला ने) यद्यपि फिरकर कई बार मुझे देखा था, फिर भी इस समय इनका उत्तर सुनने के लिए मैं अधीर हो रहा हूँ ॥१३॥

शकु—यतः प्रभृति तपोवनरक्षिता स राजर्षिर्मम दर्शनपथं गतः (१)। (जदो पहुदि तवोवणरक्खिदा सो राएसी मम दंसणपधं गदा।) (इत्यर्द्धोक्तेन लज्जां नाटयति।)

उभे—कथयतु कथयतु प्रियसखी (२)। (कधेदु कधेदु पिअसही।)

शकु—ततः प्रभृति तद्गतेन अभिलाषेण एतावदवस्थाऽस्मि संवृत्ता (३)। (तदा पहुदि तग्गदेण अहिलासेण एआवदवत्थह्मि संवुत्ता।)

उभे—दिष्ट्या ते अनुरूपे वरे अभिलाषः। अथवा सागरमुज्झित्वा कस्मिन् महानद्या प्रवेष्टव्यम् (४)। (दिठ्ठिआ दे अणुरूए वरे अहिलासो। अथवा साअरं उज्झिअ कहिं महाणईए पविसिदव्वं।)

---

(१) शकु इति। अथ शकुन्तला किञ्चिल्लज्जमाना स्वायासकारणं व्याचष्टे-यत इति। यतः प्रभृति-यत्कालमारभ्य, कार्त्तिक्याः प्रभृतीति भाष्यप्रयोगात्प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी, तपोवनरक्षिता—आश्रमरक्षकः, सः—प्रसिद्धः, राजर्षिः—मुनिकल्पो राजा दुष्यन्तः। अत्र नायिकया हृदा पतिरूपेण वृतत्वात् स्वामिबुद्ध्या 'दुष्यन्त' इति नामकीर्त्तनमकृत्वा 'राजर्षिरि'ति कीर्तितमिति नायिकागतमौचित्यं ध्वनितम्। दर्शनपथं गतः—दृग्गोचरीभूतः, एतेन दर्शनस्य दैवकृतत्वं द्योतयति। तदो पहुदि (ततः प्रभृति) इत्यादि वक्ष्यमाणवाक्यं एतद्वाक्यस्यार्द्धं बोध्यम्, लज्जां—रतिविषयकत्वेन व्रीडाम्, नाटयति—मुखभङ्ग्याभिनयति।

(२) उभे इति। कथयतु कथयत्विति प्रमोदातिशयोपलब्ध्या द्विर्वचनम्।

(३) शकु इति। ततः प्रभृति-तत्कालमारभ्य, पूर्ववत् पञ्चमी; तद्गतेन-तं राजर्षिं गतेन-प्राप्तेन, दुष्यन्तगतेनेत्यर्थः, अभिलाषेण—रमणस्पृहया, हेतौ तृतीया, एतावती—इदमाकारा अवस्था-सन्तापकारिणी दशा यस्याः सा तथाभूता। राजर्षिदर्शनमेव आयासहेतुरिति भावः। एतेन सप्तमी मदनावस्था सूचिता। अत्र गुह्यार्थस्योद्भेदनाद् गर्भसन्धेः विसिर्नामाङ्गम्।

'रहस्यार्थस्य तूद्भेदः विसिः स्यात्' इति दर्पणोक्तलक्षणात्।

(४) उभे इति। अथानसूयाप्रियंवदे प्रश्नानुरूपमुत्तरं प्राप्य ससन्तोषमाहतुः;

---

(१) शकुन्तला—इस तपोवन की रक्षा करने वाले राजर्षि जब से इन नेत्रों के सम्मुख हुए हैं······(आधा वाक्य कहकर लज्जित हो जाती है)।

(२) दोनों—प्रियसखी ! कहो, कहो।

(३) शकुन्तला—तभी से तद्गत अभिलाषाओं के द्वारा मैं इस अवस्थाको प्राप्त हुई हूँ।

(४) दोनों—भाग्यवश अपने अनुरूप वर के लिए ही तुम्हारी इच्छा उत्पन्न हुई है। अथवा समुद्र को छोड़कर महानदी कहीं क्या दूसरी जगह जाकर मिलती है ?



राजा —सहर्षम् । श्रुतं यच्छ्रोतव्यम् (१) ।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः ।
दिवस इवाभ्रश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥ १४ ॥

दिष्ट्येति आनन्दसूचकमव्ययम्, 'दिष्ट्या हर्षे शुभे भाग्ये' इति शब्दार्णवः, 'दिष्ट्या समुपजोषमित्यानन्दे' इत्यमरः, अथवा दिष्ट्या-भाग्यात्, ते-तव, अनुरूपे वरे--योग्यपात्रे, अभिलाषः आसक्तिः, जात इति शेषः । तमेवार्थं प्रशंसामुखेनाहतुः—अथवेति । महानद्या--गङ्गाप्रभृत्या, सागरं-महोदधिम्, उज्झित्वा-परित्यज्य, कस्मिन् प्रवेष्टव्यं ? न तदतिरिक्ते कस्मिंश्चिदपि तु सागर एवेत्यर्थः ।

अत्र दृष्टान्तलङ्कारः । अनुरूपेण प्रशंसनात् समालङ्कार इति केचित् ।

(१) राजेति । अथ नायिकाप्रतिवचनमहोत्सवप्रमुदितो राजा कृतार्थतां परामृशति ·श्रुतमिति । यत् श्रोतव्यं··श्रवणीयम्, आसीदिति शेषः, अत्र श्रोतव्यस्य समुत्कृष्टत्वमर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम् । यद्वाऽनेन श्रोतव्यविशेषो लक्ष्यते तेनैवंविधमन्यन्नास्तीत्यस्य सर्वोत्कृष्टत्वं द्योत्यते । श्रुतमित्यतः परमस्माच्छ्रवणसुखकरं किमपि नास्तीति लब्धं श्रोत्रसत्तासाफल्यमिति भावः । अनेन कृतार्थत्वं व्यज्यते । अत्र यच्छब्दस्योत्तरवाक्यगतत्वान्न तच्छब्दाकाङ्क्षेति केचित् । परे तु 'यत् श्रोतव्यं' 'तत्र श्रुतमि'ति परामर्शयन्ति ।

अथ हर्षातिरेकेणात्मनः कृतार्थतासम्पादकं स्मरमभिनन्दति—

स्मर इति । तपात्यये· तपस्य··ग्रीष्मस्य अत्यये··अपगमे, वर्षारम्भ इत्यर्थः; जीवलोकस्य ·प्राणिवर्गस्य, अभ्रेण··मेघेन तद्व्याप्त्येत्यर्थः । श्यामः··कृष्णवर्णः, 'अर्द्धश्यामः' इति क्वचित् पाठः, तत्र—अर्द्ध—अपरार्द्धं, अपराह्ण इत्यर्थः । श्यामः—सच्छायः पूर्वाह्णे सातपत्वादित्यर्थः, दिवस इव, स्मरः—कन्दर्प एव, मे,मम तापस्य—सन्तापस्य हेतुः उत्पादकः, आसीदिति शेषः, पुनरिदानीं सः—स्मर एव, निर्वापयिता··तापस्य निवृत्तेः कारयिता, जात इति शेषः, अस्या मयि अनुरागमुत्पाद्य तच्छ्रावणेनेति भावः ।

अयं सरलार्थः—यथा ग्रीष्मकालीनो दिवसः तिग्मरश्मिसमधिकृततया प्राणिजगतः सन्तापमुत्पादयन् ग्रीष्मावसाने शीतलजलधरसहकृतो ग्रीष्मोपाधिशून्यः स

(१) राजा--(हर्ष के साथ) जो सुनना था, सुन लिया ।

जो दिन, गर्मी के दिनों में संसार के प्राणियों को ताप से झुलसाता है, वह दिन गर्मी बीत जाने के बाद मेघमलिन होकर उस सन्ताप को दूर कर दिया करता है । ठीक उसी तरह कामदेव ने मेरे हृदय में सन्ताप उत्पन्न किया और अब उसी काम ने सन्ताप को दूर भी कर दिया ॥ १४ ॥

शकु—तद् यदि वामनुमतम् , ततस्तथा प्रवर्त्तितव्यम् , यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामीति । अन्यथा स्मरतं माम् (१)। (ता जइ वो अणुमदं, तदो तधा पउत्तिदव्वं, जधा तस्स राएसिणो अणुकम्पणीआ होमि त्ति। अण्णधा सुमरेध मं ।)

राजा—अहो विमर्शच्छेदि वचनम । (२) एतदेव कामफलम्, यत्न-

एव शुद्धो दिवसः सन्तापोपशमने जनको भवति; तथा स प्रसिद्धः कामदेवः शकुन्तलोद्देशेन ममान्तस्तापमुत्पादयन्नपि सम्प्रति यदुद्देशेन शकुन्तलायाः सन्तापं जनयन् ममाशापूरणाङ्कुरप्रकाशनेन सर्वं मेऽन्तस्तापमपसारयतीति ।

अत्र य एव तापहेतुः, स एव तत्तापनिर्वापयिता इति विरोधाभासः, स्वावच्छेदेन तापहेतावपि नायिकावच्छेदेन तापोपशमकत्वेनावच्छेदभेदेन तत्परिहाराद् ; इति केचिद् । तापजनकस्तु तापोपशमको जात इति विरुद्धकार्यसंघट्टनया विषमोऽलङ्कार इत्यपरे । श्रौती उपमा च । उपमया पूर्वं स्मरस्यातितीक्ष्णत्वं तदानीमत्यन्तानुकूलत्वं च सूच्यते । कामस्य दाहहेतुत्वमाह गारुडे—

'कामाद् भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षय' इति । आर्या जातिः ॥ १४ ॥

(१) शकु इति । अथ शकुन्तला स्वाभिलाषस्य दौर्लभ्यबुद्धावपि प्रचलितसन्तापसन्ततेरसहिष्णुत्वेनानुमतिपूर्विकां प्रवृत्तिं तत्सिद्धौ प्रियसहचरीजनं प्रार्थयते—तदिति । तत अभिलषितत्वम्, यदि वां युवयोः, अनुमतम् अभीष्टम्, यदीदृशो मे अभिलाषो युवाभ्यां रोचत इत्यर्थः, ततः—तदा, तथा प्रवर्त्तितव्यं तेनैव रूपेण यतितव्यम्, तथाशब्दार्थं विवृणोति—यथेत्यादि । यथा—येन रूपेण तस्य राजर्षेः—मुनितुल्यस्य राज्ञो दुष्यन्तस्य, अनुकम्पनीया दयनीया, सादरं ग्राह्येति भावः, अन्यथा युवयोरननुमततया यत्नाभावेन तस्याननुकम्पनीयत्वे सतीत्यर्थः, मां स्मरतम् मरणस्य ध्रौव्यात् स्मृतिमात्रेणानुभवतम्, अवश्यं जीवलोकं हास्यामीति भावः । अत्र निर्वेदादयो भावाः ।

(२) राजेति । अथ शकुन्तलायाः तद्यदीत्यादि वचनमाकर्ण्यानुमंस्येते न वा सख्याविति सन्दिहानो राजा पुनरन्यथेत्यादि श्रुत्वाऽनुमंस्येते एवेत्याह-अहो इति । विमर्शं-संशयं छिनत्तीति विमर्शच्छेदि सख्योरनुमननसंशयनिवर्तकमित्यर्थः । सख्यौ अनुमंस्येते एवेति भावः । एतेनेते झटिति सङ्गमाय यत्नं करिष्येते इति विश्वासः

---

(१) शकुन्तला--इसलिए यदि तुम दोनों का सम्मत हो, तो-ऐसा यत्न करो, जिससे मैं उसकी कृपापात्र बनूँ । नहीं तो मेरा स्मरण रखना । (इस दुःसह पीड़ा से मैं बचूँगी नहीं) ।

(२) राजा—ठीक है, इसके वाक्य मेरे सब सन्देह दूर किये देते हैं । कामदेव का

फलमन्यत् । एतावदवस्थाऽपि मां सुखयति ।

प्रियं—(जनान्तिकम्) अनसूये ! दूरगतः अस्या मनोरथः अक्षमा इयं कालहरणस्य (१) । (अणसूए ! दूरगदो से मणोरहो, अक्खमा इअं कालहरणस्स ।)

प्रतीयते । यद्वा 'इयं मयि प्रकटितानुरागाऽपि गुरुजनाज्ञया यदि मामुपेक्षेत' इति प्रागासीत् संशयः । सम्प्रति अनेन वचनेन गुरुजनापेक्षत्वप्रकाशनात्स निरस्त इत्यर्थः । यद्वा सत्यमियं मद्विरहासहिष्णुतया मरिष्यतीति न संशय इत्यर्थः । ईदृशः समाचारो वर्णितोऽस्ति नैषधकाव्ये—हंस आह—

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे ।
त्वदर्थमर्थित्वकृतिः प्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ॥ स० ३, श्लो० ७२।

तत्र संशयच्छेदि वचनं दमयन्ती आह—

अनैषधायैव जुहोति तातः किं मां कृशानौ न शरीरशेषाम् ।
ईष्टे तनूजन्मतनोः स नूनं मत्प्राणनाथस्तु नलस्तथाऽपि ॥ स० ३, श्लो० ७६ ।

एतदेव—परस्परं प्रति परस्परानुरागोत्कर्ष एवेत्यर्थः, एतदेव—एतत्पर्यन्तमेव वा, कामफलं-कामसाध्यं कामेन जनितमिति यावत् , न त्वितोऽन्यत् परिणयादिकं कामेन साध्यत इत्यर्थः, अन्यत्-परिणयादिना सङ्गमादिकं यत्नफलं-चेष्टासाध्यम्, तथा च येन येन विना यत्नकरणे प्रवृत्तिर्नासीत् कामदेवेन तत्तन्निष्पादितमेव सम्प्रति समागमायास्माभिर्यत्नविधानं साम्प्रतमिति भावः ।

एतावदवस्थापि--मय्यनुरागोदयात् मां विना मदनशोषिताऽपि, यद्वा एतावती मय्यनुरागप्रदर्शनमात्रपर्यन्ता अवस्था यस्याः सा तथाभूताऽपि, मां सुखयति--सुखं करोति, अनुरागोद्गारादिति भावः । तथा च—सम्प्रति सङ्गमालाभेऽपि भाविसङ्गमोपादानत्वावश्यं भावान्मामानन्दयतीति निष्कृष्टार्थः । सुखशब्दात् करोत्यर्थे णिच् । यद्वा सुखिरिति चौरादिकः स्वार्थण्यन्तः । इह मार्गो नाम गर्भसन्धेरङ्गमुपन्यस्तम्, तल्लक्षणं यथा दर्पणे—'तत्त्वार्थकथनं मार्ग' इति ।

(१) प्रियमिति । जनान्तिकम्-अप्रकाशम्, लक्षणं प्रागुक्तम् । शकुन्तलाया वचनेन नायके दृढानुरागमवधार्य प्रियंवदा सखेदं सन्तोषं चाह—अनसूय इति । अन्यथा दुःखद्योतिकया सम्बोधनकाका वयमिदानीं सङ्कटसागरे निमग्ना इति व्यज्यते । अस्याः—शकुन्तलायाः, मनोरथः-अभिलाषः, कामवेग इति यावत्,दूरम्-

वास्तविक फल यही है । इसके अतिरिक्त जो फल हैं, वे सब केवल चेष्टा के फल हैं । यद्यपि यह इतनी भयावह अवस्था को पहुंच चुकी है फिर भी मुझे तो आनन्दित ही करती है ।

(१) प्रियंवदा—(चुपके से) अनसूया ! इसकी अभिलाषा बहुत दूर तक पहुँच चुकी है । अब यह कालक्षेप सहन नहीं कर सकेगी ।

अन—प्रियंवदे। को नु उपायो भवेत्, येन अविलम्बितं निभृतञ्च सख्या मनोरथं सम्पादयावः (१)। (पिअम्वदे! को णु उवाओ भवे, जेण अविलम्बिदं णिहुदं च सहीए मणोरहं सम्पादेह्म।)

प्रियं—निभृतमिति चिन्तनीयम्, शीघ्रमिति न दुष्करम् (२)। (णिहुदं त्ति चिन्तणीअं, सिग्घं त्ति ण दुक्करं।)

अन—कथमिव ? (३)। (कधं विअ ?)

प्रियं—ननु सोऽपि राजर्षिः अस्मिन् जने स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाषः एषु दिवसेषु प्रजागरकृश इव लक्ष्यते (४)। (णं सो वि राएसी इमस्सि जणे सिणिद्धदिट्ठिआ सूइदाहिलासो इमेसुं दिअसेसुं पजाअरकिसो विअ लक्खीअदि।)

भनासन्नम्, राजानमिति यावत् गतः-विषयीचकार। अत एवेयं कालहरणस्य—कालक्षेपस्य, अक्षमा-न अर्हा, स्वभावतोऽयं तदासादनव्यापारो बहुकालसापेक्षः, सुतरामस्माकं तत्र कालविक्षेपोऽसाम्प्रतमिति भावः। कालक्षेपे हि सखी अस्माकं म्रियेतैवेति हृदयम्।

(१) अनेति। नुरिति प्रश्ने। येन-उपायेन, अविलम्बितं-शीघ्रम्, निभृतं—गुप्तं च यथा भवति तथा। मनोरथं-सख्या मनोरथविषयीभूतं दुष्यन्तसङ्गमम्, सम्पादयावः—सफलतां नयावः।

(२) प्रियमिति। निभृतं-गुप्तं, गुप्तभावेन प्रियसख्या राजसंमेलनकरणम्, चिन्तनीयं-दुःसाध्यतया विचारणीयम्, ऋषीणामितस्ततः समन्ततो विचरणात् तेषाञ्च तीव्रबुद्धिमत्तया तेषु किञ्चिद् गुप्तीकरणस्यास्माभिः सुदुष्करत्वादिति भावः। शीघ्रं सम्पादनं दुष्करं-अनायाससाध्यम्, राज्ञो दुष्यन्तस्यापि सख्या उपरि कृतानुरागत्वादित्यांशयः।

(३) अन इति। कथमिव—कीदृशमेतत् ?

(४) प्रियमिति। नन्वनुप्रश्ने। सोऽपि राजर्षिः-दुष्यन्तोऽपि; अस्मिन् जने—प्रियसख्यां शकुन्तलायाम्, स्निग्धदृष्ट्या-प्रणयदृष्ट्यर्पणेन, सूचितः-व्यञ्जितः अभि-

---

(१) अनसूया—प्रियंवदा! कौन सा उपाय किया जाय, जिससे गुप्तरीति से किन्तु शीघ्र ही इसकी अभिलाषा पूरी कर दी जाय।

(२) प्रियंवदा—'गुप्तरीति' यही जरा कठिन है, किन्तु 'शीघ्र' कठिन नहीं है।

(३) अनसूया—कैसे ?

(४) प्रियंवदा—वह राजर्षि भी स्निग्ध दृष्टि द्वारा अपनी अभिलाषा प्रकट कर चुके हैं, और इधर कई दिनों से ज्यादा जागते रहने से वे भी कृश से दीखते हैं।

राजा—[आत्मानमालोक्य] सत्यमित्थम्भूत एवास्मि । (१) तथाहि—

अशिशिरतरैरन्तस्तापैर्विवर्णमलीमसं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रवर्त्तिभिरश्रुभिः ।

लापः—अनुरागो यस्य स तादृशः, प्रजागरकृशः—प्रजागरेण—रात्रिजागरणात् कृशः—क्षीणाङ्ग इव, लक्ष्यते—परिदृश्यते तथा च—राज्ञो दुष्यन्तस्यापि तस्यामासक्तिवशात् शीघ्रता न दुःसाध्येति तात्पर्यम् । एतेन स्मरदशाक्रान्तत्वमभिहितम् । यथोक्तम्,—

चक्षूरागस्तदनु मनसः सङ्गतिर्भावना च
व्यावृत्तिः स्यात्तदनु विषयग्रामतश्चेतसोऽपि ।
निद्राच्छेदस्तदनु तनुता निस्त्रपत्वं ततोऽनू-
न्मादो मूर्च्छा तदनु मरणं स्युर्दशाः प्रक्रमेण ॥ इति ।

(१) राजेति । आत्मानं—स्वकलेवरम्, प्रियंवदावचनाकर्णनमात्मावलोकन-हेतुः । आत्मावलोकनेन प्रियंवदोक्तं याथातथ्यं विभाव्याह—सत्यमिति । अनेन प्रियंवदोक्तमङ्गीकरोति, इत्थंभूतः—ईदृशीमवस्थामापन्नः, प्रजागरकृश इवेत्यर्थः । कार्श्यं दर्शयितुमाह—तथाहीति ।

अशिशिरेति । अन्तस्तापैः—अन्तरुत्थितमदनोत्तापैः, हेतुभिः अन्तस्तापानां हेतुत्वमश्रुप्रवर्त्तनात्मककार्यमुद्दिश्यैवेति बोध्यम्, अशिशिरतरैः—अत्यन्तमुष्णैः, आनन्दाश्रुण एव शिशिरत्वसम्भवादत्र तु तादृशाश्रुणोऽभावादशिशिरैरित्युक्तम्, निशि-निशि—तद्दर्शनात्प्रभृति सर्वासु रात्रिषु, दिवा मुनिपरिचरणेन परिजनसन्निधानेन सहृद्दर्शनादिना च कथञ्चित् कालयापना भवतीति निशाग्रहणम्, प्रायेण निशास्वेव विरहोऽसह्यतमो भवतीति कामिजनस्वभावः । यद्वा दिवा तादृशवैधुर्यप्रकाशनेन राज्ञो धीरोदात्तनायकत्वव्याघातसम्भवान्निशिपदोपादानम् । अनेन शकुन्तलादर्शनात् प्रभृति अद्य यावदेतदवस्था द्योतिता, भुजे—अन्यत्रारत्या भूपृष्ठशयने उपधानीकृते वामबाहौ न्यस्तात्—स्थापितात् अपाङ्गात्—नेत्रप्रान्तात् प्रवर्त्तिभिः प्रवाहरीत्या निर्गच्छद्भिः, अत्र प्रजागराच्छय्यायां परिवृत्त्या विवर्त्तनेन उपधानस्य व्यर्थीभूतत्वाद् भुजोपधानत्वमुक्तम्, अनेन चिन्ताविषादादयो द्योत्यन्ते, अश्रुभिः—नयनवारिभिः बहुवचनेन सदानियन्त्रणप्रसमरत्वं तेन दुःखबाहुल्यं च द्योत्यते । विवर्णकुत्रचिदंशे कान्तिरहितं मलीमसं—कुत्रचिदंशे मलिनञ्च, यद्वा विवर्णं—विकृतवर्णमत

(१) राजा—(अपने को देखकर) सचमुच, मैं ऐसा ही हो गया हूँ । क्योंकि—मैं प्रत्येक रात्रिमें अपने नेत्र का एक भाग हाथोंपर रखकर बैठा रहा हूँ, उस समय हार्दिक सन्ताप से जो गरम आँसू गिरे, उनसे मेरे मणिबन्धका रंग ही बदल गया है, इधर

अनतिलुलितज्याघाताङ्काद् मुहुर्मणिबन्धनात्
कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥ १५ ॥

प्रियं—[विचिन्त्य] हला ! मदनलेखनमिदानीमस्याः क्रियताम् (१)

एव मलीमसं—मलिनीभूतमित्यर्थः। अत्र विवर्णमणीकृतमिति पाठान्तरम्, तत्र विवर्णः-ज्योतिर्विरहितः मणिः-मध्यमणिर्यस्य तत् अविवर्णमणिः विवर्णमणिः सम्पादितमिति विवर्णमणीकृतम्, अभूततद्भावे च्विप्रत्ययः, अनेनापि दीर्घकालसेवेयमवस्थेति सूच्यते; अल्पकालेनेदृग्वैवर्ण्यासम्भवादित्यर्थः। कनकस्य वलयं—सुवर्णकटकम् ; अत्र कनकपदोपादानेन शैत्यं द्योत्यते, वलयपदमात्रेण तादृशार्थाप्रतीतेः, अनतिलुलितः-कनकवलयावरणेनानभिव्यक्तः ज्यायाः-मौर्व्या आघातेन अङ्कः-चिह्नं यत्र तत् तस्मात्तथोक्तात्, यद्वा अनतिलुलितायाः-अनतितरलितायाः कोटिद्वये अशिथिलबद्धाया इति यावत्। ज्यायाः-मौर्व्याः आघातेन अङ्कः—चिह्नं यस्मिन् तस्मात् इत्यर्थः, मणिबन्धनात्—मणिर्बध्यतेऽस्मिन्निति मणिबन्धनं-हस्तप्रकोष्ठभागस्तस्मात् स्रस्तं स्रस्तं—गलितं गलितम्, अतिकृशतया करप्रकोष्ठदेशमागतं सदित्यर्थः, मया-राज्ञा; मुहुः—पुनः पुनः, प्रतिसार्यते-प्रकोष्ठरूपस्वस्थानस्थं क्रियते। पूर्वमङ्गप्रत्यङ्गानामापेक्षिकस्थूलतया शिथिललग्नस्य वलयस्येदानीं कृशात् कृश एवाहं भवामीत्याशयः।

अत्र स्वभावोक्तिः काव्यलिङ्गञ्च। यदि चेत्थम्भूतोऽस्मीत्युक्त एवार्थोऽनेन भङ्गयन्तरेण वर्ण्यते तदाऽश्रुप्रसारणादिकार्यमुखेन जागरणादिप्रतिपादनादप्रस्तुतप्रशंसाऽपीति केचित्, परे तु कार्श्याङ्गत्वात् प्रस्तुतेन कार्येण कनकवलयस्रंसनेन तत्कारणीभूतं कार्श्यं प्रत्याय्यत इति पर्यायोक्तिरलङ्कार इति वदन्ति।

अत्र च नायकालम्बितो निशातदाविसचन्द्रोदयादिभिरुद्दीपितोऽश्रुकार्श्यादिभिरनुभावितस्तदभिव्यक्तचिन्ताविषादग्लान्यौत्सुक्यादिभिः सञ्चारितो नायकगतो विप्रलम्भशृङ्गारः स्पष्टं भासते। स चात्र स्वाभिप्रायसिद्ध्या कृतकृत्यप्रायस्य नायकस्य 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते' इति रीत्या 'सुखायमानतामुपगच्छन् सम्भोगायमानः संवृत्तः। हरिणी वृत्तम्। तल्लक्षणन्त्विदम्—

'नसमरसलागैः षड्वेदैर्यतिर्हरिणी मता'। इति ॥ १५ ॥

(१) प्रियमिति। विचिन्त्य-विचार्य, शकुन्तलाभिलापं निभृतं साधयितु-

धनुषकी डोरी खींचनेसे मणिबन्ध-देश में जो चिह्न हो गया है, वह वलयके कारण दिखायी नहीं देता है और मणिबन्ध देश का जो स्वर्णमय आभूषण (अनन्त) है वह बार-बार नीचे फिसल आता है, जिससे उसे ऊपरकी ओर खींच ले जाना पड़ता है, नहीं तो गिर ही जाय ॥

(१) प्रियंवदा—(सोच कर) सखी ! तो इसके लिए एक कामलिपि तैयार की जाय



अहं तत सुमनोगोपितं कृत्वा देवतासेवापदेशेन तस्य राज्ञो हस्तं प्रापयिष्यामि । (हला ! मअणलेहणं दाणि से करीअदु, अहं तं सुमणोगोविदं कदुअ देवदासेवावदेसेण तस्स रण्णो हत्थं पावइस्सं ।)

अन—सखि ! रोचते मे सुकुमार एष प्रयोगः । किं वा शकुन्तला भणति ? (१) । (सहि ! रोअदि मे सुउमारो एसो पओओ । किं वा सउन्तला भणादि ? ।)

मुपायमाह—हलेति । हलेति अनसूयासम्बोधनम्, अस्याः—प्रियसख्याः सम्बन्धे-मदनलेखनम्-आत्मनः कामाविर्भावव्यञ्जिका पत्रिका, यथोक्तम्—'लेखप्रस्थापनैः स्निग्धैर्वीक्षितैर्मृदुभाषितैः । दूतीसम्प्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्तिरिष्यते' ॥ इति ।

सुमनोभिः''पुष्पैः गोपितं—संवृतं कृत्वेति शेषः, पुष्पस्याभ्यन्तरीकृत्येत्यर्थः, 'स्त्रियः सुमनसः पुष्पम्' इत्यमरः, देवतासेवापदेशेन—देवतार्चनव्याजेन, आभिः सुमनोभिरभ्यर्च्चनीया देवताऽभ्यर्च्यतामिति चछलेनेत्यर्थः । 'देवशेषापदेशेने'ति, पाठान्तरम्, तत्र—देवस्य शेषा—निर्माल्यम्, यथाह तारानाथः—

'प्रसादाद्दीयते यत्तु देवस्य पुरतोऽर्च्चकैः ।
स्रक्चन्दनादिनिर्माल्यं तत्र शेषेति सा स्त्रियाम्' ॥ इति ।

तस्या अपदेशेन—व्याजेन, मुनिभिः कल्पितं देवनिर्माल्यमिति गृह्यतामितिच्छलेनेत्यर्थः, 'देवनिर्माल्यादिभूतं पुष्पादिकं स्वकल्याणार्थं सर्वैर्धार्यते—इति त्वयाऽपि कल्याणार्थं धार्यतामित्युक्त्वे'ति भावः । मदनलेखसमाचारो यथा कुमारसम्भवे—'न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्ज्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः । व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम्' ॥ इति ।

अयमप्युपायो वात्स्यायनीये प्रोक्तम् । अनेनावश्यग्राह्यत्वं द्योतितम् । अत्राभूताहरणं नाम गर्भसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम्, तल्लक्षणमाह दर्पणे विश्वनाथः—

'तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम् ॥' इति ।

(१) अनेति । अनसूया प्रियंवदां प्रति संवदति-रोचते इति । रोचते-प्रीतिमुत्पादयति, मे—मह्यम्, 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सम्प्रदाने चतुर्थी, सुकुमारः—मृदुलः, अनायाससाध्य इत्यर्थः, तस्य राजर्षेरन्तिकं शकुन्तलाया अभिसरणादौ तु इममुपायमपेक्ष्य काठिन्यं स्यादिति भावः, प्रयोगः-प्रतिविधानम् यदर्थमयमुपायः प्रतिविधीयते तस्यास्तत्र सम्मतौ हि विधानसाफल्यं भवेदन्यथाऽऽयासमात्रमिति

और मैं उसे फूल के भीतर छिपाकर देवपूजा के व्याज से उस राजा के पास पहुँचा दूंगी ।

(१) अनसूया—सखी ! मुझे यह सुकुमार प्रयोग अच्छा मालूम पड़ता है । लेकिन शकुन्तला क्या कहती है ?

शकु—सख्योर्नियोगोऽपि विकल्प्यते (१)? (सहीणिओओ अधि विकप्पी-अदि ?)

प्रियं—तेन हि आत्मन उपन्यासानुरूपां चिन्तय ललितपदावलिबन्धां गीतिकाम् (२)। (तेण हि अत्तणो उवण्णासाणुरूअं चिन्तेहि ललिदपदावलि-बन्धं गोदिअं ।)

शकुन्तलासम्मत्यर्थमाह—किं वेति। अनेन कार्यकल्पनायां शकुन्तलायाः प्राधान्यं द्योत्यते। शकुन्तलायै रोचते न वाऽयं प्रयोग इति प्रश्नार्थः।

(१) शकु इति। सख्योः—शुभाकांक्षिण्योर्युवयोः नियोगः—आदेशोऽपि, विकल्प्यते··कर्त्तव्यो-ऽकर्त्तव्यो··वेति द्वैधीक्रियते? अपि तु नैवेत्यर्थः। नियोगश्चेदविलम्बितमेवानुष्ठातव्यस्तत्र सर्वथा ममाभिमतमिति भावः। अनेन सख्युपरि शकुन्तलायाः प्रणयातिशयो द्योत्यते। अत्र मनोरथो नाम नाट्यलक्षणमभिहितम्।

'मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिर्भङ्ग्यन्तरेण यत्' इति तल्लक्षणात्।

(२) प्रियमिति। तर्हि तथैवानुष्ठातव्यमित्याह-तेनेति। तेन हि—अस्मच्चिन्तितोपाये तव सम्मतत्वेनैव, उपायस्याभिनन्दितत्वादेवेत्यर्थः। हेतौ तृतीया। उपन्यासानुरूपां· योजनानुरूपाम्, प्रथमकथनयोग्यामिति यावत्, 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' इत्यमरः। ललितपदावलिबन्धाम्; ललिता—माधुर्यादिगुणप्रधाना सुकोमलेत्यर्थः, या पदावलिः··सुबाद्यन्तादिपदपंक्तिः तया बन्धः··रचना यस्यास्ताम्, अनेन शब्दवैशिष्ट्यमुक्तम्, तथा च माधुर्यादिगुणवत्पदप्रयोगेण राज्ञश्चित्तमाकृष्टं भवेदिति भावः, गीतिकां गीतिम्, चिन्तय·सावधानं निरूपय, अनेनार्थशुद्धिप्रकार उक्तः। तां हि गीतिकां राजर्षेर्हस्तं व्याजेन प्रापयिष्यामीत्याशयः। केषुचित् पुस्तकेषु 'आत्तणो कवण्णासपुव्वं चिन्तेहि दावललिदपदबन्धणं छलियम्' इति पाठः, 'आत्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदबन्धनं छलितम्' इति संस्कृतानुवादः। छलितं—छलितकमित्यर्थः। तदुक्तं सरस्वतीकण्ठाभरणे—

'यदाङ्गिकैकनिर्वर्त्यमुज्झितं वाचकादिभिः।
नर्त्तकैरभिनीयेत प्रच्वेडो वल्लिकादि तत्॥
तल्लास्यं ताण्डवं चैव छलितम्॥' इत्यादिना।

काव्यादर्शेऽपि—'लास्यच्छलितसंपादि प्रेक्षया 'म्' इति।

छलितलक्षणं यथा—'रतिक्रोधोत्साहभावप्रधानं छलितं मतम्'॥ इति।

---

(१) शकुन्तला—सखी की आज्ञा पर भी क्या विचार करूंगा?

(२) प्रियंवदा—यदि ऐसा है तो अपनी अवस्था के अनुरूप और सुललित पदों से उचित एक गीति सोचो।

शकु—चिन्तयामि; किन्तु अवधीरणाभीरुकं वेपते मे हृदयम् (१)।
(चिन्तेमि; किन्तु अवहीरणाभीरुअं वेवदि मे हिअअं।)

राजा—[विहस्य]

अयं स ते तिष्ठति सङ्गमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु ! यतोऽवधीरणाम् ।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ॥ १६ ॥

(१) शकु इति । शकुन्तला प्रियंवदोक्तमनुवदन्त्याह—चिन्तयामीति । तथा गीतिकामिति शेषः। अवधीरणाभीरुकम्-अवज्ञाभीतं सत्, वेपते—कम्पते । तथा च-पत्रिकाप्रदानेन प्रणयित्वे प्रकाशिते स तु राजर्षिर्यदि मम वनवासिनीत्वेनान्येन वा केनचित् कारणेन कृत्वा मय्यवज्ञां कुर्यात्तदा तादृशलेखने केवलकुलटाव्यवहारः प्रकाश्येतेति भीरुत्वान्मम हृदयं कम्पत इति भावार्थः। अनेन नायिकाया मानिनीत्वं दर्शितम् । यथा कुमारसम्भवे—

'अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे' ॥ इति ।

प्रकृते भीतिः राजावधीरणाजनितेति बोध्यम् ।

तदीयावधीरणाशङ्कामसहमानस्तां परिहरति-अयमिति । हे भीरु !-अवधीरणाभयशीले; वृथाभीतितरले ! इति यावत्, एतेन तिरस्कारशङ्कासम्भावना व्यज्यते, भीतमुद्दिश्य भीतत्वोक्तौ भीतस्य भयापनोदनसम्भवात् प्रकृते शकुन्तलायास्तादृशावधीरणाभीरुत्वापनोदनाय 'भीरु' इति सम्बोधनम्, यतः-यस्मात् जनात्, दुष्यन्तादित्यर्थः अवधीरणाम्-अवहेलाम्, विशङ्कसे-वितर्कयसे, अवधीरणाशङ्का तदानीं स्यात् यदि केवलं मत्प्रार्थनैव त्वदीयप्राप्तिहेतुः स्यादिति भावः। सोऽयं जनः-दुष्यन्तः, ते-तव, सङ्गमे-सम्मेलने उत्सुकः-उत्कण्ठाकुलः सन्, तिष्ठति-त्वदाज्ञामात्रमपेक्षत इत्यर्थः। त्वत्प्रार्थितः कथं दुर्लभो भविष्यामीति भावः। अत्र सङ्गमोत्सुक इति विशिष्टस्यैव विधेयत्वम्, वर्त्तमानप्रत्ययेन सङ्गमावधि त्वत्समीपान्नापगच्छतीति द्योत्यते। तथा हि-प्रार्थयिता-प्रार्थी, श्रीकामो जन इत्यर्थः, श्रियं-लक्ष्मीम्, लभेत वा प्राप्नुयाद्वा, न वा-न लभेत वा, पौरुषस्यापि दैवसहकारित्वात् कदाचित् श्रीकामस्य श्रीलाभः स्यात् कदाचिद्वा न स्यादिति श्रीः प्रार्थयितुर्दुर्लभैवेति भावः; परन्तु ईप्सितः-आप्तुमिष्टः श्रीकामो जनः, श्रिया-लक्ष्म्या, कथं दुरापः-दुर्लभः

(१) शकुन्तला—सोचूँगी तो, किन्तु तिरस्कार के भय से मेरा हृदय काँपता है ।

राजा—(हँसकर) अयि भीरु ! तुम जिसके द्वारा अपमान की आशंका करती हो, वह तुमसे मिलने के लिये उत्कण्ठित होकर खड़ा है । प्रार्थी मनुष्य लक्ष्मी को पाता भी है और

अपि च—

अयं स यस्मात् प्रणयावधीरणा-
मशङ्कनीयां करभोरु ! शङ्कसे ।

भवेत्, कथमपि न भवेदित्यर्थः। तथा च-त्वां प्रार्थयितुर्मे त्वं दुर्लभैव न पुनस्त्वया प्रार्थ्यमानोऽहं ते दुर्लभः, अतो मम सुलभत्वेन तव तु दुर्लभत्वेन च मत्तोऽवधीरणा मा शङ्कथाः; परं तु वैपरीत्येन मम त्वत्तोऽवधीरणा सम्भाव्यैवेत्याशयः।

अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। अत्र प्राचीनाः-'व्यत्यय-पठितस्य पूर्ववाक्यस्य पूर्ववाक्यं समर्थकम्, तादृगुत्तरस्योत्तरं समर्थकमिति विवेक' इति।

नन्वत्र सामान्यस्य समर्थकत्वं वक्तव्यम्, श्रीशब्दस्य विशेषवाचित्वादत्र कथं तन्निर्वाह इति चेदुच्यते—

'लक्ष्मीसरस्वतीधीत्रिवर्गसम्पद्विभूतिशोभासु।
उपकरणवेषरचनागुणेषु सरलद्रवे च कथिता श्रीः' ॥

इति व्याडिकोशादत्रातिशयोक्त्या शोभाभारतीलक्ष्मीधीवेषविरचनाविभूतित्रि-वर्गसम्पत्तीनामेकत्वेनाध्यवसानात् सामान्यवाचकत्वम् अतिशयोक्तेः सर्वालङ्कार-मूलकत्वमाकरेषु प्रसिद्धम्—इत्याहुः। अत्र च पर्यायक्रमभङ्गो दोषः 'कथं न लभ्येत नरः श्रियाऽर्थिना' इति पाठेन परिहरणीय इति त एव ब्रुवन्ति। प्रथमद्वि-तीयपादयोर्व्यत्यासेनोद्देश्यप्रतिनिर्देश्यप्रक्रमभङ्गदोषो वारणीय इति नव्याः। श्रियं श्रियेति कथितपदतादोषस्तु श्रियेत्यत्र तयेति पठित्वा परिहरणीयः। अत्र हर्षौत्सु-क्यादयो भावाः। वंशस्थविलं वृत्तम्।

तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—अयमिति। करभस्य-करिशावकस्य ऊरू इवोरू यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ हे करभोरु!' 'करभः करिशावक' इत्यमरः। यद्वा-करभौ—मणिबन्धादारभ्य कनिष्ठाङ्गुलिपर्यन्तौ प्रदेशाविव ऊरू यस्याः सा तत्सम्बोधने हे करभोरु! 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरोऽपि। यत्तु हस्तस्य किञ्चिदवयवे दग्धे हस्तो मे दग्ध इत्यवयवावयविभावलक्षणसम्बन्धेन हस्तपद-स्य हस्तावयवे लक्षणावत् करिशावकार्थवाचकस्य करभपदस्य करिशावकशुण्डे लक्षणा, तेन करभौ करिशावशुण्डाविव ऊरू यस्याः सा तत्सम्बोधने हे करभोरु!,

नहीं भी पाता, किन्तु लक्ष्मी स्वयं जिस किसीको पाना चाहेगा, वह उसे दुर्लभ कैसे होगा ॥१६॥
हे! करभोरु तुम जिस व्यक्ति द्वारा सन्देह के अयोग्य प्रार्थनाभङ्ग को आशंका करती हो,

उपस्थितस्त्वां प्रणयोत्सुको जनो
न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ १७ ॥

सख्यौ—अयि आत्मगुणावमानिनि ! को नाम सन्तापनिर्वाणहेतुकां शारदीं ज्योत्स्नाम् आतपत्रेण निवारयति (१)। (अइ अत्तगुणावमाणिणि ! को णाम सन्दावणिव्वाणहेतुअं सारदीयं जोण्गं आदवत्तेण णिवारेदि ?)

वर्त्तुलत्वसुखस्पर्शत्वादि-' प्रयोजनमित्यर्थयन्ति, तन्नादरणीयम्, मुख्यार्थबाधे एव लक्षणास्वीकारात्, वर्तुलत्वसुखस्पर्शत्वादिबोधस्तु व्यञ्जनया करिशावकरूपवाच्यार्थबोधविरतावेवोदयात् । यस्मात्–जनात्, अशङ्कनीयां–शङ्काया अविषयीभूताम्; प्रणयस्य–रतिप्रार्थनाया अवधीरणाम्–अवज्ञाम्, शङ्कसे–सन्दिह्यसि, सोऽयं जनः—अहं दुष्यन्त इत्यर्थः, प्रणयोत्सुकः–त्वयि रतिप्रार्थनार्थमुत्सुकः सन्, त्वामुपस्थितः–त्वत्समीपमेवागतः । पूर्ववद्विशिष्टस्यैव विधेयत्वम् । तस्मान्मत्तोऽवधीरणाशङ्का कथमपि चित्ते न निवेश्येति भावः । हि—यस्मात्, रत्नं–मणिः (कर्तृ) न अन्विष्यति–ग्रहीतारं न मृगयते, किन्तु–तद्–रत्नमेव, मृग्यते–ग्रहीतृभिरन्विष्यते ।

अस्य श्लोकस्यान्तिमचरणं कुमारसम्भवेऽपि यथा—

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ इति ।

'अस्य चतुर्थचरणं रघुवंशतृतीयसर्गेऽपि यथावद् दृश्यत' इति कश्चिदाह, कस्य वा श्लोकस्य चतुर्थचरणमिति रहस्यं जानाति स एव महाभागः ।

श्लोकेऽत्र पूर्ववत्सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । क्वचिदेष श्लोको न दृश्यते । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ १७ ॥

(१) सख्याविति । उक्तदृष्टान्तसतीर्थ्यदृष्टान्तेन सख्यौ तदाशङ्कां परिहरतः—अयीति । अयीति सम्बोधने । 'अयि प्रश्नानुनययोस्तथा सम्बोधनेऽपि च ।' इति मेदिनी । आत्मनो गुणानवमन्यत इति आत्मगुणावमानिनी, तत्सम्बुद्धौ आत्मगुणावमानिनि !–स्वगुणगौरवानभिज्ञे !, त्वद्गुणैरेव स क्रीतोऽतोऽवधीरणाशङ्काऽपि क्वेति भावः । शीलसौन्दर्यादिगुणसम्पन्नायास्ते तदवधीरणाभीरुत्वमसङ्गतमिति वस्तुना वस्तुध्वनिः । को नाम—को नु खलु लोकः, नामेति सम्भावनायाम्, न कोऽपीत्यर्थः, सन्तापनिर्वाणहेतुकम्—सन्तापस्य–ग्रीष्मातपस्य निर्वाणः–उपशमः स एव हेतुर्यस्याः सा तां–हेतुभूताम्, शरीरतापोपशमयित्रीमित्यर्थः, शरदि भवां शारदीं-

यह वही व्यक्ति तुम से प्रार्थना करने के लिए उत्कण्ठित होकर खड़ा है । क्योंकि रत्न किसी को नहीं खोजता, बल्कि वह स्वयं खोजा जाता है ॥ १७ ॥

(१) दोनों सखियाँ—ओ अपने गुणों का अपमान करनेवाली संसार में ऐसा कौन

शकु—[सस्मितम्] नियोजिताऽस्मि (१)। (णिओइदह्मि) [इत्युपविष्टा चिन्तयति ।]

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि । यतः (२)—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।

शरत्कालसम्बन्धिनीम्, अनेनातिशयेनाह्लादकारित्वं ध्वनितम्, ज्योत्स्नां—चन्द्रिकाम्, आतपत्रेण—छत्रेण, 'छत्रन्त्वातपत्रम्' इत्यमरः, क्वचित् पटान्तेनेति पाठः, तत्र—पटान्तेन—वस्त्राञ्चलेनेत्यर्थः, निवारयति—निषिध्यति, शकुन्तलावाक्यं प्रति दृष्टान्तोऽयं बोध्यः । एवञ्च—दुष्यन्तश्चन्द्रिकामिव परमसुन्दरीं त्वां स्वकामसन्तापोपशमैककारणभूतां प्राप्य स्वप्नेऽप्यवज्ञया न प्रत्याख्यास्यत इत्याशयः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः ।

(१) शकु इति । सस्मितं सखीमुखात् स्वगुणस्तुत्याकर्णनेन मनोरथपूर्त्तिसम्भावनया समन्दहासम् । नियोजिताऽस्मि–पूर्वं नियोगमात्रं कृतमिदानीं तु शङ्कापरिहारपुरस्कारेण सोपपत्तिकं मदनलेखविधौ प्रवर्त्तिताऽस्मीत्यर्थः। उपविष्टा–कुसुमशय्यात उत्थाय किञ्चिदासीनेत्यर्थः; चिन्तयति–मदनलेखरचनायामत्यन्तं मनो निदधाति । अनेन मदनलेखरचनायामादरातिशयः प्रतिभागुणाविर्भावश्च सूच्यते । शयनकाले हि जाड्याविष्टतया प्रतिभा न प्रकाशते, उपवेशने तु जडताध्वस्ततया प्रकाशत एव तथोपवेशने हि लेखनसौष्ठवं भवतीति 'उपविष्टे'त्युक्तिः ।

(२) राजेति । अथ नायकश्चिराय प्रियामवलोकयन्नपीदानीं किञ्चित्तस्य विशेषदृश्यत्वं विभाव्य दर्शनमभिनन्दितुमाह—स्थाने खलु–युक्तमेवेत्यर्थः, विस्मृतः निमेषो येन तेन तथाभूतेन निर्निमेषेणेत्यर्थः, अनेन दर्शने कौतुकातिरेको द्योत्यते, प्रियां–मनोरथप्रियां शकुन्तलाम्, अवलोकयामि—पश्यामि तथा च—निमेषशून्येन नयनेन यदवलोकयामि तत्साम्प्रतमेवेत्यर्थः ।

अथ चिन्तास्वभाववर्णनापदेशेन युक्तत्वमुपपादयति उन्नमितैकेति । पदानि–मदनलेखयोग्यान् सुबन्तादिप्रयोगान् , रचयन्त्याः—ऊहापोहाभ्यां मदनलेखे निवेश-

---

होगा, जो सन्ताप दूर करने वाली चन्द्रमा की चाँदनी को छतरी लगाकर अपने ऊपर पड़ने से रोके ?

(१) शकुन्तला—(मुस्कुरा कर) तो फिर मैं इस काम में लग गयी । (बैठकर सोचती है)।

(२) राजा—यह जो मैं अपनी प्रियतमा को निर्निमेष दृष्टि से देखता हूँ, सो उचित ही है । क्योंकि—

ये कामपत्र के लिए पद बना रही हैं और इनकी एक भौंह ऊँची उठी हुई है । इस अवस्था

पुलकाञ्चितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥ १८ ॥

अस्याः, अस्याः–शकुन्तलायाः, उन्नमिता–उदञ्चिता एका भ्रूलता यस्य तत् ताद्दशम्, अनेन रचनायामस्याः प्रतिपदं सावधानत्वं व्यञ्जितम्; अत्र चिन्तानुभावः, आननम्–अनति जीवत्यनेनेत्यन्वर्थं मुखं कर्तृ; पुलकाञ्चितेन–रोमाञ्चकलितेन, कपोलेन–गण्डमण्डलेन, करणे तृतीया, अत्रैकवचनेन यद्दिक्स्था भ्रूलतोन्नमिता तद्दिक्स्थकपोलस्यैव पुलकाञ्चितत्वमिति सूच्यते । कुत्रचित् कण्टकितेनेति पाठः, तत्र 'रोमहर्षेऽपि कण्टकः' इत्यमरवचनात् स एवार्थः, करणीयः; मयि–मद्विषये, अनेन स्वस्य धन्यत्वं ध्वन्यते, अनुरागं–प्रीतिम्, कथयति—कथनेनैव स्पष्टं प्रकाशयति, रोमाञ्चस्यानुरागानुभावत्वात् तद्युक्तेन कपोलेन तमेवानुमापयतीत्यर्थः । अत एवात्रानुमानालङ्कारः, रोमाञ्चितकपोलस्यान्यथाऽनुपपत्त्याऽनुरागप्रथनादर्थापत्त्यलङ्कारोऽत्रेति केचित् । अन्येऽनयोः सन्देहसङ्करमाहुः । समुदाये स्वभावोक्तिश्च । रतेरेव षष्ठ्यवस्थाऽनुरागः । उक्तञ्च सुधाकरे—

'अङ्कुरपल्लवकलिकाप्रसूनफलभोगभागियं क्रमशः ।
प्रेमा मानः प्रणतः स्नेहो रागोऽनुराग इत्युक्तेः' ॥ इति ।

अनुरागलक्षणमपि तत्रैव यथा—

'राग एव स्वसंवेद्यदशाप्राप्त्या प्रकाशितः ।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेदनुराग इतीरितः' ॥ इति ।

अत्र चान्यस्मिन्नन्यधर्माधानरूपः समाधिर्नाम गुणः । तत्त्वं च तिरस्कृतवाच्यस्य ध्वनेर्विषयः । यथा—'वदति बिसिनीपत्रशयनम्' । इति ।

ध्वनिकारोऽप्याह—

'निरूढा विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न प्लवन्ति पदं ध्वनेः' ॥ इति ,

भ्रूलक्षणं यथा सङ्गीतरत्नाकरे—

'उश्वि(त्सि)यासङ्गतान्यर्था क्रमेण सह वाऽन्यथा ।
स्त्रीणां कोपे वितर्के च दर्शने श्रवणे निजे ॥
भ्रूलीलाहेलयोश्चैव कार्योत्क्षिप्ता विचक्षणः ॥'

अत्र च नायकस्य नायिकायाः भावतत्त्वोपलब्धेः गर्भसन्धेः क्रमो नामाङ्गम्, यथाह दर्पणे—'भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्' । इति ।

अत्रापि च नायिकाया ईदृशरचनास्वभावावलोकनेन नायकस्य कोऽपि चमत्कारोदयः प्रतीयमानो भवतीति हर्षो भावः । आर्या जातिः ॥ १८ ॥

मैं इसका मुख,रोमाञ्चित कपोल द्वारा मेरे प्रति अनुराग प्रकट कर रहा है ॥ १८ ॥

शकु—हला। चिन्तिता मया गीतिका। असन्निहितानि पुनः लेखनसाधनानि (१)। (हला ! चिन्तिदा मए गीदिआ। असण्णिहिदाणि उण लेहणसाहणाणि।)

प्रियं—नन्वस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे पदच्छेदभक्त्या नखैरालिख्यताम्। (२)। (णं इमस्सिं सुओदरसुउमारे णलिणीवत्ते पदच्छेदभत्तीए णहेहिं आलिहीअदु।)

---

(१) शकु इति। अथ शकुन्तला नियोगमनुतिष्ठन्ती तत्सखीभ्यां निवेदयति;—हलेति। हलेति हर्षगर्भमामन्त्रणम्, चिन्तिता—चिन्तया रचिता, गीतिका—ललितपदावलिबन्धं गीतम्, चिन्तितेति अतीतप्रत्ययेन गीतिकायाः पारिपूर्ण्यं सूचितम्। असन्निहितानि—असन्निकटवर्त्तीनि, लेखनसाधनानि—लेखनी पत्रिका मसी च, पुनस्त्वर्थे। तथा च केनोपायकरणेन पत्रिकागतां करोमीति भावः।

(२) प्रियमिति। प्रियंवदा लेखनोपायमुपदिशति—नन्विति। ननुरनुज्ञायाम्। 'प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः। अस्मिन्—तव पुरः स्थिते, तव तापशान्त्यर्थमस्माभिः समानीय स्थापिते इत्यर्थः, शुकस्य—तन्नामपक्षिणः उदरमिव क्रोडदेशवत् सुकुमारे—सुकोमले मसृणे इति यावत्, विशेषणमिदमक्षरविन्याससौकर्यं द्योतयति। तथा च—त्वया येन केन वा प्रकारेण लिखिताऽपि राज्ञा पठनीया भविष्यति गीतिका, पत्रस्य मसृणत्वादिति भावार्थः।

अत्रोपमालङ्कारः, उपमया च तादृशपत्रस्य श्यामलत्वं परभागश्च सूच्यते, नलिनीपत्रे—कमलिनीपत्रे, नखैः—नखकोटिभिः करणैः, अनेन नायिकाया अक्षरलेखनकलाकौशलं द्योतितम्, नखलेखनमन्यत्रापि वर्णितं यथा—

नखपदलिपयोऽपि सूचितायाः प्रणिदधिरे दयितैरनङ्गलेखाः'। इति।

पदानां छेदः—विच्छेदः, पृथक् पृथक् पदविभाग इति यावत्, तद्रूपा या भक्तिः रचनाविशेषः तया, स्थाने स्थाने पदविच्छेदं कृत्वेत्यर्थः, पदविच्छेदपूर्वकलेखः पठनाय सुकरो भवतीतीदं वचनम्। लिख्यतां सा गीतिकेति शेषः। त्वयेति कर्तृपदमध्याहार्यम्। वैपरीत्ये तु राजा त्वां लेखनापट्वीं ज्ञास्यति, इति भावः।

---

(१) शकुन्तला—मैंने वह गति सोच ली है, किन्तु लिखने की सामग्री ही नहीं है।

(२) प्रियंवदा—तो इस सुग्गे के पेट की तरह कोमल कमलपत्र पर ही एक-एक पद अलग-अलगकर नाखून से लिख डालो।

शकु—[यथोक्तं रूपयित्वा] हला ! शृणुतं तावत् सङ्गतार्थो न वेति ।
(हला ! सुणध ! दाव सङ्गदत्था ण वत्ति ।) (१)

उभे—अवहिते स्वः (२) । (अवहिद ह्म ।)

शकु—[वाचयति ।] (३)

तव न जाने हृदयं मम पुनर्मदनो दिवाऽपि रात्रिमपि ।
निष्कृप ! तापयति बलीयस्तत्र हस्तमनोरथानि अङ्गानि ॥ १९ ॥
(तुज्झ ण आणे हिअअं, मम उण मअणो दिवा दि रत्तिं वि ।
णिक्किव ! दावइ बलिअं, तुह हत्थमणोरहाइं अङ्गाइं ॥ १९ ॥)

(१) शकु इति । यथोक्तं-प्रियंवदोपदिष्टानुरूपम्, रूपयित्वा-नाट्येन नखैः लिखित्वेत्यर्थः । हलेति सम्बोधनं सावधानश्रवणप्रार्थनां ध्वनयति, सङ्गताः-पुष्काः अर्थाः-वाच्यादयो यस्याः सा तथाभूता, न वा-असङ्गतार्था वेत्यर्थः, गीतिकेति शेषः, शृणुत-श्रुत्वा परीक्षेयाथां युवामिति शेषः । अनेन सखीयाचनायां शकुन्तलायाः कौतुकं द्योत्यते ।

(२) उभे इति । अवहिते-श्रवणाय दत्तावधाने, स्वः-भवावः, आवामिति शेषः, अनेन सखीद्वयस्य तच्छ्रवणादरो द्योत्यते ।

(३) इति । वाचयति-वाचमाचष्टे, पठतीति यावत् ।

अथ मदनतापमसहमाना सोपालम्भं निजदशां निवेदयन्ती प्रार्थयते-तवेति । हे निष्कृप ! दयाशून्य ! सर्वथा राज्ञा लोकसन्तापापनोदनस्य कर्त्तव्यत्वादत्र तु सम्राजा त्वया मम सन्तापं जानताऽपि प्रतिकाराप्रतिविधानादिति भावः । तव हृदयं न जाने-तव चित्तं मय्यनुरक्तं निरनुरक्तं वेति मदनो ममेव तव हृदयं तपति न वेति च नावगच्छामीत्यर्थः । इह हृदयमिति विशेषोपादानेन स्वस्योत्कण्ठातिशयस्तस्य तु तदभाव इति द्योत्यते । ननु तथा सति स्वहृदयनिवेदनमनुचितम्; अनुचितत्वेऽपि तत् करोमीत्याशयेनाह-ममेति । पुनः-किन्तु, मदनः-मन्मथः, तव हस्ते मनोरथः-अभिलाषो येषां तानि तथा च यथा-अन्यो जनः करस्थितं वस्तु स्वेच्छामात्रेणान्यथा कर्त्तुं शक्नोति तद्वत्त्वमपि ममाभिलाषं पूरयितुमपूरयितुं वा शक्नोषीति भावः । मम

(१) शकुन्तला—(यथोक्तरीति से लिखकर) सखी ! सुनो, इसका अर्थ सङ्गत है या नहीं ?

(२) दोनों—हम दोनों ध्यान से सुनती हैं ।

(३) शकुन्तला—(पत्र पढ़ती है) ।

हे निर्दयी ! मैं तुम्हारे मन की तो जानती नहीं, फिर भी मैंने अपनी सारी अभिलाषा

अङ्गानि, बहुवचनेन मार्दवातिशयो द्योत्यते, दिवाऽपि-दिवसमपि व्याप्य, रात्रिमपि-रजनीमपि व्याप्य निरन्तरमित्यर्थः, कालभेदेनास्य वृद्धिह्रासौ नेति दुःखस्य दुःसहत्वं व्यञ्जयति, बलीयः-अतिबलवत्, अनेनाचिरमेव प्रतिविधेयं नो चेत जीवना (प्राणा) पायो भवेदिति ध्वन्यते, तापयति-व्यथयति, लटा तापावसानं न दृश्यत इति सूच्यते। तथा च लोकनाथेन भवता मम सन्तापापनोदनं प्रतिविधेयमित्याशयः। अत्र विप्रलम्भः शृङ्गारो रसः।

णिग्घिण तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइं अङ्गाइं।' अस्यानुवादो यथा—

'निर्घृण ! तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि।' इति कुत्रचित् पुस्तके पाठः॥ १९ ॥

अन्नेयमर्थद्योतनिका—'तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रावपि निर्घृण निष्कृप तापयत्यधिकम्। त्वयि वृत्तमनोरथानीति हेतुत्वेन योज्यम्। अङ्गानीति बहुवचनेन मार्दवातिशयो ध्वन्यते। तव हृदयमिति विशेषोपादानात्स्वस्योत्कण्ठातिशयस्तस्य तदभावो ध्वन्यते। अथ च रक्तं तापयति च तदा न जाने किमयं यद्यप्येतादृशतापेऽपि न द्रवति। एतदनुसन्धायैव निष्कृपेति संबुद्धिः। सा चेत्स्याद् द्रुतमेव स्यात्तत्स्वभावत्वात्तस्याः। इति दुःखात्परुषोक्तिः। अर्थापत्त्यलङ्कारः। अथ च 'हृदयं मानसोरसोः' इति विश्वः; तेन तव हृदयं गोपुरकपाटायमानं रिपुदनुजविरहशरशतैरप्यभेद्यम्। एवम्भूतमहं न जाने। अपि तु जाने आप्तजनवचनात्। अत एव मेऽङ्गानि सर्वाणि दिवाऽपि रात्रावपि तापयति कामः। तव तु वक्षोमात्रमपि न तापयितुं शक्तः। यदि तापयेत्तदा निर्घृण निर्जुगुप्स ! निदाघसमयशीतलतरमत्कुचपरिरम्भणायागच्छेः। 'घृणा जुगुप्साकृपयोः' इति विश्वः। तादृशं तव वक्ष आलिङ्गितुमिच्छामीत्यभिलाषोक्तिः। अनुमानालङ्कारः। अयं मल्लक्षणो जनस्तव हृदयरूपः। रूपकम्। कामः पुनर्ममाङ्गानि यत्तापयति तन्न जाने इति प्रश्नकाकुः, वृथैव तापयतीत्यर्थः। ते प्रष्टुमशक्येति भावः। समासोक्तिः। त्वं त्वेतादृशो निष्कृपो यद् हृदयरूपामपि मां न परित्रायसे। अथ चायं जनस्तव हृत्कामः पुनर्ममाङ्गानि यत्तापयति तदहं न जाने, अपि तु जाने। त्वत्कान्तिजित इत्यर्थः। तेन तव हृदयं कठोरत्वात्तापयितुं शक्तो न। अतस्तद्रूपाया ममाङ्गानि तापयतीति भाव इति चाटूक्तिः। प्रत्यनीकालङ्कारः। प्रतिपक्षप्रतीकाराशक्तौ तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकमिति तल्लक्षणात् त्वं त्वेतादृशो निर्घृणो यत्त्वदर्थे पीड्यमानामपि मां न रक्षसीति। अथ च त्वयि विषये वृत्ता जाता मनोरथा येषां तानि। आलिङ्गनं भुजयोर्मनोरथः त्वत्कान्तिझरप्रवाहपानं तु चक्षुषः, त्वद्वचनामृतसरसीनिमज्जनं च श्रवणयोः,

तुम्हारे हाथों में सौंप दी है। ऐसी अवस्था में कामदेव मेरे सारे अवयवों को दिन-रात बहुत सन्ताप देता है॥ १९ ॥

राजा—अवसरः खल्वयमात्मानं दर्शयितुम् । [सहसोपसृत्य] (१) ।

त्वन्मुखसरोजश्वासाघ्राणं नखैः, शशाङ्ककोमलत्वदङ्कारोहणं नितम्बस्य; स्वस्करतलमेलनं कुचयोरित्यादि । एवं भूतमनोरथानि ममाङ्गानि कामोऽधिकं तापयति । त्वं त्वेवं निष्कृपो यस्त्वभक्तामप्येवं परेण ताप्यमानामप्यपि सहसे तत्तव हृदयमहं न जाने चन्द्रहृदयमिति न जाने । परैः पीड्यमानं क्षत्रियः परित्रायते, स्वभक्तं तु सुतरामित्युपालम्भः । कामो ममाङ्गान्यत्यर्थमधिकं तापयति तव पुनर्हृदयमत्यर्थं न तापयतीत्यहं जाने । यतस्त्वं दिवसे निष्कृपो लोकादिभयात्, एवं रात्रावपि निष्कृपोऽसि मदभिसरणं नाकार्षीरिति चोपालम्भः । अथ च त्वं तु केनाभिप्रायेण व्यवहरसीति तव हृदयं लक्षणया हृदयाभिप्रायं न जाने । कामः पुनर्मम मत्सम्बन्धी सुहृदिति भावः । यत्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि तापयति । किमिति तस्मिन्नीदृशे शठेऽनुरक्ताऽसीति तापं दुःखं दत्वा शिक्षयतीति चोपालम्भः । एवमकृतार्थंरतिं प्रत्येतादृशोपलम्भदानादुन्मादावस्थाऽप्युक्ता । अथ च निश्चयेन कृपा यस्य तस्य सम्बोधनम् । हे कृपालो, यस्त्वमङ्गुलीयकं दत्वा सख्योः सकाशान्मां मोचितवानसि तस्य तव हृदयमहं न जाने । अपि तु जानेऽत्यन्तं दयाशीलमिति । 'निर्निश्चयनिषेधयोः' इत्यमरः । मम पुनर्मदीयं हृदयं न जाने । तत्तु त्वयि वर्त्तते । तदभावाद्धृदयशून्याऽहं वर्त इति भावः । केवलं तदेव त्वयि गतमिति न । अपि तु कामोऽभिलाषोऽपि त्वयि विषये दिने रात्रावधिकं तपति वर्धते लक्षणया । 'कामः स्मरेऽभिलाषे च' इति विश्वः । इत्यनुनयोक्तिः । तेन मदीयं बाह्यमाभ्यन्तरं न किञ्चिदपि मत्सम्बद्धमिति शीघ्रमागच्छेति भावः । श्लेषानुप्रासौ । क्वचित् ,रत्तिं पि' इति पाठः । तथा रात्रिमपीत्यर्थः । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । 'णिक्किव' इत्यनेन वक्राङ्गमपेक्षितम् । 'विरुद्धवचनं यत्तु वक्रमित्यभिधीयते' इति भरतोक्तेः लेखनामकं सन्ध्यङ्गमुपक्षिप्तम् । तल्लक्षणं तु—'विवक्षितार्थकलिता पत्रिका लेख उच्यते' इति । पद्यमिदमुद्गाथाछन्दसा निबद्धम्, यथोक्तं पिङ्गलनागेन—

'पुव्वद्धे उत्तद्धे मत्ता तीसत्ति सुभअ सम्भणिया ।
सो उग्गाहो वुत्तो पिङ्गलकइदिट्ठसट्ठिमत्तङ्गो ॥

संस्कृतभाषायामिदं गीतिर्नामच्छन्दः । यदाह श्रुतबोधे—

'आर्यापूर्वार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमपि च हंसगते !
छन्दोविदस्तदानीं गीतिं तामसृतवाणि भाषन्ते ।' ॥ १९ ॥

(१) राजेति । अथ सङ्गमोत्सुको नायको नायिकायास्तादृशाधिगतामवस्थामवलोक्य तथाविधां गीतिकां च श्रवणसुखीकृत्यात्मप्रकाशनोपायं चिरचिन्तितं तदानीं

(१) राजा—प्रकट होने का यही अवसर है (सहसा आगे बढ़ कर)

तपति तनुगात्रि ! मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥ २० ॥

पश्यन् मनसा निश्चिनोति-अवसर इति । अवसरः-समयः, अवकाश इति यावत् । गीतिकायां तवेत्यादिपदप्रयोगेण तया प्रत्यक्षं परिदृश्यमानस्येव ममोद्देशकरणादित्याशयः । सहसा-अतर्कितम्, उपसृत्य-नायिकासमीपं गत्वा । अयं निर्दयेत्यादिवचनश्रवणजनितावेगस्य मनोरथपूरणजनितहर्षस्य चानुभावः । अतर्कितोपसर्पणेन रसपरिपोषः प्रकाश्यते । तथा—

'प्रणयिनो निशमय्य वधूर्बहिःस्वरमृतैरमृतैरिव निर्ववौ' । इत्यादिषु बोध्यम् । निवेदयति—तपतीति । तनूनि-स्वभावतः कामतापाच्च कृशानि गात्राणि यस्यास्तत्सम्बुद्धिः । अत्र केचित्-'तापः-शरीरस्य मनसो वलवत्तरमौष्ण्यं, तेन गात्राणां तनुत्वमेव भवति न तु सद्यःशरीरापायप्रसङ्ग इति तनुगात्रीति सम्बोधनं श्लाघाकरम्' इति । मदनः-कामः, त्वाम् अनिशं-'दिवाऽपि रात्रिमपि' इत्युक्तत्वाद् दिवसमपि व्याप्य रात्रिमपि व्याप्य चेत्यर्थः; तपति-सन्तापयति, तापादधिकादधिकदशाप्रदानेऽपायसम्भवात् स्त्र्यपायस्य तु सर्वजनविगर्हितत्वादिति भावः । पुनः-किन्तु, मां पुरुषं तत्रापि हृष्टपुष्टाङ्गञ्च सत्वेति भावः, दहत्येव-दग्धीकरोत्येव, अनेन नायिकाऽपेक्षया नायकस्यात्युत्कटस्तापो लक्ष्यते, वैवर्ण्यादिकं व्यङ्ग्यम्, तथा च समागमविलम्बे देहस्यापायो निश्चित एवेति नैतावद्वञ्चनार्थं चाटुभाषणं किन्तु भूतार्थमेवेत्येवकारेण द्योत्यते । अत्र 'न हि वन्ध्या विजानाति गर्भप्रसववेदनामि'ति नीत्या भवती तापमात्रं जानाति न तु दाहमतो मदीयं हृदयं कथं जानीयादित्युपालम्भः । तदेव सार्वलौकिकदृष्टान्तेन समर्थयते-ग्लपयतीति । हि-तथा हि, दिवसः-सौरातपावच्छिन्नो व्यवहार्यः कालः, यथा-येनैव रूपेण, शशाङ्कं-चन्द्रमसम्, ग्लपयति—ग्लानिं नयति, निरशोभं करोतीत्यर्थः, कुमुद्वतीं-कुमुदिनीम्, न तथा-तेन रूपेण नैव ग्लपयतीत्यर्थः । तथा च समानसन्तापदायको दिवसो यथा चन्द्रमसो वैवर्ण्यादिकं करोति तथा तत्प्रेयस्याः कुमुदिन्या न करोति किन्तु मुकुलनलक्षणं कार्श्यमात्रमित्याशयः । अत्र प्राधान्येनौत्सुक्यं भावः ॥ इह पूर्वार्द्धपरार्धगतवस्तुनो बिम्बप्रतिबिम्बभावाद् दृष्टान्तालङ्कारः । किञ्च पुंल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गसाम्येन शशाङ्ककुमुद्वत्योर्नायकनायिकारूपव्यवहारसमारोपात् परार्द्धे समासोक्तिः । मदयतीति मदनः—हर्षद इत्यर्थः, तथा च यः किल हर्षदः स कथं तपति-दहतीति विरोधाभासयोः समागमात् पूर्वं

अयि कृशाङ्गि ! तुम्हें तो कामदेव दिन-रात केवल सन्ताप ही देता है , किन्तु मुझे

सख्यौ—[विलोक्य सहर्षमुत्थाय] स्वागतं यथासमीहितफलस्य अविलम्बिनो मनोरथस्य (१)। (साअदं जधासमीहिदफलस्स अविलम्बिणो मणोरहस्स ।)

शकु—[उत्थातुमिच्छति] (२)

तस्य तत्कारित्वात् । तथा तनुगात्रीति पुनरुक्तवदाभासः तनुगात्रशब्दयोः पर्यायतया श्रवणमात्रेणैव पौनरुक्त्यप्रतीतेः, पर्यवसाने तु तनुशब्दस्य कृशार्थत्यप्रत्ययेन तदपगमाद् भिन्नाकारशब्दगतत्वाच्च । यथोक्तं दर्पणे—

'आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यावभासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥' इति ।

तपतीत्यन्तवाक्यार्थं प्रति तनुगात्रीति पदार्थस्य हेतुत्वोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गञ्च । किञ्च तपतिदहतीत्युभयक्रिययोर्मदन इत्येककर्तृकत्वेन 'विधानादीपकम् । तथा ग्लपयतीत्येकक्रियायाः शशाङ्ककुमुद्वतीरूपकर्मद्वयाभिधानात् तुल्ययोगिता च । अत्र च प्रतिवस्तूपमालङ्कार इति केचित् । एतेषां नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । आर्या जातिः ॥ २० ॥

(१) सख्याविति । अभीष्टस्यातर्कितोपगमनाद्धर्षः । राज्ञः सम्मानप्रदर्शनाय उत्थानम् । प्रथममनुष्ठानमनुतिष्ठतः-स्वागतमिति । यथासमीहितं-यथाऽभिलषितं फलं-शकुन्तलादुष्यन्तयोः सङ्गमरूपं सम्भाव्यमानं फलं यस्मात्तथाभूतस्य, अविलम्बिनः-उपायचिन्तनकाल एवाविलम्बमुपनतस्य, अनेन तद्वृत्तान्तप्रस्तावसमयेऽतर्कितभावेन तस्यैवागमनं शुभाय भवतीति तासां सर्वासां हृदयोल्लासोऽविघ्नं कार्यसिद्धिबुद्धिश्च प्रतीयते । मनोरथस्य-अभिलाषभूतस्य, भवत इत्यर्थः, अनेन मनोरथविषया नायकः दुष्यन्त इति लक्ष्यते । स्वागतं-सुखेनागतम् । स्वागतं-सुखेनागमनं किञ्चिदिति काकुबलेन प्रश्नो ध्वनित इति केचित् । अत्र मनोरथस्येति नृपस्वलक्षणविषयनिगरणादतिशयोक्तिः ।

(२) शकु इति । उत्थातुमिच्छति-आरभते, राज्ञः संमानप्रदर्शनार्थमिति भावः ।

वह एक बारगी भस्म किये डालता है । दिन चन्द्रमा को जितना मलिन करता है, उतना कुमुदिनी को मलिन नहीं करता ॥ २० ॥

(१) दोनों सखियाँ—(देखकर और हर्ष के साथ उठकर) जिनके द्वारा अपनी कामना पूर्ण हो सकती है, इच्छा करते हो आप को यहाँ आने में कोई कष्ट तो नहीं हुआ ? (यानी आप अच्छी तरह आये न ?)

(२) शकुन्तला—(उठना चाहती है) ।

राजा—अलमलमायासेन (१)।

सन्दष्टकुसुमशयनान्याशु विमर्दितमृणालवलयानि।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥ २१ ॥

शकु—[ससाध्वसमात्मगतम्] हृदय ! तथा उत्तम्य इदानीं न किमपि प्रतिपद्यसे। (२)। (हिअअ ! तथा उत्तम्मिअ दाणिं ण किम्पि पडिबज्जसि।)

(१) राजेति। तन्निमित्तमेव प्राप्तायासायाः प्रियाया अशक्यकरणोत्थानमवलोकयन्नवसरोचितं सावेगकरुणमाह—

अलमिति। आयासेन—अशक्यकरणोत्थानपरिश्रमेण, अलमलमिति अत्यन्तनिषेधे द्विरुक्तिः। द्विरुक्तिरियमादरातिशयं द्योतयति। सुखमुपविशेति भावः। आयासेनेति व्यर्थार्थकालंशब्दयोगात्तृतीया।

अशक्यकरणवारणे कारणमाह—सन्दष्टेति। संदष्टं-ग्लानतया स्वेदार्द्रतया च संश्लिष्टं कुसुमशयनं-पुष्पशय्या येषु वा यैस्तानि। गात्राणामुत्थापने कर्त्तव्ये कुसुमशय्याऽप्यङ्गलग्नोत्तिष्ठतीति भावः। आशु-सद्य एव विमर्दितानि-लुण्ठनोल्लुण्ठनादिभिर्मृदुभिर्मुहुर्घर्षणान्मृदूकृतानि; घृष्टानीत्यर्थः; मृणालवलयानि-तापप्रशमनार्थं पूर्वं धृतानि पद्मखण्डनिर्मितकटकानि येषां येषु यैर्वा तानि, अत एव गुरुः बलवान् परितापः-सर्वतो भावेन सन्तापो येषु तानि ते-तव, गात्राणि-अङ्गानि, उपचारं-सत्कारम्, मान्यागमनसम्मानोत्थानलक्षणाचारमित्यर्थः, नार्हन्ति-कर्त्तुं नोचितानि भवन्तीत्यर्थः, बलवदसुस्थतयाऽसामर्थ्यादिति भावः। उपचारानर्हत्वञ्च 'सर्वेषामातुरो गुरुरि' ति वचनात्। अत्रोपचारानर्हत्वं प्रति गुरुपरितापस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गालंकारः। सार्थकविशेषणबाहुल्यात्परिकरालङ्कारश्चेति केचित्। तथा सन्दष्टकुसुमशयनस्य-विमर्दितमृणालवलयस्वरूपलिङ्गद्वयेनाङ्गेषु गुरुतापवस्तोपलम्भादनुमानं नाम गर्भसन्ध्यङ्गम्, यथाह विश्वनाथः—'लिङ्गादूहोऽनुमानता'। इति। अत्र च नायिकागतग्लान्यालस्यादयो नायकगतावेगौत्सुक्यादयश्च भावा द्योतिताः। आर्याजातिः ॥ २१ ॥

(२) शकु इति। ससाध्वसं-ससम्भ्रमम्। अतर्कितभावेन प्रार्थितस्य पुरुषस्योपगमान्मुग्धात्वेन सम्भ्रमो बोध्यः। उत्तम्य-उत्कण्ठितं भूत्वा, मनोरथासयेऽधीरीभू-

(१) राजा—बस-बस, तकलीफ न करो।

जिनका सम्वाकन करने से पुष्पशय्या दल-मल गयी है और मृणाल का कङ्कण भी मर्दित हो गया है। विशेष करके जिससे गुरुतर सन्ताप अनुभूत होता है, ऐसे आप के अङ्ग लोकाचार का पालन करने में समर्थ नहीं हैं ॥ २ ॥

(२) शकुन्तला—(लज्जा के साथ मन ही मन) हृदय ! तब तो तुम उतना उतावले

अन—इतः शिलातलैकदेशमनुगृह्णातु महाभागः (१) । (इदो सिलादलेक्कदेसं अणुगेह्णदु महाभाओ ।)

शक—[किञ्चिदपसरति ।] (२)

राजा—[उपविश्य] कच्चित् सखीं वो नातिबाधते शरीरतापः ? (३) ।

प्रियं—[सस्मितम्] इदानीं लब्धौषध उपशमं गमिष्यति (४) । (दाणिं लद्धोषधो उवसमं गमिस्सदि ।)

येत्यर्थः, इदानीं—मनोरथाप्तिसमये न किमपि प्रतिपद्यसे—न कर्त्तव्यं निश्चिनोषि इदं तु तवातीवमूर्खतापरिचायकमिति भावः । सम्प्रति कर्त्तव्यमनुसर—इति तात्पर्यम् ।

(१) अनेति । अथानसूयाऽनन्तरोचितमनुष्ठानमनुसृत्याह—इत इति । इतः—अस्मिन् प्रान्ते, शिलातलस्य—प्रस्तरपट्टोपरिभागस्य एकदेशं—शकुन्तलाशयनीयाद्विपरीतभागमित्यर्थः, अनुगृह्णातु—उपवेशनद्वारा संप्रसादीकरोतु, शिलातलस्य धन्यत्वादिकं व्यज्यते । महाभागः—सुभाग्यवान् भवान् । अत्र 'हरिहरब्रह्मादयोऽपि कामवशात् किं किं वा न चक्रुः; तत्र का-कथा हिरण्यसिंहासनोपवेशनोचितस्यापि मानवमात्रस्य राज्ञो दुष्यन्तस्य शिलातलोपवेशने'—इति परिशीलनीयम् ।

(२) शकु इति । अपसरति—उपवेशनाय राज्ञि प्रवृत्ते स्थानदानाय स्वाङ्गस्पर्शपरिहाराय वा लज्जयाऽपसर्पति ।

(३) राजेति । शरीरतापः—गात्रसन्तापः, वः—युष्माकम्, सखीं—शकुन्तलाम्, नातिबाधते—नात्यन्तं पीडयति, । तापमात्रस्य सर्वानुभववेद्यदाहस्वभावत्वेऽपि न्यूनाधिकतया जिज्ञास्यत्वात् प्रकृते राज्ञो दाहस्यानतिबाधकत्वे जिज्ञासेति तापस्य दुर्बोधत्वपरिचयः । कच्चित्—किम् , कच्चिदित्यव्ययं कामप्रवेदने, 'कच्चित् कामप्रवेदने' इत्यमरोक्तेः ।

(क) प्रियमिति । सस्मितं—सेषद्धासम् । राज्ञो मुखाद् वक्तव्यार्थस्यैव प्रकाशनात् कौतुकावहतया प्रियंवदायाः स्मितकरणम् । इदानी—सम्प्रति, त्वत्समागमे सतीत्यर्थः, लब्धम् औषधं यस्य येन वा सः—प्राप्तभेषजः, शरीरताप इति शेषः, उपशमं-

हो रहे थे, अब क्या करना चाहिए, इस पर कुछ विचार नहीं करते ।

(१) अनसूया—इसी शिलातल पर आप भी एक तरफ बैठ जाइए महाभाग !

(२) शकुन्तला—(कुछ खिसक जाती है) ।

(३) राजा—(बैठ कर) अब तो शरीर का सन्ताप आपकी सखी को विशेष कष्ट नहीं दे रहा है ।

(४) प्रियंवदा—(मुस्करा कर) अब औषध पाकर शान्त हो जायगा ।

शकु—[सलज्जा तिष्ठति] (१)।

प्रियं—महाभाग ! द्वयो रपि युवयोः अन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः, सखी-स्नेहः पुनर्मां पुनरुक्तवादिनीं करोति (२)। (महाभाअ ! दोण्णम्पि वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो; सहोसिणेहो उण मं पुणरुत्तवादिणीं करेदि ।

राजा—भद्रे नैतत् परिहार्यम् । विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जन-यति (३)।

शान्तिम्, निवृत्तिमिति यावत्, तथा च भवानेवास्यस्याः सन्तापस्य शान्तिकरमौ-षधमिति भवतो लाभादचिरेणापि निर्वाणं गमिष्यतीति भावः।

अत्र विचित्रार्थकमिताक्षरपदावलिभिरभिप्रायप्रकाशनाद् अक्षरसङ्घातो नाम नाट्यलक्षणम् । यदुक्तं दर्पणकृता—'वर्णनाऽक्षरसंघातश्चित्रार्थैरक्षरैर्मतैः।' इति।

(१) शकु इति । सलज्जा तिष्ठतीति शकुन्तलावा एतदवस्थायामपि लज्जाया-अत्यागः कन्यकात्ववासनयैवेति बोध्यम् ।

(२) प्रियमिति । अथोचितप्रतिजागरूकप्रियंवदा लोकातीतयोः परस्परा-नुरूपयोः चिराकाङ्क्षितसमागमयोर्दैवाद्रहसि सङ्गतयोर्नायकनायिकयोर्मनोरथ-सरस्यवगाहनायावतारं रचयति-महाभाग इति । द्वयोरपि युवयोः-नत्वेकतरस्ये-त्यर्थः, अन्योन्यानुरागः-परस्परं प्रेमा, प्रत्यक्षः स्पष्टमनुभूतः, स्फुटित इत्यर्थः, भाव-हावाङ्गप्रत्यङ्गादिदर्शनादिति भावः। पुनः-तथात्वेऽपि, सखीस्नेहः-शकुन्तलोपर्यस्माकं नसर्गिकः प्रणयः, पुनरुक्तवादिनीम्; पुनरुक्तं यथा स्यात्तथा वदितुं शीलं यस्यास्ताम्' अधिकवादिनीम्, पिष्टपेषण-न्यायेनेति भावः। पुनरुक्तपदेनानुपादेयता लक्ष्यते । तथा च पुनरुक्तिर्यथाऽनुपादेया तद्वत् स्वतः परिस्फुटितस्यार्थस्य कथनद्वारा प्रकाशो नितरामनुपादेय एवेति भावः। अतो न वच्मीति हृदयम् ।

(३) राजेति । अथ तस्योपादेयत्वं सोपपत्तिकमाह-भद्रे इति । भद्रे-साधु-शीले, वार्तायामपि भद्रतरा ते वैदग्धीति भावः। तद्विवक्षितश्रवणकुतूहलत्वरया तत्समावर्जनार्थमीदृशं सम्बोधनम् । एतत्-त्वया विवक्षितं वाक्यम्, न परिहार्य-पुनरुक्ततुल्यतयाऽनुपादेयत्वमाशंक्य न त्यक्तव्यम्, तत्रोपादेयतैवास्तीत्यर्थः। तत्र

(१) शकुन्तला—(लज्जित होकर बैठी रहती है)।

(२) प्रियंवदा—महाभाग ! यद्यपि आप दोनों का अनुराग प्रत्यक्ष है। फिर भी अपनी सखी का स्नेह मुझे फिर वही बात दुहराने के लिए विवश करता है ।

(३) राजा—भद्रे ! आप अपने वक्तव्य का परित्याग न करें (अर्थात् जो कहना हो, करें) क्योंकि यदि कोई बात कहने की इच्छा की जाय, किन्तु कही न जाय तो उससे

प्रियं—तेन हि शृणोतु आर्यः (१) । (तेण हि सुणादु अज्जो ।)

राजा—अवहितोऽस्मि (२) ।

प्रियं—आश्रमवासिनो जनस्य राज्ञा आर्त्तिहरेण भवितव्यम् इति, नन्वेष धर्म्मः (३) । (अस्समवासिणो जणस्स रण्णा अत्तिहरेण होदव्वं त्ति णं एसो धम्मो ।)

राजा—अस्मत्परं किन्तत् ? (४) ।

प्रियं—तेन हि इयं नः प्रियसखी त्वामेव उद्दिश्य भगवता मदनेन इदमवस्थान्तरं प्रापिता; तदर्हसि अभ्युपपत्त्या जीवितमस्या (५) अव-

---

हेतुमाह-विवक्षितमित्यादि । हि यतः, विवक्षितं-वक्तुमिष्टम्, वाक्यमित्यर्थः, अनुक्तम्-अकथितम्, तत् अनुतापं-शुश्रूषोर्मनस्तापम्, जनयति-उत्पादयति । अतो-वक्तव्यमेवेति भावः । अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ।

(१) प्रियमिति । तेन हि—तस्माद्धेतोरेव, आर्यः-भद्रः, भवानित्यर्थः ।

(२) राजेति । अवहितः—श्रवणाय कृतमनोऽभिनिवेशः, अस्मि-भवामि ।

(३) प्रियमिति । प्रियंवदा विवक्षितं भङ्ग्या वक्तुमुपक्रमते-आश्रमेति । आश्रमवासिनः-तपोवननिवासिनः, नितरां सहायशून्यस्येत्यर्थः । आर्तिहरेण-पीडाहरेण, राज्ञः प्रजामात्रपालनस्योचितत्वादाश्रमवासिनोऽसहायस्य प्रजारूपत्वे चावश्यं पालनीयत्वादिति भावः । 'आर्तिः पीडाधनुष्कोटयोः' इत्यमरः । एष धर्मः-राजनीतिः । नन्वित्यवधारणे ।

(४) राजेति । तत्—राज्ञ आश्रमवासिन आर्तिहरणौचित्यम्, अस्मत्परं-मद्गोचरम्, किं—किमस्ति कस्य पुनराश्रमवासिनो मयाऽऽर्त्तिर्हरणीया यदर्थं भवत्या अयं निर्वन्ध इत्यर्थः ।

(५) प्रियमिति । तेन हि-राज्ञ आर्तिहरणौचित्येनैव हेतुनेत्यर्थः, अर्हसीति क्रियया सहान्वयः, अथवा श्रूयतामित्यध्याहार्यम् । इयमिति पारवश्यस्य प्रत्यक्षविषयत्वं द्योतयति । नः—अस्माकम्, प्रियसखी-शकुन्तला, अनेन वात्सल्यातिशयो-

---

श्रोता के मन में बड़ा सन्ताप होता है ।

(१) प्रियंवदा—तो सुनें श्रीमान् !

(२) राजा—मैं सावधान हूँ ।

(३) प्रियंवदा—राजा का यह धर्म है कि आश्रमवासियों की पीडा दूर करे ।

(४) राजा—मेरे योग्य वह कौन सी सेवा है ।

(५) प्रियंवदा—यह हमारी प्रियसखी तुम्हारे ही उद्देश्य से कामदेव के द्वारा इस

लम्बयितुम (तेण हि इअं णो पिअसही तुमं ज्जेव उद्दिसिअ भअवदा मअणेण इमं अवत्थन्तरं पाविदा, ता अरिहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बइदुं ।

राजा—भद्रे ! साधारणोऽयं प्रणयः । सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि (१) ।

शकु—[अनसूयामवलोक्य ।] ! हला अलं वाम् अन्तःपुरविरह (२)—

द्योत्यते । त्वामेवोद्दिश्य—'तं हि राजानं पतित्वेन लभेय' इति सखीमनोरथमभिसन्धाय, इदं—वर्त्तमानम्, अवस्थान्तरं—दशाविशेषम्, दशम्यवधिकां दशाम्, अथवा प्राणनाशरूपां दशामित्यर्थः, भगवता—लोकातिशयितप्रभावेण, अनेन कामदेवस्य प्रख्यातविभवत्वं तत एव बहुमानादिकं च द्योत्यते । मदनेन—कामदेवेन प्रापिता—आरोपिता, आरोपितेति क्वचित्पाठान्तरमपि दृश्यते । अभ्युपपत्त्या—अनुग्रहेण, 'अभ्युपपत्तिरनुग्रहः' इत्यमरः, अस्याः—प्रियसख्याः, जीवितं—जीवनम्, अवलम्बयितुं—धारयितुम्, अनेन जीवितस्य पतनोन्मुखत्वमनवलम्बने तु अवश्यंपातश्च द्योत्यते । अर्हसि—अधिकारी भवसि, अनेन प्रार्थना गम्यते । जीविताबलम्बनप्रार्थनया च प्राणत्राणजं महत्सुकृतमपि ते सुलभमिति च ध्वन्यते ।

(१) राजेति । अथ राजा स्वप्रार्थनामपि भङ्ग्या प्रकाशयन् प्रियंवदाकृतप्रार्थनामनुमोदते—भद्रे इति । अयं—जीविताबलम्बनरूपः, प्रणयः—प्रार्थना, साधारणः—उभयोरप्यावयोः समानः । तथा च यथा भवतीभिरेतदर्थमहमभ्यर्थ्ये तथा मयाऽपि एतदनुग्रहार्थं भवत्यौ प्रार्थनीये इत्यर्थः, 'प्रणयः प्रेम्णि विस्रम्भे याच्ञाप्रश्रययोरपि' इति विश्वः । उपसंहरन्नाह—सर्वथेति । सर्वथा—सर्वप्रकारेण, वयस्यव्यवहारेणाद्भसनदानेनास्मत्प्रार्थनामन्तरा युष्मत्प्रार्थनेन चेत्यर्थः, सर्वथेत्यङ्गीकार इति केचित्, अनुगृहीतोऽस्मि—अनुकम्पितो भवामि, युवाभ्यां दैवेन चेति शेषः, सम्प्रति शकुन्तलासङ्गमसम्भवेन जीवनावलम्बनसम्भवादिति भावः । एतेनात्मनोऽपि शकुन्तलासदृशी दशोपस्थितेति ध्वन्यते ।

(२) शकु इति । अथ शकुन्तला राज्ञः पूर्वोक्तप्रकारवाक्येन स्वमिवानुरागातिशयं जानन्त्यपि कथ्यमानान्तःपुरिकास्मारकवचनश्रवणेन किं वा स वक्ष्यति तेन हि मयि तस्य प्रणयातिशयोऽथवान्तःपुरिकास्विति तास्वेव चेत् प्रियंवदाप्रार्थना विफलैव भवेदिति प्रणये दृढतापरिज्ञानायानसूयां लक्ष्यीकृत्योभयीमपि सखीमाह-

अवस्था को पहुँचाया गया है, इस कारण आप कृपा करके इसके जीवन की रक्षा करें ।

(१) राजा—यह प्रार्थना तो दोनों तरफ से एक ही तरह की है । हम सब तरह से आप के अनुगृहीत है ।

(२) शकुन्तला—(असूनया को देखकर) सखी ! अन्तःपुर के वियोग से उत्कण्ठित

पर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन । (हला ! अलं वो अन्तेउरविरहवज्जुसुएण राएसिणा अवरुद्धेण ।)

राजा—इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसन्निहिते ! हृदयं मम ।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे ! मदनबाणहतोऽपि हतः पुनः ॥

हलेति । वां-युवयोः अन्तःपुराणाम्- अन्तःपुरवासिनीनां रमणीनां विरहेण पर्युत्सुकेन-उत्कण्ठितेन, राजर्षिणा, उपरुद्धेन मत्समागमायानुरुद्धेन, अलम्, 'सति विशेष्ये बाधे विशेषणमुपसंक्रामती' ति न्यायात् मत्समागमनाय युवाभ्यां राज्ञोऽनुरोधो न करणीय इत्यर्थः। अन्तःपुररमणीषु प्रणयातिरेके रमण्यन्तररतेः कादाचित्कतया सर्वथा तज्जीवनवैयर्थ्यसम्भवादिति भावः।

राजेति। अथ तद्वचनवज्राहतो राजा तस्य भाविप्रणयभङ्गाशङ्कामपनेतुमाह—इदमिति। हे हृदयसन्निहिते !-चेतोऽवस्थिते ! मया सर्वदा ध्याते; इति साभिप्रायम्, एतेन यो यत्सन्निहितः स तस्य सर्वमेव तत्त्वं जानाति तव तु मम सदा हृदयसन्निहितत्वेन केयमन्तःपुररमणीविरहपर्युत्सुकत्वाशङ्केति विरहपर्युत्सुकत्वाभावः सूच्यते। अन्यस्यां परायणमन्यपरायणं तन्न भवतीत्यनन्यपरायणम्-अनन्यरमण्याश्रयम्, त्वदेकभूमीत्यर्थः, 'परायणमभीष्टे स्यात् तत्पराश्रययोरपि' इति मेदिनी, इदं—जन्मप्रभृति येन सह स्थितं तमपि परित्यज्य दर्शनात्प्रभृति त्वय्यनुरक्तम्, अनन्यनिष्ठम्, केवलं त्वन्निष्ठम् इत्यर्थः, अत्र 'त्वन्निष्ठम्' इति वक्तव्ये यन्निषेधमुखेनोक्तिः साऽन्यत्र निषेधं बोधयन्ती शब्दशक्त्याऽत्र व्यञ्जनया विधित्वेन पर्यवस्यति, तेन मामपि परित्यज्य त्वयि स्थितमिति ध्वन्यते, मम-त्वद्ध्यानैकचित्तस्य हृदयं-चेतः, अन्यथा—अन्यरमणीनिष्ठम्, यदि समर्थयसे-कल्पयसि, तदा मदिरे इव ईक्षणे यस्यास्तत्सम्बोधने हे मदिरेक्षणे !-मत्तखञ्जननेत्रे !, एतेन दृष्टेश्चाञ्चल्यातिशयप्रख्यापनादनुरक्तमपि मामननुरक्तमिव पश्यसीत्यत्र किमु वक्तव्यमिति ध्वनितम्, यद्वा मदिराद्दष्टे रीक्षणमिवेक्षणम्-अवलोकनं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ तादृशं रूपम्, 'अनेकमन्यपदार्थे' इति समासः। मदिरादृष्टिलक्षणमुक्तमादिभारते—

'आघूर्णमानमध्या या क्षामा चाञ्चिततारका।
दृष्टिर्विकसितापाङ्गा मदिरा तरुणे मदे ॥' इति।

मदनस्य-कामस्य बाणैर्हतः-विद्धोऽपि, पुनरत्यन्तं हतः-विद्धः, अस्मि-अहमिति

राजर्षि से इस तरह अनुरोध करना ठीक नहीं है।

राजा—हे हृदय में बसने वाली ! यदि एकमात्र तुम्हारे में लगे हुए हमारे मन को तुम किसी दूसरे रूप में निरूपित करोगी; तो—हे खञ्जननयने ! कामबाण से मारा हुआ मैं और भी मारा जाऊँगा ॥ २२ ॥

अन—बहुवल्लभाः खलु राजानः श्रूयन्ते ! तद् यथा इयं नः प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति; तथा करिष्यति (१)। (बहुवल्लहा क्खु राआणो सुणोअन्ति। ता जधा इअं णो पिअसही वन्धुअणसोअणीआ ण होदि, तधा करिस्सदि।)

शेषः। हननोपरिहननं पिष्टपेषणवदनुपपन्नमिति शब्दशक्त्या द्योत्यते। तथा च मम हृदयमिदानीं सर्वं विषयजातं परित्यज्य त्वय्येव वर्त्तते, तत्रापि चेत्त्वमन्यथात्वमाशङ्कसे तर्हि तस्य निर्विषयत्वान्निरुद्धवृत्तिस्तपस्येतद्विलीयेत इत्यहो मर्मच्छेदिनी ते आशङ्का इति भावः।

अत्रानन्यपरायणं प्रति हृदयसन्निहित इति सम्बन्धयन्तपदार्थस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गालङ्कारः। तेन च राजहृदयस्य शकुन्तलैकनिष्ठत्व व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः। साभिप्रायविशेषणभूयस्त्वात् परिकरालङ्कार इति प्राञ्चः। 'मदिरेक्षणे' इत्यत्रोपमा, हृदयहृदयेति, हतो हत इति लाटानुप्रासः। अनेन सामेति सन्ध्यन्तराङ्गमुपक्षिप्तमिति अर्थद्योतनिका-तल्लक्षणं यथा—

'तत्र साम प्रियं वाक्यं सानुवृत्तिप्रकाशकम्'। इति।

द्रुतविलम्बितं वृत्तम्—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति तल्लक्षणम् ॥ २२ ॥

(१) अनेति। अथानसूया शकुन्तलाप्रियंवदाभ्यामल्पवयस्कतया सहजसरलस्वभावा 'अलं वः' इति शकुन्तलावाक्येन संस्मृतवक्तव्या सती राज्ञः शकुन्तलोपरिनिरतिशयानुरागमिश्रमिति पूर्वोक्तप्रकारेण जानन्त्यतिमुग्धात्वेन निह्नुतं शकुन्तलावाक्यं स्पष्टयित्वा राजानमनुरुणद्धि—वह्विति। बह्व्यो वल्लभाः—प्रिया येषां ते बहुवल्लभाः। 'प्रेयसी दयिता कान्ता प्राणेशा वल्लभा प्रिया।

हृदयेशा प्राणसमा प्रेष्ठा प्रणयिनी च सा ॥' इति। हेमचन्द्रः।

राज्ञां बहुवल्लभत्वं तु प्रभुत्वाद्रत्नहारित्वाद् दिग्विजयादौ स्त्रीरत्नानां लाभाच्च बोध्यम्। वल्लभेत्यनेन तासु प्रेमातिशयः सूच्यते। श्रूयन्ते—श्रवणपथमागताः, आत्मनो वनवासित्वेन राजव्यवहारापरिचयेऽपि इतिहासादिमुखेन गुरुजनमुखाद् ज्ञायत इत्यर्थः, इदं सामान्येन वचनम्, तथा च तवापि राजत्वाद्बहुवल्लभत्वेन भवितव्यमिति भावः। तत्—तस्मात्, नः—अस्माकम्, प्रियसखी··शकुन्तला, एतेन अस्माभिरिदं वक्तव्यमेवेति द्योत्यते, बन्धुजनानाम्··अस्मदानीम्, शोचनीया अस्या एवासह्यदुःखश्रवणेन शोकविषया, न भवति तथा करिष्यति, भवानिति शेषः, अय-

(१) अनसूया—ऐसा सुना जाता है कि—राजाओं के बहुतेरी प्रेमिकायें होती हैं। इसलिए जिस तरह मेरी प्रियसखी बन्धुजनों के शोक का कारण न बने, ऐसा कोई उपाय करिएगा।

राजा—भद्रे ! किं बहुना ? (क) ।
परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः ।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥ २३ ॥

मर्थः-भवतो बहुवल्लभत्वादस्यां कालेनानादरः शङ्कास्पदं स यथा न भविष्यति तथाऽस्माकं प्रियसख्यामनुतिष्ठ इति । अन्यथाऽस्या जीवनं व्यर्थमेव भवितेति तथा मा कुर्विति भावः । अग्रे दुर्वाससः शापेन राज्ञो विस्मरणादाश्रमानां शकुन्तला शोचनीयैव भविष्यति; इति कथाऽत्रानुसन्धातव्या ।

अत्राभिप्रेतादरसिद्धये नानाविषयाणां कीर्त्तनात् सिद्धिर्नाम नाट्यलक्षणम्, यदुक्तं दर्पणे—

'बहूनां कीर्त्तनात् सिद्धिरभिप्रेतार्थसिद्धये' । इति ।

(१) राजेति । राजाऽनसूयावचनमभ्युपगच्छन् समर्थमुत्तरमाह—भद्रे इति । बहुना-प्रचुरेण, व्याहृतेनेति शेषः, युष्माभिरेवं बहु न वक्तव्यमित्यर्थः ।

यद्वा किं बहुना-मम बहूक्तेन किमित्यर्थः, अनेन वचनस्य मितत्वं, सारत्वं च द्योत्यते । बहुनेत्यस्यैकवचनान्तता पूर्वप्रदर्शितरीत्या बोध्या ।

कुत इत्यत्राह-परीति । परिगृह्यन्त इति परिग्रहाः-पत्न्यस्तासां बहुत्वेऽपि-अनल्पत्वेऽपि, 'परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः' इति विश्वः । परिग्रहपदेन द्वयमेव वल्लभा इतरास्तु परिग्रहा एवेति सूच्यते । नः-अस्माकम्, कुत्रचित् 'मे' इति पाठान्तरम्, तत्र ममेत्यर्थः । कुलस्य-वंशस्य, द्वे-इमौ द्वौ परिग्रहावित्यर्थः, प्रतिष्ठे-सगौरवस्थितिहेतू इत्यर्थः, उर्वी गौरवस्य हेतुः युवयोः सखी स्थितेश्च हेतुरिति द्वयोरक्याध्यवसायः, प्रतिष्ठापदेन तद्धेतुरूपोऽर्थो लक्षणया बोध्यः, 'प्रतिष्ठा गौरवे स्थितौ' इति हैमः, प्रतिष्ठे इति प्रक्रंस्यमानत्वात् द्वे इति स्त्रीत्वम्, भविष्यत इति शेषः ।.के द्वे इत्यत्राह-समुद्रेति । समुद्रः-सागर एव रसना-मेखला यस्याः सा तथाभूता, अखण्डा इत्यर्थः । अयमर्थ उर्व्या विशेषणपक्षे बोध्यः, सखीविशेषणपक्षे तु मुदं-प्रीतिं राति ददातीति मुद्रा, मुद्रा च सा रसना च मुद्ररसना तया सह वर्त्तत इति समुद्ररसना, यद्वा मुद्रया मण्यादिवस्तुना सह वर्त्तत इति समुद्रा सा रसना काञ्चीगुणो यस्याः सेत्यर्थः । उर्वी-पृथिवी च, इयं परिदृश्यमाना, लोकातिक्रान्तसौन्दर्यागणितगुणगणाभिरामा त्रिजगल्ललामभूता इत्यर्थः, युवयोः सखी-शकुन्तला च । तस्मात्

(१) राजा—भद्रे ! ज्यादा क्या कहूँ;—
बहुत सी स्त्रियों के रहते हुए भी मेरे वंश में गौरव के केवल दो ही स्थल हैं एक तो समुद्रवेष्टित पृथिवी और आपकी यह प्रियसखी ॥ २३ ॥

उभे—निर्वृते स्वः (१)। (णिव्वुदह्म)।

सत्यपि मम परिग्रहबहुत्वे युष्मदीया सख्येवा सर्वासु पत्नीषु सर्वथा विशिष्टादरपात्रं भविष्यतीत्यत्र विषये संशयलेशोऽपि हृदा न कर्त्तव्यः इति भावः। किं च परिग्रहबहुत्वेऽपि उर्वीपतित्वेन यथाऽहं गौरवान्वितो भवामि तथा युवयोः सख्याः पतित्वेनापि आत्मानं गौरवान्वितं समर्थय इति सारार्थः।

अत्र उर्वीसख्योः (पृथ्वीशकुन्तलयोः) प्रकृतयोरुभयोरेकधर्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगितेति प्राचीनाः। नव्यास्तु सखी (शकुन्तला) प्रकृता, उर्वी चाप्रस्तुता तथा च प्रकृताप्रकृतयोरुभयोरनयोरेकधर्माभिसम्बन्धाद्दीपकालङ्कार इति । तत्र च धर्मो गौरवरूपो गुणः।

उर्वीत्यत्र लिङ्गस्यासादृश्यात् स्त्रीव्यवहारसमारोपणात्समासोक्तिरलङ्कारः। ननु समुद्रे रसनात्वारोपस्य शाब्दत्वादुर्व्यां स्त्रीत्वारोपस्य चार्थत्वादेकदेशविवर्त्तिरूपकं वक्तव्यम्, उच्यते, 'समुद्ररसना' इत्यत्र एकदेशरूपणेऽपि समासोक्तिरेव न तु एकदेशविवर्त्तिरूपकम्। तत्र समुद्ररसनयो रूप्यरूपकभावो द्वयोरलङ्करणत्वेन स्फुटसादृश्यतया परसापेक्ष्यमनपेक्षयापि स्वमात्रविश्रान्त इति समासोक्तिबुद्धिं न व्याहन्तुमीशः। यत्र तु रूप्यरूपकयोः सादृश्यमस्फुटं तत्रैकदेशान्तररूपणं विना तदसङ्गतं स्यादित्य शाब्दमप्येकदेशान्तररूपमर्थमपेक्षते एवेति तत्रैकदेशविवर्त्तिरूपकमेवेति साहित्यदर्पणपरिष्कारदिक्। किञ्च प्रतिष्ठाहेतुभूते प्रतिष्ठात्वस्य अध्यवसायाद्भेदेऽभेदलक्षणाऽतिशयोक्तिः, समुद्ररसनेत्यत्र श्लेषश्चेति अङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

अत्र चोर्वीतुलनया शकुन्तलाया उत्कर्षाभिधानादुदाहरणाभिधं गर्भसन्ध्यङ्गम्—

'उदाहरणमुत्कर्षयुक्तं वचनम्'। इति दर्पणोक्तेः—

किञ्चात्रेदृशवाक्येन तासां चित्तानुवर्त्तनाद् दाक्षिण्यं नाम नाट्यलक्षणम्, यदुक्तं दर्पणे—'दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परचित्तानुवर्त्तनम्।' इति। यथोदाहृतं तत्रैव—

वाचा यथा—प्रसाधय पुरीं लङ्कां राजा त्वं हि विभीषण !।
आर्येणानुगृहीतस्य न विघ्नः सिद्धिमन्तरा ॥ इति।

रघुवंशे—'कलत्रवन्तमात्मानम्' इत्यादिप्रयोगोऽप्येतत्सहोदर एव। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २२ ॥

(१) उभे इति। राज्ञो वचनमाकर्ण्य सानन्दमाहतुः—निर्वृत इति। निर्वृते—सुखिते, 'सुस्थितत्वे च निर्वृतिरि'ति त्रिकाण्डशेषः। स्वः भवावः। आवामिति शेषः। भवत ईदृशप्रतिज्ञावचनेन भाव्यपायशङ्कानिरसनादिति भावः।

(१) दोनों—तो अब हम निश्चिन्त हो गयीं।

शकु—[हर्षं सूचयति ।] (१)

प्रियं—[जनान्तिकम् ।] अनसूये ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व मेघवाताहतामिव ग्रीष्मे मयूरीं क्षणे क्षणे प्रत्यागतजीवितां प्रियसखीम् (२) । (अणसूए पेक्ख पेक्ख मेहवादाहदं विअ गिह्मे मोरीं क्खणे क्खणे पच्चाअदजीविदं पिअसहीं ।)

शकु—हला ! मर्षयतं लोकपालम्, यदस्माभिर्विस्रब्धप्रलापिनीभिः उपचारातिक्रमेण भणितम् (३) । (हला ! मरिसावेध लोअपालं, जं अह्मेहिं विस्सद्धालाविणीहिं उवआरादिक्कमेण भणिदं ।)

---

(१) शकु इति । हर्षं सूचयति—अभिनयति । शकुन्तलाया हर्षस्तु राज्ञो मुखादीदृगसन्दिग्धवचनश्रवणेन मनोरथपूरणसंभावनया, तस्य सूचना च मुखनेत्रादिप्रसन्नतादिना बोध्या ।

(२) प्रियमिति । जनान्तिकस्य लक्षणं प्रागुक्तम् । ग्रीष्मे—ग्रीष्मर्त्तौ, मेघवातेन मेघागमनकालेनानिलेन आहतां संस्पृष्टाम्, मयूरीमिव मयूरवधूमिव, क्षणे क्षणे-उत्तरोत्तरक्षणे क्रमश इत्यर्थः, प्रत्यागतजीवितां समागतप्राणाम्, प्रियसखीं—शकुन्तलाम्, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व-पश्य पश्य । तथा च यथा मयूरवधूर्निदाघोष्मणा गतप्राणप्राया सती प्रीतिकरेण मेघवायुना प्रत्यागतप्राणा भवति तथेयमावयोः प्रियसखी मदनज्वरेण सन्तप्ता सती सम्प्रति प्रियतमस्य राज्ञ आश्वासेन सुरतसुखाशया क्रमेणोत्फुल्ला भवतीत्याशयः ।

(३) शकु इति । लोकपालं नृपतिं दुष्यन्तम्, मर्षयतं क्षमयतम्, आत्मनोऽपराधमोचनं कारयताम् । नन्वस्माकं राजनि कोऽपराधो यं मर्षयाव इत्यत्राह—यदिति । यत् यतः, विस्रब्धप्रलापिनीभिः निःशङ्कं यथा स्यात् तथाऽयथार्थवादिनीभिः, अस्माभिः, उपचारातिक्रमेण यथोचितकर्त्तव्यमर्यादोल्लङ्घनेन, भणितम्—उक्तम् तथा च निष्कृपेत्यादिभिर्यदस्मै बहुश उपालम्भो दत्तः, तस्यास्माभिर्मार्जना कारयितव्येति भावः ।

---

(१) शकुन्तला—(प्रसन्नता प्रकट करती है ।)

(२) प्रियंवदा—(चुपके से) अनसूया ! देख-देख, गर्मी के दिनों में बदली की हवा लगने से प्रसन्न मयूरी की तरह क्षण क्षण में मेरी प्रियसखी का जीवन फिरता आ रहा है ।

(३) शकुन्तला—सखी ! तुम दोनों राजा से क्षमा मांगो, क्योंकि हम लोगों ने इच्छानुसार बकवाद कर शिष्टाचार का उल्लङ्घन करती हुई बहुत सी बातें कह डाली हैं ।

सख्यौ—[सस्मितम् ।] येन तन्मन्त्रितं स एव मर्षयतु अन्यस्य कः अत्यय (१)। (जेण तं मन्तिदं सो ज्जेव मारिसावेदु, अण्णस्स को अच्चओ ।)

शकु—अर्हति खलु महाराज इमं विषोढुम् । परोक्षं वा न किं को मन्त्रयति (२)। (अरिहदि क्खु महाराओ इमं विसोढुम् । परोक्खं वा ण किं को मन्तेदि ।)

राजा—[सस्मितम् ।] (३)

---

(१) सख्याविति । सस्मितमिति स्मितकरणं वक्तव्यस्य सोल्लुण्ठनत्वादेव बोध्यम् । अथ नायकेन समं मुग्धात्वेन विश्रब्धालपनाय लज्जमानाया नायिकाया लज्जापनोदनाय सख्यै सोल्लुण्ठमालपतेः येनेति । येन जनेन, तन्मन्त्रितम् उपचारमतिक्रम्य भणितम्, स एव जनः, मर्षयतु तज्जन्यापराधं, क्षमयतु, अन्यस्य—जनस्य, कः अत्ययः दोषः, 'अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे दोषे दण्डेऽपि' इत्यमरः । तथा च त्वयैवापराधः कृतो न त्वावाभ्यां सुतरां त्वयैव क्षमा प्रार्थनीयेत्याशयः । मुग्धानायिकाविषये प्राय एवमेव सखीस्वभावो भवति ।

(२) शकु इति । परिहासेन सखीभ्यामुक्ताऽपि परमार्थेन सम्भाव्य मर्षयितुमाह-अर्हतीति । इमम् उपचारातिक्रमणायथाभूतकथनजनितापराधम्, विषोढुंप्रमार्ष्टुम्, अर्हति भवानिति शेषः, खल्विवत्यनुनये, 'निषेधवाक्यालंकारजिज्ञासाऽनुनये खलु' इत्यमरः । महाराजेति क्षमायोग्यत्वं सूचयति, परोक्षम् अप्रत्यक्षम्, असमक्षमिति यावत्, अक्ष्णोः परमिति विग्रहः, अव्ययीभावसमासः, निपातनात् सुट् । किं न मन्त्रयति व्याहरति । तथा च यथा महानुभावाः केनचित् साधारणजनेन कृतमपरोक्षमपवादं हेयत्वबुद्ध्या सहन्ते न तत्रात्मानमवसादयन्ति तथा महाराजो भवानपि मयि साधारणप्रजाजनत्वबुद्ध्या मत्कृतापराधं विषह्यात्मानं नावसादयितुमर्हतीति भावः ।

अत्र कृतस्यानुचितस्य मार्जनात् परिहारो नाम नाट्यालंकारः । यदाह विश्वनाथः—'परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचितमार्जनम् ।' इति ।

(३) राजेति । अत्राभिधास्यमानवाक्यस्य कौतुकयुक्तत्वात्प्रथमं राज्ञः स्मितम् ।

---

(१) दोनों—(मुस्कराकर) जिसने शिष्टाचार का उल्लङ्घन करके बात की हो वह मनावे, दूसरे को क्या पड़ी है । ?

(२) शकुन्तला—आप हमारे इस अपराध को क्षमा करें । पीठ पीछे भला कौन क्या नहीं कहता ।

(३) राजा—(मुस्कराकर) ।

अपराधमिमं ततः सहिष्ये यदि रम्भोरु ! तवाङ्गसङ्गमृष्टे ।
कुसुमास्तरणे क्लमापहेऽत्र स्वजनत्वादनुमन्यसेऽवकाशम् ॥२४॥

प्रियं—[सोपहासम् ।] ननु एतावता पुनस्तुष्टो भविष्यति ? (१)
(णं एत्तिकेण उण्ण तुट्ठो भविस्सदि ?)

शकु—[सरोषमिव ।] विरम विरम दुर्विनीते । एतावदवस्थां गतया मया क्रीडसि (२) । (विरम विरम दुव्विणीदे ! एतावदवत्थं गदाए मए कीलसि ।)

सामोदं सकौतुकञ्चाह—अपराधमिति । रम्भे—कदलीस्तम्भौ इव ऊरू यस्यास्तत्सम्बोधनम्, एतेनोर्वोः शीतत्वं तेन च सुखस्पर्शत्वं ध्वन्यते । 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' (४-१-६०) इति स्त्रियामूङ् । यदि तव अङ्गानां सङ्गेन-सम्पर्केण मृष्टे-परिशोधिते, विमर्दिते वा, अत एव क्लमापहे-क्लमं-सन्तापमपहन्तीति तथाभूते, मदनतापनाशके इत्यर्थः । सम्भोगस्य सन्निहितत्वादिति भावः, अत्र-अस्मिन् , पुनःस्थिते कुसुमास्तरणे पुष्पशय्यायाम्, स्वजनत्वाद्-आत्मीयत्वबुद्ध्येति भावः, अवकाशं-मदवस्थानम्, अनुमन्यसे-अनुजानासि, ततः-तदा, इमम्-उपचारातिक्रमणजनितं स्वकृतमपराधम्, सहिष्ये-क्षमिष्ये, अन्यथा नेत्याशयः ।

अत्र कामक्लमापहत्वं प्रति 'तवाङ्गसङ्गमृष्टे' इति पदार्थस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ।

तथाऽत्र रतिप्रार्थनाप्रकाशनात् प्रार्थनाभिध गर्भसन्ध्यङ्गं प्रदर्शितम् । यथाह विश्वनाथः—'रतिहर्षोत्सवानान्तु प्रार्थनं प्रार्थना भवेत्' इति ।

किञ्चात्र मनोरथस्य भङ्ग्यन्तरेण कथनाद् मनोरथाभिधं नाट्यलक्षणं दर्शितम् । 'मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिर्भङ्ग्यन्तरेण यत्' । इति दर्पणोक्तेः ।

औपच्छन्दसिकं वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'पर्यन्तेर्यौ तथैव शेषम् औपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम् ।' इति ॥ २४ ॥

(१) प्रियमिति । सोपहासं-सपरिहासम् । शकुन्तलायाः पतित्वेन राज्ञः श्यालिकाविधया प्रियंवदाया उपहासः । नन्विति प्रश्ने । एतावन्मात्रेण-शय्यामवकाशप्रदानेनैव, तुष्टः-कृतार्थः, भविष्यति भवानिति शेषः, सम्भवतः-सुरतामोदं नापेक्षत इव किमिति भावः ।

(२) शकु इति । सरोषमिव-सकृतकरोषम् । इवेन न तस्या वास्तविको रोषः

हे रम्भोरु ! तुम्हारे अङ्ग के स्पर्श से पवित्र तथा कामजन्य सन्ताप को दूर करने वाली इस पुष्पशय्या पर मुझे यदि अपना समझ कर थोड़ी सी जगह दे दोगी, तो मैं तुम्हारे अपराध को क्षमा कर दूँगा ॥ २४ ॥

(१) प्रियंवदा—(उपहास सहित) तो क्या इतने ही से सन्तुष्ट हो जाइएगा ?

(२) शकुन्तला—(सरोष की तरह) चुप, चुप, रह दुर्विनीता ! मेरी दुरवस्था हो गयी है और तू मेरे साथ मजाक कर रही है ।

अनु—[बहिः सदृष्टिक्षेपम् ।] प्रियंवदे ! एषा तपस्विमृगपोतकः इतस्ततो दत्तदृष्टिः नूनं मातरं प्रभ्रष्टामन्विष्यति, तत् । संयोजयामि एनम्(१)। (पिअम्बदे ! एस तवस्सिमिअपोदओ इदो तदो दिण्णदिट्ठी नूणं मादरं पब्भट्टं अण्णेसदि; ता संजोजेमि णं)

प्रियं—हला ! चपलः खल्वेषः, न एनं संयोजयितुमेकाकिनी (२) पारयसि, तदहमपि सहायत्वं करिष्यामि । [इत्युभे प्रस्थिते] (हला ! चवलो क्खु एसो ण एणं संजोजइदुं एआइणी पारेसि, ता अहम्पि सहा-

---

किन्तु कृतक एवेति व्यज्यते । तस्या मनःप्रमोदजनकत्वेन तादृशोत्तरोत्तरालापस्याभीप्सितत्वादिति भावः । दुर्विनीते-दुःशिक्षिते, एतावदवस्थाम् एतावती-इयत्परिमिता चासौ अवस्था-दशा चेति ताम्, शोचनीयादिरूपां दशामिति यावत् , गतया-प्राप्तयाऽपि, मया करणेन, क्रीडसि-खेलसि, इदं ते महदनुचितमिति भावः।

(१) अनेति । उभयोर्नायकनायिकयोः प्रवृद्धं परस्परानुरागं विचिन्त्य 'इदानीमावयोरत्रावस्थितिरसङ्गता' इति बुद्ध्या केनचिदपदेशेनेतो निर्गन्तुमाह— प्रियंवदे इति । बहिर्दृष्टिक्षेपणं किञ्चिद् व्याजकरणाय, तत्र दैवतो मृगपोतो दृष्टः, तेन व्याजकरणे सुविधा प्राप्ता, बहिर्दृष्टिक्षेपाभावे मृगपोतावस्थादर्शनासम्भवादुक्तं,- बहिः सदृष्टिक्षेपमिति । तपस्वी-अनुकम्पार्हश्चासौ मृगपोतकः-क्षुद्रहरिणशावश्चेति तपस्विमृगपोतकः; 'तपस्वी तापसे चानुकम्पार्हे चेति' विश्वः । 'पोतः शिशौ वहित्रे च' इति विश्वोऽपि, नूनं-निश्चितम्, प्रभ्रष्टाम्-असावधानतया परित्यज्य दिगन्तरप्राप्तामित्यर्थः । एनं-मृगपोतकम्, संयोजयामि-मात्रा सह मेलयामि । अत्राप्रस्तुतमृगपोतमेलनवाक्येन प्रस्तुतनायकनायिकामेलनप्रत्यायनादप्रस्तुतप्रशंसा । पर्यायोक्तमिति केचित् । यदुक्तं दण्डिना—

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये । यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ॥

(२) प्रियमिति । प्रियंवदा अनसूयाया अभिप्रायं विदित्वा ततः प्रस्थानाय व्याजेन भूमिकामारचयति-हलेति । एषः-मृगपोतकः, चपलः-स्वभावतो बालत्वेन चञ्चलः, अत एव एनं-मृगपोतकम्, संयोजयितुं-मात्रा सह मेलयितुम्, एकाकिनी-

---

(१) अनसूया—(बाहर की ओर निहार कर) प्रियंवदा ! विचारा यह हिरन का बच्चा इधर-उधर ताक कर अपनी भूली माता को खोज रहा है । चलो, इसे इसकी मां से मिला दें ।

(२) प्रियंवदा—सखी ! यह बड़ा चञ्चल है, तुम अकेले इसे इसकी मां से नहीं

अत्तणं करिस्सं ।)

शकु—हला ! इतः अन्यतो न वां गन्तुमनुमन्ये, यतोऽसहायिन्यस्मि (१)। (हला ! इदो अण्णदो ण वो गन्तुं अणुमण्णे, जदो असहाइणी ह्मि ।)

उभे—[सस्मितम्] त्वं तावन्नसहायिनी यस्याः पृथिवीनाथः समीपे वर्त्तते (२)। (तुमं दाव असहाइणी, जाए पहवीणाहो समीवे वट्टदि ।) [इति निष्क्रान्ते ।]

शकु—कथं गते एव प्रियसख्यौ (३)। (कथं गदाओ ज्जेव पिअसहीओ ।)

अनन्यसहाया भूत्वेत्यर्थः, 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति सूत्रेण आकिनिच् प्रत्ययः, ततः स्त्रीलिङ्गे ङीप्, न पारयसि—न शक्नोषि, दृष्ट्वैवासौ अन्यत्र पलायिष्यते इति भावः। तत्-तस्मात्, सहायत्वं मृगपोतमेलनकर्मणि तव साहाय्यम्, प्रस्थिते-प्रस्थातुं प्रयतेते, अत्र 'आदिकर्मणि क्तः' 'कर्त्तरि च' इति क्तः। इस शकुन्तलादुष्यन्तयो रमणसम्पादनाय स्थाननिर्जनत्वापादनेच्छया मृगपोतसंयोजनव्याजेन सखीद्वयस्य प्रस्थानाद् अधिबलं नाम गर्भसन्ध्यङ्गम् । यथोक्तं विश्वनाथेन—'अधिबलमभिसन्धिश्छलेन यः'। इति ।
ईदृशं ग्रथनकौशलं साधारणकवीनां पक्षे दुराराध्यमित्यहो धन्यः कविः कलिदासः ।

(१) शकु इति । इतः—अस्मात् स्थानात्, अन्यतः—अन्यत् स्थानम् अन्यस्मिन् स्थाने वा, वां—युवाम्, न अनुमन्ये—न अनुजानामि, सहायोऽस्या अस्तीति सहायिनी न सहायिनी असहायिनी—एकाकिनीत्यर्थः । असहायभावेन मां विहाय सम्प्रति युवयोर्गमनमसङ्गतमिति भावः ।

(२) उभे इति । रत्युत्कण्ठिताया अपि तदनुकूलं ततः सख्योर्गमनमनुमोदयन्त्याः शकुन्तलायाः स्फुटं मुग्धात्वमालोच्य सख्योः स्मितम् । अथ सख्यावुपहासपूर्वकमाहतुः—त्वमिति । पृथिवीनाथः—पृथिवीपालः, राजा दुष्यन्तः; अनेन महासहायवत्त्वं ध्वन्यते । राजसहायत्वेऽपि असहायत्ववचनं मुग्धात्वेनेवेत्ययं परिहासः । इति निष्क्रान्ते—सख्याविति शेषः ।

(३) शकु इति । कथमिति सम्भ्रमे, 'कथं प्रश्ने सम्भ्रमे च' इति विश्वः ।

मिला सकोगी, इसलिए मैं भी तुम्हें सहायता दूँगी । (ऐसा कह कर दोनों चली जाती हैं)

(१) शकुन्तला—सखी-सखी ? मैं तुम्हें यहाँ से जाने की अनुमति नहीं देती । क्योंकि मैं अकेली हूँ ।

(२) दोनों—(मुस्करा कर) जिसके पास स्वयं पृथ्वीनाथ बैठे हैं, सो तुम अकेली हो ? (दोनों चली गयीं)

(३) शकुन्तला—क्या मेरी प्रियसखियाँ चली गयीं ।

राजा—सुन्दरि ! अलमावेगेन; नन्वयमाराधयिता जनस्ते सखीभूमौ वर्त्तते । तदुच्यताम् (१) !

किं शीकरैः क्लमविमर्दिभिरार्द्रवातं
सञ्चालयामि नलिनीदलतालवृन्तम् ।
अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ
संवाहयामि करभोरु ! यथासुखं ते ॥ २५ ॥

गते एव न तु व्याजेन तिरोभूय स्थिते इत्येवार्थः ।

(१) राजेति । अथ मुग्धाविस्रम्भणपण्डितो नायकः सलज्जासाध्वसतरलां नायिकामनुकूलयितुमाह—सुन्दरीति । आवेगेन—सखीजनासान्निध्यहेतुकेन सम्भ्रमेण अलं—स मास्त्वित्यर्थः; अलं योगे तृतीया । नन्विति अनुनयं व्यञ्जयति । आराधयिता—प्रीणयिता, क्लेशापनोदपूर्वकसुखविधातेति यावत्, सखीभूमौ—सखीपदे वर्त्तते—तिष्ठति । अनेनात्मनो नायिकान्तिके भृत्यवद्भावं द्योतयति । तथा च अहमेव ते सखीवद् शुश्रूषां करोमीति आवेगं मा कुरु इत्यर्थः ।

केन वा विधानेन शुश्रूषयामीति पृच्छति—तदिति । शुश्रूषाप्रकारं विकल्पयति—किमिति । करभाविव मणिबन्धात् कनिष्ठाङ्गुलिपर्यन्तप्रदेशाविव ऊरू यस्यास्तत्सम्बोधने हे करभोरु !, अस्य विशेषव्याख्यानं प्रागुपदर्शितम् । क्लमं शरीरसंतापं विशेषेण मर्दयितुं हन्तुं शीलं येषां ते तैः, अनेन शैत्यं द्योत्यते, शीकरैः—जलकणैः, आर्द्रः—क्लिन्नः आर्द्रवत् शीतलः वातः—वायुर्यस्य तत्तथोक्तम्, नलिन्याः पद्मलतायाः दलं पत्रमेव तालवृन्तं व्यजनम्, यद्वा नलिनीदलं तालवृन्तमिव, आकृत्या साम्यम्, 'व्यजनं तालवृन्तं स्यादि' त्यमरः, अनेन सौरभातिशयः सूच्यते, सञ्चालयामि आन्दोलयामि, किमिति प्रश्ने । उत—अथवा 'उतान्यथविकल्पयोः' इत्यमरः, पद्मे—कुशेशये इव ताम्रौ—अरुणौ, 'ताम्रः शुल्वेऽरुणेऽपि चे' ति त्रिकाण्डशेषः, पद्मि मातीति पद्मम्, यद्वा पद्भ्यां मा उपमा यस्येति पद्मम्,-इत्यर्थकरणे तेन सह साम्यं नास्तीति ताम्रत्वमात्रेण साम्यम्, अतो नारविन्दादिपदोपादानं कृतम् । 'करभोरु-पद्मताम्रौ' इति पदाभ्यां चरणयोः संवाहनयोग्यत्वं ध्वनितम् । ते—तव, चरणौ—पादौ अङ्के—मदीये उत्सङ्गे, 'उत्सङ्गचिह्नयोरङ्क' इत्यमरः, निधाय निवेश्य, अनेन-

(१) राजा—सुन्दरी ! घबड़ाओ नहीं, तुम्हारा यह सेवक उन सखियों की जगह काम करने के लिए उपस्थित है । कहो—

हे रम्भोरु ! ग्लानि को दूर करने वाले और जलबिन्दु के कारण जिसमें पर्याप्त ठण्डक है, ऐसे कमल के पत्ते का पंखा झलूँ या कमल सरीखे लाल-लाल तुम्हारे पैर अपनी गोद में रखकर तुम्हें सुखी करने के लिए दबाऊँ ॥ २५ ॥

शकु—न माननीयेषु जनेषु आत्मानमपराधयिष्यामि । [इत्यवस्थासदृशमुत्थाय प्रस्थातुमिच्छति ।] (१) (ण माणणीएसुं जणेसुं अत्ताणंअवराहइस्सं ।)

सौभाग्यसर्वंकषत्वं स्वस्य संवाहनकलाकुशलत्वं च ध्वनितम्, सुखमनतिक्रम्येति यथासुखं—मन्दं मन्दम्, येन प्रकारेण ते सुखं स्यात् तेनैव प्रकारेणेत्यर्थः, संवाहयामि-मर्द्दयामि 'संवाहनं मर्द्दनं स्यात्' इत्यमरः, मर्द्दनेन क्लेशमपनयामीत्यर्थः । तथा च ममैवात्र ते शुश्रूषाकरणे विद्यमानत्वात् सख्योः प्रस्थानेऽपि न काचित् क्षतिरिति आवेगेनालमिति भावः । अत्राभ्यां वाक्याभ्यां नायकस्य तत्तत् कर्त्तुमौत्सुक्यं द्योत्यते, तत्रापि वीजने सामीप्यं संवाहनेऽङ्गस्पर्श इत्यधिकमौत्सुक्यम्, तत्रापि च तदपेक्षयोरुसंवाहनेऽधिकतरमौत्सुक्यं गम्यते ।

किञ्चात्र नायकस्य तामपृष्ट्वैव वीजनादौ प्रवृत्तिकरणमनुवृत्तिचातुर्यं द्योतयति । यथाह वात्स्यायनः—अनधिगतविश्वासैस्तु प्रसभमुपक्रम्यमाणास्ताः सम्प्रयोगद्वेषिण्यो भवन्ति कुसुमसधर्माणो हि योषितः' इति ।

इह नलिनीदले तालवृन्तत्वारोपस्य प्रकृतवीजनोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः । पूर्वोत्तरार्द्धयोर्विकल्पालङ्कारः; तुल्यबलविरोधे विकल्प इति तल्लक्षणात् । 'करभोरुपद्मताम्रौ' इति लुप्तोपमाद्वयस्य परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । किञ्च तयोश्च पदार्थयोः संवाहने हेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, साभिप्रायविशेषणत्वेन च परिकरोऽपि । तथाऽत्र माला नाम नाट्यलक्षणमुपक्षिप्तम्, तल्लक्षणं यथा—

'माला स्याद्यदभीष्टार्थप्रकाशनम्' । इति ॥

वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २५ ॥

(१) शकु इति । अथ नायकाभिप्रायं जानती लज्जाद्याकुला भङ्ग्या तद्वचनं प्रतिषेधति-नेति । माननीयेषु-पूज्येषु, पुरुषत्वात् वयोधिकत्वात् , राजत्वाद्, भाविवरत्वबुद्धेश्चेति भावः, अपराधयिष्यामि-अपराधिनं करिष्यामि ।

अयमुपचारो मास्त्वित्यर्थः । तथा च पुरुषत्व-वयोधिकत्व-राजत्व-वरत्वादिना पूजनीयत्वाद् भवतां द्वारा चरणसंवाहनं न करिष्यामि यतो ममापराधः स्यादिति भावः । एतेन नायिकाया ईदृशीमवस्थामापन्नाया अपि मुनिजनसहवासजनितधार्मिकसंस्कारस्याविलुप्ततया नायिकौचित्यं सूचितम् ।

अवस्थासदृशं-निजदौर्बल्यानुरूपम्, कष्टेनेत्य र्थः, प्रस्थातुमिच्छति--न तु प्रस्थितेत्यर्थः, अनेनौत्सुक्यलज्जे मिथः स्पर्द्धेते इति व्यज्यते ।

(१) शकुन्तला—मैं आप सरीखे माननीय पुरुष के निकट अपने को अपराधिनी नहीं करूँगी (यह कहकर अपनी अवस्थानुसार धीरे से उठ कर जाना चाहती है)

राजा—[अवष्टभ्य ।] सुन्दरि ! अपरिनिर्वाणो दिवसः, इयञ्च ते शरीरावस्था (१) ।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणः ।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधाकोमलैरङ्गैः ॥ २६ ॥

(१) राजेति । अवष्टभ्य—अभिरुध्य, शकुन्तलां धृत्वेत्यर्थः । गन्तुमारब्धां तां निवर्त्तयितुं वर्णनामुखेनाह-सुन्दरीति । सुन्दरीति संबुद्धया एतादृगवस्थायामपि सौन्दर्यस्य ह्रासो नास्तीति सूच्यते । दिवसः—सूर्यकिरणावच्छिन्नः कालः, अपरिनिर्वाणः—अवसानं न गतः, इदानीमपि प्रखरतापोऽस्तीत्याशयः, इयञ्च—ईदृशी च अत्यन्तक्लान्तरूपेत्यर्थः, ते—तव, शरीरावस्था—दैहिकदशा । सुतरां साम्प्रतं ते गमनमसाम्प्रतमिति भावः ।

गमनं प्रतिषिध्यन् देहावस्थाप्रदर्शनपूर्वकं गद्योक्तमेवार्थं विच्छित्त्या व्याचष्टे-- उत्सृज्येति । नलिनीदलेन--पद्मिनीपत्रेण कल्पितं—रचितं स्तनयोरावरणं—तापप्रशमनायाच्छादनं यस्याः सा तथोक्ता, सा तापातिशयो द्योत्यते, तथा च नलिनीदलं चातपे झटिति ग्लानिं गमिष्यति तदा च का गतिरिति भावः, त्वं कुसुमशयनं—पुष्पमयीं शय्याम्, उत्सृज्य—विसृज्य, अनेन सखीजनोऽत्र यदि सन्निहितः स्यात् तदाऽवश्यं निवारयेदिति द्योत्यते, परिबाधया—विशेषपीडया परितः सन्तापेन, कोमलैः—मार्दवं गतैः दुर्बलैरिति भावः, यद्वा परि--परितः बाधा—पीडा यस्याः सा, इति शकुन्तलाविशेषणम्, 'पीडा बाधा व्यथा' इत्यमरः, अङ्गैः--चरणाद्यवयवैः, बहुवचनेन प्रत्यङ्गं पीडागौरवं द्योत्यते, उपलक्षणे हेत्वर्थे वा तृतीया, आतपे-सूर्यातपे, घर्मे, कथं गमिष्यसि—असामर्थ्यात् कथमपि गन्तुं न शक्यसीत्यर्थः । स्वस्थोऽपि वस्त्रावरणादिकं त्यक्त्वाऽऽतपे गन्तुमसमर्थः त्वं तु स्वभावतः सुकुमाराङ्गी तत्रापि पीडायुक्ता तत्रापीदृगवस्था तत्रापि कुसुमशयननलिनीदलादि त्यक्त्वा सुतरां गन्तुमशक्तेति कथनार्थः । तथा चात्रैवावतिष्ठस्व; आतपनिवृत्तौ गमिष्यसीति भावः ।

अत्र नायकस्य हर्षौत्सुक्यकारुणिकत्वादयो नायिकाया ग्लान्यादयश्च भावा व्यज्यन्ते ।

अत्र चान्यत्र गमनासम्भवं प्रति परिबाधाकोमलाङ्गत्वस्य हेतुत्वेनोपन्यासात्

(१) राजा—(शकुन्तला को पकड़ कर) हे सुन्दरी ! अभी दिन नहीं ढला है और तुम्हारे शरीर की यह अवस्था है—

तुम्हारे दोनों स्तन कमल के पत्र से ढँके हुए हैं, ऐसी हालत में तुम पुष्पशय्या को छोड़ कर, इस पीड़ा से दुर्बल शरीर से धूप में किस तरह जाओगी ॥ २६ ॥

[इति बलान्निवारयति ।] (१)

शकु०—मुञ्च मुञ्च माम्, न खलु आत्मनः प्रभवामि; अथवा सखीमात्रशरणा किमिदानीमत्र करिष्यामि ! (२)। (मुञ्च मुञ्च मं; ण क्खु अत्तणो पहवामि ! अथवा सहीमेत्तसरणा किं दाणिं एत्थ करिस्सं।)

पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। अर्थापत्तिश्च। अनयोः सङ्करः हेतुर्नाम नाटकलक्षणमप्यत्रोन्नेयम्—तल्लक्षणं यथा—

'हेतुर्वाक्यं समासोक्तमिष्टकृद्धेतुदर्शनात्'। इति ॥ कोमलैरित्यत्र पेलवैरिति क्वचित् पाठः, तत्राद्यस्वरद्वयघटितशब्दस्याण्डकोपवाचकत्वेन व्रीडाव्यञ्जकत्वादश्लीलत्वम्, 'अण्डको वृषणः पेलम्' इति हेमचन्द्रोक्तेः। दर्पणकृता एवमेवोदाहृतम्—

यथा—'पाणिः पल्लवपेलवः'। इति। व्याख्यातञ्च-'पेलशब्दस्याद्याक्षरे अश्लीले'। इति। आर्या जातिः ॥ २६ ॥

(१) इतीति। इति-एवमुक्त्वा, बलात्-बलपूर्वकम्, निवारयति-गृहीत्वा शकुन्तलामिति शेषः।

(२) शकु इति। अथ राज्ञा बलात्कारपरिग्रहेण लज्जयाकुला ससम्भ्रमं सविनयञ्चाह-मुञ्चेति। मुञ्च मुञ्चेति मुग्धात्वेन सम्भ्रमे द्विरुक्तिः, हठाद् मां मा स्पृशेति भावः। तत्र हेतुमाह-न खल्विति। नात्मनः प्रभवामि-प्रभुर्भवामि, तथा च कन्यकानां पित्रादिपारतन्त्र्यात् स्वत एव आत्मनः प्रभुत्वाभावात् तव मनोरथपूरणाय न समर्था भवामीति भावः। यथा महाभारते तस्या एवोक्तिमाह—

'यस्य मां दास्यति पिता स मे भर्ता भवेदिह।
पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रो रक्षति वार्द्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।' इति।

अथात्मनो गुर्वायत्तत्वेनाप्रभुतयाऽऽत्मप्रदानेऽसमर्थाऽपि कथं मदनलेखनादिकमन्वतिष्ठदित्याह-अथ वेति। यद्वा पूर्वोक्तविधवाक्येन मुनिजनप्रभावस्मरणजनितभयेन नायकस्य प्रणयोच्छेदमाशङ्क्य किञ्चिदाश्वासनदानाय स्वानुरागाभिव्यक्तिपूर्वकं पूर्वोक्तं विकल्प्याह-अथवेति। सखीमात्रं-सख्यावेव शरणं-नियन्तृत्वेनावलम्बनं यस्याः सा तादृशी, अहम्, अत्र-अस्मिन् विषये, सख्योरविद्यमानतादशायामित्यर्थः, इदानीं-सम्प्रति, किं करिष्यामि-गमनमन्तरेणेत्यर्थः। तथा च-मम तु त्वयि बलवदनुरागः, किन्तु सख्यायत्ततया तयोरनुपस्थितौ कथं ते मनोरथं पूरयितुं प्रभवामीति गमनमेव सङ्गतमिति भावः।

---

(१) (ऐसा कह कर जबर्दस्ती लौटा लाता है)

(२) शकुन्तला—छोड़ दो—मुझे छोड़ दो, मैं स्वयं अपने अधीन नहीं हूँ। अथवा केवल ये सखियाँ ही मेरी सहायिका हैं, फिर मैं यहाँ अकेली रहकर क्या करूँगी ?

राजा—धिग् व्रीडितोऽस्मि (१)।

शकु—न खलु अहं महाराजं भणामि; दैवमुपालभे (२) (ण क्खु अहं महाराअं भणामि, देव्वं उवालहामि ।)

राजा—अनुकूलकारि दैवं कथमुपालभ्यते (३)।

शकु—कथमिदानीं न उपालप्स्ये, यन्मामात्मनः अनीशां कृत्वा परगुणैर्लोभयति (४)। (कधं दाणिं ण उवालहिस्सं, जं मं अत्तणो अणीसं कदुअ परगुणेहिं लोहावेदि ।)

---

(१) राजेति । धिगिति आत्मनिन्दायाम्, व्रीडितः-लज्जितः, अस्मि-भवामि, तथैवाहूय पश्चात् प्रत्याख्यातत्वेन विफलमनोरथत्वाल्लज्जयाऽऽत्मनः भर्त्सयामीत्यभिप्रायः।

इह नायकेनाऽऽत्मभर्त्सनाकरणेन क्षोभो नाम नाट्यालङ्कारः ।

'अधिक्षेपवचःकारी क्षोभः प्रोक्तः स एव तु'। इति दर्पणोक्तेः ।

(२) शकु इति । राज्ञा विमुखतामपनेतुमाह-न 'खल्विति । महाराजं-भवन्तमुद्दिश्येत्यर्थः, भणामि-मुञ्च मुञ्चेति वचनमिति शेष, किन्तु दैवम्-अदृष्टम्, उपालभे-तिरस्करोमि। तथा चैवं योजयिष्यता दैवेन कथमहं परतन्त्रीकृतेति तदेव निन्दामि न तु हृदयवल्लभं भवन्तमिति भावः।

(३) राजेति। अनुकूलं-स्वपरसाधारणस्यैवाभिमतं रूपलावण्यादिकं करोति-भोगार्थं प्रतिपादयतीति तत्, अभिमतार्थसाधीत्यर्थः, दैवम्-अदृष्टम्, उपालभ्यते-निन्द्यते, त्वयेति शेषः, आवयोः परस्परसम्मेलनद्वारा दैवस्यानुकूलकारित्वादिति तन्निन्दा न करणीयेति भावः, उपकारिणि उपालम्भो वैपरीत्येन निन्दायै भवतीति हृदयम् ।

(४) शकु इति । आत्मनोऽनीशां-प्रभुत्वहीनाम्, स्वतन्त्राम् , परगुणैः—अन्यदीयसौन्दर्यादिभिः अर्थात्तव गुणैः, लोभयति-प्ररोचयति, तत्रैव परस्मिन्ननुरागं जनयतीत्यर्थः। तथा च परस्परविरुद्धस्य आत्मनोऽनीशत्वस्य परगुणलोलुपत्वस्य च द्वयोरेकत्र समावेशनाद् दैवमुपालम्भनीयमेवेति भावः।

---

(१) राजा—ओह ! मैं लज्जित हो गया ।

(२) शकुन्तला—महाराज मैं आप को नहीं कहती, बल्कि अपने भाग्य को कोसती हूँ ।

(३) राजा—जब कि भाग्य तुम्हारी इच्छानुसार काम करता है, तब तुम उसे क्यों कोसती हो ?

(४) शकुन्तला—क्यों न निन्दा करूँगी, वह मुझको पराधीन बनाकर दूसरे के गुणों पर लुब्ध करता है।

राजा—[स्वगतम्] (१)

अत्यौत्सुक्ये महति दयितप्रार्थनासु प्रतीपाः
काङ्क्षन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने ।
आबाध्यन्ते न खलु मदनेनैव लब्धान्तरत्वा-
दाबाधन्ते मनसिजमपि क्षिप्तकालाः कुमार्य्यः ॥२७॥

(१) राजेति । स्वगतम्—अनतिस्पष्टम् ।

राज्ञा मदनबाणहताया अपि प्रतिकर्त्तुमपारयन्त्याः शकुन्तलाया अवस्थामालोक्यालोच्यते—अपीति । महति–विपुले, औत्सुक्ये–रन्तुमाग्रहे सत्यपि, दयितस्य–वल्लभस्य नायकस्य, 'दयितं वल्लभं प्रियम्' इत्यमरः, प्रार्थनासु–रतियाच्ञासु, प्रतीपाः–पराङ्मुख्यः, 'प्रतीपोऽन्यः पराङ्मुखे' इति शब्दार्णवः, व्यतिकरसुखं—सङ्गमसुखम्, काङ्क्षन्त्योऽपि–अभिलषन्त्योऽपि स्वाङ्गदाने–रत्यर्थं तत्साधनावयवार्पणे, कातराः–भीरुकाः असमर्था इत्यर्थः, लज्जया साध्वसाद्वेति भावः । अत एव क्षिप्तः–समुपस्थितोऽपि मौग्ध्येन रमणं विनाऽतिक्रान्तः कालः–मदनस्य चरितार्थतासमयो याभिस्ताः तथाभूताः कुमार्यः—अजातपुंसम्पर्का योषितः, लब्धान्तरत्वात्—प्राप्तावकाशतया, मदनेनैव–केवलं कामेनैव, न खलु आबाध्यन्ते–नैव प्रपीड्यन्ते, किन्तु; मनसिजं–तं मदनमपि, आबाधन्ते–पीडयन्ति, तस्याचरितार्थत्वादिति भावः, ताः कुमार्य्य इति शेषः ।

तथा चात्र शकुन्तलाया महति प्रणयौत्सुक्ये सत्यपि मौग्ध्येन हेतुना वल्लभस्य प्रार्थनायां विषये पराङ्मुखता तथा सुरतसुखमभिलषन्त्या अपि तत्साधनीभूताङ्गनियोजनं कातरता च प्रतीयते अत एव सा शकुन्तला लब्धावकाशेन मदनेन पीडिता भूत्वाऽपि स्वयं हि मदनं तदभिमताननुष्ठानद्वारा पीडयतीति परस्परेण महान् संग्रामो जात इति भावः ।

एवञ्चात्र 'शकुन्तला' इति विशेषे वक्तव्ये 'कुमार्य' इति सामान्येनाभिधानादप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः । किञ्च हेतुं विनाऽपि प्रतीपत्वादिरूपकार्योत्पत्तेस्तथौत्सुक्यादिरूपकारणसद्भावेपि तदानुकूल्यादिरूपकार्योत्पत्तेरभावाद् वा विभावनाविशेषोक्त्योः सन्देहसंकरः । तथा उभयोः कुमारीमदनयोः परस्परं प्रति बाधनरूपैकक्रियाकारणत्वादन्योन्यालङ्कारः ।

(१) राजा—(स्वगत) ये कुमारियाँ अतिशय इच्छा रहती हुई भी अपने प्रियतम के प्रतिकूल बर्ताव करती हैं । यद्यपि मिलन-सुख की अभिलाषा रखती हैं, । फिर भी अपना अंग समर्पण करने में कारतरता दिखाती हैं । अत एव मालूम होता है कि समय पाकर केवल कामदेव ही उनको पीडित नहीं करता, बल्कि व्यर्थ में समय बिता कर ये कामदेव को भी सताती हैं ॥ २७ ॥

[शकुन्तला गच्छत्येव ।] (१)

राजा—न कथमात्मनः प्रियं करिष्ये [उपसृत्य पटान्तमवलम्बते ।] (१)

शकु—पौरव ! रक्ष रक्ष विनयम् , इतस्ततः ऋषयः सञ्चरन्ति (३) ।

(पौरव ! रक्ख रक्ख विणअं, इदो तदो इसिओ सञ्चरन्ति ।)

यदुक्तं दर्पणे—

'अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः' । इति ।

तथा विप्रकालत्वादेव कुमार्यो मदनेनाबाध्यन्ते इति हेतुहेतुमद्भावात् काव्यलिङ्गालङ्कारोऽपि । तथा मनसिजस्याबाधनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिश्चेत्येतेषामन्योन्यनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः ॥ २७ ॥

(१) शकु इति । एवकारेण दुष्यन्तानुरोधलंघनं प्रतीयते ।

(२) राजेति । दुःखहानसुखाऽऽवाप्तेः सर्वानुमततया तद्विरुद्धाचारिणीमपि तां स्वसुखसाधनीभूतां मन्वान आत्मानं पृच्छति—न कथमिति । आत्मनः—स्वस्य-ममेत्यर्थः, प्रियं-सुखकरं रमणकर्मेति शेषः, कथं न करिष्ये-किमर्थं नानुष्ठास्यामि, बलादनुष्ठास्याम्येवेति भावः । तथा च सुखस्य सर्वजनेप्सितत्वाद् यथावसरमुपादेयत्वाच्च 'अयमुपस्थितोऽवसरः' इति किञ्चिद्बाधाभावाद् बलाद्रमणकर्मानुष्ठास्याम्येवेति समुदितोऽर्थः ।

पटान्तं—वस्त्राञ्चलम्, 'पटश्चिन्नपटे वस्त्रे' इति मेदिनी, अवलम्बते-गृह्णाति, आकर्षतीत्यर्थः, आत्मनः प्रियकरणायेति भावः । कविवाक्यमिदम् ।

(३) शकु इति । पौरव-पुरोरपत्यमिति तत्सम्बोधनम्, पुरुवंशप्रभव ! एतेन तादृशमहावंशप्रभवाणां नेदृशोऽविनयः श्रुतपूर्वस्तस्मात् सर्वथैव तवेदृशोऽविनयोऽनुचित इति द्योत्यते । विनयं-सौजन्यम्, वंशपरम्पराऽऽयातशिष्टाचारमित्यर्थः, रक्ष रक्ष पालय पालय, अविनयं मा प्रकाशयेत्यर्थः । अविनयेन बलात्कारं मा स्पृश, पटान्तं त्यजेत्याशयः । तत्र हेतुमाह-इत इति । इतस्ततः सर्वतः, ऋषयः तापसाः, सञ्चरन्ति-पर्यटन्ति, तथा च यदि कश्चिदविपरीतदृशं व्यापारमवलोक्य गुरुजनानां समीपे निवेदयेत् तर्हि महाननर्थो भवेदिति भावः । अहो नायिकायाः शिक्षाप्रभावो-यदीदृशावस्थायामपि संस्कारो दृढमूल एव तिष्ठति; इत्यवधेयम् ।

---

(१) शकुन्तला—(चलती ही जाती है) ।

(२) राजा—अब मैं अपना प्रिय कार्य क्यों न पूरा कर लूँ (आगे बढ़कर अंचल पकड़ता है) ।

(३) शकुन्तला—पौरव ! अपने शिष्टाचार की रक्षा करिए, देखते नहीं, इधर-उधर ऋषि लोग आ-जा रहे हैं ।

राजा—सुन्दरि ! अलं गुरुजनाद् भयेन न ते विदितधर्मा तत्रभवान् कण्वः खेदमुपयास्यति । यतः (१) ।

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्योऽथ मुनिकन्यकाः ।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः ॥ २८ ॥

---

(१) राजेति । अथ शकुन्तलाया धर्मभीरुतां तथा पित्रादितोऽपि भीतिमालोचयन् शास्त्रानुमतिप्रदर्शनेन तदीयामाशङ्कामपनेतुमाह-सुन्दरीति । सुन्दरीति अनुकूलयितुमुक्तिरियम् । गुरुजनात्-पितुः, 'भीत्यर्थानां भयहेतुः' इति पञ्चमी, अलं-भयं मा कृथा इत्यर्थः । विदिताः-अवगताः धर्माः-लोकाचारा येन सः, ज्ञातश्रुतिस्मृतिलोकाचाररहस्य इत्यर्थः । 'धर्मादनिच् केवलात्' इत्यनिच् , तत्र भवान्-पूजनीयः पूज्यत्वात् तत्र प्रामाणिकत्वं व्यज्यते, ते-त्वत्सम्बन्धे, अस्मिन् समागमविषये इति भावः, खेदं-योग्यभर्तृगामितया पश्चात्तापम्, नोपयास्यति-न प्राप्स्यति, तस्य हि सर्वधर्मरहस्यविज्ञत्वात्, गान्धर्वविवाहस्य च शास्त्रसम्मतत्वादिति भावः ।

अथ स्वदुहितुरशिष्टाचरणं शृण्वन् कथं न खेदमुपयास्यति गुरुजन इति तदाशङ्कां शिष्टाचारेणापि परिहरति—गान्धर्वेणेति । अथ-कात्स्न्र्येन, बह्व्यः-अनेकाः, न तु द्वित्राः, अतो भयं मा कुर्विति व्यज्यते, मुनिकन्यकाः-तापसकुमार्यः, 'राजर्षिकन्यकाः' इति पाठान्तरम्, गान्धर्वेण-'सकामायाः सकामेन निमन्त्रो रहसि स्मृतः । करस्पर्शस्तु गान्धर्वः' इत्यादिलक्षणलक्षितेन, विवाहेन ज्ञानविशेषेण, भार्यात्वसम्पादकतोपलक्षितेनेत्यर्थः, तथा चोद्वाहतत्त्वम्,-भार्यात्वसम्पादकग्रहणं विवाहः, तस्य स्वीकाररूपज्ञानविशेषत्वात् समवायविषयतयोर्भेदाद्वरकन्ययोर्विवाहकर्तृत्वकर्मत्वे, अत एव कन्यापुत्रविवाहेष्विति विष्णुपुराणोक्तमपि संगच्छते, 'भार्यात्वस्य स्वरूपसद्विशेषणत्वेन नेतरेतराश्रयदोषः' इति परिणीताः-पुरुषैः समूढाः । ननु परिणयेनैव वा किं स्यात्, परिणयसमये हि गुरुजनो न ज्ञा शक्नोति, किन्तु तदनन्तरमेवानिष्टत्वाशङ्केति तां परिहरति-अथेति । अथ-परिणयानन्तरमपि, पितृभिः-तद्गुरुजनादिभिश्च, ताः-परिणीताः कन्यकाः, अनुमोदिताः-अभिनन्दिताः, पिता त्वामभिनन्दिष्यत्येव क्षत्रियाणां पक्षे गान्धर्वस्य मुख्यत्वादिति भावः, यथोक्तम्—'क्षत्रियस्य तु गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते' इति, श्रूयन्ते-इतिहासपुराणादिष्विति शेषः । तथा च तव तु राजर्षिवीर्यसम्भूततया मम पुनः क्षत्रियत्वात्तादृशविवाहस्य प्रसिद्धत्वाच्चात्र

---

(१) राजा—सुन्दरी ! तुम अपने गुरुजनों से मत डरो, तुम्हारे इस कार्य को सुनकर लोकाचार में अभिज्ञ श्रीकण्व नाराज नहीं होंगे । क्योंकि बहुत सी ऋषिकन्याओं ने गान्धर्वविवाह किया है और यह भी सुना जाता है कि इसपर उनके पिताओं ने अनुमोदन ही किया है ॥ १८ ॥

[दिशोऽवलोक्य] कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि [शकुन्तलां हित्वा पुनस्तै-रेव पदैर्निवर्त्तते] (१)।

शकु—[पदान्तरे प्रतिनिवृत्य साङ्गभङ्गम्] पौरव ! अनिच्छापूरकोऽपि सम्भाषणमात्रपरिचितः अयं जनः न विस्मर्त्तव्यः (२)। (पोरव ! अणिच्छापूरओ वि सम्भासणमेत्तपरिचिदो अअं जणो ण विसुमरिदव्वो ।)

न कश्चिद्दोषो न वा गुरुजनः खेदमुपयास्यति तस्मादलं गुरुजनाद्भयेनेत्याशयः। अत्रोपदिष्टं नाम नाटकलक्षणमुक्तम्; तल्लक्षणन्तु—

'प्रतिगृह्य तु शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते।
विद्वन्मनोहरं स्वन्तमुपदिष्टं तदुच्यते'॥ इति।

अत्र च नायकस्य कन्यानुवृत्तिचातुर्यमुपदर्शितम्, तदुक्तं कामतन्त्रे—'तत्र युक्तगुणं वश्ये सक्तं बलवदर्थिनम्। उपायैरनुयुञ्जानं कन्या न प्रतिलोमयेत्'।

तथात्रौत्सुक्याद्यो भावाः। सामान्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारश्च। गान्धर्वविवाहमाह मनुरपि—

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः। इति।

पथ्यावक्त्रं वृत्तम्॥ २८॥

(१) दिश इति। दिशोऽवलोक्य–इतस्ततो, दृष्ट्वा, प्रकाशं–सर्वदृश्यस्थानम्, लतामण्डपाद्बहिःप्रदेशमित्यर्थः, निर्गतोऽस्मि–निःसृतोऽस्मि, शकुन्तलानुसरणे इति भावः, एतेन जनान्तरेण दर्शनातङ्का सूच्यते। हित्वा–त्यक्त्वा, तैरेव–यैरेव पदैः-प्रकाशं गतस्तैरेवेत्यर्थः, पदैः पादन्यासैः, निवर्त्तते—लतामण्डपं प्रविशतीत्यर्थः।

(२) शकु इति। पदान्तरे–अन्यस्मिन् पदसंचारे, तत्समये एवेत्यर्थः, प्रतिनिवृत्य–परिवृत्य–राजाभिमुखीभूयेत्यर्थः, अङ्गभङ्गेन सहितमिति साङ्गभङ्गं–अङ्गानि किञ्चिद्वक्रीकृत्येत्यर्थः, 'आह' इति पूरणीयम्। कव्युक्तिरियम्। न इच्छायाः पूरक इति अनिच्छापूरकः–रमणादिभिरपूरिताभिलाषोऽपि, सम्भाषणमात्रेण–आलापेनैव; न तु तदतिरिक्तकिञ्चित्साधनेनेत्यर्थः। परिचितः–विदितः, अयं जनः-शकुन्तलारूपः,

---

(१) (इधर-उधर देख कर) क्या मैं प्रकाश में आ गया ? (शकुन्तला को छोड़कर फिर उलटे पैर वापस चला जाता है)।

(२) शकुन्तला—(एक पैर आगे बढ़ा कर लौटती है और अङ्गभंगी के साथ) पौरव ! यद्यपि इस दासी ने आपकी इच्छा नहीं पूर्ण की है, फिर भी सम्भाषणमात्र से परिचित इस जन को भूलिएगा नहीं।

राजा—सुन्दरि (१) ।

त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं न जहासि मे ।
दिवाऽवसाने च्छायेव पुरो मूलं वनस्पतेः ॥ २९ ॥

शकु—[स्तोकमन्तरं गत्वा आत्मगतम्] हा धिक् हा धिक् ! इदं श्रुत्वा न मे चरणौ पुरोमुखौ प्रसरतः । भवतु, एभिः पर्यन्तकुरबकैः अपवारितशरीरा भूत्वा प्रेक्षिष्ये तावदस्य भावानुबन्धम् [तथा कृत्वा स्थिता] (२) । (ह द्धी ह द्धी इमं सुणिअ ण मे चलणा पुरमुहा पसरन्ति । भोदु, इमेहिं पज्जन्तकुरुवएहिं ओवारिदसरीरा भविअ पेक्खिस्सं दाव से भावाणुबन्धं ।)

न विस्मर्त्तव्यः न मनसः परिहरणीयः; किन्तु स्मरणीय एवेत्यर्थः । तथा च रमणादिभिस्तेऽसम्पादितमनोरथाऽपि 'सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः' इति नीत्या सम्बन्धवत्तया तवाऽहं समये स्मरणविषयीकर्त्तव्यैवेति प्रार्थनया नायिकाया निरतिशयानुरागो व्यज्यते ।

(१) राजेति । सुन्दरीति प्ररोचनार्थं सम्बन्धनमिदम्, तस्य श्लोकस्य वाक्येनान्वयः ।

त्वमिति । दिवावसाने–दिवसशेषभागे; अपराह्णे तु इति यावत् , वनस्पतेः–वटाश्वत्थादेर्वृक्षस्य, 'पारस्करप्रभृतीनि च–' (६१ १-१२७) इति सुट्, छाया-अनातपः पुरः–अग्रतः, दूरं गच्छन्त्यपि, मूलं–तस्य वनस्पतेर्मूलप्रदेशमिव, त्वं पुरः दूरं गच्छन्त्यपि, मे–मम, हृदयं–चेतः, न जहासि–सदैव हृदये विद्यमानत्वान्न मुञ्चसि, तस्मात् कथमहं त्वां विस्मरिष्यामीति भावः । अत्र पूर्णोपमालङ्कारः ॥ २९ ॥

(२) शकु इति । स्तोकमन्तरं–किञ्चिद् दूरं गत्वा, नायकधारणभयादिति भावः । श्रुत्वेति 'विद्यमानाया' इत्यध्याहारात् समानकर्त्तृकत्वम्, पुरोमुखौ–सम्मुखवर्त्तिनौ, सन्तौ, न प्रसरतः–न चलतः, तेनैव हृदयाकृष्टत्वादिति भावः, पर्यन्तकुरुबकैः–प्रान्तवर्तिभिर्वृतिभूतैः कुरुबकाख्यवृक्षैः, अपवारितं शरीरं यस्याः सा अपवारितशरीरा–अन्तर्हितदेहा, सती, 'अन्तर्द्धिरपवारणम्' इत्यमरः । अस्य–राज्ञः,

---

(१) राजा—सुन्दरी ! जैसे दिन के शेषभाग में छाया दूर चली जाकर भी वृक्ष के मूल भाग को नहीं छोड़ती । इसी तरह दूर चली जाकर भी तुम मेरा हृदय नहीं छोड़ रही हो ॥ २९ ॥

(२) शकुन्तला—हाय-हाय ! यह वाक्य सुनकर मेरे पैर आगे बढ़ते ही नहीं हैं । अच्छा, इस समीपवाली कुरवक की शाखा में छिपकर इनके भाव तो देखूँ ।

(ऐसा कर खड़ी हो जाती है ।)

राजा—कथमेवं प्रिये अनुरागैकरसं मामुत्सृज्य निरपेक्षैव गतासि(१)।

अनिर्दयोपभोगस्य रूपस्य मृदुनः कथम्।
कठिनं खलु ते चेतः शिरीषस्येव बन्धनम् ॥ ३० ॥

शकु—इदं श्रुत्वा न मे अस्ति विभवो गन्तुम् (२)। (एदं सुणिअ ण मे अत्थि विभवो गच्छिदुं।)

भावस्य—'उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते' इत्यादिलक्षणलक्षितस्य, अपरिपुष्टानुरागस्येत्यर्थः। अनुबन्धम्—अनुवृत्तिम्, प्रेक्षिष्ये—अवलोकयिष्यामि।

(१) राजेति। हे प्रिये! अनुरागः-रतिरेव एकः-केवलो रसः-आस्वादो यस्य तं तादृशम्, शृङ्गारमात्राविष्टम्, इत्यर्थः, माम्-दुष्यन्तलक्षणं जनम्, उत्सृज्य-विहाय, निरपेक्षैव-निःस्पृहैव; अपादीक्षतेराकाङ्क्षार्थत्वात्, गताऽसि-प्रस्थानं करोषि? अहो तव हृदयनिर्दयत्वमिति भावः।

हृदयस्य निर्दयत्वमेव व्याचष्टे—अनिर्दयेति। अनिर्दयम्—अतिकोमलत्वेनागाढं यथा स्यात्तथा उपभोगः-सम्भोगः यस्य तस्य तथाभूतस्य, एतेन निरतिशयसम्भोगयोग्यत्वं सूच्यते, मृदुनः-सुकुमारस्य,—शिरीषस्य-शिरीषपुष्पस्य, अनेन मार्दवातिशयो द्योत्यते, बन्धनं-वृन्तमिव, अनिर्दयोपभोगस्य-अजातगाढालिङ्गनचुम्बनादिव्यापारस्य, मृदुन इति स एवार्थः, ते-एतस्य, रूपस्य—आकारस्य सम्बन्धि, चेतः-हृदयम्, कथं कठिनं—सुदृढं खलु, दयाविरहितमेवेत्यर्थः।

अत्र पूर्णोपमालङ्कारः। विभावनाविशेषोक्त्योः सन्देहसङ्करश्चेति केचित्। अत्र च स्निग्धैर्वाक्यैः शकुन्तलायाः परावृत्तिरूपार्थसाधनाद् अनुनयो नाम नाट्यलक्षणम्।

यदुक्तं दर्पणे—'वाक्यैः स्निग्धैरनुनयो भवेदर्थस्य साधनम्।' इति ॥ ३० ॥

(२) शकु इति। इदं—राज्ञ ईदृशं स्निग्धवचनमित्यर्थः। श्रुत्वेति विद्यमानाया इत्यध्याहाराद् समानकर्तृकत्वेनैव क्त्वाप्रत्ययः, विभवः-शक्तिः, नास्ति, दृढानुरागरज्ज्वा बन्धनादिति भावः।

---

(१) राजा—प्रिये! हमारा अनुराग धारावाही रूप से तुम्हारे प्रति उमड़ रहा है, फिर भी तुम हमको छोड़ कर इस तरह उपेक्षा कर चली जाती हो।

कोमल शिरीषपुष्प का वृन्त जैसे कठिन होता है, उसी प्रकार कोमल और प्रगाढभाव से उपभोग करने योग्य तुम्हारे इस रूपके रहते तुम्हारा हृदय कैसे इतना कठिन हो गया ॥३०॥

(२) शकुन्तला—यह बात सुन कर मेरे तो अब चलने का सामर्थ्य नहीं रह गया है।

राजा—सम्प्रति प्रियाशून्ये किमस्मिन् लतामण्डपे करोमि । [अग्रतोऽवलोक्य] हन्त ! व्याहतं मे गमनम् (१) ।

मणिबन्धाद् गलितमिदं संक्रान्तोशीरपरिमलं तस्याः ।
हृदयस्य निगडमिव मे मृणालवलयं स्थितं पुरतः ॥ ३१ ॥

[सबहुमानमादत्ते ।] (२)

शकु—[हस्तं विलोक्य] अहो ! दौर्बल्यशिथिलतया परिभ्रष्टमेतत् मृणालवलयं न मया परिज्ञातम् (२) । अम्हो ! दोव्वल्लसिढिलदाए परि-

(१) राजेति । सम्प्रति—इदानीम्, 'एतर्हि सम्प्रतीदानीम्' इत्यमरः । लतामण्डपे—लतागृहे, किं करोमि-अर्थादितो गमनमेव न्याय्यम् इति भावः । मृणालवलयं पतितमवलोक्य हर्षातिरेकादाह—हन्तेति । हन्तेति हर्षे, व्याहतं-विघ्नाभिभूतम्, मे-मम गमनम्, अर्थाद् गन्तुं न पारयामीति भावः ।

गमनविघ्ने निदानमाह—मणीति । तस्याः-शकुन्तलायाः, मणिबन्धात्—हस्तप्रकोष्ठयोः संयोगक्षेत्रात्, वलयधारणदेशादित्यर्थः, गलितं-विस्रस्तम्, संक्रान्तः-गात्रसम्पर्कात्संलग्नः उशीरस्य वीरणमूलानुलेपनस्य परिमलः-गन्धप्रकर्षो यस्मिन् तत् तथोक्तम्, तथा मे-मम, हृदयस्य-गतिप्रवर्त्तकस्य चेतसः, निगडं-बन्धनश्रृङ्खलम् इव 'अथ श्रृङ्खले, अन्दुको निगडोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः, इदं-पुरोदृश्यमानं, मृणालवलयं-मृणालनिर्मितहस्ताभरणम्, पुरतः-अग्रे, स्थितं-तिष्ठति । तथा च बन्धनश्रृङ्खलमिव प्रियाकरभ्रष्टमिदं मृणालवलयमवलोक्य गतिप्रवर्त्तकं मे चित्तं व्याक्षिप्तया पुरो न प्रचलतीति तत्प्रवर्त्यं गमनं व्याहतमेवेत्यर्थः ।

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमपीति केचित् । आर्या जातिः ।

(२) सबह्विति । सबहुमानं—प्रियाकरभ्रष्टत्वादेवादरातिशयसहितम्, तद्यथा स्यात्तथा, आदत्ते—भूभागादुत्तोलयति । मृणालवलयमिति शेषः ।

(३) शकु इति । अथ राज्ञस्तादृशं वाक्यं श्रुत्वा मृणालवलयविषये उद्बुद्धस्मृतिः शकुन्तलाऽऽह—अहो इति । अहो इति विस्मये, विस्मयश्च स्वानवधानतया । दौर्बल्येन—शरीरस्य कृशतया कृशता च सन्तापजनिता या शिथिलता-

(१) राजा—अब प्रिया से शून्य इस मण्डप में मैं अकेले क्या करूँ (आगे देखकर) हाय ! हमारे जाने में भी विघ्न उपस्थित हो गया ।

जिनमें उशीर (खस) की सुगन्धि सनी हुई है, वह मृणालवलय प्रियतमा शकुन्तला के हाथ से गिरकर हमारे हृदय के बन्धन के समान आगे पड़ा हुआ है ॥ ३१ ॥

(२) बड़े आदर के साथ उसे उठा लेता है) ।

(३) शकुन्तला—(अपना हाथ देखकर) अहो ! शारीरिक दुर्बलता के कारण यह

ब्भट्टं एदं मिणालवलअं ण मए परिण्णादं ।)

राजा—[मृणालवलयमुरसि निक्षिप्य]

अनेन लीलाभरणेन ते प्रिये ! विहाय कान्तं भुजमत्र तिष्ठता ।
जनः समाश्वासित एष दुःखभागचेतनेनापि सता न तु त्वया ॥३२॥

श्लथता तया परिभ्रष्टं-हस्ताद्विगलितम्, एतन्मृणालवलयं- राज्ञः करस्थितमिति भावः, न मया परिज्ञातं लक्षितम्, स्वहस्तस्थितमपि कदाचित्पतितं तदप्यज्ञातमिति नायकैकाग्रतया नायिकाया विषयनिवृत्तिदशा दर्शिता ।

(१) राजेति । उरसि—वक्षःस्थले, निक्षिप्य-निधाय, विरहविनोदनायेति भावः, स्पर्शसुखमभिव्यनक्ति अहो ! इति । कदाचिदप्यननुभूतसुखप्रदत्वाद् आश्चर्यरूप इत्यर्थः । स्पर्शः—प्रियाकरभ्रंशिमृणालवलयसंबन्धी सुखस्पर्श इत्यर्थः । एतेनांशिकविरहविनोदनं दर्शितम् । तथा चोक्तम्—

वियोगावस्थासु प्रियजनसदृक्षानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि । तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमपि, प्रतीकारः कामव्यथितमनसां कोऽपि कथितः ॥ इति

कुत्रचिच्चेतनेन साक्षादुपकारः कुत्रचिच्च चेतनचोदिताचेतनेन परम्परयाऽप्युपकारो भवतीति नियमः, अत्र कामाविष्टत्वेन चेतनाचेतनविषयकज्ञानशून्यताऽचेतनं साक्षादुपकारपक्षे सङ्क्रमयन् चेतनं निराकरोति—अनेनेति । हे प्रिय ! दयिते शकुन्तले, अनेन प्रियस्यानुनयरक्षणं ते उचितमिति सूच्यते । कान्तं—मनोज्ञम्, भुजं-करम्, विहाय-विमुच्य, अत्र-भूभागे तुच्छभूमावित्यर्थः, तिष्ठता-अवस्थितेन अनेन मत्समीपवर्त्तिना, ते लीलाभरणेन-तव विलासालङ्कारेण विलासार्थं क्षणं परिचितेन मृणालवलयेनेत्यर्थः, अचेतनेन—चैतन्यशून्येन, अपरिज्ञातान्यवेदनेन जडेनेति यावत्, सताऽपि, दुःखं-विरहव्यां भजतीति दुःखभाग्-वियोगदुःखितः, 'भजो ण्विः' (३-२-६) इति सूत्रेण ण्विप्रत्ययः, एषः—मल्लक्षणो जनः, समाश्वासितः स्पर्शसुखसम्पादनद्वारा सुस्थीकृतः, तु-किन्तु, त्वया-सचेतनया सत्याऽपि, विदितपरविरहवेदनयाऽपीति भावः, न समाश्वासितः-नालिङ्गनचुम्बनदानादिद्वारा सुस्थीकृत इत्यर्थः । आश्चर्यं ते नैष्ठुर्यमिति भावः ।

अत्र विभावनाविशेषोक्त्योः सन्देहसङ्करः । तथा च चेतनात्मककारणसत्त्वेऽपि

मृणालवलय मेरे हाथ से निकल कर गिर गया, और मुझे मालूम भी नहीं हुआ ।

(१) राजा—(मृणालवलय को हृदय पर रखकर) अहो, इसका कैसा सुखद स्पर्श है !—

हे प्रिये ! तुम्हारे सुन्दर हाथों को छोड़कर यहाँ रहते हुए तुम्हारे इस विलासालङ्कार ने अचेतन हो कर के भी इस दुःखी व्यक्ति को आश्वासन दिया है, किन्तु तुमने वह भी नहीं दिया ॥ ३२ ॥

शकु—अतः परं न समर्थास्मि विलम्बितुम् । भवतु, एतेनैव अपदेशेन आत्मानं दर्शयिष्यामि (१) । [अदो वरं ण समत्थह्मि विलम्बिदुं । भोदु, एदेण ज्जेव अवदेसेण अत्ताणं दंसइस्सं ।] [इत्युपसर्पति]

राजा—[दृष्ट्वा सहर्षम्] अये ! जीवितेश्वरी मे प्राप्ता परिदेवनानन्तरं प्रसादेनोपकर्त्तव्योऽस्मि खलु दैवस्य (२) ।

आश्वासनात्मककार्योत्पादाद्विभावना तथा चेतनविशिष्टात्मककारणसत्त्वेऽपि आश्वासनात्मककार्यानुत्पादाद्विशेषोक्तिश्चेति सङ्गमनीयम् । तथा प्राकरणिकयोः सचेतनाचेतनयोः कर्त्तृतयैकक्रियान्वयित्वात्तुल्ययोगितालङ्कारश्चेत्येतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । परिसंख्याव्यतिरेकाविति केचित् । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

(१) शकु इति । अतः परम्—ईदृशकरुणवाणीश्रवणात् परक्षणे इत्यर्थः, विलम्बितुं–विलम्बमापादयितुम्, न समर्थाऽस्मि–न शक्ताऽस्मि, तादृशविलापश्रवणेन तरलितहृदयतयेति भावः । एतेनैव–मृणालवलयानयनरूपेणैव, अपदेशेन–छलेन, आत्मानं दर्शयिष्यामि–तत्समीपं गच्छामीत्यर्थः, न पुनरन्योपायाभावाभावः । इति–इत्येवमुक्त्वा उपसर्पति–उपगच्छति । कवेरुक्तिरियम् । अत्र मुग्धानायिकानुरागेङ्गितमुपन्यस्तम् । तथोक्तं दर्पणकृता—

'आगच्छति गृहं तस्य कार्यव्याजेन केनचित् ।' इति ।

(२) राजेति । दृष्ट्वा शकुन्तलामिति शेषः । अये इति हर्षे सम्भ्रमे वा । मे–मम जीवितेश्वरी–प्राणाधिष्ठात्री, प्राणप्रेयसीति यावत्, तदनुरागवशात्तद्गतप्राणत्वादिति भावः, प्राप्ता–उपस्थिता, परिदेवनानन्तरं–तदर्थं कृतविलापानन्तरम्, 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः, दैवस्य–नियतेः । 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः, प्रसादेन–प्रियासमागमरूपानुग्रहेण, उपकर्त्तव्यः–उपकारभाजनीकृतोऽस्मि, स्वेच्छया प्रियाया मत्समीपागमनादिति भावः ।

अत्र राज्ञः पुनः शकुन्तलासमागमनेन प्रमदाधिक्यात् प्रहर्षो नाम नाट्यालङ्कारः । यदुक्तंदर्पणे—'प्रहर्षः प्रमदाधिक्यम्' । इति ।

---

(१) शकुन्तला—इस के आगे अब मैं (इन से मिलने में) विलम्ब नहीं कर सकती । चलो, इसी बहाने इनके सामने पहुँच जाऊँ । (यह कह कर पास जाती है) ।

(२)—(देख कर हर्ष के साथ) ओह ! मेरी प्राणेश्वरी आगयी । इतना दुःख देकर भी दैवने कृपा कर मेरा उपकार ही किया है—

पिपासाक्षामकण्ठेन याचितश्चाम्बु पक्षिणा।
नवमेघोज्झिता चास्य धारा निपतिता मुखे ॥ २३ ॥

शकु—[राज्ञः सम्मुखे स्थित्वा] आर्य्य ! अर्द्धपथे स्मृत्वा एतस्य हस्तभ्रंशिनो मृणालवलयस्य कृते प्रतिनिवृत्तास्मि; कथितं मे हृदयेन, त्वया गृहीतमिति। तन्निक्षिप एतम्, मा मामात्मानञ्च मुनिजनेषु प्रकाशयिष्यति (१)। (अज्ज ! अद्धपधे सुमरिअ एदस्स हत्थब्भंसिणो मिणालवलअस्स किदे पडिवुत्तह्मि कधिदं मे हिअएण तुए गहिदंत्ति। ता णिक्खिव एदं, मा मं अत्ताणञ्च मुणिअणेसुं पआसइस्सदि।)

तमेवार्थमप्रस्तुतप्रशंसामुखेनाह—पिपासेति। पिपासया—जलपानतृष्णया क्षामः—शुष्कः, शब्दकरणेऽक्षमः कण्ठो यस्य स तथोक्तेन, क्षाम इति क्षै धातोः क्तप्रत्ययः, अथवा क्षामः—क्षीणः कण्ठः—स्वरो यस्य सः, 'स्वरेऽपि कण्ठ आख्यात' इति हारावली, पक्षिणा—चातकेनेत्यर्थः, अम्बु—जलं, याचितञ्च—प्रार्थितञ्च, नवमेघेन—वर्षणप्रवणेन जलदेन, उज्झिता—विसृष्टा, धारा—जलधारा, आसारो न तु जलकणमात्रमित्यर्थः; अस्य—तृषितस्य चातकस्य मुखे—मुखगह्वरे, निपतिता प्रविष्टा च। तथा च—यथा तृष्णाकुलितस्य चातकस्य, जलयाचनसमकालमेव तल्लाभे महान् प्रमोदो भवति तथा ममापि शकुन्तलादर्शनप्रार्थनासमकालमेव तद्दर्शनलाभात् महान् प्रमोदो जात इति भावः।

अत्र चकारद्वयेन याचनपतनक्रिययोः समानकालताप्रतीतेः क्रियासमुच्चयोऽलङ्कारः तथा चातकप्रार्थनाऽम्बुप्राप्तिरूपादप्रस्तुतात् मत्प्रार्थनाशकुन्तलासमागमरूपप्रस्तुतार्थप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारश्च। अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। पथ्यावक्त्रम् ॥

(१) शकु इति। अर्द्धं पन्था इत्यर्द्धपथस्तस्मिन् अर्द्धपथे—पथोर्द्धे, अर्द्धं पन्था इति समासेऽच् प्रत्ययः, स्मृत्वा लतामण्डपे मृणालवलयभ्रंशमिति शेषः। कृते—निमित्तम्, अव्ययमिदम्, तन्निक्षिप इत्येवंमात्रस्योक्तौ केन त्वं कथिताऽसि यदहमेव ते वलयमग्रहीषमिति राज्ञः प्रश्नावकाशं सम्भाव्यादावेव निराचष्टे—कथितमिति। कथितं—ज्ञापितम्; मे—मम, हृदयेन—अन्तःकरणेन अन्तःकरणस्य प्रमाणत्वात् तत्—तस्मात्, एतत्—मृणालवलयम्, निक्षिप—समर्पय, मां—शकुन्तलाम्,

---

प्यासे चातकने क्षामकण्ठ होकर जल के लिए प्रार्थना की; और नवीन मेघने उस के मुख में जल की धारा उड़ेल दी ॥ २३ ॥

(१) शकुन्तला—(राजा के समक्ष जाकर) आर्य ! आधे रास्ते में स्मरण आया, हाथ से गिरे हुए इस मृणालवलय के लिए ही मैं लौट आयी हूँ। मेरे मन ने कहा

राजा—एकेनाभिसन्धिना प्रत्यर्पयामि (१)।

शकु—केन पुनः ? (२)। (केण उण।)

राजा—यदीदमहमेव यथास्थानं निवेशयामि (३)।

शकु—आः, का गतिः। भवतु एतत तावत् (४)। (आ, का गदो। भोदु एदं दाव।) [इत्युपसर्पति]

आत्मानं-स्वञ्च, मुनिजनेषु-ममाभिभावकजनेषु मा प्रकाशयिष्यति-न सूचयिष्यति एतन्मृणालवलयं कर्त्तुं इति शेषः, तथा च यदीदं वलयं मुनयस्तव करगतं पश्येयुस्तदाऽऽवयो रहःसम्पर्कमवश्यं जानीयुरिति भावः।

(१) राजेति। प्रियया सह कौतुककरणायाह-एकेनेति। अभिसन्धिना-उद्देशेन, केनचित् पणेनैवेत्यर्थः।

(२) शकु इति। केन-अभिसन्धिना, अर्थात् केन पणेन ?, प्रश्नोऽयम्।

(३) राजेति। आत्माभिलाषसाधनोपयोगिपणमाह-यदीति। अहमेव-न तु स्वहस्तीकरणेन स्वमपीत्येवार्थः। इदं-मम हस्तस्थितं मृणालवलयम्, यथास्थानं—स्थानमनतिक्रम्येति अनतिक्रमार्थेऽव्ययीभावः, तव हस्ते इत्यर्थः। निवेशयामि-परिधापयामि, परिधापयितुमनुमतिं लभे इत्यर्थः। करस्पर्शसुखानुभव एवात्राभिसन्धिः, अन्यथा न प्रयच्छामीत्यभिप्रायः।

(४) शकु इति। आ इति पीडासूचकमव्ययम्, मुग्धानामभिलषितेऽपि विषयेऽनभिमतिप्रकाशनं स्वभाव एवेति प्रकृते शकुन्तला पीडाया असद्भावेऽपि च्छलेन पीडां प्रकाशयति, इति बोध्यम्। 'आस्तु स्यात् कोपपीडयोः' इत्यमरः। का गतिः—तवाभिसन्धिपालनं विना कः उपायः, नोपायान्तरमिति भावः। 'गतिः स्त्री मार्गदशयोर्ज्ञाने यात्राभ्युपाययोः' इति मेदिनी। गत्यन्तरं विचिन्त्य किञ्चिदपश्यन्ती आह-भवत्विति। एतत्तावत् त्वमेव भुजे वलयं परिधापयेत्यर्थः, अङ्गीकारवचनमिदम्। उपसर्पति-राजानमुपगच्छति।

कि उसे अवश्य आपने ही पाया है। अतएव उसको हमें दे दीजिए, (और ऐसा कीजिए, जिस से मुनिगण हमें और आप को देखें नहीं।) मुझको और अपने को मुनिजनों के समक्ष प्रकाशित न कीजिये।

(१) राजा—लेकिन मैं इसे एक शर्त पर दूँगा।

(२) शकुन्तला—किस शर्त पर ?

(३) राजा—यह कि, इसे मैं स्वयं आपके हाथ में पहना दूं।

(४) शकुन्तला—ओह ! और उपाय ही क्या है, ऐसे ही सही। (और आगे खिसक जाती हैं)।

राजा—इतः शिलापट्टैकदेशं संश्रयावः। [इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ] (१)।

राजा—[शकुन्तलाया हस्तमादाय] अहो स्पर्शः ! (२)।

हरकोपाग्निदग्धस्य दैवेनामृतवर्षिणा ।
प्ररोहः सम्भृतो भूयः किंस्वित् कामतरोरयम् ? ॥ ३४ ॥

---

(१) राजेति। इतः—अस्मिन् पार्श्वे, शिलापट्टस्य—प्रस्तरखण्डस्य एकदेशम्, संश्रयावः—उपविशावः, इतरथा परिधापनेऽसुविधा स्यादिति भावः।

(२) राजेति। शकुन्तलाया हस्तमादाय—बहिर्वलयपरिधापनच्छलेनान्तः स्पर्शसुखकामनया हस्तग्रहणमिति बोध्यम्। अहो—निरतिशयसुखप्रदत्वादाश्चर्यकरः, स्पर्शः—स्पर्शानुभवः।

तमेव स्पर्शं स्तौति। हरेति। अयं—सुखस्पर्शस्ते हस्तः, हरस्य महादेवस्य कोपाग्निना—क्रोधसमुत्थानलेन। दग्धस्य—भस्मीकृतस्य, काम एव तरुस्तस्य कामतरोः—मदनवृक्षस्य उभयोर्दाह्यत्वादिति भावः, अमृतवर्षिणा—अमृतधाराभिः सिञ्चता जलेनाभिवर्षता च, 'अमृतं यज्ञशेषे स्यात् पीयूषे सलिले घृते' इति मेदिनी, दैवेन—भागधेयेन देवसमूहेन वा, जलदसङ्घेन च, 'देवो मेघे सुरे' इति मेदिनी, भूयः—पुनरपि दहनात् परमपि, सम्भृतः—उत्पादितः, प्ररोहः—अङ्कुरः, 'प्ररोहस्त्वङ्कुरोऽङ्कूरः' इति वैजयन्ती, किंस्विदिति। किंस्विदिति सवितर्कप्रश्ने। उभाभ्यां वितर्कगर्भप्रश्नो द्योत्यते। तथा च शकुन्तलायाः हस्तरूपेण कामरूपस्य वृक्षस्याऽङ्कुर उत्पादितः किमित्यर्थः।

अत्र कामे तरुत्वारोपस्य शाब्दत्वात् दैवे जलदत्वारोपस्य च आर्थत्वादेकदेशविवर्तिरूपकालङ्कारः। तथा किंस्विदिति सवितर्कप्रश्नेन शकुन्तलाहस्ते कामवृक्षाङ्कुरत्वसन्देहात्सन्देहालङ्कारोऽपि। अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

पुरा किल देवप्रपीडकस्य तारकासुरस्य वधाय सेनानीजननाय उग्रस्य समाधिभङ्गार्थमिन्द्रादिभिः प्रेरितः कामो हरोपरि शरप्रहारोद्यतः सन् तस्य तृतीयलोचनाग्निना निर्दग्धतां गत इति पुराणादाचनुसन्धेयम्। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ३४ ॥

---

(१) राजा—चलो, इस शिलातल की एक तरफ बैठ जायँ (यह कह कर दोनों कुछ कदम आगे बढ़कर शिला पर बैठ जाते हैं)।

(२) राजा—(शकुन्तला का हाथ पकड़ कर) आह ! कितना सुन्दर इस हाथ का स्पर्श है—

कामरूपी वृक्ष महादेव के कोपानल से भस्म हो गया था, इसके बाद क्या फिर विधाता ने अमृत बरसाकर यह (हाथरूपी) अंकुर उत्पन्न किया है ? ॥ ३४ ॥

शकु—[स्पर्शं रूपयित्वा] त्वरतां त्वरताम् आर्यपुत्रः (१)। (तुवरदु तुवरदु अज्जउत्तो ।)

राजा—[सहर्षमात्मगतम्] इदानीमस्मि विश्वसितः, भर्त्तुराभाषणपदमेतत्। [प्रकाशम्] सुन्दरि ! नातिश्लिष्टः सन्धिरस्य मृणालवलयस्य; यदि तेऽभिमतम् , तदन्यथा घटयिष्यामि (२)।

शकु—[स्मितं कृत्वा] यथा ते रोचते (३)। (जधा दे रोअदि ।)

---

(१) शकु इति। स्पर्शं-पुरुषस्पर्शजनितविकारम्, रूपयित्वा-रोमाञ्चादिना अभिनीय। आर्यस्य-पूजनीयस्य श्वशुरस्येत्यर्थः पुत्रः, श्वशुरस्य पूजनीयत्वं च भर्तृजनकत्वेनेति बोध्यम्। शब्दोऽयं भर्त्तारमुद्दिश्य स्त्रीभिः प्रयुज्येतेति नाट्यशास्त्राद्युक्तम्; तथा च भरतः-'आर्यपुत्रेति सम्बोध्यः पतिः पत्नीजनेन वा'। इति।

त्वरतां त्वरतां, यथास्थानेन मृणालवलयनिवेशनायेति शेषः। विलम्बे यदि केनचिदावां दृष्टौ स्याव तर्हि महाननर्थः सम्पद्येतेति तात्पर्यम्।

(२) राजेति। विश्वसितः-जाताश्वासः, तस्यां मम पत्नीत्वविषये इति भावः। आश्वासनहेतुमाह-भर्त्तुरिति। एतत्-आर्यपुत्रेति पदम्, भर्त्तुः-स्वामिनः; आभाषणपदं-प्रयोगयोग्यपदम्, 'सर्वस्त्रीभिः पतिर्वाच्यं आर्यपुत्रेति यौवने' इत्युक्तेः। प्रकाशं-विस्पष्टम्। वलयस्य पुनरन्यथा स्थापनो विलम्बेन नायिकायाः कोपसम्भावनामुत्प्रेक्ष्य प्ररोचयितुमाह-सुन्दरीति। नातिसंश्लिष्टः-न सम्यक् श्लेषं गतः, न सुष्ठु मिलितः इति यावत् , सन्धिः-उभयकोटिसंयोगस्थलम्। यदि ते-तव, अभिमतं-प्रलम्भतम्, 'अभिपूर्वात् मन्धातोर्बुद्ध्यर्थत्वात् वर्त्तमाने क्तप्रत्ययः; तस्य योगे कर्त्तरि षष्ठी, तत्-तदा, अन्यथा-पृथग्विधम्, घटयिष्यामि-योजयिष्यामि, घटादित्वात् ह्रस्वः।

(३) शकु इति। स्मितं कृत्वा-सस्मितमित्यर्थः। बहुकालं व्याप्य हस्तधारणच्छलेन राज्ञस्तादृशवचनकौशलमालोक्य कौतुकेन स्मितम्। यथा-येन प्रकारेण, ते-तुभ्यं, रोचते-प्रीणयति, तथा कुर्विति शेषः। 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा०) इति सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी।

---

(१) शकुन्तला—(स्पर्शजनित रोमाञ्च प्रभृति का अभिनय कर के) आर्यपुत्र ! जल्दी करिए, जल्दी करिए।

(२) राजा—(हर्ष के साथ स्वगत) अब मुझे विश्वास हो गया। ये वाक्य पति के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। (प्रकाश) सुन्दरी ! इस मृणालवलय का सन्धि-स्थान अच्छा नहीं मालूम होता। इस लिए तुम कहो तो इसे दूसरी तरह बना कर पहनाऊँ।

(३) शकुन्तला—(मुस्करा कर) जैसी आप की इच्छा।

राजा—[सव्याजं विलम्ब्य प्रतिमोच्य] सुन्दरि ! दृश्यताम् (१)।

अयं स ते श्यामलतामनोहरं
विशेषशोभार्थमिवोज्झिताम्बरः ।
मृणालरूपेण नवो निशाकरः
करं समेत्योभयकोटिमाश्रितः ॥ ३५ ॥

(१) राजेति । सव्याजम्-अयथाघटनकपटेन सहितं यथा स्यात्तथा, विलम्ब्य-स्पर्शसुखलाभाशयेन कालं गमयित्वा, प्रतिमोच्य-परिधाप्य वलयमित्यध्याहार्यम् । अतितुच्छेनाप्यमुना भूषणेन ते सौन्दर्यं भासत इत्यभिप्रेत्याह-सुन्दरीति । दृश्यतामिति श्लोकीयेनायमितिपदेन साकमन्वयः ।

अयमिति । अयं-दृश्यमानः, सः-प्रसिद्धः, नवः-नवोदितः, मृणालरूपत्वकथनात् एककलामात्रोदित इत्यर्थो युवकश्च व्यज्यते, निशाकरः-चन्द्रमाः, विशेषशोभार्थमिव-आत्मनोऽधिकतरसौन्दर्यसम्पादनार्थमिव, सुन्दरस्थानगतस्य सौन्दर्यवृद्धेः सम्भावितत्वादिति भावः, उज्झितं-परित्यक्तम्, अम्बरम्-आकाशम्, येन स तादृशः सन्, एतेन तस्य मुक्तवस्त्रत्वमपि ध्वन्यते 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इत्यमरः, श्यामलतया-अम्बरतुल्यश्यामवर्णेन, श्यामलता-ज्योतिष्मती तद्वद् वेति केचित्, मनोहरं-विशेषसुन्दरम्, प्रथमार्थपक्षे श्यामवर्णत्वसाम्येन अम्बरभ्रान्तिरपि तस्य व्यज्यते, किञ्च श्यामलतापदोपादानेन शकुन्तला श्यामवर्णा आसीदिति च प्रतीयते, तादृशवर्णश्च नायिकाया न दोषाय द्रौपद्यादीनां तथाविधवर्णसत्त्वेऽपि उत्तमनायिकात्वाङ्गीकारात् । चरमार्थपक्षस्तु तादृशविशेषणवैयर्थ्यादश्रद्धेयः । लतापदमात्रोपादानेनैव मृदुत्वादेरुपपत्तेश्च । ते-तव, करं-हस्तम्, मृणालरूपेण मृणालात्मना, समेत्य-समागत्य, उभयकोटिम्-अग्रभागद्वयम्, आश्रितः-आश्रित्य स्थितः, नवोदितस्य तस्यासम्पूर्णत्वादम्बरे उभयकोटिः सविभक्ता आसीत् तव करे तु संयुक्ता जातेत्यर्थः । तथा च यथा कश्चित्कामुको युवकः कामकृततया त्यक्तवासाः सत्वरं नायिकान्तिकमेत्य कामस्य चरितार्थीकरणाय तद्धस्तं धृष्टतया दधाति तद्वन्निशाकरो मृणालवलयच्छद्मना त्वद्धस्तमाश्रित इति भावः ।

अत्र सम्भाविनमपि कुण्डलीभूतकलामात्रमिन्दुमुपमानं प्रौढ्या सम्भाव्य तदात्मतया उपमेयस्य मृणालवलयस्य सम्भावनादुत्प्रेक्षालङ्कारः । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥

(१) राजा—(छल से विलम्ब कर के और पहिना कर) सुन्दरी ! देखो केवल एक कला द्वारा नवोदित चन्द्रमा विशेष सौन्दर्य पाने के लिए मानो आकाश को छोड़ कर तुम्हारे श्यामवर्ण के (अथवा श्यामलता = ज्योतिष्मती नामक पुष्पलता के समान) सुन्दर हाथ में आ पड़ा है और मृणालरूप से उसके दोनों भाग जुड़ गये हैं ॥ ३५ ॥

शकु—न तावदेनं प्रेक्षे पवनकम्पितकर्णोत्पलरेणुना कलुषीकृता मे दृष्टिः (१)। (ण दाव णं पेक्खामि; पवणकम्पिदकण्णुप्पलरेणुणा कलुसीकिदा मे दिट्ठी ।)

राजा—[सस्मितम्] यद्यनुमन्यसे, तदहमेनां वदनमारुतेन विशदां करवाणि (२)।

शकु—ततः अनुकम्पिता भवेयम्; किन्तु पुनरहं न ते विश्वसिमि (३) (तदो अणुकम्पिदा भवेअं, किन्तु उण अहं ण दे वीससेमी ।)

---

(१) शकु इति । एनं-मृणालरूपिनिशाकरम्, प्रेक्षे-न द्रष्टुं शक्नोमि । कुत इत्यत आह-पवनेति । पवनेन-वायुना कम्पितयोः-स्पन्दितयोः कर्णोत्पलयोः-कर्णभूषणीभूतकमलयोः, रेणुना—परागेण, जातावेकवचनम्, दृष्टिः—लोचनम्, कलुषीकृता—आविलीकृता, आवृतेति यावत्, अत एव नैनं द्रष्टुं शक्नोमीति भावः ।

(२) राजेति । 'चुम्बनदानेऽनुकूलोऽयमवसरः सम्प्राप्त' इति मनसि निधाय स्मितकरणम् । करिष्यमाणसेवाकौतुकेन वा स्मितकरणमिति बोध्यम् । अनुमन्यसे-अनुजानासि; तत्—तस्मात्, यदि दृष्टिः कर्णोत्पलरेणुना कलुषीकृता तदेत्यर्थः, अथवा तदेत्यनुमननपदार्थेनान्वेति, एनां-रेणुकलुषितां दृष्टिम्, वदनमारुतेन-मुखवायुना फूत्कारेणेति यावत्, विशदां—रेण्वपसारणेन निर्मलाम्, 'विशदो धवले पुमान्, तद्युक्ते विमले वाच्यवत्' इति शब्दार्णवः। यद्वा विशदां—व्यक्ताम्, 'विशदः पाण्डरे व्यक्ते' इति मेदिनी, करवाणि-प्रार्थनायां लोट्। एतेन चुम्बनव्याजो व्यज्यते, तदर्थमेव स्मितम् ।

(३) शकु इति । अनुकम्पिता-अनुगृहीता' करुणां लम्भितेति यावत् स्वयोपकृतत्वादिति भावः । नायकस्य चुम्बनव्याजमाशङ्कमाना पुनराह-किंत्विति । ते—तव, स्वामित्यर्थः, सम्बन्धविवक्षया षष्ठी न विश्वसिमि-विशङ्के इत्यर्थः, यदि फूत्कारदानव्याजेन गण्डं मे चुम्बसे इति भावः ।

---

(१) शकुन्तला—मैं इसको नहीं देख पाती, क्योंकि कानों में पहिने हुए कमल के रज से मेरी आँख कलुषित हो गयी हैं ।

(२) राजा—(मुस्करा कर) यदि तुम कहो तो मैं मुंह फूंक कर इसे साफ कर दूं ।

(३) शकुन्तला—तब तो मैं आप की बड़ी अनुगृहीत हूँगी । लेकिन मुझे आप का विश्वास नहीं है ।

राजा—मा मैवम् । नवो हि परिजनः सेव्यानामादेशात् परं न वर्त्तते (१)।

शकु—अयमेव अत्यादरः अविश्वासजनकः (२) (अअं ज्जेव अच्चादरो अविस्सासजणओ ।)

राजा—[स्वगतम्] नाहमेवं रमणीयमात्मनः सेवावसरं शिथिलयिष्ये । [मुखमुन्नमयितुं प्रवृत्तः] (३)।

शकु—[प्रतिषेधं रूपयन्ती विरमति] (४)।

(१) राजेति मा मैवं-न खलु न खल्वेवं वदेदित्यर्थः, । तव गण्डादेश्चुम्बनाशङ्कां मा कुरु मयि च विश्वासं विधेहीति भावः । हि-यतः, नवः—अचिरोपगतः, परिजनः सेवकः, सेव्यानाम्-उपासनीयानाम्, आदेशात् परम्-आज्ञाव्यतिरिक्तम्, परशब्दयोगे पञ्चमी, न वर्त्तते—नाचरति, आदेशातिरिक्तं कार्यं न किंचित्करोतीत्यर्थः । तथा च दृष्टिविशदीकरणरूपमेव तवादिष्टं विना न गण्डचुम्बनादिकं करोमीति भावः ।

(२) शकु इति । अयमेवात्यादरः—आदरातिशयः, 'परिजनः, सेव्यानाम्' 'आदेशात्' इति पदत्रयसूचित आग्रहातिशय इत्यर्थः, अविश्वासजनकः-त्वयि मे विश्वासं नोत्पादयतीत्यर्थः । तादृशवचनत्रयस्यालीकत्वेऽपि त्वया सत्यत्वेनाभिहितत्वादिति भावः ।

(३) राजेति । रमणीयं-सुन्दरं दुर्लभमित्यर्थः, निर्जनत्व-संमतत्व-महामोदकरत्वादिकारणकलापस्यैकदैव पुनः सत्वासम्भवादिति भावः, आत्मनः-स्वस्य, सेवावसरम्-उपचारकरणेऽवकाशम्, न शिथिलयिष्ये—सेवां परित्यज्य वृथा न करिष्ये इत्यर्थः । दृशावसरस्य दुर्लभत्वेन भृशं प्राप्तेरसम्भवादिति भावः । 'शिथिलयिष्ये' इति शिथिलशब्दात्करोत्यर्थे णिच् प्रत्ययः । उन्नमयितुम्-उत्तोलयितुम्, उत्पूर्वात नमधातोः णिच्, 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः, प्रवृत्तः—आरब्धवान् ।

(४) शकु इति । प्रतिषेधं-राजकर्तृकमुखोत्तोलनस्य निषेधम्, रूपयन्ती-दर्शयन्ती अन्यत्र दिशीषन्मुखस्य चालनादिक्रिययेति भावः, विरमति-निवर्त्तते ।

(१) राजा—नहीं, ऐसा नहीं होगा एक नया सेवक स्वामी की आज्ञा के आगे नहीं बढ़ सकता ।

(२) शकुन्तला—तुम्हारा इतना ज्यादा आदर ही तो अविश्वास का कारण है ।

(३) राजा—(स्वगत) मैं अपनी सेवा के इस रमणीय अवसर को व्यर्थ नहीं जाने दूँगा । शकुन्तला का मुँह ऊपर उठाना चाहता है ।

(४) शकुन्तला—(रोकने का अभिनय करके चुप रह जाती है)।

राजा—अयि मदिरेक्षणे ! अलमस्मदविनयाशङ्कया (१) ।

शकु—[किञ्चित् दृष्ट्वा व्रीडावनतमुखी तिष्ठति । (२) ।

राजा—[अङ्गुलीभ्यां मुखमुन्नमय्य आत्मगतम्] (३) ।

चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षतकोमलः ।
पिपासतो ममानुज्ञां ददातीव प्रियाऽधरः ॥ ३६ ॥

---

(१) राजेति । मदिरे-मत्तखञ्जनौ पक्षिणौ ताविव ईक्षणे-नेत्रद्वयं यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ हे मदिरेक्षणे ! अस्मत् अस्मत्तः, पौरवस्य राज्ञो दुष्यन्तस्य मम सकाशादित्यर्थः, अनेन नाहमसभ्यो यतस्तेऽविनयाशङ्केति ध्वन्यते । पञ्चमीबहुवचनम् 'एकत्वे द्वित्वे चास्मदो बहुवचनं वा' इति बहुवचनम् । अविनयाशङ्कया-असभ्यतापादनभयेन गण्डचुम्बनाशङ्कया, अलं-तादृशीमाशङ्कां मा कुरु इत्यर्थः, ते विनाऽऽदेशेन पूर्वमेव न किञ्चित्करिष्यामीति मया प्रतिज्ञातत्वादिति भावः ।

(२) शकु इति । किञ्चिद् दृष्ट्वा-मुखविवर्त्तनेन राज्ञो निरुन्मदत्वमिति शेषः, व्रीडावनतमुखी-लज्जानम्रमुखी ।

(३) राजेति । अङ्गुलीभ्याम्-इतराः सङ्कोच्य मध्यमानामिकाभ्यामित्यर्थः, अनुरागातिशयेन योषिद्वक्त्रोत्तोलनकर्मणि अधराधःस्थापनीययोस्तयोरेवाङ्गुल्योः कौशल्यात् । मुखं-वदने शकुन्तलाया इति शेषः, उन्नमय्य-उत्तोल्य, उत्पूर्वात् णिजन्तान्नमेः क्त्वास्थाने ल्यप् ।

चारुणेति । न परिक्षत इति अपरिक्षतः-अननुभूतचुम्बनत्वात् कस्यचिदपि दन्तैरदष्टपूर्वः, अत एव कोमलः-सुकुमारः, यद्वा अपरिक्षतेन-दशनसम्पर्काभावेन कोमलः-मृदुलः, दन्तैर्दष्टस्य काठिन्यादस्य तु मृदुलत्वात्तत्सम्पर्करहित इत्यर्थः, एतेनाधरस्य पानयोग्यत्वं व्यज्यते, प्रियायाः-शकुन्तलायाः अधरः-दन्तच्छदः, ओष्ठइति यावत्, प्रियापदेन बलीयाननुरागो द्योत्यते, चारुणा-मनोहरेण, स्फुरितेन—ममाङ्गुलीभ्यामुन्नमनजनितस्पन्दनेन, मह्यं पानानुमतिदानवचनोच्चारणप्राक्कालीनस्फुरणद्वारेति वा, पिपासतः-पातुमिच्छतः, चुम्बनाभिलाषिण इत्यर्थः, मम-मत्सम्बन्धे, अनुज्ञां-पानानुमतिम्, ददातीव-प्रयच्छतीवेत्युत्प्रेक्षा ।

---

(१) राजा—अयि खञ्जननेत्रे ! मेरी ओर से किसी प्रकार के अशिष्ट व्यवहार की आशंका मत करो ।

(२) शकुन्तला—(थोड़ा देख कर, लज्जा से मुँह नीचा कर बैठी रह जाती है)

(३) राजा—(दो उंगलियों से शकुन्तला का मुँह उठाकर स्वगत)—

आज के पहले कभी भी दन्तक्षत न किये जाने से कोमल, प्रियतमा के ये ओष्ठ, मनोहर स्पन्दन कर के मानो मुझ प्यासे को पीने के लिए अनुमति दे रहे हैं ॥ ३६ ॥

शकु—परिज्ञानमन्थर इव आर्य्यपुत्रः (१)। (परिण्णाणमन्थरो विअ अज्जउत्तो।)

राजा—कर्णोत्पलसन्निकर्षादीक्षणमूढोऽस्मि [इति मुखमारुतेन चक्षुः सेवते] (२)।

शकु—भवतु, प्रकृतिस्थदर्शनास्मि संवृत्ता। लज्जे पुनरनुपकारिणी प्रियकारिण आर्यपुत्र (३)। (भोदु, पइदित्थदंसणह्मि सम्वुत्ता। लज्जेमि

अत्राधरस्य कोमलत्वविषये अपरिज्ञातपदार्थस्य हेतुतेति तदंशे पद्य 'हेतुकं काव्यलिङ्गम्। तथा ददातीवेति दानक्रियामात्रस्य सम्भावितत्वात् क्रियोत्प्रेक्षा च।

अत्र च शकुन्तलाऽधरस्य रमणीयत्वाद् दुष्यन्तस्याऽऽकाङ्क्षातः स्पृहा नाम नाट्यालङ्कारः। यदुक्तं दर्पणकृता—

'आकाङ्क्षा रमणीयत्वाद् वस्तुनो या स्पृहा तु सा'। इति ॥ ३६ ॥

(१) शकु इति। परिज्ञाने-चक्षुषि प्रविष्टस्य कर्णोत्पलरजसः सम्यगवबोधे मन्थरः-विमूढः, अक्षम इति यावत्, नयनाभ्यन्तरे कुत्र पतितो रेणुरिति द्रष्टुं न शक्नोति भवानिति सम्भावयामि, फूत्कारदाने विलम्बाङ्गीकृतत्वादिति भावः। विलम्बो हि राज्ञ आत्मगतालोचनावशाज्जातः, अतः शकुन्तलाया उक्तिरेवमिति बोध्यम्। आर्यपुत्रः-भर्त्ता, भवानित्यर्थः। मन्थरार्थमाह यथा मेदिन्याम्-'मन्थरः कोषफलयोर्बाधमन्थानयोः पुमान्। कुसुम्भ्यां न द्वयोर्मन्दे पृथौ वक्रेऽभिधेयवत्'। इति

(२) राजेति। कर्णोत्पलयोः-कर्णभूषणीभूतयोरुत्पलयोः सन्निकर्षात्-तव नयनयोरेव सान्निध्यात् हेतोः, ईक्षणमूढः-नेत्रविज्ञानविषये सन्दिग्धवानस्मि किमिमे ईक्षणे कर्णोत्पले वेति विशेषनिरूपणेऽसमर्थोऽस्मीत्यर्थः। एतेनेक्षणयोरुत्पलसादृश्यं सूच्यते। यद्वा कर्णोत्पलस्य-सन्निकर्षात्-सामीप्यात्, ईक्षणमूढः-रेणुभिरन्धीकरणात् दर्शनाक्षमोऽस्मीत्यर्थः। यद्वा कर्णोत्पलस्य सन्निकर्षात्-दृष्टिपथे व्यवहितत्वात्, ईक्षणमूढः-नयनस्य कस्मिन् भागे रेणुरस्तीति दर्शनेऽसमर्थोऽस्मीत्यर्थः। अतो निरूपणाक्षमतया कियन्मात्रो विलम्बो जात इति भावः। मुखमारुतेन-फूत्कृतिना, सेवते-रेणपसारणेन परिष्करोतीत्यर्थः।

(३) शकु इति। प्रकृतिस्थदर्शना-रेणूनामपगमात्स्वाभाविकदृष्टिशक्तिसम्पन्ना, संवृत्ताऽस्मि-जातास्मि, अत एव भवतु-अस्तु अलमन्येन फूत्कारेणेत्यर्थः। पुनः—

(१) शकुन्तला—(आप तो जैसे बेखबर होते जा रहे हैं।)

(२) राजा—इस कर्ण-कमल के पास रहने से मैं तुम्हारी आँखें नहीं देख पाता। (मुँह से शकुन्तला के नेत्र पर फूँक मारता है।)

(३) शकुन्तला—बस, मेरी आँख ठीक हो गयी। लेकिन आपने मेरा यह प्रिय

उण अणुवआरिणी पिअआरिणो अज्जउत्तस्स)

राजा—सुन्दरि ! किमन्यत् (१)।

इदमप्युपकृतिपक्षे सुरभि मुखं ते यदाघ्रातम्।
ननु कमलस्य मधुकरः सन्तुष्यति गन्धमात्रेण ॥ ३७ ॥

किन्तु, प्रियकारिणः-उपकारिणः, दृष्टिपरिष्करणादिति भावः, आर्यपुत्रस्य-भवतः सम्बन्धे, अनुपकारिणी-किञ्चिदप्यकरणात्, अहं लज्जे-जिहेमि। उपकारिणः प्रत्युपकारकरणमुचितं तत्राकिञ्चित्करायाा मे महती लज्जा जातेति भावः।

(१) राजेति। अन्यत्-अपरम्, किम्-उपकर्त्तव्यमस्तीति शेषः, अन्येनोपकारेणालमिति भावः।

ननु किं नु मयोपकृतं यदन्येनोपकारेणालमित्युच्यते; तत्र दृष्टान्तेनोपकारस्य पर्याप्ततां दर्शयति-इदमिति। यत्—ते तव, सुरभि-सौरभवत्, मुखं-वदनम्, सुरभीति वदनविशेषणेनोत्तमनायिकात्वं ध्वन्यते, आघ्रातं-मया फूत्कारदानकाले आघ्रायि, इदमपि-एतदाघ्राणमपि, उपकृतिपक्ष-त्वत्कर्तृकोपकारकोटौ, यथेष्टं गण्यतामिति शेषः। ननु-यतः, मधुकरः-भृङ्गः, कमलस्य-पद्मस्य, गन्धमात्रेण-गन्धग्रहणेनैव, केवलङ्गन्धमात्रमाघ्रायेत्यर्थः, सन्तुष्यति-सन्तुष्टो भवति, आसवास्वादं विनाऽपि गन्धलाभेनैव परमतोषमाप्नोतीत्यर्थः, मात्रपदेनासवास्वादो व्यवच्छेद्यः।

अयमाशयः—मधुपानार्थी भ्रमरः पद्मस्य मधुनोऽलाभेऽपि तद्गन्धमात्रमाघ्रायैव यथा परितुष्यति; तथाऽधरपिपासुरप्यहं तव वदनगन्धमाघ्रायैव परमतोषमाप्नोमीति त्वत्कृत एवाऽयं मम महानुपकारः इति।

अत्र प्रतिवस्तूपमाऽलंकृतिरिति केचित्, परे तु दृष्टान्तालङ्कारं समर्थयन्ति। वस्तुतस्तु इह धर्मस्य समानत्वेनापि भिन्नत्वाद् दृष्टान्त एव तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वस्य समानपदार्थत्वात्, यत्र समर्थ्यसमर्थकयोः सामान्यत्वेन विशेषत्वेन वा सजातीयतयाऽभिन्न एव धर्मस्तत्र प्रतिवस्तूपमेति तयोर्भेदनिर्णेतृभिरङ्गीकृतत्वाच्च। उपगीतिर्नामेयमार्या पूर्वार्द्धस्यापि द्वादशपञ्चदशमात्रत्वात्। यदुक्तं कविना कालिदासेन—

आर्योत्तरार्द्धतुल्यं प्रथमार्द्धमपि प्रयुक्तं चेत्।
कामिनि ! तामुपगीतिं प्रकाशयन्ते महाकवयः ॥ इति ॥ ३७ ॥

कार्य किया, और मैंने आप का कोई उपकार नहीं किया; यह सोचकर मुझे लज्जा आती है।

(१) राजा—सुन्दरी ! और क्या उपकार करना चाहती हो—

मैंने तुम्हारे सुरभित मुख को सूँघ लिया, यह भी तो तुम्हारा उपकार ही है। क्योंकि भ्रमर केवल कमल के सुगन्ध से ही सन्तुष्ट हो जाया करता है ॥ ३७ ॥

शकु—[सस्मितम्] असन्तोषे पुनः किं करोति ? (१) । (असन्तोसे उण किं करेदि ?) ।

राजा—इदम् । [इति व्यवसितः] (२) ।

शकु—[वक्त्रं ढौकते] (३) ।

शकु इति । (१) राज्ञस्तादृशं वचनं श्रुत्वा कौतुकेनाह-असन्तोषे इति । पुनः-किन्तु, असन्तोषे-गन्धे गृहीते सत्यपि सन्तोषाभावे जाते, किं करोति-किं व्यवस्यति, मधुकर इति शेषः । अत्र वचनभङ्ग्या मम सुरभि मुखमाजिघ्रतोऽपि भवतः सन्तोषाभावे सति भवान् किं करिष्यतीत्यर्थो व्यज्यते । उक्तेरस्याः कौतुककृत्वात् स्मितम् ।

(२) राजेति । इदं; मधुकरः करोतीति शेषः, इदमा स्वयं क्रियमाणस्य चुम्बनव्यवसायस्य परामर्शः । तथा च मधुकरः कमलगन्धेन सन्तोषमलभमानश्चेत्तदा ते ऽधरपानेऽहमिव कमलमधुपाने व्यवसितो भवतीति भावः । इति-एवमुक्त्वेति शेषः, व्यवसितः-चुम्बनाय कृताध्यवसायः चुम्बितुमुद्युक्तः इति यावत् , न तु चुचुम्ब, नाट्येऽधरपानादेर्निषेधात् , यदुक्तं दर्पणकृताऽङ्कलक्षणे—

'शयनाधरपानानि नगराद्युपरोधनम् ।
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः' ॥ इति ।

एतेन वक्ष्यमाणं 'कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु' इति वाक्यमपि संगच्छते । अत्रेदृशचुम्बनव्यवसायरूपक्रियाद्वारा शकुन्तलावाक्यार्थध्वनितस्य 'भवान् पुनरसन्तोषे किं करिष्यति' इत्येवंरूपस्य प्रश्नोत्तरं दत्तमिति विवेचनीयम् ।

(३) शकुं इति । वक्त्रं-मुखं ढौकते-हस्ताङ्गुलिद्वारा संवृणोतीत्यर्थः, 'मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम्' इति उत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् धातूनां नानार्थकत्वाच्च । यद्वा ढौकते-अन्यत्र चालयति, इति प्रकृत एवार्थः, ढौकृ धातोर्गत्यर्थकत्वात् , यदाह रामाश्रमः-'ढौकृत्रौकृगतौ' । इति । वस्तुतस्तु अस्मिन् पक्षे 'मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम्' । इति वक्ष्यमाणं न सङ्गच्छत इत्यनुपादेयत्वैवेति साहित्यिकैर्विवेचनीयमिति केचित् , तच्चिन्त्यम्, मुहुरिति पदेन 'मुखमंसविवर्त्ति पक्ष्मलाक्ष्याः' इति वक्ष्यमाणतया प्रकृतार्थपक्षस्य सङ्गतत्वात् । मुखं ढौकते इत्यनेन कविना नायिकाया मुग्धात्वं प्रत्यायितम् । 'प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा' । तथा

---

(१) शकुन्तला—(मुस्करा कर) यदि वह सन्तुष्ट नहीं होता तब क्या करता है ?
(२) राजा—यह करता है (मुंह चूमने की चेष्टा करता है) ।
(३) शकुन्तला—(हाथ से अपना मुंह ढाँक लेती है)

[नेपथ्ये ।] चक्रवाकवधु ! आमन्त्रयस्व सहचरम्, ननु उपस्थिता रजनी (१) । (चक्कवाअवहु ! आमन्तेहि सहचरं, णं उअत्थिदा रअणी ।)

'श्रृङ्गारे कौशिकी' इति दर्पणोक्तेः । तस्याः प्रथमाङ्गं नर्मरूपं श्रृङ्गारहास्ये न प्रदर्शितम्—

'वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म सश्रृङ्गारभयेन वा' । इति दर्पणोक्तेश्च ।

क्वचित् पुस्तके 'गान्धर्वेण विवाहेन' इत्यादिश्लोकतः एतदन्तः पाठो नास्ति, किन्तु तत्र—शकुन्तला–मुञ्च दाव मं । भूवो वि सहीजणं अणुमाणइस्सं । (मुञ्च तावन्मां भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये ।) इति संस्कृतानुवादः । अनुमानयिष्ये–अनुमतिं ग्रहीष्यामि इत्यर्थः ।

राजा—भवतु मोचयामि । शकुन्तला–कदा ।

राजा—अपरिक्षतकोमलस्य यावत् कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन ।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य ॥

इयमस्य व्याख्या-भङ्ग्या मोचनकालमाह–अपरीति । हे सुन्दरि !' अपरिक्षतस्य–अनवाप्तदन्तपदस्य, कुसुमपक्षे भ्रमराद्यनुपहतस्य, अत एव कोमलस्य–मृदुलस्य, अपरिक्षतं कोमलं–कोमलत्वं यस्य तस्येति केचित्, सदयग्रहणे हेतुरयं स्पृहणीयत्वातिशयं द्योतयति, नवस्य–अनास्वादितपूर्वस्य, कुसुमपक्षे सद्यो विकसितस्य कुसुमस्य–प्रसूनस्य इव, ते तव अस्य–मम नयनपथवर्त्तिनः, अधरस्य–दन्तच्छदस्य, पिपासता–पातुमिच्छता, षट्पदेन—भृङ्गेण मया, सदयं—कृपासहितं न तु गाढमिति भावः, सदयमित्यनेन दशनक्षतादिना मम वैयात्यप्रकाशनादौदास्यक्षतिर्भवेदिति सा भैषीरिति द्योत्यते, यावत्–यावत्कालपर्यन्तः, रसः–माधुर्यरूपः, कुसुमपक्षे मकरन्दश्च,गृह्यते–आस्वाद्यते, यथोक्तम्–'अधरस्य मधुरिमाणं कुचकाठिन्यम्' इत्यादि, तावन्मोचयामीति शेषः । अत्र श्लेषः, काव्यलिङ्गमुपमा, परिकरश्च । औत्सुक्यावेगादयो नायकाश्रया भावा व्यज्यन्ते । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।

पर्यन्ते यौं तथैव शेषमौपच्छन्दसिकं कवीन्द्रहृद्यम् ।

(१) नेपथ्ये इति । नाट्येऽधरपानादिसुरतवर्णनस्य निषिद्धतया दर्शयितुमयोग्यत्वात् 'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते' इत्युक्तदिशा विप्रलम्भपरिपोषार्थं परस्परं विच्छेदकरणायाऽऽह–चक्रवाकवध्विति । अन्तरालेऽनसूयाप्रियंवदे गते सम्प्रति दूरादागच्छन्तीं गौतमीमवलोक्य दुष्यन्तमपसारयितुं शकुन्तलामत्र सङ्केतयितुं च वचनमेतत् । गौतम्यागमनमवलोक्य तद्बोधनाथ प्रकृतमर्थं

(१) (नेपथ्य में)—अयि चक्रवाकवधु ! अब अपने सहचर (चकवे) को विदा करो, क्योंकि रात हो गयी ।

शकु—[कर्णं दत्त्वा ससम्भ्रमम्] आर्यपुत्र ! एषा खलु तातकण्वस्य धर्मकनीयसी मम वृत्तान्तोपलम्भननिमित्तम् आर्या गौतमी आगच्छति; तद्विटपान्तरितो भव (१) । (अज्जउत्त ! एसा क्खु तादकण्णस्स धम्मकणीअसी

सङ्गोप्य सख्योर्वचनमिदम् । इति केचित् । हे चक्रवाकवधु–चक्रवाकभार्ये ! चक्रवाकि !, सहचरं–प्रियम्, आमन्त्रयस्व–सादरमामन्त्र्य विसृज, प्रियजनस्य प्रस्थानकाले सादरामन्त्रणौचित्यादिति भावः । तत्र हेतुमाह—नन्विति । ननु यस्मात्, रजनी–युवयोर्वियोगकारिणी रात्रिः, रात्रौ चक्रवाकमिथुनं विरहितं सत् परस्परं शब्दयतीति प्रसिद्धिः, उपस्थिता–समायाति, आत्मनोर्वियोगकारिण्या रजन्या उपस्थितौ युवयोः प्रस्थानकालीनमामन्त्रणमुचितमिति भावः ।

अत्रायमर्थो गम्यते—'चक्रवाकवधु' इत्यनेन हे दुष्यन्तवधु ! शकुन्तले ! सहचरं—दुष्यन्तम्, आमन्त्रयस्व—सादरमामन्त्र्य विसर्जय, ननु–यस्मात्, 'रजनी' इत्यनेन गौतमी, उपस्थिता–आयाति । अस्यायमाशयः—

गौतमी आगत्य युवां यदि इत्थंभावेन पश्येत्तदा महाननर्थो भविष्यतीति सादरामन्त्रणपूर्वकं दुष्यन्तस्य विसर्जनं ते साम्प्रतम्—इति । तथा च 'गौतमी आगता' इति प्रस्तुतस्य 'रजनी आगता' इत्यप्रस्तुतेन गम्यमानत्वादप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । चक्रवाकमिथुनसादृश्येन नायकनायिकयोरन्योन्यानुरागस्य गाढत्वं द्योत्यते । किं च रजन्यपगमे चक्रवाकयोरिव गौतम्यपगमे युवयोरपि पुनः समागमो भविष्यतीति अत्यन्तं मा विषीदेति च व्यज्यते ।

अत्र द्व्यर्थवचनविन्यासादुभयकोटावपि सुसंबद्धत्वात् नाटके पुनर्योजनयोग्यत्वाद् दुष्यन्तापसारणरूपप्रधानार्थान्तरसूचनाच्चेदं तुरीयं पताकास्थानम् । यदुक्तं दर्पणे—यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।

आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तत् ॥

तथा—द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।

प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम् ॥ इति ।

केचित्त्वत्र 'चक्रवाकवधु' इत्याद्युक्त्वा शकुन्तलायाः क्लेशकरवाक्यप्रयोगाद् द्वितीयं पताकास्थानकलक्षणं समन्वयन्ति, तेन च अग्रे 'शकुन्तला—कर्णं दत्त्वा ससम्भ्रमम्' इति शकुन्तलायाः सम्भ्रमोक्तिरपि संगच्छते । 'अनेन द्वितीयपताकास्थानमुक्तमि'ति राघवभट्टोऽप्याह ।

(१) शकु इति । कर्णं दत्त्वा–नेपथ्योत्थं वचनं श्रुत्वेत्यर्थः । ससम्भ्रमं–सत्वरम्, सम्भ्रमो भयाद्यनुभवः राजानमाह—आर्यपुत्रेति । अनेन नायिकायाः प्रस्तुता-

(१) शकुन्तला—(कान देकर घबड़ाहट के साथ) आर्यपुत्र ! यह पिता कण्व की

मस वुत्तन्तोवलम्भणणिमित्तं अज्जा गोदमी आअच्छदि; ता विडवान्तरिदो होहि ।)

राजा—तथा । [इत्येकान्ते स्थितः] (१) ।

[ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी] (२) ।

गौत—जाते ! अत्याहितं श्रुत्वा आगता, एतत् शान्त्युदकम् , इह देवतासहायिनी तिष्ठसि (३) ? । [दृष्ट्वा समुत्थाप्य च] जादे ! आच्छाहिदं सुणिअ आअदा; एदं शान्ति उदअं देवदासहाइणो चिट्ठसि ?)

प्रस्तुतार्थग्रहणे चातुर्यमस्तीति गम्यते । धर्मकनीयसी—धर्मभगिनी, न तु वस्तुतो भगिनी न वा कनिष्ठा भगिनीति भावः, एतेनास्या अननुमतावपि पितुरसत्वसमये न किमपि कर्त्तुं शक्नोमीति शकुन्तला राजानं प्रत्याययति । गौतमी–गोतमस्यापत्यं स्त्री, मम वृत्तान्तस्य–वार्त्तायाः, उपलम्भननिमित्तं–ज्ञानार्थम्, 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । 'प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित् प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतना' इत्यमरोऽपि । तत्–तस्मात्, विटपान्तरितः–तरुलताशाखाच्छादितकलेवरः । अन्यथा तया त्वयि दृष्टे सति महाननर्थः सम्पद्येतेति भावः । वहिर्गमने स्वरूपप्रकाशस्य सम्भवात् विटपान्तरितो भव इति नायिकायास्तत्कालोचित उपदेशस्तस्याः प्रतिभाविशेषं प्रकाशयति । किं च विपान्तरितो भव; दूरं मा गच्छेरित्यर्थकरणेन नायिकायाः स्थिरानुवृत्तिरौत्सुक्यस्य द्योत्यते । अत्र विद्रवो नाम गर्भसन्धेरङ्गमुपदर्शितम् । यदुक्तं दर्पणे—'शङ्काभयत्रासकृतः सम्भ्रमो विद्रवो मतः' इति ।

(१) राजेति । तथा—तदेवानुतिष्ठामीत्यर्थः । इत्युक्त्वा, एकान्ते–निर्जने विटपान्तराले इत्यर्थः ।

(२) तत इति । पात्रं–शान्त्युदकभाजनं हस्ते यस्याः सा तथाभूता । अनेन अहमपी'त्यादिशिष्योक्तस्य शान्त्युदकस्य सम्बन्धो घटितः ।

(३) गौतेति । जाते–वत्से ! आत्मजातुल्ये इत्यर्थः, अत्याहितं–सन्तापजनिता महाभीतिः, 'अत्याहितं महाभीतिः कर्म जीवानपेक्षि च' इत्यमरः । शान्त्युदकं प्रदर्शयितुमाह–एतदिति । एतत्–इदम्, शान्त्युदकं–सन्तापशान्तिकरं जलम् ।

कनिष्ठ धर्मभगिनी आर्या गौतमी मेरा हाल जानने के लिए आ रही हैं । इसलिये आप इस वृक्ष की शाखा में छिप जाइए ।

(१) राजा—बहुत अच्छा । (एक गुप्त स्थान में जा बैठता है)

(२) [इस के बाद हाथ में पात्र लिये गौतमी आती है]

(३) गौतमी—पुत्री ! तुम्हें बहुत भीषण-दशा में सुन कर आयी हूँ । यह शान्ति-जल है । (देख कर और उठ कर) तू क्या यहाँ देवताओं की सहायता से बैठी हुई है ?

शकु—इदानीमेव अनसूयाप्रियंवदे मालिनीमवतीर्णे (१)। (दाणिं ज्जेव अणसूआपिअम्वदाओ मालिणीं ओदीण्णाओ।)

गौत—[शान्त्युदकेन शकुन्तलामभ्युक्ष्य।] जाते! निराबाधा मे चिरं जीव। अपि लघुसन्तापानि अङ्गानि? (२)। (जादे! णिरावाधा मे चिरं जीव। अवि लहुसन्दावाइं अङ्गाइं?)। [इति स्पृशति।]

शकु—अहो! अस्ति विशेषः (३)। (अम्मो! अत्थि विसेसो।)

त्वत्तापशान्तये मयाऽऽनीतमिति शेषः। दृष्ट्वा—इतस्ततोऽवलोक्य, शकुन्तलायाः सहायः कश्चित्तत्रास्ति न वेति परिज्ञानायेति भावः। इतस्ततश्चक्षुः प्रसार्य कमपि शकुन्तलायाः सहायमनवलोक्य गौतम्या अनन्तरकरणीयं निर्दिशति—समुत्थाप्येति। समुत्थाप्य—शिलाफलकोपविष्टां शकुन्तलामुटजं नेतुं हस्तधारणपूर्वकमुत्तोल्येत्यर्थः। देवतासहायिनी—देवतामात्रसहाया, एकाकिनीति यावत्। तिष्ठसि—वर्त्तसे, अत्र काकुस्वरेण प्रश्नो व्यञ्जितः।

(१) शकु इति। एकाकिनी—तिष्ठसीति गौतम्याः प्रश्नोत्तरमाह—इदानीमिति। मालिनीं—तदाख्यां नदीम्, अवतीर्णे—स्नानाय जलानयनाय च गते।

(२) गौतेति। शान्त्युदकेन—तापशान्त्यर्थमानीतेन जलेन, अभ्युदय—अभिषिच्य, अत्र स्मृतिः—'उत्तानेनैव हस्तेन प्रोक्षणं समुदाहृतम्। न्यञ्चताभ्युक्षणं प्रोक्तं तिरश्चावोक्षणं स्मृतम्'॥ इति।

जाते—वत्से, निराबाधा—शान्त्युदकपातान्नीरोगेत्यर्थः सतीति शेषः। मे—मत्सम्बन्धिनी त्वमित्यर्थः। चिरं जीवेत्याशिषं प्रयच्छति। अपीति प्रश्ने। लघुः—शान्त्युदकाभ्युक्षणात् स्वल्पः सन्तापः—व्यथा येषु तानि तथाभूतानि, शान्ततापानीत्यर्थः, संवृत्तानि किमिति शेषः। अत्र काकुस्वरेण प्रश्नो व्यज्यते। इत्युक्त्वा स्पृशति—'सन्तापो निवृत्तो न वा' इति परीक्षार्थं शकुन्तलाया अङ्गानि हस्तेन परामृशति। अत्र साम्नोदकदानात् संग्रहो नाम गर्भसन्धेरङ्गम्। यदुक्तं दर्पणे—

'संग्रहः पुनः, सामदानार्थसम्पन्नः'। इति।

(३) शकु इति। विशेषः पूर्वापेक्षया ईषदुपशम इत्यर्थः।

---

(१) शकुन्तला—अभी अभी अनसूया और प्रियंवदा मालिनी के तट पर गयी हैं।

(२) गौतमी—(शान्ति-जल शकुन्तला पर छिड़क कर) पुत्री! तू बिना किसी बाधा के बहुत काल तक जीवित रह। अब तो तेरे अंगों में ताप कम है न?

(शकुन्तला का शरीर-स्पर्श करती है)

(३) शकुन्तला—कुछ कम है।

गौत—परिणतो दिवसः; तदेहि उटजमेव गच्छावः । (परिणदो दिवसो ता एहि उडअं ज्जेव (१) गच्छावः)

शकु—[कथञ्चिदुत्थाय स्वगतम्] हृदय ! प्रथमं सुखोपनते मनोरथे कालहरणं करोषि, साम्प्रतमनुभव तावद् दुःखम् । [पदान्तरे प्रतिनिवृत्य प्रकाशम् ।] लतागृह ! सन्तापहर ! आमन्त्रयामि त्वां पुनरपि परिभो (२)-

(१) गौतेति । परिणतः--अवसानं गतः, उटजं--पर्णशालाम्, 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाभि'त्यमरः । अत्रावस्थानेनालमित्येवकारव्यवच्छेद्यः । गच्छावः आवामिति शेषः।

(२) शकु इति । कथञ्चित्-कृच्छ्रेण, इच्छाया असद्भावादतिकष्टपूर्वकमित्य र्थः। उत्थाय-शय्यात इति शेषः । प्रथमम्-इतः पूर्वम्, सुखोपनतेन-सुखेन—अप्रयत्नेन, उपनते समीपागते, मनोरथे—मनोरथविषयीभूते प्रियतमे सतीत्यर्थः, अत्र मनोरथविषयीभूतस्य निगीर्णत्वादतिशयोक्तिः कालहरणं—नानापदेशेन सम्भोगं विना कालक्षेपं, करोषीति वर्त्तमाननिर्देशेन साम्प्रतमपि ते इतो गमनमनुचितमिति ध्वन्यते । साम्प्रतं-सम्प्रति, गौतम्या अतर्कितोपस्थितेः सम्भोगासम्भवकाल इत्यर्थः, दुःखं-विरहजनितां मदनव्यथाम्, अनुभव-सहस्व ।

पदान्तरे-अन्यस्मिन् पदविन्यासे; कतिपयं पदसञ्चारं कृत्वेत्यर्थः, प्रतिनिवृत्य-तत्क्षणं निवृत्य, लतागृह !-निकुञ्ज !, अत्र तदभ्यन्तरगतः प्रियतमो ध्वन्यते । सन्तापहर !-सन्तापनाशक !, सन्तापो ग्रीष्मजो विरहजश्चेत्युभयत्र समानम्, सन्तापहरत्वं च एकत्रानातपदानादपरत्र संभोगाशादानादिति बोध्यम् । पुनरपि-भूयोऽपि, परिभोगार्थम् एकत्र वासार्थमपरत्र सुरतसुखसम्भोगार्थम्, त्वां-लतागृहं, पक्षे प्रियतमं दुष्यन्तम्, आमन्त्रये-निवेदयामि । हे हृदयनाथ ! सन्तापहारक ! पुनरपि त्वदधीनः सम्भोगोऽस्त्विति गूढार्थः । अनेनौत्सुक्यं प्राधान्येन द्योत्यते । अत्राप्रस्तुतेन लतागृहादिना प्रस्तुतस्य नायकामन्त्रणादेर्गम्यमानत्वादप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । अनेन मनोरथं नाम भूषणमुपक्षिप्तम् । तल्लक्षणं तु—

'मनोरथस्त्वभिप्रायः स्वोक्तिर्भङ्ग्यन्तरेण यत्' । इति ।

अत्र च साहित्यदर्पणोक्तदिशा प्रथमं पताकास्थानम्; सहसैव दुष्यन्तस्य गुणवदर्थसम्पत्तेः परमप्रीतिकरणाच्चेति केचित् । तथा च दर्पणे—

(१) गौतमी—अब तो शाम होने आई, चलो अब पर्णशाला चलें ।

(२) शकुन्तला—(बड़ी कठिनाई से उठ कर मन ही मन) हृदय ! बिना किसी अड़चन के अपने प्रियजन को पाकर भी तुम ने व्यर्थ समय बिताया है, इसलिए अब दुःख भोगो । (कुछ आगे चल कर और घूम कर प्रकाशरूप से) हे मेरे सन्तापको

गार्थम् । (हिअअ ! पढमं सुहोवणदे मणोरहे कालहरणं करेसि; सम्पदं अणुभव दाव दुक्खं । [पदान्तरे प्रतिनिवृत्य प्रकाशम्] लदाघर ! संदावहर ! आमन्तेमि तुमं पुणो वि परिभोअत्थं ।) [इति निष्क्रान्ते ।]

राजा—[पूर्वं स्थानमुपेत्य सनिश्वासम्] अहो ! विघ्नवत्यः प्रार्थितानां सिद्धयः । (१) मया हि—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं
प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।

'सहसैवार्थसम्पत्तिः गुणवत्युपचारतः ।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्त्तितम्' ॥ इति ।

तत्रोदाहृतो रत्नावलसीन्दर्भो यथा—'वासवदत्तेयम्' इति राजा यदा तत्कण्ठ पाशं मोचयति, तदा वदुक्त्या 'सागरिकेयम्' इति प्रत्यभिज्ञाय'–कथं प्रिया मे सागरिका ?' 'अलमलमतिमात्रम्' इति । अत्र चिरोद्देश्यभूतस्य सागरिकास्व-रूपस्यार्थस्य सम्प्राप्तिर्वासवदत्ताप्राप्त्यपेक्षया प्रीत्यतिरेकजननाद् गुणवती । निष्क्रा-न्ते–गौतमी शकुन्तला चेति शेषः ।

(१) राजेति । पूर्वस्थानं–शकुन्तलया समं पूर्वमुपभुक्तं शिलातलम्, प्रियाप-रिमुक्तमुक्तमित्येव वार्थः । सनिश्वासमिति निश्वासो विषादानुभवः ।

अथ चिरप्रार्थितस्यारब्धस्य सम्भोगस्य विच्छेदं स्मरन्नतिविषण्णः सन् पराम्र्‍-शति–अहो इति । अहो इति विषादे । प्रार्थितानाम् अर्थानां–प्रयोजनानां सिद्धयः– निष्पत्तयः, 'सिद्धिर्निष्पत्तियोगयोः' इति विश्वः, विघ्नवत्यः–बहुविघ्नाः, भूमार्थे मतुप् । यथोक्तम्—'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' । इति ।

हि—यस्मात्, मया मुखमुन्नमितं न तु चुम्बितमिति श्लोकस्थेनान्वयः ।

मुहुरिति । मुहुः–वारं वारम्, अङ्गुलिभिः संवृतः–मत्कर्तृकचुम्बनप्रतिषेधकर-णाय आवृतः अधरोष्ठः–निम्नोष्ठो यत्र तत् । अत्र नायिकाया अङ्गुलिसंवरणपौनः-पुन्योक्त्या नायकस्य तन्निषेधपौनःपुन्यं द्योत्यते, तथा उत्तरोष्ठे चुम्बनस्याप्रसङ्गा-दोष्ठपदेनैव निम्नोष्ठस्य लाभेप्यधरपदोपादानेन तस्य पाटलिमसौकुमार्यमाधुर्याति-

---

नष्ट करने वाले लतागृह ! सुखभोग करने के निमित्त मैं फिर किसी समय उपस्थित होऊँगी । (दोनों चली जाती हैं)

(१) राजा—(अपने पूर्वस्थान पर आकर और ठंडी साँस लेकर) अहो ! अभीष्ट-सिद्धि में बहुत से विघ्न खड़े हो जाया करते हैं । क्योंकि शकुन्तला ने बार-बार उंगलियों, से अपना निचला होठ ढाँका था । जिस समय वह मेरी प्रार्थना अस्वीकार करती थी

मुहुरंसविवर्त्ति पक्ष्मलाक्ष्याः
कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तु ॥ ३८ ॥

क नु खलु सम्प्रति गच्छामि । अथवा इहैव प्रियापरिभुक्ते लतामण्डपे मुहूर्त्तं तिष्ठामि । [सर्वतोऽवलोक्य] (१)

शयो द्योत्यते । यथोक्तं कुमारसम्भवे—'उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे' इति । प्रतिषेधाक्षरैः—'मा' 'मा' इति चुम्बननिषेधबोधकोच्चरितवर्णैः विक्लवं विह्वलं तथापि अभिरामं—मनोज्ञम्, यद्वा विक्लवशब्दो—धर्मपरः, तथा च—प्रतिषेधाक्षरैर्यः विक्लवः वैक्लव्यं—स्फुटमनुच्चारणं, तेन अभिरामं—मनोहरम् । अत्र वैक्लव्यं तु लज्जादिकृतं बोध्यम् । तथा अंसे—स्कन्धोपरि भागे विवर्त्तते—चुम्बनातङ्कात् तद्रक्षणायैव लज्जयैव वा परावर्त्तत इति अंसविवर्त्ति, अत्र आदौ अङ्गुलिसंवरणं तत्रापि पश्चात् प्रतिषेधाक्षराणि तत्रापि पुनरंसविवर्त्तनमिति क्रमो विवक्षितः । एवम्भूतं, पक्ष्माणि—नेत्रलोमान्यनयोः सन्तीति पक्ष्मले—प्रशस्तलोमशालिनी 'सिध्मादिभ्यश्च' [पा० ५।२।९७] इति अस्त्यर्थे लच् , स च प्राशस्त्यार्थे बोध्यः, अक्षिणी—दृशौ यस्यास्तस्यास्तथोक्तायाः—शकुन्तलायाः मुखं—वदनम्, कथमपि—कृच्छ्रेण 'कथमादि तथाप्यन्तं यत्नगौरवबाढयोः' इत्युत्पलमाला । उन्नमितं—नयनपरिष्करणापदेशेन चुम्बनार्थमुत्तोलितम्, भूतप्रत्ययेन कृतकृत्यत्वबुद्धिर्द्योत्यते । तु—किन्तु, न चुम्बितम्, महानेव ममायं प्रमादोऽभूदिति भावः ।

चुम्बितमित्यनेन रसास्वादो लक्ष्यते; अधरस्य नातिपीडिनं व्यङ्ग्यम्, तुशब्देनाङ्गुलिसंवरणनिषेधाद्यनेकप्रयत्नसन्निधापितस्य सम्भोगसर्वस्वभूतस्य चुम्बनस्यालाभाद् विषादातिशयो द्योत्यत इति ध्वन्यालोके स्पष्टम् ।

अत्र नायिकाया विरोधाचरणेन नायकस्य कन्दर्पवृद्धिर्गम्यते ।

किञ्च, अत्र बलात्कारे सत्यपि गेदनगमनादिकमकृत्वा अङ्गुलिसंवरणाद्याचरणेन नायिकायाः सम्भोगकर्मणि अर्द्धाङ्गीकार आसीदिति सूच्यते ।

'अधरोष्ठ' इत्यत्र शब्दद्वयस्य रदनच्छदवाचकत्वेऽपि प्रकृतेऽत्राधरशब्दस्य निम्नार्थकतया पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः । सम्पूर्णश्लोके तु स्वभावोक्तिः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ३८ ॥

(१) अथ राजा विरहोत्कण्ठिततया तद्विनोदनोपायं निरूपयति—क्वेति ।

उस समय उसका मुखमण्डल कितने ही बार विह्वल और मनोहर दिखाई पड़ा था और वह कई बार कन्धों के ऊपर चला गया था । मैंने उस सुन्दर नयनोंवाली शकुन्तला का मुख किसी तरह उठा तो लिया था, किन्तु उसका चुम्बन नहीं कर सका ॥ ३८ ॥

(१) अब मैं कहाँ जाऊँ ? अच्छा, इस प्रिया के लतामण्डप में ही थोड़ी देर बैठूँ ! (चारों ओर देख कर) :—

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
कान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहादीशोऽस्मि शून्यादपि ॥ ३९ ॥

क्वेत्यादिना देशभेदेन कालभेदेन वा मद्विरहोत्कण्ठा समं न यायादिति ध्वन्यते। कर्त्तव्यं निश्चिन्वान आह—अथ वेति। प्रियया—शकुन्तलया परिभुक्ते—व्यवहृते, मुहूर्त्तं—कतिचित्क्षणान्, मुहूर्त्तमित्यनेनात्रापि दीर्घकालावस्थितावरतिरेव भविष्यतीति ध्वन्यते।

ननु तथा सति कथमत्र तिष्ठसीत्यत्राह—तस्या इति। तस्याः—पुर इव परिवर्त्तमानायाः। प्रियायाः शकुन्तलायाः शरीरेण—सन्तप्तदेहेन, लुलिता—लुण्ठनोल्लुण्ठनादिना विमर्दिता, शरीरस्य सन्तप्तत्वं प्रकरणलभ्यमिति तन्नोक्तम्, इयं—दृश्यमाना, शिलायाम्—उपलखण्डोपरि, अनेन शैत्यं सूच्यते। पुष्पमयी—पुष्पप्रस्तुता, पुष्पात्मिकेति यावत्, प्रस्तुतार्थे मयट्, नतु पल्लवमयीत्यर्थः। तेन कोमलत्वातिशयो द्योत्यते, शय्या—तल्पम्। तथा नलिनीपत्रे—पद्मलतापत्रे नखैरर्पितः—अङ्कितः, एषः—पुरः स्थितः, कान्तः—कमनीयः, 'मन्मथलेखः—'तुज्झ ण जाणे हिअअं' इत्यादिरूपा मदनसम्बन्धिनी लिपिः, 'नलिनीपत्रे नखैरर्पित' इति तस्या हस्तकौशल्यं स्मारयति, यथायथं पञ्चानामप्युपयोगादक्षरबाहुल्याद्वा नखैरिति बहुवचनम्, अर्पित इत्यनेन लेखनमर्पणवदित्यक्षराणां स्फुटं चतुरस्रत्वं च व्यज्यते। तथा हस्ताद्, भ्रष्टं—परिगलितम्, इदं—परोवर्त्ति, बिसाभरणं—मृणालवलयम् आभरणोक्त्या न केवलं तत्करसम्बन्धेनैव किन्तु तच्छोभावहत्वेनाप्यस्मिन् बहुमानमिति व्यज्यते। सर्वत्र तिष्ठतीति शेषः। इति—एतेषु पदार्थेषु, इतीति प्रकारे हेतौ वेति केषांचिद् व्याख्यानम्, आसज्यमाने—प्रियाया वस्तुत्वादेव द्रष्टुं प्रवृत्ते, ईक्षणे—चक्षुषी यस्य स तथोक्तः, अहमिति प्रकरणाद् योज्यम्। शून्यात्—प्रियतमाविरहितादपि; अपीति विरोधे। वेतसगृहात्—वानीरतरुगतलतागृहात्, सहसा—हठात्; निर्गन्तुं—निष्क्रम्य गमनाय, न ईशः—समर्थः, न शक्नोमीत्यर्थः। तत्यक्तान्युपभोगचिह्नान्यत्यन्तं मम मनो रमयन्ति, यानि पुनस्त्यक्तुं न शक्नोमि; तत्र सा पुनः किमु वक्तव्या इति भावः।

इस प्रस्तरखण्ड पर शकुन्तला के शरीर से मर्दित पुष्प-शय्या पड़ी हुई है। नाखून से कमल के पत्ते पर लिखा हुआ यह कामपत्र दिखायी दे रहा है, शकुन्तला के हाथों से गिरा हुआ यह मृणालवलय भी पड़ा है, इन सब चीजों में मेरी आँखें इतनी रम गयी हैं कि मैं इस सूनें लतागृह से एकाएक नहीं निकल कर जा सकता हूँ ॥ ३९ ॥

[विचिन्त्य ।] अहो धिगसम्यक् चेष्टितं प्रियां समासाद्य कालहरणं कुर्वता मया । तदिदानीम्—(१)

रहः प्रत्यासत्ति यदि सुवदना यास्यति पुन-
र्न कालं हास्यामि, प्रकृतिदुरवापा हि विषयाः ।

अत्रेदं विभावनीयम्—

दुष्यन्तस्य प्रथमतः शकुन्तलाया अनुस्मरणात् तस्या इति वचनम्, ततः पुष्पेषु दृष्टिपातात्पुष्पमयीति कथनम्, पश्चाच्छिलायामिति यथादृष्टस्योक्तिरिति ।

अत्र निर्गमनाभावं प्रति आसज्यमानेक्षणपदार्थस्य हेतुतेति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । तथा निर्गमनकारणे शून्ये सत्यपि तत्कार्यभूतनिर्गमनानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिः अथ तत्सद्भावस्य कारणस्याभावेऽपि गमनाभावरूपकार्यस्योत्पत्तेर्विभावना चेति द्वयोरेव साधकबाधकप्रमाणाभावात् सन्देहसङ्करः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३९॥

(१) विचिन्त्येति । विचार्येत्यर्थः । सकातरमाह—अहो इति । अहो इति विषादे 'अहो धिगर्थे शोके च करुणार्थविषादयोः' इति मेदिनी । प्रियां शकुन्तलां समासाद्य-प्राप्य, कालहरणं-स्वाभिमतार्थसाधने रमणे कालक्षेपम्, कुर्वता मया, असम्यक्-असाधु, चेष्टितम्-अनुष्ठितम्, कालहरणमकृत्वा सहसैव रमणकरणं मे समुचितमासीदित्याशयः । अतस्तच्चेष्टितं धिगित्यन्वयः ।

अत्र वितर्कव्यञ्जकवाक्योपन्यासात् रूपं नाम गर्भसन्ध्यङ्गम् । यदुक्तं दर्पणे—'रूपं वाक्यं वितर्कवत्' । इति । उदाहृतं च तत्र; यथा रत्नावल्यां राजा—

'मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यञ्च तथापि मे ।
कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ?' इति ॥

अत्र राज्ञो वितर्कयोगात् रूपम् । तदिति-तत्-तस्मात्, इदानीम्-अधुना, मूढहृदयं प्रियायाः-प्रत्यक्षं गणयतीति श्लोकस्थेनान्वयः ।

अनुशयेनाह-रह इति । सुष्ठु वदनं यस्याः सा सुवदना-सुन्दरमुखी शकुन्तला, सर्वदैव तन्मुखानुध्यानादेतदुक्तम्, यदि-पुनरपि, रहः-विविक्ते स्थाने प्रत्यासत्तिं-मम सन्निकर्षं 'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः' इत्यमरः । यास्यति-प्राप्स्यति, पुनरपि यदि मे प्रियतमया सह रहसि साक्षात्कारो भवेदिति सङ्कलितार्थः, तदा कालं न हास्यामि न परिहरिष्यामि, विना रमणं कालक्षेपं न करिष्यामीत्यर्थः । एतेनास्य वैवाहिकविधिप्रमत्तत्वं नाशङ्कनीयम्, गान्धर्वविवाहस्य काला-

(१) (सोच कर) हाय ! मैंने प्रियतमा को पाकर भी व्यर्थ समय बिता कर अच्छा नहीं किया । इसी से इस समय :—

यदि वह सुन्दर मुखवाली शकुन्तला फिर मुझे एकान्त में मिल जाय, तो मैं अब समय

इति क्लिष्टं विघ्नैर्गणयति च मे मूढहृदयं
प्रियायाः प्रत्यक्षं किमपि च तथा कातरमिव ॥ ४० ॥

[नेपथ्ये]

भो भो राजन् ! (१) ।

सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते — प्रारब्धे

नपेक्षत्वश्रुतेः तथा चोक्तं, रत्नमालायाम्—

प्राजापत्यब्राह्मदेवार्षसंज्ञाः कालेषूक्तेष्वेव कार्या विवाहाः ।
गान्धर्वाख्यो राक्षसश्चासुरश्च पैशाचो वा सर्वकाले विधेया ॥ इति ॥

हि—यस्मात्, विषयाः—इन्द्रियार्थाः भोगपदार्था इति यावत् । प्रकृत्या—स्वभावेन दुरवापाः—दुर्लभाः, तथा च ते प्राप्तिमात्रेण भोक्तव्या इत्याशयः । विघ्नैः—दुर्दैवैः, गौतम्या आगमनरूपैः प्रत्यूहैरित्यर्थः, क्लिष्टं—लिप्सितार्थालाभेन व्याहतम्, मे—मम मूढहृदयं—कर्त्तव्यताज्ञानशून्यं चेतः, इदानीं प्रियाया असन्निधावावस्थायाम्, इति-इत्थं, गणयति—विचारयति; च—परञ्च, प्रियायाः—प्रेयस्याः शकुन्तलायाः प्रत्यक्षं-समक्षम्; तथा—तादृशं किमपि—अनिर्वचनीयम्, कातरमिव—कर्त्तव्यविक्लवमिव, आसीदिति पूरणीयम्; कर्त्तव्यमुल्लङ्घ्य कालहरणादिति भावः ।

अत्र प्रथमचरणद्वये सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । कातरमिवेत्युत्प्रेक्षा । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४० ॥

(१) अथाङ्कोपसंहाराय राज्ञो गमनावकाशं सम्पादयितुं तस्य रसान्तरप्रवेश-मवतारयति—नेपथ्ये इति । तपस्विनामुक्तिरियम् ः सम्बोधनेन सम्भ्रमो द्योत्यते ।

सम्भ्रमहेतुमाह—सायन्तने । इति । सायंभवः सायन्तनः तस्मिन् सायन्तने-सायं निर्वर्त्तनीये 'सायं चिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' [पा० ४।३।२३] इति सायंशब्दात् ट्यप्रत्यये तस्य तुडागमश्च, सवनकर्मणि—यजनकर्मणि, अग्निहोत्रे इत्यर्थः, 'सवनं यजने स्नाने' इति विश्वः, अग्निहोत्रस्य सायन्तनत्वे श्रुतिराह— 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति । यदग्नये च प्रजापतये सायं प्रातर्जुहोति' इति ।

व्यर्थ नहीं जाने दूंगा । क्योंकि विषयभोग स्वभाव से ही दुर्लभ होते हैं, प्राप्त होते ही इनका भोग कर लेना चाहिये । विघ्नवश दुःखित मेरा मूढ मन अब इस तरह की विवेचना कर रहा है, किन्तु प्रिया के सामने यह न मालूम कैसा कातर सरीखा हो गया था ॥ ४० ॥ (नेपथ्य में)

(१) महाराज ! महाराज !!

सन्ध्यासमय का यज्ञ प्रारम्भ होते ही अग्निमयी यज्ञवेदी के चारों ओर सन्ध्या-

वेदिं हुताशनवतीं परितः प्रकीर्णाः ।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः
सन्ध्याभ्रकूटकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥ ४१ ॥ कच्चा मांस

सम्प्रवृत्ते–प्रारब्धे सति, भवत्सन्निधानत्रुटयेति भावः, भूतप्रत्ययेन प्रारब्धकर्मणो विघाताशंकया तपस्विनां विषादातिशयो व्यज्यते । हुताशनवतीम्–अग्निहोत्राग्निव्याप्ताम्, इदं छायोपलब्ध्यर्थमुक्तम् । वेदिं परितः–यज्ञभूमेश्चतुर्षु पार्श्वेषु इत्यर्थः । 'अभितः परितः समया' इति परितःशब्दयोगे द्वितीया । प्रकीर्णाः–व्याप्ताः, 'प्रयस्ताः प्रवृत्ता' इति पाठे स एवार्थः, अत एव बहुधा—नानाविधोपद्रवकरणेन भयं—भीतिम्, आदधानाः–उत्पादयन्त्यः, एतेन स्वेषां तत्प्रतीकाराक्षमत्वं ध्वन्यते, सन्ध्याभ्रकूटवत्—सायंतनजलदस्तोमवत्, सन्ध्यापदेन तत्काले सूर्यरश्मिसम्पर्काद् रक्तत्वम् अभ्रपदेन कृष्णत्वं च द्योत्यते । कपिशाः—कृष्णरक्ताः, राक्षसानां स्वाभाविककृष्णवर्णत्वात् केशश्मश्रूवादीनां रूक्षतया रक्तवर्णत्वाच्च छायासु तत्त्वमुपचरितम्, पिशिताशनानां–राक्षसानाम्, छायाः–प्रतिबिम्बानि, 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपम्' इत्यमरः । चरन्ति–इतस्ततो भ्रमन्ति गतागतं कुर्वन्तीति यावत् । राक्षसानां मायावित्वाद्विशेषतो गगनचरत्वाच्च तेषां दर्शनासम्भवेऽपि तच्छायादर्शनसम्भवात् छायाश्चरन्तीत्युक्तम् ।

तथा च मायाकृतादृश्यशरीरा अपि राक्षसा अग्निहोत्राग्निसन्निकर्षात् पतन्तीभिश्छायाभिरनुमीयन्तेऽत एव तेषां विनाशनायाशु यत्नः करणीय इति सत्वरमागम्यतामिति भावः ।

अत्र सन्ध्याभ्रकूटकपिशा इति लुप्तोपमा सा चेह समासगता । तथा परितः प्रकीर्णा अत एव भयमादधाना इति हेतुहेतुमद्भावात्काव्यलिङ्गम् । अनयोः संसृष्टिः । परिप्रेति पिशापिशीति छेकवृत्तिश्रुत्यनुप्रासाः । अत्र च भयानको रसः । पिशिताशनच्छायालोकनं विभावः । भयं स्थायीभावः । पद्यस्थभयशब्देन त्रासलक्षणो व्यभिचारी भावः । उद्दीपनविभावादिकमनुसन्धेयम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥४१॥

कालीन मेघसमूह की तरह पिंगल (काले और पीले) वर्ण के भयदायक राक्षसों की विविध प्रकार की छाया चक्कर लगा रही है । (अतः इनको भगाने के लिए आप शीघ्र यहाँ आइए) ॥ ४१ ॥

राजा—[आकर्ण्य सावष्टम्भम् ।] भो भोस्तपस्विनः ! मा भैष्ट मा भैष्ट, अयमहमागत एव (१)

[इति निष्क्रान्तः ।]

इति तृतीयोऽङ्कः ॥ ३ ॥

---

(१) राजेति । आकर्ण्य—नेपथ्योत्थं वाक्यमिति शेषः । सावष्टम्भम्; अवष्टम्भेन—और्जित्येन सह वर्त्तत इति तद्यथा, स्यात्तथा, सधैर्यमित्यर्थः । अनेन राज्ञो नायकस्य धीरोदात्तत्वं सूच्यते । मा भैष्ट-राक्षसेभ्यो भयं न कार्यम्, संभ्रमे द्विर्वचनम् । अयमहं साहाय्यकारी राजा दुष्यन्तः, आगत एव-आगच्छाम्येव राक्षसवधायेति तात्पर्यम् । अत्र वर्तमाने क्तविधानादागमनस्य शैघ्र्यम् द्योत्यते । अत्र च त्रोटकं नाम गर्भसन्धेरंगं संदर्शितम् । तल्लक्षणं यथा दर्पणे—'त्रोटनं पुनः, संरब्धवाक्' इति ।

अत्र राज्ञो युद्धवीरत्वं च ध्वन्यत इति वीरो रसः । तेन च नायकस्य पूर्वं प्ररूढायाः रतेः किञ्चित्तिरोधानमिति द्योत्यते ।

इति किशोरकेलिव्याख्यायां तृतीयोऽङ्कः—समाप्तः ।

---

(१) (सुनकर बड़े तेज के साथ) हे हे तपस्वियो ! आप लोग भयभीत न हों, डरें नहीं । यह मैं आ गया ।

(यह कहता हुआ राजा जाता है)

इति तृतीयोऽङ्कः

चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशतः कुसुमावचयमभिनयन्त्यौ सख्यौ । (१)]

अनसूया—हला प्रियंवदे ! यद्यपि गान्धर्वेण विवाहविधिना निर्वृत्त-कल्याणा प्रियसखी शकुन्तला अनुरूपभर्तृभागिनी संवृत्ता, तथापि मे न निर्वृतं हृदयम (२) । (हला पिअम्वदे ! जइ वि गन्धव्वेण विवाहविहिणा णिव्वु-

---

वधूवराणां सममानसानां परस्परं प्रेमदुकूलसूत्रम् ।
प्रश्नाति यो लोकसिसृक्षया स प्रजापतिर्भावुकदोऽत्र भूयात् ।

(१) अथ पूर्वोत्तरकथां संघटयितुं पूर्ववर्णितयोः सख्योः प्रवेशमाह—तत इति। कुसुमानामवचयं–वृक्षेभ्यश्चयनम्, अभिनयन्त्यौ–रूपयन्त्यौ, सख्यौ–अनसूयाप्रियं-वदे प्रविशत इत्यन्वयः ।

अस्मिन्नाटकेयमेवाङ्कः सर्वेष्वप्यङ्केषु प्रकृष्टतर इति सार्वजनीनप्रवादः । श्रूयते-

कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशकुन्तलम् ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥' इति ।
'यास्यत्यद्ये'ति तत्रापि श्लोकः सर्वमनोहरः' इति च ।

पद्यमिदं केचिदेवं पठन्ति । तद्यथा—

'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठं तत्रापि च शकुन्तलम् ।
तत्र रम्यश्चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ।' इति ॥

अत्राङ्के शकुन्तलायाः नाटकनायिकायाः पतिगृहप्रस्थानस्य वर्णिततया स एव भागः प्रधानतरः, कुसुमावचयदुर्वासःशापमोक्षणादिस्तत्पूर्वभागतया दर्शितोऽपि तदङ्गत्वेन गौण एव । तस्मादत्र प्रायेण करुणो रसः । स च नायिकागतरतेरुद्बोधन-दर्शनेन शृङ्गारस्याङ्गभूतस्तत्र तत्र दर्शयिष्यते । किञ्च दुहितृवात्सल्यादीनि लोक-वृत्तानि अपि यथास्थानं प्रकाशयिष्यन्ते ।

(२) अनसूयेति । अथ स्नेहप्रकर्षात् सततहृदयपरवर्त्तिन्याः प्रियसख्याः शकुन्तलायाः योगक्षेमपर्यालोचनायानसूया प्रियंवदया सहालापमारभते–हलेति । गान्धर्वेण–वधूवरयोः परस्पराङ्गीकारपूर्वकेण 'गान्धर्वसमयान्मिथ' इति याज्ञ-

---

(१) (फूल चुनने का अभिनय करती हुई दो सखियों का प्रवेश) ।

(२) अनसूया—सखी प्रियंवदा ! यद्यपि प्रिय सखी शकुन्तला का गान्धर्व-विवाह हो जाना अच्छा ही हुआ; और उसने अपने अनुरूप पति भी पाया है, फिर भी मेरा मन प्रसन्न नहीं है ।

त्तकल्लाणा पिअसही सउन्तला अणुरूवभत्तिभाइणी संवुत्ता, तहवि मे ण णिव्विदं हिअअं ।)

प्रियंवदा—कथमिव ? । (१) (कहं विअ ? ।)

अन—अद्य (२) स राजर्षिः इष्टिपरिसमाप्त्या ऋषिभिर्विसर्जितः आत्मनो नगरं प्रविश्य अन्तःपुरसमागमादिमं स्मरति जनं न वेति । (अज्ज सो

वत्क्ष्योक्तप्रकारेणेति यावत्; विवाहविधिना—परिणयानुष्ठानेन, निर्वृत्तं—निष्पन्नं कल्याणं—मङ्गलं मनोरथसिद्धिर्यस्याः सा, जातविवाहमङ्गला इत्यर्थः । 'कल्याणं मङ्गलेऽपि च' इति विश्वः । एतेन निरतिशयपरस्परानुरागो द्योत्यते । राज्ञः सर्वदा धर्मापेक्षित्वं च सूचितम् । प्रियसखी शकुन्तलेत्यनेन स्नेहप्रकर्षादिकं सूच्यते । अनुरूपं—योग्यं भर्त्तारं—पतिं भजत इत्यनुरूपभर्तृभागिनी—योग्यपतिसङ्गता, संवृत्ता जाता; नन्वत्र विवाहवर्णनं तु न कृतं कथमिति चेत्, न 'विवाहभोजनम्' इत्यादिना विवाहवर्णनस्य प्रतिषिद्धत्वात् तथाऽपि—शकुन्तलायास्तादृशभर्तृभागिनीत्वेऽपीत्यर्थः, निर्वृतं—सुखितं, सुस्थीभूतमिति यावत्, 'निर्वृतिः सुस्थितावस्था गमने च सुखे स्त्रियाम्' इति मेदिनी ।

इत आरभ्य सप्तमाङ्कोपक्षिप्तात् शकुन्तलाप्रत्यभिज्ञानात् प्राग् अर्थसञ्चय शकुन्तलाविस्मरणरूपविघ्नालिङ्गित इति षष्ठसमाप्तिपर्यन्तो विमर्शसन्धिः । यथा दर्पणे—'यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भितोऽधिकः ।

शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः ।'

तथा चात्र शकुन्तलादुष्यन्तयोर्गान्धर्वविवाहनिष्पत्त्याऽपायाभावान्निर्द्धारितैकान्तफलप्राप्तिरूपा नियताप्तिर्नाम तुरीया कार्यावस्था निबद्धा । यथोक्तं तत्रैव—

'अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता' इति ॥

विमर्शसन्धेरपवादादीनि त्रयोदशाङ्गानि तत्र तत्र प्रदर्शयिष्यन्ते । चतुर्थादिपञ्चमाङ्कमध्ये गर्भसन्धिरुक्त इति प्राचीनाः, तच्चिन्त्यम्, पूर्वोक्तदिशा दर्पणकृता विमर्शसन्धेः समन्वितत्वात् अलं प्राचीनोपरि कटाक्षपातेन ।

(१) प्रियमिति । कथमिव, न निर्वृतं ते हृदयमिति शेषः ।

(२) अनेति । तमेवोपन्यस्यति—अद्य इति । राजर्षिः—दुष्यन्तः, इष्टिपरिसमाप्त्या—यागसमापनेन हेतुना, विसर्जितः—राजधानीगमनाय अनुज्ञातः विसर्जित इत्यनेन राज्ञः पुनस्तपोवनागमने हेतुर्नास्तीति सूच्यते । ननु ऋषिभिर्विसर्जितोऽपि शकुन्तलायामनुरागातिरेकात् यथाप्रतिज्ञातमनुतिष्ठेदित्यत्राह—आत्मन इत्यादि ।

(१) प्रियंवदा—क्यों ?

(२) अनसूया—यज्ञ समाप्त हो जाने के कारण, ऋषियों ने आज उन राजर्षि को

राएसी इट्ठिपरिसमत्तीए इसिहिं विसज्जिदो अत्तणो णअरं पविसिअ अन्तेउरसमागमादो इमं जणं सुमरेदि ण वेत्ति ।)

प्रियं—अत्र तावत् विश्वस्ता भव । नहि तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरहिणो भवन्ति । एतावत् पुनश्चिन्तनीयम्; तातस्तीर्थयात्रातः प्रतिनिवृत्तः इमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति (१) । (एत्थ दाव वीसत्था होहि । णहि तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरहिणो होन्ति । एतिअं उण

आत्मनः—स्वस्य, नगरं प्रविश्य—राजधानीं गत्वा, अन्तःपुरसमागमात्—अन्तःपुरस्थस्त्रीसम्भोगात्, इमं जनं—शकुन्तलाम्, स्मरति न वा परिग्रहबहुत्वेऽपि रत्यादिसमये न स्मरति वा. राजकार्येण अन्तःपुरसमागमनेन च न स्मरतीत्यर्थः, अंतःपुरस्थरमणीसुखलाभे अन्यरमण्या विस्मरणस्यैव सम्भवादिति भावः । इत्यतो मे हृदयं न निर्वृतमिति सम्बन्धः। अनेन वक्ष्यमाणदुर्वाससः शापेन राज्ञो नायिकाविस्मरणं सूच्यते ।

अत्र सखीगता वितर्कचिन्ताविषादादयो द्योत्यन्ते, तत्परिपुष्टा शकुन्तलाविषया रतिः प्राधान्येन च ध्वन्यते ।

(१) प्रियमिति । न विस्मरिष्यतीत्याह—अत्रेति । अत्र—राज्ञः शकुन्तलास्मृतौ विश्वस्ता—निःसन्देहा भव, राजा सर्वमेवाश्रत्यमितिवृत्तं स्मृत्वा शकुन्तलामचिरेण स्वान्तःपुरं नेष्यत्येवेति भावः । तत्र हेतुमाह—न हीति । हि—यतः, तादृशाः—दुष्यन्तसदृशाः तदाकृतिसमाना इति यावत्, आकृतिविशेषाः—सामुद्रिकोक्तगुणविशिष्टा आकृतयः, गुणैर्विरहोऽस्त्येषामिति ते गुणैर्विरहिणः—निर्गुणा इत्यर्थः, न भवन्ति—किन्तु गुणसमानाधिकरणा एव भवन्तीति भावः । यथोक्तम्—'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ती'ति अत एवोक्तम्—'आकारसदृशप्रज्ञ' इति । अत्र सामान्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा । पुनः—किन्तु, एतावत्—एतत्, चिन्तनीयं—विचारणीयम्, संशयास्पदमिति यावत् । तातः—पिता कण्वः, तीर्थयात्रातः—सोमतीर्थादित्यर्थः; प्रतिनिवृत्तः—प्रत्यागतः सन्, इमं वृत्तान्तं—दुष्यन्ताय शकुन्तलाया आत्मसमर्पणसंवादम्

आश्रम से विदा कर दिया है । अब वे अपनी राजधानी में जाकर और अपनी महलोंवाली रानियों से मिलने के बाद, इस बेचारी का स्मरण करते हैं, या नहीं (यही मुझे भय है ।)

(१) प्रियंवदा—तुम इस विषय में विश्वास रखो । क्योंकि दुष्यन्त के समान आकार वाले लोग गुणहीन नहीं होते । लेकिन, मुझे तो यह चिन्ता है; कि पिता कण्व तीर्थयात्रा से वापस आकर और यह समाचार सुनकर न जाने क्या विचार करेंगे ।

चिंतणीअं तादो तीत्थजात्तादो पडिणिउत्तो इमं वुत्तन्तं सुणिअ ण जाणे किं पडिवज्जिस्सदित्ति ।)

अन—यथा मां पृच्छसि, तथा अभिमतं तातस्य (१) । (जधा मं पुच्छसि, तधा अभिमदं तादस्य ।)

प्रियं—कथमिव ? (२) (कधं विअ ? ।)

अन—अनुरूपस्य वरस्य हस्ते कन्यका प्रतिपादनीयेति; अयं तावत् प्रथमः कल्पः । तं यदि दैवं सम्पादयति ननु कृतार्थो गुरुजनः (३) । (अणुरूवस्स वरस्स हत्थे कण्णआ पडिवादणीअत्ति अअं दाव पढमो कप्पो । तं जइ देव्वं सम्पादेदि, णं कअत्थो गुरुअणो ।

श्रुत्वा, किं प्रतिपत्स्यते—किं कल्पयिष्यते, युक्तत्वेन तुष्टोऽयुक्तत्वेन रुष्टो वा भविष्यतीत्यर्थः । अत्र वितर्कादयो भावाः ।

(१) अनेति । तच्च चिन्तनीयमित्याह—यथेति यथा—यादृशं, मां पृच्छसि—'इमं वृत्तान्तं श्रुत्वा तातः किं प्रतिपत्स्यते' इति मां जिज्ञाससे, तथा—तादृशं वृत्तमेव, राज्ञे दुष्यन्तलक्षणाय जनाय आत्मसमर्पणमेवेत्यर्थः, तातस्य—पितुः कण्वस्य, अभिमतं—सम्मतम् । दुष्यन्ताय शकुन्तलाया आत्मसमर्पणसम्बन्धे विचार्यमाणे तातस्यानुमतमेव भवेदित्यर्थः । 'क्तस्य च वर्त्तमाने' [२।३।६७] इति कर्त्तरि षष्ठी ।

(२) प्रियमिति । कथमिव, तातस्याभिमतमिति सम्बन्धः ।

(३) अनेति । अनुरूपस्य—योग्यस्य, वरस्य—जामातुः, 'वरो जामातरि' इति मेदिनी । कन्यका—न तु युवतिः, प्रतिपादनीया—समर्पणीया, इति प्रथमः-मुख्यः, कल्पः—विधिः, 'कल्पः शास्त्रे विधौ न्याये संवर्त्ते ब्रह्मणो दिने' इति मेदिनी । 'मुख्यः स्यात् प्रथमः कल्पोऽनुकल्पस्तु ततोऽधमः' इत्यमरः । तं—प्रथमं कल्पं, यदि दैवं-भागधेयं कर्त्तृ, सम्पादयति-पुरुषकारं विना घटयति, नन्विति निश्चये, गुरुजनः, पित्रादिः, अर्थात् कण्वः, कृतार्थः-कृतकृत्यः, अनायासेनाभिलषितावाप्तेरिति भावः । अतोऽयुक्तिकत्वेन तातो रुष्टो न भविष्यति परं च युक्तियुक्तत्वेन तुष्ट एव भविष्यतीत्यत्र सन्देहो न कर्त्तव्य इति भावः ।

---

(१) अनसूया—यदि इमसे पूछो, तो पिताजी भी राजी हो जायेंगे ।

(२) प्रियंवदा—कैसे ?

(३) अनसूया—'कन्या को अनुरूप वर के हाथ सौंपना चाहिए' यह पहला विचार होता है । फिर यदि दैव स्वयं यह काम बना दे, तो उसके गुरुजन यों ही कृतकृत्य हो गये ।

प्रियं—एवमेतत् । [पुष्पभाजनं विलोक्य] सखि ! अवचितानि खलु बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि (१) । (एवण्णेदं । सहि ! अवचिदाइं क्खु बलिकम्मपज्जत्ताइं कुसुमाइं ।)

अन—ननु शकुन्तलाया अपि सौभाग्यदेवता अर्चितव्याः तदपराण्यपि अवचिनुवः (२) (णं सउन्तलाए वि सोहग्गदेवदाओ अच्चिदव्वाओ, ता अवराइं वि अवचिणुह्म ।

प्रियं—युज्यते (३) । [इति तदेव कर्माभिनयतः] (जुज्जदि) !

[नेपथ्ये]

अयमहं भोः ! (४) ।

---

(१) प्रियमिति । अनसूयाकथनप्रकारेण मुक्तसंशया प्रियंवदा तद्वचनमनुमोदते-एवमिति । यत्त्वया निश्चितं तत्तथ्यमेवेत्यर्थः । पुष्पभाजनम्-अवचितपुष्पनिधानं, करधृतं पात्रमित्यर्थः, अवचितानि पुष्पाणि कियन्ति सन्तीति विलोक्य दृष्ट्वा, बलिकर्मपर्याप्तानि-नित्यपूजोपहारकर्मोपयुक्तानि, अवचितानि लूनानि, तस्माद् विशेषे प्रयोजनाभावात्तद्वच्छाव इति भावः । मुनीनां यावदर्थपरिग्रहत्वेन ऊनवदतिरेकस्यापि दोषत्वात् ।

(२) अनेति । नन्विति परमताक्षेपे सम्बोधने वा, सौभाग्यदेवताः-भर्तृसुभगत्वसम्पादिका मङ्गलचण्डिकादयो देवताः, ता हि पूजिता लोकस्य सुभगत्वादि-सौभाग्यं प्रतिपादयन्तीति सार्वत्रिकोऽयं नारीजनसमयः । अपराण्यपि-कुसुमानि अवचिनुवः- लुनीवः । केचित्तु सौभाग्यदेवतापदेन कामदेवादिरूपमर्थं कुर्वन्ति ।

(३) प्रियमिति । यथार्थवचनश्रवणादाह-युज्यत इति । त्वद्वचनमिति शेषः, तदेव-पुष्पावचयरूपमेव, अभिनयतः-आङ्गिकव्यापारेण दर्शयतः ।

(४) अथ दुष्यन्तस्य शकुन्तलाविस्मरणकारणसम्पादनायारभते-नेपथ्ये इति । अयमहं भो इति, आगत इति शेषः । कुलपतेः कण्वस्याश्रममासाद्य तत्र कमप्यनवलोक्य उटजद्वारमागम्यातिथ्यं परिग्रहीतुमिच्छतो दुर्वाससः उक्तिरियम् ।

---

(१) प्रियंवदा—ठीक है । (फूल की डाली देख कर) पूजा के लिये पर्याप्त फूल हो गये ।

(२) अनसूया—शकुन्तला के सौभाग्यदेवता की भी तो पूजा करनी है, इसलिये और फूल तोड़ लें ।

(३) प्रियंवदा—ठीक है (यह कहकर पुनः फूल तोड़ने लग जाती है) ।

(नेपथ्य में)

(४) कोई है, देखो, यह मैं (अतिथि दुर्वासा) आकर द्वारपर खड़ा हूँ ।

अन—[कर्णं दत्त्वा] सखि ! अतिथिना इव निवेदितम् (१) । (सहि ! अदिधिणा विअ णिवेदिदं ।)

प्रियं—ननु उटजे सन्निहिता शकुन्तला (२) । (णं उडए सण्णिहिदा सउन्तला)

अन—आम् , अद्य पुनरसन्निहिता हृदयेन । तेन हि भवतु. एतावद्भिः कुसुमैः प्रयोजनम् (३) ! (आं अज्ज उण असण्णिहिदा हिअएण । तेन हि भोदु, एत्तिकेहिं कुसुमेहिं पओअणं ।) [इति प्रस्थिते]

[पुनर्नेपथ्ये]

आः, कथमतिथिं मां परिभवसि (४) ।

---

(१) अनेति । अनसूया तादृशवचनं श्रुत्वा प्रियंवदामाह—सखीति । अतिथिना—आगन्तुना इवेति प्रतीतौ, निवेदितं—विज्ञापितम्, यथाऽतिथिरेव निवेदयतीत्यर्थः । तथा च आवयोर्मध्ये एका तत्र गच्छत्विस्याशयः ।

(२) प्रियमिति । उटजे-पर्णकुटीरे, सन्निहिता-उपस्थिता, अस्तीत्यर्थः । सुतरां सैवातिथेः सपर्यां करिष्यतीत्यतो नावयोः कस्याश्चित्तत्र गमनमावश्यकमित्याशयः ।

(३) अन इति । आमिति स्मरणे, 'आं ज्ञाने निश्चयस्मृत्योः' इति मेदिनी । पुनरर्थे । हृदयेन असन्निहिता-हृदयशून्या इत्यर्थः, उटजगतशरीरा अपि भर्तृगतहृदया इति यावत् । तथा च सा किमपि बोद्धुं न शक्नुयादित्याशयः । तेन हि—उटजस्य जनशून्यत्वेनैव हेतुना, भवतु-अस्तु, अस्य प्रयोजनपदेन साकमन्वयः । एतावद्भिः-इयद्भिरेव, कुसुमैः-पुष्पैः, प्रयोजनं-बलिकर्म सौभाग्यदेवताभ्यर्चनरूपमुद्देश्यम्, एतैरेव पुष्पैः प्रयोजनं सिद्धं भवत्वित्यर्थः ।

(४) पुनरिति । आः इति कोपसूचकमव्ययम्, 'आस्तु स्यात् कोपपीडयोः' इत्यमरः । अतिथिम्—आगन्तुकम्, अनेन तत्रानादरे प्रत्यूहो भवेदिति ध्वन्यते । मां—दुर्वाससम्, अस्मदा दुर्वाससः तस्याभिमानं सूच्यते । परिभवसि—उपेक्षितवचनत्वात्तिरस्क्रियसे, अस्यानादरस्य फलं प्राप्स्यस्येवेति शेषः । तथा चोक्तम्—

---

(१) अनसूया—(कान देकर) जान पड़ता है कि कोई अतिथि बुला रहा है ।

(२) प्रियंवदा—कुटिया में शकुन्तला तो है ही ।

(३) अनसूया—है तो सही, पर आज वह मन से वहाँ नहीं है । इसलिये अब रहने दो, इतने ही फूलों से काम चल जायगा । (जाने लगती हैं)

(फिर नेपथ्य में)

(४) ओह ! तू मुझ अतिथि का निरादर कर रही है ?

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोनिधिं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥ १ ॥

'जनो हि यः कर्म करोति यादृशं स सर्वदा तादृशमश्नुते फलम् ॥' इति ॥

परिभवफलस्यात्र स्वरूपमाह—विचिन्तयन्तीति । नास्ति अन्यस्मिन् दुष्यन्तातिरिक्ते विषये मानसं—मनो यस्याः सा तथोक्ता—एकाग्रचित्ता इत्यर्थः । त्वम्, यं-पुरुषम्, विचिन्तयन्ती विशेषेण विविधं भावयन्ती सती, उपस्थितम्—आतिथ्यलाभाय स्वयमेव समक्षमागतम्, न तु दूरस्थितं येनापराधो न भवेदिति भावः । अनेनापराधस्य गौरवं प्रख्याप्यते । तपोनिधिम्—तपांसि-ब्रह्मचर्यादीनि धर्मा वा निधीयन्ते—धार्यन्तेऽस्मिन्निति तादृशं—तपसामाधारभूतमित्यर्थः, अनेनात्मनोऽवश्याभ्यर्हणीयत्वं निग्रहानुग्रहक्षमत्वम्, अनादरे तु दोषाधिकत्वं च व्यज्यते । 'अतिथिः किल पूजार्हः प्राकृतोऽपि विजानता' इत्यतिथिमात्रस्य पूज्यत्वे, किं पुनस्तत्र तपोनिधेरिति भावः । मां—यं कमपि न किन्तु सुलभकोपं दुर्वाससमित्यर्थः । न वेत्सि मया बोध्यमानाऽपि न जानासि, यद्वा 'बोधित' इत्यस्य लिङ्गविपरिणामेन 'बोधिता' इति सम्बन्धः । प्रमत्तः—प्रकृष्टो मत्तः, असावधानो जनः, 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । प्रथमं—पूर्वं कृताम्—अभिहिताम्, कथां—वाचमिव, सः—जनः, बोधितोऽपि—तत्तल्लिङ्गेन स्मारितोऽपि, अपिना स्वयं तु न स्मरिष्यतीति किं पुनर्वक्तव्यमिति गम्यते । त्वां-शकुन्तलां, न स्मरिष्यति—कृतसम्पर्कतया नानुभविष्यति । ममानादरकरणस्येदमेव फलं भुज्यतामित्याशयः ॥

अत्र विचिन्तनादेरज्ञानादिहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् । तपोनिधिमिति परिकरः, उत्तरार्द्धे पूर्णोपमा ।

विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा' इत्यादिवचनेन शापोत्सर्गयोर्निषेधो विष्कम्भातिरिक्तस्थलेषु बोध्यः । तेन च 'शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः' इति दर्पणकृदाद्युक्तविमर्शसन्धिलक्षणमपि सङ्गच्छते । स्वतो विस्मरणवर्णने रसभङ्गः स्यादिति तद्धेतुतया शापकल्पनं रसपरिपोषार्थमिति बोध्यम् । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ १ ॥

एकमात्र जिसका ध्यान करती हुई तू आश्रम पर आये मुझ तपोनिधि को जानती तक नहीं, अतएव जैसे कोई प्रमादी मनुष्य अपनी पहले की हुई बात को भूल जाता है। उसी तरह बार-बार याद दिलाने पर भी वह (दुष्यन्त) तेरा स्मरण नहीं करेगा ॥ १ ॥

प्रियं—हा धिक् हा धिक्! तदेव संवृत्तम्, यन्मया चिन्तितम्। कस्मिन्नपि पूजार्हे अपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला (१)। (हद्धी हद्धी! तं ज्जेव संवुत्तं, जं मए चिन्तिदं। कस्सिंपि पूआरिहे अवरद्धा सुण्णहिअआ सउन्तला।)

अन—[पुरोऽवलोक्य] न खलु यस्मिन् कस्मिन्नपि, एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिः, तथा शप्त्वा अविरलपादत्वरया गत्या प्रतिनिवृत्तः(२) (ण क्खु जस्सिं कस्सिं पि, एसो दुव्वासा सुलहकोवो महेसी, तथा सविअ अविरलपादतुवराए गदीए पडिणिउत्तो।

प्रियं—कोऽन्यो हुतवहात् प्रभवति दग्धुम्। तद् गच्छ, पादयोः पतित्वा निवर्त्तय। यावदस्या अहमपि अर्घोदकमुपकल्पयामि(३)। (को

(१) प्रियमिति। शापवचनमाकर्ण्य सखेदमाह-हा धिगिति। हा धिगिति निर्वेदविषादयोः। वीप्सया तयोरतिशयो द्योत्यते। यन्मया चिन्तितं-वितर्कितम्, तदेव-वितर्कितमेव; संवृत्तं-सञ्जातम्, पूजार्हे-पूजनीये, अपराद्धा-पूजोल्लंघनेन कृतापराधा, शून्यहृदया-हृदयस्य पतिगतत्वात्तद्विरहिता। किमत्र कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः।

(२) अनेति। पुरः-अग्रतः, 'स्यात् पुरः पुरतोऽग्रतः' इत्यमरः। अवलोक्य-शप्तारं दुर्वाससं दृष्ट्वा, यस्मिन् कस्मिन्नपि सामान्यजने, तुच्छजने इत्यर्थः, न खलु-नैव अपराद्धा शकुन्तलेति पूर्वेण सम्बन्धः। तर्हि कस्मिन्नित्यत्राह-एष इति। एषः-पुरो गतः, सुलभः-स्वाभाविकः कोपो यस्य स; सुलभकोपः-दुर्वासाः 'शङ्करस्यांश' इति प्रचण्डकोपः इत्यर्थः। महर्षिः-महामुनिः, दुर्वासाः-स्वनामख्यात इत्यर्थः। तथा-पूर्वोक्तप्रकारेण, 'विचिन्तयन्ती' इत्यादिरूपेणेत्यर्थः। शप्त्वा—अभिसम्पातं कृत्वा, अविरलपादत्वरया—अविरलाः—घनाः पादाः—पादन्यासाः यस्यां सा तथाभूता त्वरा यस्यां सा तया, गत्या—गमनेन, एवंगतिः क्रोधानुभावः, प्रतिनिवृत्तः—आश्रमात् पराङ्मुखो भूत्वा प्रस्थितः।

(३) प्रियमिति। अथ दुर्वाससः एवैवं शापे शक्तिरिति दृष्टान्तमुखेन द्रढयति—क इति। हुतवहात्—हुतं—हव्यम्, घृतादिकं द्रव्यमिति यावत्। तस्य वह इति तस्मादिति विग्रहः, अग्नेरित्यर्थः। अन्ययोगे, पञ्चमी। अन्यः—अपरः कः पदार्थः, दग्धुं

(१) प्रियंवदा—हाय! हाय!! वही हुआ, जो मैंने सोचा था। मालूम होता है कि किसी पूज्य व्यक्ति के साथ शून्यहृदया शकुन्तला कोई अपराध कर चुकी है।

(२) अनसूया—(सामने देखकर) और कोई नहीं, जल्दी नाराज हो जाने वाले ये महर्षि दुर्वासा, इतना बड़ा वज्रपात करके जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते चले जा रहे हैं।

(३) प्रियंवदा—अग्नि के सिवा और कौन किसी को जला सकता है, तुम अभी जाओ,

अण्णो हुदवहादो पहवदि दहिदुं । ता गच्छ वाप्पसुं पडिअ णिउत्तावेहि । जाव से अहं पि अग्घोदअं उपकंपेमि ।)

अन—तथा (१) । (तह ।) [इति निष्क्रान्ता]

प्रियं—[पदान्तरे स्खलितं रूपयन्ती ।] अहो ! आवेगस्खलितया गत्या परिभ्रष्टं मे अग्रहस्तात् पुष्पभाजनम् (२) । (अम्मो ! आवेअक्खलिदीए गदीए परिब्भट्टं मे अग्गहत्थादो पुष्पभाअणं ।) इति पुष्पावचयं रूपयति ।]

प्रभवति—प्रभुर्भवति, न कोऽपीत्यर्थः । यथा हुतवह एव झटिति दग्धुं प्रभवति तथा क्षुद्रादपि दोषात् दुर्वासा एव शप्तुमिति भावः । अत एवात्राप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः, अत्र दृष्टान्तालङ्कार इति केचित् । तथा आवेगविषादादयो भावाः ।

अथ शापमोक्षार्थमारभते;—तदिति गच्छ दुर्वाससः समीपमिति शेषः । तस्य दुर्वाससः सम्बन्धे, उपकल्पयामि—आहरामि ।

(१) अनेति । तथा—त्वत्कथनरूपमेव करोमीत्यर्थः । निष्क्रान्ता दुर्वाससं निवर्त्तयितुमिति भावः ।

(२) प्रियमिति । पदान्तरे—अर्घ्योदकाहरणार्थमुटजगमनाय एकं पदं क्षिप्त्वा अपरपादप्रक्षेपे, स्खलितं—गतिवैलक्षण्यम्, रूपयन्ती—आङ्गिकाभिनयेन दर्शयन्ती । आवेगस्खलितया;—आवेगेन-त्वरया स्खलितया—विपर्यस्तया, गत्या—गमनेन । अग्रहस्तात् हस्ताग्रात्, हस्तस्याग्रमिति विग्रहे कृते आहिताग्न्यादित्वात् अग्रशब्दस्य पूर्वनिपातः, अत्र अग्रश्चासौ हस्तश्चेति कर्मधारये सति अवयवे लक्षणा, यदाह वामनः;—'हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभ्याम्' इति केचित् । पुष्पभाजनं प्रभ्रष्टमित्यनेन दुर्निमित्तत्वं सूचितम् । तच्च दुर्वाससोऽपुनरावृत्त्युपयोगि ।

उनके पैर पकड़ कर उन्हें लौटा लाओ, तब तक मैं भी उनके लिये अर्घोदक तैयार कर लेती हूँ ।

(१) अनसूया—अच्छा, (चली जाती है)

(२) प्रियंवदा—(ठोकर खाकर गिर पड़ती है) ओह ! वेग से चलने के कारण मेरी हथेली से फूल की डलिया गिर पड़ी । (यह कह कर वह फूल बटोरने लग जाती है)

अन—[प्रविश्य] सखि ! शरीरीव कोपः कस्य अनुनयं स गृह्णाति । किञ्च पुनः सः अनुकम्पितो मया (१) । (सहि ! सरीरी विअ कोवो कस्स अणुणअं सो गेह्णदि किञ्च उण सो अणुकंपिदो मए ।

प्रियं—एतदेव तस्मिन् बहुतरम् । तत् कथय कथं त्वया प्रसादितः ? (२) । (एद ज्जेव तस्सिं बहुदरं । ता कघेहि कधं तए पसादिदो ?)

अन—यदा निवर्त्तितुं न इच्छति, तदा पादयोः पतित्वा विज्ञापितो मया, भगवन् ! प्रथममिति प्रेक्ष्य अविज्ञाततपःप्रभावस्य दुहितृजनस्य अयमपराधो भवता मर्षयितव्य इति (३) ! (जदो णिउत्तिदुं ण इच्छदि, तदो पाएसुं पडिअ विण्णविदो मए, भअवं पढमं त्ति पेक्खिअ अविण्णाद-तवप्पहावस्स दुहिदिजणस्स अअं अवराहो भअदा मरिसदव्वो ति ।)

---

(१) अनेति । प्रविश्येत्यनेन हर्षेण सम्भ्रमः सूच्यते । शरीरी-मूर्त्तिमान्, कोपः—क्रोध इव, सः दुर्वासाः, कस्यानुनयं प्रार्थनावाक्यं गृह्णाति; न कस्यापीत्यर्थः, दुष्करोऽस्यानुनय इति भावः । तथापि किञ्चिन्मया साधितमित्याह—किञ्चेति । अनुकम्पितः, अनुकम्पां कृपां कारितः । आदावनुनयस्य दुःसाध्यत्वप्रतिपादनं स्वनैपुण्यप्रदर्शनाय । तथा चातिदुःसाध्यं मया साधितमिति भावः ।

(२) प्रियमिति । एतदेव—अनुकम्पनमेव, तस्मिन् प्रकृतिवक्रे दुर्वाससि, बहुतरं—समधिकं ज्ञेयमिति शेषः, किञ्चिदनुकम्पनस्यैव तस्मिन् दुःशक्यत्वादिति भावः । प्रसादितः—प्रसन्नतामानीतः ।

(३) अनेनेति । निवर्त्तितुम्—आश्रमं प्रत्यावर्तितुम्, एतेन तस्य निवर्त्तनेऽपि मया यत्नः कृत इति सूच्यते । विज्ञापितः—निवेदितः, विज्ञापनप्रकारमाह;—भगवन्निति । भगवन् माहात्म्यवन्, प्रथममिति प्रेक्ष्य आद्यमपराधमिति विविच्य, अविज्ञाततपःप्रभावस्य—न विज्ञातस्तपःप्रभावो येन तस्य, अविदिततपोमहिम्नः, शापं दास्यतीत्याद्यसम्भावयत इति यावत् । दुहितृजनस्य—आत्मजातुल्यायाः शकुन्तलायाः, अयमपराधः—अवैधाचरणजनितो

---

(१) अनसूया—(आकर) मूर्तिमान् कोप की तरह वे भला किसकी बिनती सुनेंगे, फिर भी मैंने उनके हृदय में दया उत्पन्न ही कर दी ।

(२) पियंवदा—उनमें इतना ही कर देना बहुत है । अच्छा बताओ तो तुमने किस तरह उन्हें प्रसन्न किया ?

(३) अनसूया—जब मेरे विनय करने पर भी वे नहीं लौटे, तब मैंने उनके पैरोंको पकड़ कर कहा—'भगवन् ! यह उसका पहला अपराध है, तपस्या के प्रभाव को न समझने वाली एक कन्या के इस अपराध को क्षमा कर दीजिये ।

प्रियं—ततस्ततः (१) ? । (तदो तदो ? ।)

अन—ततस्तेन भणितम्, न मे वचनमन्यथा भवितुमर्हति । किन्तु आभरणाभिज्ञानदर्शनेन अस्याः शापो निवर्त्तिष्यतीति मन्त्रयन्नेवान्तर्हितः (२) । (तदो तेण भणिदं, ण मे वअणं अण्णधा भविदुं अरिहदि । किन्तु आहरणाहिण्णाणदंसणेण से सावो णिउत्तिस्सदि त्ति मन्तअन्तज्जेव अन्तरिदो ।)

प्रियं—शक्यमिदानीं समाश्वसितुम् । अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन आत्मनो नामाङ्कितमंगुलीयकं स्मरणीयमिति शकुन्तलाया हस्ते स्वयमेव परिधापितम् । एष एव तस्मिन् स्वाधीन उपायो भविष्यति (३) ! (सक्कं दाणिं समास्ससिदुं । अत्थि तेण राएसिणा संपत्थिदेण अत्तणो णामाङ्किदं

दोषः, मर्षयितव्यः—क्षन्तव्यः । अयमर्थः—यथा सा कण्वस्य दुहिता तथा तवापि दुहिता चापरिणतवयाः, अत एवाविज्ञाततपःप्रभावा तस्मादस्याः प्रथम एकोऽपराध इति सोढव्यः । न कोऽपि तनयाजनापराधं गणयतीति भावः । 'एकोऽपराधः क्षन्तव्य' इति प्रसिद्धिः । एतेन एवं पुनः शापनिवृत्त्यर्थमुपक्रमो मया कृत इति सूच्यते । अत्र परिहारो नाम नाट्यालङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचितमार्जनम्' इति ।

(१) प्रियमिति । ततस्तत इति श्रवणत्वरां सूचयति ।

(२) अनेति । तेन—दुर्वाससा । अन्यथा—मिथ्या । यथोक्तम्—

'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ।' इति ॥

तर्हि कोऽत्र प्रतीकारः ? इत्यत आह—किन्त्विति । आभरणाभिज्ञानदर्शनेन—अभिज्ञायते अनेनेति अभिज्ञानं—स्मारकम् आभरणरूपं यदभिज्ञानं तस्य दर्शनेन परिणेतुस्तदवलोकनेन, अस्याः—शकुन्तलायाः मन्त्रयन्नेव—आलपन्नेव, अन्तरितः-अन्तर्हितः, न तु गतः, अनेन दुर्वाससो योगप्रभावादीश्वरत्वं दर्शितम् । अनेन पुनर्मेऽनुनयान्तरावकाशो नाभूदिति विषादश्च द्योत्यते ।

(३) प्रियमिति । शक्यमस्माभिरिति शेषः । इदानीं—शापान्तश्रवणे सतीत्यर्थः ।

---

(१) प्रियंवदा—तब क्या हुआ ?

(२) अनसूया—इस पर उन्होंने कहा—'हमारी बात झूठ नहीं हो सकती । परन्तु जब उस (प्रियजन) को कोई अभिज्ञान अलंकरण दिखाया जायगा, उसी समय उसके शापकी निवृत्ति हो जायगी । (उस समय इसका स्मरण हो आयेगा ।) वह कहते कहते वे अन्तर्धान हो गये ।

(३) प्रियंवदा—अब हम धीरज धर सकेंगी । राजर्षि दुष्यन्त जाते समय, अपने

अंगुलीअअं सुमरणीअं त्ति सउन्तलाए हत्थे सअं ज्जेव परिणाविदं । एसो ज्जेव तस्सिं साहीणो उवाओ भविस्सदि ।)

अन—सखि ! एहि दैवकार्यं तावदस्या निवर्त्तयावः (१) । (सहि ! एहि देवकज्ज दाव से णिव्वत्तेह्म ।) [इति परिक्रामतः]

प्रियं—[अवलोक्य ।] अनसूये ! प्रेक्षस्व तावत्, वामहस्तविनिहितवदना आलिखितेव प्रियसखी तद्गतया चिन्तया आत्मानमपि न विभावयति, किं पुनरागन्तुकम् (२) । (अणसूए ! पेक्ख दाव, वामहत्थविणिहिदवअणा आलिहिदा पिअसही तग्गदाए चिन्ताए अत्ताणं पि ण विभावेदि, किं उण आगन्तुअं ।)

समाश्वसितुम्—आश्वासं—सम्यगवाप्तुम् । राजर्षिणा—दुष्यन्तेन, सम्प्रस्थितेन—प्रस्थातुमारब्धवता, आदिकर्मणि क्तः । स्मरणीयमिति—स्मरणाय हितमिति कृत्वा । तस्मिन्—शापविमोचने, स्वाधीनः—आत्मायत्तः, अनन्यापेक्ष इत्यर्थः । उपायः—कौशलम् ।

(१) अनेति । अथानन्तरकर्त्तव्यं निरूपयन्त्याह—सखीति । अस्याः शकुन्तलायाः, दैवकार्यं दैवानुकूलाय करणीयम्, मङ्गलचण्डिकादिसौभाग्यदेवतापूजादिकमित्यर्थः, निवर्त्तयावः—समापयावः । परिक्रामतः—पर्णशालागमनाय पादक्षेपं कुरुतः ।

(२) प्रियमिति । अवलोक्य शकुन्तलामिति शेषः । वामहस्तविनिहितवदनावामहस्ते—सव्यपाणौ विनिहितं—विन्यस्तं वदनं यया सा, वामकरार्पितवामकपोला इत्यर्थः । वामहस्तग्रहणं स्त्रीस्वभावात्, अयं चिन्तानुभावः, यथोक्तम्—

हस्ते कपोल आलोलं पथि चक्षुर्मनस्त्वयि' इत्यादि ।
'द्वारि चक्षुरधिपाणि कपोलम् इत्यादि च ॥

आलिखितेव—निश्चलत्वाच्चित्रितेव, अत्र निश्चेतनत्वसाम्यादुत्प्रेक्षा । तद्गतया—

नाम से अंकित एक अँगूठी, स्वयं शकुन्तला के हाथ में स्मरण कराने के लिए ही पहना गये थे । उस अँगूठी का दिखलाना ही शापनिवृत्ति का कारण होगा ।

(१) अनसूया—सखी ! चलो, शकुन्तला का देवकार्य सम्पन्न करें । (यह कह कर दोनों जाती हैं ।)

(२) प्रियंवदा—(देख कर) अनसूया ! देख, प्रियसखी शकुन्तला, बायें हाथ पर गाल रखे एक चित्र की तरह बैठी हुई है और अपने प्रियतम के ध्यान में इतनी मग्न है कि अपने को भी नहीं जान सकती तो फिर किसी आनेवाले के विषय में क्या जानेगी ।

अन—हला ! द्वयोरेवावयोर्हृदये एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु । रक्षणीया खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी (१)। (हला ! दोण्ण ज्जेव्व णो हिअए एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु । रक्खणीआ क्खु पइदिपेलवा पिअसही ।)

प्रियं—कस्तावदुष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति ? (को दाव उण्णोदएण णोमालिअं सिञ्चदि ?) [इत्युभे निष्क्रान्ते] (२)।

भर्तृगतया दुष्यन्तविषयेति यावत्, अनेन विषयनिवृत्तिर्द्योत्यते । आत्मानमपि—स्वमपि, अपिना सर्वदा विभावनीयत्वं व्यज्यते । न विभावयति—नावगच्छति, 'काऽहं किं करोमि कुत्र तिष्ठामि' इत्याद्यात्मविषयकमपि ज्ञानं नास्तीत्यर्थः । किं पुनरागन्तुकम्—अतिथिम्, विभावयतीत्यनुपपद्यते, तज्ज्ञानं दूरमपास्तमित्यर्थः । तथा च अनया समुपस्थितो दुर्वासा न विदित इत्यत्र नाश्चर्यलेशोऽपीति भावः । अत्र नायिकाश्रयाः स्तम्भविषादादयो भावास्तद्दर्शनेन सख्योस्त एव व्यज्यन्ते ।

(१) अनेति । अथ कार्यज्ञा अनसूया कार्यं निरूपयन्त्याह;—हलेति । एषः दुर्वाससोऽभिसम्पातरूपः, वृत्तान्तः—उदन्तः, हृदये तिष्ठतु—एष वृत्तान्तो नान्यस्य कस्यचिद् वक्तव्य इत्यर्थः, प्राप्तकाले लोट् । कुत इत्यत्राह;—रक्षणीयेति । प्रकृत्यास्वभावेनैव पेलवा—कोमला । 'पेलवं कोमलम्' इति त्रिकाण्डशेषः । अनेन दुःखसहनेऽसामर्थ्यं द्योत्यते । अत्र पेलवपदेऽश्लीलत्वदोषः 'पेल' इति भागस्य पुरुष-लिङ्गवाचकत्वात्, तत्र 'कोमल' इति पठित्वा स दोषो वारणीयः, अस्योपरि विस्तृतविचारस्तु प्रागस्माभिरुपदर्शितः । प्रियसखी—शकुन्तला, रक्षणीया खलु अवश्यमेव रक्षणीया तथा च यदि कर्णाकर्णिकया इमं वृत्तान्तं शकुन्तला श्रोष्यति तदा सा सद्य एव विपद्यत इति भावः ।

(२) प्रियमिति । शकुन्तलायाः समीपे एतद्वृत्तान्तनिवेदनमसम्भावितविषयकमेवेति दृष्टान्तमुखेनाह;—कस्तावदिति । उष्णोदकेन—तप्तवारिणा, नवमालिकां—तदाख्यां प्रकृतिपेलवां लताम्, सिञ्चति ?—न कोऽपीत्यर्थः । तथा च उष्णोदकेन नवमालिकायाः सेचनं यथा न सम्भवपरं तथा शकुन्तलायाः सविधे एतद्-वृत्तान्तश्रावणं न सम्भवपरमिति भावः । आवयोर्द्वयोरेव हृदयेऽय वृत्तान्तः विलयमाप्नोत्विति हृदयम् । एवं च—अत्राप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः ।

उभे—अनसूयाप्रियंवदे, निष्क्रान्ते—प्रस्थिते ।

(१) अनसूया—सखी ! यह वृत्तान्त हम दोनों के ही मन में रह जाना चाहिए क्योंकि स्वभाव से कोमल शकुन्तला के जीवन को हमें रखना ही है ।

(२) प्रियंवदा—कौन ऐसा होगा जो गरम जल से नवमालिका को सींचेगा ? (ऐसा कह कर दोनों चली जाती है ।)

शुद्ध [विष्कम्भकः] (१) ।

[ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः कण्वशिष्यः] (२)

शिष्यः—वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासात् प्रतिनिवृत्तेन कण्वेन । तत् प्रकाशं निर्गत्यावलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति । [परिक्रम्यावलोक्य च ।] हन्त ! प्रभाता रजनी । तथाहि (३)—

(१) विष्कम्भक इति । विष्कम्भको नाम तदाख्यांऽशविशेषः । अस्य तु लक्षणं प्रागुक्तम् । तथा ह्यत्र प्रतिपिद्धत्वादकृताभिनयनस्य वृत्तकथांशस्य 'यइ वि गान्धव्वेण विवाहविहिणा' (यद्यपि गान्धर्वेण विवाहविधिना) इत्यादिभिः प्रदर्शनात्, तथा 'आहरणाहिण्णाणदंसणेण से सावो णिउत्तिस्सदि' (आभरणाभिज्ञानदर्शनेन अस्याः शापो निवर्तिष्यति) इत्यादिना वर्त्तिष्यमाणकथांशस्य निदर्शनाय विष्कम्भको ज्ञेयः । स च मध्यमपात्राभ्यामनसूयाप्रियंवदाभ्यां केवलप्राकृतेन सम्प्रयोजितत्वात् शुद्ध एव । तदाह दर्पणे विश्वनाथः—

'मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्, स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥' इति ।

(२) अथ सोमतीर्थात् कुलपतेराश्रमागमनसूचनाय शिष्यस्य प्रवेशमाह—तत इति । सख्योः प्रस्थानानन्तरमित्यर्थः । सुप्तं–स्वापः तस्मादुत्थित इति सुप्तोत्थितः; यद्वा आदौ सुप्तः पश्चादुत्थित इति 'पूर्वकाल–' [२ । १ । ४९] इत्यादिना कर्मधारयः । सुप्तोत्थित इत्यनेन शिष्यस्य निद्रावैक्लव्यं सूच्यते । स्वापानन्तरं प्रतिबुद्धः शिष्यो गुरोरादेशेन नक्षत्रनिरीक्षणाय निर्गत इत्यर्थः ।

(३) शिष्य इति । शिष्यस्तदेव कृत्यं निरूपयति;—वेलेति । प्रवासात् विदेशात्, प्रथमाङ्कोक्तरूपात् सोमतीर्थादिति यावत्, प्रतिनिवृत्तेन—प्रत्यागतेन, तत्रभवता–पूज्येन, कण्वेन तन्नामकुलपतिना, वेलोपलक्षणार्थम्;—वेलायाः–होमसमयस्य उपलक्षणम्–'अनुदिते जुहोति' इति श्रुतेरश्विन्यादिताराभिरुपलक्ष्यज्ञानं तदर्थमित्यर्थः, आदिष्टोऽस्मि आज्ञप्तोऽस्मि । तत्—तस्मात् प्रकाशम्–उटजाद्बहिर्भागम्, निर्गत्य–निष्क्रम्य, रजन्याः–रात्रेः, कियदवशिष्टं–शेषोऽस्तीत्यवलोकयामीत्यन्वयः । अन्यथा विलम्बे तु धर्मकर्मकालातिक्रमे महानपराधो भवेदिति भावः ।

परिक्रम्य—अग्रे कतिपयैः पदैः सञ्चर्य, अवलोक्य–दिशो नक्षत्राणि च विलोक्य ।

(१) (विष्कम्भक)

(२) उसके बाद सोकर उठा हुआ कण्व का शिष्य आता है ।)

(३) शिष्य—विदेश से लौटे हुए पूज्य कण्व ने समय का निश्चय करने के लिए हमको नियुक्त किया है । इसलिए बाहर जाकर देखूँ कि अब रात कितनी बाकी है । (चल कर और देख कर) ओह ! रात समाप्त हो चली है । क्योंकि—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु ॥ २ ॥ (१)

'हन्त' इति हर्षे । 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायाम्' इत्यमरः । प्रभाता—व्युष्टा । प्रभातप्राया इति कश्चित्पाठः, तत्र—प्रभातप्राया-प्रभातात् किंचिदूनेत्यर्थः । कडारादित्वाद् प्रायशब्दस्य वा पूर्वनिपातः, पक्षे प्रायप्रभातेत्यपि पदम् । कश्चिच्च 'हन्त प्रभातम्' इत्येव पाठः, तत्र—प्रभातमिति भावे क्तः' प्रभारूपेण भूतमित्यर्थः ।

(१) यातीति । ओषधीनां—तृणज्योतिर्लतानां व्रीहियवादीनां वा पतिः चन्द्रः, 'सोम ओषधीनां पतिः' इति श्रुतेः, ओषधीनामतिदुःसहमरणादिविपत्तिसहस्रविनाशकत्वे सकलजीवजगत्प्राणविकाशैकसाधनभूतत्वे वा स्थिते तत्पतिरप्यस्तशिखरं यातीत्येतदर्थमभिद्योतयितुमेतत्पदव्यपदेश इति विवेचनीयम्, एकतः—एकस्यां दिशि पश्चिमदिग्भागे इत्यर्थः, अस्तस्य—चरमाचलस्य शिखरं—चूडाम्, 'अस्तस्तु चरमक्ष्माभृत्' इत्यमरः । याति—गच्छतिः, शिखरपदेनात्युच्चैः पतनायेति सूचितम् । तथा अरुणः—अनूरुः स्वसारथिः, पुरःसरः—अग्रगामी यस्य स तथोक्तः, 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः' इत्यमरः । अर्कः—सूर्यः एकतः—एकस्यां दिशि पूर्वदिग्भागे इत्यर्थः, आविष्कृतः—स्वात्मानं प्रकाशयितुमारब्धे, प्रादुर्भूत इत्यर्थः । कर्त्तरि क्तः । इत्थं तेजोद्वयस्य—चन्द्रसूर्ययोरित्यर्थः, युगपत्—एकदा, एकदोभयदर्शनेनैव नियमः कर्तुं शक्यते न तु क्रमिकदर्शनेनेति युगपदित्युक्तिः । व्यसनोदयाभ्याम्—अस्तोदयगमनाभ्यां विपत्सम्पद्भ्याञ्च । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः । 'उदयः सम्पदुत्पत्त्योः पूर्वशैले समुन्नतौ' इत्यजयः । एषः लोकः—नित्यानित्यवस्तुविचारविधुरः सर्वोऽपि जनः, भुवनं वा, 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । दशान्तरेषु—सुखदुःखात्मकावस्थाविशेषेषु 'दशाऽवस्थादीपवर्त्योः' इति मेदिनी । नियम्यते—शिक्ष्यत एव, आत्मदशाप्रदर्शनेनेश्वरीयनियमं ज्ञाप्यत इवेत्युत्प्रेक्षा । तथा च सर्वेषामेवेत्थं क्षयोदयौ स्तः न काऽप्यत्र बहुकालस्थायीति स्वस्वसम्पत्तिविपत्तिदशायां हर्षशोकाभ्यां वैवश्यं माभूदिति दैवेनोपदिश्यत इवेति भावः ।

यदुक्तम्—

'आत्मानं शोकहर्षाभ्यां शत्रुभ्यामिव नार्पयेत्' ।

---

(१) चन्द्रमा एक ओर अस्त हो रहे हैं और दूसरी ओर सूर्य भगवान् अरुण को आगे कर प्रकाशित हो रहे हैं । अत एव एक ही समय में दो तेजों का उदय और अस्त मानो जगत् को किसी अवस्थाविशेष में ईश्वर का नियम बतलाते है ॥ २ ॥

अपि च—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वतीयं
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।

अथ पूर्वार्द्धे यथा कश्चित् पूर्वं महासमृद्धभृत्योऽपि पश्चात् सहसा विपद्ग्रस्तो जातनिर्वेदश्च स्वभृत्यवर्गं परित्यज्य सुदूरस्थितं पर्वतादिकं समाश्रयति, यथा वा कश्चित् प्रभुः स्वाश्रितोदयं कुर्वन्नेव स्वयमुदेति; तथात्रापि तादृशसत्पुरुषद्वयव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः। तथं त्तरार्द्धे च नियम्यत इति तत्सर्वाचरणे प्रयोगात्तेनवह्वस्तुसम्बन्धसामर्थ्याद्बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनरूपा निदर्शना व्यङ्ग्या; उत्प्रेक्षाया वाच्यत्वात्। वाच्या निदर्शना यथा—
'चूडामणिपदे धत्ते यो देव रविमागतम्। सतां कार्यातिथेयीति बोधयन् गृहमेधिनः'
इति राघवभट्टाः यथा प्रभातवर्णने प्रकृते उभयोरपि प्राकरणिकत्वादरुणपुरःसरत्वस्य समानतया तुल्ययोगिता। तथा 'तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्याम्' इत्यत्र ओषधिपतेर्व्यसनमर्कस्य चोदय इति क्रमिकत्वावगमात् यथासंख्यालङ्कारः। तथा नियम्यत इवेति सम्भावनामात्रत्वाद् वाच्या भावाभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षा च। इत्येतेषामलङ्काराणां साङ्कर्यम्। अत्र च दृष्टान्तो नाम नाट्यलक्षणम्। यथाह दर्पणे विश्वनाथः—'दृष्टान्तो यस्तु पक्षार्थसाधनाय निदर्शनम्' ॥ इति ॥

अत्रोद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोरेकपदोपादाननियमे सत्यपि ओषधिपत्यर्कशब्दोद्देश्यत्वेऽपि सर्वनामवत् तेजोद्वयस्य प्रतिनिर्देशोऽपि तत्र तयोरिति तेजोरूपस्फुरणाज्जगत्स्थितिकारणस्य तेजोद्वयस्येदृशी गतिरन्यस्य किमु वक्तव्यमित्यर्थस्फुरणाच्च सहृदयानामर्थपोषणेन चमत्कारमेवावहतीत्येतादृशस्थले दोषाऽवकाश इति ज्ञेयमिति अर्थद्योतनिका। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २ ॥

अथ प्रभातकमनीयताकृष्टनयनोऽम्भसि कुमुदिनीं पश्यन् प्रासङ्गिकचन्द्रवृत्तान्तद्वारेण प्रस्तुतमर्थं स्फुटीकरोति—

अन्तर्हित इति। शशिनि—कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि, अन्तर्हिते व्यवहिते विदेशं प्रस्थिते च सति, यतः स शशी कलङ्की अतस्तस्यान्तर्धानमुचितमिति भावः; शशिनीति शशस्य स्फुटत्वेन सम्पूर्णमण्डलत्वं द्योतयत् दृष्टिनन्दनस्यातिशयं सूचयति, संस्मरणीया—सम्यक् स्मरणार्हा न त्विदानीं दर्शनार्हेति यावत्। शोभा—सौन्दर्यं यस्याः सा तादृशी, विनष्टकान्तिरिति यावत्। सैव—या पूर्वं विकसितकुसुमा दर्शनीयशोभाऽसीत् सैवेत्यर्थः; इयं कुमुद्वती—कुमुदिनी, दृष्टिं—नेत्रं, लोकानामिति शेषः। न नन्दयति—स्वसौन्दर्येण

और भी—

चन्द्रमा के अस्त होने से कुमुदिनी का वह सौन्दर्य जो चन्द्रमा के अस्तंगत होने के पहले, था—अब स्मरण करने की वस्तु हो गयी, अब यह वही कुमुदिनी

इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनेन
दुःखानि नूनमतिमात्रदुरुद्वहानि ॥ ३ ॥

अपि च—

कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जयत्यग्रसन्ध्या
दार्भं मुंचत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः ।

न प्रीणयति । तथाहि, नूनं-निश्चितम्, अबलाजनेन, नारीजनेन, अबलाजनेनेति सुदुःसहत्वेनोक्तमन्यथा स्त्रीजनेत्येव ब्रूयात्, जनशब्देन जातिमात्रस्य ग्रहणम्, इष्टस्य—वल्लभस्य प्रवासेन—देशान्तरगत्या विरहेणेति यावत् । जनितानि—उत्पादितानि, दुःखानि, अतिमात्रम्—अत्यन्तमेव, दुरुद्वहानि—दुःसहानि भवन्तीति शेषः । प्रियविरहे नार्यो न शोभन्ते इति तात्पर्यम् । तथा च कुमुद्वती प्रियस्य शशिनोऽन्तर्धानाद् दुःखेन विनष्टकान्तिः, सतीं दृष्टिं न प्रीणयतीत्याशयः । अत्र केचित्, कौ—पृथिव्यां मुद्वती—हर्षयुक्ता, सैव—शकुन्तला एव शशिनि—लक्षणया चन्द्रसदृशे, अथवा चन्द्रवंशोद्भवत्वात् शशिनि—दुष्यन्ते, अन्तर्हिते—असन्निहिते सति संस्मरणीयशोभा विरहदुःखेन विगतकान्तिरित्यर्थः, दृष्टिं न नन्दयति—न प्रीणयति, तेनास्याः राजगृहं प्रति प्रस्थापनं सूचितम् ?—इत्यर्थयन्ति ।

अत्र पूर्वार्द्धे शशिकुमुद्वत्योः लिङ्गसाम्येन नायके प्रोषिते नायिका दृष्टिं न नन्दयतीति नायकनायिकयोर्व्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः । उत्तरार्द्धे सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः, संस्मरणीयशोभा अत एव दृष्टिं न नन्दयतीत्यत्र काव्यलिङ्गम् ; इत्येतेषामङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यम् ।

अत्र प्रणयकाले ईश्वरस्य स्वविश्रान्तत्वात् प्रकृतिरूपस्य विश्वस्यावभासनं द्रष्टुं न शक्यमित्यर्थस्य समाधिः । किञ्चात्र कुमुद्वतीविषयकः शोकः तन्मूलभूतं शिष्यस्य कारुणिकत्वं चेति भावो व्यज्यते । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३ ॥

कर्कन्धूनामिति । अग्रसन्ध्या—अग्रया—प्राथमिकी चासौ सन्ध्येति विग्रहः, प्रातः-सन्ध्येत्यर्थः । कर्कन्धूनां—बदरीणाम्, तत्पत्राणां तत्फलानां चेत्यर्थः, 'कर्कन्धूर्बदरी कोलिः' इत्यमरः । उपरि पतित्वा स्थितमिति शेषः । तुहिनं—रञ्जयति आत्मनो रक्तवर्णत्वेन सरागीकरोति,

---

नेत्रों को उतना आनन्द नहीं देती । क्योंकि—अपने प्रियजन का विरहजनित दुःख, स्त्रियों के लिए निश्चय ही बड़ा दुःसह होता है ॥ ३ ॥

और भी—

प्रातःकालीन सन्ध्या बेर की पत्तियों पर पड़ी हुई तुषार की बूँदों को रङ्ग-बिरङ्गी बना रही है, मयूर जागकर कुश की झोपड़ियों को छोड़े जा रहा है ।

वेदिप्रान्तात् खुरविलिखितादुत्थितश्चैष सद्यः
पश्चादुच्चैर्भवति हरिणः स्वाङ्गमायच्छमानः ॥ ४ ॥

अपि च—

पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि कृत्वा सुमेरोः

श्वैत्यगुणं तिरोधाप्य लौहित्यं लम्भयतीत्यर्थः। तथा वीता—विगता निद्रा यस्य येन वा स तथोक्तः, मयूरः, बर्हीं, दार्भं-दर्भैः—कुशैर्निर्मितम्, उटजपटलम्; उटजस्य-पर्णशालायाः पटलं-छदिं गृहाच्छादनमिति यावत्। मुञ्चति-त्यजति, प्रभातानुमानेन पटलं परित्यज्य भूमिमवरोहतीत्यर्थः। तथा खुरविलिखितात् अल्पखनितात् निद्रितदशायां क्षुण्णादित्यर्थः, वेदिप्रान्तात्, वेदिपरिसरप्रान्तदेशात्, उत्थितः एष हरिणश्च, सद्यः-उत्थानक्षणे एवेत्यर्थः, स्वांगं-निजपृष्ठचरणाद्यवयवम्, आयच्छमानः—प्रसारयन् सन्, 'आङो यमहनः' [१।३।२८] इति आङ्पूर्वात् यमधातोः स्वांगकर्मकत्वात् आत्मनेपदम्, अत एव शानच्, पश्चात्—तदनंतरम्, अपरकायप्रदेशे वा, उच्चैः—दीर्घदेहो भवति। पशूनां प्रायेण एष स्वभावो भवति तस्मादत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः। प्रथमपादे सहजशुभ्रस्य तुहिनस्य लौहित्यापादनकथनात् तद्गुणालङ्कारः। 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः'—इति तल्लक्षणात्। मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥४॥

पादेति। क्षयिततमसः,—क्षयितानि-विनाशितानि तमांसि-तिमिराणि शत्रुसैन्यानि च येन तेन, क्षयशब्दात् णिजन्तात् कर्मणि क्तः, क्षपितमिति क्वचित् पाठः, तत्र स एवार्थः, येन चन्द्रेण केनचित् नवेन प्रभावशालिना राज्ञा च, क्षितिधरगुरोः क्षितिधरेषु पर्वतेषु राजसु च, गुरोः श्रेष्ठस्य, क्षितिं धरति धारयति रक्षति चेति क्षितिधरशब्दो भूभृच्छब्दवत् पर्वतनृपत्यर्थयोर्यौगिकः 'गुरुस्तु-गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ तिपरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवः। गुरुशब्देन पूज्यता च ध्वन्यते। सुमेरोः—तन्नामपर्वतस्य तद्वद्वीरविणः कस्यचित् नृपतेश्च, मूर्ध्नि—शिखरे मस्तके च, पादन्यासं—किरणपातपराजयावमानेन चरणनिक्षेपञ्च, 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशा' इत्यमरः। कृत्वा, विष्णोः—त्रिविक्रमस्य तद्वन्महाप्रभावशालिनो नृपतिविशेषस्य च, अनेनानतिक्रम्यत्वं ध्वन्यते। मध्यमं धाम मध्यमविक्रमाक्रांतं गमनं राजधानीमध्यस्थितमन्तःपुरभवनञ्च क्रान्तं—

और यह हरिण अपने खुर से खुदी हुई वेदी के आस-पास के भाग से उठ कर और तत्क्षण अपने अंगों को बढ़ा कर खड़ा हो रहा है ॥ ४ ॥

और भी—

जिन्होंने अन्धकार को नष्ट कर पर्वतश्रेष्ठ सुमेरु के मस्तक पर अपनी किरणें फेंक कर

क्रान्तं येन क्षपिततमसा मध्यमं धाम विष्णोः ।
सोऽयं चन्द्रः पतति गगनादल्पशेषैर्मयूखै-
रत्यारूढिर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा ॥ ५ ॥

अनसूया— अपटीक्षेपेण प्रविश्य] एवं नाम विषयपराङ्मुखस्य

व्याप्तम् स्वायत्तीकृतञ्च, अयं स चन्द्रः अल्पशेषैः अल्पाः शेषाः येषां तैः अल्पमात्रावशिष्टैरस्तोन्मुखत्वादिति भावः । मयूखैः-किरणैः प्रभावनिबन्धनशोभाभिः चोपलक्षितः सन्, उपलक्षणे तृतीया, 'मयूखः किरणेऽपि च, ज्वालायामपि शोभायाम्' इति मेदिनी । गगनात्-अम्बरतलात् स्वराज्याच्च, पतति-अस्तं याति भ्रश्यति च । तमेवार्थमर्थान्तरेणोपन्यस्यति-अस्यारूढिरिति । तथाहि-महतामपि-उन्नतानामपि अपिना नीचानां व्यवच्छेदः, जनानामिति शेषः । अत्यारूढिः-दूरारोहणम्, अपभ्रंशः पतनमेव निष्ठा-अन्तर्दशा यस्याः सा तथोक्ता भवति । 'निष्ठा निष्पत्तियोगान्ता' इत्यमरः । 'निष्ठा क्लेशेऽवसाने च व्यवस्थोत्कर्षयोर्व्रते' इति हलायुधश्च । 'अति सर्वत्र बाध्यते', 'सर्वमत्यन्तगर्हितम्' इत्यादिनीत्या अत्युच्छ्रितो न कोऽपि चिरावस्थानाय भवतीति भावः ।

अत्र कार्यद्वारा चन्द्रे कस्यचित्प्रभावशालिनो नृपतेर्व्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः । सा च श्लेषगर्भिता बोध्या तथा समान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासश्चेति मिथो नैरपेक्ष्येणानयोः संसृष्टिः । पुरा किल बलिदानवच्छलनार्थं धृतवामनविग्रहो भगवान् नारायणः प्रथमक्रमेण महीमाक्रम्य द्वितीयक्रमेण नभः समाक्रान्तवानिति पुराणादौ प्रसिद्धम् ।
तदुक्तं वामनपुराणे—

कृत्वा तु रूपं दितिजञ्च हत्वा प्रणम्य चर्षीन् प्रथमक्रमेण ।
महीं महीध्रैः सहितां सहार्णवां जहार रत्नाकरपत्तनैर्युताम् ॥
ततः स नाकं त्रिदशाधिवासं सोमार्कऋक्षैरभिमण्डितं नभः ।
देवो द्वितीयेन जगाम वेगाद् क्रमेण देवप्रियलोकमीश्वरः ॥
क्रमस्तृतीयो न यदास्य पूरितस्तदातिकोपाद् दनुपुङ्गवस्य ।
पपात पृष्ठे भगवांस्त्रिविक्रमो मेरुप्रमाणेन तु विग्रहेण ॥ इति ॥

मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ५ ॥

अनेति । अपटीक्षेपेण-जवनिकामनपसार्येत्यर्थः; 'पटीक्षेपो न कर्त्तव्य आर्त्तराजप्रवेशने'

सम्पूर्ण प्रकाश पर अधिकार जमा लिया था, वही चन्द्रदेव अपनी थोड़ी-सी किरणों के साथ आकाश से गिर रहे हैं। क्योंकि बड़े लोग भी जब बहुत उन्नत होते हैं तो उनका पतन होता ही है ॥ ५॥

अनसूया—(विना परदा हटाये ही आकर) एक विषय से निवृत्त मनुष्य के

जनस्य न निपतितम्, यथा तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितमिति। (एवं णाम विसअपरम्मुहस्स जणस्स ण णिपडिदं जधा तेण रण्णा सउन्तलाए अणज्जं आचरिदं त्ति।)

शिष्यः—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि। [इति निष्क्रान्तः]।

अन—ननु प्रभाता रजनी। तत् शीघ्रं शयनं परित्यजामि। अथवा

इत्युक्तत्वात्। शकुन्तलादुःखेनार्त्ताया अनसूयायाः प्रवेशे पटीक्षेपणस्य सम्भावनायां तन्निषेधार्थं कविना अपटीक्षेपेणेत्युक्तम्। 'नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो निर्गमोऽपि च' इत्युक्तेः। शिष्यवाक्यमाकर्ण्य प्रबुद्धाया अनसूयाया अपटीक्षेपेण प्रवेशः। 'प्रभातसमयोऽयम्', 'किञ्चिदपि प्राभातिकं गृहकार्यं न कृतम्' इति मन्यमानाया अनसूयायाः सहसैव प्रवेशं सूचयितुं कविना अपटीक्षेपेणेत्युक्तमिति केचित्। परे तु अपटी—जवनिका तस्याः क्षेपेण—अपसारणेन, 'अपटी, काण्डपटीका प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी' इति हलायुधवचनात्—इति व्याकुर्वन्ति। क्वचित् पुस्तके पटीक्षेपेणेति पाठः, तत्र पटीक्षेपेणेति जवनिकाच्छादनेनेत्यर्थः। कुत्रचिच्च पुस्तके अपटाक्षेपेणेति च पाठं, तत्र सम्भ्रमाज्जवनिकां विनेत्यर्थः करणीयः।

अथानसूया शकुन्तलाया वियोगदुःखं तद्धेतुभूतां राजकर्तृकोपेक्षां चानुचिन्त्य सर्वस्यास्य निदानभूते राजनि सरोषा सती सविषादमाह—एवमिति। नामेति दुष्यन्तकुत्सने, 'नाम प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इत्यमरः। विषयपराङ्मुखस्य—विषयाः—स्रक्चन्दनवनितादयो भोक्तव्या अर्थाः तेभ्यः पराङ्मुखस्य—विमुखस्य, इन्द्रियसुखेष्वप्रवृत्तिमत इत्यर्थः, जनस्य—मादृशस्य तापसजनस्य शकुन्तलाव्यतिरिक्तस्येति भावः, सम्बन्धे, एवम्—इत्थमसदाचरणम्, इत्थं दुःखं वा, न निपतितं—नोपस्थितं कदाचिदपीति भावः। किमित्याह—यथेति। यथा—येन रूपेण, तेन राज्ञा—दुष्यन्तेन, अनार्यम्—असाधुवत्, निन्द्यमिति यावत्, आचरितम्—अनुष्ठितम्। यतः स तथा प्रतिज्ञाय स्वपुरं प्राप्यैनां न स्मरति। अनेनानसूयाया राजनि निन्दा तद्धेतुभूतो रोषश्च व्यज्यते। चिन्तादयोऽपि।

शिष्य इति। अथ शिष्यः स्वकर्त्तव्यमनुसन्धायाह—यावदिति। यावदित्यत्र धारणे। होमवेला उपस्थितेति गुरवे निवेदयामीत्यर्थः।

अनेति। अथानसूया शकुन्तलायाः दुःखं चिन्तयन्ती शिष्यवाक्येन प्रभातं बुद्ध्वा

साथ कभी ऐसा नहीं होता देखा जाता, जैसी दुष्टता उस राजा ने शकुन्तला के प्रति की है।

शिष्य—चलो, गुरुदेव को होमवेला की सूचना दें। (ऐसा कहकर चला जाता है)

अनसूया—सवेरा हो गया। जल्दी बिछौना छोड़ रहा हूँ। अथवा इतनी जल्दी

लघु लघु उत्थितापि किं करिष्यामि । न मे उचितेषु प्रभातकरणीयेषु हस्तपादं प्रसरति । काम इदानीं सकामो भवतु, येन असत्यसन्धे जने प्रियसखी शुद्धहृदया पदं कारिता । [स्मृत्वा] अथवा न तस्य राजर्षेरपराधः, दुर्वाससः शापः खल्वेष प्रभवति । अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि

स्वकर्तव्यमनुसन्धाय तत्रासामर्यं च सूचयन्त्याह;–नन्विति । नन्वित्यवधारणे । प्रकृष्टं भातं–प्रकाशो यस्याः सा प्रभाता–अल्पावशेषा इति यावत्, रजनी-रात्रिः । तत्–रजन्याः प्रभातत्वेनैव हेतुना, शेतेऽस्मिन्निति शयनं–शय्याम् ।

शकुन्तलाया भाव्यनर्थमनुस्मृत्याह–अथवेति । लघु लघु–शीघ्रं शीघ्रम्, किं करिष्यामि–किमपि न करिष्यामि असामर्थ्यादिति भावः ।

असामर्थ्यं द्योतयति;–न मे इति । उचितेषु;–अभ्यस्तेषु, अवश्यकरणीयेष्वित्यर्थः 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः । प्रभातकरणीयेषु–प्रातःकृत्येषु, वेदिसंमार्जनपुष्पचयनादिकर्मसु इत्यर्थः, हस्तौ च पादौ चेति हस्तपादम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वैकवद्भावः क्लीबत्वञ्च, न प्रसरति–न प्रचलति ।

अथास्य सर्वस्यैव व्यापारस्य मूलं निदानमनुसन्धायाह;–काम इति । कामः—कन्दर्पः, सकामः–पूर्णमनोरथः, कामस्य वामस्वभावत्वात् तस्यैवाभिलाषः पूर्यताम्;–इति सखेदोक्तिः ।

सकामत्वे हेतुर्येनेति । येन हेतुना कामेन वा, असत्या सन्धा–प्रतिज्ञा यस्य तस्मिन् असत्यसन्धे–मिथ्याप्रतिज्ञे, 'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा' इत्यमरः । अनृतभाषिणीत्यर्थः, जने—दुष्यन्ते, शुद्धहृदया–सरलचित्ता, परप्रतारणादिदोषशून्यचित्तेत्यर्थः, प्रियसखी–शकुन्तला, पदं–व्यवसायं स्थानं वा, 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । एष एव कामस्याभिलाष आसीदिति भावः । अत्र कामं प्रत्यसूया द्योत्यते ।

स्मृत्वेति । दुर्वाससः शापवृत्तान्तमिति शेषः । अथ स्मरणेन दुर्वाससः शापवृत्तान्तोदयात् पूर्ववाक्यमाक्षिप्य वास्तवप्रमेयभागमाह;–अथवेति । तस्य राजर्षेः–ऋषितुल्यस्य राज्ञो दुष्यन्तस्येत्यर्थः, अपराधः–दोषः ।

तर्हि कस्येत्यत्राह;–दुर्वासस इति । खल्विति निश्चये । प्रभवति–प्रभुर्भवति, स्वसामर्थ्यमाविष्करोतीत्यर्थः ।

उक्तमेवार्थं द्रढयति;–अन्यथेति । दुर्वाससः शापस्याप्रभुत्व इत्यर्थः, तादृशानि–'शीघ्रमेव त्वामितो नेष्यामि' इति शापनवाक्यानि, 'एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयम्' इति वक्ष्यमाण-

उठकर भी मैं क्या कर लूँगी । क्योंकि नित्य करनेवाले काम करने के लिये भी मेरे हाथ-पैर नहीं फैलते । कामदेव की इच्छा पूर्ण हो, जिसने सरल स्वभाववाली मेरी सखी को

मन्त्रयित्वा एतावतः कालस्य वार्त्तामात्रमपि न विसर्जयति। [विचिन्त्य] तदितोऽभिज्ञानमङ्गुरीयकं विसर्जयामः। अथवा दुःखशीले तपस्विजने कः अभ्यर्थ्यताम्। ननु सखीगामी दोष इति व्यवसाययितुमपि न पारयामः। तातकण्वस्य वा प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य दुष्यन्त-परिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। तदत्र इदानीं किन्नु खलु अस्माभिः करणीयम्। (णं पहादा रअणी! ता सिग्घं सअणं परिच्चआमि। अघवा लहु लहु उत्थिदावि किं करिस्सं, ण मे उइदेसु, पहादकरणीएसु हत्थपाआ प्पसरन्ति! कामो दाणिं सकामो भोदु। जेण असच्चसन्धे जणे पिअसही सुद्धहिअआ पदं कारिदा अघवा ण तस्स राएसीओ अवराहो, दुव्वाससावो क्खु एसो पहवदि! अण्णघा कधं सो राएसो तादिसाइ मन्तिअ मत्तिअस्स कालस्स वात्तामात्तं वि ण विसज्जेदि। ता इदो अहिण्णाणं अङ्गुलीअअं से विसज्जेम। अघवा दुक्खसीले तवस्सिजणे को अब्भत्थीअदु। णं सहीगामी दोसो त्ति व्ववसाइदुं पि ण पारेह्म।

प्रणयवचनजातानि वा, मन्त्रयित्वा—रहसि कथयित्वा, एतावतः कालस्य—एतावन्तं कालमभिव्याप्येत्यर्थः, कर्मणि षष्ठी, वार्त्तामात्रमपि—कुशलादिवृत्तान्तमपि, मात्रपदेनावरोधगृहप्रवेशनादिकं व्यवच्छिद्यते, न विसर्जयति—स्वनगरादत्राश्रमपदे न प्रेषयति। तथा च दुर्वासःशापहेतुकमेव तस्य राजर्षेर्विस्मरणमिति नास्त्यत्र तस्यापराध इति भावः।

विचिन्त्येति। तत्र कर्त्तव्यमिति शेषः। दुर्वासःशापस्य मोचनोपायस्मरणेन कर्त्तव्यमवधार्याह;—तत्—तस्मात्, इतः—आश्रमात्, अभिज्ञानम्;—अभिज्ञायतेऽनेनेति दुष्यन्तप्रदत्तं चिह्नभूतम्, अङ्गुरीयम्;—अङ्गुलीयम्, विसर्जयामः—तस्य राजर्षेः समीपे प्रेषयामः, तद्दर्शनेनावश्यं राजा प्रियसखीसमाचारं स्मरिष्यतीति भावः।

अथ निरूप्य विसर्जनस्य कश्चित् प्रेष्यो नास्तीति दर्शयितुं सविषादमाह;—अथवेति। दुःखशीले—सर्वदा तपःक्लेशपरायणे, विषयपराङ्मुखत्वेन विषयिजनचिरानुसरणविमुखे इत्यर्थः, तपस्विजने—तपस्विसमूहमध्ये, दुःखशीलेषु तपस्विजनेषु मध्ये इत्यर्थः। निर्द्धारणे सप्तमी जातावेकवचनं च। कः—तपस्विजनः,

एक झूठ बोलनेवाले राजा के हाथों सौंप दिया है। (स्मरण करके) हाँ, उस राजा का कोई अपराध नहीं है यह तो दुर्वासा के शाप का प्रभाव है। अगर ऐसा न होता तो वह राजर्षि इस तरह भरोसे की बातें कर के इतने दिनों के बीच में कोई समाचार नहीं भेजता? (सोचकर) इसलिये इस चिह्नस्वरूप अँगूठी को यहाँ से मैं भेज दूँगी। अथवा दुखी तपस्वी जनों के लिए किस के पास प्रार्थना की जाय। 'य हमेरी

ताद्कण्णस्य वा प्पवासपडिणिउत्तस्य दुस्सन्तपरिणीदं आवण्णसत्तं सउन्तलं णिवेदिदुं । ता एत्थ दाणि किं णु क्खु अह्मेहिं करणिज्जं ।)

प्रियं—[प्रविश्य] अनसूये ! त्वरस्व त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतूहलं निर्वर्तयितुम् (१) । (अणसूए ! तुवर तुवर सउन्तलाए पत्थाणकोधूहलं णिव्वत्तिदुं !)

अभ्यर्थ्यतां—राजान्तिके प्रेषणाय प्रार्थ्यताम्, अपि तु न कोऽपीत्यर्थः, तपोऽनुष्ठानं त्यक्त्वा न कोऽपि गच्छेदित्यभ्यर्थनमनुचितं तस्मादङ्गुरीयकप्रेषणविधौ न कोऽप्युपायो दृश्यत इति भावः ।

अथ कमप्युपायं न पश्यन्ती दोषमूलमेव विकल्पयति—नन्विति । दोषः—अपराधः, सखीगामी–शकुन्तलागतः, अज्ञातचरित्रे पुंसि शकुन्तला कथमात्मानं समर्पितवतीति तस्या एवापराध इत्यर्थः, इति व्यवसाययितुम्–अवधारयितुमपि, न पारयामः–न शक्नुमः आवयोः सर्वस्यैव वृत्तान्तस्य दृष्टचरत्वादिति भावः ।

ननु तातान्तिके एतत्सर्वं वक्तव्यम्, स तु तत्र किञ्चित्प्रतिविधास्यति; तत्राप्यशक्तिमाह—तातकण्वस्येति । प्रवासात्—विदेशात् सोमतीर्थादिति भावः । प्रतिनिवृत्तस्य–प्रत्यागतस्य, तातकण्वस्य सम्बन्धे, दुष्यन्तेन परिणीताम्–ऊढाम्, आपन्नसत्वाम्–आपन्नं–गर्भे प्राप्ते सत्त्वं–जन्तुर्यया ताम्, अन्तर्वत्नीमित्यर्थः, निवेदयितुं–ज्ञापयितुम्, 'न पारयाम' इति पूर्वेणान्वयः, लज्जाशङ्काभ्यामिति भावः ।

एवं विचिन्त्य काञ्चिद् गतिं न पश्यन्ती सखेदमाह–तदत्रेति । तत्–तस्मात्, अत्र–विषये एवं प्रकारे प्राप्ते, किन्नु खलु करणीयम्, न किमपि कर्त्तव्यमस्तीति प्रतिपत्तिमूढाः स्म इति भावः । अत्रानसूयावाक्ये विषादमतिक्रोधासूयादिनिर्वेददैन्यालस्यचिन्तादयस्तत्र तत्र स्फुटं व्यज्यन्ते, एभिरुपबृंहितः करुणो रसश्च ।

(१) प्रियमिति । अथानसूयया चिन्तितं सर्वमेव वस्तुजातं दैवात्सिद्धमिति ज्ञापयन् वस्तुवृत्तसंघटनाय प्रियवदाप्रवेशं निर्दिशति–प्रविश्येति । त्वरस्व त्वरस्वेति हर्षात् सम्भ्रमे वीप्सा । किमर्थमित्यत्राह—शकुन्तलाया इति । प्रस्थानकौतूहलम्–प्रस्थाने–पतिगृहगमनकाले यत् कौतूहलं–कौतुककरमाङ्गलिकाचारः, तन्निर्वर्त्तयितुं—सम्पादयितुम् ।

प्रिय सखी शकुन्तला का दोष है' यह विचार पक्का नहीं कर सकती और दुष्यन्त के लिए ब्याह कर के शकुन्तला जो गर्भवती हो गयी है यह बात भी परदेश (सोमतीर्थ) से लौटे हुए पिता कण्व के समक्ष नहीं कह सकूँगी । तो फिर अब हमारा कर्त्तव्य क्या है ?

(१) प्रियंवदा—(आकर) अनसूया ! शकुन्तला की विदाई का मंगलमय कार्य पूरा करने के लिए जल्दी करो—जल्दी करो ।

अन—[सविस्मयम् ।] सखि ! कथमिव ? (१) । (सहि ! कधंविअ)

प्रियं—शृणु, इदानीमेव सुखसुप्तिकाप्रच्छननिमित्तं शकुन्तलायाः सकाशं गतास्मि (२) । (सुणाहि, दाणिं ज्जेव सुहसुत्तिआपुच्छणणिमित्तं सउन्तलाए सआसं गदह्मि)

अन—ततस्ततः (३) ? । (तदो तदो ।)

प्रियं—तत एनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य स्वयं तातकण्वेन एवमभिनन्दितम् वत्से ! दिष्ट्या धूमोपरुद्धदृष्टेरपि यजमानस्य पावकस्यैव मुखे आहुतिर्निपतिता, सुशिष्यपरिदत्तेव विद्या अशोचनीयासि मे संवृत्ता । अद्यैव त्वाम् ऋषिपरिरक्षितां कृत्वा भर्तुः सकाशं विसर्जयामि (४) । (तदो णं लज्जावणदमुहीं परिस्सइअ सअं तादकण्णेण एव्वं अहिणन्दिदं, 'वच्छे' दिट्ठिआ धूमोवरुद्धदिट्ठिणो वि जजमाणस्स पावअस्स ज्जेव मुहे आहुदी णिपडिदा, सुसिस्स-

(१) अनेति । सविस्मयं-कथमित्थं सहसा संवृत्तमिति साश्चर्यम् । कथमिवेत्यत्र कथमेतदिति पाठान्तरम् ।

(२) प्रियमिति । सुखसुप्तिका—सुखेन निद्रा तस्याः प्रच्छननिमित्तं—जिज्ञासार्थम् । सकाशं-समीपम् ।

(४) प्रियमिति । लज्जावनतमुखीं-लज्जया अधोवदनाम्, लज्जा नाम अकृत्याद्भयम्, अकृत्यमत्र पितुरनुमतिं विना वरस्वीकरणम् । एनां-शकुन्तलाम् । परिष्वज्य-आलिङ्ग्य, 'आलिङ्गनं परिष्वङ्गः' इति हेमचन्द्रः, परिष्वङ्गोऽनुरूपभर्तृप्राप्त्यादिहेतुकसन्तोषप्रकाशनार्थं तस्या लज्जाप्रशमनार्थं वा बोध्यः । एवं-वक्ष्यमाणरूपम्, अभिनन्दितं-सानन्दं प्रशंसितम्, भावे क्तः । अभिनन्दसप्रकारमाह—वत्से-पुत्रि ! दिष्ट्या-भाग्येन, दिष्ट्येति हर्षे वा, धूमेन-आज्यधूमेन उपरुद्धा-व्याहता दृष्टिः-दर्शनक्रिया यस्य तस्य तथोक्तस्य, यजमानस्य होमकर्तुः, आहुतिः-

(१) अनसूया—(विस्मय के साथ) सखि ! कैसे ?

(२) प्रियंवदा—सुन, सखी मैं उसे अच्छी तरह नींद आयी या नहीं यह जानने के लिये शकुन्तला के पास गयी थी ।

(३) अनसूया—तब तब ?

(४) प्रियंवदा—उसके बाद लज्जा से माथा झुकाये शकुन्तला का आलिङ्गन करते हुए स्वयं पिता कण्व ने इस तरह उसके कृत्य का समर्थन कर कहा—'पुत्रि ! जिसकी दृष्टि धूम के हवन से मुँद गयी थी. उस यजमान की भी आहुति (इधर-उधर न पड़कर) अग्नि के मुख में ही पड़ी है । किसी अच्छे शिष्य को दी हुई विद्या के समान मेरे लिये तू

सुसिस्सपरिदिण्णा विअ विज्जा असोअणीआसि मे संवुत्ता । अज्ज ज्जेव तुमं इसिपरिरक्खिदं कारेअ भत्तुणो सआसं विसज्जेमि त्ति ।)

अन—सखि ! केन पुनराख्यातस्तातकण्वस्यायं वृत्तान्तः ? (१) ।

(सहि ! केण उण आचक्खिदो तादकण्णस्स अअं वुत्तन्तो ?)

हवनीयं घृतादिकम्, पावकस्य–हुतवहस्यैवाग्नेर्न तु भस्मनि, सुखे–सुखभागे, निपतिता । तथा चात्र यजमानपदेनात्मा, आहुतिपदेन शकुन्तला, पावकपदेन राजा च सादृश्याल्लक्ष्यत इति समानप्रस्तुतात् प्रस्तुतसमप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः, तथोभयोरानुरूप्येण श्लाघायोग्यत्वात् समालङ्कारोऽपीत्यनयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः । अथोक्तस्य फलमाह;–सुशिष्येति । सुशिष्यपरिदत्ता–शोभनः–शमदमादिगुणसम्पन्नः शिष्य इति सुशिष्यस्तस्मै परिदत्ता–अर्पिता, विद्या–ज्ञानमिव त्वमिति शेषः, अथवा सुशिष्येण–सच्छात्रेण परिगृहीता–अधिगता विद्येवेति पाठान्तरम्, अशोचनीया–न दुःखहेतुका, संवृत्तासि, अनेन शकुन्तलायाः कृतकृत्यता ध्वनिता, विद्येवेत्युपमानात् तस्याः कोऽप्युत्कर्षातिशयोऽपि द्योत्यते । कुशिष्याध्यापने निन्दामाह;–यथा;—'कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः' ।

कन्यायाः सत्पात्रप्रदानेऽशोच्यतामाह कुमारे; यथा;—

'अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता ॥' इति ।

तथा च शोच्यता हि अपात्रे प्रतिपादनाद् भवतीति रहस्यम् । अत्रैवमभिनन्दनेन गान्धर्वे स्वानुमतिः स्फुटं दर्शिता । वाक्येऽत्र श्रौतोपमालङ्कारः ।

अथ तस्याः भर्तृवियोगदुःखातिशयं तथा स्वगृहावस्थानस्यानौचित्यं च पर्यालोच्याभिनन्दनस्य फलमाह;–अद्यैवेति । ऋषिभिः—सहगामिमुनिभिः शार्ङ्गरवादिभिरित्यर्थः, परिरक्षितां–तत्सहायामित्यर्थः, विसर्जयामि–प्रेषयामि, वर्त्तमानसामीप्ये लट् ।

नन्वत्र प्रियंवदाया मुनिवचनानुकृतौ 'दुष्यन्तेनाहितं तेजः' इतिवत् संस्कृतमेव वक्तव्यमासीन्न प्राकृतम्, अत्रोच्यते, प्रियंवदयाऽत्र मुनेर्वचनमनुपयोगित्वान्नानुकृतं परमर्थ एव, 'अन्यव्यवहारानुकृतावर्थस्यैव नियमः शब्दे तु कामचार' इति व्यक्तिविवेककृतः पन्थाः ।

(१) अनेति । केन–अनेन, आख्यातः–उक्तः, वृत्तान्तः–वार्त्ता ।

निश्चिन्तता का कारण हुई है। आज ही मैं तुझे ऋषियों के साथ तेरे पति के पास पहुँचा दूँगा।'

(१) अनसूया—सखि ! आखिर यह वृत्तान्त पिता कण्व से किसने कहा ?

प्रियं—अग्निशरणं प्रविष्टस्य किल शरीरं बिना छन्दोमय्या वाचा (१)।
(अग्गिसरणं पविट्ठस्स किल सरीरं विणा छन्दोमईए वाआए ।)

अन—[सविस्मयम् ।] कथमिव ? (२) । (कधं विअ ।)

प्रियं—शृणु (३) । (सुणाहि ।) [संस्कृतमाश्रित्य ।]

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।

---

(१) प्रियमिति । अग्निशरणम्–अग्निहोत्रगृहम् 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । प्रविष्टस्य–प्रयातस्य तातकण्वस्येति सम्बन्धः, किलेति श्रुतवार्त्तायाम्, 'वार्त्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः । शरीरं विना–अशरीरिण्या, अदृश्यशरीरया देव्या इत्यर्थः, छन्दोमय्या;–छन्दः–वृत्तं तन्मय्या, पद्यात्मिकया 'छन्दः पद्येऽभिलाषे च' इत्यमरः । प्रस्तुतार्थे मयट्, स्त्रीत्वात् ङीप् । वाचा–वाक्येन, आख्यातोऽयं वृत्तान्त इत्यनुषज्यते । अनेन 'पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः' इतीव भगवानग्निरेवादृश्यो भूत्वा कथितवानिति द्योतितं, तेन कण्वस्य प्रभावातिशयश्च सूच्यते ।

(२) अनेति । सविस्मयं–शरीरादेव वाक् प्रत्यक्षीभवति, अत्र तु न तथेत्याश्चर्येण सहितमित्यर्थः । कथं–कीदृशमिव । क्वचित् 'कथय कथय' इति पाठान्तरम् ।

(३) प्रियमिति । संस्कृतं–देववाणीमाश्रित्य–अङ्गीकृत्य । तदुक्तम् ;—

'कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ॥' इति ।

अन्यच्च;–योषित्सखीबालवेश्याकितवाप्सरसां तथा ।
वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ॥ इति ।

उक्तं च मातृगुप्ताचार्यैः–'योऽयं विदूषकोन्मत्तबालतापसयोषिताम् ।
नीचानां पण्डकानाञ्च नीचग्रहविकारिणाम् ॥
विद्वद्भिः प्राकृतं कार्यं कारणात् संस्कृतं क्वचित् ।' इति ॥

अत्र चाशरीरिणीवाण्यनुवाद एव कारणं यथास्थितस्यैवानुवादः । स च संस्कृतमन्तरेण न सम्भवतीति संस्कृताश्रयणम् । अशरीरिण्या वाचस्तादृप्येणैवानुवादः सारस्याय कल्पित इति केचित् ।

वाचः स्वरूपमाह;-दुष्यन्तेनेति । हे ब्रह्मन्–विप्र !' 'ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः'

---

(१) प्रियंवदा—जब कि वे (हवन करने के लिये) अग्नि के पास बैठे तो छन्दोबद्ध आकाशवाणी ने कहा था ।

(२) अनसूया—(आश्चर्य के साथ) कैसे ?

(३) प्रियंवदा—सुनो—

हे ब्राह्मण ! जिसके गर्भ में अग्नि रहती है, ऐसी शमीलता के समान आपकी कन्या ने

अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥ ६ ॥

अन—[प्रियंवदामाश्लिष्य] सखि ! प्रियं मे प्रियम् । किन्तु अद्यैव शकुन्तला नीयत इति उत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि (१) । (सहि ! पिअं मे पिअं । किन्तु अज्ज ज्जेव सउन्तला णीअदि त्ति उक्कण्ठासाहारणं परिदोषं अणुभवेमि ।)

इत्यमरः, कण्व ! इत्यर्थः, ब्रह्मन्निति सम्बोधनेन तव प्रभावादेवास्य मनोरथस्य सिद्धिरिति ध्वन्यते । दुष्यन्तेन—राज्ञा, दुष्यन्त इति नामानुकीर्तनेन सोमवंशोद्भवत्वेन किमप्याभिजात्यमौदार्यविनयादिगुणसंपन्नत्वं च व्यज्यते, आहितं निषिक्तम्, एतेन तेजसो वैधत्वं सूच्यते, तेजः—रेतः 'शुक्रं तेजोरेतसी च' इत्यमरः । उपमाने सौसादृश्याय दीप्तिश्च, 'तेजः प्रभावे दीप्तौ च' इत्यमरोऽपि । तेन गर्भस्य तेजस्वयरूपत्वं ध्वनितम्, भुवः—पृथिव्याः भूतये—सम्पत्तये अभ्युदयायेति यावत् । सर्वविधोन्नतिकारकपुत्रकारणत्वादिति भावः, 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः । अनेन गर्भस्थस्य भविष्यच्चक्रवर्तित्वं ध्वन्यते, किं च बिभर्तीति भरत इति गर्भस्यान्वर्थत्वमपि द्योतितम्, केचित्तु—'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणाम्' इत्यादिस्मृत्युक्तेर्बीजस्य तेजोमयत्वेन तेज इत्युक्तम्, 'भुवो भूतये' इत्यनेन पुत्रपौत्रादिपरम्परया राजश्रीर्वृतेति सूच्यत इत्याहुः, दधानां—धारयन्तीम्, तनयां—शकुन्तलां कन्याम्, तनयामिति तनोति कुलमित्यन्वर्थम्, अग्निगर्भां—अभ्यन्तरं यस्यास्तां तथोक्ताम्, शमीं तदाख्यां लतामिव, अनेनास्याः स्वाभाविकपूतत्वं ध्वनितम्, वह्निररण्येषु शमीनामन्तः प्रविष्टो ज्वलतीति श्रुतिप्रसिद्धम्, रघावपि—'शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्' इति । अत्र श्रौतोपमालङ्कारः ।

(१) अनेति । आश्लिष्य—आलिङ्ग्य, आलिङ्गनन्तु प्रीतिकरवचनश्रवणात्, स्त्रीणां स्वभावोऽयम् । अयं हर्षप्रकर्षानुभवः । प्रियं मे प्रियम्—इदमिति शेषः । शकुन्तलाविरहं दुःसहं सम्भाव्याह—किन्त्विति । किन्तु—कश्चिद्विशेषोऽस्तीत्यर्थः । विशेषं दर्शयति—अद्येति । अवधारणे एव, नीयते—पतिगृहमृषिभिः प्राप्यते, इति—अस्माद्धेतोः उत्कण्ठया—विषादेन वियोगवशादिति भावः । साधारणं—समानम्, 'अलभ्यराग उत्कण्ठा' इति तल्लक्षणम्, उत्कण्ठासहितमित्यर्थः, परितोषम्—आनन्दं, शकुन्तलायाः प्रियसमागमो भविष्यतीति बुद्ध्येति भावः । तथा च

संसार के कल्याणार्थ दुष्यन्त के द्वारा स्थापित तेज को धारण किया है, यह समझ रखिए ॥

(१) अनसूया—(प्रियंवदा को गले लगा कर) सखी ! यह बात बहुत अच्छी हुई—बहुत ही अच्छी हुई । परन्तु, आज ही शकुन्तला भेजी जायगी—इसलिए उत्कण्ठा के समान आनन्द का अनुभव करती हूँ ।

प्रियं— सखि ! वयं कथमपि उत्कण्ठां विनोदयिष्यामः, स इदानीं तपस्विनी निर्वृता भवतु (१) । (सहि ! अह्मे कधं पि उक्कण्ठां विणोदइस्सामो, सा दाणिं तपस्सिणी णिव्वुदा होदु ।)

अन—(२) तेन हि एतस्मिन् चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गके एतन्निमित्तमेव मया कालहरणक्षमा केसरगुण्डा निक्षिप्ता तिष्ठति । तदि-

शकुन्तलाया अचिरभाविवियोगचिन्तयोत्पन्नेन विषादेन सहातिदीनायास्तस्याः शीघ्रपतिसङ्गमो भविष्यतीत्युत्पद्यमानः परितोष इत्युभयमिति समुदितोऽर्थः । केचित्तु—आशुभाविवियोगचिन्तया विषादं, दीना प्रियसखी भर्तृसङ्गता सती शीघ्रमेव निर्वृता भविष्यतीति विषादतुल्यमेव परितोषम् अनुभवामीत्याशयार्थं विवृण्वन्ति । अनुभवामि—भुञ्जे ।

(१) प्रियमिति । कथमपि-केनापि प्रकारेण कष्टकरणेनेत्यर्थः, तपश्चरणादिनेति यावत् । उत्कण्ठां—प्रियसखीवियोगजनितं विषादं, तज्जनितां मनोवेदनामिति यावत् , तदुक्तं—'रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या ।

संशोषणी तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः ॥' इति ।

विनोदयिष्यामः—परिहरिष्यामः, किञ्चिदिति शेषः, तपस्विनी—मात्रादिहीनतया प्रियवियोगेन च दीना, ततश्चानुकम्पार्हेत्यर्थः 'मुनिदीनौ तपस्विनौ' इत्यमरः, 'तपस्वी तापसे चानुकम्पार्हे' इति विश्वश्च । निर्वृता—वल्लभसंयोगेन सुस्थिता 'निर्वृतिः सुस्थितावस्तगमने च सुखे स्त्रियाम्' इति मेदिनी, तथा चावयोः शकुन्तलावियोगदुःखापेक्षया शकुन्तलायाः पतिवियोगदुःखमतीव कष्टकरमिति तन्मा भूदिति भावः ।

(२) अनेति । एवं पर्यवस्थापिता प्रस्थानकौतुकनिर्वर्त्तने त्वरमाणाह—तेनेति । तेन हि—शकुन्तलायाः पतिगृहे गन्तव्यत्वेन हेतुना, एतस्मिन्—पुरोदृश्यमाने, एतस्मिन्नित्यङ्गुल्या निर्देशः, चूतस्य—आम्रतरोः शाखायामवलम्बिते-डोरकेण निबद्धय स्थापिते, नारिकेलसमुद्गके—नारिकेलस्य कपालेन रचिते सम्पुटके 'खोलया' इति प्रसिद्धे 'समुद्गकः सम्पुटकः' इत्यमरः । नारिकेलसमुद्गके केसरगुण्डानां स्थापनं शकुन्तलानेपथ्यावधिम्लानतापरिहारार्थं सौरभ्यरक्षार्थञ्चेति बोध्यम्, एतन्निमित्तमेव शकुन्तलायाः पतिगृहे गमनकाले प्रसाधनार्थमेव, कालहरणक्षमा—नारिकेलसमुद्गके

(१) प्रियंवदा—सखी ! हम किसी तरह उसके वियोग का विषाद दूर कर लेंगी, वह बेचारी तो सुखी होवे ।

(२) अनसूया—यदि ऐसा है तो मैंने इस आम की डाल में लटकती हुई नारियल की

मां नलिनीपत्रसङ्गतां कुरु ! यावदस्या अहमपि गोराचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानि मङ्गलसमालम्भनं विरचयामि । (तेन हि एदस्सिं चुअसाहावलम्बिदे णारिएलसमुग्गए एदण्णिमित्तं ज्जेव मए कालहरणक्खमा केसरगुण्डा णिक्खित्ता चिट्ठदि । ता इमं णलिणीवत्तसङ्गदं करेहि । जाव से अहं पि गोरोअणं तित्थमित्तिअं दुव्वाकिसलआइं मङ्गलसमालहणं विरएमि ।)

[प्रियंवदा तथा करोति । अनसूया निष्क्रान्ता ।] (१)

स्थिततया दीर्घकालेनापि विकृतिमनापद्यमाना, केसरगुण्डा-नागकेसरकुसुमरेणुः 'चाम्पेयः केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वयः' इत्यमरः । कुत्रचित् पुस्तके 'केसरमालिआ' (केसरमालिका) इति पाठः, तत्र नागकेसरमाला इत्यर्थः, सा हि पर्युषिताऽपि सौरभ्यं न मुञ्चतीति प्रसिद्धिः, शकुन्तलायाः केसरे प्रीतिविशेषश्च प्रथमाङ्के प्रदर्शितः, निक्षिप्ता—स्थापिता । तदिमां—केसरगुण्डाम्, नलिनीपत्रसङ्गतां—पद्मलतापत्रस्थाप्यां कुरु, प्रसाधनकाले उत्तोलनसौकर्यायेति भावः । यावत् यत्कालमभिव्याप्य, अस्याः शकुन्तलायाः सम्बन्धे, गोरोचनां तिलकाद्यर्थां, इयं स्वनामप्रसिद्धो द्रव्यभेदः, तीर्थमृत्तिकां—गङ्गादितीर्थप्रदेशसम्भूतां मृदम्, इयं मनःशिलादिवद्वर्णकरणे सोपयोगा, दूर्वाकिसलयानि—दूर्वाणां किसलयानि—पल्लवान्, यद्वा दूर्वाः किसलयानि आम्रपल्लवानि चेति विग्रहः, इदमुक्तसाद्यर्थं बोध्यम् । इति मङ्गलसमालम्भनं मङ्गलालङ्करणं मङ्गलानुलेपनं वा 'समालम्भनमालेपे तिलकेऽलंकृतावपि' इति यादवप्रकाशः । विरचयामि एकत्रीकरोमि, सङ्कलय्यानेष्यामीत्यर्थः । नववधूनां पतिगृहप्रवेशकाले नारीणामयं समुदाचार इति विभावनीयम् । मङ्गलालम्भनमित्यत्र 'एको न द्वौ' इतिवत् 'षण्मासा दक्षिणायनम्' इतिवच्च उद्देश्यविधेयभावाल्लिङ्गवचनयोरतन्त्रता । गोरोचनादेर्माङ्गल्यमाह ब्रह्मवैवर्त्तपुराणे;—

गच्छन् ददर्श रामेशो यात्रामङ्गलसूचकम् । दुग्धं गोरोचनामाज्यमघृतं पायसं तथा ॥
शालग्रामं पद्मफलं स्वस्तिकं शर्करां मधु । मार्जारञ्च वृषेन्द्रं च मेघपर्वतमूषिकम् ॥
मेघाच्छन्नस्य च रवेरुदयं चन्द्रमण्डलम् । कस्तूरीं कज्जलं तोयं हरिद्रां तीर्थमृत्तिकाम् ॥
सिद्धानां सर्षपं दूर्वां विप्रबालञ्च बालिकाम् ॥ इत्यादि ।

(१) प्रियंवदेति तथा करोति—केसरगुण्डां नारिकेलसमुद्गकादानीय नलिनीपत्रसङ्गतां करोति । अनसूया निष्क्रान्ता, गोरोचनादिविरचनायेति भावः ।

पिटारी के अन्दर, इसी काम के लिये कई दिन पहले से ही नागकेसरपुष्प की पराग रख छोड़ी थी । उसे तुम कमल के पत्ते (पुरइन) पर रखो, मैं इसके लिये गोरोचन, तीर्थ की मिट्टी और दूब के अंकुर आदि मांगलिक लेप तैयार करती हूँ !

(१) प्रियंवदा काम करने लगती है और अनसूया चली जाती है ।

[नेपथ्ये]

गौतमि ! आदिश्यन्तां शार्ङ्गरव-शारद्वतमिश्राः वत्सां शकुन्तलां नेतुं सज्जीभवन्त इति (१)।

प्रियं—अनसूये ! त्वरस्व त्वरस्व। एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषयः शब्दायन्ते (२)। (अणसूए ! तुवर तुवर। एदे क्खु हत्थिणाउरगामिणो इसिओ सद्दाविअन्ति।)

(१) नेपथ्ये इति। शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकस्य शीघ्रतासम्पादनाय कविः कण्वादेशं नेपथ्ये श्रावयितुमाह;-गौतमीति। गौतमीति कण्वस्य धर्मभगिनीसम्बोधनम्। शार्ङ्गरवशारद्वतमिश्राः;-शार्ङ्गस्य-शृङ्गरचितस्य चापस्य रवः-शब्द इव रवः-कण्ठध्वनिर्यस्य स शार्ङ्गरवः-तन्नामा प्रधानशिष्यः, शरद्वतः-तन्नाम्नः कस्यचिन्मुनेरपत्यं पुमान् शारद्वतः-तदभिधानश्च कश्चित् शिष्यः, तदभिधेया गौरवान्विता मुनय इत्यर्थः। गौरवार्थे बहुवचनम्। गौरविताश्चार्यमिश्रा इति भूरिप्रयोगः। आदिश्यन्ताम्-अनुमन्यन्ताम्। किमादेश्यमित्यत आह;-वत्सामिति। एतेन शकुन्तलोपरि सर्वेषां वात्सल्यातिशयो द्योत्यते। नेतुं—पतिगृहं प्रापयितुमित्यर्थः। सज्जीभवन्तु—उद्युक्ता भवन्तु। क्वचित्पुस्तके 'शार्ङ्गरवमिश्राः' इत्येव पाठः, तत्र बहुवचनेन शारद्वतस्य ग्रहणम्।

(२) प्रियमिति। त्वरस्व त्वरस्वेति तदाकर्णनात् सम्भ्रमेण द्विर्वचनम्। हस्तिनापुरं गमिष्यन्तीति हस्तिनापुरगामिनः शब्दायन्ते—आहूयन्ते कोलाहलं कुर्वन्ति। 'शब्दवैरकलहाभ्र'० [३।१।१७] इत्यादिना क्यङ्, नामधातुरयम्। केचित्त्वत्र;-दुष्यन्तस्य राजत्वसमये हस्तिना नाम पुरं नासीत् किन्तु दुष्यन्ताधस्तनहस्तिनामकनृपतिना सन्निवेशितत्वात् पश्चात्तस्या राजधान्या 'हस्तिना' इति नाम प्रथितम्, तस्मात् 'हस्तिनापुरगामिनः' इत्ययं पाठोऽलङ्कृत इत्याहुः, तन्न हस्तिनापुरस्य दुष्यन्तराजधानीत्वेन महाभारतादवगमात्। तथा च;—

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रातिष्ठन्त महौजसः।
शकुन्तलां पुरस्कृत्य सपुत्रां गजसाह्वयम् ॥'

इति महाभारतम्। गजसाह्वयं-हस्तिनापुरमित्यर्थः,।

(नेपथ्य में)

(१) गौतमी शार्ङ्गरव, शारद्वत आदि ऋषियों से कह दो, कि बेटी शकुन्तला को ले जाने के लिए तैयार हो जाँय।

(२) प्रियंवदा—अनसूया ! जल्दी कर, जल्दी कर, हस्तिनापुर को जाने वाले ऋषि बुलाये जा रहे हैं।

अनसूया—[समालम्भनहस्ता प्रविश्य ।] सखि ! एहि गच्छावः । (सहि ! एहि गच्छह्म ।) [इति परिक्रामतः] (१) ।

प्रियं—[विलोक्य] एषा सूर्योदये कृतमज्जना प्रतीष्टनीवारभाजनाभिः स्वस्तिवाचनिकाभिः तापसीभिरभिनन्द्यमाना तिष्ठति शकुन्तला, तदुपसर्पाव एनाम् । (एसा सुज्जोदए किदमज्जणा-पडिच्छिदणीवारभाअणाहिं सोत्थिवाअणिआहिं तावसोहिं अहिणन्दोअमाणा चिट्ठदि सउन्तला, ता उवसप्पह्माणं ।) [इत्युभे तथा कुरुतः] (२) ।

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टव्यापारा सपरिवारा शकुन्तला ।] (३)

तथा—निवृत्ते काश्यपे तस्मिन् समयेन महात्मनि ।
जगाम तत्तकस्तूर्णं नगरं नागसाह्वयम् ॥ इति च ॥

अत एव 'नागाह्वं हस्तिनापुरं, गजाह्वं हास्तिनञ्च' ।

यत्तु—हस्तिनामकनृपतिं दुष्यन्तपरवर्त्तिनमभिधाय 'सुहोत्राद्धस्ती य इदं वस्तिनापुरं स्थापयामास' इति विष्णुपुराणं, तत् रामावसानेऽयोध्यायाः कुशकृतसंस्काराभिप्रायकम् । स्थापनम्—अपायाद्रक्षणमित्यर्थः ।

(१) अनेति । समालम्भनहस्ता—समालम्भनम्—निरुक्तानुलेपनादिकमलङ्करणादिकं वा हस्ते यस्याः सा । समालम्भनं हस्ते धत्वेत्यर्थः ।

(२) प्रियमिति । सूर्योदये—पतिगृहे गमनानुरोधाय तदुदये एवेत्यर्थः, क्वचित् पुस्तके सूर्योदये एवेति पाठः । अनेन मुहूर्त्तप्रतीक्षणत्वरा सूच्यते, कृतमज्जना; कृतं मज्जनं-स्नानं यया सा । प्रतीष्टनीवारभाजनाभिः-मङ्गलार्थं गृहीतमुनिधान्यतण्डुलपात्राभिः, स्वस्तिवचनेन—शुभं भूयादित्याशीर्वचनेन संसृष्टा इति स्वस्तिवाचनिकास्ताभिः स्वस्तिवाचनिकाभिः, अभिनन्द्यमाना—आशिषा संवर्द्धमाना शकुन्तला तिष्ठतीत्यन्वयः । तथा कुरुतः—उपगच्छतः ।

(३) तत इति । यथानिर्दिष्टव्यापारा—कृतमज्जनाभिनन्दनादिक्रिया, सपरिवारा—तपस्विनीभिः परिवृता ।

---

(१) अनसूया—(सब सामग्रियों को हाथ में लिये हुए आकर) सखी ! चलो, चलें । (जाती है)

(२) प्रियंवदा—(देखकर) यह शकुन्तला सूर्योदय के समय स्नान करके बैठी है । और नीवार (तिन्नी) का पात्र हाथ में लिये आशीर्वाद देने के निमित्त आयी हुई तपस्विनियाँ उसकी संवर्धना कर रही हैं । अतएव चलो, इसके पास चलें । (यह कह कर दोनों शकुन्तला के पास जाती हैं ।)

(३) [इसके बाद ऊपर बतलाये व्यापार करती हुई परिवार के साथ शकुन्तला दिखाई पड़ती है ।]

शकु—भगवतीर्वन्दे (१)। (भअवदीओ वन्दामि ।)

गौत—जाते ; भर्त्तुर्बहुमानसुखहेतुकं देवीशब्दमभिगच्छ (२)। (जादे ! भत्तुणो बहुमाणसुहहेतुअं देवीसद्दं अहिगच्छ ।)

तापस्यः—वीरप्रसविनी भव। (वीरप्पसविणी होहि ।)

[इत्याशिषो दत्त्वा गौतमीवर्जं सर्वा निष्क्रान्ताः] (३)।

सख्यौ—[उपगम्य] सम्मज्जनं ते भूतम् ? (सम्मज्जणं दे भूदं (४)।)

शकु—स्वागतं प्रियसख्योः ! इतो निषीदतम्। (साअदं सिअसहीणं ? इदो णिसीदध (५)।)

---

(१) शकु इति। भगवतीः—युष्मान् तपस्विनीः, वन्दे—प्रणमामि।

(२) गौतमीति। जाते—वत्से, पुत्रि ! इति यावत्, भर्त्तुः—पत्युर्दुष्यन्तस्य, बहुमानेन—अत्यादरेण यत् सुखं तस्य हेतुकं-हेतुम्, यद्वा बहुमानः अत्यादरः सुखञ्च तयोर्हेतुकम्, देवीशब्दं-देवीतिसंज्ञाम्, अभिगच्छ—लभस्व, कुत्रचित् पुस्तके महादेवीशब्दमिति पाठः। तथा च राज्ञो दुष्यन्तस्य कृताभिषेका महिषी भवेति भावः। 'देवी कृताभिषेकायामितरासु च भट्टिनी' इत्यमरोक्तेः।

(३) तापस्य इति। वीरप्रसविनी;—वीरं—विक्रान्तं शूरपुत्रमिति यावत्, प्रसोतुं शीलं यस्याः सा तथाभूता भव, विक्रान्तं पुत्रं जनयस्वेत्यर्थः, 'शूरो वीरश्च विक्रान्तः' इत्यमरः, गौतमीं वर्ज्जयित्वेति गौतमीवर्ज्जम्, वर्ज्जणंमुल्।

(४) सख्याविति। संमज्जनं—मङ्गलार्थं सर्वौषधिजलेन स्नानम्, ते भूतमिति काक्वा प्रश्नो व्यञ्जितः।

(५) शकु इति। प्रियसख्योः—अनसूयाप्रियंवदयोः, स्वागतं—सुखेनागतम्, शुभागमनमित्यर्थः, भावे क्तप्रत्ययः; तद्योगे सख्योरिति कर्त्तरि षष्ठी। प्रश्नोऽयं काक्वा व्यज्यते। इतः अस्मिन् स्थाने, निषीदतम्—उपविशतम्। प्रियसख्योरागमनेन तस्याः सन्तोषो द्योत्यते।

---

(१) शकुन्तला—मैं आप सबों को प्रणाम करती हूँ।

(२) गौतमी—पति के आदर तथा सुखस्वरूप देवी (रानी) शब्द का लाभ करो।

(३) तपस्विनियाँ—वीरपुत्र की माता बनो।

(ऐसा आशीर्वाद देकर गौतमी को छोड़ कर बाकी सब चली जाती हैं।)

(४) दोनों सखियाँ—(आकर) तुम्हारा तो स्नान हो गया !

(५) शकुन्तला—प्रिय सखियों का स्वागत है, आओ, यहाँ बैठो।

सख्यौ—[उपविश्य] हला ! ऋजुका यावत् भव, यावत्ते मङ्गलसमालम्भनं कुर्वः(१) (हला ! उज्जुआ दाव होहि, जाव दे मङ्गलसमालहणं करेह्म ।)

शकु—उचितमप्येतत् अद्य बहु मन्तव्यम्, यतो दुर्लभं तावत् पुनर्मे प्रियसखीमण्डनं भविष्यति (२) । (उइदं पि एदं अज्ज बहु मणिदव्वं, जदो दुल्लहं दाव पुणो मे पिअसहीमण्डणं भविस्सदि) [इति बाष्पं विसृजति ।]

सख्यौ—सखि ! न युक्तं मङ्गलकाले रोदितुम् (३) । (सहि ! ण जुत्तं मङ्गलकाले रोदिदुं) [इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाटयेन प्रसाधयतः ।]

---

(१) सख्याविति । हलेति सम्बोधनम् । तावत्कालमभिव्याप्य, ऋजुका—अवक्रा सरलभावेन दण्डायमानेति यावत्, यावत्—यावत्कालमभिव्याप्य, मङ्गलसमालम्भनं-माङ्गलिकालङ्करणं माङ्गलिकानुलेपनं वा, गात्रस्येति भावः । यत्तु मङ्गलसमालम्भनपदस्य मङ्गलार्थगात्रानुलेपनरूपार्थकरणे उत्तरत्र शकुन्तलावाक्ये;—'दुर्लभं तावत् पुनर्मे 'प्रियसखीमण्डनं भविष्यति' इत्यनेनासामञ्जस्यं स्यादिति कश्चिदाह, तन्न, हरिद्रानुलेपनेन मण्डनवत् सामान्यानुलेपनेनापि मण्डनसङ्गतेः ।

(२) शकु इति । उचितमपि—चिराभ्यस्तमपि, 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति वैजयन्ती, एतत्-भवत्कृतमण्डनं गात्रानुलेपनं वा, बहु मन्तव्यं-समादरणीयम् । तत्र हेतुमाह;—यतो दुर्लभमिति । मे—मम, प्रियसखीमण्डनं—युष्मत्कर्तृककेशरचनम्, दुर्लभं—दुष्प्रापं भविष्यति, युवयोरस्मत्पतिगृहे वासासम्भवादिति भावः । 'मे' इत्यस्य 'प्रियसखीमण्डनम्' इत्यनेन सम्बन्धो न तु 'दुर्लभम्' इत्यनेनापि, खल्प्रत्ययान्तस्य कर्त्तरि षष्ठीनिषेधात् । बाष्पम्-अश्रु, विसृजति-विमुञ्चति, विरहचिन्तादुःखेन शोकोदयादिति भावः ।

(३) सख्याविति । मंगलकाले-पतिगृहगमनाय मंगलसमालम्भनकाले, अथवा पतिगृहे मांगलिकयात्राकाले कुलवध्वा भर्त्तृगृहगमनस्यैव मांगल्यपदार्थत्वादिति भावः । रोदितुम्-क्रंदितुम् । अनेन भविष्यद्वियोगः सूचितः । अश्रूणि-नयनाम्बूनि । प्रसाधयतः—वेशं रचयतः ।

---

(१) दोनों सखियाँ—(बैठकर) जरा तुम सीधी होकर खड़ी हो जाओ; हम तुम्हारे मांगलिक अनुलेपन करेंगी ।

(२) शकुन्तला—यह उचित है, फिर भी आज इसका मैं विशेष आदर करूँगी ! क्योंकि, अब से फिर प्रियसखी के हाथों से सुसज्जित होना हमारे लिए दुर्लभ हो जायगा । (यह कह कर रोने लगती है ।)

(३) दोनों सखियाँ—सखी ! मंगल के समय रोना ठीक नहीं है (यह कह कर और शकुन्तला की आँखों के आँसू पोंछकर अभिनय के साथ उसे सजाती है ।)

प्रियं—सखि ! आभरणार्हं ते रूपम् आश्रमसुलभैः प्रसाधनैः विप्रकार्य्यते (१)। (सहि ! आहरणारिहं दे रुअं अस्समसुलहेहिं पसाइणेहिं विप्पआरीअदि ।)

[प्रविश्य आभरणहस्त ऋषिकुमारः ।]—इदमलङ्कारजातम्, अलंक्रियतामायुष्मती (२)।

सर्वाः—[विलोक्य विस्मिताः ।] (३)

गौत—वत्स ! हारीत ! कुत इदमासादितम् ? (४)। (वच्छ हारीद ! कुदो इदं आसादिदं ?]

(१) प्रियमिति। अथ प्रसाधयन्ती तदुपकरणानां तद्रूपाननुरूपत्वं पश्यन्ती सविषादमाह; सखीति। आभरणार्हम्-अनर्घहारकेयूराद्यलङ्कारयोग्यम् कनकादिविभूषणार्हमिति यावत्, रूपम्-आकृतिः, आश्रमसुलभः—अनायासलभ्यैः पुष्पादिभिरेवेत्यर्थः, प्रसाधनैः-प्रसाध्यते वेशरचना क्रियते यैस्तैः, अलंकरणैरित्यर्थः, विप्रकार्यते—विकृतीक्रियते लोकतिरस्कारं नीयत इत्यर्थः। तथा च अनर्घहारकेयूरादियोग्यं मनोहरमिदं वपुः कुसुमादिभिरेवालङ्कारैर्भूषितमिति लोकनिन्दा जन्यत इति भावः। आश्रमसुलभैरित्यनेन देशभेद एवैवं भवने हेतुः पुरगमने तु अन्यथा भविष्यतीति सूच्यते। अत एव पौरा आश्रमवासिनां दारिद्र्यम् पश्यंतीति च खेदो व्यज्यते। 'निकारो विप्रकारः स्यादि' त्यमरः।

(२) प्रविश्य इति। आभरणोचितमित्यनेन सूचितमाभरणम्, तेन तदानयनकर्त्तृणामपि सूचनार्थमृषिकुमारयोः प्रवेशं निर्दिशति। प्रवेशात् पूर्वं नामापरिज्ञानादादौ प्रविश्येति वचनं पश्चात् ऋषिकुमार इति सामान्येन व्यक्तिनिर्देशः। अन्यत्र प्रविष्टपूर्वतया श्रुतवृत्तान्तत्वादनुमानबलेन वा प्रवेशात् प्रागनुभावात् तु प्रथमं व्यक्तिनिर्देशः सङ्गच्छते। अलङ्कारजातम्-अलङ्कारसमूहः, अलंक्रियतां भूष्यताम्' आयुष्मती—प्रशस्तायुःशालिनी, शकुन्तलेत्यर्थः।

(३) सर्वा इति। विस्मिताः—सञ्जातविस्मयाः, अकस्माद् बहुमूल्यालङ्कारदर्शनेन तेषां चातिरमणीयत्वदर्शनेनेति भावः।

(४) गौतेति। कुतः-कस्मात्, इदम्-अलङ्कारजातम्, आसादितम्-गृहीतम्।

(१) प्रियंवदा—सखी ! आभूषणों के योग्य तुम्हारा यह रूप आश्रमसुलभ वस्तुओं से तिरस्कृत हो रहा है।

(२) (एक ऋषिकुमार—हाथ में गहने लिए आता है।) ये अलंकार हैं, इनसे चिरजीविनी शकुन्तला का शृङ्गार करो।

(३) सब—(देख कर चकित हो जाती हैं।)

(४) गौतमी—वत्स हारीत ! यह तुम्हें कहाँ से मिला ?

हारी—तातकण्वप्रभावात् (१)

गौत—किं मानसी सिद्धिः (२) ? । (किं माणसी सिद्धी ?)

हारी—न खलु, श्रूयताम् , तत्र भवता कण्वेन वयमाज्ञप्ताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति । ततश्च (३)

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं

विस्मयेनैवायं प्रश्नः । केषुचित् पुस्तकेषु हारीत इत्यत्र नारद इति पाठः । गौतम्या नाम्नः परिचायितत्वाद्धारीतेति ।

(१) हारीति । तातकण्वप्रभावात्—तातस्य—गुरुत्वेन पितृकल्पस्य कण्वस्य प्रभावात्—शक्तेः, आसादितमित्यनुपज्यते । 'प्रभावः शक्तितेजसोः' इति विश्वः ।

(२) गौतेति । मानसी—मनःकृता सिद्धिः-निष्पत्तिः, 'सिद्धिर्निष्पत्तियोगयोः' इति विश्वः, अलङ्कारजातस्येति शेषः । किं मनःसङ्कल्पमात्रेणास्यालङ्करणजातस्य लाभ इत्यर्थः । तादृशी सिद्धिर्योगिनां प्रसिद्धा, यथा विश्वामित्रादीनाम् । एवमाह नैषधकाव्ये; यथा—

गच्छता पथि विनैव विमानं व्योम तेन मुनिना विजगाहे ।
साधने हि नियमोऽन्यजनानां योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः ॥ इति ॥

(३) हारीति । न खलु—नैव, मानसी सिद्धिरित्यनुपज्यते । आसादनप्रकारमाह—श्रूयतामित्यादि । शकुन्तलाहेतोः-तत्प्रसाधनार्थम्, वनस्पतिभ्यः-वृक्षेभ्यः । 'वनस्पतिर्वृक्षमात्रे' इति विश्वः । आहरत-आदत्त । इति वयमाज्ञप्ता इत्यन्वयः । ततः किमभूदित्यपेक्षायामाह-तत इति अस्मासु कुसुमोच्चयोद्युक्तेषु सत्स्वित्यर्थः ।

क्षौमेति । केनचित् तरुणा—वनस्पतिना, वृक्षेणेति यावत्, इन्दुवत्—चन्द्रमण्डलवत् पाण्डु—सितपीतम्, 'सितपीतसमायुक्तः पाण्डुवर्णः प्रकीर्त्तित' इति सुभूतिः, यद्वा इन्दुवत्-चन्द्रवत् पाण्डु-शुभ्रवर्णम्, अनेन नैर्मल्यातिशयः तेन मनोहरत्वं च व्यज्यते, माङ्गल्यं-मङ्गलकर्मणि साधु, अनुपहतदशं गोरोचनाचित्रितपर्यन्तं चेत्यर्थः, क्षौमं-पट्टांशुकं तद्युगलमित्यर्थः, तेनाग्रे 'परिहेहि क्खोमजुअलं' (परिधेहि क्षौमयुगलम्) इति वक्ष्यमाणं सङ्गच्छते, आविष्कृतं-स्वदेहान्निःसार्य्यं

(१) हारीत—पिता कण्व के प्रभाव से ।

(२) गौतमी—यह सब क्या केवल मन के संकल्प से उत्पन्न हो गया है ?

(३) हारीत—नहीं, सुनिये, पूज्य कण्वने हमें आज्ञा दी, कि—शकुन्तला के लिये इन वृक्षों से फूल चुन लाओ । बस, इस पर—

किसी वृक्षने चन्द्रमा की तरह सफेद मांगलिक रेशमी कपड़े उत्पन्न कर के दिया, किसी वृक्षने पाँव रंगने के लिए बड़ा ही सुन्दर महावर निकालकर दिया, इसी तरह सब

निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयच्छायापरिस्पर्द्धिभिः ॥ ७ ॥

प्रियं—[शकुन्तलां विलोक्य] हला ! कोटरसम्भवापि मधुकरी (१)

समर्पितम् । तथा केनचित्··तदन्येन तरुणा, चरणयोः—पादयोः उपरागः रञ्जनं तत्र सुभगः—सुन्दरः उचितो वा, अनेन विशेषणेनानेक·प्रयत्नजनित चरणलेपनयोग्यताऽयत्नसिद्धेति ध्वन्यते, लाक्षारसः—अलक्तकद्रवः' अलक्तकद्रवे चरणरञ्जनं स्त्रीणां व्यवहारः, निष्ठ्यूतः—उद्गीर्णः, बहिष्कृत्य प्रदत्तः । तथा अन्येभ्यः-वनदेवताधिष्ठितेभ्यो वृक्षान्तरेभ्यः, सकाशात् , आपर्वभागं-मणिबन्धपर्य्यन्तंमर्यादीकृत्य उत्थितः—उद्गतैः, मणिबन्धपर्य्यन्तं बहिर्निःसृतैरित्यर्थः, किसलयानां—पल्लवानां छायां—कान्तिं परिस्पर्द्धन्ते··अनुकुर्वन्तीति तच्छीलैः, पल्लवशोभानुकारिभिरित्यर्थः, पल्लववत्पाटलवर्णैरिति यावत्, लक्षणया रक्ततरत्वकोमलत्वादिकं व्यङ्ग्यम्, वनदेवतानां करतलैः-पाणिभिः कर्तृभिः, ननु वनदेवतानामेवाभरणदानकर्तृत्वमस्तु किं तत्करतलैरिति चेत्, उच्यते, आपर्वेति विशेषणेन तासामदृश्यत्वसूचनात् दानकर्तृत्वासम्भवे करतलभागस्य दृश्यत्वेन दानकर्तृत्वसाधनाय तत् । किसलयेति विशेषावकाशदानाय तलग्रहणम्, नः—अस्मभ्यम्, अस्माकमन्तिके वा आभरणानि नानाविधालङ्करणानि, दत्तानि-समर्पितानि शकुन्तलार्थमिति भावः । अत्र वनदेवताकरतलदत्ताभरणेन शकुन्तलाया आजन्मावैधव्यं सौभाग्यमाभरणानामनर्घत्वादि च व्यज्यते । अत्र वृक्षाणां स्थावरत्वेऽपि कण्वतपःप्रभावात् चेतनवत् चौमाद्याविष्करणसामर्थ्यम् । यथा श्रीमद्भागवते—

'यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥

'इन्द्रपाण्डु' इत्यत्र 'किसलयच्छायापरिस्पर्द्धिभिः' इत्यत्र च समासगा लुप्तोपमा । अत्र पूर्वसिद्धार्थकथनान्निरुक्तिर्नाम नाट्यलक्षणम्, 'पूर्वसिद्धार्थकथनं निरुक्तिरिति कीर्त्यते' इति विश्वनाथोक्तेः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७ ॥

(१) प्रियमिति । कोटरे-वृक्षाणां गर्त्ते सम्भवः-उत्पत्तिर्यस्यास्तथोक्तापि, मधु

वृक्षों से मणिबन्ध देश तक निकले हुए पल्लव के समान सुन्दर वनदेवताओं के हाथों ने हमको विविध प्रकार के अलंकार दिये ॥ ७ ॥

(१) प्रियंवदा—(शकुन्तला को देखकर) एक पेड़ के कोटर में उत्पन्न हुई भी भ्रमरी

पुष्करमध्वेव अभिलषति । (हला ! कोडरसम्भवा वि महुअरी पोक्खरमहुज्जेव अहिलसदि ।)

गौत—जाते ! अनया अभ्युपपत्त्या सूचिता भर्त्तुर्गेहे अनुभवितव्या राजलक्ष्मीः (१) । जादे ! इमाए अब्भुभववत्तीए सूइदा भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छी ।

शकु—(लज्जां नाटयति ।) (२)

हारी—यावदिमां वनस्पतिसेवामभिषेकार्थं मालिनीमवतीर्णाय तत्रभवते कण्वाय निवेदयामि । [इति निष्क्रान्तः ।] (३)

करी–भ्रमरी, पुष्करस्य–कमलस्य मधु, अभिलषति–अभिलषन्ती प्राप्नोति । तथा च तपोवनसम्भवाऽपि त्वं प्रासादवासिनीभोग्यानलङ्कारानासादयसीति प्रस्तुतप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः ।

(१) गौतेति । जाते–वत्से, अनया अभ्युपपत्त्या–वसनभूषणादिप्रदानरूपेण वनदेवतानुग्रहेण, 'अभ्युपपत्तिरनुग्रहः' इत्यमरः, राजलक्ष्मीः–पट्टमहिषीपदप्राप्तेरखिला राजसम्पत् अनुभवितव्या, सूचिता–त्वया भोक्तव्यत्वेन ज्ञापिता, देवतानुग्रहस्य भाविश्रेयःसूचकत्वादिति भावः । तथा च उपक्रमे सुखभोगोपस्थितौ भाविसुखभोगस्य सर्वत्र दृष्टचरत्वात् ते पतिगृहगमनोपक्रमे एव देवताकरतलार्पितभूषणादिलाभेनावश्यं सुखभोगो भविष्यतीत्याशयः ।

(२) शकु इति । लज्जां गुरुजनमुखाद्भर्त्तृकयोस्थापनश्रवणेन व्रीडां नाटयति–अभिनयति । ईदृशसमाचारस्थले स्त्रीणां लज्जायाः स्वभावसिद्धत्वादिति भावः ।

(३) हारीति । अभिषेकार्थं–स्नानाय, मालिनीं–तन्नामनदीम्, अवतीर्णाय–गताय, तत्रभवते–माननीयाय कण्वाय, वनस्पतिसेवां–वसनभूषणादिदानेन तपोवनतरुसमूहकृतोपचारम् , निवेदयामि—विज्ञापयामि । तेन तस्य महान् सन्तोषो भविष्यतीति भावः ।

कमल का ही मधु चाहती है !

(१) गौतमी—वत्से ! वनदेवताओंके इस अनुग्रह से मालूम होताहै कि तू अपने स्वामी के घर में राजलक्ष्मी का भोग कर सकेगी ।

(२) शकुन्तला—(लज्जित हो जाती है ।)

(३) हारीत—तब तक मैं इस वनस्पति-सेवा की बात, स्नान करने के लिए मालिनी तट पर गये हुए पूज्य कण्व को बतला आऊँ । (चला जाता है ।)

अन—सखि ! अननुभूतभूषणः अयं जनः कथं त्वामलंकरोति। [चिन्तयित्वा विलोक्य च ।] चित्रपरिचयेन इदानीं ते अङ्गेषु आभरणविनियोगं कुर्वः (१)। (सहि ! अणणुभूदभूसणो अअं जणो कधं तुमं अलंकरोदि। चित्तपरिचएण दाणिं दे अङ्गेसु आहरणविणिओअं करेह्म ।)

शकु—जानामि वां निपुणत्वम् (२)। (जाणामि वो णिउणत्तणं)

सख्यौ—[नाट्येनालङ्कारान् विनियुञ्जाते ।] (३)

[ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः कण्वः ।] (४)

---

(१) अनेति। अथानसूयाऽलङ्करणासामञ्जस्यं सम्भाव्य तज्जनितमात्मदोषं परिहर्त्तुं तद्विनियोगासामर्थ्यं दर्शयन्ती व्याचष्टे-सखीति। अननुभूतानि-अपरिचितानि धारणदर्शनादेरभावादिति भावः, भूषणानि येन स तथोक्तः, अयं-मल्लक्षणो जनः, कथमलङ्करोति-अलङ्कर्त्तुं महति, कदाचिदप्यपरिहितालंकारत्वात्तन्निवेशनस्थानाज्ञानात् कथमप्यलङ्कर्त्तुं न शक्नोमीत्यर्थः। चिन्तयित्वा-अलङ्कारनिवेशनस्थानं विभाव्य, विलोक्य-चित्रस्मृत्या तत्तदङ्गं निरूप्य चित्रपरिचयेन-चित्रलिखितानां स्त्रीसंस्थाननिवेशितानामाभरणानां दर्शनोत्पन्नज्ञानेन, आलेख्यपटे स्त्रिया यद्यदङ्गेषु यद्यदाभरणानि खचितानि सन्ति तत्तत्स्मरणेनेत्यर्थः, आभरणनियोगम्-आभरणानां यथास्थानं प्रयोगं, कुर्वः-आवामित्यर्थः।

(२) शकु इति। वां युवयोः, निपुणत्वं-सर्वेष्वेव विषयेषु नैपुण्यम्। तथा च सर्वेष्वपि विषयेषु युवयोरभिज्ञत्वसत्त्वादाभरणविनियोगविधावपि तदभिज्ञत्वमव्याहतमेवेत्यतः पूर्वोक्तरूपं मा वादिष्टमिति भावः।

(३) सख्याविति नाट्येन-न वास्तवेनेत्यर्थः, विनियुञ्जाते-परिधापयतः। अत्र केचित् नाट्येनेति कर्त्तरीमुखेनालक्तकेन पादरञ्जनम्, हंसास्येन च्युतसंदंशेनोर्मिकापरिधानम्। एवमन्यदप्यनुसन्धेयम्। कर्त्तरीमुखलक्षणं यथा—'अश्लिष्टा मध्यमा पृष्ठे संस्थिता तर्जनी यदा। त्रिपताकस्य हस्तस्य तदा स्यात् कर्तरीमुखः।'

(४) तत इति। स्नानोत्तीर्णः-पूर्वं स्नातः पश्चादुत्तीर्णः, मालिनीनद्यीतो निर्वं-

---

(१) अनसूया-सखी ! इस व्यक्ति ने कभी किसी अलंकार का अनुभव ही नहीं किया है, तो फिर तुम्हें किस तरह अलंकार पहनावे। (सोचकर और देखकर) चित्र में जिस तरह लिखा रहता है, उसी के अनुसार पहनाऊँगी।

(२) शकुन्तला—मैं तुम्हारी होशियारी जानती हूँ।

(३) दोनों सखियाँ—(अलंकार पहनाती हैं।)

(४) [इसके बाद स्नान कर कण्व आते हैं।]

कण्वः—[विचिन्त्य] (१)—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ ८ ॥

र्तितस्नानविधिरित्यर्थः । इदं सन्ध्यावन्दनाद्युपलक्षणम् ।

(१) अथ शकुन्तलाप्रेषणायोद्युक्तः कण्वः स्नेहातिशयात् तद्विषयं दुःखं दुःसहं मन्यमानो विरहवैक्लव्यमनुसन्दधाति—यास्यत्यद्येति अद्य अस्मिन्नहनि न त्विदानीमित्यर्थः, शकुन्तला यास्यति—भर्तृगृहं गमिष्यति, न तु याता न याति किन्तु यास्यतीति मनसि कृतमात्र एवेदृगुत्कण्ठादिकमन्यदा कीदृग्भविष्यतीति भावः, इति हेतोः, हृदयं-मम मनः, तदनुध्यानेन तन्मयीभूतमिति भावः। उत्कण्ठया-उन्मनस्कतया; 'रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या । संशोषणी तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः ॥' इति लक्षणलक्षितया वा, उत्कण्ठायाः कर्तृत्वोक्त्या हठात्कारो व्यज्यते, संस्पृष्टं-सम्यक् स्पृष्टम्, आक्रान्तमिति यावत्, न त्ववगाढमुत्तरक्षणे तदपि भविष्यतीति भावः। नन्वत्र हृदयस्य स्पर्शनासम्भवात् हृदयपदोपादानेऽर्थगतपौनरुक्त्यम् स्यात्, इति चेत्, न, तत्तदिन्द्रियजन्यतत्तद्विषयकज्ञानं प्रति हृदयस्यैव कारणतयाऽग्रे दर्शनस्य चिन्ताजडत्वकथने हृदयपदोपादानाभावे तादृशार्थस्फूर्तेरसम्भवात् । कण्ठः—स्वरः 'कण्ठः शब्देऽन्तिके गले' इति भोजः, स्तम्भितया—वैक्लव्याप्रकाशनार्थममङ्गलपरिहारार्थं च कथञ्चिदन्तर्निरुद्धया बाष्पाणां-स्वरसतः प्रवृत्तानामश्रुजलानां वृत्त्या—उद्गमनेन, कलुषः—अस्पष्टः गद्गद इति यावत्, यद्वा स्तम्भितानाम्—अन्तर्निरुद्धानामपि बाष्पाणाम्—अश्रुजलानां वृत्त्या-प्रवृत्त्या चक्षुर्गोलकान्तः पुनरागमेनेति यावत्, कलुषः-अस्वच्छः, अस्पष्ट इत्यर्थः। स्तम्भितत्वे कारणं पुरुषगतधैर्यम्, तेन निर्हेतुत्वं न शक्यम्, प्रवृत्तस्य स्तम्भयितुमशक्यत्वाद् वृत्तिपदोपादानम्, एतेन स्फुटं वाचोऽप्रवृत्तिर्ध्वन्यते । 'अन्तर्बाष्पभरोपरोधि गदितम्' इति पाठे—गदितं—वचनं, भावे क्तः, अन्तर्बाष्पाणाम्—अन्तर्गतानामश्रूणाम् न पुनर्बहिः स्खलितानामिति भावः, अनेन धैर्यातिशयो ध्वन्यते, भरेण-समूहेन आतिशय्येनेत्यर्थः यः उपरोधः प्रतिबन्धः स विद्यते यस्येति तथोक्तं, अन्तर्बाष्पकृतव्याघातवदित्यर्थः, तथा दर्शनं-दृष्टिः, चिन्तया—शकुन्तलावियोगभावजया, जडं—विषयग्रहणाक्षमम्, अत्र प्राधान्येन मनश्चक्षुषोः पारवश्यमुक्तमन्येषा-

(१) कण्व—(सोचकर)—

आज शकुन्तला जायगी, इसलिए विषादने आकर हृदय पर अधिकार कर लिया है।

मिन्द्रियाणां पारवश्यस्याप्युपलक्षणम्, यद्वा दर्शनं—यत्तदिन्द्रियजं ज्ञानम्, 'दृशिर्ज्ञानेऽचिग दर्शने' इति मेदिनी, चिन्तया-शकुन्तलानुध्यानेन जडं—स्वस्वविषयाग्राहकम्, चिन्ता-ज्ञानकारणीभूतस्य मनसोऽभिभवादिति भावः, यथा मालतीमाधवे, 'परिच्छेदव्यक्तिर्न भवति पुरस्थेऽपि विषये' इति। अरण्यं—वनमेव ओकः—आवासो यस्य तस्यापि, जन्मनः प्रभृति तपस्तप्त्वा तपोवने वर्त्तमानस्यापीत्यर्थः, मम नियतपस्विनः, शमदमादिगुणसम्पन्नस्येत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम्, एतेन वैक्लव्यस्यात्यन्तासम्भाव्यत्वं सूचितम्, स्नेहात् विधिवशेनापत्यवात्सल्यात्, ईदृशम् एवं विधमनुभूयमानम्, सातिशयमिति तात्पर्यम्, वैक्लव्यं—विह्वलत्वं, हृदयपारवश्यं दुःखमित्यर्थः। तावत्—सर्वतोभावेनेत्यर्थः, जातमिति शेषः। अत एव नवैः—नूतनैः, प्रथमोत्पन्नैरित्यर्थः, द्वितीयवारादौ पूर्वानुभूतत्वात् न तथा दुःखमिति भावः, तनयायाः-औरस्यायाः कन्यायाः विश्लेषदुःखैः विच्छेदजकष्टैः, इदं शकुन्तलाविच्छेददुःखस्य प्रतियोगि, दुःखानां बहुविधत्वाद् बहुवचनम्, गृहिणः—गृहाश्रमिणो जनाः, विषयासक्ता इत्यर्थः, इदमरण्यौकस इत्यस्य प्रतियोगी, कथं न पीड्यन्ते ?—क्लिश्यन्ते ?, सुतरां पीड्यन्त एवेत्यर्थः। तथा च—शमदमादिगुणसंपन्नस्य विषयपराङ्मुखस्य तपस्विनो वानप्रस्थिजनस्य कन्याविच्छेदजदुःखसम्भवे संसारेषु गाढतरं लिप्तत्वात् मायया अभिभूयमानस्य गृहस्थस्य तादृशं दुःखमनिवार्यमेव सम्भवतीति भावः।

अनेन पद्येन विषयाभिलाषशून्यस्यापि मुनेः पालितकन्यायामीदृशवात्सल्यप्रदर्शनेन-सर्वजीवेषु समदर्शित्वं तथा कारुण्यरत्नाकरत्वं च सूचितम्।

किञ्चात्र 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समा' इत्यादौ वाल्मीक्यादिवत् कण्वस्य मुनेः शोको वर्णित इति शकुन्तलाप्रस्थानालम्बितस्तद्गुणस्मरणाद्युद्दीपितो बाष्पस्वरभङ्गाद्यनुभावितो मतिचिन्ताविषादादिभिर्व्यभिचरितः करुणो रसः प्रधानतया द्योत्यते। केचित् पुनरद्भुतं तदङ्गतयाऽत्र कल्पयन्ति। अन्ये तु ममाप्येवं वैक्लव्यं जातमित्येतदद्भुतमित्यर्थप्रतीतेः करुणोपस्कृतोऽद्भुतो रसः प्रधान इति वदन्ति। नन्वत्र वैक्लव्यादिशब्दैः शोकादेरुक्तौ रसदोष आपतीति चेत्, न 'व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता' इत्युक्तेः। नाटकेऽस्मिन् अयं हि श्लोकः सर्वोत्तम इति प्रसिद्धिः, तथा च प्राचीनप्रवादः—

'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशकुन्तलम्।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥
यास्यत्यद्येति तत्रापि श्लोकः सर्वमनोहरः ॥' इति।

अत्रैकं वैक्लव्यरूपं कार्यं प्रति उत्कण्ठास्पर्शरूपे एकस्मिन् कारणे सत्यपि कण्ठ-

---

आँसू रोकता हूं, परन्तु वह आकर गले की आवाज को अस्पष्ट कर देता है और चिन्ताके कारण दृष्टिशक्ति भी कुण्ठित हो चली है। मैं बनवासी हूँ, तब भी स्नेहवश मुझे इस

[इति परिक्रामति] (१)।

सख्यौ—हला शकुन्तले ! अवसितमण्डनासि; साम्प्रतं परिधेहि क्षौमयुगलम् (२)। (हला सउन्तले ! अवसिदमण्डणासि सम्पदं परिहेहि क्खोमजुअलं ।)

शकु—[उत्थाय नाट्येन परिधत्ते ।] (३)

गौत—जाते ! एष ते आनन्दबाष्पपरिवाहिना लोचनेन परिष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः, तत् समुदाचारं प्रतिपद्यस्व (४)। (जादे ! एस दे आणन्द—वाप्प—परिवाहिणा लोअणेण परिस्सजन्तो विअ गुरू उवत्थिदो; ता समुदाआरं पडिवज्जस्स ।)

कालुष्यादिरूपकारणान्तराभिधानात् कारणद्वैविध्यात् समुच्चयालङ्कारः, । उत्तरार्द्धेऽर्थापत्तिश्च, इत्यनयोः परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । काव्यलिङ्गं चेति केचित् । व्यतिरेकश्चेत्यपरे । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

(१) परीति । परिक्रामति—शकुन्तलासमीपं प्रतीति शेषः ।

(२) सख्याविति । अवसितं-समाप्तं मण्डनं-भूषणं यस्याः सा; परिहितभूषणा इत्यर्थः । क्षौमयुगलं—पट्टवस्त्रयुग्मम्, वैधकर्मणि एकवासोधारणस्य निषेधात् स्त्रियाः पतिगृहयात्राया वैधकर्म्मत्वाद् युगलग्रहणम् । तथा चोक्तम्,-'नैकवासोधरस्तथा' इति ।

(३) उत्थायेति । अन्यथा वस्त्रधारणस्याशक्यत्वात् । परिधत्ते—क्षौमयुगलमिति शेषः ।

(४) गौतेति । कन्यावियोगदुःखसागरनिमग्नस्य पितुः शोकोदयकथने कन्याया अपि शोकोदयः सम्भवेदिति हेतोर्बुद्धिमती गौतमी तत्त्वार्थं प्रच्छाद्यापदेशेनाह;—आनन्देति । आनन्देन—दुहितुर्भर्तृसंयोगप्राप्त्याशाजनितसुखेन यो बाष्पः-निर्गत-

---

तरह की विह्वलता है तो फिर गृहस्थलोग कन्या के बियोग के नये दुःख से क्यों न दुःखी होते होंगे॥ ८ ॥

(१) [शकुन्तलाकी ओर चलते हैं]

(२) दोनों सखियाँ—सखी शकुन्तला ! तुम्हारा शृङ्गार हो चुका । अब रेशमी जोड़ा कपड़ा पहनो ।

(३) शकुन्तला—(उठकर अभिनय करती हुई पहनती है)

(४) गौतमी—वत्से ! आनन्दाश्रु भरे नेत्रों द्वारा आलिङ्गन करने ही के लिए मानों तुम्हारे पिता (कण्व) आ रहे हैं । इसलिए उठकर उचित आचरण करो ।

शकु—[सव्रीडं वन्दनां करोति] (१)।

कण्वः—वत्से ! (२)।

यथातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
पुत्रं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥ ९॥

आनन्दबाष्पस्तं परिवहति—धारयतीति तच्छीलेन, आनन्दाश्रूणि परिमुञ्चतेत्यर्थः, लोचनेन-नयनेन, 'सर्वे भावाश्चक्षुषि व्यज्यन्त' इति न्यायाद् आनन्दातिशयं प्रकाशयता चक्षुषोपलक्षित इति समुदितोऽर्थः, शोकबाष्पोल्लेखे दुहितुरपि शोको द्विगुणीभविष्यतीत्यानन्दबाष्पपदम्। लोचनेनेत्युपलक्षणे करणे वा तृतीया, परिष्वजमान इव—आलिङ्गन्निव, प्रगाढदृष्टिप्रसारणया विषयीकुर्वन्निवेति यावत्, इति उत्प्रेक्षालङ्कारः एतेन तदानीं गुरोर्विशेषतः सस्नेहनिरीक्षणं गम्यते, वचनमिदं शकुन्तलाया हृदयोल्लासार्थम्, गुरुः—पिता, समुदाचारं—शिष्टाचारं समुपयुक्तव्यवहारं चरणवन्दनादिकमिति यावत्, प्रतिपद्यस्व—प्राप्नुहि, कुर्विति यावत्, अन्यमनस्कतया कर्त्तव्यविमूढा मा भूरिति शकुन्तलायाः—पित्रागमनकालोचिताभ्युत्थानवन्दनादिकं गौतम्या स्मार्यते।

(१) शकु इति। सव्रीडं—सलज्जम्। कन्यायाः पित्रादिगुरुजनान्तिके पतिविषयकवार्त्तामात्रस्यैव लज्जाकरत्वादत्र तु शकुन्तलायाः पतिगृहगमनप्रस्तावेन स्वावस्थानुसन्धानात् व्रीडा।

(२) कण्व इति। अत्र वत्से इति स्नेहप्रकर्षव्यञ्जकं सम्बोधनं तदानीं कण्वस्य कन्योपरि विशेषप्रतिपत्तिं सूचयति। इदं श्लोकीयवाक्यमन्वेति।

वात्सल्यानुरूपमाशिषं प्रयुंक्ते;—यथातेरिति। यथातिर्नाम सोमवंशीयः कश्चिद्राजा तस्य, शर्मिष्ठा—तन्महिषी वृषपर्वदुहिता इव, त्वं शकुन्तलेत्यर्थः, भर्तुः—दुष्यन्तस्य, बहुमता-अत्यादरपात्रीभूता महादेवीपदप्राप्त्या माननीया वेत्यर्थः। भव, 'बहुमता' इति वर्त्तमाने क्तप्रत्ययः, तद्योगात् 'क्तस्य च वर्त्तमाने' इत्यनेन भर्त्तुरिति कर्त्तरि षष्ठी। तथा सा-शर्मिष्ठा, पूरुं-पूरुनामानं पुत्रमिव, त्वमपि सम्राजं चक्रवर्त्तिनम्, 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरोक्तलक्षणलक्षितम्, पुत्रम् अवाप्नुहि—प्राप्नुहि ॥ ९ ॥

---

(१) शकुन्तला—(लज्जा के साथ उठकर नमस्कार करती है।)

(२) कण्व—वत्से !—

जैसे शर्मिष्ठा ययाति की अतिशय प्रेमपात्री थी, उसीतरह तुम अपने स्वामी को अत्यन्त प्रेमपात्री बनो, और जिसतरह शर्मिष्ठाने भावी सम्राट् पूरु को पुत्ररूप से पाया था, उसीतरह तुम भी भावी सम्राट् पुत्र पाओ ॥ ९ ॥

गौत—जाते ! वरः खल्वेषः न आशीः (१) । (जादे ! वरो क्खु एसो, ण आसिसो ।)

कण्वः—वत्से ! इतः सद्योहुतानग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व (२) ।

'पुरा किल ययातिर्नाम राजर्षिः शुक्रकन्यां देवयानीं वृषपर्वसुतां शर्मिष्ठाञ्चोपयेमे । परञ्च तयोर्मध्ये शर्मिष्ठैव तस्य राजर्षेर्बहुमताऽऽसीत्, अतस्तत्सन्ततिः पूरुरेव वृद्धस्य पितुरादेशेन सम्राट् बभूव' इति कथा महाभारतादितोऽनुसन्धेया ।

तथा च मत्स्यपुराणम्—देवयान्युवाच—

'शर्मिष्ठयातिवृत्ताऽस्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ।
त्रयोऽस्यां जनिताः पुत्रा राज्ञानेन ययातिना ।
दुर्भगायां मम द्वौ तु पुत्रौ तात ब्रवीमि वः ॥' इति

ययातिपुत्रानाह विष्णुपुराणम्—

'यदुञ्च तुर्वसुञ्चैव देवयानी व्यजीनत् ।
द्रुह्युञ्चानुञ्च पूरुञ्च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥' इति ।

अत्रोपमालङ्कारः । उपमया बह्वीष्वपि पत्नीषु त्वमेव प्रधानमहिषी भूयाः, सम्राट् दुष्यन्तस्त्वत्पुत्रमपि यौवराज्येऽभिषेचयतीति च सूचितम् । अत्राशीर्नाम नाट्यालंकारः, यदुक्तं दर्पणे—'आशीरिष्टजनाशंसा' । इति ॥ ९ ॥

(१) गौतेति । एषः—'ययातेरिव शर्मिष्ठा' इति पितुर्वाक्प्रयोगः, वरः खलु नियतेष्टफलकत्वात् । न चात्र पक्षे हेत्वभावरूपासिद्धिरिति वाच्यम् ।

'लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्त्तते । ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'।

इत्यादिना नियतेष्टफलकत्वस्य पक्षवृत्तित्वसिद्धेः । यन्नैवं तन्नैवम्, यथाशीः । आशीः पुनरवश्यम्भावीष्टाशंसनमात्रम् । यदुक्तं व्याकरणतन्त्रे—

'अप्राप्तप्रार्थनमाशीः परस्येष्टार्थशंसनं वा ।' इति ।

वरस्तु तस्य विधिरभीष्टसाधनसमर्थः । इत्युभयोर्भेदः । अयं भावः—महर्षेः प्रभावातिशयेन वरदाने समर्थत्वात् त्वां प्रति तथा सन्तुष्टत्वाच्च 'ययातेरिव शर्मिष्ठा' इत्यादिरूपो वाग्व्यापारो वर एव, न त्वाशीः तस्य येन केनापि कर्त्तुं शक्यत्वेन महर्षेस्तत्र प्रवृत्तौ विशेषप्रयोजनाभावादिति ।

(२) कण्व इति । अथ कण्वः प्रणामाङ्गतया कर्त्तव्यमुपदिशति—वत्से इति । इतः—अत्र देशे, सद्योहुतान्—आज्येन सद्यस्तर्पितान्, प्रातःकालस्य होमीयत्वादिति भावः । यद्वा सद्योहुतान्—यात्राकाल एव शकुन्तलाभ्युदयार्थं विशेषतो हुतान्

---

(१) गौतमी—वत्स ! यह तुम्हारे पिता का आशीर्वाद नहीं, बल्कि वरदान है ।

(२) कण्व—बेटी ! अब तुरन्त होम किये हुए अग्नि की परिक्रमा कर लो ।

[सर्वे तथा कारयितुं परिक्रामन्ति)

कण्वः—वत्से (२)।

अमी वेदीं परितः कॢप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥ १० ॥

इत्यर्थः, अग्नीन्–वैतानाग्नीन्, प्रदक्षिणीकुरुष्व–दक्षिणावर्त्तेन भ्रमणं कुरु इत्यर्थः। अयमाचारः यथा :—

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशनम्'। इति।

एतेन हव्यगन्धैरिति वक्ष्यमाणहव्यगन्धानां प्रचुरत्वं व्यञ्जितम्। प्रदक्षिणीकुरुष्वेत्यभूततद्भावे च्विप्रत्ययः।

(१) सर्वे इति। सर्वे–गौतमीप्रमुखास्तत्र स्थिता इत्यर्थः। तथा–शकुन्तलाकर्तृकं प्रदक्षिणम्, परिक्रामन्ति–पादविन्यासं कुर्वन्ति।

(२) कण्व इति। कुत्रचित् पुस्तके 'वत्से' इत्यत्र 'ऋक्छन्दसा' इति अधिकः पाठः, तत्र ऋक्छन्दसा–ऋक्छन्दोरचितवाक्येनेत्यर्थः।

अमीति। वेदीं परितः–वेद्याः समन्तात् 'अभितः परितः' इति वा० द्वितीया कॢप्तानि–रचितानि कृतानीति यावत् धिष्ण्यानि–स्थानानि येषां यैर्वा ते तथोक्ताः, 'धिष्ण्यं स्थाने गृहे भेऽग्नौ' इत्यमरः, प्रथमाधानसमय एव त्रिधा कल्पितस्थानाः, यद्वा होमानन्तरं प्रतिदिनमेकीभूताः पुनर्होमकाले पृथक् कल्पितस्थाना इत्यर्थः। समिधः–दह्यमानकाष्ठानि एषां सन्तीति यथोक्ताः, ज्वलदिन्धना इत्यर्थः, अनेन विशेषणद्वयेन स उद्धतत्वेन प्रकाशमानत्वाच्छुभसूचकत्वं ध्वन्यते, समिद्वन्त इति पदसंज्ञायां जश्त्वम्। प्रान्तेषु–अग्नेः समन्तात् संस्तीर्णाः–विकीर्णाः दर्भाः कुशाः येषां ते तथाभूताः; अनेन प्रान्तदेशानां पवित्रतया दुरितनाशकत्वं ध्वनितम्, तथा हव्यगन्धैः–देवतोद्देशेन प्रक्षिप्ताज्यादिगन्धैः, दुरितं–पापम्, अपघ्नन्तः–नाशयन्तः, 'पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः। अभ्युद्धृताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान्' इत्यादिवद्विध्वंसयन्त इत्यर्थः, अमी–दृश्यमानाः वितानस्य–यज्ञस्य इमे इति वैतानाः, यज्ञसम्बन्धिन इत्यर्थः, वह्नयः–गार्हपत्यादयस्त्रिविधा अग्नयः, अतएव

(१) (सब से प्रदक्षिणा कराने लगते हैं।)

(२) कण्व—वत्से !

वेदी के आस-पास पास चारों ओर की जगहें तरह तरह के कामों के लिए नियत हैं, समिधा रखी हुई है, वेदी के चारों तरफ कुशा बिछी हुई है और यह यज्ञीय हवनकुण्ड जलती हुई हवि के गन्ध से दिशाओं को पवित्र कर रही है। इस प्रकार का याज्ञिक अग्नि तुम्हें पवित्र करें ॥ १० ॥

शकु—[प्रदक्षिणं करोति ।] (१)

कण्व—वत्से ! प्रतिष्ठस्वेदानीम् ! [सदृष्टिक्षेपम्] क्व नु ते शार्ङ्गरव-शारद्वतमिश्राः ? (२) ।

शिष्यौ—[प्रविश्य] भगवन् ! इमौ स्वः (३) ।

कण्व—वत्सौ ! भगिन्याः पन्थानमादेशयतम् (४) ।

शिष्यौ—इत इतो भवती (५) ।

बहुवचनम्, त्वां पावयन्तु-पवित्रीकुर्वन्तु, दुरदृष्टं क्षपयन्त्विति यावत् । अत्र मुने-रग्निषु-भक्तिः प्राधान्येन व्यज्यते ।

अत्र विशेषणानां साभिप्रायार्थत्वात् परिकरालङ्कारः । तस्मान्नापुष्टार्थत्वदोषः । अयं वैदिक एव छन्दोविशेषः कण्वस्य सततश्रुतिपाठनिरतत्वान्मुखान्निर्गतः । वातोर्मिशालिन्योर्मिश्रणादुपजातिभेद इति केचित् ॥ १० ॥

(१) शकु इति । प्रदक्षिणं करोति वह्नित्रयमिति शेषः । पाठोऽयं कुत्रचिन्नास्ति ।

(२) कण्व इति । अथ शकुन्तलाया अग्निप्रदक्षिणीकरणानन्तरमाह;—वत्से इति । प्रतिष्ठस्व-गच्छ, 'समवप्रविभ्यः स्थः' इति आत्मनेपदम् । इदानीमिति विलम्बो न कार्य इति भावः, तेन चात्मनो भूतोदयवशान्निमित्तगुणो द्योत्यते । सदृष्टिक्षेपं-शिष्यान्वेषणार्थं सर्वतो दृष्टिं चालयित्वेत्यर्थः । क्वेति प्रश्ने, ते-पूर्वमा-दिष्टाः, क्व वर्त्तन्ते इति शेषः । अत्र बहुवचनं गौरवार्थसूचकम्, मिश्रपदं च मान्यार्थ-कम्, शिष्यान् प्रति एवंविधगौरवप्रदर्शनेन मुनेरौदार्यं सूच्यते ।

(३) शिष्याविति । स्वः तिष्ठावः, शार्ङ्गरवशारद्वतावावामिति शेषः ।

(४) कण्व इति । भगिन्याः—शकुन्तलायाः, पन्थानं-पतिगृहगमनमार्गम्, आदेशयत-युवामिति शेषः । शार्ङ्गरवशारद्वतयोः शकुन्तला भगिनीति गौतमस्य शार्ङ्गरवशारद्वतयोः शिष्यविधया पुत्रस्थानीयत्वेन शकुन्तलायास्तु कन्यात्वेन परस्परं सौदर्याद् बोध्यम् ।

(५) शिष्याविति । भवती-अर्थात् भगिनी शकुन्तला, इत इतः-अनेन मार्गेण

---

(१) शकुन्तला—(प्रदक्षिणा करती है)

(२)—कण्व—वत्से ! अब प्रस्थान करो । (देखकर) वे शार्ङ्गरव, शारद्वत आदि शिष्य कहाँ है ?

(३) दोनों शिष्य—(प्रविष्ट होकर) भगवन् ! हम यह हैं ।

(४) कण्व—बच्चो ! अपनी बहिन को रास्ता बताओ ।

(५) दोनों शिष्य—इधर आइए, इधर आइए ।

[सर्वे परिक्रामन्ति ।] (१)

कण्वः—भो भोः ! सन्निहितवनदेवतास्तपोवनतरवः (२) ।
पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वसिक्तेषु या

प्रथास्विति शेषः । कुत्रचित् पुस्तके भवतीति सम्बुद्ध्यन्तं निर्दिष्टमस्ति । एवंविध-स्थाने भवतीति सम्बुद्धेर्निदानमाह मानवीये; यथा—

'परपत्नी तु या स्त्री स्यात् असम्बन्धा तु योनितः ।
तां ब्रूयात् भवतीत्येव सुभगे भगिनीति च ॥' इति ।

(१) सर्वं इति । परिक्रामन्ति-पादन्यासं कुर्वन्ति ।

(२) कण्व इति । अथ गमनकाले बन्धुजनानुज्ञाप्रार्थनस्यापि कर्त्तव्यता-मनुसन्दधान आह;-भो भो इति । सन्निहिताः वनदेवता येषु ते तथोक्ताः-वनदेवता-नामाश्रयभूता इत्यर्थः, एतेन तरूणां महात्म्यमुच्यते । तरूणामचेतनया तान् प्रति सम्बोधनस्यासङ्गततया तदधिष्ठात्रीणां देवतानामेवाभिमुखीकरणाय विशेषण-मिदम् । तपोवनतरव इत्यनेन तपस्विभिरुपभुज्यमानत्वात् तपःसम्बन्धः सूच्यते, तत एव चैतन्यविशेषोऽपीत्यनुज्ञानप्रार्थनोपपत्तिरित्यवधेयम् । अस्य श्लोकेन सम्बन्धः । तानेवानुमापयितुं प्रार्थयते;—पातुमिति । या शकुन्तला, युष्मासु-तपोवनतरुषु, असिक्तेषु-अकृतजलसेकेषु, आलवाले जलसेकेष्वकृतेष्विति भावः, क्वचिदपीतेष्विति पाठः, तत्र;-न विद्यते पीतं-पानं येषां तेऽपीताः, अर्श आदित्वादच् , तथा च महाभाष्ये;-'अकारो मत्वर्थीयः, विभक्तमेषामस्तीति विभक्ताः, पीतमेषामस्तीति पीताः' इति, अथवा उत्तरपदलोपो द्रष्टव्यः, विभक्तधनाः विभक्ताः, 'पीतोदकाः पीताः' इति । अत्र लोपपदार्थमाह कैयटः;-'गम्यमानस्य अप्रयोग एव लोपोऽ-भिमतः, विभक्ता भ्रातर इत्यत्र धनस्य यदविभक्तत्वं तद्भ्रातृषूपचर्यते' इति, पादैः पिबतीति प्रसिद्धिमनुसृत्यैवेयं व्याख्या, पानेन सेचनं वा विवक्षितमिति केचित्, प्रथमम्-आदौ, जलं पातुं न व्यवस्यति-न प्रवर्त्तते, प्राथमिकेऽपि जलपाने मनोऽपि न करोतीत्यर्थः, युष्मान् प्रति आदरातिशयादिति भावः, जलं पातुं न व्यवस्यती-त्येतावत्युच्यमाने पूर्वकालतायाः प्राप्तत्वात् प्रथममिति पदमनर्थकमिति चेन्न, तदाय-मर्थः सम्पन्नः, यदा यदास्या जलपानव्यवसायस्तदा तदा युष्मास्वसिक्तेषु नेति, अयं चार्थो नाभिप्रेतः ततः प्रथममिति पानक्रियाविशेषणम्, तेन युष्मास्वसिक्तेषु प्रथमं जलं पातुं न व्यवस्यति, भवत्सूदकव्यतिरिक्तेन प्रथमं जलपानं न करोतीत्यर्थः,

(१) (सब लोग चलते हैं)

(२) कण्व—भो वनदेवता और आश्रम के समीपवाले वृक्षगण !
जो तुमको सींचे बिना पहले जल भी नहीं पीना चाहती थी, जो मारे स्नेह के—

नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ ११ ॥

[आकाशे] (१)

व्यवस्यतीति वर्त्तमानप्रत्ययेनाधुनाप्येतदवस्थाया अपि तन्निर्वाह इति ध्वन्यते, एवमग्रिमवर्त्तमानप्रत्यययोरपि व्यञ्जकत्वं बोध्यम् । प्रियं—प्रीतिकरं मण्डनं-भूषणं यस्याः सा तथोक्ता अपि अलङ्कारप्रियाऽपीत्यर्थः, अनेन ग्रहणयोग्यता सूचिता, मुग्धास्वभावोऽयम्; अपीति विरोधे, या—शकुन्तला, स्नेहेन—नास्मन्नियोगेनेति भावः, भवतां—तपोवनतरूणाम्, पल्लवं—नवं किसलयम्, अवतंसादि कर्त्तुमिति भावः, न आदत्ते न गृह्णाति, भवतां काचित् हानिर्भवेदिति धियेति भावः । तथा वः-युष्माकम्, कुसुमप्रवृत्तिसमये-पुष्पोद्गमकाले, आद्ये-अस्मदादीनां सर्वेषामेव पूर्वम्, यस्याः-शकुन्तलायाः, उत्सवः-आनन्दः, भवति, युष्मान् प्रति स्नेहाधिक्या-दिति भावः, आदाविति कुसुमप्रवृत्तिसमये इत्यस्य विशेषणं वा, फलसमयजो हर्षातिशयो वक्तुमेव न शक्यत इत्याशयः । सा इयं-युष्मास्वेवंविधवात्सल्यशा-लिनी पुरःस्थिता शकुन्तला इदं लालनीयत्वाभिप्रायकम्, पतिगृहं-स्वामिगेहम्, अनेनानुज्ञानस्योचितसमयत्वं ध्वनितम्, याति, सर्वैः—युष्माभिः सम्भूय, प्रत्येक-मनुज्ञाकरणे कालविलम्बः स्यादिति भावः, अनुज्ञायताम्-अनुमन्यताम्, पतिगृह-प्रयाणानुरूपं स्नेहानुरूपं चानुमननं क्रियतामित्यर्थः, युष्माकमनुज्ञाया अभावे स्नेहाकर्षणेनास्या गमनं न सम्भवतीति भावः । अत्र पादत्रये शकुन्तलायास्तरुषु हेत्वन्तरनिरासार्थश्च । वृक्षाननुज्ञाप्य प्रस्थापयितुं प्रवृत्तत्वान्मुनेरपि शकुन्तलाया-मिव तत्सम्बन्धितया वृक्षेषु वात्सल्यातिशयो गम्यत इति भावोपस्कृतो भावः प्राधा-न्येन ध्वन्यते । अत्र नायकयोः प्रथमदर्शनात् प्रभृति सर्वस्यापि वृत्तान्तस्य साक्षिणो वयस्यस्थानीया वृक्षा इति विशेषोऽप्यनुज्ञाप्रार्थनमुखेन कविना प्रकाश्यत इति च विभावनीयम् । अत्र अचेतनेषु तरुषु चेतनव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरिति केचित् । तथा तरून् प्रति शकुन्तलायाः स्नेहाधिक्यप्रतिपादनकार्यं कारणत्रयोप-न्यासात् समुच्चयोऽपि । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

(१) आकाशे इति । देवतानां साधारणमानवादृश्यरूपत्वादाकाश इत्युक्तम् ।

अलङ्कार की प्रेमिणी होती हुई भी-तुम्हारे पत्तों को नहीं तोड़ती थी, पहले-पहल तुम्हारे फूलने पर जो उत्सव मनाती थी, वही शकुन्तला आज अपने पति के घर जा रही है, तुम सब उसे जाने की आज्ञा दे दो ॥ ११ ॥

(१) [अकाश की ओर]

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिः
छायाद्रुमैर्नियमितार्कमरीचितापः ।
भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥ १२ ॥

वनदेवतानामनुज्ञाप्रकारं दर्शयति—रम्यान्तर इति । अस्याः—शकुन्तलायाः, पन्थाः—भर्तृगृहप्रस्थानमार्गः कमलिनीभिः—पद्मलताभिः पद्मपंक्तिभिर्वा निरन्तरव्याप्ताभिरित्यर्थः, हरितैः—पलाशवर्णैः, तत्त्वेन दूरादेव दृश्यमानैरित्यर्थः, अनेन कमलिनीव्याप्तत्वं कमलसंयोगश्च ध्वन्यते, अतएव न बिसिन्यादिपदप्रयोगः, भरितैरिति पाठे पूर्णैरित्यर्थः, सरोभिः—वापीभिः, बहुवचनेन प्रतिपदं सरसः सत्त्वं सूच्यते-रम्यं मनोहरम्, अन्तरं—मध्यदेशो यस्य स तथोक्तः, समुदायेन च वाक्येन सहजः कोमलाङ्ग्यास्तस्यास्तथाविधसरोदर्शनकुतूहलादिनाऽप्यध्वश्रमशैथिल्यं तथा तृषादिपीडाभावोऽपि द्योत्यते । छायाप्रधाना द्रुमाः—छायाद्रुमास्तैः—छायावद्भिर्वृक्षैरित्यर्थः । शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी कर्मधारयः, तरुमात्रस्य सौरतापनिराकरणयोग्यता न सम्भवतीति छायाप्रधानत्वविशेषणं बहुवचनमपि, अनेन विश्रान्तिस्थलसत्त्वं द्योत्यते, नियमितः—निवारितः, अर्कमरीचीनां—रविकिरणानां तापो यत्र सः, 'मयूखस्त्विट्करज्वालासु' इत्यमरः, मरीचिनिवर्त्तनत्वकथनेऽपि तत्तापनिवृत्तेरवश्यबोधनात् पुनस्तापग्रहणं मध्याह्नसमुत्थस्य तापस्य तीव्रत्वसूचनार्थमिति बोध्यम् । कुशे—जले शेरते इति कुशेशयानि—कमलानि तेषां रजोभिः रजांसीव वा मृदवः—कोमलाः रेणवो यत्र स तादृशः, अनेन चरणानुपघातो व्यज्यते । तथा शान्तः—वेगराहित्यात् सौम्यः, मन्द इत्यर्थः, अनुकूलः—सुखकरः, गमनानुसारी वा पवनो—वायुर्यस्मिन् स तथोक्तश्च भूयात्—भवतु । अतएव शिवः—मङ्गलकरश्च भूयात् । मध्येसरः प्राप्ते, पिपासानिवृत्तिः, छायाद्रुमलाभात् श्रमापनोदः, पद्मरागरेणुलाभादामोदः, शान्तपवनावाप्तेः सुखस्पर्शतया गमने कष्टाधिक्यनिवृत्तिः, पवनस्यानुकूलत्वे च मङ्गललाभ इति भावः ।

अत्रेदं राघवभट्टाः—अत्र श्लोकस्थचकारयोरेकस्य समुच्चयार्थकत्वे अन्यस्योपादाने अधिकपदतादोषप्रसङ्गः, शिवश्च इत्यनेन समुच्चये पूर्वविशेषणचतुष्टयेऽपि चकार उपादातव्यः स्यात्, न चोपात्तः, तथा चैवं व्याख्यातव्यम्—शान्तानुकूलश्च यः पवनः स शिवः—सुखप्रदः भूयात् तथा पन्थाश्च शिवः—कल्याणसूचको भूयादित्यर्थः । वायुमार्गयोरुभयोः प्राकरणिकत्वात्तुल्ययोगिता, अतो विशेषणानि उभयत्र

कमल के पत्तों से हरितवर्णवाले सरोवरों से तुम्हारा मार्ग सुन्दर हो, विस्तृत छाया वाले वट आदि के वृक्ष धूप से तुम्हारी रक्षा करें और कमल-पुष्प के कोमल पराग को उड़ा लानेवाली वायु, तुम्हारी पीठ की ओर होकर शान्तभाव से बहे ॥ १२ ॥

सर्वे—[सविस्मयमाकर्णयन्ति] (१)

शार्ङ्ग—[कोकिलशब्दं सूचयित्वा] भगवन् (२) ।

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।
परभृतविरुतं कलं यतः प्रतिवचनीकृतमेभिरात्मनः ॥ १३ ॥

योज्यानि, तथा च वायुपक्षे रम्येति विशेषणेन कुशेशयेति विशेषणेन च सौगन्ध्यं छायाद्रुमैरिति विशेषणेन शान्तेति विशेषणेन च यथाक्रमं शैत्यं मान्द्यं च सूच्यते। अनुकूलविशेषणेन शुभशकुनं व्यज्यते इति। एवञ्च उभयोः प्रस्तुतयोरेकधर्माभिसम्बन्धादत्र तुल्ययोगिताऽलङ्कारः। कुशेशयेत्याद्यंशेनोपमा । साभिप्रायविशेषणबाहुल्यात् परिकरः। तथा काव्यलिङ्गञ्च। अत्रापि पथः शिवत्वं प्रति बहुविधकारणोपन्यासात् समुच्चय इति केचित्। अनुकूलपवनस्य मङ्गलसूचकत्वे वचनं यथा–'वामे मधुरवाक् पक्षी वृक्षः पल्लवितोऽग्रतः। अनुकूलो वहन् वायुः प्रयाणे शुभशंसिनः ॥' इति। अयं हि श्लोकः श्लोकचतुष्टयान्तर्गत इति केषाञ्चिन्मतम्। केचित्तत्र 'पातुं न' ति श्लोकमाचक्षते। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १२ ॥

(१) सर्वं इत्यादि। विस्मयोऽसम्भावनया।

(२) शार्ङ्गेति। सूचयित्वा–तच्छ्रवणमभिनीयेति केचिदर्थयन्ति, परे तु सूचयित्वा–स्वकण्ठेनैव प्रकाश्येति। सुशिक्षिता हि नटा अधुनापि प्रच्छन्नाः कोकिलशब्दमनुकुर्वन्ति। वने पिकध्वनिमाकर्णयन् शिष्यः शार्ङ्गरवो गुरवे शुभशकुनं ज्ञापयितुमाह–भगवन्निति।

शकुनं ज्ञापयति;—अनुमतेति। इयं—शकुन्तला, वनवासेन–तपोवने एकत्रावस्थितया बन्धुभिरिव बन्धुभिः—ज्ञातिभावं प्राप्तैः, भ्रातृभूतैरिति यावत्, तरुभिः—वृक्षैः, अनुमतम्–अनुज्ञातं गमनं–पतिगृहं प्रति प्रस्थानं यस्याः सा तथोक्ता जाता, गमनानुमतौ हेतुर्वनवासबन्धुभिरिति बोध्यम्। यतः–यस्माद्धेतोः, एभिः–तरुभिः, कलं मधुरास्फुटं, परैः काकैर्भ्रियते परिपाल्यते इति परभृतः–कोकिलस्तस्य विरुतं–रवः, आत्मनः–स्ववर्गस्य, प्रतिवचनीकृतं—भवदनुज्ञाप्रार्थनस्य प्रत्युत्तरवदुपन्यस्तम्। यस्मादेभिरेवंविधं विरुतं प्रतिवचनीकृतं तस्मादनुमतगमनेति ज्ञायते इति सम्बन्धः। एवं स्थावराणामपि औचित्यज्ञानमन्यत्रापि वर्णितम्। यथा

---

(१) (सब विस्मय के साथ सुनने लगते हैं)

(२) शाङ्गर्रव—(कोयल की कूक की ओर सबका ध्यान दिलाकर) भगवन्! तपोवन में शकुन्तला के साथ रहने वाले बन्धुस्वरूप वृक्षसमूह ने शकुन्तला को जाने की आज्ञा दे दी। क्योंकि इन्होंने अव्यक्त तथा मीठे कोकिल-शब्द से आप लोगों को प्रत्युत्तर दिया है ॥ १३ ॥

गौत—जाते ! ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनासि तपोवनदेवताभिः । तत् प्रणम भगवतीः (१) । (जादे ! णादिजणसिणिद्धाहिं अणुण्णादगमणासि तपोवणदेवदाहि । ता पणम भअवदीणं ।)

शकु—[सप्रणामं परिक्रम्य जनान्तिकम्] हला प्रियंवदे ! आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अपि आश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखदुःखेन चरणौ मे पुरोमुखौ न निपततः (२) । (हला पिअंवदे ! अज्जउत्तदंसणोस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअन्तीए दुक्खदुक्खेण चलणा मे पुरमुहा ण णिवणन्ति ।)

रघुवंशे;-'त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे । अदर्शयन्', इत्यादि । तथा च शकुनेन शुभं सूचितमतो विलम्बो न कार्य्यं इति भावः । तथा चोक्तम् ;—

'वामे मधुरवाक् पक्षी वृक्षः पल्लवितोऽग्रतः ।
अनुकूलो वहन् वायुः प्रयाणे शुभशंसिनः ॥' इति ।

अत्र परभृतविरुते प्रतिवचनत्वारोपस्य प्रकृतशकुन्तलागमनोपकारकतया परिणामोऽलङ्कारः । समानविभक्तिकत्वात् स च तुल्याधिकरणरूपो बोध्यः । वनवासबन्धुभिस्तरुभिरिति रूपकम् । अपरवक्त्रं वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा;—
'अयुजि ननरला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ' । इति ॥ १२ ॥

(१) गौतेति । अथ गौतमी तद्वचो वनदेवतानामिति बोधयन्ती कर्त्तव्यमाह;—जाते इत्यादि । ज्ञातिजनवत्–स्वजनवत् स्निग्धाभिः–त्वयि स्नेहयुक्ताभिः, अयमनुमनने हेतुः 'स्निग्धस्तु वत्सलो वत्सः स्नेहयुक्तजने भवेत्' इति शब्दरत्नावली, अनुज्ञातं गमनं यस्याः सा तादृशी असि । तत्–तस्मात्, भगवतीः–माहात्म्यवतीः तपोवनदेवताः । क्वचित् । भगवतीनामिति पाठः, तत्र शेषे षष्ठी ज्ञेया ।

(२) शकु इति । सप्रणामं–वनदेवताभ्यः प्रणामपूर्वकम्, परिक्रम्य–किञ्चिद्गमनं नाटयित्वा, जनान्तिकं–त्रिपताककरणेन अन्यानपवार्य केवलं सख्यन्तिके इत्यर्थः । अथ शकुन्तला चिरपरिचितस्य तपोवनस्य विरहेण स्वीयं वैक्लव्यं सखीं प्रति आह;–हलेत्यादि । आर्यपुत्रस्य–पत्युर्दुष्यन्तस्य दर्शने उत्सुकायाः—उत्कण्ठितायाः, आश्रमपदं—तपोवनभूमिम्, दुःखदुःखेन—अतिदुःखेन 'प्रकारे गुणवचनस्य'

---

(१) गौतमी—पुत्री ! अपने कुटुम्बियों के समान स्नेही वनदेवताओंने तुम्हें जाने की अनुमति दी है । इसलिए इनको प्रणाम करो ।

(२) शकुन्तला—(नमस्कार कर और,धीरे धीरे प्रियंवदा के पास जाकर चुपकेसे) सखि प्रियंवदा ! यद्यपि आर्यपुत्र (प्रियपति दुष्यन्त) को देखने की मेरी बड़ी लालसा है, फिर भी जब यह बात मालूम होती है कि मैं आश्रम छोड़ रही हूँ तो पैर आगे पड़ते ही नहीं हैं ।

प्रियं—न केवलं त्वमेव तपोवनविरहकातरा; त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि अवस्थां प्रेक्षस्व तावत् (१)। (ण केवलं तुमं ज्जेव तवोवणविरहकादरा, तुए उवत्थिदविओअस्स तवोवणस्सवि अवत्थं पेक्ख दाव ।)

उद्गीर्णदर्भकवला मृगी परित्यक्तनर्तना मयूरी ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्ति अश्रु इव लताः ॥ १४ ॥
(उग्गिण्णदब्भकवला मई परिच्चत्तणत्तणा मोरी ।
ओसरिअपाण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सुं विअ लदाओ ॥)

[८।१।१२] इति द्विरुक्तिः । एतेन पितृभवनस्यागकाले वधूनां दुःखातिशयो भवतीति व्यज्यते। तथानेन च वाक्येनाश्रमपरिचयपारवश्यं दर्शयता रसस्याविच्छेदाय रतेरनुसन्धानं सुविहितम्। पुरोमुखौ–सम्मुखौ सन्तौ, न निपततः–न गच्छतः स्वजनजन्मभूमिस्नेहसम्बन्धादिति भावः।

(१) प्रियमिति। तपोवनविरहेण कातरा–व्याकुलीभूता, त्वयोपस्थितवियोगस्य—उपस्थितः सम्प्राप्तो वियोगो यस्य तादृशस्य, तपोवनस्य—अचेतनस्यापीति भावः। तपोवनशब्देन तद्वासिनः स्थावरजङ्गमा लक्ष्यन्ते। विरहकातरत्वस्य सार्वत्रिकत्वं व्यङ्ग्यम्। अवस्थां–वक्ष्यमाणां विरहकातरत्वरूपामित्यर्थः अनेन चेतनाचेतनेषु सर्वेष्वेव स्नेहप्रवणतामस्याः सूचयित्वा त्रिजगद्रमणीललामभूतेयमिति नायिकागतनिरतिशयोत्कर्षः सूच्यते।

तामेवावस्थां विवृणोति। उद्गीर्णेति। मृगी-हरिणी, उद्गीर्णः-शोकेन मुखान्निर्गलितः दर्भकवलः-कुशग्रासो यया ताहशी, मयूरी-मयूरस्त्री, परित्यक्तं-वर्जितं नर्त्तनं-नृत्यं यया तथोक्ता; तव विरहपर्युत्सुकतया मृगी कुशग्रासं मयूरी च नृत्यव्यापारं परित्यजतीत्यर्थः-अनयोरुभयोस्तिर्यक्त्वेऽपि सहवासिताभ्यासात्तथोक्तम्। अथ चेतनेषु तादृशीमवस्थामुपन्यस्य सम्प्रत्यचेतनेषु निर्वक्ति–अपसृतेति। अपसृतानि–पतितानि पाण्डूनि–परिणततया पाण्डुवर्णानि पत्राणि यासां तास्तथाविधाः सत्यः, लताः, अश्रु–नेत्रजलम्, मुञ्चन्तीव–तव विरहशोकोदयात् पातयन्तीवेत्युत्प्रेक्षा, पाण्डुपत्रमोचनव्याजेन वाष्पं त्यजन्तीवेत्यर्थः। स्त्रीणामेव च तद्वर्णितं स्त्रीभिः सम्बन्धविशेषात्। यथा रघुवंशे—

---

(१) प्रियंवदा—केवल तुम्हीं तपोवन का त्याग करने से कातर नहीं हो रही हो। तुम्हारा वियोगकाल उपस्थित होने पर तपोवन की हालत भी तो देखो—

हरिणी अपने मुँह से कुश का ग्रास उगल रही है, मयूरीने नाचना त्याग दिया है और लतायें पीले-पीले पत्ते गिरा कर मानों आँसू बहा रही हैं ॥ १४ ॥

शकु—[स्मृत्वा] तात ! लताभगिनीं तावत् माधवीमामन्त्रयिष्ये (१)।
(ताद ! लदावहिणीं दाव माहवीं आमन्तइस्सं ।)

कण्वः—वत्से ! अवैमि ते तस्यां सौहार्दम् । इयं सा दक्षिणे पश्य (२)।

शकु—[उपेत्य लतामालिङ्ग्य] लताभगिनि ! प्रत्यालिङ्ग मां शाखा (३)-

---

'नृत्तं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः'। इत्यादि।

तथा च स्त्रीणां विदेशगमने स्त्रीणामेव शोकातिशयः सम्भवतीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशेन सूच्यते अनेन च बध्वाः पतिगृहगमने पितृकुलजनस्य दुःखातिशयो भवेदिति च व्यज्यते। अत्र तपोवनस्य विरहकातरत्वप्रतिपादनरूपकार्यं प्रति मृग्यादीनामुद्गीर्णदर्भकवलत्वादिरूपकारणत्रयोपन्यासात् समुच्चयालङ्कारः। तथा पाण्डुपत्रपतने अश्रुपतनत्वसम्भावनाकरणात् क्रियोत्प्रेक्षा। तथा मृग्यादिषु उद्गीर्णदर्भकवलत्वादिकार्येण सखीजनव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिश्च, इत्येषामलङ्काराणां मिथो नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। अत्र मयूर्यादिपदस्यैकवचनान्तत्वेन प्रक्रमं कृत्वा पश्चाल्लता, इति बहुवचनान्तत्वोपन्यासात् भग्नप्रक्रमता दोषः, स च विरहकातरोक्ततया समाधेयः। इयं गाथा वृत्तम्, 'अत्रानुक्ते गाथा' इति पैङ्गललक्षणात्॥ १४॥

(१) शकु इति। स्मृत्वा—स्मृतिमभिनीय, माधवीलतामिति शेषः। स्मृतेरभिनयस्तु नयनोत्तोलनादिना बोध्यः। लता चासौ भगिनी चेति तां—भगिनीरूपां लतामित्यर्थः। अत्र लताया भगिनीत्वारोपेणामन्त्रणस्यावश्यकत्वं द्योत्यते, अथ पृथगित्यर्थकं तावदित्युक्तम् : आमन्त्रयिष्ये—सम्भाषिष्ये। अत्र लतायां भगिनीत्वारोपस्य सम्भाषणोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः।

(२) कण्व इति। तस्यां—माधवीलतायाम्, ते—तव, सौहार्दं—स्नेहम्, कुत्रचित् सोदर्यस्नेहमिति पाठः, तत्र सहोदरस्नेहमित्यर्थः अवैमि—अवगच्छामि। सा—माधवी, दक्षिणे—दक्षिणदिग्भागे वर्तत इति पश्येत्यर्थः। त्वमिति शेषः।

(३) शकु इति। लतां—माधवीम्, शाखामयैः—विटपरूपैः, बाहुभिः—करैः।

---

(१) शकुन्तला—(स्मरण करके) पिताजी ! मैं जरा अपनी लता-बहिन माधवी से अनुमति ले लूँ।

(२) कण्व—बेटी ! मैं जानता हूँ कि उस पर तेरा कितना प्रेम है। देख, यह दाहिनी तरफ है।

(३) शकुन्तला—(पास जाकर और आलिङ्गन करके) लता बहन ! अपनी शाखा रूपिणी भुजाओं से मुझे आलिङ्गन करो; क्योंकि आज से मैं तुमसे अलग हो रही हूँ। पिताजी ! आप मेरे ही समान इसका भी ख्याल रखिएगा।

मयैर्बाहुभिः । अद्य प्रभृति दूरवर्त्तिनी खलु ते भविष्यामि । तात ! अह-मिव इयं त्वया चिन्तनीया । (लदावहिणी ! पच्चालिङ्गस्स मं साहामएहिं वाहुहिं । अज्ज पहुदि दूरवत्तिणी क्खु दे भविस्सं । ताद ! अहं विअ इअं तुए चिन्तणीआ ।)

कण्व—वत्से !

सङ्कल्पितं प्रथममेव मया त्वदर्थं
भर्त्तारमात्मसदृशं स्वगुणैर्गतासि ।
अस्यास्तु सम्प्रति वरं त्वयि वीतचिन्तः
कान्तं समीपसहकारमिमं करिष्ये ॥ १५ ॥

अत्र परम्परितरूपकमलङ्कारः, प्रत्यालिङ्ग—परिष्वजस्व । अत्र समुदाये समासोक्तिर-लङ्कारः । चिन्तनीया–मत्स्थानापन्नत्वादहमिव सस्नेहं द्रष्टव्या इत्यर्थः ।

अथ कण्वस्तस्यास्तपोवनविरहकातरतामनुरूपलोकोत्तरभर्त्तृलाभस्मारणेन तामु-द्धर्षयितुमात्मनः कृतार्थतां प्रतिपादयति;—वत्से, सङ्कल्पितमिति । माधवीं स्मृति पथमुपनयति,—सङ्कल्पितमित्यादिनेति केचित् । मया—तपोनिष्ठिना, प्रथममेव यौवनारम्भात् परिणयाद्वा पूर्वमेव, त्वदर्थं सङ्कल्पितम्-अपि नाम लोकोत्तरगुणसम्पन्नो मत्सुतां परिणयेदिति मनसा विभावितम्, 'गुरुणो उण से अणुरूअवरप्पदाणे सङ्कप्पो' इति पूर्वोक्तमत्रानुसंहितम्, आत्मसदृशं स्वानुरूपम्, भर्त्तारं—स्वामिनम्, अनेन भरणसामर्थ्यं प्रदर्श्यते, स्वगुणैः–स्वसौन्दर्यादिभिः न तु अस्मद्यत्नैरिति भावः, अत्र सुकृतैरिति पाठे;—मम पुण्यैरथवा तव पूर्वजन्मार्जितपुण्यैरित्यर्थः, चिन्तितोऽ-प्यर्थः, पुण्यातिशयादेव फलतीति भावः, अनेन दैवमस्या इत्याद्यनुसंहितम् । गतासि—प्राप्तासि । अत एव सम्प्रति, त्वयि-त्वद्विषये, वीता–त्यक्ता चिन्ता–वरयो-जनभावना येन स तादृशः, अनुरूपवरलाभान्निश्चिन्त इत्यर्थः तथोक्तं कुमारसम्भवे; 'अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता' इति । अहम्; कान्तं-रम्यम्, इमं—पुरो दृश्यमानम्, समीपवर्त्ती सहकारः समीपसहकारस्तं—सन्निहितरसालतरुम्, अस्याः माधवीलतायाः वरं-वोढृस्वरूपम्, करिष्ये—संयोजनादिना कल्पयिष्ये तथा च त्वत्प्रार्थितां माधवीचिन्तामवश्यमेव करिष्यामीति भावः । अत्र सहकारे वरत्वारोपः शाब्दः माधवीलतायाः कन्यात्वारोपस्त्वार्थ इत्येकदेशविवर्त्तिरूपकम् ।

अत्रोत्तरार्द्धे । 'चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयमस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः' इति पाठान्तरे;—

कण्व—मेरी बची ! पहले (तुम्हें किसी योग्य वर के हाथों सौंपने का) मेरा सङ्कल्प था । लेकिन तू तो अपने ही गुणों से अपने सदृश वर पा गयी । अब मैं तेरी ओर से निश्चिन्त हो गया हूँ, इसलिये इस (माधवीलता) को पासवाले इस आम्रवृक्ष के साथ ब्याह कर दूंगा ॥१५॥

तदितः प्रस्थानं प्रतिपद्यस्व (१)।

शकु—[सख्यावुपेत्य] हला ! एषा द्वयोरपि वां हस्ते निक्षेपः (२)। (हला ! एसा दोण्णं पि वो हत्थे णिक्खेवो ।)

सख्यौ— अयं जनः इदानीं कस्य हस्ते समर्पितः ? [इति बाष्पं विसृजतः] (३)। (अअं जणो दाणिं कस्स हत्थे समप्पिदो ?)

इयं-तव पुरोवर्त्तिनी अतिप्रियतमा नवमालिका, चूतेन-आम्रतरुणा, सुकृतैः-तव समीपारोपणजलसेकादिभिः सुष्ठुकृतैः, संश्रितवती-समाश्रिता, अतः अस्यां-नवमालिकायाम्, शकुन्तलायाः सन्तोषोत्पादनार्थमस्यामिति पूर्वनिर्देशः त्वयि च वीतचिन्तः-स्वकवरसंग्रहभावनः, अस्मीति शेषः। युवां ममाशोच्ये जाते इत्यर्थः। अनेन आत्मनः कृतार्थता द्योत्यते। तथा च त्वमप्यद्य तपोवनविरहदुःखं कथञ्चित् सोढ्वा अनुरूपभर्तृलाभं विचिन्त्य सहर्षा भवेति भावः। अत्र केचित्-अत्र च पाठे उभयोः प्रस्तुतत्वात्तुल्ययोगितेति। तथा चूतनवमालिकयोर्नायकव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिश्च। द्वयोरनुरूपयोः समागमवर्णनात् समालङ्कारोऽपि। प्रकृतयोर्नायिकानवमालिकयोः सङ्गमनरूपैकधर्मस्य पदभेदेन निर्देशादर्थावृत्तिदीपकम्। पूर्ववाक्यार्थस्यान्त्यपदार्थोपपादकत्वात् काव्यलिङ्गं च इत्येतेषामलङ्काराणां सङ्करः। भावध्वनिः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १५ ॥

(१) अथ गमनाय प्रेरयते; तदिति। तत् तस्मात्, माधवीलताया अपि उपायकरणेन तवोद्वेगाभावादित्यर्थः। इतः-आश्रमात्, अस्यां दिशि वा तसन्तस्य सार्वविभक्तिकत्वात्, पन्थानं-हस्तिनापुरगमनमार्गम्, प्रतिपद्यस्व-अवलम्बस्व।

(२) शकु इति। एषा माधवीलता। हस्ते निक्षेपः-हस्ते निक्षेपवत्समर्पिता इत्यर्थः। इतः परं युवाभ्यामेवास्याः रक्षणावेक्षणादिकं कर्त्तव्यमिति भावः। निक्षेपशब्देन कालान्तरे पुनर्ग्रहणाशंसापि सूच्यते। परिणामालङ्कारः।

(३) सख्याविति। तदानीं सख्यौ स्वीयदुःसहतद्विरहोत्कण्ठां भङ्ग्या निवेदयतः;-अयमिति। अयम्-अनसूयारूपः प्रियंवदारूपश्च जनः। द्वयोरेव वक्तृत्वात्। आवामेनां पालयावः, आवयोस्त्वद्विरहे का गतिरिति भावः। सख्योः अयमभि-

---

(१) अब तुम यहाँ से प्रस्थान करो ?

(२) शकुन्तला—(दोनों सखियों को देखकर) सखी ! मैं इस (माधवीलता) को तुम दोनों के हाथों सौंपती हूँ।

(३) दोनों—लेकिन इस व्यक्ति को किसके हाथों सौंप रही हो ? (यह कहकर दोनों रोने लगती हैं)

कण्वः—अनसूये ! प्रियंवदे ! अलं रुदितेन । ननु भवतीभ्यामेव शकुन्तला स्थिरीकर्त्तव्या [इति सर्वे परिक्रामन्ति] (१) ।

शकु—[विलोक्य] तात ! एषा उटजपर्यन्तचारिणी गर्भभारमन्थरा मृगवधूर्यदा सुखप्रसवा भविष्यति, तदा मे कमपि प्रियनिवेदकं विसर्जयिष्यसि, मा इदं विस्मरिष्यसि (२) । ताद ! एसा उडअपज्जन्तचारिणी गब्भहारमन्थरा मिअवहू जदा सुहप्पसवा भविस्सदि, तदा मे कम्पि पिअणिवेदअं विसज्जइस्ससि, मा एदं विसुमरिस्ससि ।)

प्रायः–त्वदेकस्नेहपाशबद्धाः त्वदाश्रयाश्च वयं तव प्रस्थाने कामाश्रयामो ब्रूहि इति । बाष्पं विसृजत इति बाष्पविसर्जनमुत्कण्ठानुभावः ।

(१) कण्व इति । अलं रुदितेन–रोदनं मा कुरुतम् । नन्वित्यवधारणे, भवतीभ्यामेव–युवाभ्यामेव, स्थिरीकर्त्तव्या–सान्त्वनीया । तथा च शकुन्तलास्थाने युवामेव मया स्थापनीये; तत्र भवतीभ्यामेव विश्रम्भभूमित्वात् दुःखापनोदनेन शकुन्तलाया मनसः स्थिरीकरणं कार्यमन्यथा युष्मद्रोदने सा भूयसा रोदिष्यतीति भावः । परिक्रामन्ति–हस्तिनापुरदिग्गामिनि पथि पादक्षेपं कुर्वन्ति ।

(२) शकु इति । अथ नायिका पुनरपि तपोवनविरहपारवश्यप्रकारं दर्शयति–तातेत्यादिना । तातेति विश्रम्भभूमित्वात् तस्मिन् सर्वमपि कथनीयमिति भावः । एषा–मद्वियोगकातरतया पुरःस्थिता, उटजस्य–पर्णशालायाः पर्यन्ते–प्रान्तभागे चरतीति सा, सत्त्वं च गर्भखेदादसद्वियोगासहनाच्च बोध्यम्, गर्भभारेण मन्थरा–मन्दगमना, अनेनालस्यादयो दर्शिताः, तथानेन विशेषतः तस्याः प्रवासासहत्वं प्रसवकाले स्वासान्निध्यसम्भावनया स्वस्या विषादश्च ध्वनितः, मृगवधूः–मृगी, वधूपदेन यौवनारम्भद्योतनद्वारा प्रसवस्य प्राथम्यं द्योत्यते, सुखप्रसवा भविष्यति–सुखेन प्रसविष्यते इत्यर्थः मे–मम समीपे । प्रियनिवेदकं–प्रसवाख्यायकं पुरुषम्, विसर्जयिष्यसि–प्रेरयिष्यसि । एतेन मृगवधूं प्रति आदरातिशयो द्योत्यते । मम वार्त्ता तु अवश्यमेव लब्धव्या इति गूढाशयः ।

---

(१) कण्व—अनसूया ! प्रियंवदा ! रोओ मत । तुम दोनों को चाहिए कि शकुन्तला को ढाढस बँधाओ । (सब लोग चलते हैं)

(२) शकुन्तला—(देखकर) पिताजी ! गर्भ के भार से मन्दगामिनी और पर्णशाला के आस-पास विचरने वाली इस हरिणी को जब सुखपूर्वक प्रसव हो जाय तो यह प्रिय समाचार सुनाने के लिए किसी आदमी को मेरे पास भेज दीजियेगा । इस बात को भूलिएगा नहीं ।

कण्वः—वत्से ! नेदं विस्मरिष्यामि (१)।

शकु—[गतिभेदं रूपयित्वा] अहो को नु खलु एष पदाक्रान्त इव मे पुनः पुनर्वसनान्ते सज्जते ? (०)। (अम्मो ! को णु क्खु एसो पदक्कन्तो विअ मे पुणो पुणो वसणन्ते सज्जदि ? [इति परावृत्यावलोकयति]

कण्वः—वत्से।

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्द्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥ १६ ॥

(१) नेदं विस्मरिष्यामीति पित्रोः पुत्रवात्सल्यं हि तदिच्छानुसारित्वम्।

(२) शकु इति। गतिभेदं गमनस्य प्रकारविशेषं मृगसंगेन गतिस्खलनमि, त्यर्थः, रूपयित्वा—नाटयित्वा। पदाक्रान्त इव—पादलग्न इव नूपुरादिवदिति भावः। वसनान्ते—वस्त्राञ्चले, सज्जते—लगति। वितर्कबोधकौ नुखलू। परावृत्य—घूर्णित्वा-अवलोकयति—तज्ज्ञानार्थमिति भावः।

यस्येति। त्वया—अत्यन्तदयार्द्रया मातृभूतयेत्यर्थः, अयमर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्यो ध्वनिः, यस्य—सन्तानभूतस्य मृगस्य, कुशानां सूचिभिः—सूचिवत्तीक्ष्णाग्र-देशैः, अयमर्थो लक्षणया बोध्यः, सूचिपदेन च वेधनयोग्यतातिशयो ध्वनितः, कुश एव सूचिरिति केचित्, विद्धे—मौग्ध्याद्दर्भाग्रं भक्षयितुं प्रवृत्ते सति क्षतविक्षतीकृते, मुखे—वक्त्रान्यः, अनेन व्रणस्यान्तरत्वात् प्रयत्नातिशयसाध्यत्वं ध्वन्यते, व्रणविरो-पणं—क्षतनाशकम्, इङ्गुदीनां—तदाख्यानां फलानां तैलं, न्यषिच्यत—निषिक्तम्, दत्तमिति यावत्। अत्रेङ्गुदीतैलेन व्रणविरोपणोक्त्या शकुन्तलायास्तत्तदुचितकर्मप-रिज्ञानं क्रियापाटवं मृगे स्नेहातिशयश्च द्योत्यते। श्यामाकानां—तृणधान्यविशेषाणां मुन्यन्नरूपाणां मुष्टिभिः—परिमाणविशेषैः, मुष्टिपरिमितैः श्यामाकैरित्यर्थः मुष्टिप-देन मृगस्यातिशैशवात् स्वयं भोक्तुमसमर्थस्यापि श्यामाकान् मुष्टौ धृत्वा मुखे अर्पितवतीति पोषणप्रकारः सूच्यते, परिवर्द्धितकः—सादरं पुत्रवत् परिपोषितः,

(१) कण्व—बेटी ! मैं इसे नहीं भूलूँगा।

(२) शकुन्तला—(चलने में कुछ व्याघात का अभिनय करके) ओहो ! यह कौन मेरे पैरों से लिपट-लिपट कर बार-बार कपड़ा खींच रहा है ! (यह कह कर लौटकर देखती है)

कण्व—बेटी—

कुशके नुकीले अग्रभाग से जब मुहमें घाव हो जाता था तो तुम जिसके व्रण में इङ्गुदी का तेल लगाया करती थी और प्रतिदिन एक एक मुट्ठी श्यामाक नाम की घास दे देकर तुमने जिसे पाला था, वही तुम्हारा कृत्रिम पुत्ररूप यह हरिण रास्ता छेंक रहा है ॥ १६ ॥

शकु—वत्स ! किं मां सहवासपरित्यागिनीमनुबध्नासि, ननु अचिरप्रसूतोपरतया जनन्या विना यथा मया वर्द्धितोऽसि, तथा इदानीमपि मया विरहितं तातस्त्वां चिन्तयिष्यति । तन्निवर्त्तस्व (१) । (वच्छ ! किं मं सहवासपरिच्चाइणीं अणुबन्धेसि णं अचिरप्पसूदोवरदाए जणणीए विणा जधा मए वड्ढिदोसि, तधा दाणिं पि मए विरहिदं तादो तुमं चिन्तइस्सदि । ता णिउत्तस्स) ! [इति रुदती प्रस्थिता ।]

अनुकम्पायां कः, स्वार्थे कन्वा, अनेनातिलालनीयत्वं सूच्यते, अत एव कृतकः—कृत्रिमः पुत्र इति पुत्रकृतकः, आहिताग्न्यादित्वात् परनिपातः, यद्वा अपुत्रः पुत्रः, कृत इति पुत्रकृतः, 'श्रेण्यादयः कृतादिभि'रिति समासः, पुनस्ततोऽनुकम्पायामल्पार्थे वा कः, 'कृतकः स्यात् पुमान् कृष्णसर्पे चाप्यसम्भवे । पुत्रभेदे कृत्रिमे च त्रिषु' इति शब्दाब्धिः, सः—तथाविधत्वत्तुल्यविषयः, अयं—त्वद्विरहवैधुर्येण त्वामनुसरन् मृगः, ते—तव, पदवीं—भर्तृगृहगमनपथं न जहाति—न परित्यजति, पूर्वोपकृतिस्मरणेन कृतज्ञतया भविष्यद्वियोगाशङ्कया विह्वलत्वादिति भावः । प्रथमपादत्रयेण शकुन्तलाया मृगे तथान्त्यपादेन मृगस्य शकुन्तलायां च स्नेहातिशयो दर्शितः । पूर्ववन्मुनेर्भावध्वनिः । अत्र पदवीपरित्यागाभावं प्रति पूर्ववाक्यानां हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । स्वभावोक्तिश्च । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १६ ॥

(१) शकु इति इति । अथ स्नेहपरवशा शकुन्तला परमार्थपुत्रवत् तं मृगपोतं आमन्त्रयन्ती सविषादमाह,—वत्स इत्यादि । वत्सेति सम्बोधनं मृगपोते पुत्रबुद्ध्या शोच्यत्वं द्योतयति । सहवासपरित्यागिनीम्;—सहवासम्—एकत्र वासं परित्यक्तुं शीलं यस्याः सा ताम्, अनेनात्यन्तानुसरणायोग्यता ध्वन्यते । अनुबध्नासि—अनुगच्छसि, तव मया न प्रयोजनमित्यर्थः । ननु तवाभावे मम पर्यवेक्षकाभावादस्त्येवानुगमनकारणमित्यत आह;—नन्विति । अवधारणे ननु शब्दः । अचिरं—सद्यः प्रसूतं यया सा अचिरप्रसूता चासौ उपरता—मृता चेति सा तया, जनन्या विना—स्तन्यपानादिं विनेत्यर्थः । इदानीमपि—मद्वियोगकालेऽपि, विरहितं—परित्यक्तम्, तातः—कण्वः, चिन्तयिष्यति—रक्षणावेक्षणविषये भावयिष्यति । जननीवियोगे तवाहं शरणमिदानीं मद्वियोगे तव तातो विशेषतः शरणं भविष्यतीत्यर्थः । तत्—तस्मात्,

---

(१) शकुन्तला—बच्चे ! अब तो मैं तुम्हारा सहवास त्याग कर जा रही हूँ, तब तुम मेरा पीछा क्यों कर रहे हो ? प्रसव करते ही तुम्हारी माँ मर गई थी, तब जैसे मैंने तुम्हें पाला पोसा, उसी तरह अब जबकि हमारा साथ छूट रहा है, तब पिताजी स्वयं तुम्हारी चिन्ता करेंगे । इसलिये अब तुम लौट जाओ । (ऐसा कहकर रोती हुई चलती है) ।

कण्व—वत्से ! अलं (१) रुदितेन, स्थिरा भव, इतः पन्थानमालोकय-
उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
बाष्पं कुरु स्थिरतया शिथिलानुबन्धम् ।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥ १७ ॥

आत्मनो रक्षणावेक्षणविषये भावनाशून्यत्वादित्यर्थः । रुदतीति;—रोदनं मृगपोतानुबन्धनादिना, तस्योत्कण्ठोद्दीपनत्वात्। अहो जन्मभूमिविरहवैक्लव्यमधिकं योषिताम् ।

(१) रुदितेन—वियोगवशात् रोदनेन । स्थिरा भव—धैर्यमवलम्बस्व । इतः—सम्मुखे ।

अथ रोदनं न केवलममङ्गलमेव किन्तु गमनविरोधि चेति मा रोदीरित्याह;—उत्पक्ष्मणोरिति । उत्—उद्गतानि पक्ष्माणि—रोमाणि ययोस्तथाविधयोः, नयनयोः—नेत्रयोः, उपरुद्धा—प्रतिबद्धा वृत्तिः—दर्शनशक्तिर्येन तं तथोक्तम्, विषयग्रहणरूपं दर्शनं प्रतिबध्नन्तमित्यर्थः, बाष्पम्—अश्रु 'बाष्पाऽश्रूणि' इति वैजयन्ती, स्थिरतया—धैर्यावलम्बनेन, शिथिलः—मन्दीभूतः अनुबन्धः—उत्पत्तिः—अविश्रान्तवहनमिति यावत्, यस्य तथाभूतं कुरु, मा रुदिहीति भावः । उक्तार्थे हेतुमाह;—खलु—यतः, अलक्षितः—नयनयोरुपरुद्धवृत्तिकतया अदृष्टः नतोन्नतः-बन्धुरः नीचोच्च इत्यर्थः, भूमिभागः—भूमिसन्निवेशो यस्मिन् तस्मिन् तथाविधे, मार्गे—पथि, ते—तव, पदानि-पदविन्यासाः, विषमीभवन्ति—स्खलन्ति, असमाना भवन्तीत्यर्थः त्वं, पतिष्यसीति भावः । यात्राकाले तत् स्खलनमङ्गलसूचकं क्वचिद्वेदनाजनकञ्च भवेत्, अतः पथो दर्शनाय दर्शनविघातकं बाष्पं निवारयेति समुदितोऽर्थः । अत्र यात्राकालेऽमङ्गल-शब्दोच्चारणं नोचितमिति हेतोः 'त्वं मार्गे पतिष्यसि' इत्यादि नोक्त्वा विषमपदेनोपात्तम् । केचित्तु;—'अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे' इति पदं सम्बुध्यन्ते मन्यन्ते, तच्चोद्देश्यभूतशकुन्तलाविशेषणम् । अयमर्थः;—अलक्षितो नतोन्नतो भूमिभागो यया तत्सम्बुद्धौ हे अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे ! अविदितसमविषमप्रदेशे ! शकुन्तले ! इति । अत्र पूर्वार्द्धवाक्यार्थं प्रति परार्धवाक्यार्थस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । तथा पदानां विषमीभवनं प्रति नतोन्नतभूमिभागस्यालक्षितत्वं हि हेतुरिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गान्तरञ्चेत्यनयोर्गुणप्रधानभावेनाङ्गाङ्गिभावात् सङ्करः ।

ननु बाष्पस्य नयनाविनाभावात् पुनर्नयनपदोपादानेऽर्थगतः पौनरुक्त्यदोष-

(१) कण्व—बेटी ! मत रोओ । स्थिर होओ । सामने मार्ग को देखो—

तुम्हारे नेत्रों के लोम (बरौनी) ऊँचे उठ गये हैं,' इसलिये जब आँसू आ जाते हैं तो दोनों नेत्रों की दर्शनशक्ति नष्ट कर देते हैं, अतः धैर्य धारण कर आँसू रोको । क्योंकि यह भूमि भी नीची ऊँची है, तुम इसे देख नहीं पाती जिससे तुम्हारे पैर लड़खड़ा रहे हैं ॥ १७ ॥

शिष्यौ—भगवन् ! 'ओदकान्तं स्निग्धोऽनुगम्यत' इति श्रूयते । तदिदं सरसीतीरम्, अत्र नः सन्दिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि (१) ।

कण्वः—तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः । (२)

[सर्वे तथा नाटयन्ति]

इति चेन्न, उरपचमणोरिति विशेषणदानार्थं तदुपादाने पौनरुक्त्यदोषानवकाशात् । अत्र न पौनरुक्त्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १७ ॥

(१) शिष्याविति । अथापत्यस्नेहविवशतया तन्मार्गानुसारिणं गुरुं कण्वं शिष्यौ कर्त्तव्यमनुस्मारयतः, भगवन्निति । भगवन्–ज्ञानादिभिर्नित्ययुक्त ! कर्त्तव्यं स्वयमेव यद्यपि जानासि तथापि स्नेहवैवश्येन विस्मृतिमाशङ्क्य विज्ञापयाव इति भावः । ओदकान्तम्–आङ् मर्यादायाम्, अन्तशब्दः स्वरूपवाची समीपवाची वा, आ उदकान्तम्, उदकान्तावधीत्यर्थः, स्वभावस्थितजलसमीपपर्यन्तमिति यावत्, एवञ्च गृहद्वारस्थितवटाभ्यन्तरगतजलसमीपगमनेनानुगमनं भवति; तादृशजलस्योत्तोलनस्थितत्वेन कृत्रिमत्वादिति ध्येयम् । मर्यादायामव्ययीभावः । स्निग्धः—स्नेहास्पदीभूतो जनः, अनुगम्यते पित्रादिभिर्बन्धुभिरिति शेषः । यथा अनर्घराघवे;—'ततश्चोदकान्तनिवर्तितानुयात्रिकबन्धुवर्गं' इति । अस्याचारस्य सम्बन्धे श्रुतिः प्रमाणमिति द्योतयति;—श्रूयत इति । तथा च श्रुतिः,–ओदकान्तं प्रियं प्रोथमनुव्रजेत्' इति । तत्–तस्मात्, इदमित्यङ्गुल्या निर्देशः, सरसीतीरं—स्वमार्गस्थितजलस्य समीपदेश इत्याशयः । नः–अस्मान्, सन्दिश्य,–दुष्यन्तसमीपे निवर्त्ततामित्यर्थः ।

(२) कण्व इति । क्षीरप्रधानो वृक्षः–क्षीरवृक्षः, सप्तपर्ण इति केचित् अश्वत्थ इत्यन्ये, वट इत्यपरे । तथा च राजनिघण्टुः—

न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थः पारिषप्लक्षपादपाः ।
पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षास्तेषां त्वक् पञ्चवल्कलम् ॥ इति ।

क्षीरवृक्षग्रहणं तस्य छायाधिक्यान्मङ्गलत्वाच्च । आश्रयामः-संश्रयामः, तस्यतले उपविशाम इत्यर्थः । तच्छायाश्रयणकथनं सन्देशस्य प्रकारबहुत्वं सूचयति ।

सर्वं इति । तथा—क्षीरवृक्षच्छायाश्रयणं, नाटयेन कुर्वन्ति । वटस्य

---

(१) दोनों शिष्य—भगवन् ! हमने ऐसा सुना है कि किसी जलवाले स्थान (सरोवर) तक प्रियजनों को पहुँचाने जाना चाहिए । अत एव यह सरोवर का तट है, इस स्थान से आप हमको सब समाचार बताकर वापस जा सकते हैं ।

(२) कण्व—ऐसा है तो चलो, इस क्षीर-वृक्ष की छाया में बैठें । (सब जाते हैं) ।

कण्वः—किन्नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपं सन्देष्टव्यम् ।

[इति चिन्तयति ।] (१)

अन—सखि ! आश्रमपदे नास्ति कोऽपि चित्तवान् , यस्त्वया विरह्यमाणो न ताम्यति । प्रेक्षस्व तावत् (२) । (सहि ! अस्समपदे ण अत्थि को वि चित्तवन्तो, जो तुए विरहिज्जन्तो ण तान्मदि । पेक्ख दाव ।)

पुटकिनीपत्रान्तरितां व्याहृतोऽपि न खलु व्याहरति प्रियाम् ।
मुख उद्व्यूढमृणालस्त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः ॥ १८ ॥

(पुंडइणि पत्तन्तरिअं वाहरिओ वि ण हु वाहरेइ पिअं ।
मुह उव्वूढमिणालो तइ दिट्ठिं देइ चक्काओ ॥)

---

(१) कण्व इति । अथ शापं तद्धेतुकं राज्ञः शकुन्तलाविस्मरणं चाजानन् कण्वः संदेशप्रकारं स्वयं विमृशति;–किन्न्विति । किन्नु वितर्के । खल्विति विमर्शे । तत्र भवतः–वर्णाश्रमसंरक्षकत्वेन माननीयस्य, दुष्यन्तस्येति नामग्रहणं तस्मिन् पुत्रवत् स्नेहप्रकर्षं प्रकाशयति, समीपे युक्तरूपम्–अतिशयेन युक्तम्, प्रशंसायां रूपप्, अनुरूपमित्यर्थः, सन्देष्टव्यं—वाचिकभावेन प्रेषणीयम् ।

(२) अनेति । चित्तवान्—चेतनः पदार्थः । विरह्यमाणः—त्यज्यमानः, न ताम्यति–न खिद्यति, न कातरो भवतीत्यर्थः । सर्वमेव सत्त्वं व्याकुलितमिति भावः । अनेन तस्याः सर्वजनप्रियत्वं व्यज्यते ।

पुटकिनीति । व्याहृतोऽपि–प्रियया आहूतोऽपि, चक्रवाकः—तन्नामा पक्षी, पुटकिन्याः–पद्मिन्याः पत्रैः अन्तरिताम्–अभ्यन्तरीकृतामावृतदेहामित्यर्थः, 'नालीकिनी पुटकिनी बिसनालिश्च पद्मिनी' इत्युत्पलिनी, प्रियां चक्रवाकीम्, न खलु व्याहरति—नैव प्रतिवक्ति, त्वद्गतचित्तत्वेन प्रियाव्याहाराश्रवणादिति भावः । तर्हि किं करोतीत्यत्राह;—मुख इति । मुखे–वदने, उद्व्यूढं–भक्षणायोत्तोल्य धृतं मृणालं येन तथाभूतः सन् , त्वयि–शकुन्तलायाम्, दृष्टिं ददाति, त्वद्गतचित्ततया मुखगतमपि मृणालं न भक्षयतीति भावः । अयमाशयः—अल्पज्ञानवतः पक्षिमात्रस्येदृगवस्थत्वे

---

(१) कण्व—माननीय राजा दुष्यन्त के निकट कौन सा सन्देश भेजा जा सकता है ?

(सोचने लग जाते हैं)

(२) अनसूया—सखी ! तपोवन में कोई भी ऐसा सहृदय प्राणी नहीं है, जो आपके वियोग से खिन्न न हो रहा हो । देखो—

यद्यपि यह चकई बात करती है, परन्तु चकवा उस कमलपत्र से ढकी देहवाली चकई के साथ बात नहीं करता । वह अपने मुख में मृणाल रखे तुम्हारी ही ओर निहार रहा है ॥१८॥

कण्वः—वत्स ! शार्ङ्गरव ! इति त्वया मद्वचनात् स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्याभिधातव्यः (१) ।

विशिष्टज्ञानवतो मनुष्यस्य त्वद्विरहकातरतया अवश्यंभाव्यमेवेति 'अस्समपदे णत्थि' इत्याद्युक्तं सत्यमेवेति । अत्र प्रियया व्याहृतोऽपि प्रियस्तां न व्याहरतीत्यनेन व्याकुलीभूतया शकुन्तलया नानाप्रकारेण प्रतिबोध्यमानोऽपि दुष्यन्तस्तां न स्मरिष्यति किन्तु प्रत्याख्यास्यत्येवेत्यर्थो गम्यते ।

इह च 'त्वयि दृष्टिं ददाति' इत्यनेन 'न तु तन्मृणालं भक्षयति' इति मृणालभक्षणव्यपोहनादार्थी परिसंख्यालङ्कारः ॥ आर्या जातिः ॥ ॥ १८ ॥

'सखि' इत्यारभ्य 'चक्रवाकः' इत्यन्तं यावत् अनसूयोक्तिस्थाने एवंविधं पाठान्तरं मुम्बय्यादिपुस्तकेषु दृश्यते । तद् यथा—शकु इति । [जनान्तिकम्] हला पेक्ख । णलिणीपत्तन्तरिदं वि सहअरं अदेक्खन्ती आउरा चक्कवाई आरडदि दुक्करं अहं करेमि त्ति । (हला ! प्रेक्षस्व, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरम् अपश्यन्ती आतुरा चक्रवाकी आरटति, दुष्करमहं करोमीति) [क] अनसूया—हि, मा एव्वं मन्तेहि ।

एसा वि पिएण बिना गमेइ रअणीं विसाअदीहअरं ।
गुरुअं वि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि ॥

(सखि मैवं मन्त्रयस्व ।

एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम् ।
गुर्वपि विरहदुःखमासाबन्धः साहयति ॥) [ख] ।

(क) शकु इति । अयमर्थः—नलिनीपत्ररूपमात्रव्यवधाने सत्यपि इयं चक्रवाकी प्रियमनवलोकमानापि व्याकुलीभूता, मया तु 'प्रियेण चिरं विरहिता सती इदानीमपि जीवामि' इति दुष्करं कृतमिति ।

(ख) अनसूयेति । अनसूया वक्रोक्तिचातुर्येण शकुन्तलां प्रबोधयति,—सखीति । सखि ! यथा त्वमात्थ, इयं तथा नाटयति किं तर्हि ? इत्याह,—एषापि चक्रवाकी प्रियेण विना विषादेन दीर्घतरां रजनीं गमयति ·यापयति । न केवलं त्वं रजनीं यापितवती, किन्तु अहमपि तथा 'अयमपेरर्थः । तदेवार्थान्तरन्यासेनाह;—आशायाः बन्धः—बन्धनम्, प्रियसमागमाशाधारणमित्यर्थः गुर्वपि—असह्यमपीत्यर्थः, विरहदुःखं साहयति सह्यवेदनं करोति, अतो यथाहं आशाबन्धनात् प्रतिरात्रं प्रियविरहितापि प्रातः प्रातः प्रियेण सङ्गच्छे, तथा त्वमपि प्रियसमागमाशां हृदये कुरु, चिरविरहात् प्रियेण सङ्गत्य सुखमनुभविष्यसीति भावः । इयं गाथा ।

(१) कण्व इति । शकुन्तलां पुरस्कृत्य—अग्रतः कृत्वा, मद्वचनात्—मम वचन-

---

(१) कण्व—वत्स शार्ङ्गरव ! तुम हमारी आज्ञानुसार शकुन्तला को राजा के सम्मुख

शार्ङ्ग—आज्ञापयतु भवान् (१)।

कण्वः—अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-

स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।

माश्रित्य, ल्यब्लोपे पञ्चमी, स राजा—दुष्यन्तः इति—वक्ष्यमाणरूपम्, अभिधातव्यः—वक्तव्यः। एवं रघावपि;—'वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा' इति।

(१) शार्ङ्गेति। आज्ञापयतु—वक्तव्यं ब्रवीतु, अनेन तत्र श्रवणावहितत्वं द्योत्यते। गौरवस्थले आज्ञोक्तिर्बोध्या।

कण्व इति। राज्ञे युक्तरूपं वाचिकमाह;—अस्मानिति। अस्मान्—अस्या आत्मीयान्, अस्याः पितृत्वेन संबन्धिनं मां वा, बहुवचनेनात्मनो गौरवं द्योत्यते, संयमः—तप एव धनं येषां तान् तथाभूतान्, तपोधनानित्यर्थः, साधु सम्यक्, विचिन्त्य—मनसा पर्यालोच्य मुन्यादिपदत्यागेन संयमधनपदग्रहणमङ्गीकारानङ्गीकारयोर्भयानुग्रहौ सूचयति, तथा कन्यायाः पतिगृहप्रेषणकाले बहुधनादिकौतुकदानं क्रियते इति लोकव्यवहारः, तत्र अस्माकन्तु तपोमात्रधनत्वात् तन्न सम्भवतीति च सूचयति। तथा आत्मनः स्वस्य, उच्चैः आभिजात्यविभूत्यादिभिरुन्नतं कुलं—वंशञ्च विचिन्त्य; तादृशकुलोत्पन्नस्यालीकप्रतारणादिसम्भावना नास्तीति सूच्यते, तेन तव कुलाभिमानित्वं धार्यमेवेति भावः। तथा च महाकुलसम्भवा हि जनाः प्रायेण सर्वत्रैव समदर्शिनो भवन्ति; तस्मात् त्वया इयं मे दुहिता सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकं द्रष्टव्येत्याशयः। तथा त्वयि अस्याः—शकुन्तलायाः, अत्र तव अस्यामिति नोक्त्वा त्वय्यस्या इति कथनेन भवद्दर्शनमारभ्य अस्याः एव प्रतिक्षणमुपचीयमानोऽनुरागसागरो वर्त्तत इति ध्वनितम्, कथमपि—केनापि प्रकारेण, अनिर्देश्येन केनापि कारणेनेत्यर्थः, यथोत्तररामचरिते-'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः' इति बान्धवैः—पित्रादिबन्धुजनैः कृतेति बान्धवकृता न बान्धवकृता अबान्धवकृता—शकुन्तलया स्वयमेव विहिता तामित्यर्थः, यद्वा कथमपि—वाक्यप्रयोगेण अपरेङ्गितादिना वा, बान्धवैः—कन्याप्रदानाधिकृतैरस्माभिः अकृतां—स्वयं गान्धर्वविधिना कृतामिति भावः, तां—तादृशीम्, स्नेहप्रवृत्तिम्—अनुरागोत्पत्तिम्, प्रणयप्रवाहं चेति यावत् विचिन्त्य, 'प्रवृत्तिः कथिता वृत्तौ प्रवाहोदन्तयोरपि' इति विश्वः, अत्र स्नेहप्रवृत्तेः प्रयत्नेन अन्यकर्तृकतां प्रतिषिध्य तस्याः स्थायित्वञ्च सूचयित्वा कोऽपि लोकोत्तरश्चमत्कारा-

खड़ी कर ऐसा कहना।

(१) शार्ङ्गरव—आप आज्ञा दें :

कण्व—हम लोगों के पास केवल तपस्यारूपी धन है, आपका भी वंश उच्च है और आपके प्रति शकुन्तला का जो प्रेम हुआ है, वह आपके वंशको किसी तरह अवनत नहीं करेगा। इन सब बातों को भली भाँति सोच-विचार कर आप इसे अपनी स्त्रियों में सम-

सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तत्स्त्रीबन्धुभिर्याच्यते ॥ १९ ॥

तिशयो व्यज्यते। तथा च कन्याया बन्धुजनकृते हि वरानुरागे तस्य गुणवत्त्वे आदरः, दोषवत्त्वे चावज्ञा सम्भवति, परन्तु कन्यया स्वयमेवानुरज्य वासनापूरणादिना यत्नुपकारे कृते स चेत् तां सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकं न पश्यति तर्हि महत्येव कृतघ्नता स्यात्; तस्मादियं मे दुहिता त्वया सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमेव दृश्येत्याशयः। त्वया इयं-शकुन्तला, दारेषु—गृहीतासु गृह्यमाणासु च भार्यासु मध्ये, बहुवचनेन पूर्वोक्तस्य युक्तता ध्वन्यते, सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकम्;—सामान्या—इतरदारसाधारणी या प्रतिपत्तिः-गौरवमतिः तत्पूर्वकं-तत्पुरस्कारेण, अपरा भार्या यथा इयं शकुन्तलापि तथैवेति समानताज्ञानपूर्वकमेवेत्यर्थः, 'प्रतिपत्तिः प्रवृत्तौ च प्रागल्भ्ये गौरवेऽपि च, सम्प्राप्तौ च प्रबोधे च पदप्राप्तौ च योषिति' इति मेदिनी, दृश्या-द्रष्टव्या, न पुनस्ता राजकन्यकाः, इयं मे दुहिता मुनिकन्येतिभेदबुद्ध्या ताभ्योऽधमत्वेन दृश्येति भावः। ननु विशेषः कुतो नाभ्यर्थ्यते ? इत्यत्राह;-भाग्याधीनमिति। अतः परं-सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकदर्शनमात्राधिकम्, अन्याभ्यो विशेषप्रतिपत्त्या दर्शनमित्यर्थः, भाग्याधीनं—कन्यायाः शुभादृष्टप्रयुक्तमेव, यद्यस्याः शुभादृष्टं स्यात् तदा बहुमतैव भविष्यतीति भावः। ननु भाग्यं विनापि भवादृशस्य मुनेर्वाक्यादेवैतद्भवितुमर्हति इत्यत्राह; स्त्रीबन्धुभिः—कन्यानां पित्रादिबान्धवजनैः, तत्-विशेषप्रतिपत्त्या दर्शनम्, न खलु याच्यते-सन्तानवात्सल्यादीप्सितमतिप्रार्थनामात्रेणालभ्यत्वान्नैव प्रार्थ्यते। अतो मयाऽपि तन्न याच्यत इति भावः। अनेन पद्येन महर्षेः समदर्शित्वं सूचितम्। किञ्चात्र वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तिपूर्वकावेक्षणस्योक्तेर्निषेधमुखेन कथनात् तस्यावश्यवक्तव्यत्वलक्षणो विशेषो व्यज्यते। ततश्च 'निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया' इति लक्षणलक्षित आक्षेप इति केचित्। अत्र विचिन्त्येत्येकया क्रियया अस्मानित्यादीनां त्रयाणामेवाप्रस्तुतानां कर्मतयाभिसम्बन्धात् तुल्ययोगिता। याचनाभावं प्रति भाग्याधीनपदार्थस्य हेतुतया पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। तथा स्त्रीबन्धुभिरित्यप्रस्तुतसामान्यात् शकुन्तलाबन्धुना मयेति प्रस्तुतविशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारश्च। एतेषामलङ्काराणां परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। अस्मिन् श्लोके 'न खलु तत्स्त्रीबन्धुभिर्याच्यते' इति स्थाने 'न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः' इति पाठो मुम्बय्यादिपुस्तकेषु दृश्यते। अस्य हि व्याख्यानं सुगमम्। अत्र वात्सल्यमत्यादयो भावाः। विद्या समाधिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १९ ॥

भाव से देखिएगा। उससे भी अधिक आदर पाना भाग्य के अधीन है और उसके लिए लड़कियों के बन्धुजन प्रार्थना भी नहीं कर सकते ॥ १९ ॥

शार्ङ्गरवः—गृहीतोऽयं सन्देशः (१)।

कण्वः—[शकुन्तलां विलोक्य] वत्से ! त्वमिदानीमनुशासनीयासि। वनौकसोऽपि वयं लौकिकज्ञा एव (२)।

शार्ङ्गरवः— भगवन् ! न खलु कश्चिदविषयो नाम धीमताम् (३)।

कण्वः—सा त्वमितः पतिगृहं प्राप्य (४)—

---

(१) शार्ङ्गेति। सन्देशः-सन्दिष्टार्थः, वाचिकमित्यर्थः, गृहीतः-अवधृतः। एतमेवार्थं राजानं बोधयाम इति भावः।

(२) कण्व इति। अथैवं सन्दिश्य शकुन्तलाया अपि वर्तनप्रकारमुपदेष्टुमारभते;-वत्से इति इदानीं-नृपोपदेशानन्तरकाले, गार्हस्थ्यप्रवेशसमये वेत्यर्थः। इदानीमिति इतः पूर्वमन्यत्र गमनाभावात्तया लोकव्यवहारानभिज्ञत्वं सूचयति। अनुशासनीयः-गार्हस्थ्यविषये उपदेष्टव्या। त्वां लोकवृत्तं शिक्षयामीत्यर्थः। ननु नैष्ठिकब्रह्मचारिणोऽदृष्टवधूजनसमयस्य भवतः कथं वधूजनशिक्षायामधिकारः सम्भवतीत्यत आह;-वनौकसोऽपीति। वनमोकः-आश्रयो येषां ते तथोक्ता अपि आजन्मवनवासेन लोकाचारमपश्यन्तोऽपीत्यर्थः, वयम्, बहुवचनेन सर्वतन्त्रस्वतन्त्रत्वसर्वज्ञत्वादिरूपबहुतरगौरवमात्मनि सूचितम्। अत एवाहमिति नोक्तम्। लौकिकज्ञाः-गृहिणीगृहस्थादिलोकवृत्तज्ञा एव, बुद्ध्यानुमानाल्लोकमुखश्रवणाच्चेति भावः।

(३) शार्ङ्गेति। अथ शार्ङ्गरवस्तदुक्तं सामान्यमुखेन सबहुमानमनुवदति;—भगवन्निति। धीमतां—प्रशस्तबुद्धिशालिनां जनानाम्, कश्चित् कोऽपि पदार्थः, न खल्वविषयः-नैव बुद्धेरगोचरः, नामेति सम्भावनायाम्, इति सम्भावयामीत्यर्थः। अत्र शिष्यवाक्येन गुरोर्वाक्यसमर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। एवञ्च वनवासित्वेऽपि बुद्धिमत्तया गृहिणीगृहस्थादिलोकवृत्तस्याप्यभिज्ञत्वात् भवान् सम्यगुपदेष्टुमर्हतीत्याशयः। यथोक्तम्—'सतां प्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमो विजयत' इति'।

(४) कण्व इति, सा त्वं-या त्वं ममाश्रमपदे स्वच्छन्दचारिणी आसीः, सा त्वमित्यर्थः, इतः-आश्रमात्, पतिगृहं प्राप्य-भर्तृगेहं गत्वा, अस्य पदकदम्बकस्य श्लोकस्थेन पदकदम्बकेन साकमन्वयः।

---

(१) शार्ङ्गरव—अच्छा यह सन्देश हमने समझ लिया।

(२) कण्व—(शकुन्तला को देखकर) बेटी ! अब तुम्हें कुछ शिक्षा देनी है। यद्यपि हमलोग अरण्यनिवासी हैं, फिर भी गृहस्थधर्म को जानते हैं।

(३) शार्ङ्गरव—भगवन् ! बुद्धिमान् लोगों के लिये कोई विषय अज्ञेय नहीं रह जाता।

(४) कण्व—तुम यहाँ से अपने पति के घर पहुंच कर—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
　भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
　यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥ २० ॥

अनुशास्ति—शुश्रूषस्वेति । गुरून्—श्वश्रूश्वशुरादिगुरुजनान्, शुश्रूषस्व-अतन्द्रा सती सादरं पादसंवाहनादिरूपां परिचर्यां कुरु, शृणोतेः सन्नन्तात् 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मनेपदम् । सर्वत्र विधौ लोट् । तथा चोक्तम्–'भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया । तद्बन्धूनां च कल्याणि ! प्रजानां चानुपोषणम्' इति गुरु-शुश्रूषणस्य लोकद्वयश्रेयोमूलकतया प्राधान्यात्तत्प्रतिपादनाय प्रथममुक्तिः । एव-मुत्तरत्रापि क्रमो बोध्यः । सपत्नीजने—समानः पतिः यस्याः सा एव जनः तस्मिन् 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति निपातनात् नकारादेशः ङीप्, समानस्य सादेशश्च, प्रिय-सखीवृत्तिं—प्रियवयस्याव्यवहारं कुरु, इयमस्मत्प्रियसखीति यथा मनसि स्फुरेत्तथा तदनुवृत्तिं विधेहीत्यर्थः । विप्रकृतापि—भर्त्रैवावमानितापि न्यक्कृतापीति यावत् 'निकारो विप्रकारः स्यात्' इत्यमरः, आहता चेत् किमु वक्तव्यमित्यपेरर्थः, रोषण-तया–कोपनतया, भर्तुः प्रतीपं-प्रतिकूलताम्, मा स्म गमः—न गच्छ, प्रतिकूल-वर्तिनी मा भव; किन्त्वनुकूलैव भवेत्यर्थः । 'प्रतीपोऽन्यः पराङ्मुखे' इति शब्दार्णवः, तथा चोक्तम्—

'आनुकूलिकतयैव हि यूनामाक्षिपन्ति हृदयानि रमण्यः' इति ।

किञ्च–'दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोपि वा, पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यः' इति । अपरञ्च—'पतिरेव बुधैः स्त्रीणां देवतेति निगद्यते' इत्यपि ।

परिजने—परिवारवर्गे, दासदास्यादिपरिचारकवर्गे इति यावत्, भूयिष्ठम्—अतिशयेन, दक्षिणा—छन्दानुवर्तिनी, अभीष्टसम्पादनद्वारा उदाराशया इति यावत् भव, यथा परिजनास्त्वय्यनुरागिणो भवन्ति; तथा दाक्षिण्यं कुर्वित्यर्थः, तथा भोगेषु—सुखेषु, महादेव्यादिपदप्राप्तिषु सत्स्वित्यर्थः, अनुत्सेकिनी—अगर्विता भव, यदुक्तं—'कं श्रीर्न दर्पयति' इति । यद्वा भोगेषु विषयजसुखेषु अनुत्सेकिनी—उत्सा-हाभाववती अगर्विता वा सती, परिजने–सेवकजने दक्षिणा भव इति पूर्वेणान्वयः, आजन्मवनवासिन्याः सहजदरिद्रायाः तादृशं सार्वभौमैश्वर्यं प्राप्य अभिमानस्य सुतरां सम्भवादिति भावः । एवं—अनेन प्रकारेण वर्त्तमाना इति शेषः, युवतयः—तरुण्यः, गृहिणीपदं–गृहिणीतिव्यपदेशं, गृहिण्याः पदं–स्थानं वा, यान्ति–प्राप्नु-

गुरुजनोंकी सेवा करो, अपनी सौतों के प्रति प्रियसखीके समान व्यवहार (बर्ताव) करो। यदि स्वामी अपमान भी करे तो क्रुद्ध होकर उनके प्रतिकूल व्यवहार मत करो, दास–दासी

गौतमी वा किं मन्यते (१)।

गौत—एतावान् खलु वधूजने उपदेशः। जाते! एतत् खलु हृदये कुरु, मा विस्मरिष्यसि (२)। (एत्तिओ क्खु वहुजणे उवदेसो। जादे! एवं क्खु हिअए करेहि, मा विसुमरिस्ससि।)

वन्ति। किन्तु वामाः—उक्ताद्विरुद्धवर्तिन्यः युवतयः, कुलस्य—पत्युः पित्रोश्च वंशस्य, सजातीयगणस्य वेति यावत्; 'कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि' इति मेदिनी। आधयः—मनोव्यथाः, मनस्तापजनिका इत्यर्थः, भवन्तीति शेषः, 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः, तस्मादुक्तविपरीता मा भवेति भावः।

अत्र अन्यस्य वृत्तिमन्यो न करोतीति वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् प्रियसखीवृत्तिवद्वृत्तिमिति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शना। 'यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयः' इति सामान्येन प्रथमपादत्रयगतविशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तथा 'वामा युवतयः' 'कुलस्याधय' इति रूपकम्। किञ्च कार्यभूतेन आधिना समं कारणभूताया वामाया अभेदेनाभिधानाद् हेत्वलङ्कारोऽपि; इत्येतेषां परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। तथात्र उपदिष्टं नाम नाट्यलक्षणमुपन्यस्तम्—

'उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः' इति दर्पणोक्तेः।

अत्र हि भावध्वनिः पूर्ववत् कालिदासस्य सर्वस्वभूतेषु श्लोकचतुष्टयेषु मध्येऽयमेकतमः सर्वस्वभूतः श्लोकः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ २०॥

(१) 'स्त्रीणां हि कर्त्तव्योपदेशं प्रायः स्त्रिय एव जानन्ति' इति परिज्ञातबहुवृत्तान्तां गौतमीं पृच्छन्नाह—गौतमीति। किं मन्यते—मनसि करोति एवं वा न वा? इत्यर्थः। अनेन प्रश्नेन सर्वज्ञरूपस्य मुनेः परमौदार्यं व्यज्यते।

(२) गौतमीति। अथ जिज्ञासिता गौतमी स्वाभिमतमभिव्यनक्ति—एतावानिति। एतावान्—उक्तरूप एवेत्यर्थः, इतोऽतिरिक्ता वधूजनविषये उपदेशः पुनर्नास्तीति तात्पर्यम्। एतावानित्यत्र प्रमाणे वतुप्रत्ययः, हृदये कुरु—मनसि संरक्ष।

आदि सेवक जनों के प्रति उदारता का व्यवहार करो और भोगों में आसक्त होकर कभी अभिमान न करो। इस प्रकार का आचरण करनेवाली ललनायें गृहिणी पद पर अनायास पहुँच जाती हैं और प्रतिकूल चलनेवाली स्त्रियाँ घरवालों के हृदय में दुःख उत्पन्न करने वाली ही होती हैं॥ २०॥

(१) गौतमी की क्या सलाह है?

(२) गौतमी—वधुओं के लिए इतना ही उपदेश अधिक है। वत्से! यह उपदेश सदव मन में रखना, भूलना नहीं।

कण्व—वत्से ! एहि परिष्वजस्व मां सखीजनञ्च (१) ।

शकु—तात ! इत एव किं प्रियसख्यौ निवर्त्तिष्येते ? (२) (ताद ! इदो ज्जेव किं पिअसहीओ णिउत्तिस्सन्ति !)

कण्व—वत्से ! इमे अपि प्रदेये, तन्न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम् । त्वया सह गौतमी गमिष्यति (३) ।

शकु—[पितुरङ्कमाश्लिष्य] कथमिदानीं तातस्य अङ्कात् परिभ्रष्टा मलयपर्वतादुन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि (४) ?

---

(१) कण्व इति । परिष्वजस्व-आलिङ्ग । इदं प्रस्थानकालोचितम् । अयं हि गमनाभ्यनुज्ञापूर्वरागः ।

(२) शकु इति । परिष्वजस्व सखीजनञ्चेति नियोगाद तातं पृच्छति;-तातेति । इत एव-अस्मात् स्थानादेव, निवर्तिष्येते-आश्रमपदं गमिष्यतः । काक्वा प्रश्नो-व्यज्यते । इतः पूर्वं खलु शकुन्तला सह समागमेन सख्योः राजधानीगमनममन्यत, सम्प्रति पितुः विसर्जनोचितालिङ्गनकथाश्रवणेन सहसा उद्भ्रान्ता सती तटस्थतामाह; इत इति । इति केचित । न तु राजधानीं मया सह गमिष्यतः सख्याविस्यभिप्रायः ।

(३) कण्व इति । सखीविरहमुत्प्रेक्ष्य व्याकुला भविष्यति इति प्रबोधयितुं कण्वः सयुक्तिकं प्रतिवक्ति;-वत्से इति । इमे-तव सहचरीभूते,अनसूयाप्रियंवदे अपि, अनूढाया वयस्याया निःसम्पर्कस्थाने गमनायुक्तत्वादिति भावः, अनयोः-तव सख्योरित्यर्थः, तत्र-राजधान्याम्, गन्तुं न युक्तं-न उचितम्, अपरणीतवयस्कत्वेन दोषसम्भवाद इति भावः । गौतमी गमिष्यतीत्यनेन केवलपुरुषैः सह गमने दोषा-शङ्का भवेदिति तद्वार्यते ।

(४) शकु इति । अङ्कं-क्रोडम्, 'उत्सङ्गचिह्नयोरङ्कः' इत्यमरः, आश्लिष्य-आलिङ्ग्य, अथ भाविपितृवियोगेन खिन्ना तस्यासह्यत्वमाह;-कथमिति । परिभ्रष्टा-च्युता, मलयपर्वतात्-मलयाचलाद , उन्मूलिता-उत्पाटिता, चन्दनलतेव-चन्दन-तरुरिव, अत्रोपमालङ्कारः, उपमया जीवितधारणस्याशक्यभावो व्यज्यते, देशान्तरे-भिन्नदेशे, जीवितं-जीवनं, धारयिष्यामि-जीविष्यामीत्यर्थः । मलयपर्वतादुत्पाटिता

---

(१) कण्व—पुत्री ! आओ, हमको और अपनी सखियों को भेंटो ।

(२) शकुन्तला—पिताजी ! क्या सखियाँ इसी स्थान से लौट जायँगी ?

(३) पुत्री ! मुझे इन्हें भी तो (किसी उत्तम वर के हाथों में) देना है । इस कारण इनका वहाँ जाना उचित नहीं है । तुम्हारे साथ गौतमी जायगी ।

(४) शकुन्तला—(पिता के गोद में जाकर) मलय पर्वत से उन्मूलित चन्दन-

(कधं दावि तादस्स अङ्काइं परिब्भट्टा मलअपव्वदादो उम्मुलिदा चन्दणलदा विअ देसन्तरे जीविदं धारइस्सं ?)

कण्व—वत्से ! किमेवं कातरासि ? (१)

अभिजनवती भर्त्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैरस्य प्रतिक्षणमाकुला ।

चन्दनलता अन्यत्र रोपिता सती न जीवतीति प्रसिद्धिः समुदायेन च वाक्येन राजधानीस्थितैर्बहुमानितया अपि पितृवियोगाविस्मरणं ध्वन्यते ।

तथात्र अङ्कमाश्लिष्येत्यादिना युवत्याः पत्यतिरिक्तपुरुषस्य वक्षस्यालिङ्गनमसङ्गतमिति द्योत्यते, स्नेहवशात् सन्तानस्य जनकजनन्यङ्काश्रयणस्य सार्वत्रिकत्वात् तस्मादङ्गान्तरानुपादानम् । इति बोध्यम् ।

(१) कण्व इति । अथ कण्वः कन्यायास्तादृशीं विह्वलतां विभाव्य तामाश्वासयति;–वत्से इति । किमेवं कातरासि–विक्लवा मा भूरित्यर्थः ।

'किमेवं कातरासि' इति यदवोचत् तत्र कारणं दर्शयति;–अभिजनवत इति अभिजनवतः–कुलीनस्य, प्रशंसायां मतुप्, उत्तमकुलोत्पन्नस्येत्यर्थः, 'अभिजनान्वयौ' इत्यमरः, एतद् दयादाक्षिण्यधर्मभीरुत्वादिगुणान्तरोपलक्षणम् । अथवा अभिजनपदेन तदुत्पन्ना जना लक्ष्यन्ते, तद्वतः–तद्बहुजनवतः, अभितः–समन्ततो जनवतः–स्वजनवत इति वा, अनेन विशेषणेन सकलबन्धुजनकृत्यचिन्तया गृहिणीगतोऽतिशयो व्यज्यते, एवम्भूतस्य भर्त्तुः–पत्युः, न केवलं तव पतित्वेन किन्तु विश्वभरणात् विश्वपालयितुर्दुष्यन्तस्येत्यर्थः, अनेनापि गृहिणीगतातिशयो द्योत्यते, श्लाघ्ये–प्रशंसनीये, गृहिणीपदे–गृहिण्याः पदं तस्मिन्, गृहिणीलक्षणाधिकारे वा महादेवीपदे इत्यर्थः, अतो 'गृहिणी गृहमुच्यते' इत्युक्तेस्तदीयं सर्वस्वं गार्हस्थ्यं स्वदायत्तमिति भावः, स्थिता प्रतिष्ठिता सती, अनेन कृतकृत्यताभिमानो व्यज्यते । तावता किम्; तत्राह;–विभवेति । तथा अस्य–भर्त्तुः विभवेन–धनसम्पत्त्या गुरुभिः–नानाविधत्वात् बहुतरत्वाच्च महद्भिः, अनेन कृत्यानामनन्यनिर्वाह्यत्वं सूचितम्, कृत्यैः–नित्यनैमित्तिककाम्यरूपैः कर्मभिः परिजनपरिपालनादिभिर्व्यापारैर्वा, प्रतिक्षणे–सर्वदा, आकुला–कर्मणां पुंखानुपुंखत्वात् व्यग्रा च सती, अथवा प्रतिक्षणमिति कृत्यैरित्यस्य विशेषणम्, अस्मिन्पक्षे प्रतिक्षणमित्यनेन कृत्यैरिति बहुवचनेन च

लता के समान, अब मैं आपकी गोद से वियुक्त होकर देशान्तर में किस तरह जीवन धारण कर सकूँगी ?

(१) कण्व—पुत्री ! तूं इस तरह अधीर क्यों हो रही है ?

अच्छे वंश में उत्पन्न स्वामी की आदरणीया गृहिणी बनकर, अपार धनराशि से

तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से ! शुचं गणयिष्यसि ॥ २१ ॥

शकु—[पितुः पादयोः पतित्वा] तात वन्दे ! (१) । (ताद ! वन्दामि ।)

कण्वः—वत्से ! यदहमिच्छामि, तदस्तु ते (२) ।

शकु—[सख्यावुपगम्य] सख्यौ ! एतम् , द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम् (३) । (सहीओ ! एथ, दुवे वि मं समं ज्जेव परिस्सजध ।)

तादृशबहुव्ययसाध्यकृत्यानामन्यतमेनेव व्याकुला भविष्यतीति ध्वन्यते । अचिरात्-अविलम्बेनैव, इदानीमन्तर्वत्नीत्वादिति भावः, प्राची-पूर्वादिग् , पावनं-जगत्पवित्रकरम्; 'पवित्रताकरणाय तस्मै शुद्धात्मने नमः' इति विष्णुपुराणात्, अर्कं-सूर्यमिव तन्नामग्रहणेन अन्येऽपि पूता भविष्यन्तीति भावः, पावनं-पवित्रताजनकम्, नानासत्कार्याणां प्रवर्त्तयिष्यमाणत्वादिति भावः तनयं-पुत्रम्, प्रसूय-जनयित्वा, अत्रार्कोपमानत्वेन तनयस्य जगद्विलक्षणतेजस्वित्वं लोकत्रयातिक्रान्तपौरुषं चतुर्दशभुवनगीयमानकीर्त्तित्वमत एव चक्रवर्त्तित्वमित्यादि धर्मसहस्रं व्यज्यते, मम विरहजां मद्वियोगजनिताम्, शुचं-शोकम्, न गणयिष्यसि-न ज्ञास्यसि, महादेवीपदप्राप्त्या अनन्यनिर्वाह्यतत्तत्कार्यव्यग्रतया पुत्रोत्परया च मद्वियोगदुःखं नानुभविष्यसीत्यर्थः, तस्मात् किमेवं कातरासीति भावः । अत्र पूर्ववद् भावध्वनिः । श्रौती पूर्णोपमालङ्कारः । तथा चतुर्थचरणवाक्यार्थं प्रति तत्पूर्ववाक्यजातस्य करणत्वेन काव्यलिङ्गम्, समुच्चयश्च, इत्येतेषामलङ्काराणामङ्गाङ्गित्वेन साङ्कर्यम् । तथात्र शब्दालङ्कारौ श्रुतिवृत्त्यनुप्रासौ । हरिणीवृत्तम् ॥ २१ ॥

(१) शकु इति । पादयोः पतित्वा-चरणयोरुपनम्य ।

(२) कण्व इति । आशीः प्रयच्छति; यदित्यादि । यद् महत्सौभाग्यादिकम्, सर्वाभीष्टसम्पत्सुखम् । सर्वमभीष्टं ते भवत्वित्यर्थः । एतेन सर्वविधमङ्गलस्यैव प्राप्तत्वात् महत्येवाशीः सूचिता ।

(३) शकु इति । सख्यावुपगम्य--अनसूयाप्रियंवदयोर्निकटमेत्य, एतम्--आगच्छतम् । द्वे अपि--उभे अपि, युवाम्, समं--युगपदेव, परिष्वजेथाम्--आलिङ्गतम्

भरी पूरी गृहस्थी सम्हालने में व्यग्र रहती हुई जिस तरह कि पूर्व दिशा सूर्य को जन्म देती है, उसी प्रकार कुछ ही दिनों में एक पवित्र पुत्र की माता बनकर तुम हमारे विरह-सञ्जात शोक को कभी मन में लाओगी ही नहीं ॥ २१ ॥

(१) शकुन्तला—(कण्व के पैरों पर पड़कर) पिता जी ! मैं प्रणाम करती हूँ ।

(२) कण्व—वत्से ! मेरी जो इच्छा है, वह पूर्ण हो ।

(३) शकुन्तला—सखियो ! तुम दोनों एक साथ मेरी छाती से लग जाओ ।

सख्यौ—[तथा कृत्वा] सखी ! यदि नाम स राजर्षिः प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्, तदा अस्य इदमात्मनो नामधेयाङ्कितमङ्गुरीयकं दर्शयिष्यसि (१)। (सहि ! जइ णाम सो राएसो पच्चहिण्णाणमन्थरो भवे, तदो से इमं अत्तणो णामधेअङ्किदं अङ्गुलिअअं दंसइस्ससि।

शकु—अनेन वां सन्देशेन कम्पितं मे हृदयम् (२)। इमिणा वो सन्देसेण कम्पिदं मे हिअअं।)

सख्यौ—सखि ! मा बिभेहि स्नेहः पापमाशङ्कते (३)। (सहि ! मा भाआहि। सिणेहो पावमासङ्कदि।)

शार्ङ्ग—भगवन् ! दूरमधिरूढः सविता; तत्त्वरयात्रभवतीम् (४)।

एकस्याः कदाचित्सम्भवेऽपि द्वयोः पुनरालिङ्गनस्य युगपदसम्भवादिति भावः। एतेन स्नेहसाम्यं द्योत्यते।

(१) सख्याविति। तथा कृत्वा-युगपदालिङ्गनपूर्वकमित्यर्थः। सख्यौ शापमाशङ्क्य तन्मोचोपायमादिशतः-सखीति। यदि नाम-यदि वा, नाम विकल्पे. 'नाम कोपेऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च। सम्भाव्यकुत्साप्राकाश्यविकल्पेऽपि च दृश्यते' इति मेदिनी, स राजर्षिः-दुष्यन्तः, प्रत्यभिज्ञाने-तत्तदुदन्तावगाहिनि सेयं शकुन्तलेति ज्ञाने इत्यर्थः, मन्थरः-विलम्बमानः, झटित्येतादृग्ज्ञानरहित इत्यर्थः, भवेत्, तदा-तर्हि, अस्य समीपे, आत्मनः-तस्यैव राज्ञः नामधेयाङ्कितं-नामाक्षराङ्कितम्, उत्कीर्णनामाक्षरमिति यावत्।

(२) शकु इति। वां-युवयोः सन्देशेन-उपदेशेन, कम्पितमिति राजकर्तृकविस्मरणसम्भावनयेति भावः।

(३) सख्याविति। मा बिभेहि-भयं मा कुरु, स्नेहः प्रणयः, पापं-पापजन्यममङ्गलम्, आशङ्कते-आशङ्काविषयं करोति। स्नेहवान् जनः सर्वदा स्निग्धजनेऽनिष्टाशङ्कां करोतीत्यर्थः। इदं स्नेहकार्यमिति भावः।

(४) शार्ङ्गेति। साक्षात् गुरुप्रतिषेधकार्यमसङ्गतमिति भङ्ग्या व्याचष्टे;-भग-

(१) दोनों सखियाँ—(भेंट करने के बाद) सखी ! राजर्षि यदि तुम्हें पहचानने में असमर्थ हों तो उनके नाम से अङ्कित यह अंगूठी उन्हें दिखा देना।

(२) शकुन्तला—तुम्हारी इस बात से तो मेरा हृदय काँपने लगा।

(३) दोनों सखियाँ—सखी ! मत डरो प्रेम, अमङ्गल की आशङ्का कर सकता है।

(४) शार्ङ्गरव—भगवन् ! सूर्यदेव बहुत दूर चढ़ आये, इसलिये शकुन्तला को शीघ्र विदा करिये।

शकु—[भूयः पितुरङ्कमपरिलष्य आश्रमाभिमुखीभूय च] तात ! कदा नु खलु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये (१) । (ताद ! कदा णु क्खु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं ।)

कण्व—वत्से ! (२)—

भूत्वा चिराय सदिगन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं प्रसूय ।

यन्निति सविता–सूर्यदेवः, दूरम्–उदयस्थानाद्बहुव्यवधानमाकाशम्, अधिरूढः–आरूढः आक्रान्तवान् इति यावत् तत् तस्मात्, अत्रभवती–गुरुकन्यात्वेन मान्यां शकुन्तलाम्, त्वरय–गमनाय त्वरया सह प्रेरय, मिस्वात् ह्रस्वः । नो चेदातपाक्रमणेन क्लेशो भविष्यतीति भावः । अत्र 'युगान्तरमारूढः सविता' इति पाठान्तरम्-तत्र;-युगान्तरं–हस्तचतुष्कावधि 'युगं हस्तचतुष्केऽपि' इति विश्वः, प्रहराधिका वेला वर्त्तत इत्यर्थः ।

(१) शकु इति । भूयः–पुनः, नु–प्रश्ने, खलु–निश्चितम्, प्रेक्षिष्ये'–द्रक्ष्यामि । भर्तृगृहप्रस्थानकाले कन्याजनस्वभावोक्तिरियमिति बोध्यम् ।

(२) कण्व इति । वत्से इति स्निग्धसम्बोधनम् ।

अथ 'तात ! कदा नु खलु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये' इति शकुन्तलावाक्यार्थस्योत्तररूपेण 'वार्द्धके तवात्र वासो भविष्यती' त्याह;–भूत्वेति । चिराय—दीर्घकालं व्याप्य, एतेन दीर्घायुष्यं प्रतिपाद्यते, दिगन्तैः सहेति सदिगन्ता समग्रेत्यर्थः, या मही–पृथिवी तस्याः सपत्नी—समानभर्त्तृका भूत्वा 'सदिगन्तमहीशपत्नी' इति पाठे; सदिगन्ता या मही तस्या ईशः–स्वामी तस्य पत्नी–भार्यास्य ', 'चतुरन्तमहीसपत्नी' इति पाठे तु चत्वारोऽन्ता–अवधयो यस्याः सा, चतुःसमुद्रपर्यन्तेत्यर्थः; तथाविधा या मही तस्याः सपत्नी 'परिग्रहबहुत्वेऽपि' इत्यादिवदुक्तिः प्रधानदेवीत्यर्थः, यद्वा चत्वारः–समुद्राः अन्तो यस्याः तस्याः मह्याः सपत्नी, 'विशेषणेनैव विशेषप्रतिपत्तिः' इति नियमात् समुद्रपदार्थसम्पत्तिः चतुरुदधिमेखलितभूमिवलयोपभोगमुपभुञ्जेत्यर्थः । दुष्यन्तस्य, चिराय समग्रपृथिवीश्वरत्वे शकुन्तलायाश्च तावत्कालं सपत्नीत्वे एतत्सिद्धिरिति मन्तव्यम् । तथा न विद्यते प्रतिरथः–स्वसमानयोद्धा यस्य तादृशं प्रतियोगिशून्यमित्यर्थः, दुष्यन्तस्यापत्यं पुमान्

(१) शकुन्तला—(फिर पिताजी की गोद में माथा रखकर उसके बाद आश्रम की ओर निहारकर) पिताजी ! अब मैं फिर कब तपोवन देखूँगी ?

(२) कण्व—वत्से ! बहुत दिनों के लिये समस्त पृथ्वीमण्डल की सौत बनकर दुष्यन्त के अप्रतिद्वन्द्वी पुत्र उत्पन्न कर और उसी पुत्र के ऊपर राज्य का सब

तत्सन्निवेशितधुरेण सहैव भर्त्रा
शान्त्यै करिष्यति पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥ २२ ॥

गौत—जाते ! परिहीयते ते गमनवेला, तन्निवर्त्तय पितरम् । अथवा चिरेणापि एषा न निवर्त्तिष्यते, तन्निवर्त्ततां भवान् (१) । (जादे !

दौष्यन्तिस्तम्, इदं 'दुष्यन्तेनाहितं तेजः, इत्यनुसंदधाति, अनेन विशेषणद्वयेन महीभारवहमत्वं ध्वनितम्, तनयं—पुत्रम्, तनोति कुलमित्यन्वर्थो बोध्यः, प्रसूय-उत्पाद्य, 'निवेश्य' इति पाठे;—यौवराज्येऽभिषिच्य विवाहं कारयित्वा वेत्यर्थः, 'निवेशः शिविरोद्वाहविन्यासेषु प्रकीर्तितः' इति विश्वः, यथा रघुकाव्ये;—'तां निवेश्य चतुरोऽपि तत्र स' इति महाभारते च—;'निवेशार्ध्यखिलां भूमिं कन्यामैत्तं चराम्यहम्' इति, तस्मिन्—अपत्ये सन्निवेशिता—समर्पिता धूः—साम्राज्यभारो येन तेन तादृशेन 'धूस्तु स्याद् भारचिन्तयोः' इत्येकाक्षरकोषः, 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इति, समासान्तोऽच् प्रत्ययः 'भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्द्धम्' इति पाठे;—तस्मिन्—तनये अर्पितः-प्रदत्तः कुटुम्बस्य—पोष्यवर्गस्य भरो येन तादृशेन, यथा रघौ;—'तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभूत्' इति, भर्त्रा—सार्द्धं—पत्या सहेत्यर्थः, भर्त्रा—पत्या दुष्यन्तेन सहैव, न पुनर्वैधव्यादेकाकिनीत्येवार्थः, अस्मिन् आश्रमे—तपोवने, शान्त्यै शान्तिलाभाय मोक्षायेत्यर्थः, पुनः पदं—स्थितिम्, करिष्यसि इदानीं सत्यपि विच्छेदे पश्चादत्र दीर्घकालावस्थानसम्भवान्नैवमत्यन्तो विषादः कार्य्यं इति भावः 'शान्त्यै' इत्यत्र 'शान्ते' इति पाठे चरमे वयसि इत्यर्थः । तत्तु प्रकरणाद् गम्यते, यद्वा 'शान्ते' इति आश्रमविशेषणम् । चरमे वयसि वनगमनमाह विष्णुपुराणे;—

'वयःपरिणतौ राजन् कृतकृत्यो गृहाश्रमी ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥' इति ।

अत्र सपत्नीत्यनेन मह्यमपि पत्नीत्वारोपो व्यज्यत इति वस्तुना रूपकालंकारध्वनिः । अत्र च तस्यां महीसपत्नीत्वं तस्यां तत्सन्निवेशनं, तत्र च भारनिवेशनमिति मालादीपकालङ्कारः—इति राघवः । काव्यलिङ्गमित्यन्ये । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥

(१) गौतमी । पुनः पुनः संलापेन गमनसमयातिक्रमं तपोऽनुष्ठानवेलातिक्रमणं

मार डाल देने वाले स्वामी के साथ मुक्तिलाभ के निमित्त फिर कभी इस आश्रम में आकर निवास करना ॥ २२ ॥

(१) गौतमी—पुत्री ! तुम्हारे चलने का समय निकला जा रहा है, इसलिये अब

परिहीअदि दे गमणवेला, ता णिउत्तावेहि पिदरं । अधवा चिरेण वि एसा ण णिउत्तिस्सदि, ता णिउत्तदु भवं ।)

कण्वः—वत्से ! ! उपरुध्यते मे तपोऽनुष्ठानम् (१) ।

शकु—तपश्चरणव्यापारेण निरुत्कण्ठस्तातः, अहं पुनरुत्कण्ठाभागिनी संवृत्ता (२) । (तवच्चरणवावारेण णिरुक्कण्ठो तादो, अहं उण उक्कण्ठाभाइणी संवुत्ता ।)

कण्वः—वत्से ! मामेवं जडीकरोषि । [निःश्वस्य] (३)—

चालोच्य गौतमी कण्वं निवर्त्तयितुमाह;—जाते इति । परिहीयते-ईदृशालोचनेनातिक्रामति, प्रस्थानकालोऽतिवाहितो भवतीत्यर्थः, परिपूर्वकहाधातोः कर्मकर्त्तरि लट् । तातप्रियायाः कन्यायाः पतिगृहप्रस्थानकाले तदशक्यतया महर्षिमेव स्वयं निवर्त्तने प्रवर्त्तयति;—अथवेति । चिरेणापि दीर्घकालेनापि, एषा—शकुन्तला, न निवर्त्तयिष्यति—न परिहापयिष्यति, भवन्तमिति शेषः, न हि कापि पितृवत्सला पितरं निवर्त्तयितुं शक्नोति इत्याशयः । तत्र कर्त्तव्यमनुस्मारयति;—तदिति । निवर्त्ततां—प्रत्यावर्त्तताम् । तेन तस्या गमनवेला भवतोऽपि तपोनुष्ठानवेला चाऽत्येतीति भावः ।

(१) कण्व इति । उपरुध्यते-अतिवर्त्तते, ईदृशविलम्बेन परिहीयते इत्यर्थः । तन्मां विसर्जयेति भावः ।

(२) शकु इति । तपश्चरणव्यापारेण-निरन्तरतपोऽनुष्ठानकर्मणा, निरुत्कण्ठः—मद्विरहप्रयुक्तविषादहीनः, निश्चिन्त इति यावत् । अहं पुनः—अहं तु, उत्कण्ठाभागिनी—तपस्तुल्यकर्त्तव्यतापूर्णकार्याभावात् तातविरहप्रयुक्तविषादविकला । तथा च;—उभयोस्तुल्यदुःखप्रयुक्तत्वेऽपि तातस्य तदपायसम्भवात् मम तु तदभावात् निवर्त्तयितुं निवर्त्तितुं वाऽसमार्थमिति भावः । अत्र कुत्रचित् पुस्तके;—'भूयः उक्कण्ठिदुं' इति पाठान्तरमस्ति; तस्यायं संस्कृतानुवादः;—तपश्चरणपीडितं तातशरीरम्, तन्मातिमात्रं मम कृते उत्कण्ठितुम्' इति । तपोनुष्ठानेनैवातिपीडितं तव शरीरं तस्मान्मम निमित्तं पुनरुत्कण्ठां मा कुर्वित्यर्थः । पीडोपरि पीडान्तरप्रसङ्गादिति भावः ।

(३) कण्व इति । एवम्-इत्थम्भूतदारसल्यप्रकाशनेन, जडीकरोषि—जडिमानं

पिताजी को वापस भेज दो । अथवा वैसे तो बहुत देर तक भी छुट्टी नहीं मिलेगी, इस कारण आप ही अब लौट जाइये ।

(१) कण्व—पुत्री ! अब मेरी तपस्या के कार्य में बाधा पड़ रही है ।

(२) शकुन्तला—तपस्या के कार्य में व्यग्र रहने के कारण पिताजी (आप) के हृदय में कोई उत्कण्ठा नहीं रह गयी है, परन्तु मेरे हृदय में तो अपार उत्कण्ठा है ।

(३) कण्व—ऐसी बातें करके तुमने मुझे बिल्कुल जड़ बना डाला । (ठंढी साँस लेकर)

अपयास्यति मे शोकः कथं नु वत्से ! त्वया रचितपूर्वम् ।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥ २३ ॥

गच्छ, शिवास्ते सन्तु पन्थानः (१) ।

[इति निष्क्रान्ताः शकुन्तलया सह गौतमी-शार्ङ्गरव-शारद्वतमिश्राः ।] (२)

सख्यौ—[चिरं विचिन्त्य सकरुणम्] हा धिक् हा धिक् ! अन्तरिता शकुन्तला वनराजिभिः (३) । (हद्धी हद्धी ! अन्तरिदा सउन्तला वणराइहिं ।)

लम्भयसे, कार्यान्तरेष्वपटूकरोपीत्यर्थः । निःश्वासः शोकानुभावः ।

अथ 'निरुत्कण्ठस्तातः' इति शकुन्तलया यदुक्तं तत्प्रतिवचनमाह;-अपयास्यतीति । नु-हे वत्से ! न्विति सम्बोधनसूचकमव्ययम्, त्वया रचितपूर्वं—विहङ्गमानां भक्षणाय पूर्वं रचितं, विकीर्णमित्यर्थः, सम्प्रति उटजद्वारे—पर्णशालासम्मुखे विरूढं-तोयसम्पर्केणाङ्कुरितम्, उटजद्वारेति सन्ततदर्शने निर्बाधहेतुः, नीवारबलिं-नीवाररूपं भूतबल्युपहारम्, पर्णशालाद्वारे भूतबलिरूपेण त्वया विकीर्णानां नीवाराणां जलसम्पर्केण जातानङ्कुरानित्यर्थः, विलोकयतः—यातायातकाले मुहुः पश्यतः, तच्च त्वदनुस्मारकतया नित्यं शोकोद्दीपकमिति भावः, मे-मम, शोकः—त्वद्विरहनिबन्धनविषादः, कथं-केनोपायेन, अपयास्यति-निवर्त्तिष्यते ? कथमपि नैव निवर्त्तिष्यत इत्यर्थः । तन्नीवारबलीनामेव सततं स्मारकत्वात् शोको वर्धिष्यत एवेति भावः । अत्र पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः; शोकानपगमनं प्रति नीवारबलिविलोकनपदा स्य हेतुत्वेनोपन्यासात् । तदनुप्राणिता अर्थापत्तिश्च, एतयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । परिकरोऽत्रेति केचित् । आर्या ॥ २३ ॥

(१) अथ पिता गमनमनुजानन् सुतायै आशिषं प्रयुङ्क्ते;-गच्छेति । शिवाः—क्षेमङ्करा इत्यर्थः, सन्तु—भवन्तु ।

(२) इतीति । एवमुक्ते सतीत्यर्थः ।

(३) सख्याविति । सकरुणं-करुणरसाश्रितम् । धिग् धिग्—इत्यात्मनिन्दायाम् । वनराजिभिः-वनश्रेणीभिः, अन्तरिता—तिरोहिता, दृष्टिपथात् अपनीता ।

वत्से ! पर्णशाला के द्वारपर तुम्हारे हाथों से रोपे हुए नीवार (तिन्नी) को-जो आज आश्रम वालों के लिये खाद्य पदार्थ बन गया है—देखकर मेरा शोक कैसे दूर हो सकेगा ॥

(१) अच्छा जाओ, तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो ।

(२) (इस प्रकार शकुन्तला के साथ गौतमी, शार्ङ्गरव और शारद्वत आदि जाते हैं ।)

(३) दोनों सखियाँ—(देर तक सोचकर करुणा के साथ) हाय ! हाय ! शकुन्तला वनश्रेणी की झाड़ियों से ओझल हो गयी—अब दिखलाई नहीं पड़ती ।

कण्वः—[सनिःश्वासम् ।] अनसूये ! प्रियंवदे ! गता वां सहचरी; निगृह्य शोकावेगं मामनुगच्छतम् (१) ।

[सर्वे प्रस्थिताः ।]

उभे—तात ! शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं प्रविशामः (२) ।

(ताद ! सउन्तलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं पविसह्म ।)

कण्वः—स्नेहप्रवृत्तिरेवंदर्शिनी । [सविमर्शं परिक्रम्य] हन्त भो (३) ! शकुन्तलां पतिगृहे विसर्ज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम् । कुतः—

---

(१) कण्व इति । पिताऽपि स्नेहपरवशतया सखीनिर्विशेषावस्थः सविषादं तदनुवदति,-गतेति । वां—युवयोः, सहचरी—शकुन्तला, निगृह्य-अनुरुध्य, शोकावेगं—शोकबलम् । सर्वं इति । सर्वे—कण्वोऽनसूया प्रियंवदा च । पुंसोऽत्र प्राधान्याव पुँल्लिङ्गनिर्देशः । कण्वोऽत्र प्रधानः । प्रधानेनैव व्यपदेशा भवन्तीति न्यायात् । प्रस्थिताः उटजं प्रति प्रस्थातुमारभन्ते । आदिकर्मणि क्तः ।

(२) उभ इति । अथ तनया प्रियसख्यौ तपोवनप्रवेशस्याशक्यतां दर्शयन्त्याबाहतुः; तातेति । शून्यमिव-जनपूर्णत्वेऽपि शकुन्तलाविरहितत्वेन निःशोभत्वात् शून्यवत् प्रतीयमानम्, इवेति प्रतीतौ । एतेन तपोवनप्रवेशस्याशक्यत्वं दर्शितम् ।

(३) कण्व इति । स्नेहप्रवृत्तिः स्नेहप्रवाहः, 'प्रवृत्तिस्तु प्रवाहे स्याव' इति मेदिनी । एवं दर्शयतीति एवंदर्शिनी—इत्थं प्रत्यायनी । स्निग्धजनवियोगे निरवच्छिन्नतरस्नेहप्रवाहो जनपूर्णस्यापि देशस्य शून्यताव्यञ्जको भवतीति,विधेः सार्वत्रिकत्वाग्नात्र च चित्रं किञ्चिदिति भावः । अनेन मुनेर्मतिरूपभावप्रवेशारम्भः सूचितः । सविमर्शम्—सचिन्तम्, विचारेण सहेति यावत् । परिक्रम्य—पर्णशालां प्रति कियन्तं पदविन्यासं कृत्वा । अथ शकुन्तलाया लाभात्प्रभृति भरणपोषणविघ्नबाधानादिना व्याकुलत्वमनुभवन्मुनिर्दैन्यादेव लब्धस्यानुरूपस्य वरस्य समीपं प्रति प्रेषणेन ससन्तोषः सन् कृतार्थतां स्वयमाह-हन्तेति । हन्तेति हि हर्षे । भो इति दैवं प्रति

---

(१) कण्व—(लम्बी साँस लेकर) अनसूये ! प्रियंवदे ! तुम्हारी सखी चली गयी । अपने शोक के वेग को रोक कर तुम दोनों मेरे साथ आओ ।

(सब चले जाते हैं)

(२) दोनों सखियाँ—पिताजी ! शकुन्तला के बिना हमलोग मानों इस सूने तपोवन में प्रवेश करेंगे ।

(३) कण्व—स्नेह के प्रवाह से ही ऐसा मालूम पड़ता है । (सोचते हुए) ओह ! शकुन्तला को पति के घर भेज कर अब मैं स्वास्थ्य का लाभ कर सका हूँ क्योंकि :—

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातोऽस्मि सद्यो विशदान्तरात्मा चिरस्य निक्षेपमिवार्पयित्वा ॥२४॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति चतुर्थोऽङ्कः ।

सम्बुद्धिः । हर्षहेतुमाह,-शकुन्तलामिति । अनेनात्र शकुन्तेभ्यस्तल्लाभादिर्द्योत्यते, विसर्ज्य-सम्प्रेष्य, स्वास्थ्यं-नैश्चिन्त्यं; प्रकृतिस्थतेति यावत्, लब्धमिति कृतार्थता द्योतिता । स्वास्थ्ये हेतुमुद्भावयति—कुत इति ।

हेतुमाह;-अर्थ इति । हीति निश्चये । कन्या अर्थः-कन्यारूपं द्रव्यम्, परकीयः-परस्वामिक एव, उत्पत्त्यनन्तरं परकीयत्वेनैव ज्ञात इत्यर्थः, अवश्यसम्प्रदानीयत्वेनोपदेशादन्यदीयत्वस्य भावित्वेऽपि भूतवदुपचारेण कन्यासामान्यस्य परकीयत्वोक्तिः । अद्य तां—कन्याम्, परिग्रहीतुः परिणेतुः तद्वरस्य निकटे इत्यर्थः, सम्प्रेष्य-विसर्ज्य, अत्र पूर्वं सामान्यतोऽन्यदीयत्वमुक्त्वा परिग्रहीतुस्तामित्यनेन नियतविषयत्वेन परकीयत्वं वदतावश्यप्रस्थापनीयत्वं ध्वनितम्, चिरस्य-चिरकालात्, निक्षेपं-न्यासीकृतम्, धनं-परस्वामिकं द्रव्यमित्यर्थः, अर्पयित्वा-तत्स्वामिने प्रत्यर्प्य इव, सद्यस्तत्क्षणात्, विशदः अन्तरात्मा यस्यासौ विशदान्तरात्मा प्रसन्नचित्तः जातोऽस्मि-अभवम् । उभयतोऽपि दायित्वव्यपगमादिति भावः । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिरिति केचित् । श्रौतोपमेति केचित् । नन्वत्रैवशब्दसत्त्वेऽपि पुनर्हिशब्दोपादानात् निरर्थकत्वदोष इति चेत्, मैवम्, तादृशशब्दद्वयोपादानेनैवात्यन्तावधारणसूचनात्, यथा 'यः कौमारहरः स एव हि वर' इति । अत्र प्रकरणे कविना प्रणिधानवतोऽपि महर्षेः कण्वस्य शापादिवृत्तान्ताज्ञानं वसिष्ठादे रामादिविच्छिन्नाभिषेकसम्पादनादिवद् विचारितत्वेनैव विवक्षितम् । अयं महर्षिर्युञ्जानो न तु युक्तः । यदि चायं शापवृत्तान्तं जानीयात् तदा कन्यावात्सल्यशालित्वात् कथं तत्प्रतिक्रियां न विदध्यात् इति विवेचनीयम् । अत्र चेन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मेलनादुपजातिवृत्तम् ।

इति किशोरकेलिव्याख्यायां समाप्तश्चतुर्थोऽङ्कः ।

कन्यारूप धन वास्तव में पराया ही होता है । आज उसे उसके स्वामी के पास भेज कर—जैसे किसी की बहुत दिनों की धरोहर उसे लौटा देने पर आनन्द होता है उसी तरह—सचमुच मैं बहुत प्रसन्न हूँ ॥ २४ ॥

(सब चले जाते हैं)

इति चतुर्थोऽङ्कः ।

पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशति कञ्चुकी ।] (१)

कञ्चु—अहो बत ! कीदृशीं वयोऽवस्थामापन्नोऽस्मि (२) ।

भूतिस्तोमविभूषितो गिरिसुतोल्लासैः समुल्लासितो-
रत्नेनेव चिरं विराजितजटो दिव्येन शुभ्रांशुना ।
शान्तस्निग्धमणिद्युतिप्रविलसन्मालामहीनां वहन्
नित्यानन्दमयः प्रभुर्विजयते श्रीविश्वनाथः सदा ॥

(१) अथ चतुर्थेऽङ्के नाटकनायिकायाः शकुन्तलायाः पतिगेहप्रस्थानवर्णनात् शेषभूतं तत्प्राप्त्यादिरूपमितिवृत्तं वर्णयिष्यन् कविः कञ्चुकिप्रवेशमाह—तत इति । अत्र तापसानां शकुन्तलापरिणयनिर्बन्धे सत्यपि नायकमुखेनापरिग्रहवर्णनात् तस्य गुणेषु स्थैर्यं प्रधानतया प्रतिपादितम् । तेनात्र वृत्तिः सात्वती· धर्मवीरो रसः न च नायकनायिकयोरन्योन्यदर्शनसलापादौ सति सम्भोगश्रृङ्गारप्रसङ्ग इति वाच्यम्; नायकस्य व्यवहितस्मृतित्वात्, नायिकायाश्च तादृगवस्थावलोकनेन रोषदैन्यशोकादेरुदयात् । तथा च रतेर्नायकनायिकोभयनिबन्धनस्वभावत्वात् तस्या एकत्रानुदये प्रायेण परत्राप्यनुदय एवेति सार्वत्रिकः स्वभावः । किन्तु रतेरुद्बोधदर्शनादस्फुटः शापविप्रलम्भो रोषशोकादेर्वर्णनादीर्ष्याकलुषितः करुणतया परिणंस्यते ।

प्रविशति कञ्चुकीति । स्वकार्यवशात् सूचनासङ्क्वैव कञ्चुकिनः प्रवेशः । कञ्चुकः—वारबाणोऽस्याऽस्तीति कञ्चुकी, 'सौविदल्ल' इत्यपराभिधेयोऽन्तःपुरचरो वृद्धविप्रविशेषः । कञ्चुकिलक्षणमाह भरतः;—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते।इति।। मातृगुप्ताचार्यैरप्युक्तम् ;—

'ये नित्यं सत्यसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः ।
ज्ञानविज्ञानकुशलाः कञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः' ॥ इति ।

(२) कञ्चुकीति । अथ शकुन्तलया सह हस्तिनापुरं प्राप्य तत्र राजभवनं च

---

(१) (कंचुकी आता है ।)

(२) कंचुकी—हाय ! आज मैं किस तरह अवस्था के फेर में पड़ा हूँ—

आचार इत्यधिकृतेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः ।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनाय ॥ १ ॥

प्रविश्य तद्दर्शनमिच्छद्भिः कण्वशिष्यैरात्मनिवेदनाय नियुक्तः सौविदल्लो राजसमीपमुपसर्पन् जराभिभूतामात्मनोऽवस्थामनुशोचति—अहो बतेति । अहो इत्याश्चर्ये बत इति खेदे । वयःकृतामवस्थां-वयोवस्थां-वार्द्धक्यकृतां दशाम्, आपन्नः प्राप्तः । ईदृशीं दशामवलोक्य दुःखविस्मयौ युगपत् जायेते इत्याशयः ।

अवस्था विवृणोति;—आचार इति । राज्ञः अवरोधगृहेषु-अन्तःपुरगृहेषु, अधिकृतेन-अध्यक्षतया नियुक्तेन, 'अध्यक्षाधिकृते समा' इत्यमरः, अन्तर्वंशिकेनेति यावत्, 'अन्तःपुरे त्वधिकृतः स्यादन्तर्वंशिको जन' इत्यमरः, 'अवहितेने'ति पाठे अप्रमत्तेनेत्यर्थः, अनेन वेत्रग्रहणस्यानुयोगित्वं सूच्यते, 'अवधाने विस्मृतिः स्या'दिति भावः, मया-अशक्तेनापीत्यर्थः, आचारः अस्माकं कञ्चुकिनामयं व्यवहारः, इति हेतोः;-साधारणपुरुषोत्सारणाद्यर्थमवरोधाधिकृतानां वेत्रयष्टिग्रहणस्याचारत्वादित्यर्थः, न पुनरिदानीमिव शरीरदौर्बल्येन प्रयोजनवशादिति भावः, या वेत्रयष्टिः-वेत्रदण्डः, गृहीता-पूर्वं धृता, 'अथ शक्तिश्च शक्ती च यष्टिर्यष्टी च यष्टिका । दण्डः काण्डोऽपि लगुडः पशुघ्नो दण्डकोऽपि च' इति शब्दरत्नावली, बहुतिथे-बहूनां पूरणे, अत्यधिके इत्यर्थः, बहुशब्दात् पूरणे अर्थे 'तस्य पूरणे डट्' इति डटि कृते, तस्मिन् परे 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' इति तिथुक्, काले-आयुर्लक्षणे, गते-अतीते, पूर्णवार्द्धक्ये एवागते सतीत्यर्थः, सैव-आचारगृहीतैव वेत्रयष्टिः, एवकारः पौनर्वचनिकस्तेन वक्ष्यमाणस्य स्वप्नेऽप्यचिन्तितपूर्वत्वेनाद्भुतं द्योतयति, प्रस्थाने-किञ्चित् स्थानात् स्थानान्तरप्राप्तिकाले विक्लवा—विवशा गतिः-पादविन्यासो यस्य तस्य, गमनारम्भ एव स्खलितपादस्य ममेत्यर्थः, अवलम्बनाय-आश्र-

राजा के अन्तःपुर में अध्यक्षरूप से नियुक्त होकर मैंने बेंत की छड़ी धारण की थी, (कंचुकियों को बेंत की छड़ी धारण करना आवश्यक है) बहुत काल बीत जाने के बाद आज वही छड़ी मेरे खड़े होने का सहायक हो गयी है । क्योंकि चलते समय पैर लड़खड़ा जाने का सदा भय लगा रहता है ॥ १ ॥

यावदभ्यन्तरगताय देवाय स्वमनुष्ठेयमकालक्षेपाहं निवेदयामि। [स्तोकमन्तरं गत्वा] किं पुनस्तत् ?

[विचिन्त्य] आं ज्ञातम्, कण्वशिष्यास्तपस्विनो देवं द्रष्टुमिच्छन्ति। भोः ! चित्रमेतत् (१) ।

क्षणात् प्रबोधमायाति लङ्घ्यते तमसा पुनः।

याय, जाता। तथा च सम्प्रतीदृक् वृद्धत्वमापन्नं यद्देहदौर्बल्याद् यष्टिं विना एकमपि पदं चलितुं न शक्नोमीति भावः। नन्वत्र प्रस्थानगतिशब्दयोरुपादाने अर्थगतपुनरुक्तिदोष आपततीति चेन्न तयोरन्यतराग्रहणे विक्लवत्वं मनोगतत्वेनापि प्रतीयते इत्युभयोर्गतिवैक्लव्यविशेषे तात्पर्यात् गतिशब्दस्य ज्ञानार्थत्वाद्वा तत्परिहारात्। यद्वा 'वृद्धस्य विक्लवगतेः' इति पाठेन समाधेयः।

अत्र गतिवैक्लव्यादवलम्बनाय जाता इति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। किञ्च एकस्या एव वेत्रयष्टेः, पूर्वमाचारमात्रगोचरत्वेन इदानीन्तु अवलम्बगोचरत्वेनेति अनेकगोचरत्वेन जातत्वाद्विशेषालंकारः। राघवस्तु;-'उत्तरार्द्धं वार्द्धकगमनलक्षणकार्यस्यारम्भे वेत्रयष्टेः सहायतोपादानात् समाहितम्;-'कार्यारम्भे सहायाप्तिः' इत्याह। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १ ॥

(२) यावदिति। यावदिति वाक्यालङ्कारे। अभ्यन्तरगताय-अन्तःपुरस्थिताय, देवाय-राज्ञे, स्वम्-आत्मसम्बन्धीयम्, तदीयमिति यावत्, अनुष्ठेयं-कर्त्तव्यं वक्तव्यरूपमिति तात्पर्यम्। अकालक्षेपाहं-विलम्बासहम्। स्तोकम्-अल्पम्, अन्तरं-दूरम्। किं पुनस्तत्-यन्निवेदयामि तदनुष्ठेयं पुनः किम् अत्र विस्मृतिर्द्योत्यते। विचिन्त्य-स्मृतिमानीय आमिति स्मृतिद्योतकमव्ययम्। 'आं ज्ञाने निश्चयस्मृत्योः' इति मेदिनी। ज्ञातं-स्मृतम्। किमिति स्मृतमित्याह;-कण्वेति। कण्वशिष्या इति विशेषणेन अवश्यज्ञातव्यत्वं सूचितम्। भोः-इति विषादे 'भोस्तु सम्बोधनविषादयोः' इति मेदिनी। एतत्-क्षणात् विस्मरणं स्मरणञ्च, चित्रम्-आश्चर्यम्।

क्षणादिति। जरतः—जराजीर्णस्य जनस्य, मतिः—बुद्धिः, निर्वास्यतः-निर्वाणं

---

(१) महाराज इस समय भीतर गये हैं और एक ऐसा काम आ गया है कि उसमें विलम्ब नहीं किया जा सकता ! अतः जाऊँ और उन्हें उसकी सूचना कर दूँ। (थोड़ा आगे जाकर) हाँ, वह कौन सी बात है ? (सोचकर) मालूम हो गया ! महर्षि कण्व के शिष्य (तपस्वीगण) श्रीमान् का दर्शन करना चाहते हैं। परन्तु यह आश्चर्य है कि—

बुझने वाले दीपक की शिखा के समान बूढ़ों की बुद्धि क्षणभर में ज्ञानसम्पन्न बन,

निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः ॥ २ ॥

[परिक्रम्यावलोक्य च] एष देवः (१)—

प्रजाः प्रजाः, स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते श्रान्तमना विविक्तम् ।
यूथानि सञ्चार्य रविप्रतप्तः शीतं गुहास्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥ ३ ॥

प्राप्स्यतः, उपमेयपक्षे अचिरं मरिष्यत इत्यर्थः, प्रदीपस्य, शिखेव, क्षणात् प्रबोधं-उन्मेषं दीप्तिञ्च, आयाति—प्राप्नोति, पुनः क्षणात्, तमसा-मोहेन तिमिरेण च, लङ्घ्यते-आव्रियते । एतच्चित्रमित्याशयः । अत्र श्लेषानुप्राणितोपमालङ्कारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २ ॥

(१) परीति । परिक्रम्य-किञ्चित्पादन्यासं कृत्वा, अवलोक्य राजानमिति शेषः। अनुसंदधाति;-एष इति । समीपतर इत्यर्थः । अस्य अग्रिमेण श्लोकेन सम्बन्धः। राजानमवलोक्य तात्कालिकीं तदवस्थां प्रस्तौति—प्रजा इति । स्वाः—स्वकीयाः प्रजाः—सन्ततीरिव, 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः, अपत्यनिर्विशेषमित्यर्थः, श्रान्तं—परिश्रान्तिमत् मनो यस्य सः श्रान्तमनाः—उद्विग्नचित्तः सन्, एष देवः-राजा दुष्यन्तः, यूथानि—स्ववर्ग्यान् गजान् 'सजातीयः कुलं यूथम्' इत्यमरः, सञ्चार्य-आहारविहारादिषु यथास्थाने व्यापार्य, रविणा—सूर्येण प्रतप्तः—सन्तप्तः, भास्करकरतापित इत्यर्थः, द्विपेन्द्रः—गजपतिः, यूथनाथ इति यावत्, शीतं-शीतलम्, गुहास्थानं—पर्वतबिलप्रदेशमिव, विविक्तं—विजनम्, निर्जनस्थानमिति यावत्, 'विविक्तं पूतविजनौ' इत्यमरः, निषेवते—अधिवसति श्रमापनोदनायेति भावः । अत्र 'दिवा स्थानमिव' इति पाठो दृश्यते, तत्र;-दिवा दिवसे—मध्याह्ने इति तदर्थः शीतं स्थानमिवेत्यन्वयः । अत्र दिवापदेन राज्यादिप्रतिक्षेपात् परितापाधिक्यं द्योत्यते ।

अत्र सन्तानोपमया प्रजासु राज्ञ आस्थातिशयस्तासामधीनता च द्योतिता, द्विपेन्द्रोपमया स्वस्यामवस्थायामप्यधृष्यत्वं दर्शनीयत्वादिकं च सूचितम् । तथा कञ्चुकिनोऽपि तदवस्थराजदर्शनेन हर्षो गम्यत इति तदुपस्कृता राजविषयिका

जाती और क्षण भर में फिर अज्ञान से ढँक जाया करती है ॥ २ ॥

(कुछ आगे बढ़ कर और देखकर) ये महाराज—

(१) जैसे कि गजराज अपने साथ के और हाथियों को उपयुक्त स्थान पर पहुँचाकर स्वयं धूप से सन्तप्त होकर किसी शीतल पर्वतकन्दरा में जाकर आराम करता है, उसी तरह ये भी अपनी सन्तान के समान प्रिय प्रजा को ठीक मार्ग पर लगा कर और स्वयं थक कर एकान्त सेवन कर रहे हैं ॥ ३ ॥

भोः ! सत्यं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य, तथापि शङ्कितवानस्मि इदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय देवाय कण्वशिष्यागमनं निवेदयितुम् । अथवा कुतो विश्रामो लोकपालानाम् (१) ।

तथाहि—

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति ।

रतिः—प्राधान्येन ध्वन्यते । अत्र यमकोपमालङ्कारौ, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मेलनादुपजातिः ॥ २ ॥

(१) भोः इति । देवस्य–राज्ञो दुष्यन्तस्य, धर्मकार्यं–धर्मार्थं कर्म, मुनिजनसन्दर्शनादिप्रजारक्षणावेक्षादि वा, अतिपातोऽत्ययः—कालक्षेपस्तस्यार्हमित्यतिपात्यं तदन्यदनतिपात्यम् अनतिक्रमणीयं, झटिति निवेद्यमिति यावत्, मयेति शेषः, देवस्यानतिपात्यं–देवेनानतिक्रमणीयमिति केचित् । सत्यमिति–स्वीकरोमीत्यर्थः, अङ्गीकारार्थकमव्ययमिदम्, 'सत्यं प्रश्नेऽभ्युपगमे' इति मेदिनी । नन्वेवं चेत्तर्हि झटित्येव निवेद्यतामित्यत आह;—तथापि इति । इदानीम्–अधुनैव, धर्मासनात्–धर्माधिकरणात् आसनात्, विचारासनादित्याशयः, उत्थिताय—उत्थायारब्धविश्रामायेत्यर्थः, देवाय—राज्ञे, कण्वशिष्यागमनं–कण्वस्य शिष्याणामागमनम्, निवेदयितुं–विज्ञापयितुम्, शङ्कितवान्—भीतवानस्मि । तथा चातिरिक्तविचारकारणेनोत्पद्यमानस्य दारुणपरिश्रमस्यापनोदनार्थं विश्रान्तिमारूढाय पुनस्तद्विषयककथने सति यदि सः कुप्येदित्यत इति भावः । शङ्कां निगृह्णाह;–अथवेति लोकपालानां–जगत्पालयितॄणां नृपतीनाम्, विश्रामः कुत इति पूर्वेणान्वयः । तथा च राज्ञो विश्रामासम्भवादकुतोभयेनैव कण्वशिष्यागमनं निवेदयितुमर्हामीति भावः । अविश्रान्तिमत्वं द्रढयितुमाक्षिपति;—कुत इति ।

तदेव साधयति;—भानुरिति, भानुः–सूर्यः, सकृत्–जीवने एकवारमेव युक्ताः—रथे नियमिताः जगद्भ्रमणायेति भावः; तुरङ्गाः–अश्वाः येन स तथाभूत एव निरन्तरं गच्छन् कदाचिदपि तुरङ्गमोक्षणपूर्वकं न विश्राम्यतीति भावः । एतेनास्य पुनस्तुरङ्गमयोजनेऽपि विश्रान्तिर्नास्तीति ध्वन्यते । तेन च तुरङ्गमयोजने विश्रान्त्य-

---

(१) हाँ-हाँ, हमारे महाराज धर्मकार्य का कभी भी उल्लङ्घन नहीं करेंगे, यह सच है । परन्तु फिर भी इसी समय धर्मासन से उठे हुए महाराज को कण्व ऋषि के शिष्यों के आगमन की सूचना देने में शङ्का होती है । अथवा राजाओं को भला विश्राम कैसे मिल सकता है । क्योंकि—

जैसे सूर्य के रथ में एक ही बार घोड़े जोते गये हैं (जो बराबर चलते रहते हैं), वायु

शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥ ४ ॥

[इति परिक्रामति ।] (१)

भावस्तस्यान्यकार्येऽविश्रान्तिः किमु वक्तव्येत्यविश्रान्तगमनं द्योत्यते, एतादृश एवास्ते इति शेषः।

तथा गन्धवहः—वायुः, रात्रिश्च दिवा च द्वयोः समाहारो रात्रिन्दिवम्—अहोरात्रमेव, सर्वदेत्यर्थः 'अचतुर—' इत्यादिना समासान्तोऽच्प्रत्ययः, प्रयाति प्रवहति, न पुनः कदाचिदपि ततो विरमतीति भावः, अत्र गन्धवहपदेन न केवलं वाति—गच्छति किन्तु गन्धमपि वहतीति भारवहनपूर्वकगतिः प्रतीयत इति सूच्यते; तथा रात्रिन्दिवमिति पदेन च नितरामविश्रान्तिश्च द्योत्यते। तथा शेषः—अनन्तः, नागराजः, सदैव आहितः—अर्पितो भूमेर्भारो यत्र स तथोक्तः, यद्वा आहितः—धृतः भूमिभारो येन स तथाभूतः, सततमेव भूभारं वहति न तु क्वचिदपि तमपास्य विश्रान्तिं करोतीति भावः। षष्ठांशः—प्रजोत्पादितद्रव्यजातानां षष्ठो भागः स एव वृत्तिः—जीविका यस्य तस्य तथोक्तस्यापि, राज्ञोऽपीत्यर्थः; एषः—अविरतपरिश्रमरूपः, धर्मः—आचारः नियम इति यावत्। एतदः पूर्वपरामर्शित्वात्। तथा च राज्ञः कथञ्चिदपि विश्रामासम्भवादनिवार्यमेव कण्वशिष्यागमनं निवेदयितुमर्हामीत्याशयः। अत्रैक एवाविश्रामरूपः सामान्यो धर्मो विभिन्नशब्दैः पृथक् २ निर्देशात् 'विमल एव रविर्विशदः शशी' इति साहित्यदर्पणोदाहरणवत् माला प्रतिवस्तूपमा। तथा दुष्यन्तस्येति विशेषे वक्तव्ये षष्ठांशवृत्तेरिति सामान्येन वचनादप्रस्तुतप्रशंसाऽपि। किञ्चात्र सदैवशब्दाभ्यां कादाचित्कतुरङ्गमोचनादिधर्मव्यपोहनात् शाब्दपरिसंख्याप्रयश्चेति केचित् साहित्यदर्पणकृता इदं हि पद्यमनवीकृतत्वदोषव्याख्यानावसरे प्रसङ्गान्नवीकृतत्वे उदाहृतम्। तथा चात्र सकृद्युक्ततुरङ्गादिशब्दैर्विच्छित्तिविशेषजननात् नानवीकृतत्वरूपो दोषः। अनवीकृतत्वमुदाहृतं यथा दर्पणे-

'सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः।
सदा धत्ते भुवं शेषः सदा धीरोऽविकत्थनः॥' इति।

अत्र सदेत्यनवीकृतत्वं बोध्यम्। तथात्र राज्ञः सूर्याद्युपमया तेजस्वित्वं लोकोपजीव्यत्वं स्थैर्यं च द्योत्यते। इन्द्रवज्रा वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा;—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति ॥ ४ ॥

(१) इतीति। परिक्रामति—राज्ञः समीपे आगमनाय पादक्रमं करोति।

रात दिन चलती ही रहती है, शेषनाग सदा भूमि का भार ही लादे रहते हैं, ठीक यही धर्म राजा का भी तो है (कि वह कभी भी अनुपस्थित न हो) ॥ ४ ॥

(१) [जाता है]

[ततः प्रविशति राजा विदूषको विभवतश्च परिवारः] (१)

राजा—[अधिकारखेदं निरूप्य ।] सर्वः प्रार्थितमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः; राज्ञान्तु चरितार्थता दुःखोत्तरैव । कुतः (२)—

औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥ ५ ॥

(१) इति । विभवतः-ऐश्वर्यानुसारात्, विभवानुसारेण यस्य यावत् सम्भवति तत्परिमित इत्यर्थः । 'विभवतः' इति पाठे ऐश्वर्यशालिनो राज्ञः इत्यर्थः ।

(२) राजेति । अधिकारखेदं-स्वकर्त्तव्यनिबन्धनं दैन्यभावम्, निरूप्य-नाटयित्वा । सर्वः-समस्तो जन्तुरित्यन्वयः, प्रार्थितं-लिप्सितम्, अधिगम्य-लब्ध्वा-सुखी-कुशली, सम्पद्यते-भवति । तु-परन्तु राज्ञां चरितार्थता-कृतकार्यता राज्यलाभादेरिति यावत्, दुःखमेवोत्तरं-अन्तिमं फलं यस्याः सा तथाभूतैव, दुःखमात्रप्रधाना नैव सुखहेतुरित्यर्थः । तथा चान्येभ्यो राजानो निकृष्टा एवेत्याशयः ।

उक्तमुपपादयति;-औत्सुक्येति । प्रतिष्ठा-अलब्धलाभादिनिबन्धना ख्यातिः, औत्सुक्यमात्रम्-अभिलषिताप्राप्तिनिमित्तां केवलामुत्कण्ठाम्, अवसादयति-समापयति तत्तदौत्सुक्यं केवलं निवर्त्तयतीत्यर्थः । मात्रशब्दार्थं विवृणोति;—क्लिश्नातीति । ततः लब्धस्य प्राप्तस्य परिपालनवृत्तिः- अभिरक्षणव्यापारः, क्लिश्नाति-पीडयत्येव, सर्वदैव नानाकर्मसु व्यापृततया कादाचित्कशान्तेरसम्भवादिति भावः । अतः स्वहस्तेन धृतो दण्डो यस्य तत्तथाभूतम्, आतपत्रं-छत्रमिव राज्यं कर्तुं, यथा श्रमाय भवति, तथा अतिश्रमापनयनाय-श्रमस्यातिप्रशमनाय न भवति । यत्परिमितं श्रममुत्पादयेत् तत्परिमितं श्रमं नैव नाशयेदित्यर्थः । अत्रोत्तरार्द्धवाक्यार्थं प्रति पूर्वार्द्धवाक्यार्थयुग्मं हेतुरिति वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, उपमा च, अनयोः परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५ ॥

(१) [इसके बाद राजा, विदूषक और परिजन आते हैं] ।

(२) राजा—(अधिकार से खिन्न होने का भाव प्रदर्शन करता हुआ) संसार के सब प्राणी अपनी अभीष्ट वस्तु पाकर सुखी होते हैं, किन्तु राजाओं की अभीष्टसिद्धि उत्तरोत्तर दुःखदायिनी हो जाती है । कैसे :—

नवीन राज्य प्राप्त कर लेना आदि कार्य केवल उत्कण्ठा को निवृत्त करता है, यहाँ जो राज्य प्राप्त हो चुका है, उसके ही पालन करने से कष्ट होता है । अतएव (मेरे विचार से तो) राज्य हाथ में विद्यमान छत्रदण्ड के समान है, जो कि जितना अधिक कष्ट देता है उतना आनन्द नहीं देता ॥ ५ ॥

[नेपथ्ये]

वैतालिकौ—(१) जयति जयति देवः ।

एकः—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते सृष्टिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥ ६ ॥

(१) नेपथ्ये इति । वैतालिकौ–स्तुतिपाठकौ, राज्यवसानसमये बोधकरौ इत्यर्थः । 'वैतालिका बोधकरा' इत्यमरः ।

जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्त्ततामित्यर्थः । जिधातोर्लटस्तिप् ।

राज्ञां खेदो निःस्वार्थतया परोपकारायैवेति तस्य न खेदमध्ये गणनेति वैतालिकयोरेकतरः प्रस्तौति;–स्वसुखेति । प्रतिदिनं–प्रत्यहं सर्वदैवेति तात्पर्यं, न त्वेकदिनं न वा पञ्चषाहमिति व्यवच्छिद्यते, स्वम्, स्वस्य–आत्मनो यत् सुखं–सुखानुभवस्तत्र निरभिलाषः–निस्पृहः सन्, प्रासङ्गिकसुखायापि न ते प्रवृत्तिरस्तीति भावः, लोकहेतोः–प्रजानां सुखसाधनार्थम्, खिद्यसे–खेदं प्राप्नोषि, एतदद्भुतमिति भावः । पूर्वोक्तमाक्षिपति;–अथवेति । अथवा–नेदमद्भुतमित्यर्थः, यद्वा नेदं प्रशंसापदमित्यर्थः, ते–तव, सृष्टिः–विधातृनिर्माणम्, एवंविधा–एवंप्रकारैव, परसुखोत्पादनपरैवेत्यर्थः, वर्त्तते इति शेषः, तथा च कर्त्तव्यानुष्ठाने का प्रशंसेति भावः, अनेन प्रजाकार्येषु सततोद्यमस्यावश्यकर्त्तव्यभावं द्योत्यते । दृष्टान्तमाह;—अनुभवतीति । हि–तथा हि, पादपः–विटपी, वृक्षः, मूर्ध्ना–शिखरेण, न त्वधोदेशेन, तीव्रं–दुःसहम्, उष्णम्–आतपम्, 'उष्णं दक्षेऽपि नातपे' इति त्रिकाण्डशेषः, अनुभवति–प्रत्यक्षीकरोति, स्वयं सहते इत्यर्थः, किन्तु छायया–छायादानेन; संश्रितानां–आत्मानमाश्रितानां जनानाम्, परितापं–सन्तापम्, शमयति–नाशयति । यथा पादपः स्वशिरसा दुःसहमातपमुत्तोलयन् छायादानद्वारा तलाश्रितानां सन्तापं निवारयति तथा त्वमपि खिद्यमानात्मा सन् सामादिप्रयोगद्वारा परखेदमपनयसी-

(नेपथ्य में)

(१) दो वैतालिक—महाराज की जय हो, महाराज की जय हो ।

एक वैतालिक—आप अपने सुख से निस्पृह होकर जन-साधारण को सुखी रखने के लिये सर्वदा परिश्रम किया करते हैं । अथवा भगवान् ने आपको इसी के निमित्त बनाया ही है । क्योंकि वृक्ष अपने मस्तक पर विकराल आतप सहन करता है और अपनी छाया में बैठे हुए लोगों के ताप को दूर करता है ॥ ६ ॥

द्वितीयः—

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय ।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः संविभक्ता-
स्त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं जनानाम् ॥ ७ ॥

त्याशयः अत्रोपमानधर्मस्य क्रियायाश्च प्रतिबिम्बनात् दृष्टान्तोऽलंकारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे;—'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनात् ।' इति ।

तथा पादपे सज्जनवृत्तान्तारोपप्रतीतेः समासोक्तिः । अथचेत्यत्र स्वोक्तप्रतिषेधान्निषेधाभास आक्षेपश्च । स्वभावोक्तिरपि । पूर्वार्द्धं काव्यलिङ्गञ्च । वैतालिकनिष्ठा राजविषयिका रतिर्भावः । मालिनी नाम वृत्तम् ॥ ६ ॥

नियमयसीति । त्वम्, आत्तः—गृहीतः दण्डो येन स तथाभूतः, धृतराजदण्डविधिः सन्नित्यर्थः, विमार्गे—अपथे अविहितकर्मणीत्यर्थः प्रस्थितान्—गच्छतः प्रवृत्तानिति यावत्, दुराचारानित्यर्थः, 'कुमार्गस्थितान्' इति पाठे;—स एवार्थः, तत्स्वरूपमुक्तं भृगुसंहितायाम्;—'तदर्थं सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् । ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् परमेश्वरः ॥' इति । तत्प्रयोगविषये तत्रैव विशेषोऽपि—'स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तिः स्यादुग्रदण्डश्च शत्रुषु । सुहृत्सु स्निग्धवृत्तिस्तु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥' इति । नियमयसि—अपथान्निवर्त्तयसि, प्रस्थितेत्यादिकर्मवाचिना क्तेन राज्ञो जागरूकत्वातिशयः सूच्यते, तथानेन गोपालवृत्तिरपि व्यज्यते; तथा च तेन यथा सस्यादिभक्षणप्रवृत्ता धेनवो दण्डेन वार्यन्ते तथेति नियमने गोपालवर्जितश्रमस्वादनायासः प्रत्याय्यते । विवादं—ये पुनर्भूमिद्रव्यादिभिः परस्परं विवदन्ते तेषां विवादं—विरोधम्, प्रशमयसि—धर्मशास्त्रवेदिभिः सह व्यवहारदर्शनात् सद्विचारेण निवारयसि । यथा रघुवंशे;—'स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् । ददर्श संशयच्छेद्यान् व्यवहारानतन्द्रितः ॥' इति । तव राज्ये कोऽपि कलहकारो नास्तीत्यर्थः । तथा रक्षणाय—दैवमानुषाद्यापद्भ्यः प्रजानां पालनाय, कल्पसे—प्रभवसि, अत्र रक्षणाय इति 'क्लृपि सम्पद्यमाने च' इति (वा०) चतुर्थी । तथा ज्ञातयः—स्वजनाः, प्रजानां भ्रात्रादिदायादा इति यावत्, अतनुषु—प्रभूतेषु, विभवेषु—धनधान्यादिषु विषये इत्यर्थः । संविभक्ताः—सम्यक् विभज्य त्वया विवादान्निवर्त्तिताः, अत्र 'सन्तु नाम' इति

दूसरा—आप राजदण्ड धारण करके कुमार्गगामी लोगों को सन्मार्ग पर लगाते हैं। प्रजा के पारस्परिक विवादों को मिटाते हैं, जन साधारण की रक्षा करते हैं, यदि प्रजा के भाई,बन्धुओं में कभी कोई झगड़ा आ पड़ता है तो आप सब ज्ञातियों को भरपूर धन देकर झगड़ा निपटा देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रजा के भ्राता का कार्य आप ही सम्पन्न करते हैं ॥ ७ ॥

राजा—[आकर्ण्य साश्चर्यम्] एतेन कार्यानुशासनपरिश्रान्ताः पुनर्नवीकृताः स्मः (१)।

विदू—[विहस्य] भोः ! गोवृन्दारकेति भणितस्य वृषभस्य किं परिश्रमो नश्यति (२) ? (भो ! गोविन्दारअत्ति भणिदस्स विसभस्स किं परिस्समो णस्सदि ?)

राजा—[सस्मितम्] ननु क्रियतामासनपरिग्रहः। (३)।

पाठान्तरम्, तत्र;-नामेति सम्भावनायाम्, सन्तु-भवन्तु इत्यर्थः। तु—परन्तु जनानां-प्रजानाम्, बन्धुकृत्यं बन्धूचितं कर्म, त्वयि त्वय्येव, परिसमाप्तं-पर्यवसितम्; सर्वतोभावेन तेषां हितसाधनादिति भावः। अत्र चरमचरणार्थं प्रति पूर्वचरणत्रयगतवाक्यार्थस्य हेतुत्वात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। तथा नियमयसीति क्रियात्रयस्य त्वमित्येककर्तृकारकतया दीपकम्। तथा बन्धुजनापेक्षया राजनि आधिक्यकथनाद्व्यतिरेकश्च। भावध्वनिः पूर्ववत्। मालिनी नाम वृत्तम्॥ ७॥

(१) राजेति। साश्चर्यं-सविस्मयम्, कथञ्चित्कार्यान्निवृत्तिमाप्ते मनसि पुनः सहसंवोद्यमोदयादिति भावः। राजा वैतालिकवचनेन स्वखेदस्य धर्मरूपत्वं सफलत्वं चावगच्छन्नाह;-एतेनेति। एतेन-वैतालिकवाक्येन, कार्यानुशासनेन-राजकर्मचारिषु कर्त्तव्योपदेशेन परिश्रान्ताः—परिश्रमेणोद्यमकातरा अपि वयमित्यर्थः; पुनर्नवीकृताः-पुनर्नवोद्यमीकृताः। नवीकरणेन आनन्दितत्वं लक्ष्यते, तेन पुनरपि उद्यमादिविधौ पर्युत्सुकत्वं गम्यते। अत्र हर्षो भावः॥ ७॥

(२) विदू इति। विहस्य-मध्यमं हासं कृत्वा। अग्रे वक्तव्यस्य कौतुकापादकत्वात् तत्त्वं बोध्यम्। गवां वृन्दारकः-यूथपतिः श्रेष्ठो वेति गोवृन्दारकः, 'वृन्दारके सुरे श्रेष्ठे मनोज्ञे यूथपातरि' इति व्याडिः, इति भणितस्य-इत्युक्तिमात्रेण प्रशंसितस्य वृषभस्य, किं परिश्रमो नश्यति ? शाम्यति ?; कथमपि नेत्यर्थः। तथा च वैतालिककृतप्रशंसामात्रेण न भवतोऽपि परिश्रमो ध्वस्त इत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्वारा राज्ञो वृषभत्वसूचनात् विदूषककृतं कौतुकं ध्वनितमिति बोध्यम्। क्षणमत्रास्यतामिति भावः।

---

(१) राजा—(सुनकर विस्मय के साथ) इस (स्तुतिपाठश्रवण) से शासन कार्य में जो कुछ थकावट आ गयी थी, वह शान्त हो गयी और मेरा उत्साह नया हो गया।

(२) विदू०—(हँसकर) क्यों भाई ! बैल को यदि वृषभश्रेष्ठ कह दिया जाय तो क्या बैल की थकावट दूर हो जायगी ?

(३) राजा—(मुसकराकर) तुम बैठ जाओ।

[उभावुपविष्टौ, परिजनश्च यथास्थानं स्थितः (१)]

[नेपथ्ये वीणाशब्दः (२)]

विदू—[कर्णं दत्त्वा] भो वयस्य ! सङ्गीतशालाभ्यन्तरे कर्णं देहि,ताललयशुद्धाया वीणायाः स्वरसंयोगः श्रूयते । जाने तत्रभवती हंसवती वर्णपरिचयं करोतीति (३) । (भो वअस्स ! सङ्गीदसालब्भन्तरे कण्णं देहि, ताललअसुद्धाए वीणाए सलसञ्जोओ सुणीअदि । जाणे तत्थभोदी हंसवदी वण्णपरिचअं करेदि त्ति ।)

कौतुकोक्तिश्रवणात् । क्षणं स्वास्थ्यलाभापेक्षापि नास्तीति वयस्याभिप्रायमनुभूयाह;—नन्विति । अनुज्ञायां ननुशब्दः । 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । आसनपरिग्रहः—आसनोपवेशनम् ।

(१) उभाविति । उभौ—राजविदूषकौ । यथास्थानम्—उपयुक्तस्थाने ।

(२) नेपथ्य इति । यवनिकाभ्यन्तरे इत्यर्थः, वीणाशब्दः—वीणास्वनः ।

(३) विदू इति । सङ्गीतं—'नृत्यं गीतं च वाद्यं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते' इति लक्षणलक्षितम्, तदर्था शाला—गृहमिति सङ्गीतशाला तस्या अभ्यन्तरे—अभ्यन्तरं प्रति, कर्णं देहि—तदुद्गतध्वनिश्रवणाय श्रोत्रं निधेहि । किमर्थमित्याह—तालेत्यादि । तालः—गीतस्य कालक्रियामानम्, लयः—गीतवाद्ययोः साम्यम्, ताभ्यां शुद्धायाः—निर्दोषायाः 'तालः कालक्रियामानं लयः साम्यम्' इत्यमरसिंहः । गातुर्दोषानाह सङ्गीतदामोदरे :—

'लज्जितं भीतमुत्कृष्टं अव्यक्तमनुनासिकम् । काकुस्वरः शिरः कम्पो लयस्थानविवर्जितम् ॥
विवरं विषमञ्चैव विश्लिष्टं विषमाहतम् । व्याकुलं तालहीनञ्च गातुर्दोषाश्चतुर्दश ॥' इति ।

अत्र 'कलाविशुद्धाया गीतेः' इति पाठान्तरम् । तत्र;—कला—मधुरास्फुटध्वनियुक्ता, इदं स्त्रीनादविवक्षया वचनम्, अनेन सुशारीरमुक्तम् । सुशारीरस्य गुणा उक्ताः सङ्गीतरत्नाकरे;—'भारी तु ध्वनिमाधुर्यरक्तिगाम्भीर्यमार्दवैः' इति ।

विशुद्धा—तदभिधाना—गीतिः, ग्रामरागजनिकेत्यर्थः; तदुक्तं तत्रैव;—

'गीतयः पञ्च शुद्धाख्या भिन्ना गौडा निवेसरा ।
साधारणी विशुद्धा स्यादवक्रैर्ललितैः स्वरैः ॥ इति ।

---

(१) [दोनों बैठते हैं और परिजन भी अपनी-अपनी जगह बैठ जाते हैं ।]

(२) [नेपथ्य में वीणा की ध्वनि सुनायी पड़ती है ।]

(३) विदू०—(कान लगा कर) वयस्य ! जरा संगीतशाला की ओर कान दीजिये, ताल-लय से शुद्ध वीणा का स्वर सुनायी देता है । मालूम हुआ है श्रीमती हंसवती संगीत का वर्णपरिचय कर रही हैं ।

राजा—तूष्णीम्भव, यावदाकर्णयामि (१)

कञ्चु—[विलोक्य] अन्यासक्तो देवः, तदवसरं प्रतिपालयामि ।

[इत्येकान्ते स्थितः ।] (२)

(नेपथ्ये गीयते ।) (३)

अभिनवमधुलोभभावितस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर ! विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥ ८ ॥ (४)

तस्या इत्यर्थः। केचित्;—विशुद्धा—'शङ्कितं भीतमुत्कृष्टमव्यक्तमनुनासिकञ्च' इत्यादिदोषानाविद्धलक्षणानतिक्रान्ता तस्या इत्यर्थापयन्ति। वीणायाः-वल्लक्याः, स्वरसंयोगः स्वरैः-षड्जादिभिः निषादादिभिः सप्तभिर्वा संयोगः-सम्यग् योजना अभ्यासो वा, जाने--मन्ये, अस्येति सहान्वयः, तत्रभवती—राजपत्नीत्वान्मान्या, हंसवती-तदभिधाना अन्तःपुरिका काचित् राज्ञी, तन्नामिका काचिन्नर्तकी इति केचित्, गीतिक्रमः 'वर्णो गीतिक्रम' इति वैजयन्ती, निषादादीनामारोहावरोहक्रम इति यावत्, तस्य परिचयम्-अभ्यासं 'सा रे ग म प ध नि सा' इत्यादिभिः शिक्षामित्यर्थः।

(१) राजेति। तूष्णीम्भव-मौनो भव, तावदिति शेषः 'मौने तु तूष्णीं तूष्णीकाम्' इत्यमरः। यावत्—यत्कालमभिव्याप्य, आकर्णयामि-शृणोमि नो चेदाकर्णयितुं न शक्नोमीति भावः।

(२) कञ्चु इति । विलोक्य-अवलोक्य राजानमिति शेषः। राजनं गीतिषु दत्तावधानं विभाव्येत्यर्थः। अन्यासक्तः, अन्यस्मिन् विषये कृतमनोयोगः, गानश्रवणप्रवण इति तात्पर्यम्। तत्—तस्मात्, अवसरं-निवेदनावकाशम्, प्रतिपालयामि—प्रतीक्षिष्ये। एतेन कञ्चुकिगतमौचित्यं गम्यते। एकान्ते—एकस्मिन् भागे, निर्जने वा। 'एकान्तं क्लीबमत्यर्थनिर्जने तद्युते त्रिषु' इति शब्दार्णवः।

(३) नेपथ्ये इति। गीयते—कण्ठोत्थितस्वरैरिति शेषः। गीतिरियं हंसवत्या इत्यवगन्तव्यम्।

(४) अथ कदाचित् रहसि राज्ञा सकृदुपभुक्ता अन्यस्या देव्याः भयेन पुनरुपेक्षिता सती हंसवती समानावस्थमधुकरोपालम्भापदेशेन राजानमुपालभते;—

---

(१) राजा—तुम चुप रहो तो मैं सुनूँ।

(२) कञ्चुकी—(देखकर) अभी महाराज और काम में लगे हैं, तबतक समय की प्रतीक्षा करें। (ऐसा कह कर एकान्त में बैठ जाता है।)

(३) [नेपथ्य में कोई गाता है।]

(४) हे भ्रमर ! (तब तो) तुमने नूतन रसके लोभ में पड़कर आमकी मंजरी का

(अहिणव-महु-लोह-भाविदो तह परिचुम्बिअ चूअमञ्जरिं ।
कमलवसदिमेत्तणिव्वुदो महुअर विम्हरिदोसिणं कहं ॥ ८ ॥)

अभिनवेति । हे मधुकर !-भृङ्ग !-अपरत्र हे मधुनिभमधुरसुरतरसरसिक ! लुब्धन्त 'मधुव्रते मधुकरः कामुकेऽपि प्रकीर्त्तित' इति विश्वः, अभिनवस्य-अचिरोद्भूतस्य अनेनास्वादातिरेको ध्वन्यते; मधुनः,-रसस्य लोभेन भावितः-विमोहितः सन् , अपरत्र अभिनवस्य-अभिनवतरुणीजनस्य मधुनः-मधुनिभमधुरसुरतरसस्य लोभेन भावितः-विमोहितः सन् , तथा-तेन प्रकारेण यथा स्वाभिलाषपूर्त्तिर्भवति तथव सर्वतोभावेनेत्यर्थः, चूतमञ्जरीं-रसालमञ्जरीम्, अपरत्र चूतमञ्जरीवव परमप्रीतिकारिणीं रमणीम्, परिचुम्ब्य-मधुपानाय वक्त्रसंयोगप्रवणीकृत्य आस्वाद्येत्यर्थः, रमणीपक्षे- आलिङ्गनचुम्बनपात्रीकृत्य, इदानीं कमले-सर्वदानुभूते न तु चूतमञ्जरीवत्क्षणकालपरिचिते पद्मे वसतिमात्रेण-केवलावस्थित्या न तु मधुस्वादनेनेति मात्रपदार्थः, परिणतप्रायतया तथाविधमधुनोऽसम्भवादिति भावः; निर्वृतः-सन्तुष्टः सन् , अपरत्र-कमले परिणतवयस्कतया कमलवत्सुदृश्यमात्रे न तु रसभरिते अन्यमहिलाजने वसतिमात्रेण-केवलावस्थित्या न तु तथाविधसुरतरसोपभोगेनेति भावः, निर्वृतः-सन्तुष्टः सन् , एनां-क्षणमास्वादितरसां चूतमञ्जरीम्, अपरत्र चूतमञ्जरीवत् परमलोभनीयां परिचुम्बितपूर्वां हंसवतीं शकुन्तलाञ्च, कथं विस्मृतोऽसि—विस्मर्तुमारभमाणोऽसि । आदिकर्मणि कर्त्तरि क्तः । अभिनवसुखकरवस्तुनः सर्वथैव स्मरणीयत्वात् तवायं विस्मरणप्रकारोऽत्यन्तविगर्हित इति भावः । इह त्रिविधस्यापि अर्थस्य प्रकृतप्रकरणोपयोगित्वाविरहात् न श्लेषः परन्तु शब्दशक्तिमूलो ध्वनिः । इदं हि प्रच्छेदकाख्यं लास्याङ्गम् ; तदुक्तं दर्पणे,—

'अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना ।
वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः ॥

इदं चैकं पताकास्थानम् । तथा हि; राज्ञः सहसैव हंसवतीरूपार्थसम्पत्तिः तेन च सभ्यानामपि तथैवार्थसम्पत्तिः । दर्पणोक्तपताकास्थानेषु मध्ये इदं प्रथमपताकास्थानम्, शकुन्तलाप्रत्यक्षे पूर्वापेक्षया उपचारातिशयेन तद्रूपार्थसम्पत्तेर्गुणवत्त्वात् ; यदुक्तं तत्रैव,–'सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः ।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्त्तितम् ॥' इति ।

अपरवक्त्रं नाम वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा,—
'अयुजि ननरला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ ।' इति ॥ ८ ॥

चुम्बन किया था, अब केवल कमल पर निवास करने से सन्तुष्ट होकर उस आम्रमंजरी को तुम क्यों भूल गये ?' ॥ ८ ॥

राजा—अहो ! रागपरिवाहिणी गीतिः (१)।

विदू—भो वयस्य ! किं तावदस्या गीतिकाया अपि गृहीतो भवता अक्षरार्थः (२) ? (भो वअस्स ! किं दाव से गीदिआए अवि गहीदो भअदा अक्खरत्थो ?)

राजा—[सस्मितम्] (३) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जन इत्यक्षरार्थः । तदहं देवीं हंसवतीमन्तरेण उपालम्भनमागतोऽस्मि । सखे ! माधव्य ! मद्वचना-

(१) राजेति । राजा गानं प्रशंसत्यहो इति;—अहो इत्याश्चर्य्यं, रागस्य अनुरागस्य परिवाहः-निस्यन्दः तद्वती, अतिहृद्येत्यर्थः । यद्वा रागं-गान्धारादिस्वरं परि-सर्वतोभावेन विना स्खलितमिति यावत् , वहति प्रापयतीति रागपरिवाहिणी । 'रागस्तु, मात्सर्ये लोहितादिषु । क्लेशादावनुरागे च गान्धारादौ' इति मेदिनी । गीतिः—गानम् ।

(२) विदू इति । विदूषको राजानं गीतार्थं पृच्छति;—भो वयस्येत्यादिना । तावत्-साकल्येन, गीतिकायाः गानस्य, अक्षराणां-स्वरावष्टम्भभूतानां वर्णानाम् , अर्थःव्यङ्ग्यार्थ इत्यर्थः, वाह्यार्थस्तु,अस्माभिरप्यवगम्यत इति भावः, गृहीतः-अवगतः।

(३) राजेति । सस्मितं—समन्दहासम् । व्यङ्ग्यार्थं जानतोऽपि अजानत इव विदूषकस्य प्रश्नकरणात् कौतुकेन स्मितं बोध्यम् । यद्वा—रहस्यार्थमन्यनिर्वन्धेन कथयामीति राज्ञः स्मितम् । सकृत्-एकवारं कृतः प्रणयः-रतिकेलिपरिचयो यस्मिन् तथाभूतः, अयं-हंसवतीलक्षणो जनः; यद्वा कृतः प्रणयो येनास्यामित्यर्थात् अयं जनः-अहमिति केचित् ः इति-इत्थम्, अक्षरार्थः-अक्षरप्रतिपाद्यो गूढार्थः । इति केलिसमये सकृत्परिचितं जनं त्यक्त्वा स्थितं प्रियं प्रति उक्तिरियमिति भावः । हंसवतीमन्तरेण-हंसवतीं विना, तत्सहयोगाभावेनेति यावत्; 'पृथक् विना—' इति विनायोगे द्वितीया 'पृथग् विनान्तरेणर्त्ते' इत्यमरः, उपालम्भनं—यथोक्तं तिरस्कारम्, आगतः—प्राप्तोऽस्मि । एतेन नायकस्य दक्षिणत्वं सूच्यते । यदुक्तं साहित्यदर्पणे;—

'एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः ।' इति ।

मद्वचनात्—मद्वचनं श्रुत्वा, उच्यतां-महाराज एवमाहेति कथ्यताम् । किं

(१) राजा—आश्चर्य ! इस गीत ने तो मानो एकाएक अनुराग की धारा बहा दी है ।

(२) विदूषक—वयस्य ! तुमने इस गीत का तात्पर्य भी समझा ?

(३) राजा—कुछ (मुस्करा कर) इस व्यक्ति पर मैंने केवल एक बार प्रेम किया है । यही इस गीत का अर्थ है और इसी से रानी हंसवतीद्वारा मैं इस प्रकार

दुच्यतां देवी हंसवती, सम्यगुपालब्धोऽस्मीति ।

विदू—[उत्थाय] यद्भवानाज्ञापयति भो वयस्य ! गृहीतस्त्वया परकीयाभ्यां हस्ताभ्यां शिखण्डके अच्छभल्लः । तद्वीतरागस्य अशरणस्य नास्ति मे मोक्षः (१) । (जं भवं आणवेदि भो वअस्स ! गहीदो तुए परकीएहिं हत्थेहिं सिहण्डए अच्छभल्लो, ता वीदराअस्स असरणस्स णत्थि मे मोक्खो ।)

राजा—सखे ! गच्छ, नागरिकवृत्त्या सान्त्वयैनाम् (२) ।

तद्वित्याह;-सम्यगिति । सम्यक्-सम्पूर्णं यथा स्यात् तथा, उपालब्धः-तिरस्कृतः ।

(१) विदू इति । यद्भवानिति;-भवदाज्ञापने मम साध्याऽसाध्यत्वविवेक उचितानुचितत्वादिचिन्ता नास्तीति सर्वमनुतिष्ठामीति भावः । उत्थायेति गमनारम्भोक्तिः ।

भो वयस्य इति । परकीयाभ्याम्-अन्यदीयाभ्याम्, हस्ताभ्यां-करगाभ्याम्, शिखण्डके—शिखायाम्, अवच्छेदे सप्तमी, शिखावच्छेदेनेत्यर्थः, अच्छभल्लः-भालूकः, 'ऋक्षाच्छभल्लभालूका' इत्यमरः, गृहीतः—धृतः । तथा च यथा शिखावच्छेदेन परद्वारा भालूकग्रहणे तदीयनखानां मुक्तत्वात् ग्रहीतुः परस्यैवातिशयेन देहविदारणादिमहाविपत्सम्भावनायामपि स्वयं हि निर्विपदेव तिष्ठति, तथा मद्द्वारा कोपनाया हंसवत्याः सान्त्वने ममैव महाविपदाशङ्का तव तु न किञ्चित्; परं च त्वं निर्विपदेव स्थास्यसीति भावः । अत्रासम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शनेति केचित्, अप्रस्तुतप्रशंसेत्यन्ये । तत्-तस्मात्, वीतरागस्य-विगतक्लेशाधिकस्य क्लेशाद्यनुभवशून्यस्येति यावत्, 'रागः क्लेशादिके रक्ते' इति शाश्वतः, यद्वा वीतरागस्य-ईदृशकार्यप्रसक्त्या त्यक्तजीवनानुरागस्य, अशरणस्य—निराश्रयस्य, मे-मम, मोक्षः-हंसवतीसकाशाद्विमुक्तिर्नास्ति । अच्छभालूकस्येव तदानीं हंसवत्या व्यवहारेण मम दुर्दशासम्भवादिति भावः ।

(२) राजेति । नागरिकवृत्त्या-विदग्धव्यवहारेण, चातुर्येणेति यावत् । यद्वा नागरिकवृत्त्येति;-त्रिपताकस्य मध्यमातर्जनीभ्यां वक्राभ्यामधोमुखं कम्पिताभ्यामित्यर्थः । प्रायशो नागरिकः स्वभावचतुरा एव भवन्ति । एनां-हंसवतीम्, सान्त्वय-प्रसादय, कोपान्निवर्तयेत्यर्थः ।

तिरस्कृत हुआ हूँ । मित्र माधव्य ! मेरी तरफ से तुम रानी हंसवती से जाकर कहो कि मैं तुम्हारे द्वारा भलीभांति तिरस्कृत हुआ हूँ ।

(१) विदूषक—आपकी जो आज्ञा । (उठकर) आपने दूसरे के हाथों से भालू की चोटी पकड़ी ऐसी दशा में जीवन से निराश मुझ असहाय का बचना असंभव है ।

(२) राजा—जाओ, उसे, नागरिक वृत्ति से (शहरवालों की तरह चालाकी से) समझा दो ।

विदू—का गतिः ? (१) (का गई) [इति निष्क्रान्तः]

राजा—[स्वगतम्] किन्नु खलु गीतमेवंविधमाकर्ण्य इष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि । अथवा (२)—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।

(१) विदू इति । अथ विदूषको राजादेशस्यानुल्लङ्घनीयतां विभाव्य सनिर्वेदमाह;-केति । का गतिः गमनं विना क उपायः, न कोऽप्युपायो गमनमेव विधेयमिति भावः । 'गतिर्मार्गे दशायाञ्च ज्ञाने यात्राभ्युपाययोः' इति विश्वः । यद्वा का गतिः—क आश्रयः, अन्यथेति शेषः, त्वदादेशाकरणे को ममावलम्बः स्यादतो गमिष्याम्येवेत्य र्थः।

अत्र कविना विदूषकापसारणेन परस्ताद् प्रतिपत्स्यमानं शकुन्तलाप्रत्याख्यानरूपं चरितं सुपपादितमन्यथा विदूषकस्यावस्थितौ अवश्यं तत्कर्तृकशकुन्तलापरिणयस्मारणेन पुना राज्ञा तत्प्रत्याख्यानं नोपपद्येतेति बोध्यम् ।

(२) राजेति । अथ राजा दुर्वासःशापतिरोहितत्वाद्विस्मृतशकुन्तलाव्यापारोऽपि जन्मान्तरानुभूतस्येव चेतसि संस्काररूपेणावस्थितस्यानतिदूरमनुभूतस्य शकुन्तलानुरागस्य गानश्रवणेन किञ्चिदुद्बुद्धत्वात् पर्युत्सुकत्वमनुभवंस्तद्धेतुं विमृशति;-किंन्विति वितर्के, खल्विति निश्चितम् । इष्टजनस्य-प्रणयिजनस्य विरहात्—विप्रयोगात् , ऋते-विनापि, बलवत्-अत्यर्थम् , उत्कण्ठितः-व्याकुलितः । उत्कण्ठास्वरूपं प्रागुक्तम् ।

उत्कण्ठाबीजं किञ्चिन्मनसा परिकल्प्याह, अथवेति । अलमत्र हेतुविमर्शेनेत्यर्थः । रम्याणीति । सुखितोऽपि-प्रियजनसान्निध्यात् सञ्जातसुखोऽपि, विरहविरहितोऽपीति यावत् , अपिना सुखसहभावासहभावाभ्यामौत्सुक्यस्य न्यूनाधिकते सूचिते, जन्तुः प्राणी, रम्याणि—चन्द्रोद्यानप्रमदादीनि सुन्दराणि वस्तूनि, 'विशेषणेनैव विशेष्यावगतेः' नात्र विशेष्यपदोपादानम्, वीक्ष्य-दृष्ट्वा, मधुरान्—प्रियान् भवति, तत् तस्मात् , नूनं निश्चितमेव, चेतसा-मनसा करणेन, अबोधपूर्वम्-अबुद्धिपूर्वकं यथा स्यात् तथा, भावस्थिराणि-वासनारूपेण दृढमवस्थितानि यद्वा स्वभावादेवाद्ययाणि, 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु' इत्यमरः, जननान्तर-

(१) विदूषक—और गति ही क्या है ? (जाता है ।)

(२) राजा—(स्वगत) इस प्रकार का गीत सुनकर किसी प्रेमीजन के विरह से दुःखी न रहकर भी मैं इस प्रकार उत्कण्ठित क्यों हो रहा हूँ ? अथवा—सुखी प्राणी

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ ९ ॥

[इत्यस्मृतिनिमित्तमुन्मनस्कत्वं रूपयति] (१)

कञ्चुकी—[उपसृत्य ।] जयति जयति देवः । एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः कण्वसन्देशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः सम्प्राप्ताः । श्रुत्वा देवः प्रमाणम् (२)

सौहृदानि—पूर्वजन्मानुभूतान् प्रणयादिसम्बन्धविशेषान् स्मरति,—स्वभावादनुध्यायति । तथा च;—ऐहिकोत्कण्ठाहेतुभूतप्रणयिजनविप्रयोगाभावेऽपि जन्मान्तरीयप्रणयस्मृतेरियमुत्कण्ठा जातेति भावः । अनेनात्र शकुन्तलाविषये जन्मान्तरीय इव शापाच्छादितो दृढतरानुरागो गम्यते । तेन च स्थायिन्या रतेरविच्छेदो ध्वनितः । अत्राप्रस्तुतात् जन्तुसामान्यात् प्रस्तुतस्य आत्मरूपस्य विशेषस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालंकारः । तथानुभवरूपकारणाभावेऽपि स्मृतिरूपकार्योत्पत्तेर्विभावना । काव्यलिङ्गमिति केचित् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ९ ॥

(१) इतीति । अस्मृतिः—उत्कण्ठाहेतोरस्मरणं निमित्तं—हेतुर्यस्य तत् तथोक्तम्, उन्मनस्कत्वम्—उत्कण्ठाम्, रूपयति—अभिनयति ।

(२) कञ्चु इति । अथ कञ्चुकी राजानमुन्मनस्कतया तूष्णीं स्थितमवलोक्यावसरं मन्वानः कण्वशिष्यागमनवार्त्तां प्रस्तौति;—एत इति । हिमगिरेः—हिमालयस्य उपत्यकायाम्—आसन्नभूमौ यदरण्यं तत्र वसन्तीति तथाभूताः 'उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमिः' इत्यमरः, एतेन मुनीनां द्वन्द्वसहिष्णुत्वसूचनाद् गौरवातिशयो द्योत्यते । सस्त्रीकाः—स्त्रीभ्यां सहिताः, तपस्विनः—तापसाः, कण्वस्य महर्षेः सन्देशं—वाचिकम्, कण्वेत्युक्तिस्तेषु बहुमानं द्योतयति । सम्प्राप्ताः-उपस्थिताः । श्रुत्वेत्यादि जयत्वित्यादिवदाचारः । देवः—राजा भवान्, प्रमाणं—कर्त्तव्यनिश्चयकृत् प्रमाता, भवत्विति शेषः, कर्त्तरि ल्युट् । यत्कर्त्तव्यं मन्यते तत्कर्तुमर्हतीति भावः । 'प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमातृषु' इत्यमरः ।

भी रमणीय वस्तु को देखकर और मधुर शब्द सुनकर जो उत्कण्ठित होता है तो निश्चय ही वह जन्मान्तर के स्वाभाविक प्रेम का स्मरण करता है ॥ ९ ॥

(१) [ऐसा कहकर राजा स्मरण न करने की उन्मनस्कताका अभिनय करने लगता है]

(२) कंचुकी—(प्रवेश कर) महाराज की जय हो, जय हो । हिमालयके निकटकी भूमिमें रहनेवाले ये कई मुनि दो स्त्रियों के साथ महर्षि कण्व का कोई सन्देश लेकर आये हैं । मेरी प्रार्थना सुनकर महाराज जो कहें सो किया जाय ।

राजा—[सविस्मयम्] किं कण्वसन्देशहारिणः सस्त्रीकास्तपस्विनः (१)?

कञ्चु—अथ किम् (२)।

राजा—तेन हि विज्ञाप्यतां मद्वचनादुपाध्यायः सोमरातः, अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति। अहमप्येतांस्तपस्विदर्शनोचितप्रदेशे प्रतिपालयामि (३)।

कञ्चु—यथाज्ञापयति देवः [इति निष्क्रान्तः] (४)!

राजा—[उत्थाय] वेत्रवति! अग्निशरणमार्गमादेशय (५)।

---

(१) राजेति। सविस्मयमिति। विस्मयः सस्त्रीकतापसागमनश्रवणात्। कण्वसन्देशहारिणः-कण्वस्य महर्षेर्वाचिकमानीय समागताः सस्त्रीकाः-स्त्रीजनसहिताः। अत एव राज्ञो विस्मयः परस्परविरुद्धत्वादिति बोध्यम्।

(३) राजेति। उपाध्यायः-शिक्षागुरुः 'एकदेशं च वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते' इति मनुवचनात्, राज्ञः 'सभापण्डित' इति प्रसिद्धः; सोमरातः तदाख्यः पुरोहितः, राज्ञोऽध्यापक एव तदानीं पुरोहित आसीदिति बोध्यम्। विज्ञाप्यतां-कथ्यताम्। विज्ञापयितव्यमाह;-अमूनित्यारभ्येतीत्यन्तम्। श्रौतेन-वेदोक्तेन, विधिना—विधानेन, आश्रमवासिनः-तपस्विनः, सत्कृत्य-पूजयित्वा, स्वयमेव-आत्मनैव न स्वन्यद्वारेणेत्येवार्थः, अनेन तेषु गौरवातिशयो द्योत्यते। तपस्विदर्शनोचितप्रदेशे-पवित्रभूमौ अग्निशरणे इति यावत्, तथोक्तम्— 'अग्न्यागारगतः कार्यं पश्येद्वेद्यतपस्विनाम्।
पुरोहिताचार्यसखः प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च।' इति।
एतान्-तपस्विनः, प्रतिपालयामि-प्रतीक्षे।

(५) राजेति। वेत्रवतीति प्रतीहार्याः नाम्ना सम्बोधनम्। प्रतीहारीलक्षणमुक्तं मातृगुप्ताचार्यैः—'सन्धिविग्रहसम्बन्धं नानाकार्यसमुत्थितम्।

---

(१) राजा—(विस्मय के साथ) क्या कहा, कण्वका सन्देश लेकर कुछ ऋषि स्त्रियों के साथ आये हैं?

(२) कंचुकी—हाँ महाराज!

(३) राजा—ऐसा है तो हमारी तरफ से अध्यापक सोमरातजी से जाकर कहो कि वे इन ऋषियों का वैदिकविधान से सत्कार कर अपने साथ मेरे पास लायें। मैं भी तपस्वियों से मुलाकात करने योग्य स्थान में बैठ कर प्रतीक्षा करता हूँ।

(४) कंचुकी—जो आज्ञा। (ऐसा कह कर चला जाता है)

(५) राजा—(उठकर) वेत्रवती! मुझे होमगृह का रास्ता बताओ।

प्रतिहारी—इत इत एतु देवः । [परिक्रम्य] एषः अभिनवसम्मार्ज्जनरमणीयः संनिहितहोमधेनुः अग्निशरणालिन्दः, तदारोहतु देवः (१) (इदो इदो एदु देवो । एसो अहिणवसम्मज्जणरमणीओ सण्णिहिदहोमधेणु अग्गिसरणालिन्दो, ता आरोहदु देवो ।

राजा—[आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठन्] वेत्रवति ! किमुद्दिश्य तत्रभवता कण्वेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः (२) ।

किन्तावद् व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं ?

निवेदयन्ति याः कार्य्यं प्रतीहार्य्यस्तु ताः स्मृताः' ॥ इति ।

तथा च;—सन्धिविग्रहादिकार्यनिवहनिवेदनकारिणी काचिद्रमणी प्रतीहारी नाम । अग्निशरणमार्गं-होमगृहस्याध्वानम् , 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः, आदेशयवचनेन प्रदर्शय । एतेन राज्ञो गृहबाहुल्याद् स्मरणाक्षमत्वं सूच्यते ।

(१) प्रतीहारीति । इत इतः—अमुनाऽनेन मार्गेण, एतु-आगच्छतु । परिक्रम्य-अग्न्यागाराभिमुखं कञ्चित्पादक्षेपं कृत्वा । अभिनवसम्मार्जनेन-सद्यः कृतपरिष्कृतिना रमणीयः-मनोज्ञः, सन्निहिता-समीपवर्तिनी होमधेनुः-होमार्थघृतसम्पादिका धेनुर्यत्र स तथोक्तः, अग्निशरणस्य—अग्निशालायाः अलिन्दः-बहिर्द्वारप्रकोष्ठम्, अत्रानेन विशेषणद्वयेन पावित्र्यातिशयो द्योतितः, 'प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके' इत्यमरः । आरोहतु-निःश्रेणिमधिरोहतु;-एनामिति शेषः ।

(२) राजेति । परिजनस्य-कस्यचित् परिचारकजनस्य अंसं-स्कन्धम्-अवलम्बते तच्छीलः, कस्यचित् परिचारकस्य स्कन्धे आहितहस्तः सन्नित्यर्थः । तिष्ठन्-मुनिगौरवात् न तूपविशन् अनेन विनयो गम्यते । परिजनांसालम्बनपूर्वदण्डायमानीभवनं दीर्घकालापेक्षतया परिश्रान्तिसम्भवात् प्रभुत्वाद्वा—इति विवेचनीयम् । अथ स्वकर्त्तव्यरक्षणशैथिल्यं मुन्यागमने निमित्तमाशङ्कमानः पृच्छति;-वेत्रवतीति । किमुद्दिश्य—किमभिसन्धाय, मत्सकाशं—मत्समीपम्, प्रेषिताः ।

अत्र प्रेषणे कानिचित् कारणानि मनसा सम्भावयन्नाह—किन्तावदिति ।

---

(१) प्रतीहारी—आइए, इधर आइए, महाराज ! (चलकर) यह होमगृह के चौकठ की बाहरी जगह (ओसारा) है । अभी ही यह जगह धोई गई है । इससे बड़ी सुन्दर मालूम होती है । पास ही होमधेनु भी रहती है इसलिए महाराज ! अब ऊपर चलिए !

(२) राजा—(परिजनों के कन्धे के सहारे सीढ़ी पर चढ़कर ऊपर जा बैठता है) वेत्रवती ! महर्षि कण्वने किस लिये पास ऋषि भेजे हैं ?—

क्या तपस्यामें सन्नद्ध तपस्वियोंकी तपस्यामें कोई बाधा उपस्थित हुई या किसी प्राणीने

धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम् ?।
आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-?
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः ॥ १० ॥

प्रती—देवस्य भुजदण्डनिर्वृते आश्रमपदे कुत एवम्; किन्तु सुचरिताभिनन्दिन ऋषयः देवं सभाजयितुमागता इति तर्कयामि (१)।

विघ्नैः—विघ्नकर्तृभिः राक्षसादिभिर्यज्ञादिव्याघातकैः, साध्यवसानेयं लक्षणा, विघ्नातिशयः फलम्, उपोढं-धृतं तपः-देहक्लेशकरं त्रिविधं कर्म्म यैस्ते तेषां, व्रतिनाम्-आरब्धयागानाम् 'आदेष्टा त्वध्वरे व्रती, यष्टा च यजमानश्च' इत्यमरः, तपः-यागादिः, किं तावत् दूषितं-व्याहतम्, दूषणमत्रारब्धस्य विनाशकरणम्, अनेनात्र राज्ञो विषादो व्यज्यते, तत्प्रतिविधानप्रार्थनया किं कान्वेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिता इति भावः। उत-अथवा, केनचित्—दुष्टेन लुब्धकादिना व्याघ्रादिना वा, धर्मारण्यचरेषु-तपोवनविहारिषु, प्राणिषु-हरिणादिजीवेषु विषये, असत्-हिंसादि, चेष्टितम्-आचरितम्, तत्प्रतीकारप्रार्थनया वा कान्वेन प्रेषिताः किमित्याशयः। आहोस्वित्-किं वा, मम अपरिचितैः-अज्ञातमत्परिचयैः जनैः कर्तृभिः, वीरुधां-लतानां 'लता प्रतानिनी वीरुत्' इत्यमरः, प्रसवः-पुष्पं फलं वा 'प्रसवो जननानुज्ञापुत्रेषु फलपुष्पयोः' इति यादवः, 'प्रसवस्तु फले पुष्पे वृक्षाणां गर्भमोचने' इति विश्वोऽपि, विष्टम्भितः—प्रतिबन्धं प्रापितः, कोरकभङ्गादिनेति यावत्, 'विष्टम्भः प्रतिबन्धे स्यात् प्रभेदे चामयस्य च' इति मेदिनी, तत्प्रतीकारप्रार्थनया वा प्रेरिताः किमिति भावः। इति—अनेन प्रकारेण, आरूढाः—उद्भूताः, बहवः—नानाविधाः, प्रतर्काः—संशयाः यस्मिन् तत् तथोक्तम्, मे मम मनः—अन्तःकरणम्, अपरिच्छेदेन-एकतरानवधारणेन; आकुलं तदवधारणार्थं विह्वलं भवतीति शेषः।

अत्र चिन्तावेगादयो भावा धर्मवीरस्याङ्गम्। पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥ ११ ॥

(१) प्रतीति। अथ प्रतीहारी राज्ञो व्याकुलत्वं परिहर्तुं चाटुभाषणं करोति;-देवस्येति। देवस्य-राज्ञो भवतः, भुजदण्डेन—बाहुदण्डेन निर्वृते-सुखीकृते निर्विघ्नतां गते इति यावत्, आश्रमपदे-तपोवनक्षेत्रे, अनेन राज्ञः प्रतापाधिक्यं सूच्यते, एवं—भवद्वितर्कितरूपमसदाद्याचरणम्, कुतः-कस्माद् भवितुमर्हति ? न कुतोऽपी-

इन धर्मारण्यनिवासियों के साथ कोई दुर्व्यवहार अथवा मेरे अपरिचितों ने आश्रम की लतायें नष्ट कर डालीं इस तरह अनेक प्रकार के तर्क मेरे मन में उठ रहे हैं, किन्तु कोई निर्णय न कर सकने के कारण मेरा मन व्याकुल हो रहा है ॥ १० ॥

(२) प्रतीहारी—महाराज के भुजदण्ड से सुरक्षित उस तपोवन में इस प्रकारकी बाधायें

(देवस्स भुअदण्डणिव्वुदे अस्समपदे कुदो एवं; किन्तु सुचरिताहिणन्दिणो इसीओ देवं समाजइदुं आअदेत्ति तक्केमि ।)

[ततः प्रविशतो गौतमीसहितौ शकुन्तलामादाय कण्वशिष्यौ पुरतश्चैषां पुरोहितकञ्चुकिनौ] (१) ।

कञ्चु—इत इतो भवन्तः (२)

शार्ङ्गरवः—सखे ! शारद्वत ! (३)

महाभागः काममं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ

त्यर्थः । सुचरितेन–भवतः सत्कार्येण अभिनन्दन्ति–सन्तुष्यन्तीति ये ते तथाक्ताः, ऋषयः–तापसाः, देवं–राजानं भवन्तम्, समाजयितुं–सम्मानयितुं सन्तोषयितुमित्यर्थः । तथा च,–भवतः सुचरितमृषीणां तदभिनन्दनं च स्वभाव एवेति नास्त्यत्र वितर्कस्यावसर इति भावः ।

(२) तत इति । एषां–गौतमीशकुन्तलाकण्वशिष्याणामित्यर्थः, नन्वत्र स्त्रीपुंससाधारणस्य प्रवेशकथनात् कथमेषामिति पुंल्लिङ्गेन तन्निर्देश इति चेत्, उच्यते; स्त्रीपुंसयोः पुंसः प्राधान्यादेषामित्यस्य पुंस्त्वमिति । पुरतः–अग्रतः । पुरोहितकञ्चुकिनौ राज्ञ इति शेषः ।

(२) कञ्चु इति । इत इतः–अमुनानेन मार्गेणेत्यर्थः, भवन्तः;–आयान्तु इति शेषः । अत्रापि पुंसः प्राधान्यात् भवन्त इति पुंस्त्वम् ।

(३) शार्ङ्ग इति । सुगमम् । अथ शार्ङ्गरवो राजकुलं जनसङ्कुलमवलोक्य विजनवासित्वात् तादृशजनसंसर्गमसहमानः शारद्वतं स्वप्रतीतिप्रकारमाह;—

महाभाग इति । असौ, महान्-विपुलो भागः–भागधेयं यस्य स महाभागः, तल्लक्षणं यथा;–'आरम्भोत्पत्तिमामृत्योः कलङ्को यस्य नो भवेत्, स्याच्चैवानुपमा कीर्त्तिर्महाभागः स उच्यते' इति, नरपतिः–राजा दुष्यन्तः, कामं–सम्यक्, अभिन्ना–अव्याहता स्थितिः–लोकमर्यादा येन स तथाभूतः, अनुल्लंघिताचारपद्धतिरित्यर्थः, अत एवास्माकमस्मान्नास्ति भीतेरवसर इति भावः । तथा वर्णानां—

उपस्थित ही कैसे हो सकती है ? मेरा तो ख्याल है कि वे ऋषि श्रीमान् के सद्व्यवहार से मुग्ध होकर आपको अभिनन्दित करने आये हैं ।

(१) [इसके बाद शकुन्तला और गौतमी को साथ लिये कण्व के दोनों शिष्य आते हैं । उनके आगे पुरोहित और कंचुकी हैं]

(२) कंचुकी—आप लोग इधर आइए इधर ।

(३) शार्ङ्गरव—मित्र शारद्वत !—

यह महाभाग्यवान् राजा कभी किसी तरह अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता । इसके कर्म-

न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥ ११ ॥

शारद्वतः—शार्ङ्गरव ! स्थाने खलु पुरप्रवेशात्तवेदृशः संवेगः । अहन्तु (१)—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।

ब्राह्मणक्षत्रियादीनाम्, 'वर्णो द्विजादौ' इत्यमरः, निर्द्धारणे षष्ठी, कश्चिदपकृष्टोऽपि—जात्या कर्मणा वा निकृष्टोऽपि, किं पुनरुत्कृष्ट इत्यपेरर्थः, अपथं कुमार्गं सदाचारलङ्घनादिकम्, न भजते—राजशासनान्नैवाश्रयति, राज्येऽस्मिन् सर्वे खलु सदाचारसम्पन्ना इति भावः, तथा च तदनुचररूपाभ्यः प्रजाभ्योऽपि नास्ति भयमित्याशयः तथापि—राजप्रजयोरीदृक्शिष्टाचारे सत्यपि शश्वत्-सर्वदा, परिचितम्—आजन्म सेवितं विविक्तं-विजनस्थानं येन तथोक्तेन मनसा, हेतावुपलक्षणे वा तृतीया, इदम्-एतत्, जनाकीर्णं-लोकसंकुलम्, गृहं—राजसदनम्, हुतवहेन वह्निना परीतं-व्याप्तमिव; मन्ये-सम्भावयामि । एतद्राजसदनप्रवेशमग्निप्रवेशमिव सम्भावयामीत्यर्थः । अत्र मन्ये इति वितर्कमात्रं बोधयतीति नोत्प्रेक्षावाचकम् । इदन्त्वमङ्गलसूचकमित्याशयः । अत्र वक्तुर्वैराग्यं ध्वन्यते । इह च विभावनाविशेषोक्त्योः सन्देहसङ्करालङ्कारः । 'हुतवहपरीतं गृहमिव' इत्यंशे उपमा । शिखरिणीवृत्तम् ॥११॥

(१) शारद्वत इति । शारद्वतस्तदुक्तमनुवदन् स्वप्रतीतिमप्याह;—शार्ङ्गरव ; स्थाने इति । स्थाने युक्तम्, 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः । पुरप्रवेशात्—नगरप्रवेशात् । संवेगः—उद्वेगः । तथा च चित्तं परिचयविवशमिति तवैवं प्रतीतिर्युक्तैव ममापि तथैवोदयात् ।—इति भावः । अहन्तु-अहं पुनः अस्य अवैमीति श्लोकीयक्रियापदेनान्वयः ।

अभ्यक्तमिति । स्नातः—कृतस्नानः अहम्, इह-राजधान्याम्, सुखसंगिनं—कृतस्नानतयैव प्राप्तपाविश्यसुखं जनम्, अभ्यक्तं-तैलाक्तदेहमिव, अवैमि-अवग-

चारों प्रजा के लोग और चारों वर्णोंवाले मनुष्यों में से कोई तुच्छ मनुष्य भी किसी प्रकार का अनाचार नहीं करता। फिर भी बहुत दिनों से निर्जन स्थानों में रहने की आदत होने के कारण हम इस भीड़ भक्कड़ युक्त नगर को अग्निज्वाला से आवेष्टित घर की तरह समझते हैं ॥ ११ ॥

(१) शारद्वत—शार्ङ्गरव ! राजभवन में प्रविष्ट होकर तुम्हें इस तरह उद्विग्न होना उचित ही है । लेकिन मैं तो—

यहां के सुखी लोगों को उसी तरह समझता हूँ कि जैसे स्नान किया हुआ कोई मनुष्य-

बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥ १२ ॥

पुरोधाः—अत एव भवद्विधा महान्तः (१) ।

शकुन्तला—[दुर्निमित्तमभिनीय] अहो ! किं मे वामेतरत् नयनं विस्फुरति (२) ? (अम्भो ! किं मे वामेदरं णअणं विप्फुरदि ?)

च्छामि, माङ्गलिकयात्रादिविधौ प्रथममेव तैलाक्तदेहदर्शनेऽमङ्गलमेव भवेदिति कवेराशयः । तथा शुचिः-नारायणनामस्मरणकीर्त्तनादिना पवित्रोऽहम्, इह-राजधान्याम्, सुखसंगिनं-नारायणनामकीर्त्तनस्मरणादिनैवं पावित्र्यवन्तं जनम्, अशुचिम्-अपवित्रमिव अवैमि, अशुचिर्हि जनोऽन्याय्यकार्यकरणप्रतिवादे नोत्सहते इति कवेर्भावः । यथा प्रबुद्धः-जागरावस्थितोऽहम्, इह—राजधान्याम् , सुखसंगिनम्-उपभुज्यमानजागरणावस्थोपस्थितसुखं जनम्, सुप्तं-निद्राभिभूतमिव अवैमि, सुप्तस्तु जनो विवेकशून्यतया न्याय्यान्याय्यं न निश्चिनोतीति कवेरभिप्रायः । तथा स्वैरा स्वाधीना स्वच्छन्देति यावत् गतिर्यस्य स तथाभूतोऽहम्, इह-राजधान्याम्, सुखसङ्गिनं-निर्मुक्ततयाऽवस्थानात् सुखभोगिनं जनम्, बद्धमिव-केनचित् कुत्रचित् निगडितमिव अवैमि । गत्वा हस्तपादादिभिरपि दुष्कार्यस्य बाधाप्रदानस्याकरिष्यमाणत्वादिति कवेरभिप्रायः । अत्र पुरप्रवेशे शार्ङ्गरवशारद्वतयोर्विनैवं मनःप्रमादमेवं प्रतीतिप्रदर्शनं दुष्यन्तेन करिष्यमाणं शकुन्तलाप्रत्याख्यानात्मकममङ्गलं सूचयति । वक्ष्यते चानुपदं शकुन्तलाया अपि दुर्निमित्तम् । अनेन सूक्तिप्रकर्षेण शार्ङ्गरवात्समधिकज्ञानवान् स्वभावगम्भीरश्चायं शारद्वत इति सूच्यते । अत्र आर्या जातिः ॥१२॥

(१) पुरोधा इति । शार्ङ्गरवशारद्वतयोरुक्तिप्रत्युक्तिनिचयं श्रृण्वन् पुरोधाः सगौरवमाह;-अत एवेति । अत एव—तुच्छीकृतसांसारिकसुखत्वादेव, भवद्विधाः—भवादृशा मुनयः, महान्तः—लोकोत्तराः, संसारतुच्छीकरणे भवद्व्यतिरिक्तानामसामर्थ्यादिति भावः ।

(२) शकु इति । दुर्निमित्तं—दक्षिणाक्षिस्पन्दनरूपं दुर्लक्षणम्, अभिनीय—रूपयित्वा । स्त्रीणां दक्षिणाक्षिस्पन्दनस्यानिष्टावाप्तिसूचकत्वात्तेन दूयमानाह;—अहो इति । किं—कथम्, वामेतरत्-दक्षिणम्, नयनं-नेत्रम्, विस्फुरति—विशेषेण स्पन्दते, क्वचित् विकरोतीति पाठः, तत्र=स एवार्थः ।

तेल लगाये मनुष्य को, पवित्र-अपवित्र को, जागता-सोये हुए को और स्वतन्त्र परतन्त्र को (घृणित दृष्टि) से देखता हूँ ॥ १२ ॥

(१) पुरोहित—इसीलिये तो आप लोग महात्मा हैं ।

(२) शकुन्तला—(दुर्निमित्त का अभिनय करके) ओह ! मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़क रही है ?

गौतमी—जाते। प्रतिहतममङ्गलम्, सुखानि ते भवन्तु (१)।
(जादे ! पडिहदं, अमङ्गलं, सुहाइं दे होंतु।)

[इति परिक्रामन्ति (२)]

पुरोधाः—[राजानं निर्दिश्य] भो भोस्तपस्विनः! असावत्रभवान् वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनः प्रतिपालयति वः, पश्यतैनम् (३)

'वामभागस्तु नारीणां पुंसां श्रेष्ठस्तु दक्षिणः'

इति सामुद्रवचनात् नारीणां दक्षिणाङ्गस्फुरणममङ्गलकारणमिति भावः। गर्गोऽप्याह;—'दक्षिणचक्षुःस्पन्दनं बन्धुदर्शनमर्थलाभं वा।

वामचक्षुःस्पन्दनं बन्धुविच्छेदं धनहानिं वा॥'

सूचयतीति पूर्वान्वयः अन्यच्च;—

'स्त्रीणामेतत्फलमविकलं दक्षिणे वैपरीत्यम्' ॥ इति ॥

'स्त्रीणां च वामावयवे प्रजातः स्पन्दः फलानि प्रदिशत्यवश्यम्।'

इति दक्षिणाक्षिस्पन्दनस्याशुभसूचकत्वं वसन्तराजोऽप्याह। प्रकृतेऽत्र शकुन्तलायाः जीवनबन्धुना भर्त्रा सह भाविविच्छेदोऽनुसन्धेयः।

(१) गौतमीति। जाते—हे वत्से! अमङ्गलं=वामेतरनयनस्पन्दनसूचितमशुभम्, प्रतिहतं—विध्वस्तम्, भवत्विति शेषः, प्रतिहतमित्याशंसायां क्तः। सुखानि-प्रत्युत मङ्गलानि, ते-तव, भवन्त्वित्याशीर्वचनम्।

(२) इतीति। इति-पूर्वोक्तायामुक्तौ सत्याम्, परिक्रामन्ति-राजनिकटं गन्तुं पादक्रमं कुर्वन्ति सर्वे इति शेषः।

(३) पुरोधा इति। निर्दिश्य—अङ्गुल्या निर्देशं कृत्वा। ऋषीणां वनेचरत्वेनाज्ञातराजसमाचारत्वमाशङ्कमानोऽभिमानध्मातमनाः पुरोधाः शिक्षयन्निवाऽऽह;-भोः, इति। भोः भोः इति सम्बोधनसूचकमव्ययम्; द्विरुक्तिः सम्भ्रमे बोध्या। तपस्विनः-तापसाः!· तपोऽनुष्ठाने एव समर्था न त्वन्यत्रेति भावः। असौ पुरोऽधिष्ठितः, अत्रभवान्-वर्णाश्रमपालकत्वेन सर्वमान्यः, वर्णाः ब्राह्मणादयः आश्रमाः ब्रह्मचर्यादयस्तेषां रक्षिता—यथानियमं पालयिता राजा दुष्यन्त इत्यर्थः, अनेन भवदादीनामस्मदादीनाञ्च सर्वदा पालनसक्तत्वं सूच्यते, शेषे षष्ठी तृन्योगे षष्ठीप्रतिषेधात्। प्रागेव—भवदुपगमात्, पूर्वमेव, मुक्तमासनं येन सः—आसनं परित्यजन्

---

(१) गौतमी—पुत्री ! तुम्हारा अमङ्गल नष्ट हो, तुम सब तरह प्रसन्न होओ।

(२) [इसके बाद सब चलते हैं।]

(३) पुरोहित—(राजा की ओर संकेत करके) तपस्विगण ! वर्ण और आश्रम के रक्षक हमारे माननीय महाराज आप लोगों के पहले ही आसन छोड़कर आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इनका दर्शन कीजिये।

शार्ङ्ग—भो महात्मन् ! काममेतदभिनन्दनीयम् ; तथापि वयमत्र मध्यस्थाः (१) ।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।

ऊर्ध्वीभूतः सन्नित्यर्थः, एतेन विनयातिशयो द्योत्यते । वः—युष्मान् , प्रतिपालयति-अपेक्षते एतेन राज्ञो भक्त्यतिशयश्च सूच्यते । एवं-राजानम्, पश्य-अवलोकय विभावयेति यावत् , आश्चर्यमेवंविधस्यास्य विनीतत्वमिति भावः ।

(१) शार्ङ्गेति । वनवासित्वेऽपि तपःप्रभावादेव विदितसकललोकसमाचारोऽनुरूपमुत्तरयति;-भोः, इति । महात्मन्-महानुभाव !, उल्लुण्ठनगर्भोक्तिरियम् । 'क्वचिन्महाब्राह्मण' इति पाठः, तत्र पुरोहितत्वान्निन्दितब्राह्मण ! इत्यर्थः, अनेन च सम्बोधनेन पुरोहितस्योत्तानहृदयत्वं पक्षे सुतरामुपहासश्च व्यज्यते । एतत्-अस्माकमुपस्थितेः प्रागेव गात्रोत्थानरूपं राज्ञ आचरणम्, आसनत्यागपूर्वकमस्मदपेक्षणमिति भावः, कामं-पर्याप्तमेव, अभिनन्दनीयं-प्रशंसाविषयीभूतम्, स्तुत्यमित्यर्थः । ननु तदा कुतो नाभिनन्द्यते ? इत्यत आह;-तथापीति । तथापि-पर्य्याप्तप्रशंसार्हत्वेऽपि, अत्र-एतस्मिन् अभिनन्दनविषये, मध्यस्थाः-तटस्थाः, अनतिकौतुका इति यावत् , न निन्दामो न वा स्तुम इत्यर्थः । अयमाशयः;-वह्ने रुष्णताया इव राज्ञो विनीतत्वस्य स्वाभाविकत्वेन स्तुतेरविषयीभूतत्वात् तत्र च निन्दनस्यानाचारादिति भावः ।

माध्यस्थ्ये निदानं दर्शयति,-भवन्तीति । यद्वा राज्ञो विनीतत्वं स्वभावसिद्धमेवेति स्थिरयितुमाह-भवन्तीति । तरवः-वृक्षाः, अत्र तरुशब्दस्य सामान्यवृक्षवाचकत्वेपि लक्षणया फलवद्वृक्षविशेषे लक्षकत्वं गृह्यते, वनस्पत्यादिसमग्रवृक्षत्वविशिष्टवाचकत्वे फलोद्गमैरित्यस्य वैयर्थ्यापातात् । किं च सत्पुरुषाणां विशिष्टानामेवोपमेयत्वात्तैः सहोपमानतापि तस्य संगच्छते; ननूत्तरवाक्येऽपि एतद्दोष आपततीति चेन्न, मेघादिवदत्यागेन निबिडमेघवाचकघनशब्दोपादानात् । फलानाम् उद्गमैः-उत्पत्तिभिः, फलागमैरित्यपि पाठः । अत्र आ—समन्ताद् गमैः प्राप्तिभिरित्यर्थः, अनेन समृद्धिकाष्ठा तेषां द्योतिता, नम्राः—तत्फलभरेण विनताः विनीताश्च भवन्ति । घनाः-मेघा निबिडाश्च, नवाम्बुभिः-नवजलसञ्चयैः, नवेति वर्षारम्भं द्योतयति; तदानीं मेघस्य दूरविलम्बित्वसम्भवात् , दूराद् विलम्बन्ते इति दूरविलम्बिनः

(१) शार्ङ्गरव—महात्मन् ! महाराज का यह व्यवहार प्रशंसनीय है, लेकिन हम लोग तो इन विषयों से उदासीन हैं ।

फल आ जाने पर वृक्ष झुक जाते हैं और नवीन जल भर लेने पर मेघ लटक आते हैं,

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥१२॥

प्रति—देव ! प्रसन्नमुखा ऋषयो दृश्यन्ते (१)। (देव ! पसण्णमुहा इसीओ दीसन्ति !)

अत्यन्तलम्बिताः, भवन्तीति शेषः। क्वचिद् 'भूमिविलम्बिनः' इति पाठः; तत्र;—भूमौ विलम्बिन इति भूमिविलम्बिनः-भूमिनिकटवर्तिनो भवन्तीत्यर्थः, यथा फलभरेण वृक्षाः नताः सन्तः भूमिनिपतनयोग्या भवन्ति तथा मेघा अपि नवजलभरेण भवन्तीत्यनयोः साम्यम्। तथा सन्तः साधवश्च ते पुरुषाश्चेति सज्जनाः, समृद्धिभिः धनसम्पत्तिभिः अनुद्धताः-गर्वशून्याः विनीता इत्यर्थः, भवन्तीति शेषः। विरोधे नञ्। तथा च;—परोपकारिणा—परानुपकर्तुं शीलं येषां तेषां जनानाम्, एष एव—नम्रत्वमेव, स्वभावः-प्रकृतिः। फलवन्तो वृक्षाः जलपूर्णा मेघा ऐश्वर्यशालिनः साधवः परोपकारिणश्च जनाः सर्वदा नम्रा एव भवन्तीति तेषां नैसर्गिकस्वभाव इति निष्कर्षः। तस्मात् तरुघनवत् सर्वथा परोपकारिणः सत्पुरुषभेदस्य राज्ञो दुष्यन्तस्य च एतन्नम्रत्वं नैसर्गिकस्वभाव एवेति भावः। अत्र स्वभाव इत्यादिस्तु हिशब्दानुपादानेऽपि सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। किञ्च अप्रस्तुतात्सत्पुरुषसामान्यात् प्रस्तुतस्य दुष्यन्तरूपसत्पुरुषविशेषस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसाऽपि। अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। तथा अप्रस्तुतानामेव तरुघनसत्पुरुषाणां भवन्तीति क्रियारूपैकधर्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगितापि। तथा नम्रत्वरूपैकधर्मस्यैव नम्रदूरविलम्ब्यनुद्धतपदैः पृथङ्निर्देशान्मालाप्रतिवस्तूपमा च। तथा च निरुक्तसंकरेण सह परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिर्बोध्या। मतिर्भावः। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ १२ ॥

(१) प्रतीति। ऋषीनवलोक्य प्रतीहारी राजानमावेदयति;-देवेति। प्रसन्नानि-उद्वेगेनाकलुषितानि मुखानि येषां ते तादृशाः। एतेनाजातदुःखत्वमवगम्यते। तथा च 'किन्तावद् व्रतिनाम्' इत्यादिना यद् यत् प्रतर्कितं तस्य न किञ्चिद् दृश्यत इति भावः। इतः परं क्वचित् पुस्तके 'जाणामि विस्सद्धकज्जा इसीओ' इत्यधिकं दृश्यते। तस्य 'जानामि विस्रब्धकार्या ऋषयः' इत्यनुवादः, तत्र विस्रब्धं-शान्तमक्रूरं कार्यं येषां ते तादृशा ऋषय इत्यर्थः, 'विस्रब्धस्तूद्धटे व्यर्थे शान्तविश्वस्तयोरपि' इति विश्वः। क्वचिच्च 'ता विस्सत्थकज्जा एदे' इति पाठः, तत्र; 'तस्माद्विश्वस्तकार्या एते' इत्यनुवादः, अत्र विश्वस्तकार्याः—विश्वस्तकार्यसिद्धयः, कार्यं

इसी प्रकार अच्छे लोग समृद्धिशाली होकर नम्र हो जाते हैं। क्योंकि परोपकारियों का स्वभाव ही ऐसा होता है ॥ १२ ॥

(१) प्रतीहारी—महाराज ! ये ऋषि प्रसन्नमुख दिखायी देते हैं।

राजा—[शकुन्तलां निर्वर्ण्य] अये ! अत्र (१)—

केयमवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥ १४ ॥

सिद्ध्यति वा न वेति संशयरहिता इत्यर्थः, नते विघ्नप्रतीकारादिपराः किन्तु स्वैरदर्शनादिलघुकार्यार्थिन एवेति भवतो व्याकुलताया नावकाश इति भावः।

(१) राजेति । निर्वर्ण्य—विशेषेणावलोक्य । 'निर्वर्णनन्तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः । अथ शापबलेन शकुन्तलामजानन् राजा पृच्छति;–अये इति । अये इति सम्भ्रमे । अत्र—स्थाने । कुत्रचित्पुस्तके 'अथात्र भवतीति' पाठः, तत्र;—अथेति प्रश्ने अत्र भवतीति प्रशंसागर्भम् ।

केयमिति । पाण्डूनि–परिणततया पाण्डुवर्णानि यानि पत्राणि तेषां मध्ये एतेन तपोधनानामपि वयःपरिणततया पाण्डुत्वं सूच्यते, किसलयमिव–नवपल्लवमिवेत्युपमा, ननु अस्याश्चोपमानभूतस्य किसलयस्य भिन्नलिङ्गत्वेन अनौचित्यं दोष इति चेत्, उच्यते, कोमलत्वादेः साधारणधर्मस्य गम्यमानत्वात् नितरां सहृदयहृदयरञ्जकत्वादेव न लिङ्गव्यत्ययजन्यमनौचित्यम्, 'न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा। उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्' इति दण्डिवचनात्, न च पाण्डुपत्रमध्ये किसलयस्यासम्भव इति शङ्क्यम्, 'पाण्डुपत्राणां मध्ये' इत्यनेन तदन्तर्हितत्वेन किसलयस्यास्फुटताया विवक्षणात्, यद्वोत्प्रेक्षा, तथा तपोधनानां मध्ये तस्या असम्भाव्यत्वं सूच्यते, किसलयसाम्येन लावण्यसौकुमार्यपूर्णत्वेन दर्शनीयत्वं द्योत्यते, तपोधनानां–तापसानां मध्ये, अवगुण्ठनवती—शिरःप्रच्छादनवती 'अथावगुण्ठनञ्चावगुण्ठिका । योषाशिरःप्रावरणक्रियायां स्यात्।' इति शब्दार्णवः, एतेनावगुण्ठनप्रथाया अतीव प्राचीनत्वमुक्तं भवति, यथाह्याङ्गिराः;–'श्वशुरस्याग्रतो यस्माच्छिरःप्रच्छादनक्रिया । पुत्रैर्दर्भेण सा कार्या मातुरभ्युदयार्थिभिः' इति, एतेन अवगुण्ठनस्य यवनराजत्ववादिनां चिरन्तनमतासहिष्णूनामाधुनिकानां मतमपास्तम् । अत एव नातिपरिस्फुटम्—अनतिव्यक्तं गात्रावरणादेवेति भावः, शरीरस्य लावण्यं—चैक्कण्यं कान्तिविशेषो यस्यास्तथाभूता, 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते,'–इति लावण्यलक्षणमुक्तमुज्ज्वलनीलमणौ सुधाकरेऽपि । यद्वा नातिपरिस्फुटं शरीरं लावण्यं च यस्याः सा तथा-

(१) राजा—(शकुन्तला को देखकर) अहो ! यहाँ :—

यह घूँघटवाली कौन है ? इसकी शारीरिक सुन्दरता अभी उतनी ज्यादा परिस्फुटित नहीं हुई है । इन तपस्वियों के बीच में पतझड़ के पीले पत्तों के ढेर में विद्यमान नवकिसलय की तरह दिखाई देती है ॥ १४ ॥

प्रती—भर्त्तः ! कुतूहलगर्भः प्रतिहतो न मे तर्कः प्रसरति । दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते (भट्टा ! कुदूहलगब्भो पडिहदो ण मे तक्को पसरदि । दंसणीआ उण से आकिदी लक्खीअदि (१) ।)

राजा—भवतु अनिर्वर्ण्यं खलु परकलत्रम् (२) ।

भूता । ननु नातिपरिस्फुटेत्यादौ शरीरमात्रग्रहणेऽप्युभयलाभसम्भव इति लावण्यपदोपादाने पौनरुक्त्यं स्यादिति चेन्न, तयोरुभयोरेव विधेयत्वात्, अत एवातिपर्योरुपसर्गयोरुपादानम्, ईषद्व्यक्तेत्यर्थः । इयं पुरो विलसन्ती नारी का ? क्वचित् पुस्तके केयमित्यत्र कास्विदिति पाठः, तत्र स्विदिति वितर्के । 'स्विदिति प्रश्ने वितर्के च' इत्युक्तेः, श्रौतोपमालङ्कारः वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमपि । औत्सुक्यं विस्मयश्च भावः; तेन रतेरीषदुद्बोधश्च । आर्या जातिः ॥ १४ ॥

(१) प्रतीति । कुतूहलं-तपोधनमध्ये दर्शनीयाकृतिर्वनितेत्याश्चर्यं गर्भे यस्य स तथाभूतः, यद्वा;–कुतूहलम्–अकस्माद्रमणीयरमणीदर्शनजनितं कौतुकं गर्भे यस्य तादृशः, अयमप्रसरणे हेतुर्बोध्यः । मे–मम, तर्कः–विचारः केयं भवितुमर्हतीत्यूहः, प्रतिहतः–कुतूहलोपहितः सन्, न प्रसरति–न प्रसारमाप्नोति, इयं सेति न व्यवस्यतीत्यर्थः । तथा च;–भवत उत्तरदाने नैव शक्नोमीति भावः । एवं स्वस्यापि वितर्कमुक्त्वा राज्ञा वर्णितं सौन्दर्यमनुवदति;–दर्शनीयेति । यद्वा काचिरसेविकेयं वा भवितुमर्हतीति हृदयभावं साविष्कारं तिरस्कुर्वत्याह;–दर्शनीयेति । पुनः किन्तु, पुनः शब्दस्तर्कस्याप्रसरणे कामचारं सूचयति, दर्शनीया–सुदर्शना, दर्शनयोग्येति यावत् । तथा च नेयं साधारणी सेविकेति भावः, लक्ष्यते–ज्ञायते, तस्माद् भव्यरूपेयं भवता दृश्यतामिति प्रतीहार्या अभिप्रायः ।

(२) राजेति । भवतु—इयं या वा का वा भवत्वित्यर्थः । परकलत्रं-परभार्या, 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः, अनिर्वर्ण्यम्—अनवलोकनीयम्, खल्विति निषेधद्योतकमव्ययम्, तस्मादेनां नावलोकयामीति भावः, अनेन राज्ञः औचित्यं व्यज्यते । यथा विष्णुसूत्रम्;—'परदारान् न वीक्षेत' इति । अत्र मतिस्तया धर्मवीरव्यभिचारिण्या रतेस्तिरोधानं च दर्शितम् ।

(१) प्रतीहारी—महाराज ! कुतूहलवश (अर्थात् यह कौन होगी, यह जानने की इच्छा से) भरी-पुरी मेरी विचारशक्ति जवाब नहीं दे रही है । लेकिन इसकी आकृति बड़ी सुन्दर जँचती है ।

(२) राजा—कुछ भी हो, परायी स्त्री को देखना उचित नहीं है ।

शकु— [उरसि हस्तं दत्त्वा स्वगतम्] हृदय ! किमेवं वेपसे ? आर्यपुत्रस्य तादृशभावानुबन्धं स्मृत्वा धीरत्वं तावदवलम्बस्व (१)। (हिअअ ! किं एव्वं वेवसि ? अज्जउत्तस्स तादिसभावाणुबन्धं सुमरिअ धीरत्तणं दाव अवलम्बस्स ।)

पुरो—[पुरो गत्वा] स्वस्ति देवाय। देव ! एते खलु विधिवदर्चितास्तपस्विनः, कश्चिदेतेषु उपाध्याय-सन्देशोऽस्ति, तं देवः श्रोतुमर्हति (२)।

राजा—अवहितोऽस्मि (३)

---

(१) शकु इति । अथ शकुन्तला हृदयविदारणक्षमं नायकस्य तादृशं वचोऽवधार्य सान्त्वनादानायोरसि हस्तं निक्षिपति,-उरसीति । उरसि-वक्षसि हस्तं दत्त्वा-निधाय, यो यस्मै सान्त्वनादानाय प्रवर्त्तते सति सम्भवे तं स्पृष्ट्वैवेति लोकव्यवहारः। कविवाक्यमिदं स्वभावोक्तिश्च । सान्त्वनावाक्यमाह;-हृदयेति । किं-कथम् एवं-सातिशयम्, वेपसे- कम्पसे ? आर्यपुत्रस्य-भर्तुः, राज्ञ इति यावत्, तादृशभावानुबन्धं पूर्वानुभूतानुरागप्रवाहम्, स्मृत्वा-स्मरणपथमानीय; धीरत्वं-धैर्यम्, अवलम्बस्व-आश्रय, धीरं तावद् भवेत्यर्थः। तथा च तादृशभावानुबन्धः कदाचिदपि न विरंस्यतीति भावः । अत्र विषादावेगादयो भावाः।

(२) पुरो इति । पुरः—अग्रतः, 'स्यात् पुरः पुरतोऽग्रतः' इत्यमरः । कस्मैचित् किञ्चिन्निवेदनकाले पुरोऽभिमुखीभवनस्य सार्वत्रिकव्यवहारत्वात् राजाभिमुखीभवनार्थं पुरो गत्वेति वचनम् । स्वस्ति—मङ्गलमस्त्विति शेषः, देवायेति 'नमः स्वस्ति०' पा० इत्यादिना चतुर्थी । एते- पुरोवर्त्तिनः, इति हस्तेन निर्देशः, तपस्विनः-तापसाः, विधिवत्—यथाविधि, श्रौतेन विधानेनेत्यर्थः, अर्चिताः—पाद्यार्घ्यादिभिः सत्कृताः, पूर्वं राज्ञस्तथैवादेशात् तथा चैषां किं वा सत्कारविशेषोऽस्तीति भावः । एतेन स्वस्य राजनियोगानुष्ठानमुक्तम् । अथ राज्ञा कर्त्तव्यमाह;—कश्चिदिति । एतेषु—तपस्विषु, उपाध्यायस्य—अध्यापकस्य कण्वस्य सन्देशः—संवादः । उपाध्यायसन्देश-इति बहुमानं द्योतयति ।

(३) राजेति । अवहितः—दत्तावधानोऽस्मि ।

---

(१) शकुन्तला—(छाती पर हाथ रख कर स्वगत) हृदय ! तुम इस तरह काँप क्यों रहे हो ? महाराज के उस अटूट प्रेम का स्मरण करके थोड़ा धैर्य धारण करो ।

(२) पुरोहित—[सामने जाकर] महाराज का कल्याण हो देव ! मैंने इन तपस्वियों की विधिवत् अर्चना कर दी है । इनके पास गुरुका कोई सन्देश है, उसे श्रीमान् सुन लें ।

(३) राजा—मैं सुनने को तैयार हूँ ।

शिष्यौ—[हस्तमुद्यम्य] भो राजन् ! विजयतां भवान् (१) ।

राजा—सर्वानभिवादये वः (२) ।

शिष्यौ—स्वस्ति देवाय (३) ।

राजा—अपि निर्विघ्नं तपः (४) ?

शिष्यौ—कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि ।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ॥ १५ ॥

(१) शिष्याविति । हस्तमुद्यम्य—उत्तोल्य, हस्तोत्तोलनपूर्वकाशीर्वादस्य लोकाचारत्वात् । विजयतामिति 'विपराभ्यां जेः' इत्यात्मनेपदम् ।

(२) राजेति । वः—युष्मान् , अभिवादये-प्रणमामि ।

(३) शिष्याविति । स्वस्ति-मङ्गलम्, अस्त्विति शेषः, देवायेति नम आदित्वाच्चतुर्थी ।

(४) राजेति । अपीति प्रश्ने 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः । युष्माकं निर्विघ्नेन तपः सम्पद्यते नु ? इत्यर्थः । अनेन विघ्नानामात्मना प्रतिविधेयत्वं द्योतितम् ।

शिष्याविति । अथ शिष्यौ राज्ञः प्रशंसामुखेन तपसो निर्विघ्नत्वं दृष्टान्तेन प्रतिपादयतः-कुत इति । त्वयि-राज्ञि दुष्यन्ते, रक्षितरि-परिपालयितरि सति, सतां-साधूनाम्, धर्मक्रियाणां-यागादिधर्मानुष्ठानानां विघ्नः—व्याघातः, कुतः ? न कुतोऽपीत्यर्थः । अत्र सर्वमेवैतद् पदकदम्बकं विधेयम् । तथा चास्मिन् राज्ये त्वमेव रक्षिता त्वयि रक्षितरि च सति सर्वे एव सन्तः तेषां च क्रियामात्रविघ्नोऽपि न सम्भाव्यते सुतरां धर्मक्रियाणामपि विघ्नाभावा एवेत्यर्थः । यागादेः श्रेयःसाधनत्वं धर्मत्वं चोक्तं तन्त्रान्तरे—'द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते । तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता । श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते । ताद्रूप्येण तु धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः ।' इति । अत्र दृष्टान्तमाह,-तम इति । घर्माः-उष्णा अंशवः किरणा यस्य तस्मिन् घर्मांशौ-सूर्ये, तपति—जगत् सन्तापयति, पूर्णतयोद्यमाने

(१) दोनों शिष्य—महाराज आपकी जय हो ।

(२) राजा—हम आप सब को प्रणाम करते हैं ।

(३) दोनों—महाराज की जय हो ।

(४) राजा—आपकी तपस्या तो निर्विघ्न है न ?

दोनों शिष्य-श्रीमान् जैसे रक्षक के रहते साधुओं की तपस्या में विघ्न भला कैसे उपस्थित हो सकता है ? सूर्य के देदीप्यमान रहते भला अन्धकार किसी तरह टिक सकता है ? कभी नहीं ॥ १५ ॥

राजा—[आत्मगतम्] सर्वथा अर्थवान् खलु मे राजशब्दः [प्रकाशम्] तत्रभवान् कुशली कण्वः ? (१)

शार्ङ्ग—राजन् ! स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः । स भवन्तमनामयप्रश्नपूर्वकमिदमाह (२) ।

सतीत्यर्थः, तमः-तिमिरम्, कथमाविर्भविष्यति-प्रसरिष्यति, न कथमपीत्यर्थः । तथा च निर्विघ्नेनास्माकं तपः सम्पद्यत इति भावः ।

यथा रघौ-'नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् । सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः, कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रेति ।

अत्र सूर्योपमया राज्ञः प्रतापातिशयः क्रियाप्रवर्त्तकत्वं च द्योत्यते । वीरोपस्कृता राजविषयिका रतिर्भावः । इह च सूर्योद्गमनेऽन्धकाराणामभाव इव त्वयि रक्षितरि धर्मक्रियाविघ्नाभाव इति प्रतिबिम्बनात् दृष्टान्तोऽलङ्कारः ।

यदुक्तं प्रकाशे-'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनात्' इति ।

किञ्च त्वयि रक्षितरि क्रियामात्रेऽपि विघ्नासम्भवात् सुतरामेव धर्मक्रियायां विघ्नासम्भव इत्यर्थापत्तिश्च । अत्र च समानार्थबोधकेन परार्द्धगतवाक्येन स्वाभिप्रायमभिज्ञाप्य 'राजप्रभावेणैव विघ्ना अपसरन्ति' इत्यभिमतार्थसाधनादुदाहरणं नाम नाट्यलक्षणम्—'यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।

साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुदाहरणं मतम् ।"

इति तल्लक्षणम् । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ १५ ॥

(१) राजेति । आत्मगतम्-अनतिप्रकाशम् । मे-मम, राजशब्दः-राजेत्यानुपूर्वीवर्णस्तोमः । अर्थवान्-सार्थकः, सुष्ठु परिपालनेन जनानुरञ्जनात् । राजति-दीप्यत इति रञ्जयतीति च राजशब्दव्युत्पत्तेः । एवमेवाह रघुकाव्ये-'राजा प्रकृतिरञ्जनात्' इति, तथा च-मम पालनपद्धत्या सन्तुष्टाः सत्यः प्रकृतयो मामेवं स्तुवन्ति; अहो अहं धन्य एवेत्याशयः । अत्र हर्षो भावः । 'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्' इति वचनमनुसरन् पृच्छति-तत्रभवानिति । तत्रभवान्-परमपूजनीयः, कण्वः-भवतामुपाध्यायस्तन्नामा महर्षिः, कुशली-मङ्गलवान् ।

(२) शार्ङ्ग इति । सामान्यमुखेन कुशलमाह-स्वाधीनेति । सिद्धिमन्तः-अणिमादिसिद्धिसम्पन्नाः पुरुषाः, स्वाधीनम्-आत्मायत्तं-कुशलं-मङ्गलं येषां ते तथा-

(१) राजा (स्वगत) हमारे लिए 'राजा' शब्द सब प्रकार से सार्थक है । (प्रकट) पूज्य महर्षि कण्व सकुशल हैं ?

(२) शार्ङ्गरव—महाराज ! सिद्ध पुरुषों का मंगल, सदैव उनके अधीन रहता है ! उन्होंने श्रीमान् का आरोग्य प्रश्न किया है और यह कहा है—

राजा—किमाज्ञापयति भगवान् ? (१)

शार्ङ्ग—यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपयेमे; तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम् । कुतः (२)—

त्वमर्हतामग्रसरः स्मृतोऽसि नः
शकुन्तला मूर्तिमतीव सत्क्रिया ।

भूताः। तथा च कण्वस्य सिद्धिमत्त्वात् स्वाधीनकुशलत्वमेवेति भावः। अथ 'सत्र-बन्धुमनामयमि'ति वचनादनामयजिज्ञासापूर्वकं वक्तव्यं वक्तुमारभते—स इति। सः कण्वः, अनामयप्रश्नपूर्वकं—'तव किमारोग्यमस्ती'ति आरोग्यजिज्ञासापूर्वकम्, 'अनामयं स्यादारोग्यम्' इत्यमरः, इदं—वक्ष्यमाणम् ।

(१) राजेति । भगवान्—कण्व इत्यर्थः ।

(२) शार्ङ्ग इति । इदंपदार्थं विवृणोति—यदिति । मिथः—रहसि, अन्योन्यं वा, समयात्—प्रतिज्ञानात् त्वं मे भार्या त्वं मे भर्त्तेति प्रतिज्ञां कृत्वेत्यर्थः। गान्धर्वेण विधिनेति यावत्। ल्यब्लोपे पञ्चमी। 'गान्धर्वः समयान्मिथः' इति याज्ञवल्क्यः। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। संवित्—प्रतिज्ञा। अनेन सकलशास्त्रपारदृश्वनः कण्वस्यानुमोदनहेतुरुक्तः। इमां—पुरोवर्त्तिनीं, दुहितरं—पुत्रीम्, उपयेमे—परिणीतवान् 'उपाद्यमः स्वीकरणे' (पा०) इत्यात्मनेपदम्। प्रीतिमता—परस्परानुरूपत्वात् सन्तुष्टेन मया, युवयोर्विषये, अनुज्ञातम्— अनुमतम्। ननु भवन्तमपृष्ट्वैव विवाहकरणात् अप्रीतिस्थलेऽपि कथं वा भवतः प्रीतिरित्याह—कुत इति।

प्रीतौ हेतुमाह—त्वमिति । त्वम्, अर्हतां—प्रशंसापात्राणां जनानाम्, 'अर्हः प्रशंसायाम्' (पा०) इति शतृप्रत्ययः, अग्रसरः—अग्रगण्यः, प्रधान इति यावत्, नः—अस्माकम्, स्मृतः,—अभिमतोऽसि, त्वां योग्याग्रगण्यं जानीम इति भावः। तथा शकुन्तला—मद्दुहिता च, मूर्त्तिमती—शरीरधारिणी, सत्क्रिया सत्कारभूतेव, प्रशंसेवेति यावत्, तथा च प्रशंसा प्रशंसनीयमेवाश्रयतीति भावः, अनेनास्यास्त्रैलोक्यपूज्यत्वं ध्वन्यते। अतस्तुल्यगुणं—तुल्याः—अन्यूनातिरिक्ता गुणा यस्य तत्तथोक्तं—समानगुणशालिनम्, वधूश्च वरश्चानयोःसमाहारो, वधूवरं—मिथुनमित्यर्थः, समाहारद्वन्द्व एक-

(१) राजा—हाँ, भगवान् कण्व क्या आज्ञा देते हैं ?

(२) शार्ङ्गरव—भगवान् कण्व ने कहा है कि—हे राजन् ! आपने परस्पर शपथ करके मेरी कन्या के साथ जो ब्याह किया है उसके लिए हम आप दोनों पर प्रसन्न हैं और आपके इस कार्य का अनुमोदन करते हैं । क्योंकि—

हम लोगों का विश्वास है कि आप प्रशंसनीय लोगों में मुख्य हैं और हमारी शकुन्तला

समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥ १६ ॥

तदिदानीमापन्नसत्त्वेयं गृह्यतां सहधर्मचरणायेति (१)।

गौत—भद्रमुख ! किमपि वक्तुकामाऽस्मि, न मे वचनावसरोऽस्ति। (२)। (भद्दमुह किम्पि वत्तुकामह्मि, ण मे वअणावसरो अत्थि।)

वद्भावः, समानयन्-एकीकुर्वन्, विवाहविधिना संयोजयन्, 'अस्थिभिरस्थीनि' इत्यादिश्रुतेः, प्रजापतिः-विधाता, चिरस्य-चिरादारभ्य प्रवृत्तमित्यर्थः, इदं विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्, वाच्यं-निन्दाम्, 'अयोग्ययुग् विधाता' इति लोकापवाददूषणम्, न गतः-न प्राप्तः; समानगुणशालित्वेन परस्परयोग्यत्वात्। तथा च लोके चिरकालप्रवृत्तमयोग्ययुगित्यपवादमसहमान इव प्रजापतिरिमां त्वाञ्च तुल्यगुणं वधूवरं निर्माय संयोजयंश्चेदानीं समार्जेति भावः। एतेनेतः पूर्वमेवं गुणोपेतं वधूवरं नाभूदिति द्योत्यते। अत्र वरवध्वोरानुरूप्येण श्लाघाप्रत्ययात् समालङ्कारः। मूर्तिमतीवेति वाच्योत्प्रेक्षा। पूर्ववाक्यार्थस्य तुल्यगुणत्वोपपादकत्वात् काव्यलिङ्गञ्च। किञ्च समानयनाद् वाच्यं न गत इत्यपरं काव्यलिङ्गमपि। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥६१॥

(१) तदिति। तत्-त्वया परिणयस्य कृतत्वात् परस्परयोग्यत्वेन मयानुमतत्वाच्चेत्यर्थः, यद्वा विधात्रैवं पतिपत्नीत्वेन युवयोरेकीकृतत्वादित्यर्थः। इदानीम्, आपन्नम्-जठरे प्राप्तं सत्त्वं-जन्तुर्यया सा आपन्नसत्त्वा-गर्भिणी, 'आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः, इयं-मम दुहिता शकुन्तला, सहधर्माचरणाय-मिलित्वा यज्ञादिधर्मकर्मकरणाय, 'सपत्नीको धर्ममाचरेत्' इति स्मृतेः, गृह्यतां-स्वीक्रियताम्, इतीत्यस्याहेत्यनेन सम्बन्धः। अनेन विधिवदूढत्वं व्यज्यते।

(२) गौतेति।। भद्राणां सज्जनानां मुखः-अग्रगण्य इति भद्रमुखस्तत्सम्बोधनम्, यद्वा भद्राणां मुखमिव मुखं तत्सम्बुद्धौ-भद्रमुख !-सज्जनशिरोमणे !' भद्रं-साधु मुखं यस्य स भद्रमुखः-सुमुखस्तत्सम्बोधने हे भद्रमुख ! इति वा। किमपि किञ्चित्, त्वयानुचितमाचरितमिति विवक्षितमित्यर्थः, वक्तुं कामो यस्याः, सा वक्तुकामाऽस्मि-किञ्चिद्वक्तुमिच्छामीत्यर्थः, 'तुं काममनसोरपि' इति तुमो मलोपः। पर-

---

भी मूर्तिमती सत्क्रिया के समान पुनीत है। आप दोनों तुल्य गुणवालों का संयोग कराकर ब्रह्मा भी बहुत दिनों तक के लिए निन्दनीय नहीं हुए ॥ १६ ॥

(१) अब यह गर्भवती है। आप अपना धर्मकार्य सम्पादन करने के लिए इसे ग्रहण करें।

(२) गौतमी—हे सुजनश्रेष्ठ ! मैं भी आप से कुछ कहना चाहती हूँ। लेकिन मुझे बोलने का अवसर ही नहीं है।

राजा—आर्ये ! कथ्यताम् (१)।

गौत—

नापेक्षितो गुरुजनः अनया न त्वयापि पृष्टो बन्धुः।
एकैकस्य च चरिते भणतु किमेक एकस्मिन् ॥ १७ ॥

(णावेक्खिदो गुरुअणो इमिए ण तुए वि पुच्छिदो बन्धू।
एक्कक्कस्स अ चरिए भणादु किं एक्क एक्कस्सिं ॥ १७ ॥)

शकु—[आत्मगतम्।] किन्नु (२) खलु आर्यपुत्रो भणिष्यति ?
(किण्णु क्खु अज्जउत्तो भणिस्सदि ?)

स्परं गाढानुरागमनुस्मृत्याक्षिप्य चाह;–न मे इति। वचनस्य–वक्तव्यस्य–अवसरः–प्रस्तावः, 'प्रस्तावः स्यादवसरः' इत्यमरः, नास्ति, शिष्याभ्यां महर्षिणैव सर्वस्योक्तत्वादिति भावः। केचित्तु न मे वचनावसरः कथनावकाशोऽस्ति; भवद्भ्यामेवाविरतालपनादिति भावः।–इत्यभिप्रायेण व्याकुर्वन्ति।

(१) राजेति। आर्ये—पूज्ये !, कुत्रचिदेष पाठो न वर्त्तते।

स्वोक्ताक्षेपकारणं व्याचष्टे–नेति। अनया–शकुन्तलया, गुरुजनः–पित्रादिजनः, नापेक्षितः–दुष्यन्तायात्मसमर्पणसम्बन्धेऽननुज्ञापितः। त्वयापि–दुष्यन्तेनापि, बन्धुः–अस्याः स्वजनः, न पृष्टः–'शकुन्तलायाः पाणिग्रहणं कर्तुं शक्नोमि वा न वा' इति न जिज्ञासितः। अत एव एकैकस्य–परस्परस्य शकुन्तलायाः तव चेत्यर्थः, एकस्मिन्–गुरुजनानपेक्षणरूपाभिसारात्मके, चरिते–अनुष्ठिते विषये, एकः–अन्यो जनः मद्विधः कण्वो वेत्यर्थः किं भणतु ?–त्वं तां गृहाण सा च त्वां गृह्णात्वित्यादिरूपं किं कथयतु ? अपि तु अपेक्षितान्योन्यसम्प्राप्तित्वान्न किञ्चित् भणत्वित्यर्थः। तथा च यथानुरागवशाद् बन्धुजनानपेक्ष्यैव युवां परस्परं वव्राथे तथैवानुरागपूर्वकं परस्परं ग्रहीष्यथ इत्यत्र नास्माकमनुरोधापेक्षेति भावः। यद्वाऽन्योन्यानुरागवशाद्युभाभ्यामेवेदं विहितमिति तत्र नैकः पर्यनुयोज्यो भवतीत्याशयः। अत्र 'किं भणतु' ? इत्यस्य नैव किञ्चिदित्यर्थागमादर्थापत्तिरलङ्कारः। गाथेयम् ॥ १७ ॥

(२) किन्न्विति–एतत्संवदति वा न वेत्यर्थः। अत्र वितर्क उत्कण्ठा च।

(१) राजा—आर्ये ! कहिये।

गौतमी—न इस (शकुन्तला) ने अपने गुरुजनों की परवाह की और न आपने ही अपने बन्धुओं को पूछा। इसलिए दोनों का कार्य एक ही तरह का हुआ है, फिर इस विषय में दूसरा कोई क्या कह सकता है ? ॥ १७ ॥

(२) शकुन्तला—(स्वगत) अब देखें, आर्यपुत्र क्या कहते हैं ?

राजा—[साशङ्कमाकर्ण्य ।] अये ! किमिदमुपन्यस्तम् ? (१)

शकु—[आत्मगतम् ।] हा धिक् हा धिक् ! सावलेपोऽस्य वचनावक्षेपः (२) । (हद्धी हद्धी ! सावलेवो अस्स वअणावक्खेवो ।)

शार्ङ्ग—किं नाम किमिदमुपन्यस्तमिति ? ननु भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः (३) ?

---

(१) राजेति । आशङ्कया सहेति साशङ्कम्, आकर्ण्य—श्रुत्वा । शापबलेन विस्मृतविवाहवृत्तान्तो दुष्यन्तस्तापसानां शकुन्तलास्वीकरणरूपं वाक्प्रपञ्चमाकर्ण्यालीकमेतदिति दृढप्रत्ययोऽपि मुन्यनुरोधात्तद्ग्रहणे परस्त्रीत्वात्तद्ग्रहणे च महानर्थसम्भवात्साशङ्को जनसंसदि स्वात्मदोषं विशङ्कमानः पृच्छति—अये इति । अये इति सम्भ्रमे 'अये कोपे विषादे च सम्भ्रमे स्मरणेऽपि च' इति मेदिनी; इदं—शकुन्तलापरिणयरूपं वचनम्, उपन्यस्तं-वक्तुमारब्धम, आदिकर्मणि क्तः, 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' इत्यमरः । अस्योपन्यस्तस्यासम्बद्धत्वादर्थो नावबुध्यत इत्यर्थः । अनेन नायकगतमौचित्यं ध्वन्यते । यद्वा उपन्यस्तम्—उपकथात्मकोपन्यासरूपेणाभिहितमित्यर्थः ।

(२) शकु इति । हा धिग् हा धिगिति विषादे, तस्यातिशये द्विर्वचनम् । अस्य-राज्ञः, वचनावक्षेपः-वाग्विन्यासः, सावलेपः-सगर्वः 'अवलेपस्तु गर्वे स्यात्' इति विश्वः, तथा च दुष्यन्तस्य मुनिजनेन सह विनयपूर्वकालपने कर्त्तव्ये 'किमिदमुपन्यस्तम्' इति वचनप्रस्तावभङ्गयादौ महानेव गर्वः प्रकाशित इति परकालेऽपि मुनेर्वाक्यप्रत्याख्यानावश्यम्भाव्यमिति निरुक्तवाक्यस्य स्वानभिमतत्वेन कार्कश्यप्रतीतेः सावलेपतयोक्तिरिति बोध्यम् । क्वचित् 'पावओ खु वअणोवण्णासो' इति पाठः; तस्य 'पावकः खलु वचनोपन्यासः' इति संस्कृतानुवादः; तत्र-पावकः-वह्निः, सन्तापातिशयकरत्वात् पावकत्वारोपः, इदं व्यस्तरूपकम् । अनेन शकुन्तलागतत्रासोऽभिव्यज्यते । केचित्तु 'वअणवक्खेवो' इत्यस्य 'वदनावक्षेप' इत्यनुवादं कुर्वन्ति, तत्र वदनावक्षेपः-वदनव्यापारविशेष इत्यर्थः ।

(३) शार्ङ्ग इति । अथ शार्ङ्गरवो राज्ञो दुर्वासःशापहेतुकं विस्मरणमजानन् राजकृतशकुन्तलापरिणये सुतरामकृतसन्देहोऽयमेनामवधारयितुमारभत इति मन्वानस्तदुक्तस्यानौचित्यं शकुन्तलायाः प्रतिग्राह्यत्वबोधनाय लोकाचारमपि दर्शयति—किमि-

---

(१) राजा—(आशंका के साथ सुनकर) ओह ! आप लोगों ने यह कैसा झमेला खड़ा कर दिया ?

(२) शकुन्तला—(स्वगत) हाय, हाय ! इनकी बातें तो अभिमानपूर्ण मालूम होती हैं ।

(३) शार्ङ्गरव—'कैसा झमेला खड़ा कर दिया !' यह बात आप कैसे कह पाये ? क्या

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥१८॥

त्यादि । किमिदमुपन्यस्तमिति-किं-कथम्, नाम-सम्भवति । नामेति सम्भावनायाम् । अस्मदुच्चरितं जानन्नप्यजानन्निव कथं पृच्छसीत्यर्थः । इदं ते महदनुचितमिति भावः । केचित्तु—,शार्ङ्गरवस्तु आज्ञातशापवृत्तान्तो राजकृतशकुन्तलापरिणये सुतरां दृढनिश्चयो नृपस्योक्तौ 'उपन्यस्तम्' इत्यस्य 'न्यासरूपमर्थं मन्वानस्तदनुरूपमुत्तरमाह—किमिति । इदं—शकुन्तलारूपम्, उपन्यस्तं—कण्वसविधे न्यासीकृतं किम् ? इति यदुक्तं तत् किं नाम ? किं सम्भवतीत्यर्थः—'इति व्याकुर्वन्ति । उत्तरत्र च—'ननु कथं नाम न्यासः सम्भवति ? तथाविधस्यापि कुत्रचिदृष्टत्वादित्यतस्तत्र लोकवृत्तान्तं स्थापयित्वा तमाक्षिपति—नन्विति ।' इति व्याचक्षते । वागीशास्तु—'नामेति प्राकाश्ये, 'नामप्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इत्यमरः, किमिदमुपन्यस्तमिति किमुक्तमित्याशयः । मयेयं परिणीतेति सुनिश्चितं तथापि काममोहाविशून्यमुन्याश्रमपदावस्थानेनास्यां न कश्चिद्दोषः सम्भवतीति किमिदमुपन्यस्तम्—'इदं गृह्यतामित्यादिरूपं किं वक्तुमारब्धमि'ति राज्ञस्तादर्थ्याशयं मन्वानस्तदधिक्षिपति—नन्वित्यादि ।'—इत्याहुः । नन्विति प्रश्ने विशेषामन्त्रणे वा, भवन्त एव—न तु वानप्रस्थाश्रमिण इत्येवकारेण व्युदस्तम्, सुतराम्—अस्मत्तोऽधिकतया, लोकवृत्तान्तेषु—लोकव्यवहारेषु निष्णाताः—अभिज्ञाः, 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः' इत्यमरः । वर्णाश्रमगुरुत्वात्सुतरां भवन्त एवास्मत्तो लोकवृत्तिकुशलाः; वयं तु वनवासित्वान्न तथेत्यर्थः । तथा च तपोऽनुष्ठानसाधनभूते तपोवने आपन्नसत्त्वा बाला चिरं न्यासीकृता स्थातुमर्हति वा न वेत्यत्र लोकव्यवहारविदो भवन्त एव प्रमाणमिति निष्कर्षः । तत्र वयमपि लोकवृत्तान्तं ब्रूम इति हृदयम् ।

नन्वत्र को वासौ लोकवृत्तान्त इति तमेवाह—सतीमिति । जनः—लोकः, ज्ञातिकुलं-पितृकुलमेकं-केवलं संश्रयते-अवस्थातुमवलम्बत इति तां ज्ञातिकुलैकसंश्रयां—पितृगृहैकवासिनीमित्यर्थः, 'ज्ञातिः सगोत्रे पितरि' इति विश्वः, भर्त्ता—पतिरस्या अस्तीति तां भर्तृमतीं—जीवद्भर्तृकाम्, सतीं—साध्वीमपि, अपीति विरोधे, अन्यथा—असतीत्वेनेत्यर्थः, विशङ्कते—विशेषेण शङ्कते, अवश्यकवास्तव्यभर्तृगेहानाश्रयणादिति भावः, अत्रानौचित्यपरिहाराय कविना दोषादिपदत्यागेनान्यथापदमुपा-

आप ही लोग सांसारिक बातें जानते हैं ?

सधवा स्त्री चाहे कितनी सती क्यों न हो, लेकिन वह यदि हमेशा अपने पिता ही के घर रहे तो संसार उसे अवश्य दूसरे रूप में देखेगा । इसलिये अपने पति को वह प्रिय हो

राजा—किमत्रभवती मया परिणीतपूर्वा ? (१)

शकु—[सविषादमात्मगतम्] हृदय ! साम्प्रतं संवृत्ता ते आशङ्का (२)।

(हिअअ ! सम्पदं सम्वुत्ता दे आसङ्का ।)

क्रम् । अतः-अस्मात् कारणात्, स्वबन्धुभिः-प्रमदायाः पित्राद्यात्मीयजनैः, प्रिया-मनोहारिणी अप्रिया-अमनोहरा वा, परिणेतुरिति शेषः, प्रकृष्टो मदो यस्याः सा प्रमदा-युवतिः, अनेन चापत्यस्य सम्भावना सूच्यते, वार्द्धके स्त्रियाः पितृगृहावस्थानेऽपि दोषाशङ्काऽसम्भवात् स्त्रीसामान्यवाचकपदमपहाय प्रमदेति विशिष्य निर्दिष्टम्, परिणेतुः-वोढुः पत्युरिति यावत्, समीपे-निकटेऽवस्थानायेति शेषः, इष्यते-वाञ्छ्यते ।

तथा चायमेव लोकवृत्तान्तोऽत्र भवन्त एव विशेषणाभिज्ञा अत एव लोकापवादभीरुणा गुरुणा त्वयोपेक्षिता साध्वी भवतो धर्मपत्नीयं भवत्समीपं प्रापिता तदिदानीं प्रतिगृह्यतां सहधर्माचरणायेति भावः । मतिर्भावः ।

अत्राप्रस्तुतात् प्रमदासामान्यात्प्रस्तुतस्य शकुन्तलारूपप्रमदाविशेषस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । सतीमपीत्यत्रासतीविषये का कथेत्यर्थान्तरापतनादर्थापत्तिरपि ।

अत्र किमिदमुपन्यस्तमिति राज्ञा कथितविषयस्योपालम्भरूपेणानेकधोत्कीर्त्तनादर्थविशेषणं नाम नाट्यालंकारः । यथाह दर्पणे विश्वनाथः—

'उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्त्तनमनेकधा ।
उपालम्भस्वरूपेण तत् स्यादर्थविशेषणम्' ॥ इति ॥

वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ १८ ॥

(१) राजेति । अथ राजा शार्ङ्गरवस्य 'भवत्परिणीतेयम्' इति दृढवचनमाकर्ण्यापि मुनिशापाद्विस्मृतपरिणयव्यापारः स्वस्य शकुन्तलास्वीकरणविषये पुनः पृच्छति;-किमिति । अत्रभवती-मुनिकन्यात्वेन मान्या शकुन्तला, परिणीतपूर्वा-पूर्वं परिणीता, कृतोद्वाहेति यावत्, किमिति प्रश्ने । तथा च भवद्भिर्लोकवृत्तान्तकथनेनात्रभवती शकुन्तला मया परिणीतपूर्वैवेति सिद्धत्वेन ख्याप्यते परन्तु विमर्शदशायां तत्प्रकारस्तु मम मनसि किञ्चिदपि न स्फुरतीत्यर्थः । अत्र राजगतचिन्ताऽभिव्यज्यते ।

(२) शकु इति । सविषादं-सखेदम् । साम्प्रतम्-आर्यपुत्र एवं वदति सतीत्यर्थः, आशङ्का-प्रत्याख्यानभयम्, संवृत्ता-उपस्थिता । संशये एककोटिकनिश्चय-

---

या अप्रिय हो क्यों न हो, फिर भी उसके माता-पिता उसके स्वामी के घर ही रखने की इच्छा करेंगे ॥ १८ ॥

(१) राजा—क्या मैंने कभी श्रीमती (शकुन्तला) के साथ विवाह किया है ।

(२) शकुन्तला—(विषादसहित स्वगत) हृदय ! तुम्हारी आशंका अब उपस्थित हुई ।

शार्ङ्ग—किं कृतकार्यद्वेषाद् धर्मं प्रति विमुखतोचिता राज्ञः। (१) ?

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रसङ्गः (२) ?

शार्ङ्ग—[सक्रोधम्।] (३)

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तानाम् ॥ १९ ॥

स्वोत्तरकाले आवश्यकत्वादपरिणीतत्वनिश्चये प्रत्याख्यानाय च सुतरां निश्चयादिति भावः।

(१) शार्ङ्ग इति। अथ शार्ङ्गरवः 'किं चे'त्यादिवचनेन राज्ञः शकुन्तलायां वैमुख्यमस्तीत्यवगम्य सरोषं भर्त्संयन्नाह;–किमिति। कृते–स्वयमेवानुष्ठिते पित्रादेरननुमतावपीति भावः। कार्ये–शकुन्तलापरिणयरूपव्यापारे द्वेषात्–केनापि कारणेन 'मया नैतत्साधु कृतम्' इत्यविहिताचारतया सम्यगवधारणात्, धर्मं प्रति–धर्माचरणं प्रति, विमुखता–परिणयानङ्गीकाराद पराङ्मुखता किं ? राज्ञः–धर्मनियन्तुरित्याशयः, उचिता–युक्ता, कथमपि नेत्यर्थः। तथा च वर्णाश्रमधर्मपालयितू राज्ञस्तवेष्टत्वेन कृतस्य शकुन्तलापरिणयरूपकार्यस्य केनापि कारणेन पश्चाद् द्विष्टत्वबुद्ध्या पुनस्तदनङ्गीकारे 'शकुन्तलाया महती दुर्दशा समापतत्' इति तत्प्रत्याख्यानरूपं धर्मवैमुख्यं सर्वं दैवानुचितमिति भावः। इदमेकस्य श्लोकस्य पूर्वार्द्धम्; परार्द्धं राजवाक्यानन्तरं वक्ष्यते। अत्र राज्ञो दोषप्रख्यापनाद् विमर्शसन्धेरपवादो नामाङ्गमुपन्यस्तम्। यदुक्तं दर्पणे;–'दोषप्रख्यापवादः स्यात्' इति ॥

(२) राजेति। अथ राजा तदुक्तमसहमानो मध्ये पृच्छति;–कुत इति। असती–मिथ्याभूता या कल्पना–कृतकार्यद्वेषाद् धर्मं प्रति मम विमुखत्वोद्भावना तस्याः प्रसङ्गः–प्रसक्तिः, कुतः–कस्माद् भवतीति शेषः, कृतकार्यद्वेषादीन्मय्यारोप्य कुत एवं पृच्छयत इत्यर्थः। तथा च मम सर्वदैव धर्मं प्रत्युन्मुखत्वात् मिथ्याभूतमेतन्मयि कदापि न सम्भवतीति भवतामिदमनुचितमिति भावः।

(३) शार्ङ्ग इति। सक्रोधेन–क्रोधेन सहेत्यर्थः। वारं वारं प्रबोधितस्यापि शापवशाद् राज्ञोऽननुस्मरणात् शार्ङ्गरवस्य क्रोधः।

अथ नेयमसत्कल्पनेत्याह;मूर्च्छन्तीति। ऐश्वर्येण–धनादिवैभवेन मत्तानां–गर्वितानां जनानाम्, प्रायेण–सामान्यतः, अमी–कृतकार्यद्वेषादिरूपाः विकारा–स्वभाव

---

(१) शार्ङ्गरव—किये हुए कार्य के प्रति द्वेषवश धर्म से इस प्रकार आपका विमुख होना क्या ठीक है ?

(२) राजा—इस दूषित कल्पना का प्रसंग ही कैसे उपस्थित हुआ ?

(३) शार्ङ्गरव—(क्रोध के साथ ,—

धन के मद से मत्त लोगों के हृदय में यह विकार प्रायः वृद्धि को प्राप्त होता ही रहता है ॥ १९ ॥

राजा—विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि (१)।

गौत—[शकुन्तलां प्रति] जाते ! मुहूर्त्तकं मा लज्जस्व, अपनेष्यामि तावत्ते अवगुण्ठनम्, ततो भर्त्ता त्वामभिज्ञास्यति । [इति तथा करोति] (२) (जादे ! मुहुत्तअं मा लज्ज, अवणइस्सन्दाव दे अवगुण्ठणं, तदा भट्टा तुमं अहिजाणिस्सदि ।)

परिवृत्तयः, 'स्वरूपादन्यथात्वं विकारः' इति श्रीपतिः, मूर्च्छन्ति—उच्छ्रयन्ति; वर्द्धन्त इत्यर्थः। 'मूर्च्छा मोह उच्छ्रये' इति कविकल्पद्रुमः । तथा च 'तवैश्वर्यमत्तत्वेनैव स्वभावपरिवृत्तिः संजाता' अन्यथा कथं वा स्वयंकृतपरिणयेऽपि सन्देहः स्यादिति भावः । अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । अप्रस्तुतैश्वर्यमत्तसामान्यात् प्रस्तुतैश्वर्यमत्तविशेषदुष्यन्तप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा चेति केचित् । तथात्र रोषपूर्वकभाषणात् सम्फेटो नाम विमर्शसन्धेरङ्गमुपन्यस्तम् । तल्लक्षणम् यथा दर्पणे—'सम्फेटो रोषभाषणम्' इति । इयमार्या जातिः ॥ १९ ॥

(१) राजेति । विशेषेण—अतिशयेन, अधिक्षिप्तः—तिरस्कृतोऽस्मि, भवतेति शेषः, ऐश्वर्यमत्तत्ववचनादिति भावः । अत्र दैन्यं भावः । सामर्थ्ये सत्यपि तापससंमानरक्षायै राज्ञस्तत्कृततथाविधाधिक्षेपजनितापमानसहनात् विमर्शसन्धेरिह छादनं नामाङ्गमुपन्यस्तम् । तल्लक्षणं यथा—

'तदाहुश्छादनं पुनः ।
कार्यार्थमपमानादेः, सहनं खलु यद्भवेत् ।' इति साहित्यदर्पणे ।

(२) गौतेति । अथ गौतमी स्त्रीस्वभावत्वेन मुग्धतया तदानीं राज्ञोऽज्ञानेऽवगुण्ठनस्य कारणत्वं सम्भाव्य तदुन्मोचने राजानं प्रत्याययितुमारभते—जाते इति । मुहूर्त्तं—क्षणकालम्. मा लज्जस्व—लज्जामपनय । अवगुण्ठनं—वक्त्रावरणम्, अपनेष्यामि—अपसारयामि । भर्त्ता—स्वामी दुष्यन्तः, अभिज्ञास्यति—सेयमिति परिचयं प्राप्स्यति; तव मुखदर्शनादिति भावः । गौतमीमुखेनेदृशमवगुण्ठनोत्तोलनरूपस्त्रीबुद्धिप्रसरावधिवर्णनं महाकवेः कालिदासस्य रचनाकौशलं प्रकटयतीति सहृदयैर्मन्तव्यम् ।

तथाकरोति—अवगुण्ठनमपसारयति । इत आरभ्य षष्ठाङ्कसमाप्तिं यावत् विमर्शसन्धिनिर्दिष्ट इति राघवभट्टादेर्मतम् ।

---

(१) राजा—मैं अधिक तिरस्कृत हो चुका ।

(२) गौतमी—(शकुन्तला के प्रति) पुत्री ! थोड़ी देर के लिए लज्जा त्याग दे, मैं तेरा घूंघट उठाऊंगी । तब तो तेरा पति तुझे पहचानेगा ।

राजा—[शकुन्तलां निर्वर्ण्य स्वगतम्] (१)—

इदमुपनतमेवंरूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन् ।
भ्रमर इव निशान्ते कुन्दमन्तस्तुषारं
न खलु सपदि भोक्तुं नापि शक्नोमि मोक्तुम् ॥ २० ॥

(१) राजेति । निर्वर्ण्य—दर्शनसन्तर्पणात् सविशेषं विलोक्य । त्रिजगल्ललामभूतायाः शकुन्तलायाः सौन्दर्यधारायां प्लावितनेत्रयुगलो भूपतिः स्थायिनोऽनुरागस्य क्षणमुदयात् झटिति संजातविक्रियः सन्नपि शापवशात् सम्यग् निश्चेतुमशक्ततया संशयदोलामध्यारूढो विमृशति–इदमिति । एवम्—अप्रयत्नेनैवेत्यर्थः, उपनतं—समीपे उपस्थितम्, अक्लिष्टा—अम्लाना कान्तिः—शोभा यस्य तथाभूतम्; अनेन प्रथमयौवनशालित्वेन रूपस्य हृदयङ्गमत्वं द्योत्यते; इदं ह्यनाशक्तौ हेतुः, इदं—पुरोवर्ति, रूप—रमणीमूर्तिः, प्रथमं—प्राक्, परिगृहीतं–गान्धर्वविधिना मया परिणीतं स्यात्, न वा—न परिगृहीतम्, इति–अस्मिन् विषये, अव्यवस्यन्—एकतरकोटिं निश्चेतुं व्यवस्यन् अहम्, निशान्ते—उषावसाने, अन्तः—मध्ये तुषारः—नीहारो यस्य तदन्तस्तुषारम्, प्रकृतेऽत्र शापस्य तुषारस्थानीयत्वेनाच्छादकत्वमिति बोध्यम्, एतेन रूपपदशक्त्योपस्थिता रमणीमूर्तिरपि अन्तःसत्त्वेति ध्वनितम्, तुषारस्पर्शो हि भ्रमरस्यासह्य इति सपदि भोग्यत्याभावे हेतुस्तथा निशान्त इति चान्तस्तुषारत्वेऽपि; किञ्च निशान्त इत्युक्तेर्यथा तदनन्तरं रविकिरणैर्हिमे नीते मकरन्दभोगोऽवश्यभव्यस्तथा इहाप्यभिज्ञानदर्शनेन शापे गते शकुन्तलास्वीकारोऽवश्यं भविष्यतीति रतेः स्थायित्वदार्ढ्यं व्यज्यते; क्वचित् 'निशान्ते' इत्यत्र 'विभाते' इति पाठः, तत्र—स एवार्थः, कुन्दं—तदाख्यं कुसुमम्, कुन्दमिति विशिष्टमकरन्दादिशालीत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम्, भ्रमरः—द्विरेफ इव, भ्रमर इति रसास्वादैकतत्परतां द्योतयति, सपदि–सहसा, भोक्तुं–सेवितुम्, न खलु—नैव शक्नोमि, राजपक्षे शकुन्तलायाः स्वकीयपरकीयत्वसन्देहात् परकीयत्वस्य भोगे प्रत्यवायापादकत्वात्, भ्रमरपक्षे कुन्दस्यान्तस्तुषारत्वेन स्पष्टतयाकृतेरपरिज्ञानात्तुषारस्य च भ्रमरस्यासह्यत्वादिति भावः, मोक्तुं–परित्यक्तुमपि, न शक्नोमि, अत्रापि राजपक्षे परमसुखास्पद-

(१) राजा—(शकुन्तला को देखकर मन ही मन) जिसके अन्दर तुषार भरा हुआ है, ऐसे कुन्द के फूल को प्रातःकाल जैसे कि भौंरा न तो भोग सकता अर्थात्—रस ले सकता और न त्याग ही सकता है । ठीक इसी तरह यह सुकुमार सौन्दर्यराशि अपने आप आ उपस्थित हुई है, उसको मैंने अपनाया है या नहीं ऐसे संशय में पड़ कर मैं न तो एकाएक इसका उपभोग कर सकता हूँ और न त्याग ही सकता हूँ ॥ २० ॥

[इति विचारयन् स्थितः (१) ।]

प्रती—[स्वगतम् ।] अहो ! धर्मावेक्षिणो भर्त्तारः । ईदृशं नाम सुखोपनतं स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति (२) । [अन्मो ! धम्मावेक्खिणो भट्टिणो । ईदिसं णाम सुहोवणदं इत्थीरअणं पेक्खिअ को अण्णो विआरेदि ।]

शार्ङ्ग—भो राजन् ! किमिति जोषमास्यते ? (३)

स्वेनात्मनः परिगृहीतत्वेन पश्चादस्वीकारे नरकपातस्यावश्यम्भावात् अमरपक्षे पूर्ववदेव दर्शनेन मधुपानेच्छायाः प्रबलमुदयादिति भावः ।

अत्र श्रौतोपमालङ्कारेण सन्देहालङ्कारः सङ्कीर्यते, अनुप्रासश्च । अत्र च संशयोट्टङ्कनात् संशयनामकं नाटकलक्षणमुपक्षिप्तम् ; तल्लक्षणन्तु :—

'अनिश्चयान्तं यद्वाक्यं संशयः स निगद्यते' इति ।

इह च श्रृङ्गारव्यभिचारिण औत्सुक्यस्य स्वीकारे धर्महानिशङ्कास्फुरणाद्धीरव्यभिचारिण्याः शङ्कायाश्च सङ्करो भावः । मालिनी नाम वृत्तम् ॥ २० ॥

(१) इतीति । विचारयन्—'प्रथमम् परिगृहीतं स्यान्न वे'ति शकुन्तलासम्बन्धे वितर्कयन् । एतेन कर्त्तव्यविमूढत्वं द्योत्यते ।

(२) प्रतीति । अथ प्रतिहारी राजानं तदवस्थमवलोक्य सविस्मयं प्रशंसति;—अहो इति । अहो इति विस्मये । धर्ममवेक्षन्ते—सर्वथा पालनीयत्वेन धर्मं पश्यन्तीति धर्मं प्रति जाग्रतीति वा धर्मावेक्षिणः; भर्त्तारः—राजानः । 'अवेक्षा प्रतिजागरः' इत्यमरः । कुत इत्यत्राह;—ईदृशमिति । ईदृशं—परमरमणीयमिति भावः, सुखेन—अप्रयत्नेन उपनतम्—उपगतम्; यत्नसाध्ये तु कथञ्चिद् विचारः स्यादिति भावः, स्त्रीरत्नमिव स्त्रीरत्नम्, उत्कृष्टस्त्रियमित्यर्थः, 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नम्' इति यादवः, प्रेक्ष्य—अवेक्ष्य, अन्यः—भर्तृभिन्नो जनः, विचारयति—'गृह्णामि वा न वे'ति विमृशति ?' न कोऽपीत्यर्थः ।

प्रतीहारी खलु यादृशी बुद्धिमती भवति तदनुरूपैव तस्या भावनेति प्रतीहारीमुखेनेदृशप्रस्तावनावर्णनं युक्तमेवेति सहृदयैः समालोचनीयम् ।

(३) शार्ङ्ग इति । अथ राज्ञस्तथावस्थितिसहमानः शार्ङ्गरवः पृच्छति;—भो इत्यादि । भो इति अनादरसम्बोधने । जोषं—तूष्णीम्, मौनमिति यावत्, 'तूष्णीमर्थे सुखे जोषम्' इत्यमरः, आस्यते—उपविश्यते ।

---

(१) [ऐसा चुपचाप विचारता रह जाता है ।]

(२) प्रतीहारी—(स्वगत) स्वामी भी कितने धर्मापेक्षी हैं ! यदि ऐसा न होता तो अनायास उपस्थित इस प्रकार के स्त्रीरत्न को पाकर कौन आनाकानी करता ?

(३) शार्ङ्गरव—राजन् ! आप चुप क्यों हैं ?

राजा--भोस्तपस्विनः ! चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि, तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणामात्मानमक्षत्रियं मन्यमानः प्रतिपत्स्ये ? (१)

शकु--[स्वगतम्] हा धिक् हा धिक् ! कथं परिणय एव सन्देहः। भग्ना इदानीं दुरारोहिणी आशालता (२)। (हद्धी हद्धी। कधं परिणए ज्जेव

(१) राजेति। अथ राजा प्रथममनुरागस्य क्षणमुदयात् तद्बलेन परिणयविषये संशयकोटौ पतितः पश्चात् शार्ङ्गरवस्य पूर्वोक्तवचनमाकर्ण्य ततोऽपि प्रच्युतः सन्नाह;-भो इति। चिन्तयन्-विचारयन् अत्रभवत्याः मुनिकन्यात्वेन पूजनीयायाः शकुन्तलायाः, स्वीकरणं—केनापि विधिना परिणयनम्, न खलु स्मरामि। ननु अपरिगृहीता अपि नाना स्त्रियो राज्ञां सन्तीति तेन रूपेणापि शकुन्तला गृह्यतामित्यत्राह;—तदिति। अभिव्यक्तं स्पष्टमनुभूयमानं सत्त्वस्य—गर्भस्य लक्षणं-कपोलपाण्डिमजठरोच्चैस्तरत्वचूचुकनीलिमादि यस्यास्तथोक्ताम्। इमां—शकुन्तलाम्। तथा चाभिव्यक्तगर्भलक्षणत्वात् पुरुषान्तरसहयोगस्यानुमितत्वात् परपत्नीत्वे सिद्धे कथमस्याः परिग्रहः सम्भवेत् ? इति भावः। अक्षत्रियं-क्षत्रियजातीतरं राजवंशबहिर्भूतमित्यर्थः, आत्मानं मन्यमानः—जानन्। तथा च गर्भलक्षणेन पुरुषान्तरसहयोगस्य तेन च अस्याः परदारत्वस्य च निश्चितत्वेऽपि परिग्रहे धर्मविध्वंसादात्मनः क्षत्रियत्वस्य व्याघातः स्यादिति भावः। प्रतिपत्स्ये-अङ्गीकरिष्ये ?, कथमपि नेत्यर्थः। एतेन राज्ञो धर्मभीरुत्वं तेन च समुत्कर्षातिशयोऽपि ध्वन्यते।

(२) शकु इति। अथ शकुन्तलां भर्तुर्वज्रलेपवचनमाकर्ण्य मनसा विषादं प्रतनयति;-हा धिगिति। इदं विषादस्य चरमभावं सूचयति। परिणये-विवाहे एव, विस्तृतव्यापाररूपे तथाविधगान्धर्वविवाहे एवेत्यर्थः, का कथा प्रत्यभिज्ञाने इति भावः, सन्देहः-संशयः, आर्यपुत्रस्येति शेषः। दूरम्—अतिभूमिम् आरोहतीति दूरारोहिणी—अतिविततेत्यर्थः, 'परिग्रहबहुत्वेपी'त्याद्युक्तविषयेति यावत्, आशैव लतेत्याशालता-राजसदनमासाद्य चक्रवर्तिनं तनयं प्रसूय राजमहिषी भूत्वा चैवमेवं

(१) राजा—तपस्वियो ! बार बार विचार करके भी मैं इस बात का स्मरण नहीं कर पाता कि मैंने कभी इसका पाणिग्रहण किया है। तब फिर मैं अपने को क्षत्रिय न मानकर ऐसा स्त्री को कैसे स्वीकार कर सकता हूँ कि जिसके गर्भवती होने का लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है ?

(२) शकुन्तला—(स्वगत) हाय हाय ! तो क्या परिग्रहण ही में सन्देह है। तब तो मेरी आशालता नष्ट ही हो चुकी।

सन्देहो । भग्गा दाणिं दूरारोहिणी आसालदा !)



शार्ङ्गरवः—मा तावत् (१) ।

कृतावमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।

प्रकारेण सुखमनुभविष्यामीति वासनारूपा लता, भग्ना विच्छिन्ना, भर्तुर्वचनलेप-वचनेन समूलमुत्पाटितत्वादिति भावः, तथा च परिणये एव सन्देहे प्रत्याख्यान-स्यैव प्रौढ्यागमम सुखभोगाशेदानीं सर्वथैव विनष्टेति निष्कृष्टार्थः। अत्र रूपका-लङ्कारः। 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते' इति लक्षणात्।

(१) शार्ङ्गेति। राज्ञस्तद्वचनमाकर्ण्य क्रुद्धो भूत्वा प्राह—मा तावदिति। मा तावदिति वैपरीत्ये, विपरीतमिदमित्यर्थः। तत्किमित्यत्राहाग्रे—कृतेति। तथा मुनिकर्तृकस्य त्वत्कर्मकस्य चात्र अवमाननस्य सम्भावना न तु त्वत्कर्तृकस्य; त्वं खलु कृतावमर्शादपराद्धः; तस्माद्विपरीतमेतदिति तात्पर्यम्। यद्वा मा न; भवतु स्मरणमिति शेषः; तावत्—तद्वा, त्वया मुनिर्विमान्य इति श्लोकीयेनान्वयः, अथवा तावदित्यवधारणे मेति वारणे च अस्य श्लोकीयेन 'विमान्य' इत्यनेन सम्बन्धः। तावदर्थमाहामरसिंहः—'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इति।

कृतावमर्शामिति। कृतः त्वयैव विहितः अवमर्शः—बलात् स्पर्शः स्पर्शादिलक्षणं सुरतं यस्याः तादृशीम्, अनेनास्य महापराधित्वं सूच्यते, सुतां—दुहितरं शकुन्त-लाम्, अनुमन्यमानः—क्रोधादिकमं कृत्वैवानुमोदमानः, मुनिः—तपोधनः कण्वः, एतेनैवं सापराधेऽपि त्वयि मुनित्वेन तस्य सहजकृपालुतया तादृशी कृपा युज्यत इति ध्वन्यते; यद्वा अनुमन्यमानः—परिग्रहीतुगामिन्येव भवत्वित्यनुज्ञाय त्वत्समीपं प्रापयन् मुनिः कण्व इत्यर्थः, त्वया—ईदृशापराधं कृत्वा तस्य स्मरणमप्यकुर्वतेत्यर्थः, विमान्यः—अवमाननीयः, नामेत्यसम्भावनायाम्, इदं विमाननस्यासम्भाव्यत्वं सूचयति, तथा च मुनिकर्तृकस्य त्वत्कर्मकस्य च विमाननस्यात्र सम्भाव्यपरत्वं न किन्तु त्वत्कर्तृकस्य मुनिकर्मकस्येति विपरीतमेतदिति भावः। यद्वा मुनिः—कण्वः त्वया नाम विमान्यः-अवहमाननीयः; नामेति क्रोधे 'नाम प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपग-मकुत्सने' इत्यमरः, तथा च मुनेरवमाननं तवोचितमेवेति भावः। अथवा मुनिः—कण्वः त्वया मा तावद् विमान्यः—शकुन्तलाप्रत्याख्यानेन नैव अवमाननीयः। यद्वा मुनिः—कण्वः मा न विमान्यः—अवमाननीयः ? काका विमान्य एवेत्यर्थः, नामेति क्रोधे, तेन सुताभिमर्शलक्षणोऽपराधः सोढः विमाननालक्षणस्तु न सोढव्य इति वृन्द उक्तस्तेन सूक्ष्मालङ्कारः। राघवभट्टास्तु—'केचित्तु निषेधमेव विधेयत्वेन मन्यन्ते तन्न

(१) शार्ङ्गरव—आपने इस कन्या का स्पर्श किया है और महर्षि कण्व ने इस बात की सराहना की है। इसलिए आप उनका अपमान न करें। (यह तो वैसे ही हुआ कि

मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥ २१ ॥

शारद्वतः—शार्ङ्गरव ! विरम त्वमिदानीम् । शकुन्तले ! वक्तव्यमुक्तम स्माभिः, सोऽयमत्रभवानेवमाह, दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम् (१) ।

समीचीनम्; निषेधनियोगस्य मध्यस्थेन राजकीयेन वा वक्तुमुचितत्वात् न मुनिप क्षीयैः' इत्याहुः । मुष्टं—चोरितम्, स्वं—स्वीयम्, अर्थं—सुवर्णादि धनम्, पुनर्लब्धमित्यर्थः, प्रतिग्राहयता—कस्मैचित् प्रत्यर्पयता, येन—मुनिना, दस्युः—तस्कर इव, पात्रीकृतोऽसि—त्वं सम्प्रदानीकृतः' असि । तथा च अपराधिन्यपि अनुग्रहेच्छोर्विमाननस्यात्यन्तासङ्गतत्वमित्यत एनां स्वीकृत्य मुनिं सम्मानयेति भावः । किञ्च मुनेरनुमतिमगृहीत्वैव तदीयां कन्यां शकुन्तलां निर्जने गान्धर्वविधानेन परिणयन्नपि तवज्ञात्वात्मानुमत्यभावेऽपि विनापि रोषेण येन मुनिना एवं तादृशपरिणयेऽगतिकप्रीत्या वरीकृतोऽसि; तादृशसरलचेतसस्तस्य मुनेर्दुहितुः प्रत्याख्यानेन त्वया विमाननकरणमतीवासङ्गतमिति तदनुरोधप्रत्याख्यानेन स च मुनिः कथमपि नावमाननीय इति सरलार्थः । किञ्च यथा केनचित्तस्करेण कस्यचित्किञ्चिद्धनं चोरितं धनस्वामिना तु पुनस्तद्धनं प्राप्य यथा तस्मै तस्करायैव दीयते; तथा त्वया निर्जने गान्धर्वविधिना गृहीतां स्वदुहितरं प्राप्य यः खलु मनिः पुनस्तुभ्यमेव दानार्थं प्रेषितवान् तादृश उदारचेता मुनिस्त्वया तद्दानप्रत्याख्यानेन नैवावमाननीयः, परन्तु समादरपूर्वकतद्ग्रहणेन सम्माननीय एव; नो चेत् सः कुपितस्तव दण्डं विधास्यतीति सूक्ष्मार्थः । अत एवात्र सूक्ष्मालङ्कारः । उपमया दुष्यन्तस्य दस्युवन्निकृष्टत्वं व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।

प्रधानतोऽत्र श्रौतोपमालङ्कारः, निरुक्तसूक्ष्मार्थस्येङ्गितेन संलक्षणात् सूक्ष्मालंकारोऽपि एवमपराधिनः कन्यादानेन सन्तोषार्थं प्रवृत्तस्य स च सन्तोषो नास्ति परन्तु विमाननालक्षणानर्थोत्पत्तिरित्यतो विषमालङ्कारोऽपि । विषमसूक्ष्माभ्यामुपमा सङ्कीर्यत इति स्पष्टम् । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोस्तृतीयोपजातिः ॥ २२ ॥

(१) शारेति । अथ शारद्वत एतयोर्वाक्प्रपञ्चं विफलमाकलयन् संक्षेपेण पर्यवसितमाह—शार्ङ्गरवेत्यादि । विरम—वचनान्निवर्तस्व, राज्ञो निर्बन्धो इष्टस्तदलं वाग्व्ययेनेत्यर्थः । शकुन्तलां प्रत्याह—शकुन्तले इति । वक्तव्यं—स्वत्सम्बन्धे यत्कथ-

---

जैसे कोई किसी का अपना धन चुराले जाय और धनवाला चोर को गिरफ्तार करके भी उस चोर को सब धन दे दे) ठीक इसी तरह आपने उनकी कन्या को परोक्ष में ग्रहण किया और यह समाचार सुनकर भी उन्होंने आप ही को इस कन्या के योग्य वर समझा ॥ २२ ॥

(१) शारद्वत—शार्ङ्गरव ! अब तुम चुप रहो । शकुंतला ! हमलोगों का जो कहना था

शकु—[स्वगतम्] इदमवस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन; अथवा आत्मेदानीं मे शोधनीयो भवतु; इति किञ्चिद्वदिष्यामि । [प्रकाशम्] आर्य्यपुत्र ! [इत्यर्द्धोक्ते] अथवा संशयित इदानीमेष समुदाचारः । पौरव ! युक्तं नाम तव पुरा आश्रमपदे सद्भावोत्तानहृदयमिमं जनं तथा समयपूर्वकं सम्भाव्य साम्प्रतमीदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम् (१) ।
(इमं अवत्थन्तरं गदे तादिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण । अधवा अत्ता-दाणिं मे सोधणीओ होदु त्ति किञ्चिवदिस्सं । अज्जउत्त ! अधवा संसइदो

नीयम्, उक्तं-तत्सर्वं कथितम् । अत्रभवान्-राजत्वेन मान्यः, सोऽयं-यमुद्दिश्योक्तः स राजा दुष्यन्त इत्यर्थः, एवं-भवत्याः श्रुतरूपमित्यर्थः, आह-ब्रवीति । अस्मै-राज्ञे, प्रत्ययजनकं-विश्वासजनकं प्रतिवचनम्-उत्तरमिति प्रत्ययप्रतिवचनम्, मध्यमपदलोपी समासः । अत्र नेदानीं साधनान्तरं पश्यामः; केवलं त्वदुक्तिमात्रमवशिष्यत इति भावः ।

(१) शकु इति । स्वगतम्—अनतिप्रकाशम् । शोच्यास्मीति स्वयं विमृशति-इदमित्यादि । तादृशे-पूर्वानुभूते अनिर्वचनीये इत्यर्थः, अनुरागे-परिणयकालीनस्नेहे, इदमवस्थान्तरं—वैपरीत्यदशाम्, विलोपावस्थामित्यर्थः, गते प्राप्ते सति, स्मारितेन परिणयस्मरणोत्पादनायासेन, किं वा फलं—किञ्चिदपि नेत्यर्थः । राज्ञः स्मरणं हि प्रत्ययप्रतिवचनस्य फलं तस्यानुरागाभावे केवलस्मृतेरकिञ्चित्करत्वादात्मनः शोच्यतैव निश्चितेत्यतो विराम एव श्लाघ्य इति भावः । अत्र निर्वेदादयो भावाः । पक्षान्तरमाह-अथ वेति । आत्मा-स्वजीवात्मा, शोधनीयः-निष्पापीकरणीयः, राजानमुद्दिश्य मत्कर्तृकविश्वासजनकोत्तरप्रदानेन निर्दोषीकरणीय इत्यर्थः, अन्यथा यदि राज्ञा त्वमूढा तदा त्वया कथं तदानीं किञ्चिद्विश्वासजनकमुत्तरं न कृतमिति लोका भणिष्यन्तीति भावः, यद्वा यदि मत्कृतविश्वासजनकोत्तरेणापि कदाचिद्राजा मां स्मरेदिति पश्चादात्मग्लानिर्भवेदिति भावः, यद्वा मत्कृतेन प्रत्ययप्रतिवचनेनापि राज्ञा प्रत्याख्याने झटिति अनिर्वचनीयदुःखोदयसम्भवात् तत एव च पापक्षयस्य भावित्वादिति भावः, तदुक्तमभियुक्तैः—'प्रारब्धकर्मणां भोग एव तत्क्षयकारणम्' इति । इति

कह चुके और उसे सुनकर महाराज ऐसा कहते हैं। इसलिए अब तुम्हीं इनको विश्वासजनक उत्तर दो।

(१) शकुन्तला—(स्वगत) जब कि अटूट अनुराग इस (विपरीत) अवस्था को आ पहुँचा है, तब स्मरण दिलाने से क्या लाभ ! अथवा इस समय मेरी आत्मा शुद्ध हो जाय, इसलिए मैं कुछ कहूँगी। (प्रकट) आर्यपुत्र ! (यह आधा वाक्य कहकर) अथवा

दार्णि एसो समुदाचारो। पोरव ! जुत्तं णाम तुह पुरा अस्समपदे सब्भावुत्ताण-हिअअं इमं जणं तधा समअपुब्वअं सम्भाविअ सम्पदं ईदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चाक्खदुं।)

राजा—[कर्णौ पिधाय] शान्तं शान्तम् (१)

हेतोः, किञ्चिद्वदिष्यामि; प्रत्ययोत्पादनायेति भावः।

आर्यपुत्र ! इति भर्तृसम्बोधनपदम् ; इतः परं 'युक्तं नाम' इत्यादिपदकदम्बक-मन्तरस्तीत्यत उक्तम्—इत्यर्द्धोक्ते इति। इदानीं—परिणयानङ्गीकरणकाले, एषः—आर्यपुत्रपदप्रयोज्यः, समुदाचारः—व्यवहारः, आर्यपुत्रेति सम्बोध्यः पतिः पत्नी-जनेन वा' इति भरतवचनात्, संशयितः—मद्विषये संशयापन्नः राज्ञा प्रत्याख्या-नसम्भवादिति भावः, तथा च आर्यपुत्रेति भर्तुः सम्बोधनमेव तद् यदि भर्त्तर्येव सन्देहः तर्हि सम्बोधनमपि संशयितमित्याशयः। अत एव यथोचितं निःसंशय-सद्भावोत्तानहृदयं—सद्भावेन तव सद्व्यवहारेण प्रणयातिशयेनेति यावत् उत्तानं—विपर्यस्तगाम्भीर्यं हृदयं यस्य तम्, 'निम्नं गभीरं गम्भीरमुत्तानं तद्विपर्यये' इत्यमरः, इमं जनं—मामित्यर्थः, एतेनात्मनोऽतिमुग्धत्वं तेन च परवञ्चनानभिज्ञत्वं परात्मजनविवेकशून्यत्वं ध्वन्यते, तथा—तादृशेन 'एकैकमत्र दिवसे' इत्यादिवचय माणेन परिग्रहबहुत्वेऽपि इत्याद्युक्तेन वा वाक्येनेति यावत्, समयपूर्वकं—प्रतिज्ञा-पूर्वकम्, सम्भाव्य—आश्वास्य, साम्प्रतम्—अधुना, ईदृशैः—'न खलु चिन्तयन्नपि स्वीकरणमत्र भवत्याः स्मरामि' इत्यादिरूपैः अक्षरैः—वर्णैः, अत्र 'अक्षरैः' इत्यनेन प्रत्याख्यानं वाङ्मात्रेणैव न तु तत्त्वतः अग्रे परिग्रहस्य वक्ष्यमाणत्वादिति कवेरभि-प्रायः, तेन च स्थायिनी रतिर्ध्वन्यते, प्रत्याख्यातुं—निराकर्तुम्, तव युक्तम्—उचितं नाम, नैव युक्तमित्यर्थः, अयमर्थो विपरीतलक्षणया बोध्यः। नामेति कुत्सायाम्। तथा च पुरुवंशे जातस्य तवेदं महदनुचितमिति विचार्येमं जनं मा निराकुरुष्वेति भावः।

(१) राजेति। अथ राजा शकुन्तलावचनेन 'कुटिलेयं काऽपि स्वात्मन-श्चातुर्यं प्रकटयन्ती मां वशमानेतुमभिलष्यति' इति मत्वा तदसहमान आह—शान्तमिति। इदं वारणार्थमव्ययम्, एतादृशं वचनं मा वदेति भावः, 'अव्ययं वारणे

अभी यह व्यवहार ही संदिग्ध हो गया है। पौरव ! उस समय आश्रम में अत्यन्त सौम्य व्यवहार से ऊँची-ऊँची आशाओं से पूर्णहृदय इस व्यक्ति को शपथपूर्वक आश्वासन देकर अब इस तरह साफ इनकार करना क्या आपको उचित मालूम होता है ?

(१) राजा—(दोनों कान ढाँक कर) चुप रहो, चुप रहो !—

व्यपदेशमाविलयितुं समीहसे मां च नाम पातयितुम् ।
कूलङ्कषेव सिन्धुः प्रसन्नमोघं तटतरुञ्च ॥ २ ॥

शकु—भवतु, यदि परमार्थतः परपरिग्रहशङ्किना त्वया एवं प्रवृत्तम्, तदभिज्ञानेन केनापि तव आशङ्कामपनेष्यामि । (१) (भोदु, जइ परमत्थदो

शान्तम्' इति मेदिनी । यद्वा,-शान्तं अलीकम्, मिथ्यैतदिति भावः 'अलीके शान्तमव्ययम्' इति विश्वः, अलीकत्वस्य दार्ढ्याय द्विर्वचनम् । शान्तं पापमिति पाठे;-पापं-मिथ्या वचः शान्तं विरम्यतामिति यावत् । आशंसायां क्तः । अत एवादौ;—कर्णौ पिधायेति वचनं मिथ्योक्तिश्रवणे पापसम्भवादिति बोध्यम् ।

व्यपदेशमिति । कूलं-तटं कषति-भिनत्ति; शातयतीति यावत्; इति कूलङ्कषा तटभङ्गकारिणी, कुलवनितात्वविघातकारिणीति च सूच्यते, इदं कलुषीकरणे तरुपातने च हेतुरिति बोध्यम्, तथोपमानांशे ईदृशं विशेषणमुपमेयांशे व्यपदेशमाविलयितुं माञ्च पातयितुमिति साधर्म्यरचणायेति चावगन्तव्यम्, 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' इति खच्, सिन्धुः-नदी 'सिन्धुः समुद्रे नद्याञ्च नदे देशभेदानयोः' इति विश्वः, प्रसन्नं निर्दोषं स्वच्छं च, ओघं-वारिप्रवाहम्, तटतरुं-तीरस्थवृक्षञ्चैव, प्रसन्नं-निर्दोषम्, व्यपदिश्यते-समाजे कीर्त्यतेऽनेति स तं व्यपदेशं-कुलम्, आविलयितुं-परस्त्रीरक्षणेन कलुषीकर्तुम्, ओघपक्षे;-भज्यमानतीरमृत्तिकासंसर्गेणाविलीकर्तुञ्च, मां क्षत्रियधर्मसेविनं दुष्यन्तञ्च,-पातयितुं-परस्त्रीसंसर्गेण पतितं कर्तुम्, तटतरुपक्षे;-खातमूलमृत्तिकाया जले पतनप्रवणीकर्तुञ्च, नीचा त्वं तु पतितैवेति व्यञ्जितम्, समीहसे-सम्यक् वाञ्छसि । समीहायाश्चेतनधर्मतया सिन्धोश्चाचेतनत्वेन धर्मधर्मिभावात्तदन्वयपक्षे समीहस इत्यत्र व्यापारे लक्षणा कार्या । मया त्वयि स्वीकृतायां मम नरकपातः कुले कलङ्कश्चावश्यं भविष्यतीतीदं ते महदनुचितमिति भावः । अत्र पूर्णोपमालंकारः । यथासंख्यञ्च । असूया मतिश्च भावः । आर्या जातिः ॥ २२ ॥

(१) शकु इति । अथ शकुन्तला सखीसन्दिष्टेनाङ्गुलीयकदर्शनेन राज्ञः शङ्कां परिहर्तुमारभते,-भवत्विति । भवतु-तिष्ठतु तावन्मम वचनमित्यर्थः । यद्वा,-भवतु-मद्वचनमलीकमिति शेषः । अथवा,—भवतु-मद्वचनविरतिरिति शेषः । यद्वा,—भवतु-पूर्यताम्, अनेन दोषप्रख्यापनेनेत्यर्थः । परमार्थतः—याथार्थ्येन,

जैसे कि एक तटभंजनी नदी निर्मल जल-प्रवाह को कलुषित और तट के समीपवर्त्ती वृक्षों को गिराने की चेष्टा करती है, इसी तरह तुम भी मेरे वंश को कलंकित और मुझे पतित बनाना चाहती हो ॥ २२ ॥

(१) शकुन्तला—अच्छा, यदि आप वास्तव में मुझे परस्त्री समझकर ऐसा कहते

परिपरिग्गहसङ्किणा तुए एव्वं पउत्तं, ता अहिण्णाणेण केण वि तुह आसङ्कं अवणइस्सं ।)

राजा—प्रथमः कल्पः (१) ।

शकु—[मुद्रास्थानं परामृश्य] हा धिक् हा धिक् ! अङ्गुरीयकशून्या मे अङ्गुली (२) । (हद्दी हद्दी ! अङ्गुलीअअसूण्णा मे अंगुली ।) [इति सविषादं गौतमीमुखमीक्षते]

गौत—नूनं शक्रावतारे शचीतीर्थोदकं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमङ्गु-(३)

तृतीयानां तसिल्, प्रकृत्यादित्वात्तृतीया च न तु छलत इति भावः, परस्य परिग्रहं-कलत्रं शङ्कते तेन परपरिग्रहशङ्किना-परस्त्रीसन्देहिना; परस्य पत्नीयमिति शङ्काकुलेनेति यावत् 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः। एवम् उक्तविधया, प्रवृत्तम्-उपक्रान्तम्, तत्-तदा, अभिज्ञायते—परिचीयतेऽनेनेति स्वाधीनेन प्रत्ययहेतुनाऽङ्गुलीयकेनेति भावः, आशङ्कां-'त्वयाहं परिणीता न वा ?' इति सन्देहम्, अपनेष्यामि—अपसारयिष्यामि ।

(१) राजेति । प्रथमः-प्रधानः कल्पः=न्यायः, हेतुरिति यावत्, 'कल्पः स्यात् प्रथमे न्याये' इति विश्वः; कुत्रचित् पुस्तके—'उदारः कल्पः' इति पाठः, तत्र;-स एवार्थः महान् विश्वासो वेत्यर्थः । तथा च;—अभिज्ञानप्रदर्शनं मम सन्देहनिराकरणे प्रधानोपाय इति भावः ।

(२) शकु इति । मुद्रास्थानम्—अङ्गुलीयकधारणस्थानम्, अङ्गुलिप्रदेशमित्यर्थः, परामृश्य-स्पृष्ट्वा, स्पर्शनेनाभिनीयेत्यर्थः । हा धिक् हा धिगिति निन्दाखेदयोः 'धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयोः' इत्यमरः, अहो मे दैववैपरीत्यं संजातमिति भावः । यद्वा प्रमादवर्तीं मां निन्दामीत्यर्थः । सविषादं-विषादेन सह, गौतम्याः स्वमातृस्थानीयायाः तापस्याः मुखं-वक्त्रम्, ईक्षते-अवलोकयति; यदि गौतमी अङ्गुरीयकापगमकारणं जानीयादित्येतदर्थं तन्मुखावलोकनम् ।

(३) गौतेति । अथ गौतमी अङ्गुरीयकापसरणसंगति सम्भावयन्त्याह;—

तो मैं किसी चिह्न के द्वारा आपका संशय निवारण करूँगी ।

(१) राजा—यह सब से अच्छी बात है ।

(२) शकुन्तला—(अंगूठी पहनने की जगह टटोल कर) हाय ! हाय !! मेरी तो यह उँगली सूनी है) कह कर विषाद के साथ गौतमी का मुँह देखने लगती है) ।

(३) गौतमी—मालूम होता है, शक्रावतार नाम के गाँव में जब तुम शचीतीर्थ के जल

रीयकम् । (नूणं दे सक्कावदारे सचीतीत्थोदअं वन्दमाणाए पब्भट्टं अङ्गुलीअअं ।)

राजा—[सस्मितम्] इदं तावत्प्रत्युत्पन्नमतित्वं स्त्रैणाम् (१) ।

नूनमिति । शक्रोऽवतरत्यस्मिन्निति शक्रावतारः—गङ्गातीरकदेशः तत्र, शचीतीर्थस्य- इन्द्राणीनिर्मितघट्टस्य उदकं—गाङ्गतोयम्, वन्दमानायाः—अर्चयन्त्याः, प्रणमन्त्याः वा; केचित्तु—'शक्रावतारः—कश्चित्प्रसिद्धो गङ्गावतरणघट्टस्तदाख्यदेशो वा, शचीकृतम्—इन्द्राण्या आवाहितं यत् तीर्थोदकं तत्'—इति व्याचक्षते । तथा चैवमेतेषां मतम्—'गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।

नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥'

इति मन्त्रेण शचीदेवी कदाचिदिन्द्रेण सह गमनसमये गङ्गावतरणदेशे सर्वाणि तीर्थान्यावाह्य तत्र स्नातवतीति तदारभ्य तस्य शचीतीर्थत्वप्रसिद्धिरिति । ते—तव; अङ्गुलीयकं प्रभ्रष्टम्—अङ्गुल्याः स्खलितम् ।

तथा च राज्ञः परिणाहापन्नाङ्गुलीयोऽयस्याङ्गुरीयकस्य कृशाङ्ग्याः शकुन्तलाया अङ्गुलिगतस्य सतः शिथिल (सन्निवेश) बन्धत्वादेव साष्टाङ्गप्रणामोत्थानवेलायां करसञ्चालनोपस्थितेश्च स्खलनं सम्भवपरमेवेत्यवगन्तव्यम् ।

(१) राजेति । सस्मितमिति अलीकवचनोपन्यासवैदग्ध्यावगमाद् राज्ञः स्मितम् । तथा चानयोर्वाक्यस्य चातुर्यमात्रप्रकाशकत्वं मत्वाह—इदमिति । इदम्—अङ्गुरीयकपतनविषयकसंगतिकथनम्, शकुन्तलयाऽङ्गुरीयकापसरणनिवेदनपूर्वकान्वेषणं गौतम्या तस्य प्रभ्रष्टत्वकथनञ्चेत्यर्थः, यद्वा अङ्गुरीयकस्थानदर्शनं पुनः पतनाभिव्यञ्जनं चेत्यर्थः, प्रत्युत्पन्नमतित्वम्—प्रतिविषयमुत्पन्ना मतिर्यासां तासां भावस्तत्त्वम्—उपस्थितबुद्धित्वम्; प्रतिभायुक्तत्वमिति यावत् 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' इति 'रुद्रः; सुधाकरेऽपि—'तात्कालिकी तु प्रतिभा प्रत्युत्पन्नमतिः स्मृता' इति । तथा चोपस्थितबुद्धिनिबन्धनपूर्वकमेवेदं सङ्गतिप्रदर्शनं न तु वास्तविकमिति भावः । अत्र 'इदं प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते' इति पाठान्तरम्, तत्र—प्रत्युत्पन्ना—तत्तत्काले तत्तदुचितविषयोन्मेषवती मतिः—बुद्धिर्यस्य तत्, स्त्रैणं—स्त्रीसमूहः प्रतिभाबलेन तत्तत्कालोचितव्यवहारनिपुणो भवतीत्यर्थः, इति यदुच्यते—इति यज्जगति प्रसिद्धम्, तदिदं परिदृश्यमानमित्यर्थः । स्त्रीशब्दात् 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इति (पा०) समूहार्थे नञ्; पुनः भवार्थेऽण् ।

को प्रणाम कर रही थी वहीं तुम्हारी अंगूठी गिर पड़ी ।

(१) राजा—(थोड़ा मुस्करा कर) यही तो स्त्री जाति की सूझ है ।

शकु—अत्र तावत् विधिना दर्शितं प्रभुत्वम्। अपरं ते कथयिष्यामि (१)। (एत्थं दाव विहिणा दंसिदं पउत्तणम्। अवरं दे कधइस्सं।)

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम् (२)।

शकु—ननु एकदिवसे वेतसलतामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते सन्निहितमासीत् (३)। (णं एक्कदिअहे वेदसलदामण्डवे णलिणीवत्तभाअणगदं उदअं तुह हत्थे सण्णिहिदं आसी।)

राजा—शृणुमस्तावत् (४)।

---

(१) शकु इति। अत्र-साक्षादङ्गुरीयकदर्शने, विधिना-स्वेच्छापरिकल्पितलोकतन्त्रेण दैवेन, मत्प्रतिकूलेनेत्यर्थः, प्रभुत्वम्-अङ्गुरीयकहरणेन मद्वैमुख्ये सामर्थ्यम् दर्शितं—प्रकटितम्। विधिवैपरीत्यमेवात्र हेतुरिति भावः। अत्राङ्गुरीयकाप्राप्त्या भवदुक्तमेव जितमिति सारार्थः। अपरम्—अभिज्ञानान्तरम्।

(२) राजेति। इदानीं—साम्प्रतम्, श्रोतव्यं—श्रवणार्हम्, संवृत्तं—सञ्जातम्, पूर्वंद्रष्टव्यत्वेनोक्तमभिज्ञानमिदानीं श्रोतव्यमभूदित्यर्थः। अत्र संवृत्तपदेन भवतीभिः कल्पनासहस्रं विधायालीकवचनोपन्यासः कर्त्तव्यः स चेन्मया न श्रोतव्यो मम श्रवणापराध एव स्यात्, अत एव प्रयोजनाभावेऽपि मया श्रोतव्यमेवेति ध्वन्यते। द्रष्टव्यापेक्षया श्रोतव्यस्य हीनबलत्वेनोल्लुण्ठनपूर्णोक्तिरियमिति ज्ञेयम्।

(३) शकु इति। अथ शकुन्तला श्रोतव्यमभिज्ञानमाह—नन्विति। नन्विति सम्बोधने, नलिनीपत्रं—कमललतापत्रमेव भाजनं—पात्रं तस्मिन् गतं—स्थितम्, उदकं—जलम्, ते—तव, हस्ते—करे, सन्निहितं-सम्यक् स्थापितमासीत्, आतिथ्यक्रियासमारम्भे मया समानीतमुदकं पादप्रक्षालनार्थं तव करे समर्पितमभूदित्यर्थः।

(४) राजेति। शृणुमस्तावदिति। विवक्षितं सर्वमुच्यतां तत्रस वंसेव तावद् वाक्यं शृणुमः, न पुनरन्यत् किञ्चित् स्मराम इति भावः।

---

(१) शकुन्तला—इस विषय में तो विधाता ने अपनी प्रभुता दिखायी है। अब मैं आप से और बात कहूँगी।

(२) राजा—तो मुझे सुनना ही पड़ेगा ?

(३) शकुन्तला—एक रोज वेत्रलतामण्डप में आप के हाथों में कमलपत्र के दोने में जल था।

(४) राजा—हम सुन रहे हैं।

शकु—तत्क्षणं स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः। ततस्त्वया अयं तावत् प्रथमं पिबत्विति अनुकम्पिना उपच्छन्दित उदकेन। न पुनः सः अपरिचितस्य ते हस्तादुदकमुपगतः पातुम्। ततस्तस्मिन्नेवोदके मया गृहीते कृतस्तेन प्रणयः। अत्रान्तरे विहस्य त्वया भणितम्, सर्वः स्वगणे विश्वसिति, यतो द्वे एव युवामारण्यके इति (१)। (तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापङ्गो णाम मिअपोदओ उवट्ठिदो। तदो तुए अअं दाव पढमं पिअदु त्ति अणुकम्पिणा उवच्छन्दिदो उदएण। ण उण सो अपरिचिदस्स दे हत्थादो उदअं उवगदो पादुं। पच्छा तस्सिं ज्जेव उदए मए गहिदे किदो तेण पणओ। एत्थन्तरे विहसिअ तुए भणिदं, सव्वो सगणे वीससदि, जदो दुवे वि तुम्हे आरण्णआओ त्ति।

(१) शकु इति। स इत्यनुभूतार्थकम्। पुत्रकृतकः-पुत्रत्वेन परिकल्पितः, कृत्रिमपुत्रभूत इत्यर्थः, दीर्घापाङ्गः-दीर्घौ आयतौ अपाङ्गौ नेत्रप्रान्तौ यस्य सः, मृगपोतकः मृगशावकः, 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः, उपस्थितः-समायातः। तत इति। अनुकम्पिना दयाशालिना त्वया, अयं मृगपोतकः, प्रथमं पिबतु, पादप्रक्षालनादिकं पश्चात् सम्पाद्यमिति भावः, इत्युक्त्वा, उदकेन-तेन नलिनीपत्रभाजनगतजलेन, उपच्छन्दितः-पानार्थं सादरमभ्यर्थितः, जलं दर्शयित्वाऽऽहूत इति भावः। स पुनर्मृगपोतकः, अपरिचितस्य-अजातपरिचयस्य, ते-तव हस्तादुदकं पातुं नोपागत इत्यन्वयः। तेन-मृगपोतकेन। प्रणयः-पानार्थमाग्रहः। स्वगणे-आत्मीयवर्गे। क्वचित् 'सगन्धे' इति पाठः, तत्र बन्धावित्यर्थः, 'सगन्धो बन्धुरुच्यते' इति हलायुधः। स्वगणत्वमुपपादयति;-यत इति। यतः-यस्मात् कारणात्, युवां—मृगपोतश्च त्वं चेत्यर्थः, अत्रैकशेषे परलिङ्गत्वेन स्त्रीत्वम्, आरण्यके-वनवासिन्यौ। तथा चोभयोरेवैकारण्यवासित्वात् परस्परमात्मीयतेति भावः। इति भणितमित्यन्वयः।

(१) शकुन्तला—उसी समय मेरा कृत्रिमपुत्र दीर्घापाङ्ग नामक मृगशावक वहाँ आ पहुँचा। इस पर दयावश आप 'पहले यही जल पिये' ऐसा सोच कर उसे जल पीने के लिये राजी करने लगे, लेकिन उसने आपको अपरिचित समझ कर जल नहीं पिया। इसके बाद जब मैंने वह जल ले लिया, तो वह मृगशावक स्वयं मुझसे जल पिलाने की प्रार्थना करने लगा था। इस पर आपने हंस कर कहा था कि—'सब लोग अपने आत्मीय पर विश्वास करते हैं। तुम दोनों वनवासी हो न !'

राजा—आभिस्तावदात्मकार्यप्रवर्तिनीभिर्मधुराभिरनृतवाग्भिराकृष्यन्ते विषयिणः (१)।

गौत—महाभाग ! नार्हसि एवं मन्त्रयितुम् । तपोवनसंवर्द्धितः खल्वयं जनः अनभिज्ञः कैतवस्य (२)। (महाभाअ ! णारिहसि एव्वं मन्तिदुं । तवोवणसंवड्ढिदो क्खु अअं जणो अणभिण्णो कइतवस्स ।)

राजा—अयि तापसवृद्धे (३) !;

अत्रातीतकार्याणां संगृहीतत्वादादानं नाम विमर्शसन्धेरङ्गं दर्शितम् । यदुक्तं दर्पणे;-'कार्यसंग्रहश्चादानम्' इति । तथा 'भूतकार्याख्यानमुत्कीर्तनम्' इति दर्पणोक्तोत्कीर्तनलक्षणादत्रोत्कीर्त्तनं नाम नाट्यालंकारोऽपि ।

(१) राजेति । आत्मकार्येषु-स्वोद्देश्येषु प्रवर्त्तयितुं-पुरुषान् व्यापारयितुं शीलं-स्वभावो यासां ताभिरात्मकार्यप्रवर्तिनीभिः = स्वकार्यसाधिनीभिरित्यर्थः, मधुराभिः-प्रियाभिः, 'स्वादु प्रियौ तु मधुरा'वित्यमरः, आभिः-इदृशीभिः, अनृतवाग्भिः-असत्यवाक्यैः, 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्' इत्यमरः, विषयिणः-इन्द्रियार्थप्रसक्ताः कामिनः पुरुषा इत्यर्थः । आकृष्यन्ते-वशीक्रियन्ते । तथा च ईदृश्यो वाच एव पुरुषाणामनर्थमूलहेतव इति भावः ।

(२) गौतेति । एवम्-इत्थम्, मन्त्रयितुं-वक्तुम् । तत्र हेतुमाह;-तपोवनेत्यादि । अयं जनः-शकुन्तला खलु, तपोवने-मुनीनामाश्रमे संवर्द्धितः-प्रतिपालितः, एतेनात्यन्तचातुर्यानभिज्ञत्वं द्योत्यते । कैतवस्य-कपटव्यवहारस्य; अनभिज्ञः-अज्ञातः । तथा च कैतवादिशून्ये आश्रमे परिवर्द्धितत्वादनयाऽज्ञातकैतवया सत्यमेव भणितमिति भावः ।

(३) राजेति । अथ राजा तदाकर्ण्य सोपहासमाह;-अयि तापसवृद्धे ! इति तापसेषु-तपस्विजनेषु वृद्धेति तापसवृद्धेति तत्सम्बोधने हे तापसवृद्धे ! अथवा तापसी चासौ वृद्धा चेति तापसवृद्धा तत्सम्बोधनम् । कर्मधारयः समासः । वेश्या जननी इव तपोऽपदेशेनेयमेवं भणतीति संबुद्ध्या सूच्यते ।

---

(१) राजा—स्त्रियाँ अपना काम बनाने के लिए ऐसा मिथ्या और मधुर बातें कहकर विषयी लोगों को ही अपनी ओर आकर्षित कर सकती हैं, हम जैसे को नहीं ।

(२) गौतमी—महाशय ! आप ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि यह कन्या तपोवन में पली है, छल कपट की बात जानती ही नहीं ।

(३) राजा–अयि वृद्ध तपस्विनी !—

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीणां
संदृश्यते किमुत याः परिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरीक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः किल पोषयन्ति ॥ २३ ॥

तदेव दृष्टान्तेन विवृणोति—स्त्रीणामिति । अमानुषीणां—मानुषीभिन्नानामपि, वञ्चकतादिव्यवहाररहितानामपि पशुपक्षिणीनामित्यर्थः, स्त्रीणां—स्त्रीजातेः; विशेषतः पुंभिन्नानामिति तात्पर्यम्, अशिक्षितपटुत्वम्—अनुपदिष्टवञ्चनाकौशलम्, शिक्षां विनापि नैसर्गिकं चातुर्यमित्यर्थः, संदृश्यते—संलक्ष्यते । याः परिबोधवत्यः—सर्वतो भावेन ज्ञानवत्यः, वागादिव्यवहारकुशला मानुष्य इत्यर्थः, ताः किमुत ?—शिक्षितपटुत्वे किं वक्तव्याः ? इति तात्पर्यम्, अत्र दण्डाऽपूपिकन्यायेनार्थागमादर्थापत्त्यलंकारः 'दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते' इति विश्वनाथोक्तेः । उक्तमर्थं विशेषेण साधयति—प्रागिति । परैः—काकैः भ्रियन्ते—बाल्यकाले पुष्यन्त इति परभृताः—कोकिलस्त्रियः, साभिप्रायं विशेषणमेतत् , परभृता इति जातिवाचित्वेऽपि अजादिपठितत्वान्न ङीष् , 'वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि' इत्यमरः, अन्तरीक्षगमनात्—अन्तरि—मध्ये क्षयतीत्यन्तरिक्षम्, 'अन्तः ईक्ष्यते यस्य' इति वाक्ये दीर्घमध्यत्वम्; तस्मिन् गमनात्-उड्डयनात् , प्राक्-पूर्वम्, स्वं—स्वकीयम्, अपत्यजातं—सन्तानसामान्यम्, 'जातिर्जातञ्च सामान्यम्' इत्यमरः, अन्यद्विजैः—अपरपक्षिभिः काकैरिति यावत् , 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः, पोषयन्ति—पालयन्ति, किलेति लोकवार्तायाम्, कोकिलाः स्वान्यपत्यानि काककुलायेषु निक्षिपन्ति काकाश्च स्वापत्यबुद्ध्या तानि पोषयन्तीति लोकवार्ता । तथा च पक्षित्वे सत्यपि कोकिलाया ईदृशचातुर्यदर्शनात् मानुषीरूपायाः शकुन्तलायास्तपोवनवर्द्धितत्वेऽपि सङ्गतानृतवादित्वरूपं पटुत्वं भविष्यतीत्यर्थे नास्ति सन्देहावसर इति भावः । अत्र परभृता इत्यनेन शकुन्तलायाः; स्वमपत्यमित्यनेन भरतस्य; अन्यद्विजैरित्यनेन मारीचाश्रमवासिनां मुनीनां,प्रागन्तरीक्षगमनादित्यनेन देवेन्द्रप्रेषितमातलिसहकृतस्य राज्ञ आगमनात् पूर्वमित्यर्थस्य च प्रतीत्या मारीचाश्रमे मुनिभिः संरक्ष्यमाणायाः सपुत्रायाः शकुन्तलायाः स्थितिरिन्द्रलोकात् प्रत्यागमनकाले राज्ञस्तया संसर्गश्चेति वक्ष्यमाणः कथाभागः सूच्यते ।

मनुष्यजाति-भिन्न पशु-पक्षी आदि जाति की स्त्रियों में भी स्वाभाविक चतुरता देखी जाती है, फिर सब विषयों में बुद्धि रखनेवाली मनुष्यजाति की स्त्रियों की बात ही क्या कहनी है । कोकिलायें उड़ने की शक्ति उत्पन्न होने के पहले ही अपने बच्चों का अन्य पक्षी (कौए) के द्वारा पालन-पोषण करा लेती हैं ॥ २३ ॥

शकु—[सरोषम्] अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन किल सर्वं प्रेक्षसे । को नाम अन्यो धर्मकञ्चुकव्यपदेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तव अनुकारी भविष्यति (१) । (अणज्ज ! अत्तणो हिअआणुमाणेण किल सव्वं पेक्खसि । को णाम अण्णो धम्मकञ्चुअव्ववदेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तुह अणुआरी भविस्सदि ।)

अत्र विशेषेणसामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । तथा शकुन्तलालक्षणे विशेषे प्रस्तुते स्त्रीसामान्यस्योक्तत्वादप्रस्तुतप्रशंसा च । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २३ ॥

(१) शकु इति । राज्ञोऽधिक्षेपेण मर्मणि भृशं ताडिता शकुन्तला तमुपालभते-अनार्येत्यादि । अनार्य ! अश्रेष्ठ !, अभद्र ! इति यावत् ; आत्मनः—स्वस्य, हृदयानुमानेन—मम हृदयमिव परस्य हृदयमपि वञ्चनापरमेवेति कल्पनेनेत्यर्थः, सर्वं—जनं वञ्चकतापूर्णहृदयमिति भावः, प्रेक्षसे—पश्यसि, आत्मवत् सर्वं जानासीति तात्पर्यम्, उक्तं च—'स्वयमशुद्धः परानाशङ्कते' इति ।

तथा च—वञ्चकतापूर्णहृदयस्त्वं शुद्धहृदयां मामात्मानुमानेन 'स्त्रीणा' मित्यादिना वञ्चनापरामुक्तवानित्याशयः । अनार्यत्वं विवृणोति—को नामेति । अन्यः—जनः, धर्म एव कञ्चुकः--बहिरङ्गावरणविशेषो न पुनरान्तरो धर्म इति भावः । तेन व्यपदिशति—आत्मानं धार्मिकं प्रकटयतीति तथाभूतस्य, बहिर्धर्मभावं प्रकटय्यान्तर्दोषं निगूहयत इत्यर्थः, अथवा धर्म एव कञ्चुको यस्य स चासौ व्यपदेशः—अन्तः शाठ्यं सोऽस्यास्तीति तस्य, बहिर्धर्मावरणेनान्तःप्रतारणादिदोषमदर्शयत इत्यर्थः, स्वयं परिणीतवतोऽपि, मया परभार्या नाङ्गीक्रियत, इति दम्भपरायणस्य इति यावत् , अत एव तृणच्छन्नकूपोपमस्य—तृणैः छन्नः—आवृतमुखो यः कूपः स एवोपमा उपमानं यस्य तस्य, तृणच्छन्नो हि कूपः स्थलबुद्ध्या जनान् पातयति तद्वदन्तर्नृशंसस्येत्यर्थः, तव, अनुकारी—सदृशकर्मचारी, कोऽन्यो भविष्यति-अपि तु कश्चिदपि नैव भविष्यतीत्यर्थः ।

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते' ॥

इत्यादिविधानात् सर्वेषां त्वदनुकरणस्य कर्त्तव्यत्वेऽपि तव तु अन्तर्वञ्चनापरतया न कोऽपि त्वदनुकारी भविष्यतीति भावः । नन्वत्र शकुन्तलायाः 'भर्तारमुद्दिश्य 'अनार्य' इति सम्बोधनेन प्रगल्भात्वप्रकाशाद् मुग्धात्वस्य व्याघातश्चरित्रदूषणञ्चापततीति चेन्न, पतिव्रतायास्तस्याः, सतीत्वभ्रंशापवादस्य निराकरणाय

---

(१) शकुन्तला—(क्रोध के साथ) ओ अधम ! तू अपने कपटपूर्ण हृदय के समान सब का हृदय समझता है ? झूठे धर्म के आवरण से अपने को ढांके तृण से ढके कुएं की तरह तुम जैसा पाखण्डी और कौन होगा ?

राजा—[आत्मगतम्] वनवासादविभ्रमः पुनरत्रभवत्याः कोपो लक्ष्यते । तथाहि (१)—

न तिर्यगवलोकितं भवति चक्षुरालोहितं
वचोऽतिपरुषाक्षरं न च पदेषु सङ्गच्छते ।
हिमार्त्त इव वेपते सकल एव बिम्बाधरः

तदाचरणात् । तथा च शकुन्तलायाः शोकावेगवशंवदतया महागुरोः पत्युर्मर्यादोल्लङ्घनाद् द्रवो नाम विमर्शसन्धेरङ्गं कविनात्रोपन्यस्तम् । यदुक्तं दर्पणे;—

'द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसम्भवा' ॥ इति ॥

किञ्च 'क्षेत्रे कर्म विधीयते' इति न्यायात् स्वभावोक्त्या तादृशवर्णने कवेर्निपुणतैव प्रतिभातीति समालोचनीयम् । अत्र 'धर्मकञ्चुकेत्याद्यंशे रूपकोपमे ।

रमणीविलक्षणं मन्वानः स्वात्मनि तस्याकृत्रिमत्वं विमृशति;-वनवासादिति । वनवासात्—आबाल्यात्तपोवननिवासहेतोः, अनभिज्ञातचटुलनागररमणीस्वभावादिति यावत्, अविभ्रमः-शृङ्गारभावजातविकारशून्यः, अत्रभवत्याः-माननीयायाः, कोपो लक्ष्यते-दृश्यते । नागररमणीनां तु कोपो न विभ्रमं मुञ्चतीत्यस्या अपूर्व एवायं कोपोऽभिलक्ष्यत इति भावः । तस्याविभ्रमत्वं दर्शयितुमाह—तथा हीति । अनेन नायकगतप्रणयस्य निगूढं स्थैर्यं ध्वनितम् ।

न तिर्यगिति । 'अत्र भवत्याः' इत्यनुपज्यते अत्रभवत्याः-मुनिकन्यात्वेन मान्यायाः शकुन्तलायाः, अवलोकितं-दृष्टिः, तिर्यक्-वक्रं न, सविभ्रमकोपे तु नागरीणां दृष्टिर्वक्रैव स्यादिति भावः, किन्तु चक्षुः, आलोहितं-सम्यग्रक्तवर्णं सञ्जातम्, सविभ्रमकोपे तु नागररमणीनां चक्षुर्न सम्यक्, लोहितं भवेदिति भावः, तथा वचः-अनार्य इत्यादि भाषितम्, अतिपरुषाणि-अत्यन्तनिष्ठुराणि अक्षराणि-वर्णास्तोत्रो यस्य तत् तादृशम्, च-किन्तु, पदेषु-लक्ष्येषु मादृशेषु विषयेष्विति यावत्, न सङ्गच्छते—अतथ्यत्वान्न युज्यते, सविभ्रमकोपकाले तु नागररमणीनां मुखेभ्य ईदृशपरुषाक्षरं वचो नैव निर्याति निर्गमने तु तथ्यत्वात् पदेषु सङ्गच्छत एवेत्यभिप्रायः, 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' इति (पा०) आत्मनेपदम् । हिमार्त्त इव, सकलः-समग्रावयव, एव न पुनरग्रभागमात्रमित्येवकारार्थः, बिम्बाधरः—बिम्बफलोपमलोहितवर्णोष्ठः, वेपते—कम्पते, सविभ्रमकोपावसरे नागरीणां तु सकल एवाधारो न वेपते

---

(१) राजा—(मन ही मन) वनवासिनी होने के कारण आप के क्रोध में विलास की मात्रा नहीं दीखती । जैसे—

आँख लाल हो गई है, पर वह इधर-उधर नाचती नहीं । वाक्यों के अक्षर

प्रकामविनते भ्रुवौ युगपदेव भेदं गते ॥ २४ ॥

अपि च सन्दिग्धबुद्धिं मामधिकृत्य अकैतव इवास्याः कोपः सम्भाव्यते। तथा ह्यनया (१)—

किन्तु अधरोपरिभागमात्रमिति भावः। तथा प्रकामविनते-अतिनम्रीभूते, भ्रुवौ-भ्रूद्वयम्, युगपदेव-समसमयमेव, भेदं-भङ्गकुञ्चनम्, वक्रतामिति यावत्, गते-प्राप्ते, सविभ्रमकोपे तु नागरीणां भ्रूयुगलं क्रमिकमेव भेदं गच्छति न तु युगपदेवेति भावः।

'सङ्कुचते' इत्यत्र 'संसजते' इति पाठः, तत्र-पदेषु-सुप्तिङन्तरूपेषु वाक्यावयवभूतेषु, न संसजते-न परिस्खलति; ऋषिशिक्षाप्रभावाद् वचने जडिमा नास्तीत्यर्थः नागरीणां सविभ्रमकोपे तु वाक्स्खलनमेव भवतीति भावः। 'एव' इत्यत्र 'एष' इति पाठान्तरम्, तत्र-एषः परिदृश्यमान इत्यर्थः।

सविभ्रमकोपे तु अन्यस्या रमण्याः दृष्टिस्तिर्यक् प्रसृतैव भवति चक्षुर्नातिलोहितं मुखाद्वचो नातिपरुषाक्षरं च निर्गच्छति सत्यरवाक्लचनेषु च सङ्कुचतेऽधरस्य भागमात्रं कम्पते भ्रूयुगलं क्रमिकं भेदं गच्छति शकुन्तलायास्तु सर्वस्य तस्य वैपरीत्यदर्शनात् तादृशः कोपोऽविभ्रम एवेति समुदितार्थः।

अत्र कोपस्याविभ्रमत्वप्रतिपादनाय तिर्यगवलोकनादिरूपनानाविधकारणोपन्यासात् समुच्चयालंकारः। स्वभावोक्तिरत्रेति केचित्। हिमार्त्त इवेत्यत्रोत्प्रेक्षा। बिम्बाधर इत्यंशे उपमा। इत्येतेषामलङ्काराणां साङ्कर्यं बोध्यम्। निरुक्तालङ्कारसमुदायेन च नागरीणां सविभ्रमकोपस्य व्यतिरेकः सूच्यत इत्यहंकारेण व्यतिरेकालङ्कारध्वनिः। मोहमयीमुद्रितपुस्तकेषु वनवासादित्यारभ्य युगपदेव भेदं गते-इत्यन्तः पाठो नास्ति। पद्यमिदं पृथ्वीच्छन्दसा निबद्धम् 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति पृथ्वीलक्षणम् ॥ २४ ॥

(१) अपीति। सन्दिग्धा-परिणयविषये संशयाकुला बुद्धिर्यस्य तम्, माम्, अधिकृत्य-लक्ष्यीकृत्य, विद्यमानाया इति शेषः, अतो नैककर्तृकताया व्याघातः, अस्याः-शकुन्तलायाः, कोपः, अकैतव इव-कापट्यरहित इव, यथार्थ इवेति यावत्, सम्भाव्यते-उत्प्रेक्ष्यते। अत्र तर्को भावः। अनयेति श्लोकेन सम्बध्यते।

बड़े कठोर हैं, परन्तु मुझ पर लागू नहीं होते। सारा अधरोष्ठ मानों जाड़े के मारे कांप रहा है और दोनों भौहें एक साथ टेढ़ी हो गयी हैं ॥ २४ ॥

(१) फिर मुझे सन्दिग्धबुद्धि समझ कर क्रोध कर रही है, वह भी कपटविहीन मालूम पड़ता है। जैसे कि—

मय्येवमस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने ।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥ २५ ॥

[प्रकाशम्] भद्रे ! प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम्, प्रजास्वपीदं न दृश्यते (१) !

तदेवोपपादयति;मय्येवमिति । एवम्-इत्थंभूतेन अस्मरणेन-भूतपूर्वपरिणयादिरूपवस्तूनामस्मृत्या दारुणा-निष्ठुरा चित्तवृत्तिः-मनोवृत्तिर्यस्य तस्मिन् तथाभूते मयि, रहः-निर्जनतपोवनस्थाने, वृत्तं-सञ्जातम्, प्रणयं-प्रीतिम्, तद्घटितं परिणयादिव्यापारमिति यावत् , अप्रतिपद्यमाने-धर्मध्वंसभयेनास्वीकुर्वाणे सति, अतिरुषा, अतिक्रोधेन, आलोहिते-अत्यन्तरक्तवर्णे अक्षिणी-नयनद्वयं यस्यास्तथाभूतयानया शकुन्तलया, कुटिलयोः-कुञ्चितयोः, भ्रुवोः, भेदात् ,-भङ्गात्, ल्यब्लोपे पञ्चमी भ्रूभेदमपदिश्येत्यर्थः, स्मरस्य-मयि प्रहर्तुः कामदेवस्य, शरासनं-धनुः, भग्नमिव-खण्डितमेवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा । तथा च धनुर्भङ्गात् स्मरस्य पुनः प्रहारसम्भावना न स्यादित्याशयः ।

अत्रेदं केषाञ्चिद्व्याख्यानम्;-'अस्मरणचित्तवृत्तौ' इति;-नास्ति स्मरणं यस्य तदस्मरणम्; अत एव दारुणं यच्चित्तं तस्मिन् वृत्तिः-वर्त्तनं यस्य तस्मिन्निति । तथा मयीति विषयाधिकरणे सप्तमीति । केचित्तु,-अतिरुषा-अतिकोपनयेति शकुन्तलाविशेषणमामनन्ति ।

इह सापह्नवोत्प्रेक्षालङ्कारः । पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमपि । उत्प्रेक्षया च कोपस्यातिशयं तात्त्विकत्वमपि व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः । अपि च,-उत्प्रेक्षया भ्रूगतः संस्थानसौष्ठवातिशयः सकललोकहृदयोन्माथकत्वभावोऽपि व्यज्यते । तेन च किञ्चिदुन्मिषिताया रतेः स्थायित्वस्यानुभाव ईषदुद्घटितः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २५ ॥

(१) प्रकाशमिति । पुनरपि शापनिह्नुतस्मृतिराह;-भद्रे इति । दुष्यन्तस्य-पुरुवंशसम्भवस्य स्वतः प्रसिद्धनामधेयस्येत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम्, अत एव

मुझे (इसे स्वीकार करने की) बात याद नहीं आ रही है, इस कारण मैं इसके लिए दारुण हृदयवाला हो गया हूं । एकान्त में इसके साथ जो मेरा प्रेम हुआ था, उसे मैं मानता नहीं । इसलिये क्रोधवश मुझ पर आँखें लाल की हुई इस रमणी ने मानों अपनी दोनों भौंहों से कामदेव के धनुष को तोड़ फोड़ डाला है ॥ २५ ॥

(१) (प्रकाश) भद्रे ! दुष्यन्त का चरित्र संसार-प्रसिद्ध है, प्रजा में भी यह दोष नहीं दीखेगा ।

शकु—यूयमेव प्रमाणं जानीथ धर्मस्थितिञ्च लोकस्य ।
लज्जाविनिर्जिता जानन्ति न किमपि महिलाः ॥ २६ ॥
(तुह्मे ज्जेव पमाणं जागध धम्मात्थिदिञ्च लोअस्स ।
लज्जाविणिज्जिदाओ जाणन्ति ण किम्पि महिलाओ ॥)

सुष्ठु तावदात्मच्छन्दानुचारिणी गणिका समुपस्थिता । (सुट्ठु

ममेत्यनुक्त्वा स्वनामाभिधानमिति ज्ञेयम्, चरितं-स्त्रीस्पर्शवैमुख्यरूपं परप्रतारणराहित्यगर्भं चाचरणमिति भावः, प्रथितं-लोकेषु प्रसिद्धम्, दुष्यन्तो भ्रमादपि परस्त्रियं न कामयते न वा परांश्च वञ्चयतीत्यतः परस्त्रियं भवतीं नैव संग्रहीतुं शक्नोमीति भावः । किञ्च; इदं-वञ्चनात्मकं परस्त्रीग्रहणम्, प्रजास्वपि-साधारणेषु मच्छासितजनेष्वपि, न दृश्यते-नोपलक्ष्यते, तस्माद् यस्य प्रजा एवम्भूताः लोकनियन्तुस्तस्य ममेदं कुतोऽपि न सम्भवतीत्याशयः । क्वचित् पुस्तके 'प्रजास्वपि इदं न दृश्यते' इति परिवर्त्तनेन 'तथापीदं न लक्ष्ये' इति पाठः, तत्र-तथापि-त्वत्प्रदर्शितेतादृशप्रमाणसद्भावेऽपि, इदं-त्वत्परिणयनम्, न लक्ष्ये-न स्मरामि । तथा च;-मृगयाप्रसङ्गेन मुनिजनसत्त्ररक्षणार्थं तपोवननिवासादिसमस्तव्यापारजातं मम हृदयपथमवतरति परन्तु त्वत्परिणयनमेकं नैवावतरतीति भावः ।

शकु इति । अथ शकुन्तला राज्ञस्तथाविधोक्त्या मर्मणि सन्ताडिताऽपि नैसर्गिकधैर्येण निह्नुतहृदयभावा सव्याजं तं प्रस्तुवती प्राह;-यूयमिति । यूयं-लोकशासितारो राजान एव, प्रमाणं-विधिनिषेधात्मकं शास्त्रम्, लोकस्य-जनस्य, धर्मस्थितिं-धर्ममर्यादाञ्च वैधकर्मपद्धतिमिति यावत्, जानीथ-वित्थ । 'मर्यादा धारणा स्थितिः' इत्यमरः । किन्तु; लज्जया विनिर्जिताः-विवशाः, महिलाः=नार्यः, किमपि न जानन्ति—न ज्ञातुं शक्नुवन्ति, जानत्योऽपि लज्जाभिभवादेव किमपि वक्तुं नैव समर्था भवन्ति इत्यर्थः । अहो तव धारणा; भवतः सर्वलोकप्रथितं चरितं सुपरिशुद्धं कथं वाहं ज्ञातुमर्हामि ? इत्युपहासप्रायं वचनम् । तथा च अहमपि किञ्चित् प्रमाणं धर्मस्थितिञ्च जानामि; एवञ्च परस्त्रीगामिनी गुरुतरपापमिवात्मपत्नीत्यागिनोऽपि तथेति प्रज्ञावत्यपि लज्जाविवशतया तद्वक्तुं नैव शक्नोमीत्यभिप्रायः । अत्रैकया जानातिक्रियया कर्मतया प्रमाणधर्मस्थित्योरभिसम्बन्धात् तुल्ययोगितालङ्कारः । तथाहमिति विशेषे वक्तव्ये 'महिला' इति सामान्येनाभिधानादप्रस्तुतप्रशंसा च । किञ्च स्तुत्या निन्दावगमाद् व्याजस्तुतिरपि । इह 'महिला' इत्यस्य 'लज्जाविनिर्जिता' इति विशेषणदानात् 'भवादृशाः पुरुषा निर्लज्जा' इति ध्वन्यते । आर्या जातिः ॥२६॥

शकुन्तला—आप ही लोग शास्त्र, लोक तथा धर्म की मर्यादा को जानते हैं और लज्जा से पराजित स्त्रियाँ कुछ जानती ही नहीं ॥ २६ ॥

दाव अत्तच्छदाणुचारिणी गणिआ समुवत्थिदा ।)

गौत—जाते ! अस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोः हृदयविषस्य हस्तं समुपगतासि (१) । (जादे ! इमस्स पुरुवंसपच्चएण मुहमहुणो हिअअविसस्स हत्थं समुवगदासि ।)

शकु—[पटान्तेन मुखमाच्छाद्य रोदिति] (२) ।

शाङ्र्ग—इत्थमप्रतिहतं चापल्यं दहति (३) ।

सुष्ठ्विति । सुष्ठु—सम्यक्, यद्वा सुष्ठु—शोभनं तव मननम् । तावत्—तदा, आत्मनः—स्वस्य, छन्देन-अभिप्रायेण अनुचरतीति आत्मच्छन्दानुचारिणी स्वेच्छाचारिणी इत्यर्थः, 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः, गणिका—वेश्या, 'वारस्त्री-गणिका वेश्या' इत्यमरः, समुपस्थिता—भवत्संमुखमुपस्थिता, अहमिति शेषः' साक्रोशवाक्यमिदम् । तथा च 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, इत्यादि दर्पणोदाहरणवद्विपरीतलक्षणया नाहं स्वच्छन्दानुचारिणी गणिका किन्तु गुरुजनमतानुचारिणी परमपतिव्रतैवेति तत्रापि तवैवं मननात् त्वं नितान्तदुर्बोधो वञ्चनापरश्चैवेत्याशयः।

(१) गौतेति । जाते—वत्से !, पुरुवंशप्रत्ययेन-पुरुवंशोऽतीव सदाशयो महत्त्वपूर्णश्चेति विश्वासेन, मुखे मधु—मधूपमं वचनं यस्य तस्य, किन्तु हृदये विषं-विषोपमः परमहानिकरो भावो यस्य तस्य- महावञ्चकस्येत्यर्थः, अस्य—दुष्यन्तस्य, हस्तं समुपगतासि—हस्ते निपतिताऽसि, परिग्रहविषयतां गतासीति यावत् । सानुतापवाक्यमिदमित्यवधेयम् । अत्र विषपदेन कापट्यस्य निगरणादतिशयोक्तिः । विशेषणद्वयेन चात्यन्तधूर्त्तस्वभावोऽयमिति व्यज्यते । यथाह—

'मुखं पद्मदलाकारं वचश्चन्दनशीतलम् । हृदयं वज्रकठिनं त्रिविधं धूर्त्तलक्षणम् ।' इति॥

अत्र निर्वेददैन्यादयो भावाः । एभिरुपस्कृतो रोदनाद्यनुभावितो नायकक्रौर्यनिमित्तको नायिकायाः शोकोऽत्र व्यज्यमानः करुणरसत्वं समुपगच्छति; अग्रे कविना नायिकागतशोकस्य वर्णनात्—इति बोध्यम् ।

(२) शकु इति । पटान्तेन—वसनान्तेन ।

(३) शार्ङ्ग इति । अथ शार्ङ्गरवस्तदा शकुन्तलायास्तादृशीमवस्थां दृष्ट्वा 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्' इति न्यायं मनसिकृत्यानुशोचति-इत्थमिति । इत्थम्-ईदृशम्, अप्रतिहतं-स्वजनैरप्रतिषिद्धम्, यद्वा; गुरु-

---

ठीक है, मानो एक स्वेच्छाचारिणी वेश्या आपके सामने खड़ी है ।

(१) गौतमी—पुत्री ! इसके मुख में अमृत और हृदय में विष है । तू पुरुवंशीय के भ्रमवश इसके हाथों में जा पड़ी है !

(२) शकुन्तला—(आँचल से मुँह ढाँक कर रोने लगती है) ।

(३) शार्ङ्गरव—इस तरह अपने मन की चंचलता आत्मीय लोगों को सन्ताप देती है-

अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ २७ ॥

राजा—अयि भोः! किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मानसम्भृतदोषैरधिक्षिपन्ति भवन्तः (१)।

जनभयादिना न व्याहृतम्, चापल्यम्—चपलताप्रयुक्तमनालोचितकारित्वम्; अज्ञातकुलशीले कन्याया आत्मसमर्पणमित्यर्थः, दहति—आत्मीयान् सन्तापयति। यद्वा, दहति—सन्तापयति अनालोचितकारिणमिति शेषः। दहतीति वर्त्तमानप्रत्ययेन दहनावसानं न च दृष्टमिति द्योत्यते। तथा च अविमृश्यकारितायाः स्वेच्छाचारितायाश्चैतत्परिणामदुर्वहं निरर्गलफलमुपभुंक्ष्वेति भावः।

अतः इति। अतः अस्माद्धेतोः, अनालोचितकारित्वस्य तापानुबन्धित्वादित्यर्थः, विशेषात्-विशेषतः परीक्ष्य-कुलशीलादिसाधुतां निर्धार्य, रहः-निर्जने, सङ्गतं-गान्धर्वलक्षणं पुरुषसंगमनम्, कर्त्तव्यं-करणीयं कन्ययेति शेषः। विपरीतत्वे बाधकं दर्शयति-अज्ञातेति। न ज्ञातं-साध्वसाधुतया नावगतं हृदयं-मनो येषां तेषु तथाभूतेषु पुरुषेषु, सौहृदं-प्रणयः, एवम्-उपस्थितवृत्तान्त इव वैरीभवति-अवैरं वैरं भवति, विद्वेषायत इत्यर्थः। अत्र—

शकुन्तलादुष्यन्तयोः सङ्गते वक्तव्ये विशेषे प्रस्तुते यत् सामान्यसङ्गतमात्रस्याप्रस्तुतस्य वचनं साप्रस्तुतप्रशंसा। तथा वैधर्म्येण सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। पूर्वार्द्धार्थं प्रति परार्द्धगतवाक्यार्थस्य हेतुत्वेनोपन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमिति केचित्। मतिर्भावः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २७ ॥

(१) राजेति। अथ दुष्यन्तः शकुन्तलावचनप्रत्यायितस्य मुनेः शार्ङ्गरवस्य स्निग्धकथनेनात्मानं निरपराधं कर्तुमाह; अयि भो इति। अयीत्यनुनयसूचकमव्ययम्, अत्रभवतीप्रत्ययात्—अत्रभवत्याः—पूजार्हायाः शकुन्तलायाः प्रत्ययात्—विश्वासादेव, एवकारेण सत्यवादिनि मय्यविश्वास इति पक्षपाती द्योत्यते, यद्वैवकारेण युक्त्यन्तरनिरासः, अत्रभवतीति गम्भीराक्षेपपरम्। अ सम्भृतदोषैः—अकृतदोषैः, अस्मान्—माम्, 'वास्मदश्चेति' बहुवचनम्, तेन पुरुवंशोत्पन्नं सर्वधर्मनिष्ठं देवेन्द्रादिभिरप्युपचरितमित्यादिधर्मशतं ध्वन्यते। अधिक्षिपन्ति—वञ्चकत्वेन निन्द-

---

इसलिए खूब अच्छी तरह परीक्षा कर लेने के बाद एकान्त-मिलन करना चाहिए। क्योंकि किसी अज्ञात व्यक्ति के साथ प्रेम कर लेने पर वह इसी तरह शत्रुत्व के रूप में परिणत हो जाया करता है ॥ २७ ॥

(१) राजा—महानुभाव! मैंने कोई अपराध नहीं किया है। फिर भी आप लोग केवल इनकी बातों पर विश्वास करके हमारी निन्दा कर रहे हैं।

शार्ङ्ग—[सासूयम्] श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम् ? (१)

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।

पराभिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥ २८ ॥

न्ति। तथा च इयमन्यपुरुषसंसर्गेण गर्भमुत्पाद्य तदुत्पादकत्वं मय्यारोपयतीति सैव प्रतारिका नाहमिति भावः।

(१) शार्ङ्गेति । सासूयमिति;—गुणेषु दोषारोपणमसूया तत्सहितमित्यर्थः, वस्तुतो राज्ञो दुर्वाससः शापवशात् शकुन्तलाविस्मरणम्, तदजानतः शार्ङ्गरवस्य निर्दोषेऽपि राज्ञि दोषोद्भावनमित्यत उक्तं सासूयमिति । शार्ङ्गरवो राज्ञस्तादृशवचनमसहमानः सासूयं पुरोहितादिसभ्यगणान् प्रत्याह;—श्रुतमिति । श्रुतमित्यत्र प्रश्नकाकायमस्माकं विजिगीषया व्यवहरतीति द्योत्यते, भवद्भिः—पुरोहितप्रभृतिभिः सभ्यगणैः, अधरोत्तरम्—अपकृष्टमुत्तरम्, स्वदोषाज्ञानात् । 'अधरस्तु पुमानोष्ठे हीनेऽनूर्ध्वे च वाच्यवत्' इति मेदिनी । अधरोत्तरं—वचनतारतम्यमिति केचित् । यद्वा अधरोत्तरं विपरीतम्, अधरशब्दो वैपरीत्यार्थे भगवता मनुना राज्ञो दण्डशैथिल्यप्रस्तावे प्रयुक्तः । यथा;—

'अद्यात् काकः पुरोडाशं श्वावलिह्याद्धविस्तथा ।

स्वाम्यञ्च न स्यात् कस्मिंश्चित् प्रवर्त्तताधरोत्तरम् ॥' इति ।

वादिनः सदोषोक्तावपि;—

'अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः ।

यश्चाधरोत्तरानर्थान् विगीतान्नावबुध्यते ॥' इति च ।

अधरोत्तरत्वं प्रतिपादयितुमाह;—आ जन्मन इति । यः—जनः, आ जन्मनः—जन्मन आरभ्य, शाठ्यं—शठतां पराभिसन्धानमिति यावत्, अशिक्षितः—स्वेनान्येन वा नाध्यापितः, तस्य जनस्य—अशाठ्यवतो जनस्य; शकुन्तलाया इत्यर्थः, वचनं—वाक्यम्; प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं तन्न भवतीत्यप्रमाणं—अयथार्थज्ञानजनकम्, निश्चयहेतुर्नैवं भवतीत्यर्थः । यैः—जनैः, पराभिसन्धानम्—परप्रतारणं शठतामिति यावत्, 'वञ्चनञ्चाभिसन्धानं व्यलीकञ्च प्रतारणम्' इति हेमचन्द्रः, विद्येति—विद्यात्वेन विभाव्येति तात्पर्यम्, अधीयते—यथा विद्या सद्गुरोः सत्सम्प्रदायात् सुदिने मङ्गलपूर्वकमनध्यायनिवृत्तिपूर्वकं च नियतात्मभिरधीयते तद्वद् यः पराभिसन्धानमधीयते

(१) शार्ङ्गरव—(असूया के साथ) आप लोगोंने निकृष्ट उत्तर सुना ?—

जिसने जन्मभर किसी तरह की दुष्टता नहीं सीखी, उसकी बात झूठी मानी जाय और जिसने विद्या का ढोंग रच कर दूसरों को धोखा देना ही सीखा है, उसे सत्यवादी मान लिया जाय ? ॥ २८ ॥

राजा—अहो सत्यवादिनः! अभ्युपगतं तावदस्माभिः एवंविधा एव वयम्, किं पुनरिमामभिसन्धाय लभ्यते ? (१)

शार्ङ्ग—विनिपातः (२)।

न तु शिवत इति भावः, ते—जनाः, आप्तवाचः,—आप्ताः-विश्वासयोग्याः वाचः—वाक्यानि येषां ते तादृशाः; भ्रमप्रमादशून्यवचनाः; सत्यवचनाः प्रामाणिका इति यावत्, सन्तु-भवन्तु, किलेति सम्भावनायाम्, 'किलशब्दस्तु वार्तायां सम्भाव्यानुनयार्थयोः' इति विश्वः। न केवलं तेषां यत्किञ्चिद् वाक्यं प्रमाणं किन्तु वेदव्यासवशिष्ठादिवत् आप्तवाच एव भवन्त्विति सोल्लुण्ठनोक्तिरियम्। तथा च आ जन्मनस्तपोवनवासिन्या अविदितकैतवायाः शकुन्तलाया एव वचनं प्रमाणम्; न पुनर्विद्यारूपेण परप्रतारणामधीतवतो भवतां वचनं प्रमाणम्; तस्मात् शकुन्तलैव सत्यं वदति न पुनर्भवानिति भावः।

अत्र शकुन्तलावचनं सत्यं दुष्यन्तवचनमसत्यमिति विशेषे प्रस्तुते यत्सामान्यवचनं सा वैधर्म्येणाप्रस्तुतप्रशंसा। अथवा 'अप्रमाणम्'?—अपि तु न; ते आप्तवाचः?—अपितु न; इति काकौ साधर्म्येणाप्रस्तुतप्रशंसा। तथा पराभिसन्धाने तादात्म्येन विद्यात्वारोपाद्रूपकालंकारस्तदंश एव। केचित्तु-'तस्य जनस्य वचनमप्रमाणम्'—अपि तु प्रमाणमेव, 'ते आप्तवाचः सन्तु'—अपितु ते तेऽनाप्तवाच एव इत्यर्थद्वयमिति वदन्ति। असूयादयो भावाः। उपजातिर्वृत्तम्॥ २८॥

(१) राजेति। अथ मुनिजनाधिक्षिप्तो राजा सोपहासमाह;-अहो इति। अहो सत्यवादिन इति सोल्लुण्ठनोक्तिरियमिति केचित्। 'भोः सत्यवादिन्' इत्यनेकत्र पाठः। अभ्युपगतम्—अङ्गीकृतम्। वयम्, एवंविधाः—भवदुक्तप्रकाराः परप्रतारणपरायणा अनाप्तवाच एवेत्यर्थः 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते' इति न्यायेनाह;-किं पुनरपि। इमां—तपस्विनीं बालां शकुन्तलाम्, अभिसन्धाय-प्रताय किं—फलम्, पुनर्लभ्यते?-अव्ययंते, न किमपीत्यर्थः। तथा च सर्वत्र प्रतारणे किमपि फलं दृश्यते अस्यास्तु तपस्विन्याः शकुन्तलायाः प्रतारणे कस्यचित् फलस्यालाभाद्व्यर्थैव प्रतारणेति तात्पर्यार्थः।

(२) शार्ङ्गेति। कुपितस्तदुत्तरमाह; विनिपात इति। विनिपातः-अधोगतिः;-विध्वंस इति यावत्; इमामभिसन्धाय लभ्यत इत्यनुषङ्गः। तथा च तपस्विन्या अस्याः शकुन्तलायाः प्रतारणात्तत्पापेनात्मनोऽधोगतिरेव भविष्यतीति भावः।

---

(१) राजा—हे सत्यवादियो! मैंने मान लिया कि हम आपके कथनानुसार धोखेबाज हैं, पर इनको धोखा देने से मुझे क्या लाभ होगा?

(२) शार्ङ्गरव—लाभ यही होगा कि इससे तुम्हारा अधःपतन होगा।

राजा—विनिपातः पौरवैर्लभ्यत इत्यश्रद्धेयमेतत् (१)।

शार्ङ्ग—भो राजन् ! किमत्रोत्तरैः ? अनुष्ठितो गुरुनियोगः, सम्प्रति प्रतिनिवर्त्तामहे वयम् (२)।

तदेषा भवतः पत्नी त्यज वैनां गृहाण वा ।

अत्र 'अहो सत्यवादिनः !' इत्यादिपूर्ववाक्यमारभ्य एतदन्तसन्दर्भे अक्षमा नाम नाट्यालङ्कार उपनिबद्धः। तल्लक्षणं यथा—

'अक्षमा सा परिभवः स्वल्पोऽपि नाभिसह्यते' ॥ इति ।

(१) राजेति। पौरवैः—महता पुण्येनैव पुरुवंशोत्पन्नैः, विनिपातः—अधोगतिर्लभ्यते; इति–एतत् अश्रद्धेयम्–अप्रत्ययनीयम्, 'श्रद्धा संप्रत्ययः स्पृहा' इत्यमरः। तथा च पौरवाणामतिधार्मिकत्वात् परं प्रतारयतामपि तेषां नैव विनिपातः सम्भविष्यति; प्रतारणजनिताधर्मापेक्षया पुरुवंशोत्पत्तिप्रयोजकधर्मस्यातीवबलवत्वात् तस्यैव च विनिपातवारकत्वादिति भावः।

अत्र गुरुभूतस्य पूर्वपुरुषस्य पुरोः कीर्त्तनात् प्रसङ्गो नाम विमर्शसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम्। तल्लक्षणं यथा—'प्रसङ्गो गुरुकीर्त्तनम्' ॥ इति साहित्यदर्पणे।

(१) शार्ङ्गेति। अथ शार्ङ्गरवः सर्वतोभावेन राज्ञः शकुन्तलावरणप्रबोधने निरस्तवचनः सन् सम्प्रति 'किमेतैः शुष्ककलहैः' इति मन्वानः फलितमाह—भो राजन् इति। अत्र—एतस्मिन् विषये; भवद्वचनविषये वा, उत्तरैः—बहुवचनैः; अस्माकं प्रतिवचनैर्वा, किं फलम्, अपि तु न किञ्चिदपीत्यर्थः, तस्मादस्माद्विरतिरेव वरमिति भावः। यद्येवं तदा कथमत्रागमनमित्यत आह–अनुष्ठित इति। गुरोः–कण्वस्य नियोगः–आदेशः, अनुष्ठितः–अस्माभिः सम्पादितः, तदसम्पादने तु प्रत्यवायसम्भवात् इति भावः। तदेदानीं किं कर्त्तव्यमित्यत आह—सम्प्रतीति। प्रतिनिवर्त्तामहे–अनुष्ठितगुरुनियोगादाश्रमं प्रति गच्छाम इत्यर्थः।

अथ कार्यमुपसंहरँश्चाह—तदिति। तदित्युपसंहारः, यद्वा यतो वयमनुष्ठितगुरुनियोगा गमनोत्सुकाश्च तस्मादित्यर्थः, एषा–शकुन्तला, भवतः पत्नी, गान्धर्वविधिना त्वयैव परिणीतत्वात्; मा भूदस्यां परपरिग्रहाशङ्केति भावः। अथवा–एषा–त्वत्करे समर्पितेत्यर्थः। एनां–शकुन्तलाम्, त्यज वा गृहाण वा। एषा भवतः

---

(१) राजा—पुरुवंशियों का भी कभी आत्मपतन संभव है, इस बात पर विश्वास हो नहीं सकता।

(२) शार्ङ्गरव—हे राजन् ! अब अधिक उत्तर-प्रत्युत्तर करने से क्या काम ? हमने अपने गुरु की आज्ञा का पालन कर दिया, अब वापस जा रहे हैं।

यह आपकी पत्नी है, आप इसे छोड़ दीजिये या अपने पास रखिए। क्योंकि—

उपयन्तुर्हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ २९ ॥

गौतमी ! गच्छाग्रतः । [इति सर्वे प्रस्थिताः ।] (१)

शकु—अहमिदानीमनेन कितवेन विप्रलब्धा, यूयमपि मां परित्यजथ (२) । (अहं दाणिं इमिणा किदवेण विप्पलद्धा, तुह्मे वि मं परिच्चअध ।) [इत्यनुप्रस्थिता]

गौत— [स्थित्वा परिवृत्यावलोक्य च] वत्स शार्ङ्गरव ! अनुगच्छति नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला, प्रत्यादेशपरुषे भर्त्तरि किं करोतु तपस्विनी (३) । (वच्छ ! सङ्गरव ! अणुगच्छदि णो करुणपरिदेविणी सउन्तला'

पत्नी एनां त्यज वा गृहाण वेति वा योजना । हि–यतः, उपयन्तुः–वोढुः पत्युरिति यावत् , दारेषु–पत्न्याम्, सर्वतोमुखी–सर्वप्रकारा, प्रभुता–कर्तृत्वं वर्तत इति शेषः । तथा च—दारेषु विषये पत्युः सर्वविधकर्तृस्वभावादस्यां विषये ग्रहणवर्जनादिभिर्यथेच्छमाचर; नास्माकमत्र विशेषवचनावसर इति भावः । अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । मतिर्भावः । इदं शारद्वतवचनमिति केचित् । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २९ ॥

(१) गौतेति । अग्रतः–पुरतः सर्वे-शार्ङ्गरवशारद्वतौ गौतमी च, प्रस्थिताः–प्रस्थातुमारभन्ते । आदिकर्म्मणि क्तः । सः प्राधान्यात् पुंस्त्वम् ।

(२) शकु इति । कितवेन—धूर्त्तेन 'कितवो धूर्त्त उन्मत्ते वञ्चके कनकाह्वये' इति विश्वः; राज्ञेत्यर्थः, कितवेनेति विप्रलम्भस्य बुद्धिपूर्वकत्वं प्रकटयति, विप्रलब्धा–वञ्चिता; बहुविधलोभप्रदर्शनपूर्वकं मां गान्धर्वविधिना परिणीयेदानीमस्वीकृतत्वादिति भावः । परित्यजथ—परित्यज्य गच्छथ, अत्र काक्वा मा परित्यजथ इति द्योत्यते, तेनान्यथा निराश्रयैव भवेयमित्यपि व्यज्यते । महाविषादोक्तिरियम् । अनुप्रस्थिता—शार्ङ्गरवादीननुगच्छति । अत्र विमर्शसन्धेः खेदो नामाङ्गमुपन्यस्तम् । तल्लक्षणं यथा दर्पणे–'मनश्चेष्टासमुत्पन्नः श्रमः 'खेद' इति स्मृतः' ॥ इति ।

(३) गौतेति । स्थित्वा–गमनान्निवृत्य । करुणं–शोकोद्दीपकं यथा स्यात्तथा; यद्वा करुणेन–करुणरसेन; परिदेव्यति–विलपतीति सा करुणपरिदेविनी 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः, शकुन्तला–दुहिता, नः–अस्मान् अनुगच्छति पश्चादागच्छति ।

पत्नी पर पति की सब तरह की प्रभुता रहती है ॥ २९ ॥

(१) गौतमी—चलो, आगे बढ़ो । (सब चल देते हैं)

(२) शकुन्तला—अभी इस कपटी ने मुझे धोखा दिया ही है, अब क्या आप लोग भी मुझे छोड़ रहे हैं ? (उनके पीछे-पीछे चल पड़ती है)

(३) गौतमी—(खड़ी होकर और घूमकर पीछे देखती है) वत्स शार्ङ्गरव ! शकुन्तला

पच्छादेसपरुसे भत्तरि किं करेदु तवस्सिणी !)

शार्ङ्ग—[सरोषं प्रतिनिवृत्य ।] आः पुरोभागिनि ! किमिदं स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ? (१)

शकु—[भीता वेपते ।] (२)

प्रत्यादेशेन-प्रत्याख्यानेन परुषे-दारुणे, भर्त्तरि-स्वामिनि विषये, तपस्विनी-अनुकम्पार्हा, किम्-अस्मदनुगमनादन्यत् किमित्यर्थः । एतेन गौतमीकर्तृकशकुन्तलानुगमनानुमोदनं सूचितम्; किञ्च तादृशानुमोदनप्रार्थना शार्ङ्गरवे गौतम्या सूच्यते; समुदाये तु शकुन्तलाया दयनीयत्वं द्योत्यते । अहो स्त्रीणां पुरुषापेक्षया हृदयसारत्वमिति समालोचनीयम् ।

(१) शार्ङ्ग इति । अथ शार्ङ्गरवः 'आत्मदोषमननुसन्धाय, केवलं परदोषमात्रमुत्प्रेक्षमाणामनुगच्छन्तीं शकुन्तलां प्रति 'प्रत्यादेशपुरुषोऽपि पतिः सेव्य एव' इति सिद्धान्तादरेण सरोषमाह;-आ इति । शकुन्तलायाः स्वात्मदोषाननुसन्धानेन परदोषमात्रग्रहणं तथापि स्वानुगमनं शार्ङ्गरवस्य रोषकरणे हेतुः । आः-कोपे पुरोभागिनि ! दोषदर्शिनि 'दोषैकदृक् पुरोभागी' इत्यमरः, येन कर्मणानुष्ठितेन केवलं दोषमात्रं जायते न किन्तु गुणस्तन्मात्रानुष्ठायी दोषैकदृक् , अस्मिन् व्यापारे तव केवलं दोष एव न किन्तु गुण इत्यभिसन्धिः । किं-कथम्, इदम्,-अस्मदनुगमनरूपमित्यर्थः, स्वातन्त्र्यं-स्वाधीनताम्, अस्माकमनुमतिं विनापि स्वेच्छयाऽनुगमने प्रवर्तनादिति भावः, अवलम्बसे-आश्रयसि, भर्त्तारमेवाश्रय; माऽस्मानुगम इति, भावः । यौवने भर्तुः समीपावस्थाने विधिमाह;—

'पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥'

अत्र विमर्शसन्धेर्द्युतिर्नामाङ्गमुपन्यस्तम्; 'तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता द्युति'रिति दर्पणोक्तलक्षणात् ।

(२) शकु इति । वेपते-कम्पते, शार्ङ्गरवमुखात्तादृशपरुषोक्तिश्रवणात् पूर्वं भर्तृप्रत्याख्यातत्वाच्च । किं करोतु तपस्विनी इति सहृदयैर्मन्तव्यम् ।

करुण विलाप करती हुई हमारे पीछे आ रही है । यह अनाथ—इस तरह त्यागने के लिए उद्यत पति से—और क्या कह सकती है ?

(१) शार्ङ्गरव—(क्रोध के साथ घूमकर) अयि दोषकारिणी ! अब क्या तू स्वतन्त्रता का अवलम्बन करना चाहती है ?

(२) शकुन्तला—(भय से काँपने लगती है ।)

शार्ङ्ग—शकुन्तले शृणोतु भवती (१)।

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पुनरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः
पतिगृहे तव दास्यमपि क्षमम् ॥ ३० ॥

तिष्ठ, साधयामो वयम् (२)।

(१) शार्ङ्गेति। अथ शार्ङ्गरवः शकुन्तलायास्तादृशभयवेपने दृष्ट्वा कर्त्तव्योपदेशमुखेन तामवबोधयितुमारभते-शकुन्तले! इति। श्रोतव्यमाह-यदीति। क्षितिपः-भूपतिर्दुष्यन्तः, यथा वदति-'न खल्वहमिमां परिणीतवान्' इति यद् ब्रवीति, यदि त्वं तथासि-अनेनापरिणीतैवासि, परन्तु गर्भिणी जातेत्याशयः। तदा उत्कुलया उल्लंघितकुलाचारपद्धत्या पांसुलयेत्यर्थः; त्वया, किं पुनः-न किमपि फलमित्यर्थः, पुनरित्यत्र क्वचित् पितुरिति पाठः; तत्र-पितुः-कण्वस्य, उत्कुलया त्वया किमिति योजना, तथा च दुष्यन्तेनापरिणीतत्वादन्यस्य तु पतित्वेनाश्रवणात् पापगर्भया व्यभिचारिण्या त्वयास्माकं न किञ्चित् प्रयोजनमिति,त्वं यथेच्छमाचर'न पुनरस्माननुगच्छेति भावः। पक्षान्तरमाह—अथेति। तु शब्दः पूर्वस्माद्विशेषे, यदि आत्मनः व्रतं—नियमाचरणमित्यर्थः, शुचि—पवित्रम्, अन्यपुरुषसंसर्गाभावान्निष्पापमिति यावत्, वेत्सि—जानासि, तदा पतिगृहे,—भर्तृगृहे, अस्मिन् दुष्यन्तसद्मने इत्यर्थः। दास्यं—परिणये सन्देहात् दासीभावोऽपि, दास्यमपीति दास्यस्य नैकृष्टयमपिना सूच्यते, तव क्षमं-हितम्; जनापवादासम्भवादिति भावः। तथा च त्वयात्रैव स्थातव्यमिति सारार्थः। केचित्तु—गौतमीं प्रति पुरोभाग इत्याद्युक्तिः। किं स्वातन्त्र्यमवलम्ब्यते इति पाठः, तत्र-'भर्त्ता रक्षति यौवने' इति न्यायमुल्लङ्घ्य तस्याः स्वातन्त्र्यं किमनुमन्यत इत्यर्थः। तच्चानन्यशरणयाऽनया किं कर्त्तव्यमित्यत्र शकुन्तलामाह—शकुन्तल इत्यादि। द्रुतविलम्बितं नाम वृत्तम् ॥ ३० ॥

(२) सारकथामाह—तिष्ठेति। तिष्ठ—दास्यभावेनापि पतिप्रीत्यर्थमत्रैव वर्त्तस्वेत्यर्थः। साधयामः—आश्रमपदं गच्छामः; अस्माकमत्रावस्थितौ प्रयोजनादर्शना-

(१) शाङ्र्गरव-शकुन्तला! तुम सुनो—

जैसा कि महाराज कहते हैं यदि तुम वास्तव में वही हो, तब तो तुम जैसी कुलनाशिनी से कुछ होने का नहीं। और यदि तुम अपने चरित्र को पवित्र समझती हो तो दासी का काम कर के भी तुम्हें अपने पति के घर ही रहना चाहिए ॥ १० ॥

(२) तुम ठहरो। हम लोग जाते हैं।

राजा—भोस्तपस्विन् ! किमत्रभवतीं विप्रलभसे ? कुतः (१)—

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव ।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥ ३१ ॥

दिति भावः, प्रायेण ण्यन्तकः साधिगमे स्थाने प्रयुज्यते' इति नाट्यशास्त्रात् साहित्यदर्पणोक्तेश्च ।

अत्रैकस्य व्यापारस्योपसंहारप्रदर्शनाद् विमर्शसन्धेः प्ररोचना नामाङ्गमुपनिबद्धम् । तल्लक्षणं यथा दर्पणे-'प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी' इति ॥

(१) राजेति । अथ राजा 'अत्र शकुन्तलामवस्थाप्य गमने राजाऽवश्यमेव तां ग्रहीष्यतीति विभावयद्भिर्मुनिभिरेवमाचर्यते' इति मत्वाऽऽह-भोस्तपस्विन्निति । अत्रभवतीं-मुनिकन्यात्वेन पूजनीयां शकुन्तलाम्, अत्र पूज्यत्वकथनेनापि परपरिग्रहप्रतीतिर्विशदीक्रियते, विप्रलभसे—विरहयसि, परित्यज्य गच्छसीत्यर्थः, कथमप्येनामहं न ग्रहीतुं शक्नोमीति भावः ।

भवदुपायप्रयोगेणात्रासीनामप्येनां न स्वीकरिष्यामीति सदृष्टान्तं सामान्यमुखेनाह-कुमुदानीति । शशाङ्कः-चन्द्रमाः, कुमुदानि-कैरवाण्येव, बोधयति-उन्मीलयति, न पुनः पङ्कजानीत्येवकारार्थः । तथा सविता-सूर्यः, पङ्कजान्येव-कमलान्येव, बोधयति-प्रकाशयति, न पुनः कुमुदानीत्येवकारार्थः । हि-यतः, वशिनां-जितेन्द्रियाणां जनानाम्, धार्मिकाणामिति यावत्, वृत्तिः-मनोवृत्तिः-किं पुनः प्रवृत्तिरिति भावः । 'वृत्तिर्विवरणाजीवकैशिक्यादिप्रवर्त्तने' इति मेदिनी, परपरिग्रहस्य—अन्यवस्तुनः अन्यकलत्रस्य च संश्लेषे-सम्पर्के पराङ्मुखी-विमुखीभवतीति शेषः । 'परकलत्रपराङ्मुखत्वं न; अपि तु तत्सम्पर्कपराङ्मुखत्वम् तदपि-तन्मात्रं न; अपि तु सम्यगिति, तेन सशब्दः पराङ्मुखविशेषणतया योज्य'-इति-अर्थद्योतनिका । अत एव, ममापि प्रवृत्तिः परकलत्रभूतायाः शकुन्तलायाः संस्पर्शे पराङ्मुखीति भावः ।

अत्रैवकारद्वयस्य इतरयोगव्यवच्छेद एव मुख्योऽर्थः । तेन अप्रस्तुतात् शशाङ्ककर्तृकपङ्कजाबोधात् सवितृकर्तृककुमुदाबोधाच्च समात् प्रस्तुतस्य दुष्यन्तकर्तृकस्य शकुन्तलाया अस्पर्शनस्य समस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । बोधयतीत्येकया क्रियया अप्रस्तुतयोरेव शशाङ्कसवित्रोः कर्तृतयाभिसम्बन्धात् तुल्ययोगिता । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासश्च । इत्येतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः-इति वागीशाः । राघवभट्टास्तु—अत्र दुष्यन्तशकुन्तलानङ्गीकारे विशेषे प्रस्तुते सामान्य-

(१) राजा—हे तपस्वी ! आप इनको क्यों कोस रहे हैं । क्योंकि—

चन्द्रमा कुमुदिनी को और सूर्य कमल को ही प्रस्फुटित करता है । क्योंकि इन्द्रियदमनशील लोगों की प्रवृत्ति सदैव परस्त्रीसंस्पर्श-पराङ्मुखी ही रहती है ॥ ३१ ॥

शार्ङ्ग—राजन् ! अथ पूर्ववृत्तं व्यासङ्गाद्विस्मृतं भवेत्, तदा कथमधर्मभीरोर्दारपरित्यागः ? (१)

वचनेनाप्रस्तुतप्रशंसा, पूर्वार्द्धे वैधर्म्येण मालादृष्टान्तालङ्कारः। अत्र पूर्वमुपमेयं पश्चात्तत्प्रतिबिम्बत्वेनोपमानं निबद्धव्यमिति नायं नियमः; 'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्' इति लक्षणात्, उदाहृतञ्च रुचकेन;—

'अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरवपुर्जानाति मन्थाचलः।
देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः॥'

अत्र ज्ञानाख्यधर्मेणौपम्यं वा किं बिम्बमात्रेन वेति कश्चित्त्वालङ्कारिकः पूर्वार्द्धे वैधर्म्येण मालाप्रस्तुतप्रशंसा, उत्तरार्द्धे तत्समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास इत्यवदत्; तन्न; यतोऽयमप्रस्तुते विशेषः सामान्यं बोधयेदिति वक्तव्यम्; तन्न; प्रस्तुतस्य विशेषरूपत्वादेव; नापि तयोः कार्यकारणभावः; नाप्यत्र सारूप्यं तादृशधर्माभावात् कुमुदानीति पङ्कजानीति नपुंसकोपादानाच्च, तेन पूर्वोक्तमेव साधु ननु, तथापि कथं बिम्बप्रतिबिम्बभाव इति चेत्; उच्यते वशिनः शशाङ्कसवितारौ प्रतिबिम्बत्वेनोपात्तौ, परपरिग्रहस्य कुमुदपङ्कजे पराङ्मुखस्य वैधर्म्येण विकास इति सर्वं समञ्जसम्; इति प्राहुः। मतिर्भावः। आर्या जातिः॥ ३१॥

(१) शार्ङ्गेति। अथ शार्ङ्गरवो राज्ञोऽभिप्रायानुरूपं वक्तव्यमाह;-राजन्नित्यादि। अथेति प्रश्ने, 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः, यद्वा;-अथ-यदि, व्यासङ्गात्-बहुतरकर्मणि व्यापृतचित्तत्वादित्यर्थः; यद्वा व्यासङ्गात्-मोहादित्यर्थः, अनेन दुर्वाससः शापः संसूच्यते, पूर्ववृत्तम्-पूर्वचरित्रम्, शकुन्तलायाः परिणयनमिति यावत्, 'वृत्तं पद्ये चरित्रे च' इत्यमरः, विस्मृतं-स्मृतिपथाद्विच्युतम् भवेदिति सम्भावनायां विधिलिङ्। अधर्मभीरोः-पापाशङ्किनः; पापाद् भयशीलस्य भवत इत्यर्थः। इदं साभिप्रायविशेषणम्, तथा च यदि ते अधर्माद् भीतिरस्ति तदा दारपरित्यागः कथं क्रियते तत्राप्यधर्मसम्भवादिति भावः। यदुक्तं गौतमेन;—

'पतिताऽस्याग्यपतितत्यागिनश्च पतिताः' इति।

एवञ्चापतितदारत्यागेन महापापं तु भविष्यत्येवेति दारत्यागं मा कुरु इति शार्ङ्गरवस्याशयः। अत्रोत्प्रासनं नाम नाट्यालङ्कार उपन्यस्तः; तल्लक्षणं यथा;-
'उत्प्रासनं तूपहासो योऽसाधौ साधुमानिनि'। इति साहित्यदर्पणे।

(१) शार्ङ्गरव—यदि किसी कारणवश आप उस बीती बात को भूल गए हों तब क्या आप जैसे अधर्मभीरु के लिये इस प्रकार अपनी भार्या का परित्याग करना उचित होगा ?

राजा—[पुरोधसं प्रति] भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि (१) ।

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये ।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांशुलः ॥ ३२ ॥

पुरोधाः—[विचार्य] यदि तावदेवं क्रियताम् (२) !

राजा—अनुशास्तु मां गुरुः (३) ।

---

(१) राजेति । अथाधर्मभीरू राजा महासंकटे निपतितो भूत्वा पुरोहितं पृच्छति—भवन्तमिति । अत्र अस्मिन् विषये, गुरुलघ्वोर्भावो गुरुलाघवं·ग्रहणाग्रहणयोर्दोषस्य बलाबलम्, भवन्तमेव·धर्मकर्मोपदेष्टारं पुरोहितमेवेत्यर्थः । पृच्छते· र्द्विकर्मकत्वाद् भवन्तमित्यस्यापि कर्मत्वम् । क्वचित् पुस्तके पुरोधसं प्रतीति चूर्णकं नास्ति । केचित्तु शार्ङ्गरवमुद्दिश्य राज्ञ उक्तिरियमिति वदन्ति । तेषां मते;-भवन्तं· शार्ङ्गरवमित्यर्थः । तथा च शकुन्तलाया ग्रहणत्यागयोर्मध्ये कतरस्य गुरुत्वं कतरस्य वा लघुत्वमिति पृच्छामीत्यर्थः ।

किं पृच्छयत इत्यत्राह;-मूढ इति । अहं मूढः प्राप्तमोहः बहुतरकार्यव्यासङ्गात् विस्मृतविवाहवृत्त इत्यर्थः; स्यां-भवेयम्, वा-अथवा, एषा-शकुन्तला; मिथ्या-अनृतम्; वदेत, इति संशये-सन्देहे, दारत्यागी-मूढः सन् धर्मपत्नी-परित्यागी भवामि ?, अहो-किं वा, 'आहो उताहो किमुत विकल्पे किं किमूत च' इत्यमरः, परस्त्रीस्पर्शन-शकुन्तलावाक्यस्य मिथ्यात्वे परदारग्रहणेन पांशुलः-कलङ्कितो भवामि ?; स्वपत्नीत्यागपरपत्नीरक्षणजनितोभयविधपापयोः कतरस्य गुरुत्वमिति भवन्तमेव पृच्छामीत्यर्थः । संशयक्षेत्रे तु परस्त्रीग्रहणापेक्षया दारत्याग एव वरं पातके लाघवादिति राज्ञोऽभिप्रायः । अत्र वितर्को मतिश्च भावः । पृथ्वावक्त्रं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

(२) पुरोधा इति । पुरोहितो विचार्य कर्त्तव्यमुपदेष्टुमारभते;-यदीति । तावत्-तथा, अस्मिन् विषये संशयाकुलितोऽसीत्यर्थः, तदा एवं वक्ष्यमाणरूपम्, क्रियताम्-निश्चीयताम् ।

(३) राजेति । गुरुः-गुरुरूपः पुरोहितो भवान्, अनुशास्तु-कर्त्तव्यमुपदिशतु । गुरुरित्यनेनानुशासनाधिकारो द्योत्यते ।

---

(१) राजा—इस विषय में मैं आप ही से गौरव और लाघव की बात पूछता हूं—मैं पिछली बात भूल गया हूँ या ये मिथ्या बोल रही हैं, ऐसी दुविधा में मैं स्त्री-त्यागी बनूँ या कि परस्त्री-गमन दोषका भागी ? ॥ ३२ ॥

(२) पुरोहित—(विचार कर) यही बात है तो ऐसा करिए ।

(३) राजा—मुझे आज्ञा दीजिए ?

पुरो—अत्रभवती तावदा प्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु (१)।

राजा--कुत इदम् (२)।

पुरो--त्वं साधुनैमित्तिकैरुपदिष्टपूर्वः प्रथममेव चक्रवर्त्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति ! स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति, ततोऽभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये त्वस्याः पितुः समीपगमनं स्थितमेव (३)।

(१) पुरो इति। अत्रभवती-मुनिकन्यात्वेन माननीया शकुन्तला, आ प्रसवात्-प्रसवपर्यन्तम्, अस्मद्गृहे-अस्माकं भवने। धन्यः साधूपदेष्टा कालोचितकर्त्तव्याभिज्ञः पुरोधा इति समालोचनीयम्।

(२) राजेति। इदम्-आ प्रसवाद्भवद्गृहावस्थानम्, कुतः-कस्मात् हेतोः, भवत्विति शेषः।

(३) पुरो इति। निमित्तं शुभाशुभलक्षणं जानन्तीति नैमित्तिकाः--दैवज्ञाः, 'निमित्तं-हेतुलक्ष्मणोः' इत्यमरः, साधवः-निपुणाश्च ते नैमित्तिकाश्चेति ते तथोक्तैः, साधुविशेषणेन तद्वाक्यस्य विश्वसनीयत्वं सूच्यते, प्रथमम्-आदावेव, चक्रवर्त्तिनं-सार्वभौमम्, तल्लक्षणोपेतमिति यावत्, पुत्रं-तनयम्, जनयिष्यसि-उत्पादयिष्यसि, इति त्वमुपदिष्टपूर्वः-पूर्वमुपदिष्टः; इत्यन्वयः। सः-गर्भाज्जनिष्यमाणः, मुनिदौहित्रः-कण्वदुहितुः सुतः, अत्र मुनिदौहित्रत्वांशे सन्देहाभावान्मुनिदौहित्रपदम्। तल्लक्षणोपपन्नः-पादतलादौ पद्मचक्रादिचक्रवर्तिलक्षणैर्युक्तः; भविष्यति। चक्रवर्तिचिह्नमाह सामुद्रिके;—

'यस्य पादतले पद्मं चक्रं वाऽप्यथ तोरणम्।
अङ्कुशं कुलिशं वापि स राजा भवति ध्रुवम्।' इति।
तथा—'आजानुलम्बिनौ बाहू वृत्तौ पीनौ नृपेश्वरे।' इति च।

ततस्तदा, एनां-शकुन्तलाम्; अभिनन्द्य-आहृत्य, शुद्धान्तम्-अन्तःपुरम्, प्रवेशयिष्यसि। साधुनैमित्तिकोपदिष्टप्रकारेण चक्रवर्तिलक्षणोपपन्नस्य तत्पुत्रस्यात्मजातत्वनिश्चयात्; एवं सति मुनिदुहितुः स्वपरिणीतत्वनिश्चयादिति भावः। विपर्यये-वैपरीत्ये; जातकस्य चक्रवर्त्तिलक्षणाभावे इति यावत्, अस्याः-मुनिदुहितुः

(१) पुरोहित—आप (श्रीमती) जब तक कि प्रसव न हो जाय तबतक हमारे घर रहें।

(२) राजा—ऐसा क्यों किया जाय ?

(३) पुरोहित—आपको बहुत दिन पहले ही कुछ सत्प्रकृतिसम्पन्न सामुद्रिक विद्या जाननेवालोंने बताया था कि आपका पहला पुत्र चक्रवर्ती जन्मेगा। यह मुनि कण्वका नाती

राजा— यथा गुरुभ्यो रोचते (१)

पुरो—[उत्थाय] वत्से ! इत इतोऽनुगच्छ माम् (२) ।

शकु—भगवति वसुन्धरे ! देहि मे अन्तरम् (३) । (भअवदि वसुन्धरे ! देहि मे अन्तरं ।)

[इति सह पुरोधसा गौतमीतपस्विभिश्च रुदती निष्क्रान्ता ।] (४)

राजा—[शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति । (५)

शकुन्तलायाः, पितुः–मुनेः कण्वस्य, समीपगमनं–तपोवनगमनमित्यर्थः, स्थितमेव–निश्चितमेव । पारिशेष्यान्नियतमेवेत्यर्थः ।

(१) राजेति । यथेत्यादि राज्ञस्तदनुवादः । यथा गुरुभ्यो रोचते तथा भवन्तः कुर्वन्त्वित्यर्थः ।

(२) पुरो इति । इतः इतः–अनेनानेन मार्गेण, मामनुगच्छ–अस्मद्भवनं यातुं मम पश्चादागच्छेत्यर्थः ।

(३) शकु इति । अथ पुरोहितमनुप्रस्थिता शकुन्तलोभयलोकभ्रंशमसहमाना जानकीवद्देहत्यागाय भगवतीं वसुधां सनिर्वेदमाशंसते—भगवतीति । अन्तरम्—अवकाशम्, उभयकुलभ्रष्टत्वादिति भावः । अत्रादावीप्सितस्य राजकर्तृकात्मग्रहणस्य पश्चाच्चेप्सितस्य तपोवनानुगमनस्य चोभयोरपि प्रतिघातात् विमर्शसन्धेः प्रतिषेधो नामाङ्गमुपन्यस्तम् । तल्लक्षणं यथा दर्पणे—

'ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेध इतीष्यते' ।

(४) इतीति । इति–इत्युक्त्वा, रुदती–क्रन्दन्ती, पुरोधसा·पुरोहितेन, गौतमी च तपस्विनौ–शार्ङ्गरवशारद्वतौ च ते तैश्च सहेत्यर्थः, निष्क्रान्ता–गता ।

(५) राजेति । शापेन–पूर्वोक्तेन दुर्वाससोऽभिसम्पातेन व्यवहिता–तिरोहिता स्मृतिर्यस्य स तथोक्तः, शकुन्तलागतमेव–तद्विषयमेव–तद्वृत्तान्तमेवेत्यर्थः, शकुन्त-

---

यदि उन लक्षणों से युक्त होगा तो आप इनका अभिनन्दन करके अपने रनिवास में ले जाइयेगा । वैसा न हुआ तो फिर इनका अपने पिता के पास वापस जाना तो निश्चित ही है ।

(१) राजा—आप गुरुजनों को जो अच्छा लगे, वही करें ।

(२) पुरोहित—(उठ कर) पुत्री ! इधर, इधर मेरे पीछे-पीछे चली आओ ।

(३) शकुन्तला—भगवति वसुन्धरे ! मुझे स्थान दो ।

(४) [पुरोहित, गौतमी और तपस्वियों के साथ शकुन्तला निकलती है ।]

(५) राजा—(दुर्वासा के शाप से लुप्तस्मृति अवस्था में भी शकुन्तला के विषय में ही सोचता है :]

[नेपथ्ये]—आश्चर्यमाश्चर्यम् (१)।

राजा—[कर्णं दत्त्वा] किन्तु खलु स्यात् (२) ?

पुरोधाः—[प्रविश्य सविस्मयम्] देव ! अद्भुतं खलु संवृत्तम् (३)।

राजा—किमिव (४) ?

पुरो—देव ! परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु (५)—

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला
बाहूत्क्षेपं रोदितुञ्च प्रवृत्ता।

लामेवेत्यपि पाठः, चिन्तयति—भ्रूलतोत्तोलनादिना चिन्तां नाटयति। अनेन राज्ञः शकुन्तलानुरागवासनाबलेन चित्तव्याक्षेप उक्तः। अत्र चौत्सुक्यादयो भावाः।

(१) नेपथ्ये इति। पुरोहितादेरुक्तिरियम्। नेपथ्यलक्षणं प्रागुक्तम्। आश्चर्यमाश्चर्यम्—अद्भुतम्, अतीव विचित्रं सञ्जातमित्यर्थः।

(२) राजेति। कर्णं-श्रोत्रेन्द्रियम्, दत्वा-अवहितीकृत्य। किन्तु-वितर्के 'किन्तु प्रश्नवितर्कयोः' इति मेदिनी. खल्विति प्रश्नार्थकम्। स्यादिति सम्भावनायां लिङ्।

(३) पुरोधा इति। अद्भुतम्—आश्चर्यम्, संवृत्तं—सञ्जातम्। 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यम्' इत्यमरः।

(४) राजेति। किमिव—कीदृशम्, अद्भुतमिति योजना।

(५) पुरो इति। परावृत्तेषु-गतेषु, कण्वशिष्येषु-शार्ङ्गरवादिषु। राजसदनात्तपोवनोद्देशेन शार्ङ्गरवादीनां प्रस्थानानन्तरमित्यर्थः इदं श्लोकेनान्वेति।

सा निन्दन्तीति। सा—पत्या बन्धुभिश्च परित्यक्तत्वादशरणेत्यर्थः बाला—कर्त्तव्यमजानतीत्यर्थः, शकुन्तला, स्वानि—स्वकीयानि; भाग्यानि—समागमावसरे नायकेन प्रणयवशात् प्रतिज्ञातानि प्रधानमहिषीत्वादीनि। पितृगृहेऽवस्थानकाले वात्सल्यातिशयादाशीःप्रदानसिद्धानि कल्याणानि लोकोत्तरभर्तृलाभनिमित्तानि रूपादीनि चादृष्टानि, निन्दन्ती—अधिक्षिपन्ती सती; बाहू—भुजद्वयम्, उत्क्षिप्य—ऊर्ध्वं क्षिप्त्वेति बाहूत्क्षेपम्, द्वितीयायां 'द्वितीयायां चे'ति णमुल्, अथवा-बाह्वोरुत्क्षेपो

---

(१) नेपथ्य में—आश्चर्य ! आश्चर्य। !

(२) राजा—(सुनकर) क्या हुआ !

(३) पुरोहित—(प्रवेश करके विस्मय के साथ) राजन् ! बड़े आश्चर्य की घटना घट गयी।

(४) राजा—कैसी ?

(५) पुरोहित—देव ! जब कण्व के शिष्य लौट गये तो—

वह बाला अपने भाग्य को कोसती और हाथ झकझोरती हुई रोने लगी।

राजा—ततः किम् (१) ?

पुरो—

स्त्रीसंस्थानञ्चाप्सरस्तीर्थमारा-
दुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेनां तिरोऽभूत् ॥ ३३ ॥

यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम्, रोदितुं-क्रन्दितुं च चकारो यौगपद्ये, प्रवृत्ता-आरब्धवती । यतो बाला अत एव बाहूत्क्षेपं रोदितुं प्रवृत्तेति बालस्वभावोक्तिः । यद्वा बाहूत्क्षेपमिति शोकाकुलरोदनस्वभाव इति बोध्यम् । एतदनन्तरं राजवचनान्ते वक्ष्यमाणेन परार्द्धेन वाक्यसमापनम् ।

(१) राजेति । तदाकर्ण्य राजा विस्मयहेतुकव्यापारश्रवणौत्सुक्येन मध्ये पृच्छति;-तत इति । ततः किं संवृत्तमित्ययं प्रश्नः ।

अनन्तरसंवादमाह;-स्त्रीसंस्थानमिति । स्त्रियाः संस्थानम्-आकृतिरिव संस्थानं यस्य तत्-ललनाकारमित्यर्थः, तेजोरूपत्वेन स्पष्टमदृश्यमानमत एव संस्थानशब्द-प्रयोगः दैवेन नीतापि स्त्र्याकारेणैवेति परपुरुषासंस्पर्शित्वं ध्वनितम्, 'संस्थान-माकृतौ मृत्यौ सन्निवेशे चतुष्पथे' इति मेदिनी, अप्सरोवत् तीर्थं-दर्शनं यस्य तदप्सरस्तीर्थम्-अप्सरोवद् दृश्यमानमिति यावत्, यद्वा अप्सर एव तीर्थं-योनिरु-त्पत्तिस्थानं यस्य तादृशम्, 'तीर्थं शास्त्रे गुरौ यज्ञे पुण्यक्षेत्रावतारयोः । ऋषिजुष्टे जले सन्त्रिण्युपाये स्त्रीरजस्यपि । योनौ पात्रे दर्शने च' इति हेमचन्द्रः, ज्योतिः-कश्चित्तेजः-पुञ्जः, एनां-शकुन्तलाम्, अङ्के-क्रोडे, उत्क्षिप्य—निधाय, आरात्—अस्माकं समीप एव, तिरोऽभूत्—अन्तरधात् । इदमतीवाश्चर्यं सञ्जातमिति भावः ।

'अप्सरस्तीर्थमारात्' इति; अप्सरसां तीर्थम्, अप्सरस्तीर्थम्, अप्सरसः समागत्य गङ्गायां यत्र स्नानं कुर्वन्ति तत्तीर्थमप्सरस्तीर्थम्, तल्लक्षीकृत्येति शेषः, आरात्-दूरादेवागत्येत्यर्थः 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः,-इति केषाञ्चिद् व्याख्यानम् । क्वचित् ;—'उत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम' इति पाठः, तत्रैवं व्याकु-र्वन्ति;-एकं-केवलम्, ज्योतिः-तेजः, एनां-शकुन्तलाम्, आरात्-दूरात्; उत्क्षि-प्य-उत्तोल्य, अप्सरस्तीर्थम्, जगामेति सम्बन्धः,-इति ।

परे तु-ज्योतिः-काचिदप्सरा इत्यर्थः, अप्सरस्तीर्थं-शचीतीर्थं लक्षीकृत्य, आरात्—समीपे जगाम इति योजनेति व्याचक्षते । अन्ये तु,—आप्सरस्तीर्थमिति पच्छेदः, 'आङ्मर्यादाभिविध्योरि'त्यव्ययीभावः—इति वदन्ति ।

(१) राजा—क्या हुआ ?

पुरोहित—इसके बाद स्त्री के समान आकृतिवाली और अप्सरा की भाँति सुन्दरी तथा तेजोमयी मूर्ति आयी और हम लोगों के पास से उस लड़की को गोद में लेकर गायब हो गयी ॥ ३३ ॥

[सर्वे विस्मयं रूपयन्ति ।] (१)

राजा--भगवन् ! प्रागेवास्माभिरेषोऽर्थः प्रत्यादिष्टः, किं मृषा तर्केणान्विष्यते ? विश्राम्यतु भवान् (२) ।

पुरोधा--विजयस्व । [इति निष्क्रान्तः ।] (३)

राजा--वेत्रवति ! पर्याकुलोऽस्मि, शयनीयगृहमार्गमादेशय (४) ।

अत्र पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोश्चकारद्वयेन प्रवृत्तिरोदनरूपक्रियाद्वयस्य यौगपद्यं सूच्यत इति क्रियासमुच्चयालङ्कारः । स्त्रीसंस्थानमित्यत्रोपमा च । नेपथ्ये इत्यादिनैतदन्तेनाद्भुतरसो वर्णितः । शालिनीवृत्तम्,—'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' इति तल्लक्षणम् ॥ ३३ ॥

(१) सर्वे इति । सर्वे-तत्रस्थाः जनाः, रूपयन्ति—अभिनयन्ति, नयनविस्फारादिभिरिति बोध्यम् ।

(२) राजेति । तत्तिरोधानं न मे दुःखावहमिति सूचयन् पुरोहितं तद्विषयकभावनातो निवारयति;—भगवन्निति । प्रागपि—इतोऽन्तर्धानात् पूर्वमपि, एषोऽर्थः-शकुन्तलालक्षणो विषयः, प्रत्यादिष्टः—परपरिग्रहभूतत्वबुद्ध्या प्रत्याख्यातः। अतस्तत्तिरोधानेन न मे दुःखलेशोऽपीति भावः । तर्केण—सा कुत्र गता कया वा नीता इति विचारेण, मृषा—मिथ्या, किमन्विष्यते—अनुसंधीयते, प्रत्यादिष्टविषयनिरूपणस्य निष्प्रयोजनत्वादित्याशयः । अत आह;-विश्राम्यत्विति । एषोऽर्थ इति,-मानुषत्वेऽपि सन्देहादर्थपदप्रयोगः ।

(३) पुरोधा इति । विजयस्व-सर्वोत्कर्षेण वर्त्तस्व, राजान्तिके गमनागमनावसरे विजयस्वेत्यादिव्यवहारः । 'विपराभ्यां जे' रित्यात्मनेपदम् । निष्क्रान्तः—पुरोहित इति शेषः ।

(४) राजेति । यद्य शापबलेन नष्टस्मृतिरपि नायको नायिकावियोगकाले वासनाभ्यासान्मनसि विजृम्भमाणं कमपि सन्तापमनुभवन् प्रतीहारीमाह 'वेत्रवतीत्यादि । अथवा शापावसानस्य निकटभावित्वात् तदानीमतर्कितभावेन जनिष्यमाणाया व्याकुलतायाः प्रदर्शने सभ्यानामेकस्माद्रसादन्यस्य रसस्यास्वादनाय वैमुख्यं भवेदिति क्रमेण तद्दर्शयितुं नाट्ये सन्नियोजितो राजा प्रतीहार्याह्वानपूर्वक-

(१) [सब विस्मय का भाव दिखाते हैं]

(२) राजा—भगवन् ! मैंने पहले ही से इस बात को टाल दिया है । अब व्यर्थ का तर्क कर अनुसंधान करने से क्या लाभ ! अब आप लोग विश्राम करें ।

(३) पुरोहित—आपकी जय हो । (चला जाता है)

(४) राजा—वेत्रवति ! मैं बहुत घबड़ा गया हूं । शयनगृह का रास्ता बतलाओ ।

प्रती--इत इतो देवः । (१) (इदो इदो देवो ।)

राजा--[परिक्रम्य स्वगतम् ।] (२)--

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मां हृदयम् ॥ ३४ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।] (३)

इति पञ्चमोऽङ्कः ।

माह—वेत्रवतीति । वेत्रवतीति प्रतिहार्य्या नाम्ना सम्बोधनम् । पर्याकुलः —परि-अतिशयेन आकुलः—उत्कण्ठायुक्तः; यद्वा एतावत्कालं व्याप्य वादवितण्डाकरणात् परिश्रान्त इत्यर्थः, अस्मि-भवामि । शय्यतेऽस्मिन्निति शयनीयं तच्च गृहञ्चेति तस्य मार्गं-पन्थानम्, आदेशय-वचनेन ज्ञापय । किञ्चिद्विश्राम्यामीति भावः ।

(१) प्रतीति । इत इतः अनेनानेन मार्गेण, देवः राजा, भवानागच्छत्विति भावः ।

(२) राजेति । परिक्रम्य—कियन्तं पादक्रमं कृत्वा ।

पर्याकुलत्वस्य कारणमन्विष्यते-काममिति । प्रत्यादिष्टां-सम्प्रत्येव निराकृताम्, दूरनिरस्तत्वाददर्शनं गतां वेत्याशयः । मुनेः—कण्वस्य, तनयां-शकुन्तलाम्, परिग्रहं-परिणीतां स्वां पत्नीम्, कामं—सम्यक् , न स्मरामि,–परिग्रहत्वेन पर्याप्तं न स्मरामीत्यर्थः । तु—किन्तु बलवत्—अत्यर्थमेव, दूयमानं—क्लिश्यमानम्, हृदयं—मम चेतः कर्तृ, प्रत्याययतीव—परिग्रहत्वेन विश्वासमुत्पादयतीवेत्युत्प्रेक्षा । तया प्रत्यायनस्यास्पष्टता द्योतिता; तया च स्थायिन्या रतेरनुसन्धानमपि ध्वन्यते । अस्मिन् श्लोके उत्तराङ्कार्थबिन्दुरुपक्षिप्तः । अत्र स्मरणरूपकारणाभावेऽपि दूयमानत्वरूपकार्योत्पत्तेर्विभावनालंकारः । अत्रानुमानालंङ्कार इति केचित् । आर्या जातिः ॥ ३४ ॥

(३) इतीति । एवमुक्तौ सत्यामित्यर्थः, सर्वे-राज्ञा सह सभासदः, निष्क्रान्ताः—प्रस्थिताः । रङ्गभूमित इति शेषः ।

इति किशोरकेलिव्याख्यायां पञ्चमोऽङ्कः समाप्तः ।

---

(१) प्रतीहारी--महाराज ! इधर आइए इधर ।

(२) राजा--(चलते-चलते स्वगत)--

इस त्यागी हुई मुनितनया का मैंने कभी पाणिग्रहण किया है, यह बात याद भी नहीं आती, फिर भी मेरा अतिशय सन्तप्त हृदय जैसे उस बाला को 'मेरी भार्या है' यह विश्वास करा रहा है ॥ ३४ ॥

(३) (इसके बाद सब चले जाते हैं)

पंचम अंक समाप्त ।

पञ्चमाङ्कांशोऽङ्कावतारः (१)

[ततः प्रविशति नागरकश्यालः पश्चाद्बाहुबद्धं पुरुषमादाय रक्षिणौ च (२)।]

कौशल्याङ्कावतारः श्रीरामो लङ्केशसूदनः।
पञ्चमाङ्कावतारेऽस्मिन् शब्दशङ्कां व्यपोहतु (ताम्)॥ १॥

(१) अङ्कः—अङ्कान्तरमङ्गभावेनावतरति-आविर्भवत्यस्मिन्नित्यङ्कावतारः—तन्नामार्थोपक्षेपकभेदः। यदुक्तं दर्पणे—

'अर्थोपक्षेपकाः पञ्चविष्कम्भकप्रवेशकौ। चूलिकाङ्कावतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि'॥

अङ्कावतारलक्षणमपि तत्रैव यथा—

'अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः।
यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः॥' इति।

एवञ्चायं भागोऽङ्कावतार एवेति बोध्यः।

दर्पणकृता स्वरचिताङ्कावतारलक्षणग्रन्थविवृतावयमेव भागोऽभिज्ञानस्य दृष्टान्तीकृतः यथा—'यथा—अभिज्ञाने पञ्चमाङ्के पात्रैः सूचितः,
षष्ठाङ्कस्तदङ्कस्याङ्गविशेष इवावतीर्णः॥' इति।

प्राञ्चस्तु— यन्नीचः केवलं पात्रैर्भाविभूतार्थसूचनम्।
अङ्कयोरुभयोर्मध्ये स विज्ञेयः प्रवेशकः॥

'अङ्कयोरुभयोर्मध्ये' इत्यनेन प्रथमाङ्कनिषेधः प्रथमाङ्कात् पूर्वमङ्कान्तराभावेनाङ्कद्वयमध्यवर्त्तित्वासम्भवात् इति सुधाकरीयलक्षणदिशा नीचपात्रैर्भाव्यर्थसूचनात् प्रवेशकोऽयमिति प्राहुः। वस्तुतस्तु—

हीनाभ्यामेव पात्राभ्यामङ्कादौ यत् प्रवर्त्तते। प्रवेशकः स विज्ञेयः शौरसेन्यादिभाषया।

इति भारतीयलक्षणे द्वित्वावच्छिन्नपात्रप्रयोज्यत्वकथनादत्र तु त्रित्वाद्यधिकसंख्यकपात्रप्रयोज्यत्वदर्शनेन निरुक्तलक्षणासङ्गत्या वेण्यामश्वत्थामाङ्के राक्षसमिथुनप्रयोजितत्वेनैवैतल्लक्षणसङ्गतिकरणाच्च नायं प्रवेशकोऽपि तु अङ्कावतार एवेति दर्पणदृष्टा दिक् साधीयसी।

(२) तत इति। नगरं-राजधानीं रक्षतीति नागरः; नागर एव नागरकः—नगरस्य प्रधानरक्षकः, स्वार्थे कन् प्रत्ययः तस्य श्यालः—पत्नीभ्राता, 'श्यालाः स्युर्भ्रातरः पत्न्याः' इत्यमरः, यद्वा—नागरः—राजधानीरक्षकः स एव श्यालः—प्रकरणाद्राजश्यालकः इत्यर्थः, राज्ञो बहुपत्नीकत्वात् कोऽपि तत्पत्नीभ्राता राजधानीरक्षाकार्ये नियुक्त आसीदिति बोध्यम्। क्वचित्-'नागरिकश्याल'—इति पाठः, तत्र—नाग-

(२) [इसके अनन्तर राजा का साला और एक मनुष्य के पीछे की ओर हाथ बाँधे दो सिपाही आते हैं।]

रक्षिणौ—[पुरुषं ताडयित्वा ।] अरे कुम्भिलक ! कथय कुत्र त्वया एतन्महामणिभासुरमुत्कीर्णं नामाक्षरं राजकीयमङ्गुलीयकं समासादितम् (१) । (अले कुम्भिलआ ! कधेहि कहिं तुए एशे महामणिभाशुले उक्किण्णणामक्खले लाअकीए अङ्गुलीअए शमाशादिदे ।)

पुरुषः—[भीतिनाटितकेन] प्रसीदन्तु प्रसीदन्तु मे भावमिश्राः । नाहमीदृशस्य अकार्यस्य कारकः (२) । (पशीदन्तु पशीदन्तु मे भावमिश्शे । ण हग्गे ईदिशश्श अकज्जश्श कालके ।)

रिकः–नगरवासिनां योगक्षेमसम्पादनाय राज्ञाऽधिकृतः, श्यालः–राज्ञः कार्योपयोगी हीनजातिः कश्चित्, यथोक्तं दशरूपके:–'म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः' इति, 'राज्ञः श्यालस्तु राष्ट्रियः' इत्यमरकोषोऽपि,—इति केषाञ्चिद् व्याख्यानम् । राजश्यालकस्योपस्थानमबाधेनान्तःपुरप्रवेशप्रतिपादनार्थम् - तच्चाग्रे स्फुटीभविष्यति । पश्चाद्वाहुबद्धं–पृष्ठतो बाहुद्वयं संगमय्य बद्धमित्यर्थः, पुरुषं–कमपि जनम्, वक्ष्यमाणप्रकारेण धीवरमित्यर्थः रक्षिणौ–सामान्यप्रहरिणौ च प्रविशत इति शेषः ।

(१) रक्षिणाविति । अरे इति नीचजनसम्बोधने, कुम्भिलक !—चौर !, 'कुम्भिलः शालमीने च चौरे श्लोकार्थचौरयोः' इति मेदिनी, कुम्भिलक इति कुत्सायां कन् । महामणिभासुरं—महामणिना—महार्घ्यरत्नेन उपरि निहितेनेति भावः, भासुरम्—उज्ज्वलम् , उत्कीर्णनामाक्षरम् उत्कीर्णानि उपरि क्षुण्णानि उल्लिखितानीति यावत् , नामाक्षराणि–राज्ञो नामवर्णा यस्मिन् तत् तथोक्तम् , राज्ञ इदमिति राजकीयं, दुष्यन्तसम्बन्धि, अङ्गुरीयकम्–अङ्गुलिमुद्राम् , समासादितं–प्राप्तम् । अनेन त्वयैतन्मुषितमिति द्योत्यते । अत्र मागधी भाषा बोध्या, 'मागधी राक्षसादेः स्यात्' इति भरतवचनात् , तत्रादिपदेन शकारधीवरादीनामपि परिग्रहात् । तत्र 'रसोर्लशौ' इति सूत्रेण दन्त्यस्य तालव्यः ।

(२) पुरुष इति । भीतिनाटितकेन–भीतेः = भयस्य नाटितकं = नाटनं तेन = विह्वलत्वादिना भयमभिनीयेत्यर्थः; क्वचित् पुस्तके;–भीतिं नाटयित्वेति पाठान्तरम् । तत्र स एवार्थः । प्रसीदन्तु = अनुगृह्णन्तु, भावाः = विद्वांसस्तेषु मिश्राः = गौरविताः श्रेष्ठा इति यावत् । 'मान्यो भावेति वक्तव्य' इति नाट्यशास्त्रोक्तेः, 'भावो

---

(१) दोनों सिपाही—(उस मनुष्य को मारकर) अरे चोट्टे ! बता, जिसमें कि बहुमूल्य चमकता रत्न जड़ा है और राजा का नाम खुदा हुआ है–यह राजकीय अंगूठी तूने कहाँ पायी ?

(२) पुरुष—(भय का अभिनय करके) महाशय ! आप मुझपर नाराज न हों, हम ऐसा अकार्य (चोरी) करनेवाले नहीं हैं ।

एकः—किन्नु खलु शोभनो ब्राह्मणोऽसीति कृत्वा राज्ञा ते परिग्रहो दत्तः (१) ? (किण्णु क्खु शोहणे ब्रह्मणेशि त्ति कदुअ लण्णा दे परिग्गहे दिण्णे ?)

पुरुषः—शृणुत तावत्, अहं खलु शक्रावतारवासी धीवरः (२)। (शुणुध दाव, हग्गे क्खु शक्कावदालवाशी धीवले ।)

द्वितीयः—अरे पाटच्चर ! किं त्वमस्माभिर्वसतिं जातिञ्च पृच्छ्यसे (३) ? (अले पाअच्चले ! किं तुमं अह्मेहिं वशदिं जादिं च पुच्छीअसि ?)

नागरकः श्यालः—सूचक ! कथयतु सर्वमनुक्रमेण, मा अन्तरा प्रतिबधान (४)। (सूअअ ! कधेदु सव्वं अणुक्कमेण, मा अन्तरा पडिबन्धेअ ।)

विद्वान्' इत्यमरः, 'गौरवितास्त्वार्यमिश्राः श्लाघ्यास्तत्र भवन्मुखाः ।' इति त्रिकाण्डशेषः । अकार्यस्य-चौर्यस्येत्यर्थः, कारकः-कर्त्ता न खल्विदं मया चौर्येण लब्धमिति भावः।

(१) एक इति । रक्षिणोर्मध्ये एकः 'अथायं चोर एव' इति निश्चित्य छलेन तमुपहसति;-किन्न्विति । शोभनः आभिजात्यादिगुणसम्पन्नः, ब्राह्मणः-वेदविद् विप्रः; इति कृत्वा—इति मनसि विभाव्येत्यर्थः; ते-तुभ्यम्, प्रतिगृह्यत इति प्रतिग्रहः=देयद्रव्यम्; अङ्गुरीयकपदार्थ इति प्रकरणलभ्यार्थः ।

(२) पुरुष इति । शक्रावतारे-गङ्गातीरस्थिततदाख्यग्रामे वसतीति स तथाभूतः, धीवरः कैवर्त्तः 'कैवर्ते दाशधीवरौ' इत्यमरः।

(३) द्वितीय इति। रक्षिणोर्मध्ये अपर इत्यर्थः । पाटच्चरः-पाटयंश्चरतीति विग्रहः, चोर इत्यर्थः, पटुचोरः, इति वार्थः। तत्संबुद्धः। 'दस्युः पाटच्चरः स्तेनः' इति हैमः। किमित्यादि। किं वसतिं-वासस्थानम्, जातिञ्च-धीवरत्वरूपामित्यर्थः, चकारः-समुच्चये किं पृच्छ्यसे, यतस्त्वं तदुल्लिखसि इति भावः। तथा च इदमङ्गुरीयकं त्वया कुतो लब्धमित्यस्माभिस्त्वं पृष्टो न तु वसतिं जातिं वेति तात्पर्यार्थः । अत्र प्रच्छधातोर्दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वेन कर्मणि वाच्ये गौणकर्मण उक्तत्वात् त्वमित्यत्र प्रथमा ।

(४) नागेति । सूचयति-ज्ञापयति चौरादीनिति सः, तत्सम्बुद्धौ सूचकेति । सूचक इति द्वितीयरक्षिणो नामधेयम्। अनुक्रमेण-आनुपूर्व्येण । अन्तरा-वाक्यस्य मध्ये, मा प्रतिबधान-प्रतिबन्धं नोत्पादयेरित्यर्थः।

---

(१) एक सिपाही—तब क्या तू ब्राह्मण है, जो राजा ने तुझे वह अंगूठी दानमें दी थी।
(२) पुरुष—सुनिए, हम शक्रावतार तीर्थके निवासी धीवर हैं।
(३) दूसरा सिपाही-ओ रे चोर ! क्या हम तुमसे तेरा घर और तेरी जाति पूछते हैं।
(४) राजा का साला-उसे धीरे-धीरे सब बताने दो, बीचमें रोको मत।

उभौ—यदावुत्त आज्ञापयति । लप रे (१) । (जं आवुत्ते आणवेदि । लवेहि ले !)

धीव—सोऽहं जाल-बडिशप्रभृतिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि (२) । (शो हग्गे जाल-वलिश-पहुदिहिं मच्छबन्धणोवाएहिं कुटुम्ब-भलणं कलेमि ।)

नाग—[विहस्य] विशुद्ध इदानीमस्य आजीवः (३) । (विसुद्धो दाणिं से आजीवो ।)

धीव—भर्त्तः ! मा एवं भण (४) । (भट्टके ! मा एव्वं भण ।)

सहजं किल यद्विनिन्दितं न तु तत् कर्म्म विवर्जनीयकम् ।
पशुमारणकर्मदारुणः अनुकम्पामृदुकोऽपि श्रोत्रियः ॥ १ ॥

---

(१) उभाविति । रक्षिणावित्यर्थः । आवुत्तः—भगिनीपतिः, 'भगिनीपतिरावुत्त' इत्यमरः । अत्र रक्षिणोः परस्परं भ्रातृत्वसम्बन्धो नागरिकश्च तयोर्भगिनीपतिरिति सूच्यते । लप—अनुक्रमेण कथय ।

(२) धीवेति । जालबडिशप्रभृतिभिः-जालं-शणसूत्रादिनिर्मितमत्स्यग्रहणसाधनविशेषः, बडिशं—विलक्षणतीक्ष्णाग्रकण्टकबद्धसूत्रविशिष्टदण्डरूपमत्स्यधारणसाधनभेदश्च तत्प्रभृतिभिः—तदादिभिरित्यर्थः मत्स्यबन्धनोपायैः—मत्स्यधारणसाधनभूतैः, कुटुम्बस्य—पोष्यवर्गस्य भरणं—पोषणम् ।

(३) नागेति । अथ नागरिकस्तच्छ्रुत्वा सोपहासमाह—विशुद्ध इति आजीवः-जीविका, जीवनालम्बनोपाय इत्यर्थः, 'आजीवो जीविका' इत्यमरः, विशुद्धः-पवित्रः उत्तम इति यावत्, विपरीतलक्षणयातीव जघन्य इत्यर्थः । तस्मात्त्याज्य एवेति भावः ।

(४) धीवेति । तत्परिहासं परिहर्तुकामः पुरुषो, 'जघन्यत्वेऽपि स्वजीविकात्वेन तादृशोऽप्याजीवः नैव त्याज्य' इति प्रतिपिद्यति—भर्त्त इति । एवम्—ईदृशम्, मा भण-न कथय । कस्यचिज्जीविकासम्बन्धे निन्दनस्यायुक्तत्वादिति भावः ।

सहजमिति । विनिन्दितं—लोकेषु विगर्हितमपि, यत्—कर्म, सहजं—स्वाभाविकं

---

(१) दोनों—जैसी श्रीमान् की आज्ञा । अच्छा, कह रे ! कह ।

(२) धीवर—हम जाल, बडिश (कटिया) आदि से मछलियों को फसाने का धन्धा कर अपने बाल-बच्चों का भरण-पोषण करते हैं ।

(३) नाग- राजश्यालक—[हँसकर] इनकी जीविका का ढङ्ग तो बड़ा अच्छा है ।

(४) धीवर—मालिक ! ऐसा न कहिये । क्योंकि:—

निन्दित होता हुआ भी जो काम जिसकी वंश-परम्परा से चला आ रहा हो, उसे नहीं

(शहजे किल जे विणिन्दिदे णहु शे कम्म विवज्जणीअए ।
पशुमालणकम्मदालुले अणुकम्पामिदुकेवि शोत्तिए ॥)

नाग—ततस्ततः (१) ? (तदो तदो ?)

कुलक्रमेणागतं पूर्वजैरपि समाचरितमिति यावत् तत् किल कर्म न तु विवर्जनीयकं-नैव परित्याज्यं किन्त्वनुष्ठेयमेवेति भावः । तदुक्तमभियुक्तैः—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न दुष्यति ॥ इति ।

गीतायाञ्च; 'सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥' इति ।

अन्यत्र स्मृतावपि;—

देशानुशिष्टं कुलधर्ममग्र्यं स्वगोत्रधर्मं न हि संत्यजेत ॥ इति ।

अत्र चोक्तं सामान्यं विशेषेण समर्थयति;-पश्चिति । अनुकम्पया-सर्वजीवेषु दयया मृदुकः-सुकुमारप्रकृतिरपि, श्रोत्रियः-वेदविद् ब्राह्मणः; यथोक्तं देवलेन;—

एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य वा ।
षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥

इत्यादिलक्षणलक्षितविप्रोऽपीति यावत्, पशुमारणकर्मणा-यज्ञकर्मणि पशुवधकार्येण बौद्धादिभिर्विनिन्दितेनेति भावः । दारुणः-निष्ठुरः भवतीति शेषः । 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति श्रुतेरिति भावः ।

तथा च यथा दयापरायणोऽपि श्रोत्रियो हिंसात्मकतया बौद्धादिभिर्विनिन्दितमपि पशुमारणकर्म यज्ञादौ कुलक्रमागततया समाचरति तथा अहमपि निन्दितमपि मत्साधारणं कर्म समाचराम्येवेति निन्दा मा कुर्विति भावः ।

अत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः । मृदोरपि दारुणत्वमिति विरोधाभासः । मृदोः श्रोत्रियात् दारुणत्वरूपविरुद्धगुणोत्पत्त्या विषमालंकारोऽत्रेति केचित् । सुन्दरी वृत्तम्, 'अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा लगौ यदि सुन्दरी मता' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

(१) नागेति । ततस्ततः—तदनन्तरं कथयेति शेषः, द्विरुक्तिस्त्वरायाम् ।

छोड़ना चाहिये । दयासे कोमल हृदय होते हुए भी ब्राह्मण यज्ञमें पशुहत्या करने के समय निष्ठुर हो जाते हैं ॥ १ ॥

(१) नाग-राजश्यालक—हाँ तब ?

धीव—एकस्मिन् दिवसे मया रोहितमत्स्यकः प्राप्तः, ततः खण्डशः कल्पितः । यावत् तस्य उदराभ्यन्तरे प्रेक्षे, तावदेतन्महारत्नभासुरम् अङ्गुरीयकं प्रेक्षितम्, पश्चादिह विक्रयार्थं दर्शयन्नेव गृहीतो भावमिश्रैः । एतावान् तावदेतस्य आगमः । अथ मां मारयत कुट्टयत वा (१) । (एक्कश्शिं दिअशे मए लोहिदमच्छके पाविदे, तदो खण्डशो कप्पिदे । जाव तश्श उदलब्भन्तले पेक्खामि, दाव एशे महालअणभाशुले अङ्गुलीअए पेक्खिदे, पच्चा इध विक्क अत्थं दंशअन्ते ज्जेव गहिदे भावमिश्शेहिं । एत्तिके दाव एदश्श आगमे । अध मं मालेध कुट्टेध वा ।)

नाग—[अङ्गुरीयकमाघ्राय] जालुक ! मत्स्योदराभ्यन्तरगतमिति नास्ति सन्देहः, यतः अयमामिषगन्धो वाति । आगम इदानीमेतस्यैष विमर्ष्टव्यः, तदेतं राजकुलमेव गच्छामः (२) । (जालुअ ! मच्छोदलब्भन्तलगदोत्ति णत्थि सन्देहो, जदो अअं आमिसगन्धो वाअदि । आगमो दाणि एदश्श

(१) धीवेति । खण्डशः—खण्डं खण्डम्, वीप्सायां शस् । कल्पितः—कृत्तः, कर्त्तित इति वा, 'कल्पनं कर्त्तनं क्लृप्तौ' इति विश्वः । अल्पक्रेतृभ्यो विक्रयार्थं खण्डं खण्डं कृत्वा स च रोहितमत्स्यः कर्त्तित इत्यर्थः । यावत्—यदा, प्रेक्षे—दृष्टिं निक्षिपामि । महारत्नभासुरं—बहुमूल्यमणिसमुज्ज्वलम् । भावमिश्रैः—माननीयैः, दर्शयन्नेवेत्येवकारः क्रियान्तराव्यवधानं बोधयति, गृहीतः—धृतः । एतावान्—इत्थमेतावत्परिमितः; एतस्य—अङ्गुरीयकस्य, आगमः—प्राप्तिवृत्तान्तः । अथ—एतच्छ्रवणानन्तरम्, मारयत—ताडयत, कुट्टयत—चूर्णयत वा, अत्र कामचाराभ्यनुज्ञाने लोट् । ईदृशग्राम्योक्तिरधमवाक्येषु गुणत्वमेवावहतीति नात्र ग्राम्यतादोषः शङ्कनीयः, 'ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु' इति वचनात् ।

(२) नागेति । अङ्गुरीयकमाघ्रायेत्याघ्राणमामिषगन्धपरीक्षार्थम् । जालुक इति प्रथमरक्षिणो नाम तत्सम्बोधनम् । मत्स्यस्य—रोहितस्य उदराभ्यन्तरे—जठरकुहरे

(१) धीवर—तो मैंने एक दिन एक रोहू मछली पायी । उसको मैंने काटकर टुकड़े टुकड़े कर डाले । इसके बाद जब मैंने उसके पेटमें देखा तो यही महारत्नजटित अंगूठी दिखलायी पड़ी । तदनन्तर मैं इसे बेचने के लिये बाजारमें दिखा ही रहा था इतनेमें इन महाशयोंने पकड़ लिया । इसके पाने का वृत्तान्त बस इतना ही है । अब आप हमें मारें या काट ही डालें ।

(२) नाग-राजश्यालक—(अंगूठी को सूंघकर) जालुक ! अवश्य यह अंगूठी मछलीके पेटमें गयी थी, इसमें कोई संशय नहीं है । क्योंकि अभी भी इससे मत्स्य की दुर्गन्धि आ रही

एसो विमरिसिदव्वो ता एव लाअउलं ज्जेव गच्छह्म ।)

रक्षिणौ—[धीवरं प्रति] गच्छ रे ग्रन्थिच्छेदक ! गच्छ (१) । (गच्छ ले गण्ठिच्छेदअ ! गच्छ । [इति परिक्रामन्ति ।]

नाग—सूचक ! इह गोपुरद्वारे अप्रमत्तौ प्रतिपालयत माम् , यावत् राजकुलं प्रविश्य निष्क्रामामि (२) । (सूअअ ! इध गोउलदुआले अप्पमत्ता-पडिपालेध मं, जाव लाअउलं पवेशिअ णिक्कमामि ।)

उभौ—प्रविशतु आवुत्तः स्वामिप्रसादार्थम् (३) । (पविशदु आवुत्तो शामिप्पशादत्थं ।)

गतम् इदमङ्गुरीयकम् , इति—अस्मिन् विषये । यतः—यस्मात् , अयमामिषगन्धः, मत्स्यमांसगन्धः, वाति—घ्राणविषयीभवति । एतस्य—अङ्गुरीयकस्य, एषः—धीवरोक्तः, आगमः—आगमनवृत्तान्तः, विमर्ष्टव्यः—विवेक्तव्यः, सत्यमेतन्न वेति सम्यक् विचार्य द्रष्टव्य इत्यर्थः, किन्तु नोपेक्षणीय इति भावः । तत्—तस्मात् , एत—आगच्छत, राजकुलं—राजभवनम् । 'कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च । भवने च तनौ क्लीबम्' इति मेदिनी ।

(१) रक्षिणाविति । ग्रन्थिं—कर्पटादिनिर्मितग्रन्थिं छिनत्ति—तन्मध्यस्थद्रव्यापहरणकामनया कृन्तति ग्रन्थिच्छेदकः—चौरः, तत्सम्बोधने । 'रे' इति तुच्छसम्बोधने, 'सम्बोधनेऽङ्ग भोः पाट् प्याट् हे है हंहोऽरे रेऽपि च' इति हेमचन्द्रः, गच्छ—अस्माभिः सह राजकुलं चल । इति एतदुक्तौ सत्यामित्यर्थः, परिक्रामन्ति—राजकुलमुद्दिश्य गमनमभिनयन्ति; सर्वे धीवरादय इति शेषः ।

(२) नागेति । गोपुरद्वारे—पुरद्वारे, गोपुरनामकद्वारे वा; 'अपरद्वारन्तु गोपुरम्', इत्यमरः, अप्रमत्तौ—धीवरं प्रति सावधानौ सन्तौ, यथा स पलायितुं न शक्नोति तथा सावधानीभूयेति भावः, 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः, प्रतिपालयतं—युवां प्रतीक्षेथाम् । निष्क्रामामि—प्रत्यागच्छामि 'क्रमः परस्मैपदेषु' इति दीर्घः ।

(३) उभाविति । रक्षिणावित्यर्थः । प्रविशतु राजकुलमिति शेषः, आवुत्तः—भगिनीपतिः, स्वामिप्रसादार्थं—स्वामिनः—राज्ञः प्रसादार्थं—चौरग्रहणव्यापारे प्रसन्न-

---

है । इसलिये अब इसके प्राप्त होने की बात की जाँच करनी होगी । चलो, राजा ही के दरबारमें चलें ।

(१) दोनों सिपाही—चल रे गिरहकट ! चल । (इसके बाद सब चलते हैं)

(२) नाग राजश्यालक—सूचक ! तुम इस महलके दरवाजे पर खड़े होकर हमारी प्रतीक्षा करो । तब तक हम राजभवन के भीतर से वापस आते हैं ।

(३) दोनों—अच्छा, आप महाराज को प्रसन्न करने के लिये भीतर जाइए ।

[नागरिकः परिक्रम्य निष्क्रान्तः] (१)

सूच—जालुक ! चिरयति खल्वावुत्तः (२) । (जालुग्र ! चिलाग्रदि क्खु ग्रावुत्ते ।)

जालु—ननु अवसरोपसर्पणीया राजानो भवन्ति (३) । (णं ग्रवशलोव-शप्पणीग्रा लग्रावो होन्ति ।)

सूच—स्फुरतो मे अग्रहस्तौ इमं ग्रन्थिच्छेदकं व्यापादयितुम् (४) । (फुल्लन्ति मे ग्रग्गहत्था इमं ग्रन्थिच्छेदग्रं वावादिदुं ।)

धीव—नार्हति भावः अकारणमारको भवितुम् (५) । (णालिहदि भावे ग्रग्रालणमालके भविदुं ।)

जालु—[विलोक्य] एषः अस्माकमीश्वरः । पत्रे गृहीत्वा राजशासन-मागच्छति । साम्प्रतमेषः स्वकुल्यानां मुखं प्रेक्षताम् , अथवा गृध्रशृगा-लानां बलिर्भवतु (६) । (एशे ग्रह्माणं पत्ते गेह्निग्र लाग्रशाशणं ग्राग्र-

---

तालाभार्थम् । तया चेदृशचौरधारणव्यापारे स्वामिनः सन्तोष एव भविष्यतीति तन्निवेदनाय प्रविशतु राजकुलमिति भावः ।

(१) नागेति । परिक्रम्य–राजकुलप्रवेशमभिनीय ।

(२) सूचेति । चिरयदि—विलम्बते, खल्विति प्रश्ने, कथमित्यर्थः । सखेद-वचनमिदम् ।

(३) जाल्विति । ननुरनुप्रश्ने 'ननुशब्दो विनिग्रहे, अनुप्रश्ने' इति मेदिनी । अवसरोपसर्पणीयाः—अवकाशेन उपसर्पणीयाः—उपगन्तव्याः, उपगम्य निवेदनीया इति यावत् । तथा च प्रायेणैव राज्ञां नानाकार्यव्यासक्ततया तैः सहालापः सर्वदा सर्वेषां नैव सम्भवतीति स्वामिनोऽवसरप्रतीक्षार्थमेवावुत्तस्य विलम्ब इति भावः ।

(४) सूचेति । स्फुरतः–स्पन्देते, सञ्चलत इत्यर्थः, अग्रहस्तौ–हस्तयोरग्रभागौ, करतलावित्यर्थः, व्यापादयितुं–मारयितुमित्यर्थः ।

(५) धीवेति । भावः–विद्वान् , भवानित्यर्थः । अकारणमारकः–अनिमित्तक-घातुकः, विना दोषं हन्तेत्यर्थः । विना दोषं मारकत्वस्यान्याय्यत्वादिति भावः ।

(६) जाल्विति । विलोक्य–अग्रे पन्थानमवलोक्य । एषः–पुरो लक्ष्यमाणः,

---

(१) [राजश्यालक घूमकर जाता है ।]
(२) सूचक—जालुक ! सरकार देर कर रहे हैं ।
(३) जालुक—अरे भाई ! मौका पाकर ही तो राजा के पास जाकर कुछ कहा जाता है ।
(४) सूचक—इस गिरहकट की हत्या करने को मेरे हाथ की हथेली फड़क रही है ।
(५) धीवर—महाशय ! आपको अकारण हत्यारा नहीं बनना चाहिये ।
(६) जालुक—[देखकर] हमारे स्वामी पत्रमें महाराज की आज्ञा लिये इधर आ

च्छदि । सम्पदं एशे शउलाणं मुहं पेक्खदु, अहवा गिद्धशिआलाणं वली होदु ।)

नाग—[प्रविश्य] शीघ्रं शीघ्रमेतम्··· । (सिग्घं सिग्घं एदं··· !) [इत्यर्द्धोक्ते] (१)

धीव—हा हतोऽस्मि । (हा हदोह्मि ।) [इति विषादं नाटयति ।] (२)

नाग—मुञ्चतं जालोपजीविनम् । उपपन्नः अस्य अङ्गुलीयकस्य आगमः, अस्मत्स्वामिना यावत् कथितम् (३) । (मुञ्चध जालोवजीविणं । उववण्णे से अङ्गुलिअस्स आगमे, अह्म शामिणा जाव कधिदं ।)

अस्माकमीश्वरः-राजकर्मचारित्वेन राज्ञः श्यालकत्वेन चास्मत्प्रभुः नागरिकश्यालः राजशासनं-राजाज्ञाम् , पत्रे गृहीत्वा-पत्रे लिपिबद्धं कृत्वा, पत्रलिखितं राजशासनमादायेत्यर्थः । एषः—धीवरः, स्वकुल्यानां-पुत्रपौत्रभ्रात्रादीनां मुखम् , प्रेक्षतां-पश्यतु; अस्माकं हस्तान्मोचनेन स्वगृहगमनादिति भावः । मुक्तो भवतु इति सरलार्थः । बलिः-उपहारः, भक्ष्य इति यावत् , भवतु;-दण्डेन व्यापादनादिति भावः । अस्माभिर्व्यापाद्यमानो वा भवतु इति सरलार्थः । तथा चास्य दण्डादण्डयोरेकतरस्याधुनैव व्यवस्था स्यादित्याशयः ।

(१) नागेति । प्रविश्य-रङ्गशालामिति शेषः । अर्धोक्ते-शीघ्रं शीघ्रमेतं 'मुञ्चतं-जालोपजीविनम्' इति पूर्णवाक्यस्य 'शीघ्रं शीघ्रमेतम्' इत्यर्द्धांशे कथिते इत्यर्थः ।

(२) धीवेति । 'शीघ्र शीघ्रमेतम्' इति वाक्यांशस्य 'व्यापादयतम्' इति क्रियांशपूरणं मत्वा धीवरः सविषादमाह;-हा हतोऽस्मीति । हा इति खेदे, व्यापादितोऽस्मीत्यर्थः । विषादं-विषण्णताम्, नाटयति-मुखशोषणनेत्रभङ्गादिभिरभिनयति ।

(३) नागेति । मुञ्चतं-त्यजतम् , बाहुबन्धनस्खलनादिनेति भावः, जालोपजीविनं-धीवरम् । यावत्-यतः, आगमः-प्राप्तिवृत्तान्तः, उपपन्नः-युक्तियुक्तः; सत्यमेवोक्तमनेनेति भावः, इति अस्मत्स्वामिना-राज्ञा दुष्यन्तेन कथितम् । तस्मादेनं जालुकं मुञ्चतमित्यर्थः ।

रहे हैं । अब तुम या तो अपने घरवालों का मुख देखोगे अथवा गिद्ध और सियारों के भोजन ही बनोगे ।

(१) नाग—राजश्यालक—प्रवेशकर जल्दी २ इसको···(आधा ही वाक्य कहने पर)

(२) धीवर—हाय ! मैं मारा गया (ऐसा कहकर विषाद का अभिनय करता है)

(३) नाग—राजश्यालक—इस धीवर को छोड़ दो । अंगूठी प्राप्त होने की बात इसने ठीक-ठीक बतायी है, ऐसा महाराज कहते हैं ।

सूच—यथा आज्ञापयति आवुत्तः । यमवसतिं गत्वा प्रतिनिवृत्तः खल्वेषः (१) । (जहा आणवेदि आवुत्त जमवशदिं गदुअ पडिणिउत्ते क्खु एशे ।)

(इति धीवरं बन्धनान्मोचयति)

धीव—भर्त्तः ! साम्प्रतं तव क्रीतकं मे जीवितम् (२) । (भट्टके ! शम्पदं तुह कीलके मे जीविदे !) [इति पादयोः पतति]

नाग—उत्तिष्ठ, एतत् भर्त्रा अङ्गुरीयमूल्यसम्मितं पारितोषिकं ते प्रसादीकृतं; तत् गृहाण इदम् (३) । (उट्ठेहि एस भट्टिणा अङ्गुलीअ-मुल्ल-सम्मिदे पारिदोसिए दे प्पसादीकिदे, ता गेह्न एदं) [इति धीवराय कटकं ददाति]

---

(१) सूचेति । यथाज्ञापयति आवुत्तस्तथा कुर्म इत्यर्थः । यमवसतिं—यमसदनम्, मृत्युमुखमित्यर्थः । प्रतिनिवृत्तः—सौभाग्यात् प्रत्यागतः । आवुत्तस्याज्ञयास्माकं हस्तादस्य प्राणदण्डसम्भवेऽपि पुनर्मोचनं यमवसतिं गच्छतः प्रत्यावर्त्तनमिव महदेव सौभाग्यमिति भावः ।

(२) धीवेति । भर्त्तः !—स्वामिन् !, इदं नागरिकश्यालसम्बोधनम् । तव—त्वयेत्यर्थः, सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, क्रीतमेव क्रीतकं—क्रयीकृतमित्यर्थः, स्वार्थे कन्, मे—मम, जीवितं—जीवनम् । तव दययैवाद्य मम प्राणसंरक्षणं जातमित्याशयः ।

(३) नागेति । भर्त्रा—राज्ञा दुष्यन्तेन, अङ्गुरीयकमूल्यसम्मितं-अङ्गुरीयकमूल्यपरिमितमूल्यकम्, पारितोषिकं—पुरस्कारः, ते—तुभ्यम्, अत्र क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी, प्रसादीकृतं—प्रसन्नतया दत्तम् । मत्स्योदरगतस्याङ्गुरीयकस्य पुनर्मिलनासम्भवात् दिष्ट्या लब्धस्य तु तस्योपादातुरेव स्वामित्वोदयात् तद्ग्रहणेन राज्ञा तत्स्वामिने तुभ्यमिदं तत्परिमितमूल्यकं पारितोषिकं दत्तमिति भावः । कटकं—वलयम्, 'कटकं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

---

(१) सूचक—जैसी आपकी आज्ञा । यमलोक को पहुँच कर यह मानो फिर से लौट आया है ।

(ऐसा कहकर धीवर को बन्धन से मुक्त कर देता है)

(२) धीवर—स्वामिन् ! आपने हमारा जीवन खरीद लिया है ।

(३) नाग—राजश्यालक—उठो, महाराजने अंगूठी के मूल्य का यह पारितोषिक (इनाम) दिया है, इसे लेलो । (ऐसा कह कर धीवर को कड़ा देता है)

धीव—[सहर्षं सप्रणामञ्च प्रतिगृह्य] अनुगृहीतोऽस्मि (१) । (अणुग्गहीदोह्मि ।)

जालु—एष खलु राज्ञा तथा अनुगृहीतः, यथा शूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे समारोपितः (२) । (एशे क्खु लण्णा तथा अणुग्गहीदे, जधा शुलादो ओदालिअ हत्थिक्खन्धे शमालोविदे ।)

सूच—आवुत्त ! पारितोषिकेण जानामि महार्हरत्नेन अङ्गुरीयकेण स्वामिना बहुमतेन भवितव्यम् (३) । (आवुत्त ! पालितोशिएण जाणामि महालिहलदणेण अङ्गुलीअएण शामिणो बहुमदेण होदव्वं ।)

नाग—न तस्मिन् भर्तुर्महार्हरत्नमिति कृत्वा परितोषः । एतत् पुनस्तर्कयामि (४) । (ण तस्सिं भट्टिणो महालिहलदणं त्ति कदुअ परिदोसो । एत्ति उण तक्केमि ।)

---

(१) धीवेति । प्रतिगृह्य कटकमिति शेषः । अनुगृहीतोऽस्मि-कृतानुग्रहोऽस्मि, अङ्गुरीयकसंमितपारितोषिकलाभादिति भावः ।

(२) जाल्विति । जालुको भाग्यानुकूलराजानुग्रहेण पुरुषं प्रशंसते—एष इति । एष-धीवरः । शूलात्—मारणसाधनभूतलौहकीलकात्, अवतार्य—उत्तोल्य, हस्तिस्कन्धे—गजोपरि, समारोपितः—संस्थापितः । वध्यो राजसंमितं पारितोषिकं ग्राहितं इति भावः ।

(३) सूचेति । पारितोषिकेण—पुरस्कारदानेन धीवरायेति शेषः, जानामि—अनुमिनोमि, महार्हरत्नेन—बहुमूल्यमणिसद्भावेन हेतुना, अङ्गुरीयकेण-अङ्गुलिमुद्रया, स्वामिनः—भर्तुर्दुष्यन्तस्य, बहुमतेन—अतिप्रियेण, समादृतेनेति यावत् ।

(४) नागेति । तस्मिन्—अङ्गुलीयके, महार्हरत्नं—बहुमूल्यरत्नम्, अस्तीति शेषः, इति कृत्वा—इत्यस्माद्धेतोरित्यर्थः, न परितोषः—नैव सन्तोषः । अन्यथाऽपरं किमस्तीत्यत आह—एतदिति । वक्ष्यमाणमित्यर्थः, तर्कयामि—सम्भावयामि ।

---

(१) धीवर—(प्रसन्नतापूर्वक प्रणाम कर और कड़े को लेकर) मैं श्रीमान् का अनुगृहीत हूँ ।

(२) जालुक—यह तो महाराज ने इस पर वैसी ही कृपा की है, मानो शूली से उतार कर हाथी के कंधे पर बैठा दिया हो ।

(३) सूचक—भगिनीपते ! पारितोषिक प्रदान से तो ऐसा मालूम होता है कि वह बहुमूल्य रत्नयुक्त अंगूठी महाराज के विशेष आदर का पात्र है ।

(४) नाग-राजश्यालक—उस अंगूठी में अधिक मूल्य का रत्न है, इसीलिए महाराज को सन्तोष है ऐसा नहीं, किन्तु मैं तो सोचता हूँ ।

उभौ—किं पुनः (१) ? (किं उण ?)

नाग—तस्य दर्शनेन भर्त्रा कोऽप्यभिमतो जनः स्मृत इति, यतो मुहूर्त्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकमना आसीत् (२) । (तस्य दंसणेण भट्टिणा कोवि अहिमदो जनो सुमरिदोत्ति, जदो मुहूत्तअं पइदिगम्भीरो वि पज्जुसुअमणा आसी ।)

सूचः—तोषितः शोचितश्चेदानीं भर्त्ता आवुत्तेन (३) । (दोसिदे शोइदे अ दाणिं भट्टा अवुत्तेण ।)

जालु—ननु भणामि अस्य मत्स्यशत्रोः कृते । (णं भणेमि इमश्श मच्छशत्तुणो किदे ।) [इति धीवरमसूयया पश्यति ।] (४)

---

(१) उभाविति । एतत्पुनस्तर्कयामीति यदुक्तं तत्पुनः किमित्यर्थः ।

(२) नागेति । तस्य—अङ्गुरीयकस्य, दर्शनेन—अवलोकनेन, भर्त्रा—राज्ञा दुष्यन्तेन, अभिमतः—अभीष्टः, प्रणयीति यावत्, जनः, स्मृतः—ध्यातः, मनसि कृत इत्यर्थः, इतीतिना तर्कयामीत्यन्वितम् । कुतः पुनरेतत् ज्ञायते इत्यत्राह,—यत इति । यतः—यस्मात् प्रकृतिगम्भीरोऽपि, प्रकृत्या—स्वभावेन गम्भीरः—धीरोऽपि राजा, एतेनास्य धीरोदात्तत्वं ध्वन्यते, मुहूर्तं—क्षणमात्रम् , कियत् क्षणमिति यावत् , पर्युत्सुकम्—उत्कण्ठितं मनो यस्य स तथाभूतः—उत्कण्ठितचित्त इत्यर्थः ।

(३) सूचेति । आवुत्तेन—भगिनीपतिना भवता, भर्त्ता राजा दुष्यन्तः, इदानीं तोषितः—विघटिताङ्गुरीयकदानेन प्राणितः, शोचितः, अभिमतजनस्मारणेन शोकं प्रापितश्च । तथा चाङ्गुरीयकार्पणेन राज्ञस्तोषेण समं विघटितप्रियजनस्मृत्या शोकस्याप्युदयाद् भावानुभयविधकारी संजात इति भावः ।

(४) जाल्विति । अथ जालुको धीवरलब्धपारितोषिकस्य बहुमूल्यतया तस्मिन् जातलोभोऽसूयापूर्वकमाह,—नन्विति । नन्विति सम्बोधने, इदं सूचकसम्बोधनं बोध्यम् । रोषे वा ! मत्स्यशत्रोः—मीनविनाशकस्य, धीवरस्येति यावत् , कृते—निमित्ते, धीवरनिमित्तकमेवेत्यर्थः, भर्त्ता आवुत्तेन शोचित इत्यनुषङ्गः । 'अर्थे कृतेऽव्ययं तावत् तादर्थ्ये वर्त्तते ह्ययमि'ति कोपसारः । तथा च धीवरो यदि अङ्गु-

---

(१) दोनों सिपाही—क्या ?

(२) नाग राजश्यालक—उस अंगूठी को देखने से महाराज को कोई प्रियजन याद आ गया है ! क्योंकि स्वभाव के गंभीर होते हुए भी वे कुछ देर के लिए उत्कण्ठित हो उठे थे ।

(३) सूचक—तो आपने महाराज को प्रसन्न भी किया और चिन्तित भी ।

(४) जालुक—मैं तो कहता हूँ कि इस मत्स्यशत्रु के कारण—(महाराज की यह दशा हुई) (ऐसा कह कर धीवर को असूयाभाव से देखता है)

धीव—भट्टारक ! इतः अर्द्धं युष्माकमपि सुरामूल्यं भवतु (१)। (भट्टालके इदो अद्धं तुह्माणम्पि शुलामुल्लं होदु ।)

जालु—धीवर ! महत्तरः साम्प्रतमस्माकं प्रियवयस्यः संवृत्तोऽसि । कादम्बरीसाक्षिकं खलु प्रथमसौहृदमिष्यते, तदेहि, शौण्डिकालयमेव गच्छामः (२) । (धीवल ! महत्तले शम्पदं अह्माणं पिअ वअश्शके शंवुत्तेशि कादम्बलीशक्खिके क्खु पढमं शोहिदे इच्छीअदि । ता एहि शुण्डिआलअं ज्जेव गच्छह्म ।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे (३) ।)

इति अङ्कावतारः (४) ।

रीयकं प्राप्य जनसमाजे न प्रकाशयेत् तदा तद्ग्रहणप्रत्यर्पणासम्भवादावुत्तद्वारा राज्ञः शोको न स्यात्, एवञ्चायमेव धीवरो दोपीति भावः । असूयया–भ्रुकुटीविकार-पूर्वकं दोपारोपेण । जालुकस्य सर्वमेतत् वाग्भङ्ग्यादिविधानं धीवरलब्धपारितोपिकादांशिकग्रहणकामनयेति मन्तव्यम् ।

(१) धीवेति । अथ धीवरो जालुकस्य तादृशाभिप्रायं बुद्ध्वा स्वपारितोपिकात् किञ्चिदंशं तस्मै प्रदातुमाह;—भट्टारकेत्यादि । भट्टारक !–स्वामिन् ! इतः—अस्मात् पारितोपिकात्, सुरामूल्यं—सुरापानोपकल्पनम्, मद्यक्रयणार्हमिति यावत्, अर्द्धमिति नपुंसकनिर्द्देशेन समप्रविभाग उक्तः ।

(२) जालिवति । अथ जालुको धीवरस्य तादृशं वचनं श्रुत्वा सौहार्दं सूचयन्नाह;–धीवरेत्यादि । साम्प्रतम्–इदानीम्, उत्कोचदानाङ्गीकारात् परमिति यावत्, महत्तरः—प्रधानतरः प्रियवयस्यः—प्रियसखा, संवृत्तोऽसि—जातोऽसि । प्रथम-सौहृदं—प्रथमसौहार्दम्, कादम्बरी–सुरा साक्षिणी यस्य तत्तादृशम्, खलु, इष्यते लोकैरिति शेपः । चाण्डालादीनां परिणयादिव्यापारो मद्यसाक्षिक एव भवतीति प्रसिद्धिः । तथा चावयोः सौहार्दं सुरासाक्षिकमेव भवत्विति तात्पर्यम् । तत्-तस्मात्, एहि–आगच्छ, शौण्डिकालयं–मदिराकारगृहम् ।

(४) अङ्कावतारस्य स्वरूपपरीक्षणे (३८४ पृष्ठे) पूर्वमुक्ते ।

इति किशोरकेलिव्याख्यायां पञ्चमाङ्कांशाङ्कावतारव्याख्या समाप्ता ।

---

(१) धीवर—हुजूर ! इसकी आधी कीमत आप लोगोंके शराबके निमित्त होनी चाहिए।

(२) जालुक—धीवर ! इस समय तुम हमारे सबसे बड़े मित्र हो । दुनिया में लोग शराब को आरम्भिक मित्रता का साक्षी मानते हैं । तो चलो, मदिरा बनाने वाले के घर ही चलें ।

(३) (सब चले जाते हैं)

(४) अङ्कावतार समाप्त ।

षष्ठोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्याकाशयानेन मिश्रकेशी ।] (१)

बिम्बाधरसमायुक्तामम्बां दुर्गामुपास्महे ।
यत्कृपालेशमात्रेणाशेषश्वःश्रेयसं भवेत् ॥

ध्यायेऽनन्तं गणपतिमदः शुद्धमद्वैततत्त्वं
प्रत्यूहानां प्रशमनरतं निर्विकल्पे विभातम् ।
स्थूलं मूलं निखिलमहसां शैलजानन्ददायं
वाचोऽतीतं गुणविगलितं किन्तु वेदान्तवेद्यम् ॥

अथात्र षष्ठेऽङ्के राज्ञः शकुन्तलास्मरणेन पश्चात्तापपरितोपितो विप्रलम्भशृङ्गार-प्रधानो रसः ।

वणिक्प्रस्तावे तु पुत्रशोकपरिपोषतः करुणो मातलिप्रस्तावे वीरो रौद्रश्च गौणो बोध्यः ।

(१) राज्ञः शकुन्तलाप्रत्याख्यानात् परमङ्गुरीयकदर्शनेन शापप्रभावनिवृत्त्यावोपस्थितशकुन्तलापरिणयस्मृतेर्वृत्तान्तपर्यवेक्षणाय मेनकासन्दिष्टाया मिश्रकेश्याः प्रवेशं कविरवतारयति—तत इति ।

आकाशयानेन—व्योमयानेन; विमानेनेत्यर्थः, मिश्राः—घनीभूताः केशाः यस्याः सा मिश्रकेशी—तदभिधाना अप्सरसः । क्वचित्—मिश्रकेशीस्थाने सानुमतीति पाठान्तरम् ।

---

(१) तदनन्तर विमान पर बैठी मिश्रकेशी आती है ।

मिश्रकेशी—निर्वर्त्तितं मया पर्यायनिर्वर्त्तनीयमप्सरस्तीर्थसन्दिष्टं तद्यावत साधुजनस्याभिषेककालो भवेत्, तावत्, साम्प्रतमस्य राजर्षे-वृत्तान्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि। ननु मेनकासम्बन्धेन शरीरभूतेदानीं मे शकुन्तला, तया च दुहितृनिमित्तं सन्दिष्टपूर्वास्मि (१)। (णिव्वत्तिदं मए पज्जाअणिव्वत्तणिज्जं अच्छरातित्थसन्दिट्ठं ता जाव साहुजणस्स अभिसेअ-

(१) मिश्रकेशीति। स्वकर्त्तव्यमनुसन्दधाति;–निर्वर्त्तितमिति। मया–मिश्रकेश्या, पर्यायनिर्वर्त्तनीयम्;–पर्यायेण–क्रमेण वारक्रमेणेति यावत् 'पर्यायोऽवसरे क्रमे' इत्यमरः; निर्वर्त्तनीयं–अप्सरोभिरेव समापनीयम्, अप्सरस्तीर्थसन्दिष्टम्;–अप्सरस्तीर्थैः–अप्सरोयोनिभिर्मेनकादिभिरित्यर्थः; 'तीर्थं योनौ जलावतारे चे'ति हलायुधः, सन्दिष्टम् उक्तं; कुबेरस्य परिचर्यात्मकं कर्मजातमित्यर्थः; निर्वर्तितं–समापितम्। अस्माकं सर्वासां क्रमेण कर्त्तव्यतयाऽप्सरोयोनिभिर्यद्युक्तं कौबेरपरिचर्यात्मकं कर्म मया तत्तत्सर्वं सम्पादितमित्यर्थः। अत्र स्वकार्यनिर्वर्त्तनोक्त्या कार्यान्तरस्यायमवसर इति सूच्यते। तत्–तस्मात्, यावत्–यावत्कालपर्यन्तम्, साधुजनस्य;–साधुः–वार्धुषिकः स एव जनस्तस्य–कुबेरस्य; देवलोके तस्यैव वार्धुषिकत्वात्; 'साधुर्जने मुनौ वाद्र्धुषिके सज्जनरम्ययोः' इति हेमचन्द्रः, अभिषेककालः–स्नानसमयो भवेत् 'अभिषेकः स्नानमित्यपि' इति त्रिकाण्डशेषः, तावत्–तत्कालपर्यन्तम्, साम्प्रतम्–अधुना, अस्य राजर्षेः–दुष्यन्तस्य, वृत्तान्तम्–प्रकारम्; 'वृत्तान्तः स्यात् प्रकरणे प्रकारे कार्त्स्न्यवार्त्तयोः' इत्यमरः, प्रत्यक्षीकरिष्यामि–लोचनगोचरीकरिष्यामि। साधुजनस्याभिषेककालोपस्थितौ तु मयापि तत्रैव गन्तव्यमिति भावः।

क्वचित् पुस्तके 'अप्सरस्तीर्थसन्दिष्टं तद्यावत् साधुजनस्याभिषेककालो भवेत्, तावत्', इति पाठपरिवर्त्तनेन 'अप्सरस्तीर्थसान्निध्यं यावत् साधुजनस्याभिषेककाल इति' इति पाठान्तरम् उपलभ्यते। तस्येयं व्याख्या;–

अप्सरस्तीर्थे–तन्नामकगङ्गावतरणघट्टे, सान्निध्यम्–उपस्थितिः, यावत्–यावत्कालम्, साधुजनस्य–धार्मिकलोकस्य पूर्वोक्तदिशा कुबेरस्य वेत्यर्थः, अभिषेककालः–स्नानसमयः, इति–तावत्कालपर्यन्तमित्यर्थः। अस्मिन् पक्षेऽयमर्थः;–

गङ्गायामप्सरस्तीर्थं नाम तीर्थमस्ति; तत्र यावत् सज्जनस्नानकालमेकैकस्मिन् दिवसे एकैकयाप्सरसा सन्निहितया स्थातव्यमिति नियमः; तस्मिन् दिने मिश्रकेश्या (पाठान्तरे सानुमत्या) तत्कार्यं कृतम्;–इति।

(१) मिश्रकेशी—उस अप्सरातीर्थ का जो संवाद था, मैंने सम्पादन कर लिया। उधर कुबेर के स्नान का समय होता है, तब तक मैं इधर इस राजा की दशा देखूँगी।

कालो भये दावसम्पदं इमस्स राएसिणो वुत्तन्तं पच्चक्खीकरिस्सं। णं मेणआसम्बन्धेण सरीरभूदा दाणिं मे सउन्तला, तए अ दुहिदुणिमित्तं सन्दिट्ठपुव्वह्मि।)

[समन्तादवलोक्य] किन्नु खलु उपस्थितोत्सवेऽपि दिवसे निरुत्सवारम्भमिव इदं राजकुलं दृश्यते। अस्ति मे विभवः सर्वं प्रणिधानेन ज्ञातुम्। किन्तु सख्या मया आदरो मानयितव्यः। भवतु, एषामेवोद्यानपालकानां पार्श्वपरिवर्त्तिनी भूत्वा तिरस्करिण्या विद्यया प्रच्छन्ना उपलप्स्ये (१)। (किण्णु क्खु उवत्थिदुच्छवेवि दिअहे णिरुच्छवारम्भं विअ एदं राअउलं दीसदि। अत्थि मे विहवो सव्वं पणिधाणेण जाणिदुं, किन्तु सहीए मए

प्रत्यक्षीकरणे हेतुमाह—नन्वित्यादि। ननु—यस्मात् कारणात्, मेनकासम्बन्धेन—मेनकाकन्यात्वेन हेतुना, शकुन्तला मे शरीरभूता—शरीरवत्प्रेमास्पदीभूता मेनकाया मातृष्वसृत्वात् तत्कन्यायाः–शकुन्तलायाश्च मम भगिनीरूपत्वात् प्रियसखीत्वाच्चेति भावः। अनेन तत्सन्देशस्यावश्यानुष्ठेयत्वं ध्वन्यते। तथा चावश्यमेवात्र प्रवर्त्तितव्यमिति हृद्यम्। तत्र पुनर्मेनकयोक्तमित्याह-तयेत्यादि। तया-मेनकया च दुहितृनिमित्तं—दुहितुः कन्यायाः शकुन्तलायाः निमित्तम्—अर्थे; शकुन्तलासमाश्वासनायेत्यर्थः, सन्दिष्टपूर्वा—पूर्वं सन्दिष्टा, पूर्वमादिष्टा, प्रत्याख्यानात् परं शकुन्तलानिमित्तं दुष्यन्तः किं करोति वा न वेति समाचारपरिज्ञानायोक्तपूर्वेत्यर्थः।

(१) समन्तादिति। समन्तात्—चतुर्दिक्षु। किंन्विति वितर्के, 'किन्तु प्रश्नवितर्कयोः' इति मेदिनी; खल्विति प्रश्ने। उपस्थितोत्सवे—उपस्थितः—सन्निहितः उत्सवः—वसन्तोत्सवः उत्सवनियमो वेति यावत् यत्र तस्मिन् तादृशेऽपि दिवसे—माधवीयदिवसे, निरुत्सवारम्भम्—निर् न विद्यते उत्सवारम्भः–उत्सवप्रवृत्तिर्यस्मिन् तत् तादृशमिव, राजकुलं राजसदनं दृश्यते। सर्वं वृत्तान्तम्, प्रणिधानेन समाधिना, ध्यानेनेति यावत्, 'प्रणिधानं प्रयत्ने स्यात् समाधौ च प्रवेशने' इति मेदिनी, ज्ञातुम्, मे मम, विभवः सामर्थ्यमस्ति। ननु प्रणिधानेन सर्वं ज्ञातुं समर्था चेत् कथमत्रागमनपरिश्रमेण स्वात्मानं खेदयसीत्यत आह—किंन्विति।

मेनका के सम्बन्ध से शकुन्तला अब मेरे अङ्ग के समान प्रिय हो गयी है और मेनका ने भी मुझे पहले ही अपनी कन्या के विषय में सचेत कर दिया था।

(१) (चारो ओर देखकर) आजका दिन तो उत्सवका था, फिर राजभवनमें सन्नाटा क्यों है? वैसे तो ध्यान द्वारा मैं सब कुछ जानने का सामर्थ्य रखती हूँ, किन्तु सखीके उस

आदरो माणइदव्वो । भोदु, इमाणं ज्जेव उज्जाणवालआणं पास्सपरिवत्तिणी भविअ तिरक्करिणीए विज्जाए पच्छण्णा उवलहिस्सं ।) [इति नाट्येनावतीर्य स्थिता]

[ततः प्रविशति चूताङ्कुरमालोकयन्ती चेटी तत्पृष्ठेऽपरा च] [१]

प्रथमा—कथमुपस्थितो मधुमासः (२) । (कधं उवत्थिदो महुमासो ।)

आताम्रहरितवृन्तम् उच्छ्वसितमिव वसन्तमासस्य ।
दृष्टं चूताङ्कुरकं क्षणमङ्गल्यं नियच्छामि ॥ १ ॥

सख्याः शकुन्तलायाः सम्बन्धे, आदरः मेनकाकृतः प्रत्यक्षतो राजवृत्तान्तदर्शनाद्यनुरोधः मया मानयितव्यः—पालयितव्यः यद्वा सख्याः—शकुन्तलायाः, आदरः—प्रत्यक्षतो राजवृत्तान्तपरिज्ञानाय (दर्शनाय) आदरेण कृतोऽनुरोधः, मानयितव्यः—सम्मानेन रक्षणीयः; यद्वा आदरः—प्रत्यक्षदर्शनेनास्मिन् वृत्तान्तपरिज्ञाने कृतो यत्नातिशयः, सख्याः शकुन्तलायाः सम्बन्धे, मया मानयितव्यः—प्रत्याययितव्यः, इति केचिद् व्याचक्षते । तथा च यत्र कुत्राप्यवस्थानपूर्वकं ध्यानवशेन सर्वमवगन्तुं शक्ताऽपि सख्या अनुरोधादेव ममात्रागमनमिति भावः । भवतु—तदेव भवतु, उद्यानपालकानाम् उपवनरक्षकाणाम् , पार्श्वपरिवर्त्तिनी निकटवर्त्तिनी, सन्निहिता भूत्वेत्यर्थः तिरस्करिण्या--वपुषोऽदृश्यताप्रतिपादिकया, विद्यया मन्त्रेण, प्रच्छन्ना अदृश्यदेहा सती, उपलप्स्ये ज्ञास्यामि, राजवृत्तान्तमिति शेषः ।

(१) तत इति । चूताङ्कुरं रसालमुकुलम् , आलोकयन्ती पश्यन्ती चेटी राज्ञो गृहस्थिता काचिद् दासी, तस्याः उक्तायाश्चेट्याः, पृष्ठे पश्चाद्भागे, अपरा अन्या चेटी च, प्रविशतीत्यन्वयः । द्वे चेट्यौ प्रविशत इत्यर्थः ।

(२) प्रथमेति । चेटीत्यर्थः । कथमिति हर्षे । 'कथं हर्षे च गर्हायां प्रकारेऽथ च संभ्रमे, प्रश्ने सम्भावनायाञ्च' इति मेदिनी । मधुमासः वसन्तमासः, चैत्रमास इत्यर्थः, 'स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधुः' इत्यमरः स्वहृदयामन्त्रणमेतत् ।

आताम्रेति । आताम्राणि ईषल्लोहितवर्णानि हरितानि पलाशवर्णानि च वृन्ता-

---

सादर अनुरोध की भी तो रक्षा करनी होगी । जो हो, इन उद्यान-रक्षकों के पास जाकर और अपनी तिरस्करणी विद्या के प्रभाव से अदृश्यभाव से राजा का वृत्तान्त मालूम करूँगी ।

(ऐसा कहकर अभिनय करती हुई बैठ जाती है ।)

(१) (इसके अनन्तर आम्रमंजरी देखती हुई एक दासी और उसके पीछे एक दूसरी दासी भी आती है ।)

(२) पहली—वाह ! कैसा सुन्दर यह मधुमास आ उपस्थित हुआ । जिसका वृन्त

(आतम्महरिअवेण्टं उस्ससिअं विअ वसन्तमासस्स ।
दिट्टं चूअङ्कुरअं छणमङ्गल्लं णिअच्छामि ॥)

द्वितीया—परभृतिके ! किमेतदेकाकिनी मन्त्रयसे (१) ? (परहुदिए ! किं एदं एआइणी मन्तेसि ?)

प्रथमा—मधुकरिके ! चूतकलिकां प्रेक्ष्य उन्मत्ता खलु परभृतिका भवति (२) । (महुअरिए ! चूअकलिअं पेक्खिअ उम्मत्तिआक्खु परहुदिआ होदि ।)

नि-बन्धनानि यस्य तत्, 'आताम्रं पाटलं विपदारुणम्' इति धनञ्जयः, 'पलाशो हरितो हरित्' इति, 'वृन्तं प्रसवबन्धनम्' इति चामरः, क्षणमङ्गल्यम्-मङ्गलाय-मङ्गलकार्याय हितमिति मङ्गल्यं क्षणम्-उत्सवरूपं यन्मङ्गल्यं-मङ्गलकार्याय हितमित्यर्थः, वसन्तमासज्ञापकत्वात् तदुत्सवसम्पादत्वाच्चेति भावः 'क्षणः पर्वोत्सवव्यापारेषु' इति मेदिनी; दृष्टम्-अवलोकितम्, चूताङ्कुरकम्-आम्रमुकुलम्, स्वार्थे कः, वसन्तमासस्य--चैत्रमासस्य, उच्छ्वसितं-जीवितमिव, नियच्छामि-निश्चिनोमि, वसन्तमाससत्तासूचकत्वादित्याशयः, 'नियमो यन्त्रणायाञ्च प्रतिज्ञानिश्चये व्रते' इति मेदिनी । अत्र वाच्या भावाभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षा । आताम्रेत्यादि स्वभावोक्तिः । हर्षोऽत्र भावः । आर्या जातिः ॥ १ ॥

(१) द्वितीयेति । अपरा चेटीत्यर्थः । परभृतिके ! इति प्रथमचेट्या नाम्ना सम्बोधनम्, एकाकिनी-स्वगतमेवेत्यर्थः, मन्त्रयसे-आलपसि, गुप्तं भाषसे इत्यर्थः । अत्र परभृतिकेति नाम्ना कोकिला गम्यते । किमुन्मत्तासीत्याशयः ।

(२) प्रथमेति श्लेषवक्रोक्त्या प्रतिवक्ति—मधुकरिके ! इत्यादि । मधुकरिके ! इति द्वितीयचेट्या नाम्ना सम्बोधनम् । चूतकलिकाम्-आम्रमुकुलम्, प्रेक्ष्य-अवलोक्य, परभृतिका-परेण भ्रियत इति परभृतिः ततः, संज्ञायां कन्प्रत्यये स्त्रियाञ्च परभृतिकेति सिद्धम्, कोकिला अहञ्चेत्यर्थः, उन्मत्ता-वसन्तकालाविर्भावात् तेन कालाविर्भावाद्यास्यर्थमुल्लासिनीत्यर्थः, भवति । 'वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि' इत्यमरः । अत्र परभृतिकेति श्लेषः ।

कुछ उज्ज्वल तथा हरा है और जो उत्सवरूप मंगलकार्यमें संग्रह करने योग्य है, मैं तो इस दृश्यमान आम्रमुकुल को मधुमास का प्राण ही मानती हूँ ॥ १ ॥

(१) दूसरी—परभृतिके ! तू यहाँ अकेली क्या सोच रही है ?

(२) पहली—मधुकरिके ! आम्रमंजरी को देख कर कोयल मतवाली हो जाती है ।

द्वितीया—[सहर्षं त्वरया उपगम्य] कथमुपस्थितो मधुमासः (१) ? (कधं उवत्थिदो महुमासो ?)

प्रथमा—मधुकरिके ! तवापि एष कालो मदविभ्रमोद्गीतानाम् (२) । (महुअरिए ! तवावि एसो कालो मदविब्भमुग्गीदाणं ।)

द्वितीया—सखि ! अवलम्बस्व माम् , यावदग्रपदे परिस्थिता भूत्वा चूतप्रसवं गृहीत्वा सम्पादयामि कामदेवस्य अर्चनम् (३) । (सहि ! अवलम्बस्स मं, जाव अग्गपदे परिट्ठिदा भविअ चूअप्पसवं गेह्णिअ सम्पादेमि कामदेवस्स अच्चणं ।)

---

(१) द्वितीयेति । सहर्षं-हर्षसहितम् , त्वरया-वेगेन, उपगम्य, चूततरुमिति शेषः । चूतकलिकोद्गमनवार्त्ताश्रवणं मधुकरिकाया हर्षत्वरयोर्हेतुः । कथमिति हर्षार्थकं किमर्थकं वाव्ययं बोध्यम् । 'कथं हर्षे च गर्हायां प्रकारार्थे च सम्भ्रमे । प्रश्ने सम्भावनायाञ्च' इति मेदिनी । मधुमासः-वसन्तमासः, चैत्र इत्यर्थः ।

(२) प्रथमेति । मधु-मधुवन्मधुरं वचनं पुष्पसारञ्च करोतीति मधुकरा ततः संज्ञायां कन्प्रत्यये मधुकरिकेति तत्सम्बोधने हे मधुकरिके !-भ्रमरि ! चेटि ! च, तवापि-भ्रमर्याः अपि; पक्षे तदाख्यचेट्या अपि, मदविभ्रमोद्गीतानाम्; मदविभ्रमेण-मत्तताविलासेन उद्गीतानाम्-उच्चैःस्वरेण गानानाम् , एषः-प्रसिद्धः वसन्ताख्यः कालः । अत्रापि पूर्ववत् श्लेषः । एतेन मधुकरिका वसन्तगीतिषु प्रवीणेति द्योत्यते । अत्रैतादृशश्लिष्टार्थसूचनार्थं कविना चेट्योरीदृशं नामद्वयमुपन्यस्तम् ।

(३) द्वितीयेति । अवलम्बस्व यथा न पतामि तथावलम्बनं देहि । अग्रपदे-पदयोरग्रे, पदाङ्गुलीमात्रसमाश्रयेणेति यावत् , परिस्थिता-परितः स्थिता; उन्नता भूत्वेत्यर्थः, चूतप्रसवं-आम्रकुसुमम् , 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः, गृहीत्वा-अवचित्य, कामदेवस्य-मदनस्य, अर्चनं-पूजनम् , सम्पादयामि-निष्पादयामि, वसन्तोत्सवे कामदेवस्याचर्चनीयत्वादिति भावः ।

अत्र चूतपादपस्य प्रांशुलभ्यत्वेन बालायाश्चेट्यास्तल्लाभायाग्रपदावस्थितिरुचितैव, वसन्तोत्सवे कामदेवार्चनं लोकप्रसिद्धमेवेति बोध्यम् ।

---

(१) दूसरी—(शीघ्र पास जाकर) क्या मधुमास आ गया ?

(२) प्रथमा-मधुकरिके ! खूब मस्ती के साथ तुम्हारे गाने का भी तो यही समय है !

(३) दूसरी—सखी ! जरा मुझे सम्हालो तो, जिससे मैं पैर के अगले भाग के सहारे खड़ी होकर आम के बौर तोड़ लूँ और उससे कामदेव का पूजन करूँ !

प्रथमा—यदि एवम्, तन्ममाप्यर्द्धमर्चनफलस्य (१)। (जइ एव्वं, ता ममावि अद्धं अच्चणफलस्स ।)

द्वितीया—सखि ! अभणितेऽपि एतत् सम्पद्यत एव । यत् एकमेव नौ एतत् शरीरं द्विधा भिन्नं प्रजापतिना (२)। (सहि ! अभणिदे वि एव्वं सम्पज्जइ एव्व । जदो एक्कं ज्जेव णो एदं सरीरं द्विधा भिण्णं पजावइणा ।) [सखीमवलम्ब्य चूतप्रसवं गृहीत्वा] अहो ! अप्रबुद्धोऽपि चूतप्रसवो बन्धनभङ्गसुरभी राजते । नमो भगवते मकरध्वजाय (३)। (अम्महे ! अप्पबुद्धोवि चूअप्पसवो बन्धणभङ्गसुरहो राअदि । णमो भअवदे मअरद्धजाअ ।) [कपोतहस्तं कृत्वा ।]

---

(१) प्रथमेति । सव्याजमाह—यदीति । यद्येवम्—मत्कृतावलम्बनेन त्वया चूतप्रसवग्रहणं कर्त्तव्यम्, तत्–तदा; अर्चनफलस्य-तच्चूतकुसुमद्वारा त्वत्कृतकामदेवपूजनफलस्य, अर्द्धम्-एको भागः; ममापि; भवेत् इति शेषः । यदि तवार्चनफलस्यार्द्धमागिनी अहं भविष्यामीति त्वमनुमन्यसे तदा त्वामहमवलम्बे इति भावः ।

(२) द्वितीयेति । अभणितेऽपि-मया अनाख्यातेऽपि, एतत्-ममार्चनफलस्यार्धम्, सम्पद्यत एव-तव भवत्येव । तत्र हेतुमाह—यत इत्यादि । यतः—यस्मात्, नौ–आवयोः, एकमेव-अभिन्नमेव, शरीरं–देहः, प्रजापतिना–विधात्रा, द्विधा भिन्नं-द्विधा कृतम्, अत्रेयमतिशयोक्तिः; अनया सौहार्दातिशयो द्योत्यते । तथा चावयोर्हृदयस्याभिन्नवृत्तिकतयाऽऽत्मनोऽप्यभिन्नत्वात् शरीरमात्रभेदेऽपि मत्कृतार्चनफलस्यार्द्धं तव निःसन्देहं स्यादेवेति भावः ।

(३) सखीं—परभृतिकाम् । अप्रबुद्धोपि–अप्रस्फुटितोऽपि बन्धनभङ्गेन–वृन्तत्रोटनेन सुरभिः—सुगन्धिः, 'सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत् सुरभिः स्मृतः' इति विश्वः, राजते–शोभते । तथा चाप्रतिबोधावस्थायामपि बन्धनभङ्गमात्रेणैवेदृशसौरभोद्गमे प्रतिबोधकाले तु किं वा न भविष्यतीति चूतप्रसवो राजत इत्याशयः । कपोतहस्तं–कपोतः–पारावतः स इव हस्त इति तम्, करयोः कपोताकारमञ्जलिम् ।

---

(१) पहली—यदि ऐसा हो तो उस पूजन का आधा फल मुझे भी मिलना चाहिये ।

(२) दूसरी—सखी ! तुम्हारे न कहने पर भी ऐसा ही होता । क्योंकि प्रजापति (ब्रह्मा) ने हम दोनों के एक ही शरीर को दो भागों में विभक्त कर दिया है ।

(३) दूसरी सखी ! (पहली का सहारा लेकर आम्रमञ्जरी तोड़ लेती है) ओहो ! यद्यपि अभी यह आम्रमञ्जरी विकसित नहीं हुई है, फिर भी वृन्त से अलग होते ही सुगन्धि का

अर्हसि मे चूताङ्कुर ! दत्तः कामस्य गृहीतचापस्य ।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चान्तरितः शरो भवितुम् ॥ २ ॥ (१)
(अरिहसि मे चूअंगुर ! दिण्णो कामस्स गहिदचावस्स ।
पहिअजणजुअइलक्खो पञ्चन्तरिओ सरो होदुं ॥ २ ॥)

तल्लक्षणं सङ्गीतरत्नाकरे—
'कपोतोऽसौ करौ यत्र श्लिष्टमूलाग्रपार्श्वकौ । प्रणामे गुरुसम्भाषे ॥' इति ।
एवमपि भरतेनैवोक्तम्—
'सर्वपार्श्वसमाश्लेषात् कपोतः सर्पशीर्षकः ।
गीतौ विज्ञापने चैव विनये च नियुज्यते ॥'
भगवते—सर्वशक्तिसम्पन्नाय मकरध्वजाय—मकरः मीनभेदो ध्वजे यस्य तस्मै; कामदेवाय, नमः । अर्चनमन्त्रोऽयम् ।

(१) अर्हसीति । हे चूताङ्कुर ! हे आम्रमुकुल ! मे—मयेत्यर्थः, सम्बन्धविवक्षया कर्त्तरि षष्ठी, दत्तः—कामदेवमुद्दिश्योत्सृष्टः त्वम्; पथिकजनानां-प्रोषितजनानां विरहिजनानां युवतयः-प्रमदा वध्वः लक्ष्याणि-शरव्याणि स ताद्दशः; विरहियुवतिहृदयविदारक इत्यर्थः, पञ्चानां-सम्मोहनादीनामरविन्दादीनां पञ्चसंख्यकानां शराणाम् अन्तरितः-अन्तर्गतः गृहीतचापस्य—धृतधनुषः, अनेन युद्धोद्यमः सूच्यते; तेन शरदानौचित्यं च ध्वन्यते कामस्य—मदनस्य शरो भवितुमर्हसि । भवितुमिति 'शकधृषज्ञाग्लाघट–' (पा०) इत्यादिना तुमुन्प्रत्यये रूपम् ।

'पञ्चान्तरितः शरो भवितुम्' इत्यत्र 'पञ्चाभ्यधिकः शरो भव' इति पाठान्तरम्, तत्र—पञ्चभ्यः—अरविन्दादिभ्यः पञ्चसंख्यकेभ्यः शरेभ्यः अभ्यधिकः—अतिरिक्तः षष्ठ इत्यर्थः; एवञ्चात्रासम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर्बोध्या । केचित्तु—पञ्चाभ्यधिकः—पञ्चसु—पञ्चसंख्यकेषु शरेषु अभ्यधिकः-श्रेष्ठ इत्यर्थः, इति चूतसामान्यस्य कामशरत्वमभ्युपेत्य व्याचक्षते । कामशरानाह—
संमोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा । स्तम्भनश्चेति कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः ॥
अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका । नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥'
इति ॥ आर्या जातिः ॥ २ ॥

प्रसार कर रही है । (अंजलि बाँधकर) भगवान् कामदेव की जय हो ।

(१) हे आम्रमुकुल ! मैंने तुम्हें दान कर दिया है, तुम उस धनुर्धारी कामदेव के पाँच बाणों में से एक बाण होओ और विरही जनों की युवतियाँ तुम्हारा लक्ष्य बनें ॥

कञ्चुकी—[प्रविश्य अपटीक्षेपेण सक्रोधम् ।] मा तावदनात्मज्ञे ! देवेन प्रतिषिद्धेऽपि मधूत्सवे चूतकलिकाभङ्गमारभसे (१)।

उभे—[भीते ।] प्रसीदतु प्रसीदतु आर्यः, अगृहीतार्थे आवाम् (२)। (पसीददु पसीददु अज्जो, अगहिदत्था अम्हे ।)

कञ्चु—हुं, न किल श्रुतं भवतीभ्यां यद्वासन्तैस्तरुभिरपि देवस्य (३)

(१) कञ्चुकीति । जातस्मृतिना शकुन्तलाविरहेण दुर्मनायमानेन राज्ञा वसन्तोत्सवे प्रतिषिद्धेऽपि चेटीभ्यां क्रियमाणं चूतप्रसवभङ्गकामदेवार्चनादिव्यापारमवलोक्य कञ्चुकी भर्त्सयन्नाह;–मेति। अपटीक्षेपेण कञ्चुकिनः प्रवेशः सम्भ्रमं सूचयति; तत्र हेतुः क्रोधः। तत्र च हेतुश्चूताङ्कुरभङ्गदर्शनम् । मा तावदिति निषेधे, साम्प्रतमेवं मा कुरुतमित्यर्थः । निषेधप्राथम्यं राजाज्ञागौरवात् । यद्वा मेति निषेधसूचकं भिन्नपदम्; तावदिति वाक्यालङ्कारे । यद्वा मा तावदिति वैपरीत्ये, विरुद्धमेतदित्यर्थः । आत्मानं न जानातीति अनात्मज्ञा तत्सम्बोधने हे अनात्मज्ञे–आत्मज्ञानविरहिते !, इदं चेटीद्वयसम्बोधनपदमपि भवितुमर्हति सम्बोधनद्विवचने तथैव रूपसम्भवात् ; कर्त्तव्यमूढे; तथा च तुच्छं दासीमात्रमात्मानं कर्तव्यञ्च जानत्या न कथमपि राजशासनं लङ्घितं स्यादिति भावः । किं तदित्यत्राह;–देवेनेति । देवेन राज्ञा, मधूत्सवे–वसन्तोत्सवे, प्रतिषिद्धे वारितेऽपि, चूतकलिकाभङ्गम्-आम्रमुकुलत्रोटनम् आरभसे = करोषि । चूतकलिकाभङ्गस्यातीवानौचित्यमिति भावः ।

(२) उभे इति । चेट्यावित्यर्थः । भीते–मुखशोषणादिना भयं नाटयन्त्यौ सत्यावित्यर्थः । आज्ञानादेवं कृतमित्याहतुः प्रसीदत्वित्यादिना । प्रसीदतु–प्रसन्नो भवतु, सम्भ्रमे द्विरुक्तिः, मर्षयत्वित्यर्थः । अगृहीतः–अविदितः अर्थः–राजकर्तृकमधूत्सवप्रतिषेधलक्षणविषयो याभ्यां ते अगृहीतार्थे–आवाभ्यां राजकृतमधूत्सवप्रतिषेधरूपार्थो न ज्ञाते इत्यर्थः । तथा चाज्ञानकृतापराधस्य मर्षणीयत्वाद् भवान् तं मर्षयत्विति भावः ।

(३) कञ्चु इति । हुम् इति क्रोधे, परिप्रश्ने वा, 'हुं वितर्के परिप्रश्ने' इत्यमरः । अज्ञानस्यासम्भाव्यत्वमाह;–नेत्यादि । भवतीभ्यां चेटीभ्याम् , किलेत्यसम्भावनायाम् , युवाभ्यां देवशासनं न श्रुतमित्येतदसम्भाव्यमित्यर्थः । कुत इत्यत्राह;–यदिति । यत्–यस्मात् , वसन्तैः–वसन्तकालोद्भवैः तत्काले पुष्प्यद्भिरित्यर्थः, तरु-

(१) कंचुकी—(एकाएक आकर क्रोध के साथ) ओ नासमझो ! ऐसा न करो ! महाराज ने वसन्तोत्सव रोक दिया है, फिर भी तुम आम्रमञ्जरी तोड़ रही हो ?

(२) दोनों—(भयभीत होकर) नाराज न हों आर्य हमें यह बात मालूम नहीं थी।

(३) कंचुकी—हुँ ! क्या तुम ने यह नहीं सुना है कि वसन्तकाल के वृक्षों और

शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिश्च। तथाहि—

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
सन्नद्धं यदपि स्थितं कुरुवकं तत् कोरकावस्थया।

भिः-वृक्षैरपि, अचेतनैरपीत्यर्थः अपिशब्दोऽचेतनानां राजशासनानुष्ठानस्यासम्भावनां ध्वनयति, तदाश्रयिभिः-वसन्ततर्वाश्रयिभिः पुंस्कोकिलादिभिश्च, देवस्य-राज्ञो दुष्यन्तस्य शासनं मधूत्सवप्रतिषेधाज्ञा, 'शासनं नृपदत्तोर्व्यां शास्त्राज्ञालेखशास्तिषु' इति हैमः, प्रमाणीकृतं-पालितमिवेत्यर्थः। अत्र गम्योत्प्रेक्षा, वक्ष्यमाणानां वस्तुस्वाभाव्यादेव तथात्वात्। अथवाऽसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिश्च; राजाज्ञायास्तत्त्वतोऽसम्बन्धात्। अत्र च चेतनाचेतनसाधारणैः राजाज्ञापालनोक्त्या राज्ञो लोकातिशयितप्रतापो द्योत्यते। तत्पालनं दर्शयितुमाह,-तथा हीति।

चूतानामिति। चिरनिर्गतापि-बहुपूर्वं बहिर्गतापि, शिशिरावसाने एव प्रोद्भिन्नापीत्यर्थः; चूतानाम्-आम्राणां कलिका-मञ्जरी, जात्यभिप्रायेणैकवचनम्; कलिकाशब्दो बाधितमुख्यार्थोऽभिनवोद्गतसाधर्म्यान्मञ्जरीं लक्षयतीत्यर्थद्योतनिका, स्वं-स्वकीयम्; स्वसाधारणीयमिति यावत्; अनेनावश्यभव्यत्वं सूचितम्, रजः-परागम्; न बध्नाति न धारयति नाविष्करोतीत्यर्थः। तथा च सर्वत्र कलिकानिर्गमनानन्तरमेव परागं धत्ते अत्र तु बहुपूर्वं बहिर्गतापि राजाज्ञया एवं परागं न धत्ते इति भावः। यथा काचित् बाला प्रौढापि रजोदर्शनं न याति तद्वदिति समासोक्तिः। यदपि कुरुवकं—शोणकुरण्टकपुष्पमुकुलम्, तत्र 'शोणो कुरुवकः' इत्यमरः, सन्नद्धं-बहिर्निर्गतम्, सन्नद्धशब्दो बहिर्निर्गमनसाम्यात् कुरुवकं लक्षयन्नतिशोभावत्त्वं ध्वनयति, तदपि-बहिर्निर्गमनवत्कुरुवकमुकुलमपि, कोरकावस्थया-कलिकारूपेणैव स्थितम्, राजशासनान्न पुनर्विकसितमिति भावः, अत्रापि जात्यभिप्रायेणैकवचनम्। अत्र कोरकत्वं न जहातीति कार्याभावे वक्तव्ये तद्विरुद्धत्वेनोक्तिः। तथा शिशिरे-शीततौ गतेऽपि-अतीतेऽपि वसन्ताविर्भावेऽपीत्यर्थः, पुमांसश्च ते कोकिलाश्चेति तेषां पुंस्कोकिलानां-कोकिलयूनाम्, न तु कोकिलसामान्यानाम्; कोकिलयुवतीनां स्वत एव स्वरस्खलनसम्भवादिति भावः, अतएव कविना पुंस्त्वं निर्दिष्टम्, यद्वा स्त्रीजात्यपेक्षया पुरुषजातीयानां मदाधिक्यात् पुंस्कोकिलानां तत एव रुतसम्भवे राजशासनादेव तन्निवारणमिति ज्ञापनार्थं पुंस्त्वं निर्दिष्टम्, रुतं-

उनपर निवास करनेवाले पक्षियों तक ने महाराज की आज्ञा का पालन किया है। देखो—

आम्रमुकुल यद्यपि बहुत दिनों से निकले हैं फिर भी वह पराग नहीं धारण करते। कुरबक की कलियाँ निकली थीं, किन्तु वे उसी अवस्था में रह गयीं—खिली नहीं और यद्यपि

कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ॥ ३ ॥

शब्दितम्, कण्ठेषु—गलबिलेष्वेव, स्खलितं—निर्गमनकाले लीनम्, किञ्चिन्निर्गत्यैव कण्ठेष्वेव विस्रस्तमित्यर्थः, कोकिलस्वनोऽपि अस्फुटो जात इति समुदितोऽर्थः। वाक्यत्रयेण पूर्वोक्तमर्थं प्रसाध्यान्यत् किमपि सम्भावयामीत्याह—शङ्के इत्यादि। स्मरोऽपि—सर्वविजयी कामोऽपि, अन्येषां का कथा, चकितः—राजशासनाद् भीतः सन्, तूणात् तूणीरात् अर्द्धकृष्टम्—अर्द्धनिष्कासितम्, शरं—बाणम्, संहरति—पुनस्तूणीरे एव स्थापयति, शङ्के—इति सम्भावयामि, अहमिति शेषः। तथा च यत्राचेतनैः स्थावरैः पादपैः विशिष्टचेतनैर्जङ्गमैः पक्ष्यादिभिस्ततोऽपि माहात्म्यवद्भिर्देवैरपि राजशासनं पाल्यते, तत्र भवतीभ्यामेव न श्रुतमिति न सम्भवपरमिति भावः। अत्रार्थद्योतनिका—'अत्र चिरनिर्गतादेः कारणस्योक्तः कार्यस्य परागादेर्निषेधान्मालाविशेषोक्तिः। नन्वत्र विरोधवाचकापिशब्दश्रवणाद् विरोधाभास एवास्त्विति चेत्; न—

'कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान्यो जने जने।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥'

इत्यादौ सत्यप्यपिशब्दे विशेषोक्तेर्दर्शनात्, उक्तं च रुय्यकेण—

कार्याभावेणेहोपक्रान्तत्वाद्बलवता कारणसत्ताया एव बाध्यमानत्वं न तु तया कार्याभावस्येत्यन्योन्यबाधानुप्राणिताद् विरोधालंकाराद् भेदः' इति।

ननु दग्धत्वस्य शक्तिमत्त्वं शक्तिमत्त्वस्य विषयं परित्यज्यैवोत्सर्गस्य दग्धत्वं तनुहरणत्वस्य बलहरत्वं तस्य तनुहरणत्वमित्यन्योन्यबाधकत्वं प्रतीयत एवेति चेत्; सत्यम्; तर्हि यथा विरोधे सत्यपि भिन्नविषयत्वेनासंगतेर्न विरोधाभासत्वम्, एवं कारणाभावे कार्यसत्त्वे तत्र च सति तदभाव इत्येवं रूपविषयद्वयपरित्यागेनैव तस्य विषय इति ज्ञेयम्, अपवादविषयं परित्यज्यैवोत्सर्गस्य प्रवृत्तेः। दृश्यते चैतद्व्यतिरिक्तविषयतैवास्य। 'जडयति च तापं च कुरुते' 'विशालैरपि भूरिशालैः' 'कुपितमपि कलत्रवल्लभम्' इत्यादाविति सर्वं निरवद्यम्—इति।

अत्र च चतुर्थपादे कामस्य भीतत्वबाणसंहरत्वयोः सम्भावनामात्रत्वादुत्प्रेक्षा, 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षावाचकाः' इति विश्वनाथाभिधानेन शङ्के इति पादस्थत्वात्तत्रांशे सा वाच्या भावाभिमानिनी बोध्या।

कामस्य च प्रसूनशरत्वाद् वसन्तपुष्पाणामसकलोत्पन्नत्वात्—सुतरामेव बाण-

---

शीतकाल बीत चला है, फिर भी पुष्पजाति का कोकिलसमुदाय छिपा बैठा है—कूकता नहीं। इसलिए मैं तो सोचता हूँ कि कामदेव ने भी भयभीत होकर तरकस से आधा बाण निकाल कर फिर उसे भीतर कर लिया—चढ़ाया और चलाया नहीं ॥ ३ ॥

मिश्र—नास्त्यत्र सन्देहः महाप्रभावः खलु राजर्षिः (१)। (णत्थि एत्थ सन्देहो, महाप्पहावो क्खु राएसी।)

प्रथमा—आर्य ! कतिचिद्दिवसानि मित्रावसुना राष्ट्रियेण भर्त्तुः पादमूलं प्रेषिते आवाम् इह प्रमदवने चित्रकर्म्म अर्पयितुम् , तदागन्तुकतया न श्रुतपूर्व आवाभ्यामेष वृत्तान्तः (२)। (अज्ज ! कदिचिद्दिअसाइं मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणो पादमूलं पेसिदा अम्हे इध पमदवणे चित्तकम्म अप्पिदुं। ता आगन्तुअदाए ण सुदपुव्वो अम्हेहिं एसो वुत्तन्तो।)

संहार इति चतुर्थपादगतवाक्यं प्रति पूर्ववाक्यत्रयार्थानां हेतुत्वेनोपन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमपि। चूचीति स्थिरस्थेति कुरुकोरेति रेपुं रोऽपीति अनुप्रासाः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

(१) मिश्रेति। अथ मिश्रकेशी तदा चूतकलिकादीनां वस्तुतस्तादृशीमवस्थां सम्यगुपलभ्य कञ्चुकीयोक्तं सविस्मयमनुवदति—नास्तीत्यादि। अत्र तिरस्करिण्या विद्यया प्रच्छन्नाया मिश्रकेश्या वाक्यस्यापि परैरश्राव्यत्वमिति बोध्यम्। एवमन्यत्रापि। नास्त्यत्र सन्देहः–कञ्चुकीयोक्तं सर्वं सत्यमेवेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह–महेत्यादि। महान् प्रभावो यस्य स महाप्रभावः—दिव्यशक्तिसम्पन्नः। अस्य पृथ्वादिवन्महाप्रभावत्वात्सर्वमुपपद्यत एवेत्यर्थः। केचित्तु नास्त्यत्र सन्देहः–अत्र–स्मरावस्थायामिति व्याचक्षते। इदं चेट्योर्वचनमित्यन्ये।

(२) प्रथमेति। अथैका चेटी वसन्तोत्सवप्रतिषेधस्याश्रयणे हेतुं दर्शयति—आर्येत्यादि। आर्येति कञ्चुकिसम्बोधनम्। कतिचिद्दिवसानि–कियन्त्येवाहानि यावत्, मित्रावसुना—तन्नाम्ना राष्ट्रियेण—राजश्यालेन, 'राजश्यालस्तु राष्ट्रियः' इत्यमरः, नगराध्यक्षेणेति यावत्, प्रमदवने—तन्नामोद्याने, राज्ञोऽन्तःपुरोद्याने, इति यावत्, चित्रकर्म अर्पयितुं—पटे चित्रं कारयितुमित्यर्थः, भर्तुः–स्वामिनो दुष्यन्तस्य पादमूलं—चरणान्तिकम्; 'मूलमाद्ये शिफायां स्याद् भे निकुञ्जेऽन्तिकेऽपि च' इति विश्वः, आवां–मधुकरिकापरभृतिके चेट्यौ, प्रेषिते–प्रेरिते। तत्–तस्मात्, आगन्तुकतया–नवागततया, उदासीनतयेति यावत्, आवाभ्यां—चेटीभ्याम्, न श्रुतपूर्वः–न पूर्वं श्रुतः सुप्सुपेति समासः, एषः—वृत्तान्तः–वसन्तोत्सवनिषेधरूपः कथाप्रसङ्गः।

---

(१) मिश्रकेशी—इसमें कोई संशय नहीं है, क्योंकि महाराज का प्रभाव महान् है।

(२) पहली—आर्य ! कई दिन हुए राजश्यालक मित्रावसु ने इस बगीचे में चित्र बनाने के लिये हम लोगों को महाराज के पास भेजा था। अतएव हम यहां के लिये नवागन्तुक हैं इसी से अभी यह बात किसी से सुनी ही नहीं थी।

कञ्चु—तेन हि न पुनरेवं प्रवर्त्तितव्यम् (१)।

उभे—[सकौतूहलम्] आर्य ! यद्यनेन जनेन श्रोतव्यम् , तत् कथयतु आर्यः किंनिमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्ध इति (२)। (अज्ज ! जइ इमिणा जणेण सोदव्वं, ता कधेदु अज्जो किंणिमित्तं भट्टिणा वसन्तुच्छवो पड़िसिद्धोत्ति।)

मिश्र—उत्सवप्रियाः खलु राजानो भवन्ति, तदत्र गुरुणा कारणेन भवितव्यम् (३)। (उच्छवप्पिआ क्खु राआणो होन्ति, ता एत्थ गुरुणा कारणेन होदव्वं।)

कञ्चु—[स्वगतम्] बहुलीभूतोऽयमर्थः. तत् किं न कथ्यते (४)।

---

(१) कञ्चु इति। तदुक्तमभ्युपगच्छन् प्रशमितकोपः पुनः प्रतिषेधति तेनेति। एवं चूतकलिकाभङ्गादिभिरुत्सवारम्भणेन, न प्रवर्त्तितव्यं—न प्रवृत्तिर्विधेया।

(२) उभे इति। सकौतूहलं—कौतूहलेन सह, सशुश्रूषमित्यर्थः। प्रियस्याप्युत्सवस्य राज्ञा कथं वा निषेधः कृत इति हेतुश्रवणाय कौतुकं बोध्यम् यदि अनेन जनेन—अस्मद्विधेन चेटीजनेन, मयेत्यर्थः। श्रोतव्यं श्रवणार्हम्, एतेन विनयो दर्शितः। तत्—तदा। आर्यः—मान्यः भवान्। किंनिमित्तं—केन हेतुना। भर्त्रा—राज्ञा दुष्यन्तेन, वसन्तोत्सवः—मधूत्सवः, प्रतिषिद्धः—वारितः, इति इदं कथयतु क्रियायाः। कर्म।

(३) मिश्रेति। खल्विति निश्चये। उत्सवः प्रियो येषां ते उत्सवप्रियाः, इष्टोत्सवाः, आनन्ददायककर्मणि तेषां बह्वादरादिति भावः। तत् तस्मात् , अत्र—प्रियस्यापि उत्सवस्य निषेधे, गुरुणा-महता, कारणेन—हेतुना, भवितव्यमिति भावे तव्यप्रत्ययः। अत्र श्रवणौत्सुक्यं गम्यते।

(४) कञ्चु इति। अथ कञ्चुकी चेट्योरनुनयपूर्णवचनं श्रुत्वा स्वगतं समालोचयति—बहुलीत्यादि। स्वगतम् अनतिस्पष्टम्। अयमर्थः—वसन्तोत्सवनिषेधहेतुवृत्तान्तः, बहुलीभूतः—प्रायेण सर्वत्र व्याप्तः प्रायशः लोकेषु न गोपनीय इति यावत् , तत् तस्मात् , किं न कथ्यते—अनयोः सविधे कथं मया न प्रकाश्यते; तदुत्सवनिषेध—

---

(१) कंचुकी—अगर ऐसा है तो अब फिर कभी ऐसा न करना।

(२) दोनों—(कौतूहल के साथ) आर्य ! यदि हम सुन सकती हों तो कृपया बता दीजिए कि महाराज ने यह वसन्तोत्सव रोक क्यों दिया ?

(३) मिश्रकेशी—राजा लोग तो उत्सव प्रिय होते हैं, अवश्य ही इसमें कोई बड़ा कारण होगा।

(४) कंचुकी—(स्वगत) जब यह बात फैल ही चुकी है, तो कह ही क्यों न दूँ ?

[प्रकाशम्] अस्ति भवत्योः कर्णपथमायातं शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम् ?।

उभे—आर्य ! श्रुतं राष्ट्रियमुखात् अङ्गुरीयकदर्शनं यावत् (१)।
(अज्ज ! सुदं रट्ठिअमुहादो अङ्गुलीअदंसणं जाव।)

कञ्चु—तेन स्वल्पं कथयितव्यम्। यदैवाङ्गुरीयदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा रहसि मया तत्रभवती शकुन्तला मोहात् प्रत्यादिष्टेति, तदा प्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः। तथा हि (२)—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते,

कारणमिति शेषः। तथा च यत इयं वार्त्ता राज्यमध्यप्रकाशात् विस्तृतीभूता तस्मादनयोः समीपे तत्कथने तु न कश्चिद् बाध इति भावः। प्रकाशं-सुस्पष्टम्। उत्सवप्रतिषेधकारणं वक्तुमारभते;—अस्तीति। भवत्योः—चेट्योः, कर्णपथमायातं-श्रवणगोचरीभूतम्। शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम्;—शकुन्तलायाः—कण्वदुहितुः प्रत्यादेशस्य-निराकृतेः कौलीनं—लोकवादः। 'स्यात् कौलीनं लोकवादः' इत्यमरः। काक्वा प्रश्नो गम्यते।

(१) उभे इति। राष्ट्रियस्य—राजश्यालकस्य नगररक्षकस्य मित्रावसोर्मुखात्; अङ्गुरीयकदर्शनं यावत्—अङ्गुलिमुद्रादर्शनावधि। धीवराल्लब्ध्वेति शेषः।

(२) कञ्चु इति। तेन हि—बहुतरांशस्य श्रुतत्वादेव, स्वल्पं कथयितव्यमवशिष्टमिति शेषः। वक्तव्यविषयस्याल्पमात्रावशेषोऽस्तीत्यर्थः। अवशिष्टं कथयति;—यदैवेति। रहसि-निर्जनप्रदेशे, ऊढपूर्वा-गान्धर्वविधिना परिणतपूर्वा, तत्रभवती-मुनिकन्यात्वेन निरपराधत्वादेव मान्या, शकुन्तला। किन्तु मोहात्-विस्मरणात्, प्रत्यादिष्टा-'न मे त्वं पत्नी' इति निराकृता, इति देवेन-राज्ञा तदैव अङ्गुरीयकदर्शनाद्धेतोरनुस्मृतम्; तदा प्रभृत्येव तदारभ्यैव देवः-राजा, पश्चात्तापम्-अनुतापम् उपगतः-प्राप्तवान्; इति योजना। पश्चात्तापस्य परिपोषमनुभावमुखेन दर्शयितुमाह;—तथा हीति।

रम्यमिति। गद्यस्थं देव इति कर्तृपदमत्रानुषज्यते। देवः—राजा दुष्यन्तः,

---

(प्रकट) आप दोनों ने शकुन्तला के त्याग की अफवाह सुनी है ?

(१) दोनों—हमने राजश्यालक के मुख से महाराज के अंगूठी देखने तक का वृत्तान्त सुना है।

(२) कंचुकी—तब तो थोड़ी ही बात बतानी है। अंगूठी देखकर जैसे ही महाराज को स्मरण हुआ कि मैंने सचमुच एकान्त में शकुन्तला के साथ विवाह किया था और अब अज्ञानवश उसका तिरस्कार किया है, तभी से महाराज को शोक है। देखो—

रम्य वस्तु देखकर उस से द्वेष करते हैं। पहले की तरह अब कर्मचारियों की सेवा

शय्योपान्तविवर्त्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः ।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडावनम्रश्चिरम् ॥ ४ ॥

रम्यं–स्रक्चन्दनचन्द्रपादादिकं रमणीयं वस्तु, द्वेष्टि—नाभिनन्दति; उद्वेजकत्वाच्चक्षुषापि न पश्यतीत्यर्थः; शकुन्तलाया विरहेण तादृशवस्तुनः सुखदातृत्वाभावात्तन्नाद्रियत इति भावः । यथा पुरा—पूर्ववत् , पूर्वं तु कार्यापेक्षितया अधुना तु अवसरापेक्षयेत्यर्थः, प्रकृतिभिः–अमात्यादिभिः, 'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः' इति मेदिनी, प्रत्यहम्—अनुदिनम्, न सेव्यते–राजकार्यसम्पादनार्थं नोपास्यते, पूर्वं सर्वैरमात्यादिभिः पुरुषैरन्वहम् इदानीन्तु द्वित्रैः कदाचित् सेव्यत इत्यर्थः, राजकार्यं सम्यक् न पश्यतीति भावः । अनेन वाक्यद्वयेन अरतिर्दर्शिता । उन्निद्रः–उत्सृष्टा निद्रा येन तथाभूतः–जागरित एवेत्यर्थः, शय्यायाः–आस्तरणस्य न तु शय्यानाम्, उपान्तयोः–सीम्नोः न तु मध्ये विवर्त्तनैः विलुण्ठनैः न तु निद्रया, यद्वा–शय्यायां–आस्तरणे उपान्तविवर्त्तनैः–पार्श्वपरिवर्त्तनैरित्यर्थः, क्षपाः–निशाः न तु निशाम् , विगमयति—अतिवाहयति, न तु ताः स्वयं प्रयान्ति, इति साभिप्रायं सर्वं पदम् , शय्येत्यादिना विरहसंतापनिस्सहत्वमाविष्कृतम् । यदा दाक्षिण्येन—अत्यन्तानुरोधेन 'दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि बैम्बिकानां कुलव्रतम्' इत्युक्तेः, एतेनास्यावश्यकत्वं ध्वनितम् , अथवा दाक्षिण्येन–औदार्येण न तु रागाभिनिवेशेनेत्यर्थः, यद्वा दाक्षिण्येन सकलवनितासु समानानुरागित्वेन हेतुना 'एषु त्वनेकमहिलासु-समरागो दक्षिणः कथितः' इति दर्पणोक्तेः, अन्तपुरेभ्यः–अन्तःपुरवासिनीभ्यो महिलाभ्यः, उचितां–तत्कालयोग्याम् अभ्यस्तां वा, अनेनावश्यापेक्षणीयत्वं ध्वनितम् , वाचं—वाक्यम् , ददाति—प्रयच्छति, यदान्तःपुरवासिनीभिर्महिलाभिः सह तत्कालोपयुक्तमभ्यस्तं वाऽऽलपतीत्यर्थः, एतेनात्मावस्थानिगूहाय यत्नः प्रकाश्यते । तदा गोत्रेषु—नामसु, 'गोत्रं नाम्नि तथान्वये' इति हलायुधः, स्खलितः—प्रभ्रष्टः, यस्याः कस्याश्चिन्नाम्नि उच्चारयितव्ये भावनाबलात्कृतशकुन्तलानामप्रयोगः सन्नित्यर्थः। चिरं—बहुक्षणं व्याप्य, व्रीडया—लज्जया अवनम्रः—नतमस्तकश्च भवति । शकुन्तलाप्रत्याख्यान-जनितानुतापेन अजस्रं तद्भावनाबलादेव राज्ञोऽमी भावा इति भावः ।

अत्रोक्तैरनुभावैर्व्यज्यमानैश्चिन्ताविषादादिभिर्भावैश्च विप्रलम्भोऽभिव्यज्यते ।

भी नहीं स्वीकार करते, शय्या पर पड़े रहते हैं फिर भी नींद नहीं आती, करवटें बदल बदल कर रात बिता दिया करते हैं, अन्तःपुर की स्त्रियों को कोई उत्तर देते समय जब कभी शकुन्तला का नाम मुख से निकल जाता है तो बहुत देर तक मारे शर्म के अवनत-मस्तक होकर बैठे रह जाते हैं ॥ ४ ॥

मिश्र—प्रियं मे प्रियम् (१)। (पिअं मे पिअं।)

कञ्चु—अस्मात् प्रभवतो वैमनस्यादुत्सवः प्रत्याख्यातः (२)।

उभे—युज्यते (३)। (जुज्जदि।)

[नेपथ्ये]—एतु एतु भवान् (४)। (एदु एदु भवं।)

कञ्चु—[कर्णं दत्त्वा] अये ! इत एवाभिवर्त्तते देवः, तत् गच्छतं स्वकर्मानुष्ठानाय (५) !

इह च 'व्रीडावनम्र' इति परिवर्त्तनेन क्वचित्पुस्तके 'व्रीडाविलक्ष' इति पाठः, वैलक्ष्यलक्षणमाह दीक्षितः—

'आत्मनः स्खलिते सम्यग् ज्ञातेऽन्यैर्यस्य जायते।
अपत्रपाऽतिमहती स विलक्ष इति स्मृतः॥' इति।

अत्र च पश्चात्तापादिके कारणे वक्तव्ये यत्तत्कार्यस्य रम्यद्वेपादेर्वचनं तत्पर्यायोक्तमिति राघवः।

अस्मन्मते तु अनुतापप्राप्तिप्रतिपादनकार्यं प्रति रम्यद्वेपादिरूपबहुतरकारणोपन्यासादत्र समुच्चयोऽलंकारः। काव्यलिङ्गञ्च। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ४॥

मिश्रेति। अथ मिश्रकेशी तात्त्विकराजावस्थायाः शकुन्तलानुरागमूलकत्वमवधार्य सहर्षमाह-प्रियमिति। प्रियं-प्रीतिकरम्, इदं वचनमिति शेषः; शकुन्तलां प्रति राज्ञोऽनुरागसूचकत्वादिति भावः। हर्षातिशयात् सम्भ्रमे द्विरुक्तिः।

(२) कञ्चु इति। अस्मात्—कारणात्, प्रभवतः—बलवत्तरात्, वैमनस्यात्—मनःसन्तापात्, उत्सवः—वसन्तोत्सवः, प्रत्याख्यातः—निराकृतः, राज्ञेति शेषः।

(३) उभे इति। युज्यते—उपपद्यते; ईदृशवैमनस्यादुत्सवप्रत्याख्यानमिति शेषः।

(४) नेपथ्ये इति। एतु—आगच्छतु; अनेन मार्गेणेति शेषः। प्रतीहार्या उक्तिरियम्।

(५) कञ्चु इति। कर्णं दत्त्वा-श्रवणेन्द्रियमवहितीकृत्य, नेपथ्योक्तवचनश्रवणायेति तात्पर्यम्। श्रुत्वार्थं विनिश्चिनोति—अये इत इति। इत एव-अत्रैव, अभिवर्त्तते—

---

(१) मिश्रकेशी—मुझे अच्छा लगा, बहुत ही अच्छा लगा।

(२) कञ्चुकी—मन की इस महान् व्याकुलता के कारण उन्होंने बसन्तोत्सव बन्द कर दिया है।

(३) दोनों—ठीक ही है।

(४) (नेपथ्य में) आप आइए—आइए !

(५) कञ्चुकी—(कान देकर) ओहो ! महाराज तो इधर ही आ रहे हैं—इसलिए—अपना काम करने चलो।

उभे—तथा [इति निष्क्रान्ते] । (१) । (तह ।)

[ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेशो राजा विदूषकः प्रतीहारी च] (२) ।

कञ्चु—[राजानं विलोक्य] अहो ! सर्वास्ववस्थासु रामणीयकमाकृतिविशेषाणाम् तथा ह्येवं वैमनस्यपरीतोऽपि प्रियदर्शनो देवः । य एषः (३)—

आयाति । तत्—तस्मात्, स्वकर्मानुष्ठानाय—स्वकर्म अनुष्ठातुम्, 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी, चित्रकर्मरचनायेत्यर्थः, गच्छतं युवामिति शेषः, अत्र युवयोरवस्थानस्य निरर्थकत्वात् अवस्थाने तु राज्ञो विरक्तिसम्भवादिति भावः । चेट्यौ प्रति उक्तिरियम् ।

(१) उभे इति । तथा—आवां गच्छाव एवेत्यर्थः । इति—इत्युक्त्वा, निष्क्रान्ते-प्रस्थिते चेट्याविति शेषः । इत्येतदन्तं चेट्योः कञ्चुकीयस्य च परस्परालापस्य वर्णनं राजकीयविरहवृत्तान्तप्रदर्शनार्थमिति बोध्यम् ।

(२) तत इति । पश्चात्तापसदृशवेशः—पश्चात्तापस्य सदृशः वेशो यस्य स तथाभूतः, अनुतापोपयुक्तवेशधारी, अत्यल्पपरिच्छेदवानित्यर्थः । तादृशवेशेनैव पश्चात्तापवानयमिति प्रकाश्यत इति बोध्यम् ।

(३) कञ्चु इति । अहो इति विस्मये । विस्मयप्रकारं दर्शयति;—सर्वास्विति । आकृतिविशेषाणां—विशिष्टाकृतीनाम्, रूपविशेषाणामिति यावत्, सर्वासु अवस्थासु—दुःखावस्थायामपि, सुखे तु का कथेत्यर्थः, रामणीयकं रमणीयत्वम्, भावेऽण्, सौन्दर्यमित्यर्थः । उक्तं सामान्यं विशेषेण समर्थयति;—तथा हीति एवम्—ईदृशेन वैमनस्येन—अनुतापान्मनोव्याकुलतया परीतः—युक्तोऽपि, शकुन्तलाविरहेण दुःखभागपीत्यर्थः, प्रियं मनोहरं दर्शनं यस्यासौ प्रियदर्शनः—सौम्यमूर्तिः । एतदवस्थायां प्रियदर्शनत्वे अन्यत्र तु सुतरामेवेत्यपिना द्योत्यते । अत एवार्थान्तरन्यासवाक्ये विशेषपदम् ।

अत्र पूर्ववाक्यस्य परवाक्यसमर्थकत्वात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तर-

---

(१) दोनों—अच्छा । (दोनों चली जाती हैं ।)

(२) इसके बाद पश्चात्ताप के अनुकूल वेश धारण किये राजा, विदूषक और प्रतीहारी आते हैं) ।

(३) कंचुकी—(राजा को देखकर) अहा ! जिनकी आकृति में कुछ विशेषता होती हैं, उनमें सब समय सौन्दर्य विराजमान रहता है । इस तरह शकुन्तला के विरह से सन्तप्त इनकी आकृति इस समय भी सौन्दर्यपूर्ण है । महाराज ने—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठे श्लथं
बिभ्रत् काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासापरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनस्तेजोगुणैरात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥ ५ ॥

न्यासोऽलङ्कारः। 'य एष' इति 'क्षीणोऽपि नालक्ष्यते' इति श्लोकवाक्येनान्वेति।

अमुमेवार्थमुपपादयति;—प्रत्यादिष्टेति। प्रत्यादिष्टः—कार्यादरतेश्च निराकृतः विशेषमण्डनानाम्—अवश्यधार्यव्यतिरिक्तहाराद्यलङ्काराणां विधिः—धारणविधिर्येन स तथाभूतः, अवधारणीयस्यालङ्करणस्य तु परित्यागानौचित्यात् तदगत्या न प्रत्यादिष्टमित्यर्थः। वामप्रकोष्ठे—वामकूर्परस्याधोभागे 'प्रकोष्ठे विस्तृतकरे रूपकक्षान्तरेऽपि च। कूर्परादधरे चापि' इति विश्वः, श्लथं—विरहेण कृशत्वात् शिथिलम्, 'शिथिलः प्रश्लथः श्लथः' इति जटाधरः, एकमेव—न तु द्वितीयं तस्य वहनासामर्थ्यात्, काञ्चनस्येदं काञ्चनम् हिरण्मयम् वलयं—कटकम्; बिभ्रत्—धारयन्। काञ्चनवलयधारणं शत्योपचारार्थं बोध्यम्। वामप्रकोष्ठे च तद्धारणं मङ्गलार्थमपि। बिभ्रदिति अभ्यस्तत्वान्न नुम्। तथा श्वासैः;—निःश्वासमारुतैः, अपरक्तः—अपगतरागः मलिन इति यावत्। अधरो यस्य सः; तथाभूतः। यथा मेघदूते;—'निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्' इति। एतेन श्वासानां दीर्घत्वमुष्णत्वञ्च व्यज्येते। तथा चिन्तया शकुन्तलानुध्यानेन यज्जागरणं—निद्राच्छेदः तेन प्रताम्रे अतिलोहिते नयने यस्य सः तथोक्तः, य एष देवः, संस्कारेण—शाणघर्षणादिना मलापाकरणेन उल्लिखितः-तनूकृतः, 'स्यादुल्लिखितमुत्कीर्णे तनूकृते च वाच्यवत्' इति मेदिनी। महामणिः-बहुमूल्यरत्नमिव, महत्त्वविशेषणं मणेरुत्कर्षप्रदर्शनार्थम्; क्षीणोऽपि—शकुन्तलाचिन्तया कृशोऽपि, मणिपक्षे घर्षणवशात् क्षययुक्तोऽपि, आत्मनः—स्वस्य, प्रसिद्धस्य दुष्यन्तस्य तादृशमणेश्चेत्यर्थः, तेजोगुणैः-प्रभावमहिम्ना दीप्तिमहिम्ना च, न लक्ष्यते-क्षीणत्वेन नावधार्यते। 'तेजः प्रभावे दीप्तौ च' इत्यमरः, प्रेक्षकैरिति शेषः। अत्र श्लोके चिन्तेति संकल्पः। जागरेति निद्राच्छेदः। क्षीण इति तनुता। प्रत्यादिष्टेति विषयनिवृत्तिः। इति चतस्रः कामदशा दर्शिताः। तथा चाह वात्स्यायनः;—

'दृङ्मनःसङ्गसंकल्पौ जागरः कृशता रतिः।
ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥' इति।

विशेष प्रकार के अलंकार पहनना बन्द कर दिया है, बायीं भुजा में एक ढीला ढाला स्वर्णवलय पड़ा है, ठंढी सांस लेने से अधर मलिन पड़ गये हैं और चिन्तावश जागते रहने से दोनो नेत्र लाल हो गये हैं। इस तरह क्षीण होते हुए भी एक विशुद्ध महामणि के समान अपने तेज के गुण के कारण वह हृदयविदारक शोक दिखाई नहीं पड़ता ॥ ५ ॥

मिश्र—[राजानं विलोक्य] स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानितापि अस्य कृते शकुन्तला क्लिश्यति (१) । (ठाणे क्खु पचादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउन्तला किलिस्सदि ।)

राजा—[ध्यानमन्दं परिक्रम्य] (२) ।

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम् ॥ ६ ॥

अत्र पूर्ववद् राजाश्रिताश्चिन्ताग्लान्यादयो भावाः । श्रौतोपमालङ्कारः स्वभावोक्तिरपि । उपमया राज्ञः क्षणे क्षणे नवत्वं द्योत्यते । किञ्च कञ्चुकिनो हर्षो विस्मयश्च भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

(१) मिश्रेति । अथ मिश्रकेशी तदाकृतेर्लोकोत्तरत्वमवेक्ष्य श्लाघते—स्थाने इति । प्रत्यादेशेन—प्रत्याख्यानेन विमानिता—अवमानितापि; शकुन्तला, अस्य—दुष्यन्तस्य कृते—निमित्तम्, यत् क्लिश्यति—विरहदुःखमनुभवति; तत् स्थाने खलु—युक्तमेव 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः, अव्ययमेतत् ।

तथा च शकुन्तलाया दुष्यन्तकर्तृकप्रत्याख्यानजनितापमानेन रागविच्छेदसम्भवेऽपि दुष्यन्तस्य लोकोत्तरसौन्दर्यवशादेव तस्या अनुरागदार्ढ्यात् विरहक्लेशानुभवो नासङ्गत इति भावः । एवञ्च श्रीमत्तम एवायमिति हृदयम् ।

(२) राजेति । ध्यानेन—शकुन्तलाविषयकचिन्तया, मन्दम्—अलसम्, शनैः शनैरित्यर्थः, परिक्रम्य—पादं प्रक्षिप्य । अथानेन अनालम्बनतारूपा प्रवासोचिता कामदशा उक्ता 'अनालम्बनता वापि शून्यता मनसः स्मृता' इत्युक्ते ।

अथ राजा शकुन्तलायास्तादृशप्रत्यादेशमनुस्मृत्य सानुशयमाह—प्रथममिति । सारङ्गः—हरिणस्तस्य अक्षिणीव अक्षिणी यस्यास्तया, 'चातके हरिणे पुंसि सारङ्गः शवले त्रिषु' इत्यमरः, सारङ्गाक्ष्येति तदानींतनावस्थास्मरणम्; मृगपोतसलिलप्रदानसमयकृतपरिहासस्यानुस्मरणं च सूचितम्, प्रियया—अतिहृद्यया शकुन्तलया, अनेन प्रतिबोधस्यौचित्यं द्योत्यते, प्रथमं—पूर्वम्, प्रतिबोध्यमानमपि—स्वत एव प्रबोधोचितेऽपि परिणयादिविषये बहुशो ज्ञाप्यमानमपि, अपीति विरोधे, सुप्तं—निद्रितवदविदितसर्ववृत्तान्तं मोहाभिभूतमिति यावत्, इदं—मदीयम् हतहृदयं—चित्तहतकम्, अनुशयदुःखाय—पश्चात्तापदुःखानुभवाय, पश्चात्तापदुःखमनुभवितुमित्यर्थः,

(१) मिश्रकेशी—(राजर्षि को देखकर) उस प्रकार अपमानपूर्व त्यागी हुई भी शकुन्तला जो इनके लिए विलख रही है, वह उचित ही है ।

(२) राजा—(चिन्ता के कारण धीरे-धीरे चलकर)—

पहले तो जब उस मृगनयनी ने बार-बार अपने विवाह की याद दिलाकर मुझे

मिश्र—नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि (१)। (णं ईदिसाइं तवस्सिणीए भाअधेआइं।)

विदू—[अपवार्य] हुं, भूयोऽपि लङ्घित एष शकुन्तलावातेन। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यति (२)। (हुं, भूओवि लङ्घिदो एसो सउन्तलावादेण। ण आणे कथं चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि।)

कञ्चु—[उपसृत्य] जयति जयति देवः। देव ! प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः। यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि देवः (३)।

क्रियार्थेत्यादिना चतुर्थी, सम्प्रति इदानीम्, प्रियाया दुर्लभदर्शनदशायां वेत्यर्थः, विबुद्धं—जागरितवदविदितसकलवृत्तान्तं प्राप्तचैतन्यमिति यावत्, जातमिति शेषः। प्रथमं विबोधे इदानीं विबोधाभावे वा नेदमनुशयदुःखं सम्भाव्येतेति भावः। अत्र हृदयं प्रत्यसूया प्राधान्येन ध्वन्यते। अत्र पूर्वार्द्धे विशेषोक्तिः। उत्तरार्धे विभावना। तथा सारङ्गाच्या इत्यत्र लुप्तोपमा। राजगतनिर्वेदचिन्तादयो भावाः। आर्या जातिः॥

(१) मिश्रेति। अथ मिश्रकेशी राज्ञस्तादृशं वचनं श्रुत्वा तेन गाढतरप्रणयश्चानुमाय तत्र शकुन्तलाया एव भाग्यं निन्दन्ती आह—नन्विति। तपस्विन्याः—दीनायाः शकुन्तलायाः ईदृशानि ननु—एवम्भूतान्येव, दुष्यन्तहृदयस्यादौ विस्मृतिजनकानि परत्र प्रबोधोत्पादकान्येवेत्यर्थः, भागधेयानि—भाग्यानि, न तु दुष्यन्तस्य भागधेयानि तस्य कथञ्चिदपि दोषाभावादिति भावः। तथा च न चात्र राज्ञो दोषः किन्तु शकुन्तलाया भाग्यविपर्ययादेव तस्य स्मृतिभ्रंशो जात इति सारार्थः।

(२) विदू इति। राज्ञो मुखात् पुनः शकुन्तलाविषयकं वाक्यमाकर्ण्य सवितर्कमाह—हुमिति वितर्के। 'हुं वितर्के परिप्रश्ने' इत्यमरः, शकुन्तलावातेन—शकुन्तला-शकुन्तलेति वातव्याधिना, भूयोऽपि—पुनरपि, एषः—दुष्यन्तः लङ्घितः-अभिभूतः, आक्रान्त इति यावत्।

क्वचित् पुस्तके शकुन्तलाव्याधिनेति पाठः, तत्र—शकुन्तलासकाशाद्यो व्याधिस्तेनेत्यर्थः, यद्वा शकुन्तलैव व्याधिरुद्वेगदायित्वादिति रूपकम्। कथं चिकित्सितव्य इति शकुन्तलाया दुर्लभत्वादिति भावः।

(३) कञ्चु इति। प्रत्यवेक्षिताः—पर्यवेक्षिताः, प्रमदवनभूमयः—विहारोचितस्था-

---

समझाना चाहा, तब यह अधम हृदय नहीं ही राजी हो सका और अब सन्ताप भोगने के लिए जागृत हो गया है॥ ६॥

(१) मिश्रकेशी—उस बेचारी का भाग्य ही ऐसा है।

(२) विदूषक—(चुपके से अपने आप) हूँ, शकुन्तला की हवा ने फिर इन पर आक्रमण किया। न जाने कैसे इनका उपचार होगा ?

(३) कञ्चुकी—(पास जाकर) महाराज की जय हो ! मैंने प्रमदवन को सब जग

राजा—वेत्रवति ! मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि, अद्य चिरप्रबोधान्न सम्भावितमस्माभिर्धर्म्मासनमध्यासितुम्, यत् प्रत्यवेक्षितमार्य्येण पौरकार्य्यं तत् पत्रमारोप्य प्रस्थाप्यतामिति (१)।

प्रती—यद् देव आज्ञापयति(२)। (जं देवो आणवेदि ।)। [इति निष्क्रान्ता]

नानि, विज्ञेयं प्रमदवनं नृपस्तु यस्मिन् शुद्धान्तैः सह रमते पुरोपकण्ठम्' इति हलायुधः, राज्ञ उत्सवनिषेधादेशं सर्वे पालयन्ति न वेति परीक्षार्थं प्रमदवनप्रत्यवेक्षणम्, राघवस्तु—राज्ञो निःशङ्कसंचारार्थं प्रत्यवेक्षणमिति नीतिरित्याह। यथाकामं यथेच्छं, अनतिक्रमार्थेऽव्ययीभावः, विनोदस्थानानि विरहवेदनापनोदनोपयुक्तदेशान्, अध्यास्ताम्-अधितिष्ठतु 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति सूत्रेण विनोदस्थानानीत्यत्र कर्मसंज्ञा।

(१) राजेति । वेत्रवति । इदं नाम्ना प्रतीहार्याः सम्बोधनम् । मद्वचनात्-राज्ञेदमुच्यत इत्युक्त्वेत्यर्थः; अमात्यश्चासौ पिशुनश्चेति तममात्यपिशुनं-पिशुननामधेयं मन्त्रिणम् 'मन्त्री धीसचिवोऽमात्य' इत्यमरः, ब्रूहि-कथय । चिरप्रबोधात्-रात्रावतिजागरणात्, अस्माभिः-मया 'वास्मदश्च' इति बहुवचनविधानात्, धर्मासनं-धर्माधिकारणगतविचारासनम्, तथा चाह भगवान् मनुः—

'धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमाचरेत् ॥' इति ।

अध्यासितुम्-अधिष्ठातुम् 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति (पा०) अधिकरणस्य कर्मसंज्ञा, न सम्भावितं-चिरप्रबोधादेवासुस्थशरीरत्वात् विक्षिप्तचित्तत्वाच्च नैव शक्यम् । अत एव, आर्येण-माननीयेन मन्त्रिणा भवता, यत् पौरकार्यं-पुरजनसम्बद्धं कर्म, प्रत्यवेक्षितं-पर्यालोचितम् । अत्र पौरकार्यमिति कार्यविशेषमात्रकथनेन अन्येषां राज्यकार्यजातानाममात्यावेक्षणीयत्वं राज्ञस्तु पौरकार्यविचकत्वमिति द्योत्यते । तत्-कार्यम्, पत्रमारोप्य-पत्रारूढं कृत्वा पत्रे लिखित्वेति यावत्, प्रस्थाप्यतां-प्रेष्यताम् । अत्रानेन वाक्येन राज्ञो विरहपर्याकुलत्वेऽपि वर्णाश्रमपरिपालनाधिकारे जागरूकत्वस्यास्खलितत्वं प्रतिपाद्यते । अग्रे प्रदर्शयिष्यमाणानपत्यतादुःखस्य बिन्दुरत्र निक्षिप्तः ।

(२) प्रतीति । निष्क्रान्ता-प्रस्थातुमारब्धा, वेत्रवतीति शेषः ।

देख ली हैं । अब आप इच्छानुसार, जहाँ आप के चित्त को आनन्द मिले वहाँ बैठें ।

(१) राजा—मेरी बात मंत्री पिशुन से कह दो कि रात को मैं बड़ी देर तक जागा हूँ, इस कारण आज धर्मासन पर नहीं बैठ सकूँगा । अत एव आपने नगर का जो कुछ काम देखा हो, उसे पत्र पर लिखकर मेरे पास भेज दें ।

(२) प्रतीहारी—महाराज की जो आज्ञा (चला जाता है)।

राजा—पार्वतायन ! त्वमपि स्वनियोगमशून्यं कुरु (१) ।

कञ्चु—यदाज्ञापयति देवः (२) । [इति निष्क्रांन्तः ।]

विदु—कृतं भवता निर्म्मक्षिकम्, साम्प्रतं शिशिरविच्छेदरमणीये अस्मिन् प्रमदवनोद्देशे आत्मानं विनोदय (३) । (किदं भअदा णिम्मक्खिअं सम्पदं सिसिरविच्छेदरमणीए इमस्सिं पमदवणुद्देसे अत्ताणं विणोदेहि ।)

राजा—[निःश्वस्य] वयस्य ! यदुच्यते रन्ध्रोपपातिनोऽनर्था इति तदव्यभिचारि, पश्य (४)—

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः । (५)

---

(१) राजेति । पार्वतायनेति कञ्चुकीयस्य नामधेयम् । पर्वतस्यापत्यं पुमानिति विग्रहः । स्वनियोगं-स्वाधिकारम्, आत्मानं प्रति ममादेशमित्यर्थः, अशून्यम्-अनु, ष्ठितम् कुरु । स्वाधिकारकर्मणि गच्छेत्यर्थः ।

(२) कञ्चु इति । निष्क्रान्तः कञ्चुकीति शेषः ।

(३) विदू इति । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकं-निर्जनम्, जनसम्बन्धरहितं कृतमित्यर्थः । शिशिरविच्छेदेन-शीतकालापगमेन वसन्तारम्भेणेति तात्पर्यम् । रमणीये-आह्लादकरे, प्रमदवनोद्देशे-प्रमदवनस्य कस्मिंश्चिद्भागे । क्वचित् पुस्तके 'शिशिरातपच्छेदरमणीये' इति पाठः, तत्र—शिशिरस्य आतपस्य च च्छेदेन रमणीये—नातिशीतोष्णमनोज्ञे इत्यर्थः, विनोदय-आनन्दय ।

(४) राजेति । अथ राजा उद्दीपकवसन्ताविर्भावेण प्रवृद्धमदनतापः सन् प्राह-वयस्येत्यादि । अनर्थाः-उपद्रवाः, रन्ध्रेण-निरूढावकाशेन उपपतन्ति-आगच्छन्तीति रन्ध्रोपपातिनः-छिद्रोपसर्पिणः, इति यदुच्यते लोकैरिति शेषः, 'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' इत्युक्तेः तत्-वचनम्, अव्यभिचारि-सत्यमेव । अत्र मतिर्भावः ।

(५) उक्तं सामान्यं निजवृत्तान्तेन समर्थयति-मुनीति । मुनिसुतायाः-कण्वदुहितुः शकुन्तलायाः । प्रणयस्य-परिचयस्य प्रेम्णो वा स्मृतिं रुणद्धि-प्रतिबध्नातीति

---

(१) राजा—पार्वतायन ! तुम भी मेरी आज्ञा पालन करो ।

(२) कंचुकी—महाराज की जो आज्ञा (चला जाता है) ।

(३) विदूषक—आपने यह जगह मक्खियों से खाली कर दी । अब शीतकाल बीत जाने के कारण मनोहर इस प्रमदवन के किसी स्थान पर बैठ कर अपना मन बहलाइए ।

(४) राजा—(ठंढी साँस लेकर) मित्र ! जो कहा जाता है कि विपत्तियाँ छिद्र पाकर ही उपस्थित हुआ करती हैं, ठीक ही है । देखो—

(५) मित्र ! मुनितनया शकुन्तला की प्रणयस्मृति में बाधा पहुँचाने वाले मोहने मेरे

मनसिजेन सखे ! प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः ॥ ७ ॥
उपहितस्मृतिरङ्गुलिमुद्रया प्रियतमामनिमित्तनिराकृताम् ।
अनुशयादनुरोदिमि चोत्सुकः सुरभिमाससुखं समुपैति च ॥ ८ ॥

तेन, मुनिसुतेति तपोवनवृत्तान्तानुस्मरणं व्यञ्जयति, राज्ञः शकुन्तलाया मुनिसुतात्वेन प्रत्यभिज्ञानात्तथोक्तिरिति राघवः; तमसा–तमोगुणोद्भवेन मोहेन, इदं मम मनः, मुक्तञ्च–परित्यक्तञ्च; हे सखे !, सम्बोधनकाका दुःखातिशयो द्योत्यते, प्रहरिष्यता–प्रहारं करिष्यता मनसिजेन–कामेन, अनेन प्रहारमर्मज्ञत्वं सूचितम् , धनुषि–स्वपुष्पचापे, चूतशरः आम्रमुकुललक्षणो बाणः, निवेशितः–मयि निक्षेपार्थं नियोजितश्च । मम तद्वियोगो वसन्तस्य च प्रादुर्भाव इति युगपत् सम्प्रवृत्तमित्यर्थः।

अयं भावः–कन्दर्पेण मयि प्रहर्तुमिच्छतापि एतावत्कालं व्याप्योपयुक्तोऽवसरो न समासादितः; किन्तु तत्र यदैव मम मनो मोहयुक्तं सत् शकुन्तलां स्मृतिं निन्ये, तदानीमेवासौ स्वोपयुक्तावसरमासाद्य मयि प्रहर्तुं सम्प्रवृत्तः, तथा च 'यदुच्यते रन्ध्रोपपातिनोऽनर्थाः' इति तदव्यभिचार्यैव;–इति ।

अत्र चकारौ भिन्नक्रमौ मोचननिवेशनक्रिययोर्यौगपद्यं सूचयतः; तस्मात् समुच्चयोऽलङ्कारः, स च कामकर्तृकचूतशरनिवेशनं प्रति तमसा मनोमोहमोचनस्यैव कारणत्वात् तादृशकार्यकारणयोश्च यौगपद्येन च पौर्वापर्यविपर्ययादतिशयोक्तिमूलको बोध्यः । तथा चोक्तं समुच्चयालङ्कारप्रस्तारे दर्पणे विश्वनाथेन;—

'एते हि गुणक्रिययोर्यौगपद्ये समुच्चयप्रकारा नियमेन कार्यकारणकालनियमविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूलाः' इति । सरस्वतीकण्ठाभरणे भोजराजेन तु;—

'अत्र मुनिसुताप्रणयप्रतिरोधिना तमसा मे मनः वियुक्तमित्यदृष्टकृतं स्मरणमिदम्' इत्युक्त्वा अत्र स्मरणालङ्कार इति निश्चित्य च पद्यमिदमुदाहृतम् । केचित्तु—

'अत्र तमोरूपप्रतिबन्धकनिवृत्तिमुखेन कार्यस्य स्मरणस्य प्रतिपादनादप्रस्तुतप्रशंसा' इति वदन्ति । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ७ ॥

उपहितेति; अङ्गुलिमुद्रया साक्षराङ्गुरीयकदर्शनेन 'अङ्गुरीयकमूर्मिका, साक्षराङ्गुलिमुद्रा स्यात्' इत्यमरः, उपहिता–उत्पादिता स्मृतिः–शकुन्तलापरिणयस्मरणं यस्य स तथाभूतोऽहम्, उत्सुकः–उत्कण्ठितः, व्याकुलः सन्नित्यर्थः, अनिमित्तनिराकृताम्–अकारणप्रत्यादिष्टाम्, प्रियतमां–शकुन्तलाम् अनुलक्ष्यीकृत्य, अनुशयात्–

मन को छोड़ दिया और उधर कामदेव ने भी अपने धनुष पर आम्रमञ्जरी का बाण चढ़ा लिया है ॥ ७ ॥

उस नामाङ्कित अंगूठी ने मेरी स्मृति जागृत करदी । मैंने अपनी प्रियतमा को अकारण छोड़ दिया था । अब उसके लिए उत्कण्ठित होकर मारे शोक के रोता रहता हूँ ! इधर यह चैत्र मास के आनन्द का समय भी आ उपस्थित हुआ ॥ ८ ॥

विदू—भो वयस्य ! तिष्ठ तावत् अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाणं नाशयामि (१) । (भो वअस्स ! चिट्ठ दाव इमिणा दण्डकट्ठेण कन्दप्पवाणं णासेमि ।)

[इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूताङ्कुरं ताडयितुमिच्छति ।] (२)

राजा—[सस्मितम् ।] भवतु, दृष्टं ब्रह्मवर्च्चसम् । सखे ! क्वेदानीमु(३)

पश्चात्तापात्, रोदिमि-आक्रन्दामि च, सुरभिमाससुखं–वसन्तमासोपस्थितिबन्धनं सुखम्, समुपैति–समुपस्थितं भवति च । तथा च प्रियाविप्रयोगदुःखावकाशमासाद्यैव निरतिशयसम्भोगसुखसम्पादको वसन्तमासः समायात इति 'रन्ध्रोपपातिनोऽनर्थाः' इत्यव्यभिचार्येव वच इति भावः । सद्यः क्षतव्रणे लवणसंयोग इति विरहिणो विषये वसन्तकालसमागमोऽतितरां क्लेशदायितया दुःसह एवेति बोध्यम् ।

अत्रापि पूर्ववत् चकारौ रोदनोपस्थानक्रिययोर्यौगपद्यं सूचयतः; तस्मात् समुच्चयोऽत्रालङ्कारः । स च रोदनं प्रति वसन्तमासोपस्थानस्यैव कारणत्वात् तादृशकार्यकारणयोश्च यौगपद्येन च पौर्वापर्यविपर्ययादतिशयोक्तिमूलको बोध्यः । काव्यलिङ्गमत्रेति केचित् । भोजराजमते तु 'अदृष्टादपि स्मरणे स्मरणालङ्कारः' इति कथनात् स्मरणालङ्कारोऽपि । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

(१) विदू इति । अथ प्रियवयस्यो विदूषको नायकस्यौत्सुक्यं परीक्षितुकामः हास्यप्रौढ्या प्राह, तिष्ठेत्यादि । तिष्ठ–सन्तापं मा कृथा इत्यर्थः; दण्डकाष्ठेन–लगुडेन कन्दर्पबाणं–कामबाणं चूताङ्कुरमित्यर्थः, नाशयामि–निहन्मि । परिहासोक्तिरियम् ।

(२) इतीति । दण्डकाष्ठं–लगुडम्, काष्ठनिर्मितदण्डमिति यावत्, उद्यम्य–उत्तोल्य, चूताङ्कुरम्–आम्रमुकुलम्, ताडयितुं–कन्दर्पबाणत्वादाहन्तुम् ।

(३) राजेति । सस्मितमिति । दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाणनाशनार्थकविदूषकोक्तेः श्रवणात् निपातोद्यमस्यापि दर्शनाच्च स्मितं बोध्यम्, अथ राजापि परिहासगर्भमाह;–भवत्विति । भवतु—कन्दर्पबाणनाशनप्रतिज्ञा, तादृशोद्यमश्च तावत् तिष्ठत्वित्यर्थः । ईदृक्प्रतिज्ञाया अस्योद्यमस्य च निवृत्तिरस्त्विति वार्थः । ब्रह्मणो वर्च्चं इति ब्रह्मवर्च्चसं–ब्रह्मतेजः, अत्र तत्पुरुषे 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्च्चसः' इति (पा०) सूत्रेण समासान्तोऽच्प्रत्ययः, 'तेजःपुरीषयोर्वर्च्चः' इत्यमरः; दृष्टं–प्रत्यक्षीकृतम्, सर्वानर्थप्रतीकारसामर्थ्यं तेऽस्तीति भावः सपरिहासोक्तिरियम् । अथ परिहासमपवार्य प्रकृतानुसरणेन सन्तापशान्तेरुपायं पृच्छति;–सखे ! क्वेत्यादि । सम्बोधनेन नायं

---

(१) विदूषक—मित्र ! आप ठहरिए, मैं इस लाठी से कामदेव का बाण नष्ट कर डालता हूँ ।

(२) यह कह लाठी लेकर आम्रमञ्जरी को मारना चाहता है ।

(३) राजा (मुसकरा कर) अच्छा, मैंने तुम्हारा ब्रह्मतेज देख लिया । सखे ! इस

पविष्टः प्रियायाः किञ्चिदनुकारिणीसु लतासु दृष्टिं विनोदयामि ?।

विदू—ननु भवता आसन्नपरिचारिका लिपिकरी मेधाविनी आदिष्टा माधवीलतागृहे इमां वेलामतिवाहयिष्यामि तस्मिन् चित्रफलके मे स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति (१)। (णं भअदा आसण्णपरिचारिआ लिविअरी मेहाविणी आदिट्ठा माहवीलदाघरए इमं वेलं अदिवाहिस्सं तहिं चित्तफलए मे सहत्थलिहिदं तत्थभोदीए सउन्तलाए पडिकिदिं आणेहि त्ति।

परिहासकरणस्यावसरः किन्तु प्रकृतमनुचिन्त्यतामिति द्योत्यते। क्व—कुत्र, कस्मिन् स्थाने इत्यर्थः, उपविष्टः—स्थितिमान् भूत्वा, प्रियायाः—शकुन्तलायाः, किञ्चिदनुकारिणीषु—स्वल्पसादृश्यवतीषु लतासु, दृष्टिं—नयनं विनोदयामि—आनन्दयामि, दृष्टिसुखमनुभवामीति तात्पर्यम्। विरहिणां हि प्रियजनसदृशानुभवनादयो विनोदाः, अत एवोक्तम्—'वियोगावस्थासु प्रियजनसदृशानुभवनम्'। इति। तथा च—नास्ति तस्याः सम्यक् सादृश्यं कुत्रापीत्याशयः। अत एवात्र व्यतिरेकोऽलङ्कारः।

(१) विदू इति। अथ पूर्वमेव विनोदस्थलं भवता निर्दिष्टमित्याह—नन्वित्यादि। नन्विति सम्बोधने। आसन्नपरिचारिका—सर्वदा सन्निकृष्टा सेविका, परिचारिकालक्षणं मातृगुप्ताचार्यैरुक्तम्—

'संवाहने च गन्धे च तथा चैव प्रसाधने।
तथाभरणसंयोगमाल्यसंप्रथनेषु च।
विज्ञेया नामतः सा तु नृपतेः परिचारिका'॥ इति॥

लिपिकरी—चित्ररचनाकारिणी, मेधाविनी—स्मरणशक्तिसम्पन्ना, अत एव सा न विस्मरिष्यतीति भावः, तदाख्या वेत्यर्थः, आदिष्टः—उक्ता। किमादिष्टा ? इत्यत्राह-माधवीति। माधवीलतागृहे—माधवीलतानिर्मितगृहे, इमां वेलां—प्रातःकालम्, अतिवाहयिष्यामि—यापयिष्यामि। चित्रफलके—चित्रलेखनपट्टे। स्वहस्तलिखितां—स्वहस्तचित्रिताम्, प्रतिकृतिं—प्रतिमूर्त्तिम्। इति आदिष्टा इति योजना। स्वहस्तलिखितामित्यनेन राज्ञश्चित्रकलानैपुण्यं द्योत्यते।

समय में कहाँ बैठकर प्रियतमा से मिलती-जुलती रूपवाली लताओं को देखकर अपने नेत्रों को आनन्दित करूँ ?

(१) विदूषक—जो सदा आपके समीप रहती, आप की सेवा करती रहती, और जिसकी स्मरणशक्ति भी विशेष है, उस चित्रकारिणी को आप ने आदेश दिया था न कि मैं माधवीलतामण्डप में यह समय बिताऊँगा। वहाँ ही, चित्रफलक पर हमारे हाथों से चित्रित प्रियतमा शकुन्तला की तस्वीर भी लेती आना।

राजा—ईदृशमेव हृदयाश्वासनम् । तत्तदेवादेशय माधवीलता-गृहम् (१) ।

विदू—इत इत एतु भवान् (२) । (इदो इदो एदु भवं) । [इत्युभौ परिक्रामतः]

[मिश्रकेशी-अनुगच्छति] (३) ।

विदू—एष मणिशिलापट्टसनाथो माधवीलतामण्डपो विविक्ततया उपहाररमणीयतया निसर्गमारुतेन च स्वागतेनेव प्रतीच्छति त्वाम्; तत् प्रविश्य निषीदतु भवान् (४) । (एसो मणिसिलावट्टसणाहो माहवीलदा-

(१) राजेति । ईदृशमेव-शकुन्तलाप्रतिकृतिदर्शनजन्यमेव, हृदयाश्वासनम्-हृदयस्य—सन्तप्तचित्तस्य आश्वासनं—शान्त्युपायः, अस्तीति शेषः । तत्—तस्मात्, तदेव—माधवीलतागृहमेव, आदेशय-तन्मार्गप्रदर्शनेन ब्रूहि । क्वचित् पुस्तके 'ईदृश-मेव हृदयविनोदनस्थानम्, तत्तमेव मार्गमादेशय' इति पाठः, तत्र—ईदृशं—शकुन्तलासादृश्यप्रतिकृतिदर्शनात्मकम्, हृदयस्य-वियोगविधुरस्य चित्तस्य विनोद-नस्थानं—खेदोपशमनोपायः। तत्—तस्मात्, तमेव मार्गं-माधवीलतागृहगमनमा-र्गम्, आदेशय-दर्शय । अथवा ईदृशं-माधवीलतामण्डपादि, हृदयविनोदस्थानमिति प्रश्नः, अनेन तत्र कालातिवाहनस्यौचित्यं दर्शितम्; इति व्याख्या । तथा चोक्तमभियुक्तैः—

'वियोगावस्थासु प्रियजनसदृक्षानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि । तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमपि, प्रतीकारः कामव्यथितमनसां कोऽपि गदितः॥

(२) विदू इति । इत इतः—अमुनानेन मार्गेण, एतु-आगच्छतु । उभौ-राजा विदूषकश्चेत्यर्थः ।

(३) मिश्रेति । अनुगच्छति—राजविदूषकयोः पश्चात् पश्चात् गच्छति तिरस्क-रिण्या बलेनेति तात्पर्यम् ।

(४) विदू इति । एषः पुरः स्थितः, अनेन गमनप्रयासोऽपि नास्तीति ध्वनि-तम्, मणिशिलायाः—मणिमयशिलायाः पट्टकेन-फलकेन सनाथः-युक्तः, माधव्याः

(१) राजा—इसी तरह अपने मन को बहलाना होगा । तो माधवीलतागृह का ही रास्ता दिखाओ ।

(२) विदूषक—इधर, इधर, आवें महाराज ! (दोनों चलते हैं)

(३) (मिश्रकेशी पीछे—पीछे चलती है)

(४) विदूषक—मणिमय शिलापट्ट से युक्त यही वह लतामण्डप है । यहाँ एकान्त है, बहुत से फूल वगैरह बिखरे हैं, स्वाभाविक वायु बहती है, इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि

मण्डओ विवित्तदाए उवहाररमणीअदाए णिसग्गमारुदेण अ साअदेण विअ पडिच्छदि तुमं, ता पविसिअ निसीददु भवं ।)

[उभौ—प्रविश्योपविष्टौ !]

मिश्र—लतासंश्रिता प्रेक्षिष्ये तावत् प्रियसख्याः प्रतिकृतिम् , ततः अस्या भर्तुर्बहुमतम् अनुरागं निवेदयिष्यामि । (लदासंस्सिदा पेक्खिस्सं दाव पिअसहीए पडिकिदिं, तदो से भत्तुणो बहुमदं अणुराअं णिवेदइस्सं । [इति तथा कृत्वा स्थिता ।] (१)

लतायाः मण्डपः–कुञ्जः, अनेन छायाबाहुल्यात् सन्तापहारकत्वं ध्वनितम् , विविक्ततया–विजनतया, उपहारेण–उपायनीकृतेन कुसुमराशिना या रमणीयता मनोहरता तया, निसर्गमारुतेन–स्वभाववाहिवायुना, मन्दानिलेन चेत्यर्थः, अत्र 'निसर्गलता-गृह–उपहारे'त्यादिशब्दमहिम्ना वायोः क्रमेण मान्द्यशैत्यसुरभित्वानि सूच्यन्ते, स्वागतेनेव–'शोभनं ते आगमनम् ? इत आस्यताम् , अत्र कुसुमसौरभमनुभूयताम्' इत्यादिकुशलप्रश्नेनेव, 'स्वागतं कुशलप्रश्नः' इति हारावली, त्वाम् , प्रतीच्छति-प्रियः प्रियान्तरमिव प्रतिगृह्णातीत्यर्थः । अथवा;—प्रतीच्छतीव—प्रत्युद्गमनेन सम्भावयतीवेति योजना । एतेनात्रावस्थानयोग्यत्वं ध्वन्यते । तत्र निसर्गमारुतस्य 'इवे'ति शब्देन स्वागतवचनत्वसम्भावनाकरणाद् गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः । इवशब्दस्य प्रतीच्छतिक्रियया सहान्वयपक्षे तु क्रियोत्प्रेक्षा बोध्या । इह च निसर्गवायुना स्वागतेनेति व्यस्ततया तादात्म्यकथनात् तस्य च प्रकृतोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति तल्लक्षणात् ।—इति केचित् ।

(१) मिश्रेति । लतासंश्रिता–लतामाश्रिता, लतावलम्बिनी भूत्वेत्यर्थः । तिरस्करिणीविद्याबलेन पूर्वत एवादृश्याया अपि तस्याः पुनर्लतावलम्बनं शरीरस्य किञ्चिन्निर्भरेण श्रमलाघवार्थमिति ज्ञेयम् ; 'लतादंसिता' इति पाठे तु लताभिर्दंसिता–कवचिता तिरोहितेति यावत् , 'संनद्धो दंसित' इत्याद्यमरः । प्रियसख्याः-शकुन्तलायाः, प्रतिकृतिं–प्रतिमाम् राजचित्रितप्रतिमूर्त्तिमित्यर्थः । अस्याः–शकुन्तलायाः समीपे, भर्तुः–पत्युः, बहुमतं–बहुमानयुक्तम् , बहुसुखमिति पाठे;–बहूनि

यह लतामण्डप स्वागत और सम्भाषण द्वारा आपको बुला रहा है । अत एव वहाँ चलकर आप बैठें (जाकर दोनों बैठते हैं)

(१) मिश्रकेशी—लता के बीच छुपकर मैं अपनी प्रियसखी शकुन्तला के चित्र, और शकुन्तला के प्रति इनका जो सर्वाधिक आदर और अनुराग है, वह शकुन्तला को जाकर सुनाऊँगी (ऐसा कहकर उसी ढंग से बैठ जाती है) ।

राजा—[निःश्वस्य] सखे ! सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः- प्रथमदर्शनवृत्तान्तम्, यं किल कथितवानस्मि भवते । स भवान् प्रत्यादेशसमये मत्समीपगतो नासीत् किन्तु पूर्वमपि न त्वया कदाचित् सङ्कीर्त्तितं तत्रभवत्या नामादिकम् । कच्चिदहमिव विस्मृतवांस्त्वमपि (१) ।

मिश्र—अतएव महीपतिभिः क्षणमपि सहृदयाः सहाया न विरहितव्याः (२) (अहो जेव महीवदिहिं खणम्पि सहिअआओ सहाआओ ण विरहिदव्वाओ ।)

मुखानि यस्य तादृशं-प्रतिकृतिदर्शनाद्यनेकप्रकारविशिष्टमित्यर्थः, शतधारं स्रवन्तमिति भावः, अनुरागं-प्रेमाणम्, निवेदयिष्यामि-ज्ञापयिष्यामि । तथाकृत्वा—लतां संश्रित्य ।

(१) राजेति । निःश्वस्य-दीर्घमुष्णञ्च निःश्वासं परित्यज्य, विरहेण निःश्वासस्य दीर्घत्वोष्णत्वयोः सम्भवात् । अथ नायक आत्मनो दृष्टेश्च विनोदनाय लतामण्डपे उपविष्टो जीवनभूतायाः प्रियायाः शकुन्तलायाः सर्वमपि वृत्तान्तजातमनुस्मरंस्तत्र तत्प्रस्तावमाह;—सखे ! सर्वमिति । प्रथमदर्शनवृत्तान्तं—प्राथमिकसाक्षात्कारकाले संवृत्तवृत्तजातम् । यं-प्रथमदर्शनवृत्तान्तम्, भवते-विदूषकाय, क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी, कथितवान् तदानीमिति शेषः, द्वितीयाङ्के गतमेतत् । प्रत्यादेशसमये शकुन्तलाप्रत्याख्यानावसरे । पूर्वमपि-प्रत्यादेशात् प्रागपि, मत्समीपे शकुन्तलाया आगमनात् प्रागपीत्यर्थः; त्वया-विदूषकेण, तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः न संकीर्त्तितं—न संशब्दितम्, नोच्चारितम्, कच्चित् किं ? 'कच्चित् कामप्रवेदने' इत्यमरः । तथा चानतिचिरेणैवातिविस्मरणादात्मनोऽल्पमतित्वदोषतिरोधानाय माधव्यस्यापि विस्मरणमिष्टमस्येति भावः ।

(२) मिश्रेति । अथ मिश्रकेशी राज्ञो नानाकार्यव्यासक्तचित्ततया विस्मरणं नियतमेवेत्युत्प्रेक्ष्याह;—अत एवेति । अत एव—एतस्माद् विस्मरणरूपाद्धेतोरेव, महीपतिभिः राजभिः, सहृदयाः—प्रशस्तमनस्काः सकलविषयतत्त्वज्ञा इत्यर्थः,

---

(१) राजा—(ठंढी साँस लेकर) सखे ! शकुन्तला के प्रथम मिलन का वह सारा वृत्तान्त मुझे याद आ रहा है, जो मैंने तुम्हें बतलाया था । जिस समय मैंने उसका त्याग किया, तब तुम नहीं थे और इसके पहिले भी मैंने उसका नाम आदि नहीं बताया था । तो क्या तुम हमारे समान उसे भूल गये ?

(२) मिश्रकेशी—इसी से तो क्षण भर भी राजा को किसी सहृदय सहायक के बिना अकेला न रहना चाहिये ।

विदू—न विस्मरामि, किन्तु सर्वं कथयित्वा अवसाने पुनस्त्वया भणितम् परिहासविजल्पित एषः, न भूतार्थ इति, मयापि मन्दबुद्धिना तथैव गृहीतम् । अथवा भवितव्यता खल्वत्र बलवती (१) । (ण विसुमरामि, किन्तु सव्वं कहिअ अवसाणे उण तुए भणिदं परिहासविजप्पिओ एसो ण भूदत्थोत्ति, मएवि मन्दबुद्धिणा तधा ज्जेव गहीदं । अथवा भविदव्वता क्खु एत्थ बलवदी ।)

मिश्र—एवमेतत् (२) । (एवं णेदं ।)

सहायाः—सखायः, क्षणमपि—मुहूर्त्तमपि, न विरहितव्याः—न त्यक्तव्याः, अन्यथा ईदृशमेवानिष्टमापतेदिति भावः ।

(१) विदू इति । यदि न विस्मरसि तर्हि कुतो न कथितवानित्यत्राह; सर्वमिति । सर्वं-शकुन्तलावृत्तान्तम् । अवसाने-वाक्यशेषे । एषः-वृत्तान्तः परिहासविजल्पितः—परिहासेन विजल्पितः—जल्पीकृतः, अनर्थकमुक्त इत्यर्थः, न भूतार्थः—न सत्यार्थः 'परिहासविजल्पितं सखे ! परमार्थेन न गृह्यतां वचः' इत्यादिवचनोपन्यासादिति भावः, इति भणितं—कथितमिति योजना । मन्दबुद्धिना—जडबुद्धिना स्वयं तत्र परीक्षाया अकरणादित्यभिप्रायः 'मृत्पिण्डबुद्धिना' इति पाठे-मृदां पिण्डः-चय इति मृत्पिण्डस्तद्वत् बुद्धिर्यस्य तेन तादृशेन; तत्त्वदर्शनविमूढमतिनेत्यर्थः, तथैव-परिहासविजल्परूपेणैव, गृहीतं-बुद्धम् । ननु परिहासविजल्पितस्यापि तत्त्वेनैव कदाचित्तव संकीर्त्तनमुचितमासीत् तत्कथं न कृतम् ? इत्याक्षिप्याह; अथवेति । पक्षान्तरे किमत्र पर्यालोचनयेत्यभिप्रायः । अत्र-अस्मिन् विषये, भवितव्यता-अवश्यम्भावरूपपदार्थशक्तिः, नियतिरित्यर्थः । बलवती-बलिष्ठा । तथा च प्रबलनियतिमहिम्नैवेदृशी घटना सञ्जातेति भावः । तदुक्तम्—'नियतिः केन वार्यते' ॥ इति । त्वया परिहासविजल्पितमिदमित्यपि संकथितात्तु मया न कथितमतोऽत्र भवितव्यतैव हेतुरिति सारार्थः ।

(२) मिश्रेति । ईदृशानुरागस्य सहसा तादृशविपर्ययासम्भवात् तत्र खलु नियतिरेव हेतुरित्यभ्युपगच्छन्ती आह—एवमिति । एतत्—अत्रालोच्यमानं वस्तु, एवम्-ईदृशमेव, भवितव्यतानिबन्धनमेवेत्यर्थः, नात्र कोऽपि पुरुषदोष इति भावः ।

---

(१) विदूषक—मैं भूला तो नहीं था, लेकिन उस समय आपने उसका सब हाल कह कर यह भी कह दिया था कि 'यह सब मैंने दिल्लगी की बात की है, यह सच नहीं है ।' और मुझ मन्दबुद्धि ने भी सही मान लिया । अथवा होनहार प्रबल होता है ।

(२) मिश्रकेशी—यही ठीक है ।

राजा—[क्षणं ध्यात्वा] सखे ! परित्रायस्व माम् (१)।

विदू—भो वयस्य ! किमेतत्तव उपपन्नम् ? न कदापि सत्पुरुषाः शोकचित्ता भवन्ति। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा एव गिरयः (२)। (भो वअस्स ! किं एदं तुह उववण्णं ? ण कदावि सप्पुरिसा सोअचित्ता होन्ति। णं पवादेवि णिक्कम्पाज्जेव गिरिओ।)

---

(१) राजेति। क्षणं—मुहूर्त्तम्, ध्यात्वा—विचिन्त्य, प्रत्याख्यानेन शोचनीयां शकुन्तलाया अवस्थामिति शेषः। अथ ध्यायन् सन्तापातिशयमसहमान आह—सखे ! इति भवानेवात्र शरणमिति सम्बुद्ध्या सूच्यते, परित्रायस्व-परिरक्ष, सन्तापदुःखानलादिति शेषः, अनेन दुःखपारवश्यं दर्शितम्।

(२) विदू इति। तमाश्वासयितुमाह-भो इति। तव-धैर्यादिगुणशालिनो राज्ञो दुष्यन्तस्येत्यर्थः, एतत्-कातरभावः, विरहव्यथाविह्वलत्वमित्यर्थः, किमुपपन्नम् ?-किं सङ्गतम्; अपि तु कथमपि नेत्यर्थः। अनुपपन्नत्वे कारणमाह-नेति। सत्पुरुषाः—साधवः, कदापि महत्यपि व्यसने इति यावत्, शोकचित्ताः—शोकः—इष्टवियोगदुःखं चित्ते येषां ते तथाभूताः, न भवन्ति। सत्पुरुषाणां चित्ते शोकः आविर्भवितुं नैव प्रभवतीत्यर्थः। अत्र 'शोकवक्तव्याः' इति पाठे—शोकेन हेतुना वक्तव्याः-निन्द्याः न भवन्तीत्यर्थः। अत एवात्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः। तत्र दृष्टान्तमाह-नन्वित्यादि। ननु—यस्मात्, प्रवातेऽपि वाते, गिरयः—पर्वताः, निष्कम्पाः-अचला एव, तिष्ठन्तीति शेषः। तद्वत् सत्पुरुषा अपि शोककातरा नैव वर्त्तन्त इति भावः। एतेन राज्ञो गिरिवत् सहजगाम्भीर्यादिकं वस्तु द्योत्यते। अत्र दृष्टान्तोऽलङ्कारः। तेन सादृश्यप्रदर्शनाभिप्रायकवाक्यकथनात् लेशो नाम नाट्यलक्षणमुपक्षिप्तम्। यदुक्तं दर्पणे—'स लेशो भण्यते वाक्यं यत्सादृश्यपुरःसरम्।' इति। लेशो यथा वेण्याम्—

'हते जरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्।
या श्लाघा पाण्डुपुत्राणां सैवास्माकं भविष्यति॥'

इत्यादाविति विश्वनाथेनोदाहृतम्।

---

(१) राजा—(क्षण भर ध्यान करके) सखे ! मेरी रक्षा करो।

(२) विदूषक—मित्र ! क्या आपका ऐसा कहना उचित है ? भले लोग कभी शोकाकुल नहीं होते। देखिए प्रबल वायु के वेग में भी पर्वत हिलते—डुलते नहीं (ज्यों के त्यों खड़े रहते हैं)।

राजा—वयस्य ! निराकरणविक्लवायास्ते सख्यास्तामवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि । सा हि—(१) ।

इतः प्रत्यादिष्टा स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रकरकलुषामर्पितवती

---

(१) राजेति । शोकप्रबलताया निदानमाह;—वयस्य ! इत्यादि । निराकरणविक्लवायाः—निराकरणेन-प्रत्याख्यानेन विक्लवायाः-उपायान्तरादर्शनेन; कातारायाः ते-तव, सख्याः-शकुन्तलायाः सखीत्वञ्च राज्ञः प्रियवयस्यत्वेनेति बोध्यम्, ताम्-अतिशोचनीयामित्यर्थः, अवस्थां-दुर्दशाम्, अनुस्मृत्य-चिन्तयित्वा, बलवत् अत्यर्थमेव, अशरणः-दुःखाक्रमणात् निरालम्बः, विह्वल इत्यर्थः ।

उक्तमर्थं विवृणोति-सेति । हि यस्मात्, सा-शकुन्तला । अस्य श्लोकस्थपदकदम्बकेनान्वयः ।

इत इति । इतः-मत्सकाशात्, प्रत्यादिष्टा निराकृता सती, अनेन 'भर्त्ता रक्षति यौवने' इति न्यायात्, प्रत्यादेशस्यात्यन्तमनौचित्यमुभयलोकविरोधश्चेत्यादिकं नावधारितमिति द्योत्यते स्वजनं शार्ङ्गरवादिकमात्मीयलोकम्, अनुगन्तुं-भर्तृपरित्यागेऽन्योपायाभावात् स्वजनानुगमनव्यवसायो युक्त एवेति बुद्ध्याऽनुसर्तुम्, व्यवसिता—उद्युक्ता, परञ्च—गुरुसमे-गुरुवन्माननीये वयसा ज्येष्ठतया पितुः शिष्यतया चाग्रजभावादिति भावः, गुरुशिष्ये-पितुरन्तेवासिनि शार्ङ्गरवे, गुरुशिष्य इत्यनेन गौरवं गुरुसम इत्यनेन तदतिशयश्च तेन तद्वचनस्यालंघनीयत्वमपि सूचितम्, तिष्ठ-अनुगमनाद् विरम, इति—इमं शब्दम्, उच्चैः—तारस्वरेण, वदति सति, स्थिता-गमनात् विरता, सा शकुन्तला, क्रूरे-निष्ठुरे तदानीमपि अनुग्रहाभावादत्यर्थं कठोरहृदये इत्यर्थः, अनेनात्मनि निर्वेदो व्यज्यते मयि-दुष्यन्ते, बाष्पप्रकरकलुषाम्,-बाष्पप्रकरेण-अश्रुजलभरेण कलुषाम्-आविलाम्, अनेन तस्याः गत्यन्तराभावाद् दुःखस्य तात्त्विकत्वं द्योत्यते, दृष्टिं-नयनम् यत् पुनरर्पितवती-निक्षिप्तवती,

---

(१) राजा—मित्र ! तुम्हारी सखी शकुन्तला जब मेरे त्याग देने के कारण व्याकुल हो गयी थी, उस समय की उसकी अवस्था का स्मरण करके मैं अपने आपको असहाय पाता हूँ । क्योंकि जब वह—

मेरे द्वारा परित्यक्त होकर अपने घरवालों के साथ जाने लगी, उस समय पिता के समान कण्व के शिष्य शार्ङ्गरव ने उससे ऊँचे स्वर में कहा था—'ठहर ।' उस पर उसने रुक कर मुझ निष्ठुर प्रकृतिवाले पति की ओर फिर एक बार अपनी जो अश्रुकलुषित

मयि क्रूरे यत्तत् सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥ ९ ॥

मिश्र—अहो ! ईदृशी परवशता अस्य मामपि सन्तापयति (१) ।
(अम्महे ! ईदिसो परवसदा इमस्स मम्पि सन्दावेदि ।)

विदू—भोः ! (२) अस्ति मे तर्कः, केन पुनस्तत्रभवती आकाश-

अनेनायमिदानीं वा गृह्णीयादिति नायिकाया अभिप्रायो गम्यते तेन च तस्या दयनीयत्वमपि ध्वन्यते, तत्—दृष्ट्यर्पणम् , सविषं विषाक्तम् , शल्यमिव—शलाकेव अस्त्रविशेष इव वा, 'शलाकायुधयोः शल्यम्' इति हलायुधः, मां दहति—सन्तापयति, लटा दहनस्यानवसानं द्योत्यते । अयमाशयः सा मत्तश्च्युता स्वान् गता तैरपि त्यक्ता पुनर्मामेव प्राप्ता; क्रूरस्त्वहं तथापि विमुख एव आसम् ; अद्य पुनस्तत्सर्वं स्मृत्वाऽत्यर्थमशरणोऽस्मीति । अत्र दृष्टेर्दाहकत्वासम्भवान्मुख्यार्थबाधे कार्य्यकारणभावसम्बन्धात्तापं लक्षयंस्तदतिशयं व्यञ्जयतीति दहतिपदमत्यन्ततिरस्कृतवाच्यम् । इह च सविषं शल्यमिवेति श्रौतोपमालङ्कारः । उपमया च दहनस्य प्रतिक्षणं दुस्सहत्वं ध्वन्यते । तादृशदृष्टेस्तादृशेऽर्पणात् समालंकार इति राघवभट्टाः । न च गुरुशिष्ये गुरुसमे इत्यत्र कथितपदत्वं शङ्कनीयम् ; तात्पर्यभेदेन लाटानुप्रासार्थमेव तथा प्रयुक्तत्वात् । तथा चात्र लाटानुप्रासनामा शब्दालङ्कारो बोध्यः ।

अत्र च नायकगताश्चिन्ताविषादौत्सुक्यादयो भावाः व्यज्यन्ते । केचित्तु काव्यरसिकाः पद्यमिदं परमरमणीयमिति वदन्ति । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ९ ॥

(१) मिश्रेति । अस्य—राज्ञो दुष्यन्तस्य, परवशता—शकुन्तलायत्तचित्तता, अधीरतेति यावत् । मामपि—उदासीनामपि, सन्तापयति—व्याकुलयति । क्वचित् पुस्तके 'अम्महे ईदिसी स्वकज्जपरदा इमस्स संदावेण अहं रमामि' इति पाठान्तरम् अस्यायं संस्कृतानुवादः—'अहो ईदृशी स्वकार्यपरता, अस्य सन्तापेनाहं रमे' इति । अहो इत्याश्चर्ये । स्वकार्यपरता—स्वार्थनिष्ठता, ईदृशी—एतादृश्येव भवति । अत्रार्थान्तरन्यासः । तदेव दर्शयति, अस्येति । अस्य—राजर्षेः, सन्तापेन, मनस्तापेन, अहं रमे—सुखमनुभवामि, ममात्र सन्तोष इत्यर्थः' शकुन्तलाकृते अस्य दुःखं मे तोषायेति भावः, सन्तापे सन्तोष इति विषमालंकारभेदः, एतद्वाक्यार्थसमर्थकः पूर्वोक्तोऽर्थान्तरन्यासः । यथा यथास्य सन्तापो वर्द्धिष्यते तथा तथा शकुन्तलानयनोपायं प्रत्ययं यत्नवान् भविष्यतीति मन्य इत्याशयः ।

(२) विदू इति । अथ नर्मसचिव ईदृशं राज्ञः सन्तापमालोचयन् तं रसान्तरे

दृष्टि डाली थी, विषैले बाण के समान आज भी मुझे वह जला रही है ॥ ९ ॥

(१) मिश्रकेशी—ओह ! इनकी ऐसी शोककारता तो मुझे भी सन्तप्त किये देती है ।

(२) विदूषक—महाराज ! इस विषय में मुझे आप से कुछ पूछना है । हां, तो उन्हें

सञ्चारिणा नीतेति (भो ! अत्थि मे तक्को, केन उणा तत्थभोदी आआससञ्चारिणा णीदेत्ति !

राजा—वयस्य ! कः पतिव्रतां तामन्यः परामष्टुमुत्सहते । मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति तत्सखीजनादस्मि श्रुतवान्; तत्सहचरीभिस्तया वा नीतेति हृदयमाशङ्कते (१)।

प्रवेशयितुमाह—भो इति । केनापि आकाशसञ्चारिणा—व्योमविहारिणा पुरुषेण, देवयोनिनेत्यर्थः, तत्रभवती—शकुन्तला, नीता—अपहृता, इति मे—मम, तर्कः—अनुमानम् अस्ति । सोमरातेन ज्योतिःपदाभिधेयदेवयोनि (खेचर) कृतहरणस्याभिहितत्वात् तन्मात्रस्याभिहितत्वात् तन्मात्रस्य श्रवणादिदमुक्तम् । तथा च तत्प्रतीकाराय यत्नः कार्य इति भावः । एवं विदूषकेण नायकस्य संरम्भीकरणं शुभद्राधनञ्जयस्य पञ्चमाङ्के स्फुटम् । केचित्तु 'स्त्रीसंस्थानमि' त्यादि सोमरातवाक्यमनुस्मृत्य शकुन्तलायाः पुरुषान्तरापहरणं सम्भाव्य पृच्छति—भो इति । इति प्रश्नोपष्टम्भेन ग्रन्थमिमं व्याचक्षते ।

(१) राजेति । अथ तत्रेत्याह—वयस्य । क इति । कोऽन्यः—उदासीनः पुरुषः, लम्पट इत्यर्थः, पतिव्रतां—साध्वीम् , क्वचित् पतिदेवतामिति पाठः, तत्र—पतिः देवता यस्याः तामिति स एवार्थः, हेतुगर्भविशेषणमिदम्, तां—मत्परिणीतां मुनेरपि दुहितरं शकुन्तलाम्, परामष्टुं—स्प्रष्टुम् , उत्सहते—अध्यवस्यति; अपि तु कोऽपि नेत्यर्थः, विपक्षेण पातिव्रत्यतेजसो दुःसहत्वादिति भावः । ननु तदानीं सोमरातेनोक्तं केनचिन्नीतेति तत्राह—मेनकेति । मेनका—तदाख्या अप्सराः, किलेत्यैतिह्ये निश्चये वा, ते—तव, सख्याः—शकुन्तलायाः, जन्मप्रतिष्ठा—उत्पत्तिस्थानम्, 'प्रतिष्ठा स्थानमात्रके' इति विश्वः, जननीत्यर्थः, इति तत्सखीजनात्; तस्याः—शकुन्तलायाः सखीजनात्—अनसूयातः, श्रुतवानस्मीत्यन्वयः । ननु ततः किमायातमित्यत्राह—तदिति । तत्सहचरीभिः-तस्याः-मेनकायाः सहचरीभिः-सखीभिः; रम्भोर्वशीप्रभृतिभिः, तया-मेनकया वा, नीता-मत्कर्तृकप्रत्याख्यानानन्तरं तस्याः विह्वलभावमवलोक्य स्वस्थानं प्रापितेत्यर्थः । इति-ईदृशम् , मे-मम, हृदयं-चित्तम् , आशंकते-सम्भावयति ।

कौन आकाशचारी उड़ा ले गया था ?

(१) राजा—वयस्य ! अन्य कौन व्यक्ति उस पतिव्रता का स्पर्श कर सकता है ? मेनका तुम्हारी सखी की माता है, यह मैंने शकुन्तला की सखियों से सुना था । इसी से मेरे मन में आता है कि उस मेनका की सहचरियों में से कोई सहचरी अथवा स्वयं मेनका ही उसे ले गई होगी ।

मिश्र—सम्मोहेऽपि विस्मयनीयः खल्वस्य प्रतिबोधः (१)। (सम्मोहे वि विह्मणीओ क्खु, हमस्स पड़िबोधो।)

विदू—भो! यद्येवम् तत् समाश्वसितु भवान्; अस्ति खलु समागमः कालेन तत्रभवत्याः (२)। (भो! जइ एव्वं, ता समस्ससदु भवं; अत्थि क्खु समागमो कालेण तत्थभोदिए।)

राजा—कथमिव? (३)।

विदू—न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं चिरं प्रेक्षितुं पारयतः (४)। (ण क्खु मादापिदरा भत्तिविओअदुक्खिदं दुहिदरं चिरं पेक्खिदुं

(१) मिश्रेति। अथ मिश्रकेशी राजमुखात् यथावद् वस्तुवृत्तं श्रुत्वा विस्मयमाना परामृशति–सम्मोहेऽपीति। सम्मोहेपि–चित्तविकलतायामपि, ईदृशमुग्धदशायामपीत्यर्थः; विस्मयनीयः–आश्चर्यकरः, प्रतिबोधः–अनुभवः। प्रतिभाबलेन यथावदवधारणादिति भावः। क्वचित् पुस्तके 'संमोहो क्खु विह्मअणिज्जो ण पडिबोहो' इति पाठान्तरम्, तस्यायं संस्कृतानुवादः–'सम्मोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः' इति इयं व्याख्या–सम्मोहः–चित्तवैकल्यम्, खलु, विस्मयनीयः–विस्मययोग्यः; आश्चर्यजनक इति यावत्; तस्यास्वाभाविकत्वात्, न प्रतिबोधः–प्रतिभानम् तस्य स्वाभाविकत्वादिति भावः। तथा न महापुरुषाणां प्रतिबोधस्य स्वाभाविकत्वात् स तु नाश्चर्यजनकः परन्तु तेषामस्वाभाविकत्वात् सम्मोह एवाश्चर्यकर इति समुदितोऽर्थः।

(२) विदू इति। अथ विदूषकस्तद्वचनेनैव–तदाश्वासनोपायं पश्यन् तं प्रत्याह–भो इति। यद्येवं–स्वजनन्या मेनकया तत्सखीभिः रम्भोर्वशीप्रभृतिभिर्वा शकुन्तला नीता चेत्, तत्—तदा, समाश्वसितु—आश्वसनमाश्रयतु। खलु—यस्मात्, कालेन–कदापि, तत्रभवत्याः–शकुन्तलायाः समागमः–सम्मेलनम्, भवति–भविष्यत्येवेत्यर्थः।

(३) राजेति। कथमिव?—केन रूपेण तत् सम्भावयामीत्यर्थः। प्रश्नोऽयं विदूषकं प्रति।

(४) विदू इति। मातापितरौ—माता च पिता चेत्यर्थः। माता च पिता च

(१) मिश्रकेशी—इस प्रकार की व्याकुलता के अवसर पर भी इनकी स्मरणशक्ति विस्मयजनक है।

(२) विदूषक—यदि ऐसा हो तो आप धैर्य रखें। क्योंकि समय पाकर आपसे उनका मिलन अवश्य होगा।

(३) राजा—यह कैसे?

(४) विदूषक—माता-पिता पतिवियोग से दुःखिनी कन्याको ज्यादे दिनों तक

पारेन्ति ।)

राजा—वयस्य ! (१)

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लृप्तं नु तावत् फलमेव पुण्यैः ।

इति द्वन्द्वे 'पिता मात्रा' इति (पा०) सूत्रेण वैकल्पिकत्वेनैकशेषाभावात् मातुरभ्यर्हितत्वाच्च मातृशब्दस्य पूर्वनिपाते 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' इति (पा०) सूत्रेण पितृशब्दे परपदे मातुरानङ् । भर्तृवियोगदुःखिताम्; भर्तुः–पत्युः वियोगेन—विरहेण दुःखितां–सन्तापवतीम् , दुहितरम्–कन्याम् , चिरं–दीर्घकालम् , प्रेक्षितुं–द्रष्टुम् , पारयतः–शक्नुतः, तथा च काले मेनका स्वयमेव त्वया सह तां संयोजयिष्यतीत्याशयः ।

अत्र प्रस्तुतशकुन्तलासमागमविषयेण तर्कणात् तुल्यतर्को नाम नाट्यलक्षणमुपक्षिप्तम् । 'तुल्यतर्को यदर्थेन तर्कः प्रकृतिगामिना' । इति दर्पणोक्तलक्षणात् ।

यथा वेण्याम् ;—'प्रायेणैव हि दृश्यन्ते कामं स्वप्नाः शुभाशुभाः ।

शतसंख्या पुनरियं सानुजं स्पृशतीव माम् ॥ इति ।

अत्र च प्रस्तुतानेकभ्रातृनिधनतर्कणद्वारा भविष्यदात्मादिनिधनतर्कणात्तुल्यतर्कः । तद्वदिति बोध्यम् ।

(१) राजेति । अथ राजा प्रियवयस्यस्य तादृशसमाश्वासनवाक्यं श्रुत्वा तत्रासम्भाव्यत्वमाशङ्कते;–वयस्य ! स्वप्न इति । तत्–शकुन्तलालक्षणं वस्तु तत्सङ्गमनं तन्निबन्धनं सुखं वा, स्वप्नो नु–स्वाप्नं वस्तु किम् ; निद्रितावस्थानुभूतमात्रं किमित्यर्थः, स्वप्नानुभूतस्येव तस्य काकतालीयसंवादग्रस्तत्वात् क्षणभङ्गुरत्वात् सम्प्रति स्मृतिमात्रगोचरत्वाच्चेति भावः, 'अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात् करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्' इति नैषधीयचरिते श्रीहर्षोक्तेः । माया नु–ऐन्द्रजालिकादिनिर्मितं वस्तु किम् , ऐन्द्रजालिकनिर्मितवस्तुन इव तस्यालोकत्वेनैव प्रत्यायनादिति भावः । मतिभ्रमो नु–मति(बुद्धि) भ्रमेण प्रतीतं वस्तु किम् ; भ्रमेण रज्ज्वादौ प्रतीतस्य सर्पादेरिव तस्य क्षणकालमात्रस्थायित्वाद् उत्तरज्ञानबाध्यत्वाच्चेति भावः । पुण्यैः–पूर्वजन्मार्जितशुभादृष्टैः, तावदेव–तत्परिमितकालभोग्यमेव, न तु ततोऽधिककालभोग्यम् अधुना तस्य भोग्यत्वेनासत्त्वादिति भावः, फलं–शकुन्तलासङ्गमनसुखरूपमित्यर्थः; क्लृप्तं नु उत्पादितं किम् ? ननु तत्पुण्यावशेषेण तत्सजातीयपुण्यान्तरेण

नहीं देख सकते ।

(१) राजा—मित्र ! वह जो शकुन्तला का और मेरा मिलन हुआ था—वह स्वप्न था, माया थी मेरी बुद्धि का भ्रम था या मेरे पूर्वजन्मार्जित पुण्य का एक मात्र वही फल

असन्निवृत्त्यै तदतीतमेव मनोरथानामतटप्रपातः ॥ १० ॥

वा पुनस्तत्सङ्गमनं सम्भवेदित्यत्राह;—असन्निति । तत्—शकुन्तलासङ्गमनसुखम्, असन्निवृत्त्यै—अपुनरावर्त्तनाय, अतीतं—गतमेव न पुनरावर्त्तिष्यत इत्यर्थः, तत्पुण्यावशेषस्य तत्सजातीयपुण्यान्तरस्य वा सत्त्वं तु ईदृशविह्वलत्वोपस्थितेरसम्भवात् तेन च मूलतस्तादृशं तदवशिष्टं वा पुण्यमेव नास्तीत्यनुमानादिति भावः । अथाधुनातनविह्वलतायाः कारणान्तरेणैवोपस्थितेः सम्भवादसद्धेतुतया तादृशानुमानस्यायथार्थत्वात् शकुन्तलासङ्गमनसुखाशाकरणे उपपन्नं बाधकाभावं निरस्यति;—मनोरथानामिति । मनोरथानां—तद्गताभिलाषाणां पुनः, अतटात्—भृगोः उच्चस्थानादिति यावत्; 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमरः, प्रपातः—प्रकर्षेण पतनमेव भवतीति शेषः । तथा च यथा कश्चिज्जनः पर्वतादेरुच्चदेशात् पतितो मृत्युमुखं याति मद्वन्ममाभिलाषपरम्परापि शकुन्तलासङ्गमनसुखरूपविषयात् प्रच्युता विनाशमुपगच्छतीत्यनर्थकं तदाशाकरणमिति भावः ।

केचित्तु;—'असन्निवृत्त्यै तदतीतमेते मनोरथा नाम तटप्रपाताः' इति परार्द्धपाठान्तरमङ्गीकुर्वाणा एवं व्याचक्षते । अहो किमिदमापतितमिति मतिभ्रमहेतुः विचारपुरःसरमपायदर्शीत्युक्तन्यायेन तत्प्रत्यापत्तिविरहं शङ्कमान आह;—स्वप्न इति । प्रथमव्यूढायास्तस्य दर्शने प्रत्यभिज्ञाभावः; इष्टायाश्च तिरस्करिण्यां तिरोधानम्; तिरोहितायाश्च पुनः स्मृतिप्रत्यापत्त्या दर्शनौत्सुक्यमित्येवं विरोधादाह;—स्वप्न इति । ननु कथं स्वापं विना स्वप्नप्रसङ्ग इत्यत आह—मायेति । ननु शकुन्तलाविस्मरणादेर्बहुकालप्रवृत्तत्वात् कथं मायेत्यत्राह;—मतिभ्रम इति । ननु तस्मिन् सति सर्वत्रैव मतिभ्रमः स्यान्न तु तन्मात्रविषये तस्मात् किमिति न विद्म इत्येवं स्वस्य सम्मोहे हेतुं वितर्क्य तदतीतत्वेत्र स्वभाग्यवैपरीत्यं हेतुत्वेन सम्भावयन्नाह;—क्लिष्टमिति (अत्र क्लृप्त इति परिवर्त्तनक्लिष्टमिति पाठो बोध्यः) । मदीयं पुण्यं तावत् फलं—लोकोत्तरनायिकाप्रथमसम्भोगमात्रफलं सदैव, क्लिष्टम्—अवसितं तु । ननु तदा किमर्थं पुण्यक्षय इति चेदत्राह;—असन्निवृत्त्यायिति तस्याः पुनर्निवर्त्तनायेत्यर्थः । तदित्यनेन मनसि सर्वदा भावितं शकुन्तलारूपामृतपानलक्षणं वस्तु परामृश्यते । अथासन्निवृत्तिं सामान्येन समर्थयति;—एत इति । तटप्रपाता इति रूपकं तत्तुल्या इत्यर्थः । यथात्युन्नताद्गिरितटात् पतितस्य वस्तुनः पुनर्निवृत्तिर्नास्ति; तथैषां मनोरथविषयाणामित्यर्थ इति ।

था (कुछ कहा नहीं जाता) वह सम्मिलनसुख तो चला ही गया । अब फिर वापस नहीं आयेगा । इसी कारण उस विषय में जितनी आशायें की जा रही हैं, वे सब आशा का एक ऊँचे शिखर से पतन ही माने जायँगे ॥ १० ॥

विदू—भोः ! मैवम् । नन्वङ्गुरीयकमेवात्र निदर्शनम् । अवश्यम्भाविनोऽचिन्तनीयसमागमा भवन्ति (१) (भो ! मा एव्वं । णं अङ्गुलीअअं ज्जेव एत्थ णिदंसणं । अवस्सम्भाविणो अचिन्तणीअसमागमा होन्ति ।)

परे तु—'एते मनोरथा नाम तटप्रपाता' इति पाठस्यैवं व्याख्यानमाकलयन्ति । तद्यथा-एवमतीतस्य तस्य शकुन्तलासङ्गमनसुखलक्षणवस्तुनोऽसन्निवृत्तिं स्वप्नादिभिश्चतुर्भिः सन्देहैरुपपाद्य तस्यात्ययं विशेषरूपं सामान्येन समर्थयति-एत इति । एते-लोके दृश्यमानाः, मनोरथाः—मनोरथविषयाः; तटस्य-नदीकूलस्य प्रपात इव-पतनमिव प्रपातः-विनाशो येषां ते तथाभूताः । नामेति प्रसिद्धौ । अत्र सन्देहोऽर्थान्तरन्यासश्चेति । अन्ये तु-'असन्निवृत्तौ तदतीव मन्ये मनोरथानामतटप्रपातम्' इति पाठमाकलयन्ति निम्नोक्तं व्याचक्षते च ।

तत्—तस्मात्, असन्निवृत्तौ—तस्या अपुनरावृत्तौ भूतायाम्, मनोरथानां-तद्विषयकाभिलाषाणां दूरारोहिणामिति भावः, अतीव-अत्यन्तम्, पुनरुद्गतिसम्भावनारहितमिति यावत्, अतटप्रपातं-भृगोः पतनम्, मन्ये—उत्प्रेक्षे सम्भावयामीत्यर्थः। अतोऽत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः इति ॥

वस्तुतस्तु अत्र पूर्वार्द्धे शुद्धसन्देहोऽलङ्कारः; तात्त्विके शकुन्तलासङ्गमनसुखरूपेवस्तुनि स्वप्नत्वादिसन्देहात् तस्य ताद्रूप्येणैव पर्यवसितत्वात् । यदुक्तं दर्पणे—

'सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ।
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ॥' इति ।

तथा 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमरसिंहवचनादतटप्रपातशब्दयोरापाततः पर्यायतया पुनरुक्तताप्रतीतेरुत्तरकाले तु 'प्रपातः—पतनम्' इत्यर्थकरणीयत्वेन तन्निरासाद् भिन्नाकारशब्दगतत्वाच्च तदंशे पुनरुक्तवदाभासोऽलङ्कारः । अस्य लक्षणं तु प्राग् दर्शितम् । पूर्ववाक्यत्रयञ्चासन्निवृत्त्यै इत्यादि वाक्यार्थे हेतुरिति तत्र काव्यलिङ्गमलङ्कार इति केचित् । इह च संशयो नाम नाट्यलक्षणमुपन्यस्तम् विदूषकवाक्यस्यानिश्चायकत्वेन प्रतिपादनात् । यदुक्तं दर्पणे—

'संशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद् यदनिश्चयः ॥' इति ॥

इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्राभ्यां मिश्रितोपजातिर्वृत्तम् ॥ १० ॥

(१) विदू इति । अथ विदूषको राज्ञस्तादृशं नैराश्यमवधाय तस्यात्र नावकाश इति प्रतिसमाधत्ते—भो इति । मैवं भणेति शेषः, ततः शकुन्तलालक्षणं वस्तु तत्सङ्गमनं तन्निबन्धनं सुखं वाऽसन्निवृत्त्यै गतमिति न मन्यतामित्यर्थः । तत्र हेतुमुपन्यस्यति-नन्वित्यादि । ननु—यस्मात्, अत्र-शकुन्तलासङ्गमनादिरूपविषये, अङ्गुरीय-

(१) विदूषक—वयस्य ! ऐसा न कहिए । देखिए, वह अंगूठी ही इस विषय का प्रमाण है जो बात अवश्य होनी है, उसका संयोग भी एकाएक ही होगा ।

राजा—[अङ्गुरीयकं विलोक्य] अये ! इदं तदसुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयम् (१) ।

तव सुचरितमङ्गुरीय ! नूनं प्रतनु कृशेन विभाव्यते फलेन ।

कम्-अङ्गुलिमुद्रैव, निदर्शनं-दृष्टान्तः, तथा च यथा मत्स्योदरगतस्यासम्भावितसमागमस्याप्यङ्गुरीयकस्य पुनर्लाभो दैवेन घटितः तथाऽसम्भावितस्यापि पुनः शकुन्तलासङ्गमस्य दैवमेव सम्भावितत्वसम्पादकं भविष्यतीत्याशयः। तदेवार्थान्तरन्यासेन समर्थयते-अवश्येत्यादि । अवश्यं भविष्यन्तीत्यवश्यंभाविनो विषयाः, अचिन्तनीयसमागमाः-अचिन्तनीयः-अनिर्द्धारणीयः अनिर्वचनीय इति यावत्। समागमः-सङ्गमः प्रापकैः सहेति भावः, येषां ते तथाभूता भवन्ति । अतो नैराश्यं मा व्रज शकुन्तलासमागमोऽवश्यं ते भविष्यतीति भावः ।

अत्र राज्ञः स्वस्थचित्तत्वरूपार्थसिद्ध्यर्थमुक्तरूपहेतोरुपन्यासेनोपपत्तिर्नाम नाट्यलक्षणमुपक्षिप्तम्—'उपपत्तिर्मता हेतोरुपन्यासोऽर्थसिद्धये' इति दर्पणलक्षणात् ॥

(१) राजेति। अथ विदूषकेण बहुप्रबोधितोऽपि प्रियासङ्गमनमसम्भाव्यमेव मन्वानो निदर्शनद्वारेणोद्बोधितमचेतनमङ्गुरीयकमपि चेतनवदनुशोचति-अये इति। अये इति विषादे स्मृतौ वा, 'अये क्रोधे विषादे च सम्भ्रमे स्मरणेऽपि च' इति मेदिनी। स्मृतिविषादौ च यस्य विदूषकेणाङ्गुरीयकशब्दे उच्चारिते समुद्भूताविति बोध्यम्। इदमङ्गुरीयकम्, तत्-शकुन्तलाया अङ्गुलीरूपं यदसुलभं-दुष्प्रापं स्थानं तस्माद् भ्रश्यति-पततीति तथोक्तं सत्, शोचनीयं-शोच्यमेव सञ्जातमित्यर्थः । शकुन्तलाङ्गुलीरूपस्थानस्य पुनर्दुर्लभत्वादिति भावः।

शोच्यत्वं पुनः स्फुटयति-तवेति। हे अङ्गुरीय ! कृशेन-क्षुद्रेण फलेन क्षुद्रफलदर्शनेनेत्यर्थः, तव सुचरितं-तादृशफलनिदानभूतं पुण्यम्, नूनं निश्चितम्, प्रतनु-क्षुद्रमासीदिति शेषः, विभाव्यते-इति मयाऽनुमीयते। यत्-यस्मात्, अरुणैः-लोहितवर्णैः नखैः मनोहरासु तस्याः-शकुन्तलाया अङ्गुलीषु, लब्धं पदं—स्थानं येन तद् लब्धपदं-प्राप्तावस्थानं सत् च्युतं-ततो भ्रष्टमसि; त्वमिति शेषः। यदि तावत्तव सुचरिताधिक्यं स्यात् तदावश्यं दीर्घकालव्याप्यावस्थानमपि स्यात्तत्तु नास्तीत्याशयः।

अत्र क्वचित् पुस्तके 'कृशेन' इति पाठपरिवर्त्तनेन 'ममेव' इति पाठान्तरमुपलभ्यते। तत्र-ममेव-मत्सदृशमित्यर्थः। तथा च यथा मम पुण्यं क्षीणं तथा तव पुण्यमपीति तात्पर्यम्। अत एवोपमालङ्कारः।

(१) राजा—(अंगूठी देखकर) ओह ! यह अंगूठी उस दुर्लभ स्थान से गिर गई थी, यही बात इस समय शोक का कारण बन गयी है—

अंगूठी ! अल्प फल देखकर तुम्हारा पुण्य भी अल्प ही है, ऐसा मैं अनुमान

अरुणनखमनोहरासु तस्याश्च्युतमसि लब्धपदं यदङ्गुलीषु ॥ ११ ॥

सुचरितस्यातीन्द्रियतया तन्निष्ठप्रतनुत्वस्य ज्ञानाय फलाल्पत्वज्ञानस्य कारणता बोध्या। फलस्याल्पत्वस्य बोधं प्रति शकुन्तलाङ्गुलीतो भ्रंशस्यावबोधो हेतुः। 'अरुणनखमनोहरासु' इत्यस्येदं व्याख्यानान्तरम्—अरुणाः—लोहितवर्णाः नखाः यासु ताः, नखेति तलस्याप्युपलक्षणम्; तेन—ताश्च ता मनोहराः—नातिस्थूला नातिकृशा नातिह्रस्वा नातिदीर्घा न वक्रा न सरलाश्चेति तास्वित्यर्थः। तेन स्वयोग्यत्वं व्यज्यते। उक्तं च सामुद्रे स्त्रीलक्षणे—

नातिह्रस्वा नातिदीर्घा न स्थूला न कृशा अपि।
अवक्राः सरला रक्तनखा रक्ततला अपि॥
कोमलाः सितचिन्ह्नाढ्या भङ्गुरा दीप्तिमन्नखाः।
तादृगङ्गुलयो यस्याः सा भवेद्राजवल्लभा॥ इति॥

'तस्याः' इति विजितत्रिजगत्सुन्दर्या मम हृदयसर्वस्वभूताया अपि मोहान्निराकृताया इत्यर्थान्तरसंक्रमितम्। 'अङ्गुलीषु' इत्यत्र बहुवचनं पुरुषाङ्गुलीयस्य स्थूलत्वात् कदाचित् कनिष्ठिकायां तत्र शिथिलं सदन्याङ्गुलौ तत्रापि तथाविधं सदितराङ्गुल्यामित्यभिप्रायेण बोध्यम्।

यद्वा कौतुकवशादिच्छानुसारेण कदाचित् कस्याञ्चित् कदाचित् कस्याञ्चिच्चाङ्गुल्यां निवेशितमिति सूचनार्थं बहुवचनम्। अथवा विरहातिकृशतया मुकुलीकृतासु पञ्चस्वङ्गुलीषु विन्यासाद् बहुवचनम्। तथा चोक्तमभियुक्तैः—

'तस्याः किञ्चित् सुभग तदभूत्तानहं तद्वियोगाद्
येनाकस्माद्वलयपदवीमङ्गुलीयं प्रयाति॥' इति॥

'लब्धपदम्' इत्यनेन स्थानलाभकाले एव भाग्योदयोऽभूदिति ध्वन्यते।

'अङ्गुलीय' इति सम्बोधनकाक्वा दैन्यद्योतिकाया इदानीमहमपि तव सब्रह्मचारी जात इत्यपि ध्वन्यते। अत्र कविप्रौढोक्तिवशाद्विच्छित्त्या सुचरिताल्पत्वरूपसाध्यस्य ज्ञानाय अल्पफलरूपसाधनेनोपन्यासाद् अनुमानालङ्कारः।

किञ्च प्रस्तुताङ्गुरीयके कार्यद्वारा अप्रस्तुतस्वर्गच्युतजनस्य व्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरपि। तथा हि—यथा कश्चित् कृतकिञ्चित्पुण्यकर्मा पुरुषो लब्धस्वाराज्योऽनन्तरं पुण्यापचयात् पुनर्मर्त्यलोकगाम्येव भवति तद्वद् व्यवहार इति बोध्यम्। विषादमत्यादयोऽत्र च भावाः। पुष्पिताग्रावृत्तम्। 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणात्॥ ११॥

करता हूँ। क्योंकि तुम उस शकुन्तलाके रक्तवर्ण नखोंवाली सुन्दर अंगुली में स्थान पाकर भी गिर पड़ी थी॥ ११॥

मिश्र—यदि अन्यहस्तगतं भवेत्, ततः सत्यं शोचनीयं भवेत्। सखि! दूरे वर्त्तसे, एकाकिन्येव कर्णसुखानि अनुभवामि (१)। (जइ अण्णहत्थगदं भवे, तदो सच्चं सोअणीअं भवे। सहि! दूरे वट्टसि, एआइणि ज्जेव कण्णसुहाइं अणुभवेमि।)

विदू—भोः! इयं नाममुद्रा केन उद्देशेन भवता तत्रभवत्या हस्तसंसर्गं प्रापिता (२) (भो! इअं णाममुद्दा केण उद्देसेण भवदा तत्थभोदीए हत्थसंसग्गं पाविदा।)

---

(१) मिश्रेति। अथ मिश्रकेशी राज्ञो मुखात्तादृशं वचनं श्रुत्वाङ्गुलीयकस्याशोच्यत्वमेव प्रतिपादयति–यदीति। अन्यहस्तगतं–दुष्यन्तेतरकरगतम्। दम्पत्योरेकरूप्यादिति भावः। सत्यम्–अवश्यम्, शोचनीयं–शोच्यम्। तथा च यथा रमणीषु शकुन्तला तथा पुरुषेषु दुष्यन्तोऽपि; तेन तयोरेकतरस्याङ्गुलीप्राप्तौ नाङ्गुरीयस्य शोच्यतेति भावः। शकुन्तलामुद्दिश्याह–सखीति। इदं शकुन्तलासम्बोधनम्। दूरे वर्त्तसे–अत्र न वर्त्तस इत्यर्थः। एकाकिन्येवेत्यनेन तवात्रागमनं मया वाञ्छ्यत इति द्योत्यते। कर्णसुखानि–श्रवणमधुराणि राजवचनानीति शेषः। तथा च प्रियसख्याः शकुन्तलाया उद्देश्येनैव राज्ञोऽङ्गुरीयकानुशोचनवचनस्य समुत्थानात् तस्य च निरतिशयानुरागव्यञ्जकतया मिश्रकेश्याः कर्णसुखकरत्वमिति मन्तव्यम्।

(२) विदू इति। प्रसङ्गवशात् पृच्छति–भो इति। नाममुद्रा–नामाङ्कितमङ्गुरीयकम्, केनोद्देशेन–किमुद्दिश्य; कर्मणि घञ् तत्रभवत्याः–शकुन्तलायाः, हस्तसंसर्गं-करसम्बन्धनम्, प्रापिता–नीता। केन प्रयोजनेन तस्यै एतदङ्गुरीयकं दत्तमित्यर्थः। वचनभङ्ग्या प्रश्नोऽनौचित्यप्रसङ्गपरिहाराय बोध्यः। 'उद्देशेने' त्यत्र क्वचित् पुस्तके 'उद्घातेने'ति पाठः, तत्र उपक्रमेणेत्यर्थः। क्वचिच्च 'हस्तसंसर्गम्' इति परिवर्त्तनेन 'हस्ताभ्याशम्' इति पाठः' तत्र हस्तस्य अभ्याशं समीपमित्यर्थः 'अभ्याशोऽभ्यसनेऽन्तिके' इति विश्वः।

केचित्तु—नाममुद्रा—प्रेषणीयपत्रादौ प्रेषयितृव्यक्तिपरिचायकनामाक्षरविन्यासकारिमुद्रान्वितमङ्गुरीयकमित्यर्थः, तेन तस्मिन् कालेऽपि पत्रादौ मुद्रया नामाक्षरनियोगनीतिरासीदिति सूच्यते।

---

(१) मिश्रकेशी—यदि यह किसी और के हाथ लग जाती तब तो अवश्य शोक का कारण बन जाती। सखी! तुम यहाँ से दूर हो। इस कारण मैं अकेली ही अपने कानों का सुख भोग रही हूँ।

(२) विदूषक—हाँ, तो आपने नाम से अङ्कित यह अंगूठी किस उद्देश्य से उनके हाथ में दी थी।

मिश्र—ममापि कौतूहलेन व्यापारित एषः (१)। (मम वि कोदूहलेण वावारिदो एसो।)

राजा—वयस्य ! श्रूयताम्, तदा स्वनगराय तपोवनात् प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह स्म—'कियच्चिरेणार्यपुत्रः पुनरस्माकं स्मरिष्यती'ति(२)।

---

(१) मिश्रेति। अपिरत्र प्रश्ने। कौतूहलेन—शकुन्तलायै नाममुद्रार्पणस्य कारणश्रवणेच्छया; एषः-राजवयस्यो विदूषकः, अपि व्यापारितः-पृच्छकत्वेन किं नियुक्तः; न तु वा कथमयं मम कौतुकोत्पत्तिक्षणे एव पृच्छतीत्याशयः।

'आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्'

इत्यादिना आत्मजन्याया इच्छायाश्चेतनव्यापाररूपायाः कृतेश्च सामानाधिकरण्येनैव कार्यकारणभावस्य प्रतिपादितत्वात् प्रकृते कौतूहलव्यापारणयोः कार्यकारणभावस्य वैयधिकरण्येन प्रदर्शनादसङ्गतिरलङ्कारः। यदुक्तं विश्वनाथेन—

'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः' ॥ इति।

केचित्तु—ममापि-अविदितवृत्तान्ताया मिश्रकेश्या अपीत्यर्थः, कौतूहलेन-नाममुद्रार्पणकारणश्रवणेच्छया व्यापारितः—व्यापारवान् कृतः नियोजित इत्यर्थः। ममाप्येतच्छ्रवणे कौतूहलमासीत् तदेवानेन पृष्टमिति भावः। इति व्याचक्षते।

क्वचित् 'व्यापारित' इति परिवर्ते 'आकारित' इति पाठः। आकारितः—आहूत इवेति गम्योत्प्रेक्षेति राघवः।

(२) राजेति। श्रूयताम्-अवधार्यतामित्यर्थः, अवहितो भव इति भावः। स्वनगराय—स्वनगरं हस्तिनापुरम्, 'गत्यर्थकर्मणि' (पा०) इत्यादिना पाक्षिकी चतुर्थी, पक्षे द्वितीया, प्रस्थितं-प्रस्थातुमारब्धम्; माम्; प्रिया-शकुन्तला, सबाष्पं-सजललोचनम्, सा चेति यावत्, तदानीं विच्छेदोट्टङ्कनेन बाष्पोदयादिति भावः। अनेन स्मर्यमाणतया भाविनो वियोगस्य दुःसहत्वं द्योत्यते। कियच्चिरेण-कियद्विलम्बेन कतिभिर्दिवसैरिति यावत्, अपवर्गे तृतीया; अस्माकम्-अस्मान्, मामित्यर्थः, स्मरिष्यति 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति (पा०) षष्ठी। अत्र प्रतिपत्तिं दास्यतीति पाठे-प्रतिपत्तिं-वार्तां 'प्रतिपत्तिः प्रवृत्तौ स्यात्' इति धरणिः, दास्यति-प्रेषयिष्यतीत्यर्थः। इत्याहेत्यन्वयः।

---

(१) मिश्रकेशी—मेरे ही कौतूहल ने इसे यह बात पूछने के लिये प्रेरित किया है।

(२) राजा—मित्र ! सुनो, जिस समय मैं तपोवन से विदा हो रहा था उसी क्षण मेरी प्रियतमा ने आँखों में आँसू भरकर कहा—'आर्यपुत्र अब कितने दिनों बाद आप मेरा स्मरण करिएगा।'

विदू—ततस्तः (१) (तदो तदो)

राजा—अथैनां मुद्रामङ्गुल्यां निवेशयता मया प्रत्यभिहिता (२)।

विदू—किमिति (३) ? (किं त्ति ?)

राजा—एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।
तावत् प्रिये ! मदवरोधनिदेशवर्त्ती
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥ १२ ॥ (४)

(१) विदू इति। ततस्तत इत्यनेन श्रवणे त्वरा गम्यते।

(२) राजेति। अथ शकुन्तलायास्तादृशप्रश्नात् परम्, एनां—सम्प्रति मद्धस्तगताम्, मुद्रां—साक्षराङ्गुरीयम्, अङ्गुल्यां शकुन्तलाया अङ्गुलौ, निवेशयता-प्रवेशयता परिधापयतेति यावत्, मयेत्यात्मनिर्देशेन स्वोक्तवचनलङ्घनात्, महापराधित्वं प्रत्याय्यते। प्रत्यभिहिता-प्रत्युक्ता, प्रियेत्यनुपज्यते।

(३) विदू इति। किमिति-किं त्वया सा प्रत्यभिहितेत्यर्थः। किमित्येकमेवाव्ययं प्रश्नार्थकं बोध्यम्।

(४) अभिधानप्रकारमाह-एकैकमिति। हे प्रिये ! शकुन्तले ! अत्र-तपोवने स्थितैव त्वमिति शेषः, अथवा अत्र-अस्यां मुद्रिकायामित्यर्थः, दिवसे, दिवसे-प्रतिदिनम्, वीप्सायां द्विर्वचनम्, मदीयम्; एकैकम्-एकमेकम्; नामाक्षरं-नाम्नोऽक्षरं 'दुष्यन्त' इति यथाश्रुतं वर्णम्, गणय-गणितं कुरु, यावत्-यदा, अन्तं—चरममक्षरम्, गच्छसि—गणनया प्राप्स्यसि, यावता लट्। तावत्—तदा, त्रिचतुर्दिनमध्ये पञ्चषदिनमध्ये वेति भावः, मदवरोधस्य—ममान्तःपुरस्य निदेशे—आज्ञायां वर्त्तत इति मदवरोधनिदेशवर्त्ती—आज्ञाकरोऽन्तःपुरचरो भृत्यः, कञ्चुकीयादिरिति यावत्, नेता—त्वामन्तःपुरं प्रापयिष्यन् जनः, भविष्यदर्थे तृन्, तव समीपम्—अन्तिकम्, उपैष्यति—आगमिष्यति। इति। प्रत्यभिहितेत्यन्वयः। अत एव मा कुरु शोकमिति भावः। अत्र तदानींतनमौत्सुक्यं व्यज्यते।

क्वचित् 'मदवरोधगृहप्रवेशम्' इति पाठान्तरम्, तत्र मदवरोधगृहस्य-ममान्तः-

(१) विदूषक—तब, तब क्या हुआ ?

(२) राजा—इसके बाद अंगूठी उनकी उँगली में डालते हुए मैंने कहा।

(३) विदूषक—क्या कहा ?

(४) राजा—इस तपोवन में रहती हुई तुम एक एक दिन हमारे नाम के एक-एक अक्षर गिनो। तुम इसके सब अक्षर गिनती ही रहोगी, कि इसी बीच में हमारा अन्तःपुर का कोई आज्ञाकारी सेवक तुम्हें ले जाने के लिए तुम्हारे पास आ जायगा ॥ १२ ॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम् (१)।

मिश्र—रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः (२)। (रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो !)

विदू—भोः ! कथं रोहितमत्स्यस्य बडिशमिव मुखप्रविष्टमेतदासीत् (३)। भो ! कधं लोहितमच्छस्स वडिसं विअ मुहप्पविट्टं एदं आसी ?)

पुरभवनस्य प्रवेशं-द्वारम्, नेता—प्रापकः जन इत्यन्वयार्थौ । 'न लोक—' इति षष्ठीनिषेधः । अत्र त्रिचतुरदिनमध्ये पञ्चपदिनाभ्यन्तरे वा त्वां नेतुं ममान्तःपुरस्थो जन आगमिष्यतीति गम्यार्थस्य नामाक्षरगणनव्यपदेशभङ्ग्याभिधानात् पर्यायोक्तमलंकारः । 'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' इति दर्पणोक्तलक्षणात् । राघवस्तु काव्यलिङ्गमाह । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १२ ॥

(१) तच्चेति । तत् प्रियानेतृजनप्रेषणेनानयनम् । चकारो विस्मरणस्यात्यन्तमनौचित्यं द्योतयति । दारुणः—भीषण आत्मा यस्य स तेन दारुणात्मना-शकुन्तलाया निरतिशययातनाहेतुत्वाद् भयङ्करस्वभावेनेत्यर्थः । एतेन निर्वेदो गम्यते, मया—विस्मृततादृशस्नेहेनातिदुर्जनेन, इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम् , अत एव 'दारुणे' इत्यादिविशेषणं तादृशव्यङ्ग्यावकाशदानाय दत्तम् । मोहात्–चित्तविभ्रमात्, विस्मरणादित्यर्थः, मोहस्य विधिप्रयुक्तत्वेन विधिं प्रत्यत्रासूया व्यज्यते, नानुष्ठितं-न कृतम् । अत्र पूर्वानुभूतसंभोगाङ्गानां स्मर्यमाणतया वर्णनं नायकस्य विप्रलम्भपरिपोषार्थमिति मन्तव्यम् ।

(२) मिश्रेति । रमणीयः–प्रतिदिनमिष्टजननामकीर्त्तने व्यापृतत्वात् शोभनः, अथवा सुन्दरदाम्पत्यसुखजननोपयोगितया सुन्दरः, अवधिः–नेतृजनप्रेषणेनान्तःपुरानयनकालसीमा 'अवधिः कालसीमयोः' इति त्रिकाण्डशेषः, विधिना—दैवेन शापलक्षणेन च, विसंवादितः—विपरीतीकृतः । नामाक्षराणामन्तो नेतुश्चागमनमित्यविसंवादे अन्तः प्राप्तो नेता तु न समायात इति विसंवादत्वं सुखे जनयितव्ये दुःखजननवदतीव दुःसहमिति भावः ।

(३) विदू इति । बडिशं तन्नामकमत्स्यधारणास्त्रम् । 'बडिशं मत्स्यवेधनम्' इत्यमरः । एतत्–अङ्गुरीयकम् ।

---

(१) सो वह बात भूल जाने के कारण कठोर प्रकृतिवाला मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सका ।

(२) मिश्रकेशी—विधाता ने इन दोनों के उस सुन्दर समय को विपरीत कर दिया ।

(३) विदूषक—मित्र ! कँटिया की तरह यह अंगूठी, उस रोहू मछली के पेट में किस तरह जा पहुँची ?

राजा—शचीतीर्थे सलिलं वन्दमानायास्ते सख्या हस्ताद् गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम् (१)।

विदू—युज्यते (२)। (जुज्जदि ।)

मिश्र—अतः खलु तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देहो जातः। अथवा नेदृशोऽनुरागः अभिज्ञानमपेक्षते। कथमिवैतत् (३)। (अदो क्खु तवस्सिणीए सउन्तलाए अधर्मभीरुणो एदस्स राएसिणो परिणए सन्देहो जादो। अथवा ण ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खदि ? दा कधं विअ एदं।)

---

(१) राजेति। शचीतीर्थे—शक्रावतारस्य शचीघट्टे, सलिलं—गाङ्गं जलम्, वन्दमानायाः—स्पर्शपूर्वकं प्रणमन्त्याः, ते—तव, सख्याः—शकुन्तलायाः, हस्तात्—करात्, तदवयवभूताङ्गुलित इत्यर्थः, परिभ्रष्टं—निपतितम्, अङ्गुरीयकमिति शेषः, रोहितमत्स्येन तु खाद्यबुद्ध्या तच्च भक्षितमित्येवंरूपेणैतदङ्गुरीयकं तन्मुखप्रविष्टमासीदिति भावः।

(२) विदू इति। युज्यते—शकुन्तलाहस्तादङ्गुरीयकस्य गङ्गास्रोतसि पतनं रोहितोदरगमनञ्च संगच्छत इत्यर्थः। तथा च पुरुषाङ्गुलीपरिमाणेन निर्मितस्याङ्गुरीयकस्य कृशाङ्ग्याः शकुन्तलाया अङ्गुलीगामिनः सतः शिथिलबन्धतया तस्या गङ्गाम्भःप्रणामकाले हस्ताद्यवयवसञ्चालनेन स्रोतसि परिभ्रंशनं, क्रमेण रोहितोदरगमनञ्च नासम्भवपरमिति प्रकरणनिष्कृष्टोऽर्थः।

(३) मिश्रेति। अतः खलु—अभिज्ञानभूताया अङ्गुलिमुद्रायाः प्रभ्रंशादेव, तपस्विन्याः—दीनायाः शकुन्तलायाः, परिणये—उपयमविषये, अधर्मात्—पापाद् भीरोः—भयशीलस्य; परस्त्रीस्पर्शपापशङ्किन इति यावत्, अस्य राजर्षेः—ऋषिकल्पस्य राज्ञो दुष्यन्तस्य, सन्देहः—मयेयं परिगृहीता न वेति संशयः जातः। राज्ञस्तादृशप्रगाढानुरागव्यञ्जकं वाक्यमाकलय्य पूर्वोक्तमाक्षिपति,—अथवेति। ईदृशः—अलौकिक इत्यर्थः, अनुरागः—प्रणयः, अभिज्ञानं—स्मृतिहेतुचिह्नम्, नापेक्षते—स्मारयितुं नाकांक्षति; तदनुरागमाहात्म्यादेव स्मरणसम्भवादिति भावः। तथा चाङ्गुरीयकादर्शनस्य

---

(१) राजा—जब कि तुम्हारी सखी शचीतीर्थ में जलदेव की वन्दना कर रही थी उस समय यह गिरकर गङ्गाजी की धारा में जा पड़ी।

(२) विदूषक—ठीक है।

(३) मिश्रकेशी—इसी से तपस्विनी शकुन्तला के साथ विवाह ही में इस अधर्मभीरु राजर्षि को सन्देह हो गया। इस प्रकार का गाढ़ अनुराग तो किसी चिह्न की प्रतीक्षा ही नहीं करता। तो यह विस्मरण ही इसे कैसे हुआ ?

राजा—उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुरीयकम् (१)।

विदू—[सस्मितम्] भो अहमपि तावदेतत् दण्डकाष्ठमुपालप्स्ये। कथम् ऋजुकस्य मे कुटिलं त्वमसीति (२)। (भो! अहं पि दाव एदं दण्डकट्ठं उवालहिस्सं। कधं उज्जुअस्स मे कुडिलं तुमं सि त्ति।)

राजा—[तदश्रण्वन्नेव] (३)।

सन्देहहेतुत्वं न सम्भवतीति समुदितार्थः। तत्—तस्मात्, एतत्—विस्मरणम्, कमिव—कीदृशम्?। ईदृशानुरागस्यात्यन्ततिरोधानात् हेत्वन्तरेणावश्यं भूयेत तत्त्वस्माभिर्नावबुध्यत इति भावः। दुर्वाससः शापस्य मिश्रकेश्यानवगमादिदमुक्तमिति विभावनीयम्।

(१) राजेति। अथोन्मादग्रस्तस्तत्कराद् भ्रंशेऽङ्गुरीयकस्यैव दोषं परामृशन् तदेवाधिक्षेप्तुमाह—उपालप्स्य इति। उपालप्स्ये-भर्त्सयिष्ये, नानानर्थोपस्थापकत्वादित्याशयः। अनेन राज्ञ उन्मादः सूचितः।

(२) विदू इति। सस्मितमिति। राज्ञस्तादृशाचेतनोपालम्भोपक्रमावेक्षणेन स्वोपक्रम्यमाणस्य वचनस्य हास्यकरत्वेन च विदूषकस्य स्मितमिति बोध्यम्। अहमपि—त्वमिवेति भावः, एतत्,—मदीयकरस्थितम्, दण्डकाष्ठं—काष्ठनिर्मितदण्डं लगुडमिति यावत्, उपालप्स्ये—भर्त्सयिष्ये। उपालम्भप्रकारमाह—कथमिति। रे दण्डकाष्ठ! ऋजुकस्य—सरलप्रकृतेः, मे—मम सम्बन्धे, त्वं कथं कुटिलं-वक्रमसि, इतीत्युपालम्भनक्रियाया अपरं कर्म। तथा च मम दण्डोपालम्भनस्येव तवाङ्गुरीयकोपालम्भनस्यापि निष्फलत्वमेवेति तदुपालम्भो हास्यकर एवेति भावः। अत्र 'गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम्' इति पाठान्तरम् तत्र—अयमुन्मादपदवीमारूढ इत्यर्थः।

(३) राजेति। तत्—विदूषकवाक्यम्, अश्रृण्वन्—कर्णगोचरमकुर्वन्नेवोपालभत इति शेषः। शकुन्तलासक्ततया मनसोऽङ्गुरीयकोपालम्भनप्रवणत्वादिति भावः। एवकारेण तु प्रतिवचनं दूरे आस्तामिति द्योत्यते।

उपालम्भनस्वरूपमाह—कथमिति। हे अङ्गुरीय! कोमलाः—मृदुलाः बन्धुराः-सुन्दराः उन्नतानता वा पर्वसु नतास्तन्मध्ये उदरे उन्नता इत्यर्थः, अङ्गुलयो यस्य तम्,

---

(१) राजा—मैं इस अंगूठी को उलहना देता हूँ।

(२) विदूषक—(थोड़ा हँसकर) हाँ, मैं भी अपनी इस लाठीका तिरस्कार करूँगा। हे काष्ठदण्ड! मैं तो सीधा-सादा हूँ। फिर तुम हमारे होकर टेढ़े क्यों हो?

(३) राजा—(यह बात न सुनकर) हे अङ्गुरीयक! जिसकी कोमल तथा ऊँची-

कथं नु तं कोमलवन्धुराङ्गुलिं करं विहायासि निमग्नमम्भसि।
अथवा—
अचेतनं नाम गुणं न वीक्षते मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥१३॥

अर्थान्तरन्यास

'वन्धुरं सुन्दरे रम्ये' इति विश्वः 'वन्धुरन्तून्नतानतम्' इत्यमरोऽपि, अत्र विशेषणाभ्यामाभ्यां तत्र नितरामवस्थानौचित्यं ध्वन्यते, तं–मया वारं वारं स्वहृदयन्यस्तं येनातिप्रीत्या तव धारणं कृतं पुर इव परिस्फुरन्तं शकुन्तलाया अङ्गभूतम्, करं हस्तम्, विहाय–त्यक्त्वा; अम्भसि–गङ्गाजले, कथं–केन निमित्तेन नु इति प्रश्ने, निमग्नमसि—आत्मानं मज्जयसि। अलङ्करणमात्रस्य दृश्यत्वस्यैव प्रयोजनत्वात् शकुन्तलाङ्गुलीगतस्य सतः प्राप्तदृश्यत्वस्य तव तदङ्गुलीत्यागेन गङ्गाम्भसि अदृश्यत्वगमनं नितरामनुचितमित्युपालम्भनम्। अनेनाङ्गुलीयस्य गुणनिरपेक्षत्वं ध्वन्यते। अचेतनस्य विवेकशून्यत्वात् शकुन्तलाङ्गुलीत्यागपूर्वकं सलिले मज्जनं तस्य सम्भवत्येवेति समर्थयन्नाह—अथवेति। अचेतनं—चैतन्यशून्यं वस्तु कर्तृ, गुणं—पदार्थविशेषयोत्कृष्टताप्रतिपादकं सौन्दर्यादिकं प्रेमादिकं वा, न वीक्षते—न पश्यति। न वेति सम्भावनायाम्। तथा चाचेतनमेवाङ्गुरीयकं शकुन्तलाहस्तस्य सौन्दर्य्यादिगुणोत्कर्षमनालोच्यैव गङ्गाम्भसि ममज्जेति भावः। किन्तु मयैव–सचेतनेनैव, त्वया चैतन्यशून्यतयैवेदं कृतं तत्र चैतन्यवताप्यनुचितकारिणा मया किं वक्तव्यमित्येवशब्दार्थः, कस्मात्–केन निमित्तेन, प्रिया–हृदयसर्वस्वभूता शकुन्तला, अवधीरिता—तिरस्कृता, न तु त्यक्ता, त्यक्तायाः पुनरुपादाने तादृशपुरुषस्यानौचित्यप्रसङ्गात्। तथा चाङ्गुरीयककर्तृकत्यागापेक्षया मत्कर्तृकावधीरणाया नितान्तासङ्गतत्वादधमशिरोमणिरेवाहमिति भावः।

अत्र तृतीयचरणे सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः, चतुर्थपादे अङ्गुरीयकापेक्षयात्मनोऽधमत्वप्रत्यायनाद् वस्तुना व्यतिरेकालङ्कारध्वनिरिति वागीशाः। तत्र चावधीरणायाः कारणाभावेऽपि तदुत्पत्तेर्विभावनालङ्कार इति राघवभट्टाः। 'कथं नु' इत्याद्यचरणद्वये यथा कश्चिच्चेतनः केनचित् कारणेन हिताहितेऽविमृशन् सुन्दरमपि स्वावासं त्यक्त्वा जले निमज्जति तद्वदित्यङ्गुरीयके चेतनव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः। अत्र च पूर्वार्द्धे रतिः, अन्त्यपादे निर्वेदादयो भावाः। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ १३ ॥

नीची उँगलियां थीं, उस हाथ को छोड़कर तुम जलमें क्यों डूब गये ? अथवा यह अचेतन गुणों को कैसे देख सकता है ? अथवा मैंने ही उस समय प्रियतमा का त्याग क्यों किया ? ॥ १३ ॥

मिश्र—स्वयमेव प्रतिपन्नः, यदस्मि वक्तुकामा (१) । (अत्तं ज्जेव पडिवण्णो जं अम्हि वत्तुकामा ।

विदू—भोः ! सर्वथा अहं बुभुक्षया मारयितव्यः (२) । (भो ! सव्वथा अहं बुभुक्खाए मारिदव्वो ।)

राजा—[अनादृत्य] प्रिये ! अकारणपरित्यागादनुशयदग्धहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन (३) । [प्रविश्य चित्रफलकहस्ता]

चेटी—[इति चित्रफलकं दर्शयति] भर्त्तः ! इयं चित्रगता भट्टिनी (४) । (भट्टा ! इअं चित्तगदा भट्टिनी ।)

---

(१) मिश्रेति । यत्—अचेतनस्य गुणदर्शित्वम् , वक्तुकामा-प्रतिविवक्षुरस्मि, तत्-नाचेतनस्य गुणदर्शित्वमिति, स्वयमेव-प्रष्टा राजा, प्रतिपन्नः—स्वीकृतवान् । एवञ्च नास्ति मे तद्विवक्षावसर इति भावः ।

(२) विदू इति । हास्यप्रौढ्या राजानं विनोदयितुमाह;—भो इति । सर्वथा-बाढमेव, 'सर्वथा हेतुबाढयोः' इति मेदिनी, भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा-क्षुधा तया मारयितव्यः-विनाशयितव्यः । बुभुक्षाकर्तृकविनाशोक्त्या बुभुक्षातिशयो द्योत्यते । तथा च तव प्रियासमालोचनापेक्षया मम भोजनसमालोचनस्य गरीयस्त्वात् त्वदेतदालोचनं विहाय गृहं चल; नो चेत्तव प्रियासमालोचना मामत्रैव मारयिष्यतीति भावः । अत्रातर्कितभावेन भोजनप्रस्तावकरणाद् वचसो हास्यकरत्वं बोध्यम् ।

(३) राजेति । अनादृत्य-तुच्छत्वबुद्ध्या श्रुतमपि विदूषकवाक्यमश्रुतमिव कृत्वेत्यर्थः । अकारणपरित्यागेन योऽनुशयः-पश्चात्तापस्तेन दग्धं हृदयं-मनो यस्य स तथाभूतः, अयं-मल्लक्षणो जनः, पुनर्दर्शनेन-भूयो दर्शनप्रदानेन अनुकम्प्यताम्-अनुगृह्यताम् । अनेन चित्रफलकहस्तायाश्चेट्याः प्रवेशः सूच्यते ।

अत्र शकुन्तलाविरहजनितशुचा राज्ञ एवं प्रलपनादाक्रन्दो नाम नाट्यालङ्कारः प्रदर्शितः तल्लक्षणं यथा दर्पणे;—'आक्रन्दः प्रलपितं शुचा' ।—इति ।

(४) प्रविश्येति । चित्रफलकहस्ता-चित्रपटहस्ता । चेटी-लिपिकरा मेधाविनी । भर्त्तः !-हे स्वामिन् !, चित्रगता-आलेख्यपट्टस्था स्वहस्तलिखिता, भट्टिनी-अकृ-

---

(१) मिश्रकेशी-मैं जो कुछ कहना चाहती थी, उसे ये अपने आप स्वीकार करते हैं ।

(२) विदूषक--अरे मालूम पड़ता है कि भूख मुझे मार ही डालेगी ।

(३) राजा--(बात न सुनकर) प्रिये ! बिना कारण तुम्हारा त्याग कर देने से सन्तापवश मेरा हृदय जला जा रहा है । अतएव फिर से दर्शन देकर मुझ पर दया करो ।

(४) दासी--(हाथमें चित्रफलक लिये प्रवेश करके) महाराज ! यह चित्रस्थ महारानी हैं (यह कहकर चित्रफलक दिखाती है) ।

राजा—[विलोक्य] अहो रूपमालेख्यगताया अपि प्रियायाः। तथाहि (१)—



दीर्घापाङ्गविसारि नेत्रयुगलं लीलाञ्चितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम्।
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखं
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम्॥ १४॥

ताभिषेका पत्नी, 'देवी कृताभिषेकायामितरासु च 'भट्टिनी' इत्यमरः। तत्प्रतिकृतिरित्यर्थः। अत्र यद्राज्ञा पुनर्दर्शनं याचितं तदनया भङ्ग्या कविना समासादितमिति।

(१) राजेति। विलोक्य चित्रफलकमिति शेषः। आलेख्यगतायाः अपि—चित्रलिखिताया अपि, प्रियायाः—शकुन्तलायाः रूपम् अहो—आश्चर्यम्।

रूपोत्कर्षं दर्शयितुमाह—तथा हीति।

दीर्घेति। दीर्घाभ्यां—विशालाभ्याम्, अपाङ्गाभ्यां—नेत्रप्रान्ताभ्यां विसारि—विस्तारवत्, नेत्रयुगलं—नयनद्वयं यत्र तत् तथोक्तम्, लीलया—विलासेन अञ्चिते—शोभिते, भ्रूलते—लते इव भ्रुवौ यत्र तत् तादृशम्, दन्तानां—दशनानाम् अन्तः—अभ्यन्तरेषु परिकीर्णाः—व्याप्ताः ये हासकिरणाः—स्मितदीप्तयः ते तत्र ज्योत्स्नाः, कौमुद्यस्ताभिर्विलिप्तौ—व्याप्तौ अधरौ—ओष्ठौ यस्मिन् तत् तथोक्तम्, अनेन मुखं चन्द्र इवेति द्योत्यते, कर्कन्ध्वोः—लक्षणया पक्वबदरीफलस्य द्युतिरिव—कान्तिरिव द्युतिर्यस्य सः अत एव पाटलः—श्वेतरक्तः यः ओष्ठस्तेन रुचिरं मनोज्ञम्, 'कर्कन्धूर्बदरी कोली कोलं कुवलफेनिले' इति, 'श्वेतरक्तस्तु पाटल' इति चामरः, विभ्रमेण—शृङ्गारभावविकारविशेषेण लसत्—शोभमानम्, 'विभ्रमः शृङ्गारभावजातक्रियाविशेषके' इति शब्दाब्धिः, तथा प्रोद्भिन्ना—आविर्भूता कान्तिः—शोभाविशेषो येभ्यस्ते च ते द्रवाः—स्वेदबिन्दवो यस्मिन् तत् तथाभूतम्, एतत्—चित्रफलके दृश्यमानम्, तस्याः—प्रियायाः शकुन्तलायाः, तत्—मया चुम्बनदानादिभिः प्रागनुभूतम्, मुखं कर्तृ, चित्रे आलेख्येऽपि, चित्रगतमपीत्यर्थः, आलपतीव—अनुरागेण-

(१) राजा—(देख कर) चित्रमें भी स्थित प्रिया का रूप कितना सुन्दर है। देखो, नेत्रके दोनों प्रान्तभाग विस्तृत हैं ही, साथ ही नेत्र भी विस्तृत हैं। थोड़े से विलास के कारण भ्रूलता भी सुशोभित हो रही है। दन्तसमूह के बीच ज्योत्स्ना की तरह निकलते हुए हास्यकिरणसे दोनों ओष्ठ व्याप्त हो रहे हैं। एक बदरीफल के समान रक्त वर्ण दोनों ओष्ठ सुन्दर दीखते हैं। मुखारविन्द विलास के कारण विशेष सुन्दर मालूम होता है, पसीने की बूँदें निकलने से ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो कान्ति टपकती है, प्रियतमा का यह मुखकमल चित्र-चित्रित रहते हुए भी मानो बातें कर रहा है॥ १४॥

विदू—[विलोक्य] साधु वयस्य ! साधु, यत् त्वया मधुरो भट्टिन्या दर्शितो भावानुप्रवेशः स्खलतीव मे दृष्टिर्निभृतप्रदेशेषु । किं बहुना, सत्त्वानुप्रवेशशङ्कया आलपनकौतूहलं मे जनयति (१) । (साहु वअस्स ! साहु, जं तए महुरो भट्टिणीए दंसितो भवाणुप्पवेसो, खलदि विअ मे दिट्ठी णिहुदप्पदेसेसु । किं बहुना, सत्ताणुप्पवेससङ्काए आलवणकोदूहलं मे जणअदि ।)

मामाभाषत इव हासवशात् किञ्चिद्विवृताधरत्वादित्याशयः । 'स्यादाभाषणमालाप' इत्यमरः ॥

'कर्कन्धूद्युतिः' इत्यत्र कर्कन्धूपदेन बिम्बोष्ठीतिवत् पक्वकर्कन्धूर्लक्ष्यते ।

केचित्तु 'विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम्' इति एकसमासान्तं पदं मन्यते । तत्रेयं व्याख्या—

विभ्रमेण—विलासविशेषेण विपरीततिलकादिधारणेन वा 'विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः' इति दशरूपकोक्तेः । लसन् स्फुरन् प्रोद्भिन्नः—प्रकर्षेणोन्मीलितः कान्तिद्रवः—लावण्यरसो यत्र तथाविधम् इत्यर्थः, इति ।

इह 'भ्रूलता' इत्यंशे उपमालंकारः । 'हासकिरणज्योत्स्ना' इत्यंशे एकदेशविवर्त्तितरूपकालंकारः, तत्र तु हासकिरणा ज्योत्स्ना इवेति विग्रहे लुप्तोपमालंकारो बोध्यः आलपतीवेति भावाभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षालंकारश्च ।

शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४ ॥

(१) विदू इति । विलोक्य शकुन्तलाप्रतिकृतिमिति शेषः । अथ विदूषकश्चित्रफलके तस्याः प्रतिकृतिं विलोक्य वयस्यविनोदनाय श्लाघते—साध्विति । साधु—शोभनम् । साधुत्वे हेतुमाह—यदिति । यत्—यस्मात् , मधुरः—दृष्टिप्रियः, 'स्वादुप्रियौ तु मधुरा'वित्यमरः । भट्टिन्याः—शकुन्तलायाः, भावानुप्रवेशः—चित्रेऽपि चेष्टानुबन्धः, दर्शितः—प्रकटितः तस्मात्—मे—मम, दृष्टिः—दर्शनेन्द्रियम्, निभृतप्रदेशेषु—गुप्तावयवभागेषु स्तनादिषु, स्खलतीव—अविकलाङ्कितत्वाद् धारावाहिकरूपेण सञ्चलतीवेत्यर्थः । किं बहुना—वक्तव्येनेति शेषः । सत्त्वानुप्रवेशशंकया—सत्त्वस्य—प्राणस्य अनुप्रवेशः—समावेशस्तस्य शङ्कया—सम्भावनया; अस्याः प्रतिकृतौ प्राणाः सन्तीति सम्भावनेत्यर्थः 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु' इति, 'द्रव्येषु व्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इति चामरः, मे—मम, आलपनकौतूहलम्—आलपने—भाषणे कौतूहलं—कौतुकम्, जनयति—उत्पादयति ।

(१) विदूषक—ठीक है मित्र ! ठीक है, क्योंकि आपने चित्रपटपर रानी शकुन्तला की अवस्था का अच्छा चित्रण किया है । मेरी दृष्टि तो इसके गुप्तस्थानों में भी धारावाही रूपसे दौड़ रही है । अधिक कहनेसे क्या मतलब, ऐसा मालूम पड़ता है कि इसमें प्राण भी

मिश्र—अहो ! एषा राजर्षेर्वर्तिकालेखनिपुणता । जाने प्रियसखी मे अग्रतो वर्त्तते इति (१) । (अम्हो ! एसा राएसिणो वत्तिआलेहणिउणदा । जाणे पिअसही मे अग्गदो वट्टदि त्ति ।)

राजा—यद् यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा ।

तथा च चित्रफलकगतायामपि प्रतिकृतौ चेष्टासन्निवेशदर्शनात् सजीवामिव तां मत्वाऽऽलपितुमिच्छामीवेति भावः ।

क्वचित् पुस्तके 'साधु वयस्य ! मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः, 'स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतदेशेषु' इति पाठान्तरमुपलभ्यते, तस्येयं व्याख्या—

साधुवयस्येति भिन्नं वाक्यम् , मधुरं—सुन्दरं यदवस्थानम्–आकृतिस्तेन दर्शनीयः–हृद्यो भावस्यानुप्रवेशः–अभ्यन्तरीकरणम्, सुन्दराकारतया भावाविर्भावस्तयो रन्यतर इत्यर्थः । निम्नोन्नतप्रदेशेषु—उन्नतावनतस्थानेषु नाभिस्तनादिषु इत्यर्थः, अनेन मधुराकृतित्वमेवोक्तम् । यथा प्रत्यक्षदृष्टायामाकृतौ निम्नोन्नतेषु स्खलति तथा चित्रेऽपीति महदालेख्यकौशलमिति भावः ।

अत्र स्खलतीवेत्यादौ वाच्योत्प्रेक्षा सत्त्वानुप्रवेशशङ्कयेत्यादौ प्रतीयमानोत्प्रेक्षेत्युत्प्रेक्षाद्वयम् ।

(१) मिश्रेति । अहो इत्याश्चर्ये; आश्चर्यरूपेत्यर्थः, राजर्षेः–महाराजदुष्यन्तस्य वर्त्तिकया–तूलिकया या लेखा–चित्रणं तस्यां निपुणता–दक्षता, अविकलाङ्कनादिति भावः । जाने—मन्ये, प्रियसखी—शकुन्तला । तादात्म्यात् साक्षात् प्रियसखी स्वयमग्रतो वर्त्तत इति सम्भावयामीत्यर्थः ।

राजेति । अलौकिकलावण्यवत्याः तस्या मूर्त्तेः साकल्येन चित्रगतत्वमेव न सम्भवतीत्यतः किमत्र मे निपुणतेति चित्रगतप्रतिकृतेरपकर्षमाह—यद्यदिति । यद् यत्-अङ्गमवस्थानं वा, चित्रे–आलेख्ये,साधु सम्यक् सुन्दरं न स्यात्–न भवेत् , प्रकृताङ्गस्य संस्थानस्य वा सुन्दरत्वादविकलचित्रणे तु शोभनं नैव भवेदित्याशयः । तत् तत्—अङ्गं संस्थानं वा अन्यथा–सौन्दर्यविधानाय प्रकृतमूर्तितो विकलम्, क्रियते–चित्रकारैः सुन्दरं विधायैव चित्र्यत इत्यर्थः, चित्रे सौन्दर्यसम्पादनार्थमिति भावः ।

हैं, इसी से मुझे तो इसके साथ बात करने का कौतूहल उत्पन्न हो रहा है ।

(१) मिश्रकेशी—अहो ! इन राजर्षि की चित्रकला में कितनी निपुणता है ? सुतरां, मैं तो ऐसा सोचती हूँ कि मानो मेरी प्रियसखी शकुन्तला मेरे सम्मुख बैठी है ।

राजा—अविकल चित्र निर्माण करते समय जिसका चित्र बनाया जाता उसके

तथापि तस्या लावण्यं लेखया किञ्चिदन्वितम् ॥ १५ ॥

तथा हि—

अस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदं, निम्नेव नाभिः स्थिता
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौ समायामपि ।
अङ्गे च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धप्रभावाच्चिरं
प्रेम्णा मन्मुखमीषदीक्षत इव स्मेरा च वक्तीव माम् ॥१६॥

तथापि—एवं चित्रकारपद्धतौ सत्यामपि, तस्याः—शकुन्तलायाः, लावण्यं—सर्वाङ्गव्यापि सौन्दर्यम्, लेखया—मत्कृतचित्रेण, किञ्चित्—ईषदेव न तु साकल्येन, अन्वितं-सम्बद्धम् । शकुन्तलायाः सर्वाङ्गव्यापिलावण्यस्य चित्रे निवेशनस्य यत्ने कृतेऽपि तत् स्वल्पमेवायातमित्यर्थः ।

तथा च 'चित्रे निवेश्य परिकल्पित' इत्याद्युक्तरीत्या या स्वयं विधिना चित्रे निवेश्य परिकल्पितसर्वयोगा मनसा वा रूपोच्चयेन विहिता सा कथं मानुषेण मया गम्यतालेख्यते; एवञ्च चित्रदृष्टलावण्यापेक्षया प्रकृतमूर्त्तौ त्वधिकतरलावण्यसद्भावात् चित्रे तत्प्रदर्शनस्य च दुष्करत्वाद् वृथोक्तं ते 'साधु वयस्य' इत्यादीति भावः । एतेन प्रकृतमूर्त्तेः सौन्दर्यातिशयो व्यज्यते । अत्र चित्रलेखनप्रकारकथनेन नायकस्य तस्यां विप्रलम्भादधिकमनुरागपारवश्यं ध्वन्यते ॥ १५ ॥

अस्या इति । समायामपि—अबन्धुरायामपि समतलायामपीति यावत्; भित्तौ चित्रफलके, इदं सर्वत्र योज्यम्, अस्याः—शकुन्तलायाः, इदं—पुरोदृश्यमानम्, स्तन-द्वयं-कुचद्वयम्, तुङ्गम्-उन्नतमिव वर्त्तत इति शेषः, 'उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे' इत्यमरः । तथा चैतदङ्कने महदेव कौशलमपेक्षितमिति भावः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । नाभिः निम्ना—गभीरेव स्थिता । वलयः—उदरगताः मांसतरङ्गाश्च, विषमोन्नताः-उच्चावचाः, दृश्यन्ते—आलक्ष्यन्ते । स्निग्धप्रभावात्—तैलाक्तवर्णानां चिक्कणतासामर्थ्यात्, अङ्गे—गात्रे 'अङ्गं गात्रे प्रतीकोपाययोः' इति मेदिनी, इदं दृश्यमानं मार्दवं कोमलता च, चिरं प्रतिभाति—स्थायिभावेन प्रकाशते, तैलाक्तवर्णानां चिक्कणतायाः सहसा ह्रासासम्भवादित्याशयः । प्रेम्णा—अनुरागेण, सम्मुखं—मम वक्त्रम् ईषत्—लज्जया किञ्चिदल्पम्, ईक्षत इव—वक्रदृष्ट्या पश्यतीव । तथा स्मेरा—ईषद्धा-

जिस किसी अङ्ग में सुन्दरता नहीं भी रहती है तो उसमें सुन्दरता लायी जाती है, फिर इस चित्र द्वारा शकुन्तला का सौन्दर्य बढ़ा नहीं, बल्कि कुछ घटा ही है ॥ १५ ॥

जैसे कि—यद्यपि चित्रपट समतल है, फिर भी शकुन्तला के दोनों स्तन कुछ ऊँचे हैं और नाभि गम्भीर सी मालूम पड़ती है। स्निग्धता के कारण अङ्गों में कोमलता दिखायी देती है और ऐसा मालूम पड़ता है कि अनुरागपूर्वक यह थोड़ा-थोड़ा मुझे देखती है और मुसकुराकर कुछ कह रही है ॥ १६ ॥

मिश्र—सदृशमेवं पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्य (१)। (सरिसं एव्वं पच्चादावगुरुणो सिणेहस्स ।)

राजा—[निःश्वस्य]

साक्षात् प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
चित्रार्पितामहमिमां बहु मन्यमानः ।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य
जातः सखे ! प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम् ॥ १७ ॥

सिनी च सती मां वक्तीव-किमपि मन्दमालपतीव । तथा चोभयत्रापि चित्रणकौशलादेतत्सम्पन्नमिति भावः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १६ ॥

(१) मिश्रेति । एवं-चित्रगताया अपि शकुन्तलाया बहुमानम् पश्चात्तापेन-अनुतापेन, गुरोः—गुणितस्य वृद्धिं गतस्येत्यर्थः, स्नेहस्य-अनुरागस्य सदृशम्-अनुरूपम्, उपयुक्तमित्यर्थः, एवमन्यत्रापि बहुदर्शनादिति भावः ।

राजेति । साक्षादिति । हे सखे ! अहं पूर्वम्-अव्यवहितसमये न तु कालान्तरे, साक्षात्-प्रत्यक्षेण उपगताम्; उप-समीपे गतां-प्राप्ताम्, न स्वाभासमात्रेण न चाश्रुतागमनाम्, प्रियां-शकुन्तलाम्; न तु साधारणं नारीमात्रम्, अपहाय-अवगणय्य न तु त्यक्त्वा त्यक्तस्य पुनरुपादाने महापुरुषस्यानौचित्यप्रसङ्गात्, इमां-पुरतोदृश्यमानाम्, चित्रार्पिताम्,—आलिखितां प्राणादिशून्यामित्याशयः, प्रियाम्, बहुमन्यमानः-आद्रियमाणः अत्यादरेणावलोकमानः सन् इत्यर्थः, पथि-गमनमार्गे निकामजलां सम्पूर्णोदकाम्; स्रोतोवहां-नदीम्, यतो निकामजलाम् अत एव स्रोतोवहां-प्रवहद्रूपामिति हेतुगर्भं विशेषणम्, अतीत्य-अतीक्रम्य, मृगतृष्णिकायां नदीवदाभासमानायां मरुमरीचिकायाम्, 'मृगतृष्णा मरीचिका' इत्यमरः, प्रणयवान्—प्रीतियुक्तः जलप्रार्थनावान् इत्यर्थः, जातः—संवृत्तोऽस्मि । तथा च यथा प्रथमं मार्गे उपस्थितां महानदीमुत्तीर्य गतवतः पिपासोर्मृगतृष्णिकायां प्रणये जलावाप्तिस्तु न भवति परन्तु पिपासामात्रं वर्द्धते, तथा प्रथमं स्वयमुपनतां प्रियामवधीरितवतो मम चित्रार्पितायां तस्यां च प्रणये मनःशान्तिस्तु नैव भवति परन्तु कामव्यथामात्रं वर्द्धत इति भावः॥

(१) मिश्रकेशी—अनुताप से अनुराग बढ़ता है, अनुराग के लिये तो यह होना ही चाहिए ।

राजा—(ठंढी साँस लेकर) प्रिया शकुन्तला उस समय स्वयं आकर उपस्थित हुई थी, किन्तु मैंने उसका परित्याग कर दिया । अब इस चित्रमयी शकुन्तला का अतिशय आदर कर रहा हूँ । अतएव हे मित्र ! अगाध जलवाली नदी का परित्याग कर मैं मानो मृगमरीचिका से जलके लिये प्रार्थना करता हूँ ॥ १७ ॥

विदू—भो ! तिस्र आकृतयो दृश्यन्ते । सर्वा एव दर्शनीयाः, तत् कतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला ? (१) (भोः ! तिण्णिओ आइदिओ दीसन्ति, सव्वाओ ज्जेव दंसणीआओः ता कदमा एत्थ तत्थभोदी सउन्तला ?)

मिश्र—अनभिज्ञः खल्वेष सखीरूपस्य मोघचक्षुः, इयं खलु नास्य गता प्रत्यक्षताम् (२) । (अणभिण्णो क्खु एसो सहीएरूवस्स मोहचक्खू, इअं क्खु ण से गदा पच्चक्खदं ।)

राजा—त्वं तावत् कतमां तर्कयसि (३) ।

विदू—[निर्वर्ण्य] तर्कयामि यैषा शिथिलबन्धनोद्वान्तकुसुमेन (४)

अत एवात्रासम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शनालङ्कारः । यदुक्तं दर्पणे—

'सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥' इति ।

केचित्तु—'साक्षात् प्रियाम्' इत्यत्र साक्षादिति प्रियामित्यस्य विशेषणमिति वदन्ति एवञ्च साक्षात्प्रियाम्—अकृत्रिमामित्यर्थः । अत्र वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ १७ ॥

(१) विदू इति । अथ विदूषकश्चित्रफलके दत्तदृष्टिः सखीद्वयोपेतां शकुन्तला-प्रतिकृतिं पश्यन्नाह-भो इति । आकृतयः-मूर्तयः प्रतिकृतय इत्यर्थः । दर्शनीयाः-अवश्यमीक्षणीया रूपवत्य इत्यर्थः । अत्र—आसु मध्ये कतमा—का ?, तत्रभवती—राजपत्नीत्वेन मान्या ।

(२) मिश्रेति । एषः-राजवयस्यः, सखीरूपस्य-शकुन्तलारूपस्य अनभिज्ञः-इदन्तयानुभवाक्षमः अज्ञातेत्यर्थः । अत एव मोघं—शकुन्तलाया अदर्शनान्निरर्थकं चक्षुर्यस्य स तथाभूतः, 'मोघं निरर्थकम्' इत्यमरः । इयं—शकुन्तला, अस्य-राजवयस्यस्य, प्रत्यक्षतां—प्रत्यक्षविषयताम्, न गता—न प्राप्ता, खल्विति प्रश्ने । अनेन शकुन्तला पूर्वं न दृष्टा किम् ? इत्यर्थः । अत एवायमनभिज्ञ इति भावः ।

(३) राजेति । कतमाम्—आसां मध्ये काम्, शकुन्तलामिति शेषः । तर्कयसि—मन्यसे ।

(४) विदू इति । निर्वर्ण्य—निरीक्ष्य, प्रतिकृतीरिति शेषः । 'निर्वर्णनन्तु

---

(१) विदूषक—मित्र ! इसमें मैं तीन मूर्तियों को देखता हूँ, वे तीनों ही सुन्दरी हैं। इन तीनों में शकुन्तला कौन सी है ?

(२) मिश्रकेशी—इसने मेरी सखी का रूप नहीं देखा है, इसलिये निःसन्देह इसकी आँखें निष्फल हैं । क्योंकि शकुन्तला इसके प्रत्यक्ष हुई ही नहीं ।

(३) राजा—अच्छा तुम शकुन्तला किसको समझते हो ?

(४) विदूषक—(देख कर) मैं तो सोचता हूं कि जिसका केशकलाप शिथिल होकर

केशहस्तेन बहुस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतो नमितांसकाभ्यां बाहुलताभ्याम् उच्चलितनीविना वसनेन च ईषत् परिश्रान्तेव अभिषेकस्निग्धतरपल्लवस्य बालचूतवृक्षस्य पार्श्वे आलिखिता, एषा तत्रभवती शकुन्तला-इतरे सख्यौ इति । (तक्केमि जा एसा सिढिलबन्धणुव्वन्तकुसुमेण केसहत्थेण बद्धसेअबिन्दुणा वअणेण विसेसदा णमिदंसआहिं बाहुलदाहिं उच्चलिदणीविणा वसणेण अ इसोपरिस्सन्ता विअ अहिसेअसिणिद्धदरपल्लवस्स बालचूअरुक्खस्स पास्से आलिहिदा, एसा तत्थभोदी सउन्तला-इदराओ सहीओ त्ति ।)

निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः । तर्कप्रकारमाह-शिथिलबन्धनेन-बन्धनस्य शिथिलतया उद्भ्रान्तानि—निर्गलितानि कुसुमानि-पूर्वविन्यस्तानि पुष्पाणि यस्मात् तेन, केशहस्तेन—केशकलापेन उपलक्षिता, उपलक्षणे तृतीया, एवमग्रेऽपि, 'पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात् परे' इत्यमरः, बद्धाः-धृताः, स्वेदस्य—घर्मजलस्य बिन्दवो येन तेन तथोक्तेन, वदनेन—मुखेन उपलक्षिता, विशेषतः—अतिशयेन 'प्रकृत्यादिभ्यः तृतीया' 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति (पा०) तृतीयायाः तसिल्प्रत्ययः, नमितौ—बालपादपेभ्यो जलदानाय घटोत्तोलनादिसमये नम्रीभूतौ अंसौ—स्कन्धौ ययोस्ताभ्याम्, बाहुलताभ्यां—भुजलताभ्यां—उपलक्षिता, तथा उच्चलिता—जलदानकाले विचलिता नीविः—कटिवस्त्रग्रन्थिर्यस्य तादृशेन 'स्त्रीकटीवस्त्रबन्धेऽपि नीवी परिपणेऽपि च' इत्यमरः, वसनेन—वस्त्रेण उपलक्षिता । ईषत्—अल्पं परिश्रान्ता-जलसेककरणेन श्रमार्त्तेव । अभिषेकेण—जलसेकेन स्निग्धतराणि—अतिशयेन मसृणानि पल्लवानि—पत्राणि यस्य तस्य, तादृशस्य, 'चिक्कणं मसृणं स्निग्धम्' इत्यमरः; बालचूतवृक्षस्य—क्षुद्राम्रवृक्षस्य पार्श्वे—समीपतरप्रदेशे आलिखिता—चित्रिता, एषा-पुरश्चित्रे दृश्यमाना, तत्रभवती-मान्या शकुन्तला; सौन्दर्यातिशयं-विविधभाग्यलक्षणप्रभृतिनानाविधलक्षणदर्शनादिति भावः । इतीति तर्कयामीति क्रियायाः कर्म । अत्र राज्ञा यथैव प्रथमदर्शने शकुन्तला दृष्टा तथैव चित्रे उल्लिखितेति बोध्यम् ।

बँधा है, इससे उसके फूल गिरे पड़े हैं, मुख पर पसीने की बूँदें झलक रही हैं, बाहुदण्ड का ऊपरी भाग अवनत दिखायी पड़ रहा है, जिसके वस्त्र का बन्धन शिथिल पड़ गया है और जो कुछ थकी सी दिखाई पड़ रही है । इस दशा में वृक्षों को जल देती हुई इस चिकने पत्तोंवाले छोटे से आम्रवृक्ष के निकट जिनका चित्र है, वही शकुन्तला हैं, अन्य दोनों इनकी सखियाँ हैं ।

राजा—निपुणो भगवान् । अस्त्यत्र ममापि भावचिह्नम् (१)

स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशाद् रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिना ।
अश्रु च कपोलपतितं लक्ष्यमिदं वर्णकोच्छ्वासात् ॥ १८ ॥

(१) राजेति । अथ राजा विदूषकोक्तं सश्लाघमनुमोदते-निपुण इति । निपुणः वस्तुनिर्णयकुशलः, पूर्वमनवलोक्यापि शकुन्तलाया निर्णयात् तद्रूपविशेषस्य सूक्ष्ममतिसंवेद्यत्वाच्चेति भावः । तत्र विशेषमप्याह-अस्तीति । अत्र-चित्रगतायामत्र-भवत्याम्, भावचिह्नं-भावयोः-सात्त्विकभावयोः स्वेदाश्रुणोश्चिह्नमस्ति । सात्त्विकभावानाह दर्पणे विश्वनाथः—

'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥' इति ।

चिह्नस्वरूपमाह—स्विन्नेति । स्विन्नायाः-प्रियाप्रकृतिचित्रणकाले कामविकाराविर्भावाद् स्रुतस्वेदार्द्रायाः अङ्गुलेः—चित्रकालीनकालरङ्गाक्ताया ममाङ्गुलेः विनिवेशात्-चित्रफलके विन्यासात्, प्रान्तेषु-शकुन्तलाप्रतिकृतेरेखापान्तेषु, मलिना—विन्यस्ताङ्गुलितः कालरङ्गलगनात् श्यामा, रेखा, दृश्यते । तथा वर्णस्य-चित्रस्थरञ्जनवर्णस्य उच्छ्वासात्-स्फीतीभावात् सर्वतः किञ्चित् प्रसरणादित्यर्थः, कपोलात्-ममैव गण्डस्थलात् पतितं-विकाराविर्भावात् स्खलितम्; इदम् अश्रु—एतन्नयनजलञ्च, लक्ष्यम्-ऊह्यम्, अनुमानेनावगन्तव्यमित्यर्थः । अन्यथा मलिनरेखाया वर्णकोच्छ्वासस्य चासम्भव इति भावः ।

अत्र पुस्तकान्तरीयः—

'स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।
..................दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात् ॥'

इति पाठभेदो दृश्यते । तत्र स्विन्ना या अङ्गुलयस्तासां विनिवेशः-स्थितिः, रेखाप्रान्तेषु-चित्रकर्मसमये रेखापार्श्वेषु, मलिनः-आविलो दृश्यते, मलिनत्वञ्च स्वेदादेव चित्रपटोद्घर्षणात् तथा वर्तिकोच्छ्वासात् वर्तिका-चित्रपटे लेखविशेषस्तस्या उच्छ्वासः-उच्छूनता तस्मादित्यर्थः, कपोलपतितं-लिखिताकृतिकपोलप्राप्तम्, अश्रु-मम सात्त्विकभावेनोत्पन्नं नयनजलं, चेदम्, दृश्यं-दर्शनीयमित्यर्थः । इह स्वभावोक्तिरलङ्कारः । आर्या जातिः ॥ १८ ॥

(१) राजा—तुम बड़े चतुर हो । इस चित्र में मेरे भी भावचिह्न अङ्कित हैं—पसीने से तर उँगली रखने के कारण इस चित्र के प्रान्तभाग में नीली रेखा दीख रही है और कपोल पर रङ्ग कुछ फैल गया है, इससे अश्रुबिन्दु भी लक्षित हो रहे हैं ॥ १८ ॥

[चेटीं प्रति ।] चतुरिके ! अर्द्धलिखितमेतद्विनोदस्थानमस्माभिः, तद्गच्छ वर्तिकास्तावदानय (१) ।

चेटी—आर्य ! माधव्य ! अवलम्बस्य चित्रफलकम्, यावदागच्छामि (२) । (अज्ज ! माहव्व ! अवलम्ब चित्रफलअं, जाव आअच्छामि ।)

राजा—अहमेवावलम्बे [इति यथोक्तं करोति ।] (३)

[चेटी निष्क्रान्ता ।] (४)

विदू—भोः ! किमत्रापरमालिखितव्यम् ? (५) (भो ! किं एत्थ अवरं आलिहिदव्वं ?)

मिश्र—यो यः प्रियसख्या अभिमतः प्रदेशः, तं तमालिखितुकाम इति तर्कयामि (६) । (जो जो पिअसहीए अहिमदो पदेसो, तं तं आलिहिदुकामोत्ति तक्केमि ।)

---

(१) चेटीमिति । राजाहेति शेषः । चतुरिकेति चेट्या नाम । एतद्विनोदस्थानं-विरहयापनस्थानम्; आलेख्यमित्यर्थः, अर्द्धलिखितं—तदानीमवसराभावाद् सम्यक् चित्रितम् । वर्त्तिका-तूलिका, तया च चित्रलेपद्रव्याण्यपि लक्ष्यन्ते : 'पटलेपे पक्षिभेदे तूलिकायाञ्च वर्त्तिका' इत्यमरः ।

(२) चेटीति । माधव्येति विदूषकसम्बोधनम्, चित्रफलकं-लिखितपटम्, अवलम्बस्व-धारय, यावदागच्छामि-आगमनपर्यन्तमित्यर्थः ।

(३) राजेति । अहमेवावलम्बे विनोदनार्थमिति भावः । एतेन चित्रे आदरातिशयो द्योत्यते । यथोक्तं करोति—चित्रफलकमवलम्बते ।

(४) चेटीति । निष्क्रान्ता-प्रस्थिता वर्त्तिकानयनायेत्यर्थः ।

(५) विदू इति । आलिखितव्यं—चित्रायतव्यमस्तीति शेषः ।

(६) मिश्र इति । प्रियसख्याः—शकुन्तलायाः, प्रदेशः-अवयवः, अभिमतः—

---

(१) (दासी के प्रति) चतुरिके ! यह मेरे विनोद की वस्तु अभी अधूरी है, इससे तू जाकर तूलिका तो ले आ ।

(२) चेटी—आर्य माधव्य ! आप चित्रफलक को सम्हालिए तो, मैं अभी आती हूं ।

(३) राजा—मैं ही इसे थामे रहूँगा । (हाथ में ले लेता है)

(४) (चेटी चली जाती है)

(५) विदूषक—मित्र ! क्या अभी इसमें और कुछ लिखना है ?

(६) मिश्रकेशी—मैं सोचती हूँ कि मेरी प्रिय सखी को जो-जो प्रदेश पसन्द थे, उन्हें आप अंकित करना चाहते हैं ।

राजा—सखे ! श्रूयताम (१) ।

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्णचमरा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
श्रृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥ १९ ॥

रमणीयत्वेन सम्मतः, तं तं—प्रदेशम्, आलिखितुकामः-लिलिखिषतीति तर्कयामि-सम्भावयामि; तस्यासद्भावादिति शेषः ।

(१) राजेति । सखे—वयस्य ! श्रूयतां यदालिखितव्यमिति शेषः ।

आलिखितव्यमाह—कार्येति । सैकतेषु—वालुकामयपुलिनेषु लीनानि-अवस्थितानि हंसमिथुनानि—हंसानां द्वन्द्वानि यस्याः सा तथोक्ता 'तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्'—इत्यमरः, मालिनी—तन्नाम्नी; स्रोतोवहा—नदी, कार्या—कर्त्तव्या चित्रयितव्येत्यर्थः । तां मालिनीम्, अभितः-पार्श्वतः, अभितोयोगे द्वितीया; निषण्णाः-उपविष्टाः चमराः-मृगविशेषाः येषु ते, पावनाः-पवित्राः गौर्य्याः-शिवायाः गुरोः-पितुः, हिमालयस्येत्यर्थः, पादाः-प्रत्यन्तपर्वताः 'पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' इत्यमरः । कार्य्या इति लिङ्गवचनविपरिणामेनान्वयः, तथा शाखासु लम्बितानि—अवसक्तानि वल्कलानि-तपस्विनां वसनभूतानि यस्य तादृशस्य, तरोः-कस्यचिद् वृक्षस्य अधः-तले, असिप्रत्ययः अतसर्थत्वात् षष्ठी; कृष्णमृगस्य कृष्णसाराख्यहरिणस्य, श्रृङ्गे-विषाणे, वामनयनं-निजं वामचक्षुः, कण्डूयमानां-कण्डूं-खर्जनं कुर्वतीम् 'कण्डूः खर्ज्जुश्च कण्डूया' इत्यमरः, मृगीं-काञ्चित् हरिणीम्, निर्म्मातुं-चित्रयितुमिच्छामि । एतद्धि विनोदस्थानमिति भावः ।

अनेन पद्येनाश्रमस्थं पूर्वानुभूतं तदानींतनमुद्दीपनं विभावगणं स्मरति । ते च स्मृताः सम्भ्रमप्रवासहेतुकं विरहमेव पोषयन्ति । तथा च—

'सैकतलीने'इत्यादिनोद्दीपकत्वातिशयो व्यज्यते ।

'स्रोतोवहे'त्यनेन जलवाहित्वं तेन स्वभावापरित्यागः तेन रमणीयत्वं तेनोद्दीपकत्वञ्च व्यज्यते । 'गौरीगुरो'रित्यनेन कन्याजनकत्वबोधनात् कन्याविरहदुःखा-

---

(१) राजा—मित्र ! सुनो—

जिसके तटपर हंसदम्पति बैठे हों, ऐसी मालिनो नदी चित्रित करनी है । उसके पास जिस जगह चमरी गाय और हरिणगण बैठे हों ऐसे हिमालय का पादप्रदेश अंकित करना है, जिसकी शाखा पर पहिनने के वल्कल-वसन सूख रहे हों और उसी वृक्ष के नीचे कृष्णसार मृग की सींग से अपना बायाँ नेत्र खुजला रही हो ऐसी एक हरिणी चित्रित करूंगा ॥ १९ ॥

विदू—[स्वगतम्] यथा मन्त्रयति तथा तर्कयामि पूरयितव्यमनेन चित्रफलकमाकृतिभिः लम्बकूर्चानां वल्कलपरिधानानां तापसानामिति (१)। (जधा मन्तेदि तथा तक्केमि पूरिदव्वं अणेण चित्तफलअं आकिदिहिं लम्बकुच्चाणं वक्कलपरिहाणं तावसाणं त्ति।)

राजा—वयस्य ! अन्यच्च शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतं लेखितुं विस्मृतमस्माभिः (२)।

नुभवात् तत्प्रदेशे निर्बाधविहारत्वं ध्वन्यते। 'निषण्णचमराः' इत्यनेन अत्यन्तविविक्तत्वं तेन भृशमुद्दीपकत्वं तेन च सुरतक्षमत्वं द्योत्यते। 'शाखालम्बित' इत्यनेन आश्रमपथानतिदूरत्वेन तस्याः शालीनत्वं प्रतीयते।

'वामनयनमि'ति हरिणीस्वभावात्; अत्राहुः कामतन्त्रकाराः—

'रिरंसा यत्र जायेत कण्डूतिस्तत्र जायते।
मृगीणां वामनयने योषितां मदनालये' ॥ इति ॥

'कण्डूयमानाम्' इति शतृप्रत्ययेन निश्चलस्थितया कृष्णमृगस्य मृगीबुद्ध्यनुसारित्वं तेन परस्परास्थाबन्धश्च सूच्यते। राघवस्तु-'कण्डूयनं शृङ्गारानुभावसूचकं घर्षणमात्रम्; अनेनाप्युद्दीपकत्वं ध्वनितम्' इत्याह। वस्तुतस्तु अत्र वर्णितानां पदार्थानां शृङ्गारे उपक्रमोपसंहारो बोध्यः।

अत्र कार्यस्यैकया क्रियया अप्रस्तुतयोरेव स्रोतोवहापादपदार्थयोः कर्मतयाभिसम्बन्धात्तुल्ययोगितालङ्कारः। तथा सूक्ष्मवस्तुस्वरूपकथनरूपा स्वभावोक्तिश्च गौरीगुरोरिति प्रसङ्गोपादानादुदात्तालङ्कारोऽपि। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १९ ॥

(१) विदू इति। यथा-यत्प्रकारम्, मन्त्रयति-विवेचयति, राजेति शेषः। तथा-तेन प्रकारेण तर्कयामि-सम्भावयामि, अहमिति शेषः। अनेन-राज्ञा, लम्बकूर्चानां-दीर्घश्मश्रूणाम् 'कूर्चोऽस्त्री श्मश्रुपीठयोः' इति केशवः, वल्कलं-वृक्षत्वगेव परिधानं-वस्त्रं येषां तेषाम्, तापसानां—तपस्विजनानाम्, आकृतिभिः—प्रतिकृतिभिः, चित्रफलकं पूरयितव्यमिति तर्कयामीत्यन्वयः। अत्र लम्बेत्यादिविशेषणद्वयेन तापसानां विरूपतया तेषां चित्रणस्यानावश्यकत्वं सूच्यते।

(२) राजेति। अन्यच्च—अपरमपि। प्रसाधनं—वेशरचनम्। 'आकल्पवेशौ नेपथ्यं प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमरः। अभिप्रेतं—प्रकृतलेख्यतयाऽवधारितम्।

---

(१) विदूषक—(स्वगत) जैसा कि ये कहते हैं, उससे मैं सोचता हूँ कि लम्बी दाढ़ी वाले वल्कल-वसन पहने तपस्वियों की आकृति से चित्रपट को पूर्ण कर देंगे।

(२) राजा—मित्र ! मैंने शकुन्तला के और भी वेश-विन्यास चित्रित करने की इच्छा की थी, पर वे भूल गये।

विदू—किमिव ? (१) (किं विअ ?)

मिश्र—वनवासस्य कन्यकाभावस्य च यत् सदृशं भविष्यति (२) ।

(वणवासस्य कण्णआभावस्स अ जं सरिसं भविस्सदि ।)

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे ! शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥ २० ॥

(१) विदू इति । किमिव—किं तत्प्रसाधनम्, इवेति वाक्यालङ्कारे 'इव इति ईषदर्थोपमोत्प्रेक्षावाक्यालङ्कारेषु' इति वर्धमानः ।

(२) मिश्रेति । अथ मिश्रकेशी दुष्यन्तहृदयगतमनुमायाह—वनवासस्येति । वनवासस्य सदृशं पुष्पमयाभरणधारणम्, कन्यकाभावस्य सदृशमसीमन्तसिंदूरादि । शकुन्तलाया इत्यनुषङ्गः । क्वचित् पुस्तके 'सौकुमार्यस्य अविनयस्य' इत्यधिकपाठो दृश्यते, तत्र सौकुमार्यस्येत्यनेन कुसुमानामपि यत् कोमलतरं तदेकङ्घ्रिधारणम्, अविनयस्य चेत्यनेन शेखरादिव्यावर्त्तनं व्यज्यते ।

तदेवाह—कृतमिति । हे सखे ? कर्णयोः अर्पितं-निवेशितं बन्धनं वृन्तं यस्य ताहशम्, तथा आगण्डं-कपोलपर्यन्तम्, 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययी-भावः; विलम्बिनः-लम्बिनः-लम्बमानाः केसराः-किञ्जल्काः यस्य तत् तयोक्तम्, शिरीषं-तदाख्यपुष्पम्, न कृतं-न चित्रितं विस्मरणादिति भावः । तथा स्तनान्तरे-स्तनयोरभ्यन्तरे, शरच्चन्द्रस्य-शरदिन्दोः मरीचिवत् कोमलं-सुकुमारम्, मृणालसूत्रं मृणालमयो हारः, न वा रचितं-विस्मरणाद्व वा चित्रितम् । एतदुभयं विस्मरण-वशान्न चित्रितं सम्प्रति तच्चित्रयितुमिच्छामीति भावः ।'कर्णार्पितबन्धन-मित्यत्र कर्ण-पदेन भूषणवत् कर्णप्रतीतेःसान्निध्यात् कर्णशिरोऽन्तरालदेशो लक्ष्यते; तेन परस्परो-पकारकरणादन्योन्यालङ्कारो व्यङ्ग्यः । 'आगण्डविलम्बिकेसरम्' इत्यत्र गण्डकेस-रयोः परस्परं भूष्यभूषणभावो व्यङ्ग्यः, तेन च केवलं कर्णं न भूषयति किन्तु गण्डम-पीति व्यज्यते । शिरीषपदेन च कोमलत्वं ध्वनयताऽन्यत्तदयोग्यमिति तस्याः सुकु-माराङ्गत्वं व्यज्यते । 'मृणालसूत्रं—बिसतन्तु' इत्यर्थकरणे मृणालसूत्रपदेन तत्स्तन-

(१) विदूषक—किस तरह ?

(२) मिश्रकेशी—जो कुछ वनवासी (वन में रहते समय फूल के आभरण आदि) और कन्याभाव के योग्य होता ।

राजा—हे सखे ! जिसका मूलभाग कानों में बँधा होता और उसके केशर कपोलों तक झूलते रहते, ऐसा शिरीषपुष्प अङ्कित नहीं किया और शरत्कालीन चन्द्रमा के समान उज्ज्वल मृणाल का एक हार दोनों स्तनों के बीच नहीं अङ्कित किया ॥ २० ॥

विदू—किन्नु खलु तत्रभवती रक्तकुवलयशोभिना अग्रहस्तेन मुखमावार्य चकितचकितेव स्थिता (१)। (किं णु खलु तत्थभोदी रत्तकुवलअसोहिणा अग्गहत्थेन मुहं आवारिअ चकिदचकिदा विअ ट्ठिदा।)

[सावधानं दृष्ट्वा] आ हीही भोः! एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरो दुष्टमधुकरस्तत्रभवत्या वदनकमलमभिलषति (२)। (आ ही ही भो! एसो दासीए पुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो दुट्ठमहुअरो तत्थभोदीए वअणकमलं अहिलसदि।)

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः (३)।

योरतिपीवरतया परस्परोत्पीडनत्वं तेनालिङ्गनयोग्यत्वं तेन च तदप्राप्त्या स्वस्याधन्यत्वादि व्यज्यते। अत्रापि अन्योन्यशोभाहेतुत्वेनान्योन्यालङ्कारो व्यङ्ग्यः। श्लोकेऽत्र क्रिययोः समुच्चितत्वात् समुच्चयालङ्कारः, एकाधिकरणत्वेनापि तस्येष्टत्वात्। शरच्चन्द्रमरीचिकोमलमित्यत्र लुप्तोपमालङ्कारः। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ २० ॥

(१) विदू इति। रक्तकुवलयमिव—रक्तोत्पलमिव शोभते इति तेन 'स्यादुत्पलं कुवलयम्' इत्यमरः, समासगतेयमुपमा, अनेनेदृशदशायामपि तस्याः सौन्दर्यातिशयो दृश्यत इति द्योत्यते, अग्रहस्तेन-हस्ताग्रेण करेणेत्यर्थः, मुखं—स्ववदनम्, आवार्य-आच्छाद्य, चकितात्-भीतादपि चकिता-भीता, अतिभीतेत्यर्थः, 'चकितः शङ्कितो भीत' इति त्रिकाण्डशेषः, इवेति सम्भावनायाम्, किन्नु खलु स्थितेत्यन्वयः।

(२) सावधानमिति। सावधानं—निपुणं निरूप्य-दृष्ट्वा। आ इति क्रोधे; हीहीति विस्मये, भो इति सम्बोधने। दास्याः पुत्रः-नीचः 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' इति निन्दायामलुक्, कुसुमरसस्य-पुष्पमधुनः पाटच्चरः-चौरः एतेन अनेनैव अपराधेन दण्डयोऽपराधान्तरे च सुतरां दण्डनीय इति व्यज्यते, दुष्टमधुकरः-दुष्टभ्रमरः, तत्रभवत्याः-मान्यायाः शकुन्तलाया न तु यस्याः कस्याश्चित्, अनेनात्यन्ताभिलाषायोग्यत्वं व्यज्यते, वदनकमल-मुखपङ्कजम्, अत्र रूपकेण मुखं पद्मबुद्ध्याऽभिलषतीति भ्रान्तिमानलङ्कारो व्यज्यते।

(३) राजेति। अथोन्मादमूर्च्छाभिभूतो राजा चित्रगताया अपि शकुन्तलाया

---

(१) विदूषक—शकुन्तला रक्तकमल के समान सुन्दर हथेलियों से अपना मुखमण्डल छिपाकर मानों डरी सी बैठी थी।

(२) (अच्छी तरह देखकर) ओ हो हो! यह दासीपुत्र और कुसुमरस का चोर दुष्ट भौंरा इनका मुखकमल पान करना चाहता है।

(३) राजा—इस ढीठ भौंरे को रोको।

विदू--भोः ! त्वमेव अविनीतानां शासिता अस्य वारणे प्रभवासि (१)। (भो ! तुमं ज्जेव अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारण पहवसि ।)

राजा—युज्यते । अयि भोः ! कुसुमलताप्रियातिथे ! किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि ? (२)—

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता ।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु त्वां विना पिबति ॥ २१ ॥

भ्रमरबाधामसहमान आह—नन्वित्यादि । नन्विति सम्बोधने । वार्यतां—ताड्यतामिति यावत्, धृष्टः—प्रगल्भः, एषः—मधुकरः ।

(१) विदू इति । विदूषकस्तु चित्रगतस्य तस्य वारयितुमशक्यत्वात् सोल्लुण्ठं स्वभावोक्तिमाह—भो इति । अविनीतानां-दुर्वृत्तानाम्, शासिता-शासनकर्त्ता विनेतेति यावत् । अत एव अस्य—धृष्टमधुकरस्य, वारणे प्रभवसि—वारयितुं समर्थः, न पुनर्विकलाङ्गोऽहम्, तादृशसामर्थ्याभावादिति भावः । अत्र समर्थार्थकधातुयोगे चतुर्थीप्राप्तावधिकरणविवक्षया सप्तमी ।

(२) राजेति । राजा तु तादृक्स्वबुद्ध्यैव प्रत्युत्तरयति—युज्यत इति । युक्तमेव, अहमेवैनं वारयिष्ये इत्यर्थः । अथ भ्रमरमभिमुखीकृत्य मधुरवचनेन प्रियामुखाद् वियोजयितुमुपक्रमते—अयि भो इति । अयीति कोमलामन्त्रणे । कुसुमप्रधाना लता कुसुमलता तस्याः प्रियातिथे !—प्रीतिकरातिथिस्वरूप ! कुसुमलता समुपस्थितं त्वां सत्करिष्यतीत्यतस्तामेवाभिसरेति भावः । किं-किमर्थम्, अत्र-शकुन्तलामुखे, परिपतनखेदं-सञ्चरणपरिश्रमम्, अनुभवसि-स्वीकरोषि । न खल्वियं कुसुमलता किन्तु शकुन्तलामुखमेव; अत्र परितने फल (वैपरीत्येन) परिवर्त्तनेन परिश्रमएवावशिष्येत इत्यर्थः ।

पूर्वं शकुन्तलामुखे परिपतनस्य निष्फलत्वप्रदर्शनेन तत् प्रतिषिध्य सम्प्रति भ्रमर्युद्देशेन तस्य साफल्यं दर्शयितुमाह-एषेति । कुसुमनिषण्णा-पुष्पोपविष्टा, भवन्तं-त्वां प्रति; अनुरक्ता-अनुरागवती; एषा-पुरःस्थिता चित्रलिखिता बहिर्देशमाधवीलतासंस्थिता वा, मधुकरी-भ्रमरी भवत्पत्नीरूपेत्यर्थः, तृषितापि-पिपासितापि सती, प्रतिपालयति-भवन्तं प्रतीक्षते । ननु भ्रमरी मां प्रतिपालयतीति त्वया

(१) विदूषक—मित्र ! दुष्टों को दण्ड देनेवाले आप ही हैं, इसलिये आप ही इसे रोकने में समर्थ हों ।

(२) राजा—ठीक है । हे पुष्पित लता के प्रिय अतिथि ! तुम इस शकुन्तला के मुख पर गिरने का परिश्रम तथा कष्ट क्यों उठा रहे हो ?—

यह फूल पर बैठी और तुम पर आसक्त भ्रमरी प्यासी होकर भी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है, तुम्हारे बिना अकेली मधुपान नहीं करती ॥ २१ ॥

मिश्र—अत्यर्थं खलु वारितः (१)। (अदिअत्थं क्खु वारिदो।)

विदू—भोः ! प्रतिषिद्धवामा खलु एषा जातिः (२)। (भो ! पदिसिद्धवामा क्खु एषा जादो।)

राजा—[सकोपम्] भोः न मे शासने तिष्ठसि, श्रूयतां तर्हि सम्प्रति हि (३)—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।

कथमवगम्यते। इत्यत्राह—खलु—यस्मात्, त्वां विना, मधु-पुष्परसं, न पिबति—नास्वादयति। तस्मात्तत्रैव ते परिपतनं नितान्तमावश्यकमिति भावः। अत्र 'कुसुमनिषण्णा'इत्यनेनायत्नसाध्यं तत्स्थानमिति द्योत्यते। तृषिते'त्यत्र कुसुमोपवेशनादेवास्यास्तृपितत्वमिति बोध्यम्। 'प्रतिपालयति' इत्यनेन प्रेमातिशयो दर्शितः। अत्र नायकनायिकाव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः। आर्या जातिः॥ २१॥

(१) मिश्रेति। मिश्रकेशी सोपहासमाह—अत्यर्थमिति। अत्यर्थं खलु—अतिशयेनैव, वारितः—प्रतिषिद्धः भ्रमर इति शेषः। न किञ्चित् वारित इति भावः। सोल्लुण्ठनोक्तिरियम्।

(२) विदू इति। त्वया वारितोऽप्ययं न विरमतीत्याह—प्रतिषिद्ध इति। भो इति राजसम्बोधनम्। एषा जातिः—भ्रमरजातिः, प्रतिषिद्ध इति कर्मणि क्तः, वामत्वे प्रतिषिद्धेऽपीत्यर्थः,यद्वा भावे क्तः, प्रतिषेधेऽपीत्यर्थः, वामा—निषिद्धविषयानुष्ठायिनी; तस्य वारणे सत्यपि पुनस्तत्करणादिति भावः।

तथा च एष त्वदाज्ञां न बहु मनुते इति सारार्थः। विदूषकस्य सोपहासवाक्यमेतत्।

(३) राजेति। सकोपं—सक्रोधम्। अथ प्रतिषेधेऽपि चित्रस्थस्य तस्य निर्जीवतया विरुद्धाचरणापरित्यजनात् मोहात् तं प्रति क्रुद्ध आह—भो इति। इदं भ्रमरसम्बोधनम्। मे—मम, शासने—आज्ञायाम्, न तिष्ठसि—न वर्त्तसे। मम राज्ञः शासनाधीनो न भवसीति समुदितार्थः। अत्र काक्वा प्रश्नो गम्यते। ननु त्वदाज्ञालङ्घने पचिरूपस्य तस्य किं वा भविष्यतीत्यतो दण्डप्रदर्शनपूर्वकमाह-श्रूयतामिति। तर्हि-तदा, सम्प्रति हीति श्लोकेनान्वेति।

श्रोतव्यमाह—अक्लिष्टेति। हे भ्रमर ! अक्लिष्टः—भङ्गाद्यभावेनाम्लानः अशुष्क·

(१) मिश्रकेशी—वाह ! आपने खूब रोका।

(२) विदूषक—मित्र ! यह जाति ऐसी है कि रोकने पर भी वही काम करती है।

(३) राजा—(क्रोध के साथ) अरे ! मेरी आज्ञा का पालन नहीं करता, तो सुन—अम्लान एवं नूतन वृक्षपल्लव के समान प्रियतमा के सुन्दर होठों को मैंने भी

बिम्बाधरं दशसि चेद् भ्रमर ! प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥ २२ ॥

विदू—भोः ! (१) एवंतीक्ष्णदण्डस्य ते कथं न भेष्यति । [विहस्यात्म-

इति वा बालः-अभिनवोद्गतः, यः तरुपल्लवस्तमिव लोभनीयं लोभजनकम्, एतेन कोमलत्वलौहित्यातिशयो व्यज्यते, मया रतोत्सवेषु-सुरतोत्सवेषु निधुवनलीलास्वित्यर्थः, सदयमेव-अतिकोमलतया क्षयोदयादहढमेवेत्यर्थः, पीतं चुम्बितम्, प्रियायाः शकुन्तलायाः, बिम्बाधरं-पक्वबिम्बफलसदृशमोष्ठम्, चेत्-यदि, दशसि-दन्तक्षतं करोषि, तदा, त्वाम्, कमलोदरं-पद्माभ्यन्तरमेव बन्धनं-कारागृहं तत्र तिष्ठतीति तं तथाभूतं, कारयामि । केनचित् कर्मचारिणेति शेषः, परस्त्रीलम्पटपुरुषमिवेति भावः । अनेन सूर्यस्यापि तदाज्ञाकारित्वं ध्वन्यते । 'मये'त्यात्मनिर्देशेन उत्कण्ठातिशयो व्यज्यते । 'सदय' मित्यनेनाधरस्यातिकोमलत्वं द्योत्यते ।

अथ च पीतमप्यक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयमिति विधेयं विशेषणम् । तेन भ्रमरस्य दंशनहेतुत्वं गमयित्वा भ्रान्तिमानलङ्कारोऽपि प्रत्यायितः ।

'बिम्बाधरम्' इत्यत्र बिम्बसदृशमधरमिति मध्यमपदलोपी समासः । तथा च वामनः—'बिम्बाधर इति वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम्' इति ।

बिम्बेत्यादिना रक्तिमातिशयोऽधरस्य द्योत्यते । केचित्तु—

'कमलोदरबन्धनस्थम्' कमलस्य—जलस्य उदरम्—अभ्यन्तरम् तदेव बन्धनं तत्स्थम्–इति व्याचक्षते । कश्चित्तु—

कमलोदरस्येव बन्धनं—कमलोदरबन्धनं तेन तिष्ठतीति स तं—'पुटकनिहितम् इति यावत्–'इति व्याचष्टे तन्न; उत्तरत्र विदूषकवचसोऽसङ्गतेर्दुष्परिहरत्वात् ।

अत्र कमलोदरबन्धनस्य स्वाभाविकस्यापि स्वप्रयोजनविषयाध्यवसायित्वोक्तेरतिशयोक्तिः । तथा कार्यद्वारा भ्रमरे परस्त्रीलम्पटपुरुषव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिश्च । किञ्च प्रथमपादे बिम्बाधरमित्यत्र स समासगतलुप्तोपमालङ्कारः ।

अपि च कमलोदरबन्धनस्थमित्यत्र रूपकम् , कमलशब्दस्य जलरूपार्थकरणे श्लेषोऽपि । अत्र च नायकस्योन्मत्तावस्थावर्णनान्नानौचित्यं दोषः । तथात्रेदृशकर्तव्यनिर्देशात् तत्कारणसत्वाच्च व्यवसायो नाम विमर्शसन्धेरङ्गमुपन्यस्तम् । यथोक्तं दर्पणे–'व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः' । इति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥२२॥

(१) विदू इति । बालप्रलपितस्येव राजोक्तस्यातीवासारत्वमवगम्य सोपहास-

रतिकाल में दया के साथ पान किया था। हे भ्रमर ! उसके बिम्बतुल्य अधर को यदि तू निर्दयता से काटेगा तो मैं तुझे कमल-संपुट के कारागार में बन्द करा दूँगा ॥ २२ ॥

(१) विदूषक—सखे ! इस प्रकार तीक्ष्ण दण्ड देने वाले तुम से वह क्यों न डरेगा ?

गतम्] एष तावदुन्मत्तः, अहमपि एतस्य सङ्गेन ईदृश एव संवृत्तः। (भो एवं तिक्खदण्डस्स दे कधं ण भाइस्सदि ! एसो दाव उन्मत्तो, अहम्पि एदस्स सङ्गेण ईदिसो ज्जेव संवुत्तो ।)

राजा—निवार्यमाणोऽपि कथं स्थित एव (१)।

मिश्र—अहो ! धीरमपि जनं रसो विकारयति (२)। (अह्मो ! धीरम्पि जणं रसो विआरेदि ।)

माह-भो इति । एवम्-उक्तरूपः तीक्ष्णः-कठोरः दण्डो यस्मात् तस्य = उग्रशासनस्येत्यर्थः, ते-तव, शेषविवक्षया षष्ठी, कथं न भेष्यति-भयं करिष्यति । सुकुमारोऽयं दण्ड इति भावः । विहस्येति । स्वावस्थाया अनुसन्धानाद्धासः । यद्वा चित्रस्थमचेतनमपि दण्डयतीति हासः । एषः-राजा, उन्मत्तस्तावत्-उन्मत्त एव, तावदित्यवधारणे । एतस्य-उन्मत्तस्य, सङ्गेन-संसर्गेण; ईदृश एव-उन्मत्त एव, संवृत्तः, सञ्जातः । अत एव 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' इत्यभियुक्ता वदन्ति ।

(१) राजेति । निवार्यमाणोऽपि-प्रतिषिध्यमानोऽपि, स्थित एव भ्रमर इति शेषः ।

(१) मिश्रेति । रसः प्रवासविप्रलम्भाख्यः श्रृङ्गारः, धीरमपि-स्वभावतो धैर्यशालिनमपि जनम्, विकारयति-अन्यथयति । अत एव शकुन्तलाविप्रलम्भः सातिशयधैर्यशालिनमपि राजानमुन्मत्तं चकारेति भावः । अत्राहुः—

विप्रलम्भोऽथ सम्भोग इत्येष द्विविधो मतः ।
यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ ॥
स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्द्धा स्यात् ।

तथा—प्रवासो भिन्नदेशत्वं कार्याच्छापाच्च सम्भ्रमात् ॥ इति ॥

नन्वत्र रसस्य स्वशब्देन प्रयोगात् स्वशब्दोक्तिदोष आपततीति चेन्न; रसत्वेनानुभूयमानस्यैव स्वशब्दोक्तौ तद्दोषाङ्गीकारात् । अन्यथाभिधानादावपि पर्यायतया श्रृङ्गारादिशब्दोक्तेस्तद्दोषप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । प्रकृते मिश्रकेश्या तस्य रसत्वेनाननुभूयमानत्वादिति वागीशाः । अत्रेदमवधेयम्—इदानीमपि मिश्रकेश्या भ्रमरे तात्त्विकत्वबुद्धिरस्त्येव पतङ्गस्य तस्यापसरणे राज्ञः प्रयासाधिक्यदर्शनात्, तेनैवमुच्यत-इति । इति पञ्चाननाः प्राहुः । अत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः ।

(हँस कर स्वगत) ये तो पागल हो ही गये हैं और इनके साथ मैं भी पागल हो चला हूँ ।

(१) राजा—मैं रोक रहा हूँ, फिर भी यह बैठा ही है ।

(२) मिश्रकेशी—अहो ! गम्भीर पुरुष को भी प्रेम पागल कर देता है । (आश्चर्य से)

विदू—[प्रकाशम्] भोः ! चित्रं खल्वेतत् (१)। (भो ! चित्तं क्खु एदं ।]

राजा—कथं चित्रम् (२) !

मिश्र—अहमपि इदानीमवगतार्था, किं पुनर्यथाचिन्तितानुसारी एषः (३)। (अहम्पि दाणिं अवगदत्था, किं उण जधाचिन्तिदाणुसारी एसो ।)

राजा—किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् (४) ?

(१) विदू इति । पूर्वमात्मगतोक्तेरेवावशिष्टभागं विदूषकमुखेन प्रकाशयितुं कविराह—प्रकाशमिति । सुस्पष्टमित्यर्थः । चित्रं निर्जीवमालेख्यम् । अत एव तव वारणेन कथं वा गच्छेदिति भावः ।

(२) राजेति । कथमिति सम्भ्रमे । चित्रं—निर्जीवमालेख्यम् । एतावत्कालं व्याप्य मयैतत्तात्त्विकतयाऽवधारितमिति भावः ।

(३) मिश्रेति । अथ मिश्रकेशी राज्ञोऽनवगतार्थत्वं सङ्गच्छत इत्याह—अहमिति । इदानीम्—अस्मिन्नेव समये, अवगतार्था—अवगतः—चित्रत्वेन ज्ञातःअर्थः—भृङ्गादिरूपं वस्तु यया सा तथोक्ता । इतः पूर्वं तु ममापि तात्त्विकत्वबुद्धिरासीदिति भावः । यथाचिन्तितानुसारी—यथाचिन्तितं—मनसा यादृशं कल्पितं तत्वत इव तदनुसारी त्यर्थः, एषः—राजा, पुनः किं—किं वक्तव्यः । तथा च शकुन्तलामुत्कटं चिन्तयन् राजा तन्मयतया चित्रे तात्त्विकभावनां कर्तुमर्हत्येव यतः शकुन्तलासम्बन्धे तादृशचिन्ता· शून्याप्यहमितः पूर्वं चित्रे तात्त्विकभ्रमवत्येवासमित्याशयः ।

(४) राजेति । किं—किमर्थम्, इदं पौरोभाग्यं-दोषैकदर्शित्वम्, 'दोषैकदृक् पुरोभागी' इत्यमरः । येन कर्मणानुष्ठितेन । केवलं दोष एव जायते न पुनर्गुणस्तत्कर्म-प्रियत्वमित्यर्थः, अनुष्ठितम्—आचरितम् । तथा च चित्रं खल्विदमिति कथनेन त्वया केवलं मम विरहदुःखमेवोत्तेजितं न पुनरन्यत् किञ्चित् फलं सम्पादितमिति भावः । अनेन तस्य दोष एव लक्ष्यते ।

(१) विदूषक—(प्रकट) सखे ! यह चित्र है ।

(२) राजा—हाँ, यह तो चित्र है ।

(३) मिश्र०—मैं भी अब समझ सकी कि यह चित्र है, तब शकुन्तला के विचार में मग्न ये ऐसा करते हैं तो आश्चर्य ही क्या है !

(४) राजा—मित्र ! यह तुमने कौन सी मूर्खता कर दी ?—

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥ २३ ॥

[इति बाष्पं विसृजति ।]

मिश्र—पूर्वापरविरुद्धः अपूर्व एष विरहिमार्गः (१)। (पुव्वापरविरुद्धो अपुव्वो एसो विरहिमग्गो ।)

पौरोभाग्यमेव प्रतिपादयितुमाह–दर्शनेति । तन्मयेन–कान्तामयेन, हृदयेन–मनसा, इयमेव मे प्रिया शकुन्तलेति बुद्ध्येति भावः, सारूप्ये मयट् , साक्षात्–प्रत्यक्षत इव; 'साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः' इत्यमरः, दर्शनसुखं–प्रियावलोकनानन्दम्, अनुभवतः उपलभमानस्य, मे–मम, स्मृतिकारिणा–आलेख्यकान्तेयमिति स्मृतिं कारितवता त्वया, पुनरपि–भूयोऽपि मध्येऽन्यथात्वादिति भावः, चित्रीकृता–अनुभववशाच्चित्रमयी स्थिता चित्रमयीकृता, आलेख्यतया धीविषयीकृतेत्यर्थः। अथवा चित्रीकृता—साश्चर्यीकृतेत्यर्थः 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः ।

तथा च आलेख्ये प्रकृतशकुन्तलां विभाव्य दर्शनानन्दमनुभवतो मे सम्प्रति त्वत्कृतस्मरणेन भ्रमापगमे सति चित्रमेवेदमिति तत्त्वावधारणान्महानेव विषादः समुत्पन्न इति त्वया पौरोभाग्यमेव त्वनुष्ठितमिति भावः ।

अत्र पूर्वार्द्धे साक्षादिवेत्यत्रोत्प्रेक्षा, इयं हि वाच्या, चित्रीकृतेत्यत्र च सैव गम्या । तथा स्मृतिकारिणा चित्रीकृतेति शब्दशक्तिमूलो विरोधाभासो व्यङ्ग्यः ।

सरस्वतीकण्ठाभरणे भोजराजेन तु 'परप्रयत्नादपि स्मरणे स्मरणालङ्कारः' इत्युक्त्वा स्मरणालङ्कारे पद्यमिदमुदाहृतम् । यत्र 'दर्शनसुखमनुभवतः' इति परिवर्त्तनेन 'दर्शनपथमायाता' इति पाठान्तरमुपलभ्यते ।

केचित्तु—अविकलसाम्यवशात् चित्रे राज्ञः शकुन्तलाभ्रमोत्पत्तेरत्र भ्रान्तिमान् अलङ्कारः । तथा प्रथमार्द्धे हर्षस्य द्वितीयार्द्धे च विषादस्येत्युभयोर्भावयोः सन्धिर्विप्रलम्भशृङ्गारस्याङ्गमिति भावसन्धिरपीत्याहुः । आर्या जातिः ॥ २३ ॥

इतीति । विसृजति—विमुञ्चति, विरहतीति पाठे स एवार्थः ।

(१) मिश्रेति । पूर्वापरविरुद्धः–पूर्वापरयोः–अतीतवर्त्तमानयोः कालयोः विरुद्धः–विश्लिष्टः—परस्परविपरीत इति यावत्, 'विरोधो विद्वेषः' इत्यमरः, एषः—दृश्यमानः विरहिमार्गः—विरहिणः—वियोगिनः राज्ञ इति यावत् मार्गः—अवस्था,

---

मैं तन्मयभाव से मानों साक्षात् शकुन्तला का दर्शन कर रहा था किन्तु तुमने मुझे स्मरण करा कर मेरी कान्ता का चित्र बना दिया ॥ २३ ॥

(ऐसा कह कर आँखों से आँसू बहाने लगता है)

(१) मिश्र—पूर्वापर सम्बन्ध से हीन विरही का एक विचित्र ही मार्ग है ।

राजा—वयस्य ! कथमेवमविश्रामं दुःखमनुभवामि (१) ।

प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्याः स्वप्नसमागमः ।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥ २४ ॥

मिश्र—सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं प्रियसख्याः प्रत्यक्षमेव सखीजनस्य (२) । (सव्वधा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं पिअसहीए पच्चक्खं ज्जेव सहिजणस्स ।)

अत एव अपूर्वः—अभिनवः आश्चर्यं इति वा । तथा च पूर्वं हि आस्थया प्रियायाः परिग्रहः पश्चाद् व्यभिचारिणीसम्भावनया अनास्थया परित्यागः पुनरिदानीं विस्मयो भावः ।

(१) राजेति । अथ आलेख्यदर्शनादिविनोदस्यापि बाष्पादिना प्रतिहननात् सखेदमाह—वयस्येति । वयस्येतिसम्बुद्ध्या त्वमेवात्र शरणमिति गम्यते । अविश्रामम् अनवरतम् । निरन्तरम् दुःखं सोढुं न शक्नोमीत्यर्थः ।

प्रजागरादिति । प्रजागरात्—प्रकर्षेण जागरणाद्धेतोः, तस्याः—शकुन्तलायाः स्वप्नसमागमः—स्वप्नावस्थायामपि सङ्गमः खिलीभूतः—निरुद्धः । तु पुनः, बाष्पः—नयनजलम्, चित्रगताम्—आलेख्यगतामपि, एनां—शकुन्तलाम्, द्रष्टुं न ददाति नयनावरणादिति भावः । प्रजागरादित्यनेन शकुन्तलास्मरणात् प्रतिरात्रमेव निद्रायां व्याघात इति ध्वन्यते । चित्रगतामपीत्यपिना साक्षाद्दर्शनं पुनरतिदुर्लभमेवेति द्योत्यते । अत्र जागरणबाष्परूपाभ्यां हेतुभ्यामनिद्राऽदर्शनरूपयोर्हेतुमतोरभेदेनाभिधानाद्धेतुरलङ्कारः । 'भेदेनाभिधाहेतुर्हेतोर्हेतुमता सह' इति दर्पणोक्तलक्षणात् ।

इह च दर्शनसुखमित्यारभ्यैतत्पर्यन्तराजवाक्ये सुखानुभवकार्यं प्रति विघ्नप्राप्तेर्विरोधनं नाम विमर्शसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम् । तल्लक्षणं यथा दर्पणे—

'कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम्' ॥ इति ॥ पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २४ ॥

(२) मिश्रेति । सर्वथा-सर्वतोभावेन भृशमित्यर्थः । सखीजनस्य-मम, प्रत्यक्षं-समक्षमेव, प्रियसख्याः—शकुन्तलायाः प्रत्यादेशः प्रत्याख्यानं तज्जनितं यद् दुःखं—

---

(१) राजा—वयस्य ! मैं इस तरह अनवरत दुःख क्यों भोग रहा हूँ ?—

रात्रि को जागते रहने के कारण स्वप्न में भी शकुन्तला का दर्शन नहीं होता और उस पर ये आँसू चित्रगत शकुन्तला को भी नहीं देखने देते ॥ २४ ॥

(२) मिश्र—उसकी सखी के (मेरे) सामने इस प्रकार अपना भाव प्रदर्शन कर आपने शकुन्तला के त्याग का सारा दुःख दूर कर दिया ।

चतुरिका—[प्रविश्य] जयतु जयतु भर्त्ता ! वर्त्तिकाकरण्डकं गृहीत्वा इतोऽहं प्रस्थिताऽस्मि (१)। (जेदु जेदु भट्टा । वत्तिआकरण्डअं गेण्हिअ इदो अहं पत्थिदम्हि ।]

राजा— ततः किम् ? (२)

चेटी—तन्मे हस्तात् पिङ्गलिकावेदितया देव्या वसुमत्या अहमेवार्यपुत्रस्य उपनेष्यामीति भणित्वा सबलात्कारं गृहीतम्(३) ?। (तं मे हत्थादो पिङ्गलिआवेदिआए देवीए वसुमदोए अहं ज्जेव अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति भणिअ सबलक्कारं गहोदं ।

क्लेशस्तदित्यर्थः, त्वया प्रमार्जितं—क्षालितम्, तदर्थं ईदृशानुरागप्रदर्शनादिति भावः। तथा चैतच्छ्रुत्वा तस्या अण्वपि दुःखं न स्यादिति हृदयम् ।

यद्वा मिश्रकेशी राज्ञस्तादृशीं दशामवलोक्य सकरुणमाह—सर्वथेत्यादि । सर्वथा-वाङ्मनःकायिकैर्व्यापारैः, प्रियसख्याः—शकुन्तलायाः प्रत्यादेशेन—निराकरणेन यदस्माकं दुःखं तदित्यर्थः, सखीजनस्य—मम प्रत्यक्षं—समक्षमेव प्रमार्जितं—तद्दुःखादपि एवमधिकदुःखानुभवदर्शनादिति भावः। मया कथयिष्यमाणेनैतद्वृत्तान्तेन तव प्रेमातिशयमवगम्य सा प्रत्यादेशदुःखं परित्यक्ष्यतीति वाभिप्रायः। प्रमृष्टमिति भाविनोऽर्थस्य भूतत्वेन निर्देशोऽविलम्बं द्योतयति ।

(१) चतुरिकेति । वर्त्तिकानयनाय नियुक्तपूर्वा चेटी चतुरिका । वर्त्तिकाकरण्डकम्—वर्त्तिकायाः—चित्रलेखनसाधनीभूतायाः तूलिकायाः करण्डकं—पेटकम् । 'करण्डो वंशादिकृतपेटके मधुकोषके' इति शब्दार्णवः । इतः—अस्यां दिशि, भवदधिष्ठितप्रदेश इत्यर्थः

(२) राजेति । ततः किं सञ्जातमिति शेषः, तत्कथयेति हृदयम् ।

(३) चेटीति । चतुरिकेति बोध्यम् । पिङ्गलिकावेदितया—पिङ्गलिका—तदाख्या काचित् अपरा चेटी; तथा आवेदितया—'अन्यां काञ्चिद्रमणीं चित्रयितुं—स्वामिनो नियोगाच्चतुरिका वर्त्तिकाकरण्डकं नयति' इति, विज्ञापितया, देव्या—कृताभिषेकया, वसुमत्या—तदाख्यया राज्या कर्त्र्या, अहं—वसुमत्येव, आर्यपुत्रस्य—स्वामिनो दुष्य-

---

(१) चतुरिका—(आकर) महाराज की जय हो—जय हो । तूलिका की पेटी लिये मैं यहाँ आ रही थी ।

(२) राजा—तब क्या हुआ ?

(३) चेटी—दासी पिंगलिकाने रानी वसुमती को यह खबर दे दी थी, इस कारण 'मैं ही इसे आर्यपुत्र के पास ले जाऊँगी' कह कर जबर्दस्ती वह पेटी छीन ले गयीं ।

विदू—त्वं कथं विमुक्ता (१) (तुमं कधं विमुक्का ।)

चेटी—यावद् देव्या लताविटपलग्नम् उत्तरीयाञ्चलं पिङ्गलिका मोचयति, तावत् निह्नुतो मया आत्मा (२)। (जाव देवीए लदाविडवलग्गं उत्तरीअञ्चलं पिङ्गलिआ मोआवेदि, दाव णिह्नविदो मए अप्पा)।

राजा—वयस्य ! उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च; तत् भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु (३)।

न्तस्य, उपनेष्यामि-समीपे प्रापयिष्यामि, इति एतत् , भणित्वा-उक्त्वा, सबलात्कारं-हठकारितया, बलपूर्वकमित्यर्थः, मदीयेच्छाया असद्भावेऽपीति भावः, मे—मम चतुरिकायाः, हस्तात्-करात् , तत् वर्त्तिका-करण्डकं, गृहीतं-नीतम् ।

अहमित्यादिकं उपनेष्यामीत्यन्तको वसुमतीवाक्यानुवाद इति मन्तव्यम् ।

अत्र राज्ञो विनोदार्थं वर्त्तिकाकरण्डकनयनं शकुन्तलाप्रतिकृतिलेखनोपयोगि भवेदिति मत्वा प्रणयकोपेन तद्विघटनायैव वसुमत्येदमाचरितमिति कोपानुभावो द्योत्यते।

(१) विदू इति । विमुक्ता वसुमतीहस्तादिति शेषः ।

(२) चेटीति । लताविटपलग्नम् लतायाः विटपे शाखायां लग्नं—संसक्तम्; कोपेन ससंभ्रमगमनादिति भावः, देव्याः-वसुमत्याः उत्तरीयाञ्चलं-पूर्वकायांशुकम्, यावत्—यत्कालं, तरलिका मोचयति-विटपाद्वियोजयति । यावद्योगे लट्। तावत्—तत्कालमुभयोस्तयोरन्यासक्ततया तस्मिन्नेवावसरे इत्यर्थः, मया आत्मा स्वदेहः, 'आत्मा देहमनोब्रह्मस्वभावधृतिबुद्धिषु' इति विश्वः, निह्नुतः-ततो निर्गमनान्नोपायितः ।

(३) राजेति । अथ राजा वसुमत्या आगमनमाकर्ण्य दाक्षिण्येन सञ्जातभीतिः शकुन्तलाप्रतिकृतिगोपनाय वयस्यमाह-वयस्येत्यादि । उपस्थिता—उपस्थितप्राया, देवी-वसुमती, सा च बहुमानगर्विता-बहुमानेन-मत्कर्तृकेणात्यादरेण गर्विता—जातगर्वा । प्रतिकृतिं-शकुन्तलायाः प्रतिमूर्त्तिम्, रक्षतु-कुत्रचिद् गोपायतु । अथवा एनां गृहीत्वा भवानपयातु इति वार्थः। यदि सा एतदवस्थं मामवलोकयेत्तदा महानर्थं घटयिष्यति; किञ्च कुपितायाः पुनस्तस्याः प्रसादनं मम दुर्घटमेव स्यादिति भावः। अनेन प्रकृतेरप्यपायः शङ्कनीय इति वस्तु द्योत्यते ।

---

(१) विदू०—तो फिर तुम कैसे छूटी ?

(२) चेटी—पिंगलिका लता की शाखा में उलझी हुई महारानी की साड़ी छुड़ाने लगी, इसी बीच में छिप गई ।

(३) राजा—वयस्य ! अधिक आदर पाने से गर्विता रानी वसुमती आ रही है । इस लिए तुम इस चित्र की रक्षा करो ?

विदू—आत्मानमपि किमिति न भणसि। यदि भवानन्तःपुर-कूटवागुरातो मोक्ष्यते, तदा मेघच्छन्नप्रासादे शब्दायिष्यते। इदञ्च तत्र गोपायामि, यत्र पारावतमुज्झित्वा अन्यः कोऽपि न प्रेक्षिष्यते। [चित्रफलकमादायोत्थाय च] (उत्ताणम्पि किंत्ति ण भणासि। जइ भवं अन्तेउर-कूड-वागुरादो मुञ्चिस्सदि, तदो मं मेहच्छण्णप्पासादे सद्दाविस्सदि; एदञ्ज तहिं गोवाएमि; जहिं पारावदं उज्झिअ अण्णो कोवि ण पेक्खिस्सदि) [इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः] (१)

अत्रावशिष्टचित्रणव्यापारोपसंहारप्रदर्शनात् विमर्शसन्धेः प्ररोचनानामाङ्गमुपन्यस्तम्। 'प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी।' इति दर्पणोक्तेः।

(१) विदू इति। देव्या आगमनश्रवणेन सम्भ्रान्त आह—आत्मानमिति। आत्मानं-मामपि, रक्षतु इति शेषः, न केवलं प्रतिकृतिमिति भावः, इति-एवम्, किं कथम्, न भणसि-न कथयसि, प्रतिकृतिरक्षावदात्मरक्षाया अपि देवीसकाशात् करणीयत्वादिति भावः। अत्रात्मपदेन विदूषको राजा चेत्युभयमपि गृह्यते। तेन प्रतिकृतिरक्षणेनोभावपि रक्षितौ स्यातामिति तात्पर्यम्। सोल्लुण्ठनोक्तिरियम्।

अन्तःपुरकूटवागुरातः—अन्तःपुरस्य-अन्तःपुरवर्त्तिन्या देव्याः कूटं-माया तद्रूपा या वागुरा—जालं तत इति विग्रहार्थौ, यद्यपि वागुराशब्दो 'वागुरा मृगबन्धनी' इत्यमरसिंहवचनात् मृगबन्धनजालमात्रार्थपरः, तथापि स्वसंलक्षणयात्र जालमात्रं लक्षयति। अथवा अन्तःपुरम्—अवरोधवर्त्तिनी रमणी तव कूटवागुरा—यन्त्रमयमृगबन्धनोपायस्तस्याः 'मायानिश्चलयन्त्रेषु' इति प्रस्तुत्य 'सीराङ्गे कूटमस्त्रियाम्' इत्यमरः, एकदेशविवर्त्तिरूपकम्, एतेन राज्ञो मृगरूपत्वं व्यज्यते, मोक्ष्यते—परित्राणं प्राप्स्यति। मेघच्छन्नप्रासादे—मेघच्छन्नो नाम दिग्दर्शनार्थमत्युन्नतप्रासादः राजसदनविशेषस्तस्मिन्, अनेन तस्य गोपनस्थानत्वं सूच्यते, शब्दायिष्यते-आमन्त्रयिष्यते, रहःस्थानतया तत्रैवाहं गच्छामीत्यभिप्रायः। इदं—चित्रफलकम्, तत्र-तस्मिन् मेघच्छन्नप्रासादे, गोपायामि—प्रच्छादयामि। यत्र यस्मिन् स्थाने, पारावतं-कपोतम्, उज्झित्वा-विहाय, अन्यः कोपि-जनः, न प्रेक्षिष्यते-नव द्रष्टुं शक्ष्यति; केवलं पारावतगणो द्रष्टुं शक्ष्यति यदि शक्ष्यत्येव; प्रासादस्यात्यौन्नत्यान्निर्जनत्वाद् दुरभिगम्यत्वाच्चेति भावः। द्रुतं-शीघ्रं पदं-पादविहरणं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा क्रियाविशेषणमेतत्।

(१) विदू०—'अपनी भी रक्षा करो' ऐसा क्यों नहीं कहते ? (चित्रफलक लेकर और खड़ा होकर) जब तुम अन्तःपुर के जाल से छूटो तो मुझे उस मेघाच्छादित प्रासाद पर पुकारना। मैं इस चित्र को ऐसे स्थान पर छिपाऊँगा, जहाँ कबूतरों के सिवाय और कोई देख ही नहीं सकेगा (यह कहकर जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाता चला जाता है)

मिश्र—अहो अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसम्भावनं रक्षति; स्थिर-सौहृदस्तावदेषः (१)। (अह्मो ! अण्णसंकन्तहिअओ वि पढमसम्भावणं रक्खदि-थिरसोहिदो दाव एसो ।)

[प्रविश्य पत्रहस्ता प्रतीहारी ।] जयतु जयतु देवः (२) (जेदु जेदु देवो)।

राजा—वेत्रवति ! न खल्वन्तरे त्वया दृष्टा देवी ? (३)।

प्रती—देव ! दृष्टा, पत्रहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता (४)। (देव ! दिट्ठा, पत्तहत्थं मं पेक्खिअ पडिणिउत्ता ।)

राजा—कार्यज्ञा देवी, कार्योपरोधं मे परिहरति (५)

---

(१) मिश्रेति। राज्ञो वचनेन तस्यासाधारणं दाक्षिण्यमवगत्य सविस्मयं श्लाघते—अहो इति। अन्यसंक्रान्तहृदयः-अन्यस्यां—नायिकायां शकुन्तलायां संक्रान्तं संसक्तं हृदयं चेतो यस्य स तथोक्तः सन्नपि; प्रथमसम्भावनम्-पूर्वप्रणयं पूर्वस्त्रीप्रेमेत्यर्थः रक्षति, अत एव स्थिरं-दृढं सौहृदं-प्रणयो यस्य तादृशः, अप्रचलितस्नेहः। तथा च सर्वथा प्रशंसनीय एवायमिति भावः। एतेन राज्ञो दाक्षिण्यं द्योत्यते।

(२) अथ राज्ञः प्रस्तुतविरहवेदनायाः परिपोषं प्रदर्शयितुमनपत्यतादुःखं वर्णयिष्यन् कविः प्रतीहार्याः प्रवेशमाह—प्रविश्येत्यादिना ।

(३) राजेति। खल्विति प्रश्ने। अन्तरे—पथिमध्ये। देवी—वसुमती।

(४) प्रतीति। दृष्टा—पथिमध्ये देवी वसुमतीति शेषः। पत्रहस्तां—करधृतपत्राम्, मां-भवन्तमुपगच्छन्तीम् इति शेषः। प्रतिनिवृत्ता—ततः प्रत्यावृत्य गता।

(५) राजेति। कार्योपरोधपरिहारेच्छां प्रतिनिवृत्तौ हेतुं वर्णयन् देवीं श्लाघते—कार्यज्ञेति। कार्यं—करणीयं जानाति या सा तथाविधा, कार्याकार्यविवेकवती, कार्यगौरवज्ञा कार्यावसरज्ञा वेत्यर्थः। हेतुगर्भविशेषणमिदम्। देवी—वसुमती। अत एव मे-मम, कार्योपरोधं-कार्यविरोधम्, कार्यविघ्नमिति यावत्, परिहरति-परित्यजति। राजकार्यविघ्नजननमकार्यमिति मत्वा निवर्त्तितेत्यर्थः। अयमाशयः—पत्रहस्तां प्रतीहारीमवलोक्येयं राजान्तिकमेव गच्छति तत्र किञ्चिद्राज्यसम्बन्धि

---

(१) मिश्र०—आश्चर्य की बात है। यद्यपि इनका हृदय अन्यनायिका पर आसक्त है, फिर भी ये अपने प्रथम आदर की रक्षा कर रहे हैं। निःसन्देह इनका प्रेम चिरस्थायी है।

(२) प्रतीहारी—(हाथ में पत्र लिये आकर) महाराज की जय हो-जय हो।

(३) राजा—वेत्रवति ! तूने रास्ते में महारानी को तो नहीं देखा था ?

(४) प्रतीहारी—देव ! देखा था। मेरे हाथ में पत्र देखकर वे लौट गयीं।

(५) राजा—महारानी कार्य को समझती हैं, इसी कारण मेरे काम में बाधा डालने से दूर रहती हैं।

प्रती—देव ! अमात्यो विज्ञापयति अद्य राज्यकार्यस्य बहुलतया एकमेव मया पौरकार्यं प्रत्यवेक्षितम्, तत् देवः पत्रारोपितं प्रत्यक्षीकरोतु इति (१)। (देव ! अमच्चो विण्णवेदि अज्ज रज्जकज्जस्स बहुलदाए एक्कं ज्जेव मए पोरकज्जं पच्चवेक्खिदं, तं देवो पत्तारोविदं पच्चक्खीकरेदुत्ति ।)

राजा—इतः पत्रं दर्शय (२)।

प्रती—[उपनयति] (३)।

राजा—[वाचयति] विदितमस्तु देवपादानाम्, धनवृद्धिर्नाम वणिक् (४)।

कार्यमस्ति एवञ्चेदानीं ममोपस्थितौ तु कार्ये विघ्नसम्भावना स्यादिति मत्वा देवी प्रतिनिवृत्तेति बोध्यम् ।

(१) प्रतीति । अथ पौरकार्यराज्यकार्ययोर्नृपामात्याभ्यां विभागेन प्रत्यवेक्षणीयत्वेऽपि राज्ञो विमनस्कतया 'वेत्रवति ! मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि अद्य चिरप्रबोधान्न सम्भावितमस्माभिर्धर्मासनमध्यासितुम्, यत् प्रत्यवेक्षितमार्येण पौरकार्यं तत् पत्रमारोप्य प्रस्थाप्यतामिति' पूर्वोक्त्या तद्दिने पौरकार्यावेक्षणभारस्यापि मन्त्र्युपरि विन्यस्ततया तत्राह—अद्येति । 'अमात्यो विज्ञापयति' इत्यस्य वक्ष्यमाणं 'प्रत्यक्षीकरोतु इति' एतद्वाक्यं कर्म । अद्य—भवदनुपस्थितिदिवसे, राज्यकार्यस्य—नियमेन मम प्रत्यवेक्षणीयस्य राज्यरक्षणहेतुभूतसामादिकार्यस्य बहुलतया—अधिकतया, एकमेव—तदधिकप्रत्यवेक्षणानवसरत्वादेकमात्रम्, पौरकार्यं—भवत्प्रत्यवेक्षणीयं पुरवासिनां कार्यम् । वक्ष्यमाणसार्थवाहवृत्तान्तस्य प्रकृतिकार्यतया राज्यकार्यत्वेऽपि तस्य सार्थवाहस्य स्वपुरवासित्वेन तद्घटितकार्यस्य पौरकार्यत्वमेवेति मन्तव्यम् । पत्रारोपितं—पत्रे लिखितम्, प्रत्यक्षीकरोतु—विलोकयतु । विभावयत्वित्यर्थः ।

(२) राजेति । इतः—ममान्तिके इत्यर्थः ।

(३) प्रतीति । उपनयति—राज्ञो हस्ते पत्रमर्पयतीत्यर्थः ।

(४) राजेति वाचयति—पठति । पत्रलिखितमिति शेषः । तदेवाह—विदितमित्यादि । देवपादानां—नरपतिचरणानाम्, अत्र पादशब्देन देवपदवाच्यस्य राज्ञो

---

(१) प्रतीहारी—देव ! मन्त्री जी कहते हैं—आज राज्य-कार्य अधिक था, इस कारण केवल एक ही पौरकार्य देख सका हूँ । उसे इस पत्र में लिख दिया है । श्रीमान् देख लें ।

(२) राजा—इधर आकर पत्र दिखाओ ।

(३) प्रतीहारी—(लाता है)

(४) राजा—(पढ़ता है) महाराज को मालूम हो कि जलपथोपजीवी कोई एक धनवृद्धि नाम का बनिया नौका डूब जाने के कारण मर गया है । उसके कोई सन्तान नहीं है

वारिपथोपजीवी नौव्यसनेन विपन्नः, स चानपत्यः, तस्य चानेककोटि-संख्यं वसु, तदिदानीं राजस्वतामापद्यते इति श्रुत्वा देवः प्रमाणम् इति ।

[सविषादम्] कष्टं खल्वनपत्यता । वेत्रवति ! महाधनतया बहु (१)-

भवत्यतिशययोर्द्वयत्वं बहुवचनेन च गौरवाधिक्यं ध्वन्यते, विदितमस्तु-ज्ञातमस्तु, अत्र वर्त्तमाने क्तप्रत्ययात् कर्त्तरि षष्ठी । वारिणः पन्था इति वारिपथः 'ऋक्पूरब्धूः-पथाम्' (पा०) इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः; तेन उपजीवतीति वारिपथोपजीवी-समुद्रादिजलपथे वाणिज्यार्थं नौकापरिचालनेन जीविकानिर्वाहीत्यर्थः, वणिक्-पण्याजीवः, 'वाणिजो वणिक् । पण्याजीव' इत्यमरः । नौव्यसनेन-नावः-नौकायाः व्यसनं—विपत् जलमज्जनमिति यावत् तेन, 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे' इत्यमरः । विपन्नः-मृतः । सः-वणिक् च, अनपत्यः-निःसन्तानः, न पतति वंशो येन जातेन तदपत्यं तस्माद् वञ्चित इत्यर्थः । तस्य-वणिजश्च, अनेककोटिसंख्यम्-अनेकाः-बह्वयः कोटयः संख्या यस्य तत् तादृशम्, वसु-धनम्, अस्तीति शेषः, 'रिक्थमृक्थं धनं वसु' इत्यमरः । तत्-वसु, इदानीं-धनवृद्धेर्देहान्तात् परम्, राज-स्वतां-राजस्वामिकताम्, आपद्यतेऽप्नोति । अत्राह मनुर्भगवान्—

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।
तदभावे सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥
सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभोगिनः ।
त्रैविद्याः शुचयो दान्ता एवं धर्मो न हीयते ॥
अहार्यं ब्राह्मणधनं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ।
इतरेषान्तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ इति ॥

तथा च धनवृद्धेः शूद्रतयाचार्यशिष्ययोरसम्भवेन त्रैविद्यब्राह्मणाधिकारस्य च ब्राह्मणधनगोचरत्वस्य पारिशेषिकत्वेन तद्धने राज्ञ एवाधिकारः इति स्मृतिसिद्धा-न्तादिति भावः । इति श्रुत्वा-श्रवणविषयीकृत्य, देवः-भवान्, राजा, प्रमाणं—कर्त्तव्य-तानिश्चयकृत्, 'प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमातृषु' इत्यमरः तद्धनं किं भवत्स्वा-मिकत्वेन कोषागारमानेष्यामोऽथवाऽन्यथा किञ्चित् कुर्म इति देवो निर्द्धारयत्वि-त्यर्थः । इति देवपादानां विदितमस्त्विति योजना ।

(१) सविषादमिति । सखेदमित्यर्थः । अथ राजा धनवृद्धेरनपत्यतया सह तामवस्थां विचिन्तयन् जातस्वानपत्यतास्मृतिः सविषादमाह—कष्टमिति । कष्टं-

और उसके पास कई करोड़ का धन है । वह धन अब से राजसम्पत्ति माना जा रहा है, यह सुन कर आप कर्तव्य का निश्चय करें ।

(१) [विषाद के साथ] सन्तान का न होना भी बड़े कष्ट का विषय है । वेत्रवति !

पत्नीकेनानेन भवितव्यम् , तदन्विष्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वास्य भार्या स्यात् ।

प्रती—इदानीमेव साकेतपुरस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना तस्य जाया श्रूयते (१)। (दाणिं ज्जेव साकेदउरस्स सेट्ठिणो दुहिदा णिव्वुत्तपुंसवणा

दुःखम्, कार्यकारणयोरभेदोपचारात् कष्टकारणमित्यर्थः। अनपत्यता सर्वेषां हि दुःखातिशयकारिणीति तात्पर्यम् । वेत्रवतीति प्रतीहार्याः सम्बोधनम् । महाधनतया-बहुधनतया कोटीश्वरत्वेनेति यावत् , अनेन-धनवृद्धिना, बहुपत्नीकेन बह्वयः—अनेकाः पत्न्यः भार्याः यस्य तेन 'नद्यृतश्च' इति (पा०) कप् प्रत्ययः पुंवद्भावश्च, भवितव्यमिति भावे तव्यप्रत्ययः। तत्-तस्मात् । अस्य-धनवृद्धेः, काचित् भार्या, आपन्नम्-उदरे प्राप्ते सत्त्वं-जन्तुर्यया सा आपन्नसत्त्वा-गर्भिणी स्यात् , 'आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः। तदा तद्धनस्य राजस्वत्वाभावेनास्माभिरग्राह्यत्वमेव तस्याः पुत्रप्रसवस्य सम्भवे तद्धनस्य पुत्रेणैव प्राप्यत्वात् तत्र लोभवशेनास्माभिस्तद्ग्रहणे वृत्तिलोमेनास्माकं गुरुतरपापसम्भवात्। तथा च कृतयुगे मानवधर्मस्यैव धर्मे प्रमाणतया मनुना च दायाधिकारक्रमे पत्न्यधिकारत्वस्य नाभिहितत्वात् तस्य भार्यासद्भावेन गर्भान्वेषणं राजा कृतम्, पूर्वं तु मन्त्रिणा तदनुसन्धानमकृत्वैव तद्धने नृपस्वामिकत्वं निरूपितमिति सर्वमनवद्यम्।

ननु सत्ये मानवधर्मस्यैव कथं धर्मे प्रमाणत्वम् । तत्राह—

'कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः ।
द्वापरे शङ्खलिखितः कलौ पाराशरः स्मृतः ॥ इति ।

गर्भसत्त्वस्य धनाधिकारे व्यवस्थामाह मनुः—

'ये जाता येऽप्यजाता वा ये च गर्भे व्यवस्थिताः ।
वृत्तिं तेऽपि हि काङ्क्षन्ति वृत्तिलोपो विगर्हितः ॥' इति ।

(१) प्रतीति । साकेतपुरुपस्य-अयोध्यायाः 'स्यात्साकेतोऽयोध्यायाम्' इति हैमः, श्रेष्ठिनः-वणिजः। निर्वृत्तं-निष्पन्नं पुंसवनं—द्वितीयसंस्कारः; तृतीयमासकर्तव्यपुंसन्तानसम्पादकसंस्कारविशेषो यस्याः सा तादृशी, पुंसवनसंस्कारस्य 'गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात् पुरा' इति याज्ञवल्क्येन 'चतुर्थे स्पन्दते ततः' इत्युक्तस्पन्दनमासपूर्वत्वेन तृतीयमासकर्तव्यतयोपदेशादसंशयितगर्भत्वं दर्शितम् ।

वह बड़ा धनाढ्य था इस कारण उसके बहुत सी स्त्रियाँ होंगी। इसलिये अनुसन्धान करो, यदि उसको कोई पत्नी गर्भवती हो तो—

(१) प्रतीहारी—मैंने अभी सुना है कि साकेतपुर के किसी बनिये की पुत्री, उस धन-

तस्स जाआ सुणीअदि ।)

राजा—स खलु गर्भः पित्र्यमृक्थमर्हति । गत्वैवममात्यं ब्रूहि (१) !

प्रती—यत् देव आज्ञापयति(२) । (जं देवो आणवेदि) [इति प्रस्थिता]

राजा—एहि तावत् (३) ।

प्रती—[प्रतिनिवृत्य] एषास्मि (४) । (एसाह्मि ।)

राजा—किमनेन सन्ततिरस्ति नास्तीति (५) ।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।

अथवा पुंसवनसंस्कारेण गर्भस्य पुत्रीकरणश्रुतेरिदमुक्तम् । तस्य-धनवृद्धेः । श्रूयते-लोकपरम्परयेति शेषः । अस्य तु वृत्तान्तस्यामात्यपिशुनेनाज्ञातत्वादेव तद्धनस्य राजगामित्वेन सम्पद्यत इति तेनोक्तस्ततो नैष शास्त्रानभिज्ञ इति सुधीभिर्विभाव्यम् ।

(१) राजेति । स खलु—एव गर्भः—उदरस्थः सन्तानः, पित्र्यं—पैतृकम्, यत् प्रत्ययः, ऋक्थं—धनम्, 'रिक्थमृक्थं धनं वसु' इत्यमरः, अर्हति—प्राप्तुं योग्यो भवति न तु नृपतिरित्यभिप्रायः । तथा च गौतमः-'उत्पत्त्यैवार्थं स्वामित्वाल्लभेत' इति ।

(२) प्रतीति । यद् देव आज्ञापयति तदेव गत्वा निवेदयामीति तात्पर्याशयः ।

(३) राजेति । एहीति प्रतीहारीमाह्वयति । एहि-प्रतिनिवर्त्तस्व, किञ्चित् श्रुत्वा पश्चाद्गन्तव्यमित्याशयः ।

(४) प्रतीति । प्रतिनिवृत्य-पुनरेत्य । एषास्मि प्रतिनिवृत्तेति शेषः ।

(५) राजेति । सन्ततिः-धनवृद्धेःसन्तानः । सन्ततिरस्तु वा मास्तु वा तद्विचारो मास्त्विति भावः ।

तर्हि किं कर्त्तव्यमित्यत आह—येनेति । प्रजाः—राज्यस्था जनाः 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः, येन येन स्निग्धेन-स्नेहवता, 'स्निग्धं स्नेहयुते चिक्कणेऽपि स्यात्' इति मेदिनी, बन्धुना-पुत्रादिबान्धवजनेन, वियुज्यन्ते-विरह्यन्ते नियति-

---

वृद्धिकी पत्नी है, उसका पुंसवनसंस्कार भी हो चुका है ।

(१) राजा—वह गर्भ अपने पिता के धन का अधिकारी है, ऐसा अमात्य से जाकर कह दो ।

(२) प्रतीहारी—महाराज की जो आज्ञा । (जाने लगता है)

(३) राजा—यहाँ आओ ।

(४) प्रतीहारी—(लौटकर) आया ।

(५) राजा—उसको सन्तान है या नहीं, इस बात का अनुसन्धान करने की क्या आवश्यकता ?—

हमारे राज्य की जितनी भी प्रजा हैं, उसमें जो लोग अपने किसी भी बन्धु से वियुक्त

स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥ २५ ॥

प्रती—एतत् नाम घोषयितव्यम् । [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य] देव ! काले प्रवृष्टमिव अभिनन्दितं देवस्य शासनं महाजनेन (१) । (एदं णाम घोषइदव्वं । देव ! काले पविट्टं अहिणन्दिदं देवस्स सासणं महाजणेण ।)

वशाद् वियुक्ता भवन्तीत्यर्थः । पापादृते—पापं विना असति पापे इत्यर्थः, अथवा पापिनं विना; स्त्रीणां भर्तृत्वेन विना वेत्यर्थः, 'अन्यारादितरर्ते' इति (पा०)ऋते-शब्दयोगे पापशब्दात् पञ्चमी, तासां—प्रजानाम्, स सः—बन्धुः, दुष्यन्तः, इति घुष्यताम्—सर्वत्र राज्ये भेरीप्रहारपूर्वकमावेद्यताम् ! 'उच्चैर्घुष्टं तु घोषणम्' इत्यमरः ।

तथा च धनवृद्धेः स्थितायामपि सन्ततौ सम्प्रति तदर्थजातं मदधीनमेव तिष्ठतु यथान्यः कोऽपि तन्नापहर्तुं शक्नुयात् परिशेषे तु तदपत्यमेव प्राप्स्यतीति भावः । यथाह भगवान् मनुः—

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ।
यावत् स स्यात् समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥' इति ।

अत्र साहाय्यं नाम नाट्यालंकार उपन्यस्तः । तदुक्तं दर्पणे—

'साहाय्यं सङ्कटे यत्स्यादानुकूल्यं परस्य च' इति ।

अत्र च नायकगत उत्कर्षातिशयो व्यज्यते । तथा दुष्यन्तस्य तेन तेन बन्धुना सहाभेदाध्यसनाद्रूपकालङ्कारोऽपि । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २५ ॥

(१) प्रतीति । एवं—भवदुक्तप्रकारेण घोषयितव्यं—भेरीप्रहारपूर्वकमावेदयितव्यम्, नामेत्यभ्युपगमे, इत्यङ्गीकरोमीत्यर्थः । 'नामप्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इत्यमरः । इति उक्त्वेति शेषः, निष्क्रम्य घोषणार्थमिति शेषः, प्रविश्य तन्निवेदनार्थमिति शेषः । देवस्य—महाराजस्य भवतः शासनम्—आज्ञाम्, काले—यथासमये अपेक्षितसमये इति यावत्, प्रवृष्टे—प्रकृष्टवर्षणमिव, अभिनन्दितं—प्रशस्य स्वीकृतम्, तथाविधशासनस्यात्यन्तहितोत्पादकत्वादिति भावः । अत्र प्रतीहार्याः पुनः प्रवेशपर्यन्तं राज्ञो व्यापारान्तरावर्णनेन राजानपत्यतामेव ध्यायन् स्थित इति प्रकाश्यते । अत्रोपमालङ्कारः ।

हाँ तो पापियों के सिवाय और सब लोगों के बन्धु दुष्यन्त हैं ऐसी घोषणा कर दो ॥ २५ ॥

(१) प्रतीहारी—हाँ, यही घोषणा करनी है । (यह कह कर चला जाता है और फिर वापस आकर कहता है) समय पर वृष्टि होने के समान समझ कर राज्य के सभी प्रधान प्रशंसापूर्वक आपकी घोषणावाणी ग्रहण करते हैं ।

राजा—[दीर्घमुष्णञ्च निश्वस्य] एवं भोः । सन्ततिविच्छेदनिरवलम्बना मूलपुरुषावसाने सम्पदः परमुपतिष्ठन्ते; ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एव वृत्तान्तः (१) ।

प्रती—प्रतिहतममङ्गलम् (२) । (पडिहदं अमङ्गलं)

राजा—विङ्मामुपनतश्रेयोऽवमानिनम् (३) ।

(१) राजेति । प्रतीहारीवचनेन च तद्ध्यानात् किञ्चिन्निवृत्तोऽपि पुनस्तस्यैव वणिग्वृत्तान्तस्य पर्यालोचनया स्वानपत्यतामनुस्मृत्य सविषाद माह–एवं भो इति । भो इति विषादसूचकमव्ययम्, 'भोस्तु सम्बोधनविषादयोः' इति मेदिनी, भो इत्यलक्ष्यामन्त्रणं प्रतीहारीसम्बोधनं वेति केचित् । सम्पदः–विभवाः, मूलपुरुषस्य–अर्जयितुर्वंशधरस्य, अवसाने–अन्ते–अभावे नाशे इत्यर्थः, सन्ततेः–अपत्यस्य विच्छेदेन–विलोपेन निरालम्बनाः–निराश्रयाः अस्वामिकाः सत्यः, एवम्–इत्थम् धनवृद्धिसम्पद इवेत्यर्थः, यथाधनवृद्धेरुपरमात् तत्सम्पदो राजानमुपस्थातुमुद्यतास्तथेति भावः, परं—तदितरं जनम्, उपतिष्ठन्ते—उपगच्छन्ति, अत्र 'उपाद् देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' इति वार्तिकसूत्रेण सङ्गतिकारणार्थत्वादात्मनेपदम् । तथा हि, ममापि—अनपत्यस्य दुष्यन्तस्यापि, अन्ते अवसाने, पुरुवंशश्रियः—पौरवलक्ष्म्याः, एष वृत्तान्तः—ईदृगेव प्रकारः स्यादिति शेषः । वृत्तान्तः स्यात् प्रकरणे प्रकारे कार्त्स्न्यवार्त्तयोः' इत्यमरः, क्वचित् पुस्तके 'एवं भोः सन्ततिविच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने सम्पदः परमुपतिष्ठन्ति । ममाऽप्यन्ते पुरुवंशश्रीरकाले इवोप्तबीजा भूरेवं वृत्ता' इति पाठान्तरम् । अथ व्याख्या;—

भो इति चिन्तायाम् । दीर्घनिःश्वासादयस्तदनुभावाः । मूलपुरुषावसाने–कारणपुरुषान्ते । उपतिष्ठन्ति—प्राप्नुवन्ति । उक्तमर्थमात्मनि योजयन्नाह;—ममापीति । पुरुवंशश्रीरित्यनेन वंशवैशिष्ट्यं द्योतयता तच्छ्रियः परोपस्थानस्यातिशोच्यत्वं सूच्यते । अकाले–अनपेक्षितसमये, उप्तबीजा–रोपितसस्या भूः–भूमिरिव, एवम्–इत्थम् । वृत्ता—संवृत्ता । अत्र चोपमालङ्कारः ।

(२) अमङ्गलं—भवदाशङ्कितं निजावसानरूपं सन्ततिविच्छेदरूपं पौरवश्रियः पराश्रयणं चेति सर्वमशुभम्, प्रतिहतं—देवताप्रसादात् निराकृतं भवत्विति शेषः ।

(३) राजेति । अथात्र राजाऽऽत्मानमेवापराधिनं मन्यमानः सनिर्वेदमाह—

(१) राजा—(लंबी और गरम श्वास लेकर) हाय ! सन्तान के अभाव के आश्रयविहीन मेरी सम्पत्ति की भी तो यही दशा होगी ।

(२) प्रतीहारी—ईश्वर इस अमंगल का निवारण करे ।

(३) राजा—मंगल तो स्वयं आकर उपस्थित हुआ था, पर मैंने उसकी अवज्ञा कर त्याग दिया । मुझे धिक्कार है !

मिश्र—असंशयं प्रियसखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितः अनेनात्मा(१)।
(असंसअं पिअसहीं ज्जेव हिअए कदुअ णिन्दिदो अणेण अप्पा ।)

राजा (२)—
संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।

धिगिति । श्रेयःपदेनात्रापन्नसत्त्वा शकुन्तला विवक्षिता । उपनतश्रेयोऽवमानिनम्-उपनतं-स्वयमेवोपस्थितं श्रेयः-ससत्त्वशकुन्तलारूपं कल्याणम् अवमन्यते-प्रत्याख्यानादिना तिरस्करोतीति तं तादृशम्, माम्, धिक्—निन्दामित्यर्थः, 'धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोः—इत्यमरः। धिग्योगे द्वितीया।

(१) मिश्रेति। प्रियसखीं-शकुन्तलामेव, हृदये कृत्वा-अभिसन्धाय स्मृत्वेति यावत्, अनेन-राज्ञा दुष्यन्तेन, आत्मा निन्दितः-तिरस्कृत इति योजना। असंशयमिति अस्मिन्नर्थे संशयो नास्तीत्यर्थः। अभावार्थेऽव्ययीभावः। राज्ञोक्तार्थानुवादप्रायमेतत्।

(२) राजेति। अथोपस्थितश्रेयोऽवमानित्वमेव दुःखातिशयेन विशदीकुर्वन्नाह;—संरोपित इति। काले-योग्यसमये, उप्तं—रोपितं बीजं यस्याः सा तथाभूता कृतबीजवपनेत्यर्थः, अत एव महते—विपुलाय फलाय-धान्यादिसस्याय, तदुत्पत्तये इत्यर्थः, 'क्लृपि सम्पद्यमाने च' इति (वा०) चतुर्थी, कल्पिष्यमाणा—प्रभविष्यन्ती प्रसूतं सस्यं जनयितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः, वसुन्धरा-भूमिरिव, वसुन्धरेत्यन्वर्थं वैशिष्ट्यं द्योतयति, मया तादृशधार्मिकेण तादृशसावधानेन च, कुलस्य—स्ववंशस्य प्रतिष्ठा-स्थितिहेतुभूता; तन्नविच्छिन्नसन्तानधारणादाश्रयस्वरूपेति यावत्, धर्मपत्नी—धर्मानुसारेण परिगृहीता स्त्री शकुन्तला, आत्मनि—स्वस्मिन्, संरोपिते—'आत्मा वै जायते पुत्रः' 'आत्मा प्रविश्य जायायां पुत्ररूपेण जायते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यां गर्भरूपेण तदुदरे आहितेऽपि, बीजे निषिक्तेऽपीत्यर्थः, त्यक्ता—अवधीरिता, नामेति कुत्सायाम्, एतन्मया निन्दितमाचरितमित्यर्थः, अत एव धिङ्मामिति भावः, 'नामप्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इत्यमरः। अत्र 'वसुन्धरे'ति विशेष्यवाचकपदेनान्वर्थवशादुपमेयभूतायामपि शकुन्तलायां सादृश्यसम्बन्धेन रत्नोपमविनयौदार्यधैर्यसौन्दर्यादिरमणीललामगुणगणप्राचुर्यं ध्वन्यते ध्वन्यते, चात्र शकुन्तलागर्भसंस्थितोऽनुपमवसुप्रतिमोऽर्भक इति। अत्र च धर्मपत्नीपरित्यागः कृत इत्येव

(१) मिश्र०—इसमें सन्देह नहीं कि मेरी प्रियसखी को ही सोचकर इन्होंने अपनी निन्दा की है।

(२) राजा—कोई ठीक समय पर इसलिये बीजारोप कर दे कि भविष्य मे विशेष फल मिलेंगे। ऐसा करके जिस तरह वह व्यक्ति उक्त आशान्विता वसुन्धरा को त्याग दे, उसी

कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा ॥ २६ ॥

मिश्र—अपरित्यक्ता इदानीं ते भविष्यति (१)। (अपरिच्चत्ता दाणिं दे भविस्सदि ।)

चेटी—[जनान्तिकम्] आर्ये ! एतत् पत्रं प्रेषयता किं विचारितममात्येन । प्रेक्षस्व तावत् भर्तुर्बाष्पजलप्रवाहः संवृत्तः। अथवा नैष शोकं बुद्धिपूर्वकं परिवर्जयिष्यति, तन्मेघच्छन्नागारस्थितं निर्वाणसमर्थम् आर्यमाधव्यं गृहीत्वा आगच्छ (२)। (अज्जे ! इदं पत्तं पेसअन्तेण किं विआरिदं अमच्चेण ! पेक्ख दाव भट्टिणो वाप्पजलप्पवाहो संवुत्तो । अधवा ण

नापराधः; सन्ततिविच्छेदस्याप्ययमेव हेतुरिति शोकातिशयोऽत्र निर्वेदाद्युपस्कृतो गम्यते। किञ्च 'कुलप्रतिष्ठा' 'धर्मपत्नी' इति विशेषणद्वयेन सर्वथा तस्यागानर्हत्वमिति सूच्यते। इह च काले उप्तबीजत्वेनैव फलाय कल्पिष्यमाणा भवतीति हेतुहेतुमद्भावात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। समुदाये तु श्रौतोपमालङ्कारः। उपजातिवृत्तम् ॥ २६ ॥

(१) मिश्रेति। शकुन्तलायाः स्वसमीपावस्थितं राज्ञश्चैवगाढानुरागमपि विभाव्योभयोः सङ्गमनमवश्यमेव सत्सूत्रेण भविष्यतीत्यवधारयन्नाह—अपरित्यक्तेति। इदानीं प्रत्यक्षेण मया तवेदृश्या दशाया दर्शनादेतदव्यवहितकाले एवेत्यर्थः, अपरित्यक्ता-पुनर्लब्धेत्यर्थः, शकुन्तलेति शेषः। तथा च मत्सकाशात्ते गाढानुरागमाकर्ण्य शकुन्तला पुनरवश्यं त्वत्समीपमागमिष्यत्येवेति भावः।

(२) चेटीति। आर्ये इति शेषः। प्रतीहार्याः सम्बोधनम्। तस्याश्चोच्चपदस्थतया गौरवितत्वाच्चेट्या आर्यपदप्रयोगेण सम्बोधनं कृतमिति बोध्यम्। पत्रं—धनवृद्धिवृत्तान्तोल्लिखितं पत्रं, प्रेषयता-राज्ञोऽन्तिकं प्रेरयता, अमात्येन-मन्त्रिणा पिशुनेन, किंविचारितं-कुत्सितं विवेचनं कृतम् 'किं कुत्सायां वितर्के च' इति मेदिनी। तादृशं पत्रं प्रेषयता मन्त्रिणा न साधु विवेचनं कृतमित्याशयः। तत्कारणमाह—प्रेक्षस्वेत्यादि। प्रेक्षस्व-पश्य। भर्तुः-राज्ञः, बाष्पजलप्रवाहः-अश्रुप्रवृत्तिः 'प्रवाहस्तु प्रवृत्तौ स्यादपि स्रोतसि वारिणि' इति मेदिनी, केचित्तु 'बाष्पजलप्रवाहः—नयनजलस्रोतः' इति व्याकुर्वन्ति, तन्मन्दम्; तथात्वे धैर्यच्युतिप्रसङ्गेन धीरोदात्तत्वहानिः

तरह यद्यपि मैंने उसमें पुत्ररूप वृक्ष का रोपण कर दिया था फिर भी मैंने अपनी आशारूपिणी पत्नी को त्याग दिया है ॥ २६ ॥

(१) मिश्र०—अब से तुम्हारे लिए यह परित्यक्ता नहीं रहेगी।

(२) चेटी—(प्रतीहारी से चुपके चुपके) आर्ये ! इस पत्र को भेजकर अमात्यने बड़ी

एसो सोग्रं वुद्धिपुव्वग्रं पडिवज्जिस्सदि ता मेहच्छण्णागारट्ठिदं णिव्वाणसमत्थं अज्जमाहव्वं गेण्हिग्र आअच्छ ।)

प्रती—सुष्ठु त्वया भणितम् (१) । (सुट्ठु दे भणिदं ।)[इति निष्क्रान्ता]

राजा—अहो ! दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः (२) ।

कुतः—

अस्मात् परं बत यथाश्रुति सम्भृतानि
को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति ।

स्यात् । नन्वत्र बाष्पपदेनैव नयनजलरूपार्थलाभात् पुनर्जलपदोपादानेऽर्थगतपौनरुक्त्यं स्यादिति चेन्न; धनुर्ज्यादिपदवत्तद्वारणसम्भवात् । अत्र शोकस्योपस्थितौ तु तद्वारणे यत्नः कार्यः मन्त्रिनिग्रहाकरणे तु न किञ्चित् फलमिति पूर्वोक्तमाक्षिप्याह-अथवेति । अनन्तरञ्चेत्यर्थः । एषः-राजा, बुद्धिपूर्वकं-स्वबुद्ध्येति तात्पर्यम्, आत्मविवेचनयेति यावत्, शोकं न परिवर्जयिष्यति-न परित्यक्ष्यति । निर्वाणसमर्थं-शोकापनोदनक्षमम्, अत्र निर्वाणपदोपादानात् शोकस्यानलरूपत्वं व्यज्यते, तन्मेघाच्छन्नागारस्थितं—मेघच्छन्ननामकप्रासादोपरिस्थितभवनगतम्, आर्यमाधव्यं-विदूषकं माधव्यमिश्रम् ।

(१) प्रतीति । सुष्ठु त्वया भणितं—साधु त्वयोक्तम् । इति निष्क्रान्ता—माधव्यान्तिकं प्रस्थिता, प्रतीहारीति शेषः ।

(२) राजेति । अथानपत्यता न केवलमैहिकस्य श्रेयसो विघातिनी अपितु पारत्रिकस्यापीति सातिशयमनुशोचति-अहो इति । अहो इति शोके दुष्यन्तस्य—मम, आत्मनामोच्चारणेन स्वस्य निन्दितत्वं प्रकाश्यते तेन समुन्नतश्रेयोऽवमानिनो निन्दितस्येत्यर्थः । पिण्डं—श्राद्धीयमन्नं भजन्ते—अर्हन्तीति पिण्डभाजः—पितरः, संशयमारूढाः पिण्डं लप्स्यन्ते वा नेति सन्देहापन्नाः; अग्रे पिण्डदानाभावात् इति भावः । अथ पितृणामवस्थां सम्भावयन्नाह-अस्मादिति । अस्मात्—दुष्यन्तात्, परम्—अनन्तरम्, दुष्यन्तावसाने इत्यर्थः, नः—अस्माकं, कुले-वंशे, पुरुवंशे इत्यर्थः । कः—

नादानी की । देखो, महाराज के आंसू बहने लगे । अथवा—यह महाराज अपनी जानकारी में उस शोक को त्यागेंगे नहीं । इसीलिए मेघच्छन्न नाम के बँगले में बैठे हुए आर्य माधव्य को बुला लाओ । वे ही इस शोकानल को बुझाने में समर्थ होंगे ।

(१) प्रति—तुमने ठीक कहा (चली जाती है) ।

(२) राजा—हाय ! दुष्यन्त के पिण्डभागी पितर अब सन्देह में पड़ गये । क्योंकि—दुष्यन्त के बाद हमारे वंश में कौन व्यक्ति ऐसा होगा, जो शास्त्रानुसार आयोजित

नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुसेकमुदकं पितरः पिबन्ति ॥ २७ ॥

मिश्र—हा धिक् हा धिक् ! सति खलु दीपे व्यवधानदोषेण अन्धकारमनुभवति राजर्षिः (१) (हद्धी हद्धी ! सहि क्खु दीवे ववधाणदोषेण अन्धआरं अणुहोदि राएसी ।)

जनः, श्रुतिं-वेदमनतिक्रम्येति यथाश्रुति-वेदोक्तविधानेनेत्यर्थः, अनतिक्रमार्थेऽव्ययीभावः, सम्भृतानि—सम्यगायोजितानि, संहतानीति पाठे;-सम्प्रयुक्तानीत्यर्थः, निवपनानि—पितृदानरूपाणि पिण्डश्राद्धतर्पणादीनि 'पितृदानं निवापः स्या' दित्यमरः, करिष्यति, इति—एवं चिन्तयित्वेति शेषः, पितरः-मम पूर्वपुरुषाः, प्रसूत्या-सन्तत्या विकलेन—रहितेन तनयहीनेनेत्यर्थः; 'प्रसूतिस्तनयोरपत्योस्तथा दुहितरि स्मृता' इति विश्वः; यथा, प्रसिक्तं-तेभ्यो दत्तम्, उदकं-तर्पणजलम्; धौतः—क्षालितः अश्रुसेकः—बाष्पबिन्दुर्येन तद् यथा स्यात्तथा, उदकविशेषणं वा, धावधातोः क्ते ऊठि 'एत्येधत्यूठ्सु' इति (पा०) वृद्धिः, नूनं-निश्चितमेव, पिबन्ति । बत इति खेदे ।

तथा च तर्पणकाले उदकपानायोपविष्टानां पितॄणां स्वस्वक्रोडोपर्युत्तानभावेन संस्थापिते पाणियुगले नयनयोः सरलोर्ध्वदेशस्थिततया तेभ्यः पतितैरश्रुबिन्दुभिर्मद्दत्ततर्पणजलानि प्रक्षालितान्येव भवन्ति; तानि च ते पिबन्तीति भावः ।

एवञ्च पितरो मत्परं पिण्डाभावमुत्प्रेक्ष्य शोकजनितबाष्पप्रवाहेण गण्डं तदनु अधरमपि प्लावयिष्यन्ति; मदर्पिततर्पणजलमासाद्य चामेध्यं तमश्रुप्रवाहं प्रक्षाल्यावशिष्टं पास्यन्तीत्यहो कष्टमिति समुदितार्थः । 'धौताश्रुशेषम्' इति पाठे-धौतमश्रु येन करेणेन तद्धौताश्रु ततः शेषम् । मद्दत्तेन जलेन प्रथममश्रु क्षालयित्वा पश्चात्तच्छेषजलं पितरः पिबन्तीति सम्भावयामीत्यर्थः । यथा रघौ;-'मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया । पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते' ॥ इति । अत्र नूनमित्युपादानात् वाच्याभावाभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः । वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमपि । न चात्र इति शब्दात् परं चिन्तयित्वेति पदमाकांक्षितं तस्य तु अनभिधानात् न्यूनपदतादोष आपततीति वाच्यम्; वक्तुर्विषादमग्नत्वात् ; 'उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः' इति विश्वनाथोक्तेः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ २७ ॥

(१) मिश्रेति । अथ मिश्रकेशी राज्ञस्तादृशीमवस्थामवेक्ष्य सकरुणमाह,—हा

श्राद्ध और पिण्डदान करेगा । इसी बात को सोच कर हमारे पितर मुझे सन्तानहीन प्राणी द्वारा दिये हुए तर्पणजल को पियेंगे सही, पर हमारे उस तर्पणजल को वे आँसुओं के जल में मिला हुआ समझेंगे ॥ २७ ॥

(१) मिश्र—हाय ! हाय ! दीपक के रहते हुए भी बीच में पर्दा पड़ जाने के कारण ये राजर्षि इस समय अन्धकार का अनुभव कर रहे हैं ।

चेटी—भर्त्तः ! अलं सन्तापितेन, वयस्थ एव प्रभुः अपरासु देवीषु अनुरूपपुत्रजन्मना पूर्वपुरुषाणामनृणो भविष्यति । [आत्मगतम्] न मे वचनं प्रतीच्छति । अनुरूपमपि औषधम् आतङ्कं निवर्त्तयति (१) ।
(भट्टा ! अलं सन्दाविदेन, वअत्थो ज्जेव पहू अवरासु देवोसु अणुरूवपुत्तजम्मेण पुव्वपुरुसाणं अणिणो भविस्सदि ! ण मे वअणं पणिच्छदि ! अणुरूवं वि ओसधं आदङ्कं णिअत्तेदि ।)

विगित्यादि । व्यवधानदोषेण,—व्यवधानं-दूरता अन्तर्द्धिर्वा तदेव दोषस्तेन । तथा च दीपस्य यथा विद्यमानतायामपि दूरत्वादिदोषजुष्टत्वाद्लोकोऽन्धकारमनुभवति तथाऽयं राजर्षिः शकुन्तलागर्भस्थस्य सन्तानस्य सद्भावेऽपि अन्तर्द्धयादिदोषजुष्टतयाऽनपत्यतादुःखमनुभवतीत्याशयः । अत्र प्रस्तुते शकुन्तलागर्भस्थसन्तानरूपे विशेषे वक्तव्ये अप्रस्तुतेन दीपाग्निना तस्याः कथनादप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शनान्नालङ्कारः इत्यन्ये । केचित्त्वत्र ललितोऽलङ्कार इति वदन्ति ।

(१) चेटीति । प्रबोधयति;–अलमिति । सन्तापितेन–शोकेन सन्तप्तीकृतेनात्मनेति शेषः । वयस्थः—वयसि—यौवने तिष्ठतीति यः स तादृशः—युवक एव; न तु वृद्ध इत्येवकारार्थः, तथा च ते पुत्रोत्पादनशक्तिरक्षुण्णैवास्तीति भावः, 'वयस्थस्तरुणो युवा' इत्यमरः; प्रभुः–स्वामी भवानित्यर्थः, अपरासु–शकुन्तलेतरासु, तस्याः पुनः प्राप्त्यसम्भवादिति भावः, देवीषु—कृताभिषेकमहिषीषु, अनुरूपपुत्रजन्मना-आत्मसदृशपुत्रोत्पत्त्या, पूर्वपुरुषाणां—पितॄणाम्, अनृणः—ऋणविमुक्तो भविष्यति । तथा च श्रुतिः;–'एष वै अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी च, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः' इति । स्मृतिरपि,—ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां दानकर्म्मणा । सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत्' ॥ इति ।

शंखलिखितपैठीनसाथना अप्याहुः,—

'यत्र क्वचन जातेन पिता पुत्रेण नन्दति ।
तेन चानृणतां याति पितॄणां पिण्डदेन वै' ॥ इति ।

विष्णुधर्म्मोत्तरञ्च;—'श्राद्धेन प्रजया चैव पितॄणामनृणो भवेत् ।' इति ।

आत्मगतम्—अनतिस्पष्टम् । मम तु हीनजनतया । तादृशं प्रबोधनवाक्यमस्मै नैव रोचत इति मत्वाह–न मे इति । प्रतीच्छति–गृह्णाति; मद्वचनेन राजा नैवाश्वासनयुक्तो भवतीत्यर्थः, अपिरत्र सम्भावनायाम् । तथा च सम्भावयामि अनुरूपम्-उपयुक्तम्, औषधं कर्त्तृ, आतङ्कं—रोगम्, निवर्त्तयति—विनाशयति; विनाशयिष्यतीत्यर्थः, वर्त्तमानसामीप्ये लट् तथा च अनुरूपमौषधं यथा रोगं नाशयति

---

(१) चेटी—महाराज ! आप अपना जी न दुखाइए । क्योंकि आपकी अभी अवस्था है । तथा और रानियों के गर्भ से अपने अनुरूप पुत्र उत्पन्न करके आप पितरों के ऋण से

राजा—[शोकनाटितकेन] (१)

आमूलशुद्धसन्तति कुलमेतत् पौरवं प्रजाबन्ध्ये ।
मय्यस्तमितमनार्य्ये देश इव सरस्वतीस्रोतः ॥ २८ ॥

[इति मोहमुपागतः] (२)

तथा विदूषककर्तृकानुरूपोपदेश एवास्य सन्तापं नाशयिष्यति न पुनर्हीनाया मम वचनेनेत्याशयः । अत्र भवतामनुरूपाश्वासनकरो माधव्य एव न पुनरहमिति प्रस्तुते विशेषे वक्तव्ये अप्रस्तुतमुखेनाभिधानादप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः ।

(१) राजेति । नाटितमेव नाटितकम्, स्वार्थे कः, शोकस्य नाटितकं—नाटनमिति शोकनाटितकं तेन शोकनाटितकेन—शोकाभिनयेनेत्यर्थः ।

आमूलेति । आमूलात्—आदितः, पुरूरवादिपुरुपाच्चन्द्रमसः, अन्यत्र प्रथमोत्पत्तिदेशात्; आरभ्य शुद्धा—अकलङ्किता निषेकादिसंस्कारपरिपूता; अन्यत्र पवित्रा; सन्ततिः—पुत्रपौत्रादिसन्तानपरम्परा; अन्यत्र धारा; यस्य तत् तादृशम्' 'सन्ततिः स्यात् पंक्तौ गोत्रे पारम्पर्ये पुत्रपौत्राणाम्' इति मेदिनी, पौरवं—पुरुपसम्बन्धि, अन्यत्र भूयिष्ठम्, 'प्रभूतं पुरु भूयिष्ठम्' इत्यमरः, एतत् कुलं—अयं वंशः, प्रजाबन्ध्ये—निःसन्ताने; अन्यत्र जनशून्ये पर्वतारण्यादिप्राये इति यावत्, 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः, अनार्ये—अप्रशस्ते अन्यत्र आर्यजातिरहिते म्लेच्छैरध्युषिते वा, मयि—दुष्यन्ते, तथाविधे देशे, तथाभूतं सरस्वतीस्रोत इव—सरस्वत्याः—तदाख्याया नद्याः स्रोतः—प्रवाहस्तदिव, अस्तम्—अदर्शनम् इतं—गतम्, विलुप्तमित्यर्थः, 'अस्तमदर्शने' इत्यमरः । अन्यत्र शोषं गतम् । तथा चेदमतीवदुःखकरमिति भावः । अत्र सरस्वतीस्रोतःपक्षः प्रसिद्धः पौरवकुलपक्षश्च लोपे अप्रसिद्धः इति बोध्यम् । अत्रोपमानोपमेयसादृश्यनिबन्धना श्रौती पूर्णोपमालङ्कारः । सा च पौरवादिश्लिष्टपदघटितत्वात् श्लेषसङ्कीर्णा । तथात्र शोभा नाम नाट्यलक्षणमुपक्षिप्तम् । तल्लक्षणं यथा—'सिद्धैरर्थैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते । श्लिष्टलक्षणचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते' । इति साहित्यदर्पणे । आर्या जातिः ॥ २८ ॥

(२) इतीति । मोहं—मूर्च्छाम्, 'मूर्च्छा तु कश्मलं मोह' इत्यमरः । 'संरोपिते'

मुक्त हो जाइयेगा । (स्वगत) ये मेरी बात तो सुनते ही नहीं, क्योंकि योग्य ओषधि ही रोग को नष्ट करने में समर्थ होती है ।

(१) राजा—(शोक का अभिनय करके)—

जिस देश में आर्यजाति के लोग नहीं होते, वहाँ पर निर्मल सरस्वती-स्रोत जिस तरह पहुँचकर नष्ट हो जाता है, उसी तरह यह पुरुवंश आदिसे अब तक शुद्ध सन्तान युक्त था, किन्तु मुझ निर्वंशी और पापी से ही उस उज्ज्वल वंश का अन्त हो रहा है ॥२८॥

(२) [ऐसा कह कर मूर्च्छित हो जाता है] ।

चेटी [ससम्भ्रमम्] समाश्वसितु समाश्वसितु भर्ता (१)। (समस्ससदु समस्ससदु भट्टा ।)

मिश्र--किमिदानीमेव निर्वृतं करोमि, अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या देवजनन्या मुखात् यज्ञभागसमुत्सुका देवा एव तथा अनुष्ठास्यन्ति; यथा स भर्ता अचिरेण धर्मपत्नीं त्वामभिनन्दिष्यतीति तन्न युक्तं मे विलम्बितुम्, यावदेतेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं शकुन्तलां समाश्वासयामि। [इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता] (२)। (किं दाणिं ज्जेव णिव्वुदं करेमि। अधवा सुदं मए सउन्तलं समस्ससन्तीए देवजणणीए मुहादो जण-

इत्यादिना एतदन्तेन मूर्च्छारूपोपान्त्यकामदशा दर्शिता। चरमदशायास्तु प्रत्युज्जीवनसम्भावनामन्तरेणावर्णनीयत्वान्नाटके प्रतिषेधाच्चेत एव विरहवर्णनानिवृत्तिः। अत्रैव कविना कामदशावर्णना परिसमाप्तीकृता।

तथा चोक्तम्–'रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते। जातप्रायन्तु तद्वाच्यं चेतसा काङ्क्षितं तथा। वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः॥ इति॥

दशविधाः कामदशाः प्रागेव दर्शिताः ताश्च गणनया तत्रैव द्रष्टव्याः। किञ्च 'पश्चात्तापसहशवेदः' इत्यादिना,'मोहमुपागतः' इत्यन्तेन वर्णितस्य राज्ञः पश्चात्तापस्य परमा काष्ठा अत्रैवोपसंहृता इत्यपि बोध्यम्।

(१) चेटीति। ससम्भ्रममिति। ससम्भ्रमो राज्ञो मोहावस्थादर्शनेन। सत्वरं व्यस्ततासहितं वेत्यर्थः।

(२) मिश्रेति। मिश्रकेशी राज्ञस्तादृशीं शकुन्तलाविरहजनितामतिशोचनीयामुपान्त्यदशामवलोक्य भृशं व्याकुलितेव भूत्वाऽऽह—किमिति। निर्वृतं-शकुन्तलावृत्तान्तनिवेदनेन सुखितम्, एनं राजानमिति शेषः। अथ शकुन्तलावृत्तान्तविज्ञापनेन राज्ञः समाश्वासने विहितेऽपि यदि तस्य तत्र विश्वासो नैव भवेदित्याशङ्कया पूर्वोक्तमाक्षिप्याह—अथवेति। न निवेदयामीत्यर्थः। कुत इत्यत्राह—श्रुतमित्यादि। शकुन्तलां—पतिविरह (तिरस्कार) दुःखितामिति तात्पर्यम्, समाश्वासयन्त्याः—सम्यगाश्वासनपात्रीकुर्वन्त्याः, देवजनन्याः—अदितेः, मुखात्, यज्ञभागसमुत्सुकाः—यज्ञभागाय–यज्ञभागग्रहणाय समुत्सुकाः–उत्कण्ठिताः, यज्ञभागाभिलाषिण इत्यर्थः,

(१) चेटी—(हड़बड़ाहट के साथ) महाराज ! धैर्य धरिये—धैर्य धरिये।

(२) मिश्र—क्या अभी ही इन्हें प्रसन्न कर दूं ? नहीं, शकुन्तला को आश्वासन देते समय मैंने अदिति के मुख से सुना था कि—'यज्ञभाग पाने के लिए स्वयं देवगण ऐसा करेंगे, जिससे वह राजा धर्मपत्नी कह कर तुम्हें आदरपूर्वक स्वीकार करेगा।' इसलिए

भाअसमुस्सुआओ देवाओ ज्जेव तह अणुचिट्ठिस्सन्ति, जह सो भट्टा अइरेण धम्मपदिणीं तुमं अहिणन्दिस्सदित्ति । ता ण जुत्तं मे एत्थ विलम्बिदुं, जाव इमिणा वुत्तन्तेण पिअसहीं सउन्तला समस्सासेमि ।)

[नेपथ्ये]--भोः ! अब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम् (१) । (भो ! अव्वम्हण्णं अव्वम्हण्णं ।)

राजा—[प्रत्यागतचेतनः कर्णं दत्त्वा] अये ! माधव्यस्येवार्त्तनादः (२) ।

देवाः तथा-तेनैव रूपेण अनुष्ठास्यन्ति-विधास्यन्ति यथा-येन रूपेण, स भर्त्ता-स्वामी राजा दुष्यन्तः । त्वां-शकुन्तलाम् । अभिनन्दिष्यति-आदरपूर्वकं ग्रहीष्यति, इति मया श्रुतमित्यनुषङ्गः ।

तथा च सम्प्रति शकुन्तलार्थमेव पर्याकुलतया राज्ञो यज्ञानुष्ठानासम्भवात् भविष्यत्यपि दुष्यन्तात् परमस्मिन् भूमण्डले सत्यराजके स्वभोग्ययज्ञभागलोपाच्च स्वार्थसम्पादनार्थमेव देवा आग्रहीष्यन्तीति भावः ।

अत्रानेन वाक्येनेन्द्रप्रयुक्तो मातलिप्रवेशोऽनन्तरभाव्यः सूचितः ।

उद्भ्रान्तकेन-गतिविशेषेण, निष्क्रान्ता-प्रस्थिता, मिश्रकेशीति शेषः । उद्भ्रान्तकलक्षणमाह सङ्गीतसुधानिधौ—

'पूर्वं दक्षिणमुत्थाप्य पश्चादाकुञ्चयत् पदम् ।
वामं शीघ्रं भवेद् वामावर्त्तमुद्भ्रान्तकं विदुः ॥' इति ।

(१) नेपथ्ये इति । अत्र नायकं रसान्तरे प्रवेशयितुं मातलिप्रवेशमुत्थापयति—अब्रह्मण्यमिति । ब्रह्मणि साध्विति ब्रह्मण्यं न ब्रह्मण्यमित्यब्रह्मण्यम्, ब्राह्मणवधस्य पापजनकत्वादवध्योऽहमिति भावः, 'अब्रह्मण्यमवध्योक्तौ' इत्यमरः, 'तत्र साधुः' इति (पा०) सूत्रेण यत्प्रत्ययः, अनन्तरं विरोधार्थकनञा तत्पुरुषसमासः ।

(२) राजेति । प्रत्यागतचेतनः-पुनर्लब्धसंज्ञः, विगतमोह इति तात्पर्यम्, अये इति सम्भ्रमे । आर्त्तनादः—आपन्नकरुणशब्दः ।

अब इमको यहाँ देर करना ठीक नहीं है । चलूं, यह प्रिय वृत्तान्त सुनाकर प्रिय-सखी शकुन्तला को ढाढ़स बँधाऊँ ऐसा कह कर चुपके से चली जाती है) ।

(१) नेपथ्यमें—अरे-अरे ! मैं अवध्य हूँ अवध्य हूँ ।

(२) राजा—(होश में आकर और कान देकर) एं ! यह तो मानो माधव्य का आर्तनाद है ।

चेटी--स नाम माधव्यस्तपस्वी पिङ्गलिकामिश्रिताभिश्चेटिकाभिश्चित्रफलकहस्तः प्राप्तो भवेत् (१)। (सो णाम माधव्वो तवस्सी पिङ्गलिआमिस्सिआहिं चेडिआहिं चित्तफलअहत्थो पाविदो भवे।)

राजा—चतुरिके ! गच्छ, मद्वचनादनिषिद्धपरिजनां देवीमुपालभस्व (२)।

चेटी—[निष्क्रान्ता।]

[नेपथ्ये—भूयः स एव शब्दः] (३)।

राजा--परमार्थतो भीतिभिन्नस्वरो ब्राह्मणः कः कोऽत्र ! भोः (४)।

---

(१) चेटीति। नामेति सम्भावनायाम्। सः-मेघच्छन्नप्रासादगतः, तपस्वी-अनुकम्पार्हः, माधव्यः-तदाख्यो ब्राह्मणो विदूषकः, चित्रफलकहस्तः-चित्रफलकं हस्ते यस्य सः, घृताङ्कितशकुन्तलाचित्रफलकः सन्नित्यर्थः, पिङ्गलिकामिश्रिताभिः-पिङ्गलिका-तदाख्या देव्या वसुमत्या दासी तया मिश्रिताभिः-मिलिताभिः, चेटिकाभिः--अन्याभिर्दासीभिः कर्तरि तृतीया, प्राप्तः-आक्रमितः।

(२) राजेति। मद्वचनात्-मम वचनमाश्रित्य, ल्यब्लोपात् कर्मणि पञ्चमी, राजैवं वक्तीत्युक्त्वा इत्यर्थः। अनिषिद्धपरिजनाम्;—न निषिद्धः-दुर्व्यवहारान्न निवारितः परिजनः-स्वपरिचारलोकः--चेटीजन इत्यर्थः, यया ताम्, उपालभस्व—तिरस्कुरु, तमेव हेतुं दर्शयित्वेति भावः। तथा च तव परिचारिकाभिर्माधव्यब्राह्मणोपरीदृशमन्याय्यमाचर्यते तत्र त्वया न किञ्चित् प्रतिविधीयते एष ते क आचार इति दुर्वाक्यं वदेत्याशयार्थः।

(३) नेपथ्य इति। भूयः-पुनरपि, स एव शब्दः-अब्रह्मण्यमिति करुणध्वनिः।

(४) राजेति। परमार्थतः-यथार्थतः, प्रकृत्यादित्वात्तृतीयायां तसिल्, भीतिभिन्नस्वरः-भीत्या-भयेन भिन्नः-स्वाभाविकेतरः स्वरः-कण्ठध्वनिर्यस्य सः, ब्राह्मणः-माधव्यः; अनेन तस्य रक्षणीयत्वं ध्वन्यते। तथा चैतस्य निरूपणं कार्यमिति भावः। अत्र-अस्मिन् स्थाने, कः कोऽस्तीति शेषः।

---

(१) चतुरिका—मैं समझती हूँ कि हाथ में चित्रपट लिये हुए विचारे माधव्य पर पिंगलिका आदि दासियों ने आक्रमण किया है।

(२) राजा—चतुरिका ! तू जा और मेरी जुबानी रानी को डाँट कर कह कि उन्होंने इस तरह छेड़ती हुई अपनी सहचरियों को रोका क्यों नहीं।

चतुरिका—(चली जाती है)

(३) नेपथ्यसे—(फिर उसी तरह आर्तनाद सुनाई पड़ता है)

(४) राजा—सचमुच, मारे भय के उस ब्राह्मण की आवाज भर्रा गई है। यहाँ कौन है ?

[प्रविश्य कञ्चुकी] आज्ञापयतु देवः ।

राजा—निरूप्यतां किमेवं माधव्यब्राह्मणः क्रन्दतीति (१) ।

कञ्चु—यावदवलोकयामि । [इति निष्क्रम्य ससम्भ्रमं पुनः प्रविष्टः (२) ।

राजा—पार्वतायन ! न खलु किञ्चिदत्याहितम् (३) ।

कञ्चु—मैवम् (४) ।

राजा—ततः कुतोऽयं वेपथुः । तथा हि— ।

प्रागेव जरसा कम्पः सविशेषस्तु सम्प्रति ।

---

(१) राजेति । किं—कथम्, एवम्—अनेन रूपेण, क्रन्दति-आर्तनादं करोति, इति निरूप्यतां—निश्चीयताम् ।

(२) कञ्चु इति । यावत्—यद् भूतमित्यर्थः, अवलोकयामि-तदवलोकनं करोमीत्यर्थः । ससम्भ्रमं—सोद्वेगम् ।

(३) राजेति । पार्वतायन !-कञ्चुकिन्; पार्वतायन इति कञ्चुकिनो नामधेयम् । खल्विति प्रश्ने, अत्याहितं—महाभयम्, जातं किमित्यर्थः । 'अत्याहितं महाभीतिः' इत्यमरः । अत्र काक्वा प्रश्नो व्यज्यत इति कश्चित्, तच्चिन्त्यम्, खलुशब्दस्य प्रश्नव्यञ्जकत्वेन प्रयुक्तत्वात् ।

(४) कञ्चु इति । मैवं—न किञ्चिदत्याहितमित्यर्थः । तथा च शत्रुकर्तृकराजधान्यादेराक्रमणे तु भूरिप्राणिविनाशशङ्कयाऽत्याहितं भवति; प्रकृते एकस्य माधव्यस्याक्रमणे खलु न तादृशमित्याशयः ।

(५) राजेति । ततः—तदा, अत्याहिताभावेऽपीत्यर्थः, वेपथुः-तव गात्रोत्कम्पः, वेपधातोट्वित्वादथुच् प्रत्ययः । तथा दर्शयितुमाह—तथा हीति ।

कारणोपन्यासपूर्वकं वेपथुमेव व्याचष्टे—प्रागेवेति । जरसा—वार्द्धक्येन, प्रागेव-इतः पूर्वमेव, कम्पः वेपथुः, आसीदिति शेषः, सम्प्रति-इदानीं तु, सविशेषः-अधिकः

कंचुकी—(आकर) महाराज ! आज्ञा दीजिए ।

(१) राजा—देखो तो वह माधव्य ब्राह्मण क्यों चिल्ला रहा है ।

(२) कंचुकी—देखता हूँ । (जाकर और घबड़ाहट के साथ फिर वापस आता है)

(३) राजा—पार्वतायन ! कुछ बड़ा गड़बड़ तो नहीं हुआ ?

(४) कंचुकी—नहीं ।

(५) राजा—फिर काँपते क्यों हो ?—

एक तो बुढ़ापे के कारण वैसे ही काँप रहे थे, पर इस समय और भी कँपकपी है ।

आविष्करोति सर्वाङ्गमश्वत्थमिव मारुतः ॥ २९ ॥

कञ्चु—परित्रायतां सुहृदं महाराजः (१)।

राजा—कस्मात् परित्रातव्यः ? (२)।

कञ्चु—महतः कृच्छ्रात् (३)।

राजा—अये ! भिन्नार्थमभिधीयताम् (४)।

कञ्चु—योऽसौ दिगवलोकनप्रासादो मेघच्छन्नो नाम (५)

सन्, मारुतः—वायुः, अश्वत्थं—पिप्पलनामानं महावृक्षमिव 'बोधिद्रुमश्चलदलः पिप्पलः कुञ्जराशनः, अश्वत्थेऽथ' इत्यमरः, सर्वाङ्गं—त्वदीयं सर्वावयवं व्याप्येति शेषः, आविष्करोति—सर्वावयवावच्छेदेनात्मानं प्रकाशयति। तथा च यदि अत्याहितं नासीत् तर्हि कथं देहशस्यागन्तुकस्य कम्पस्यावसर इति भावः। अत्राश्वत्थस्य स्वभावत एव कम्पनस्वभावत्वाद्वायुनोदितस्य तु तस्यात्यर्थकम्पनात् सादृश्यभाव इति मन्तव्यम्। अत एवात्रोपमालङ्कारः, स च श्रौतः। नन्वत्राविष्कारस्य प्रकाशार्थत्वात् फलवत्त्वाविवक्षयाऽकर्मत्वेन सर्वाङ्गपदस्य कर्मत्वं न सम्भवतीति चेन्न; 'कालाध्वभावदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः। सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते' ॥

इति प्राचीनोक्तेरधिकरणस्यापि तस्य कर्मसंज्ञायामव्याघातात्। अत्र चासीदादिपदानामनुक्तत्वेऽपि न न्यूनपदतादोषः परन्तु गुण एवं वक्तुरुद्वेगमग्नत्वात्। यदुक्तं दर्पणे 'उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः' इति। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥

(१) कञ्चु इति। परित्रायतां—परिरक्षतु, सुहृदं—माधव्यम्।

(२) राजेति। कस्मात्—किमभिधानात्पदार्थादिति तात्पर्यम्।

(३) कञ्चु इति। कृच्छ्रात्—विपत्तेः।

(४) राजेति। अये इति विरक्तिसूचकं सम्बोधनम्। तद्वाऽस्पष्टभाषणात्। भिन्नः अर्थो यस्मिंस्तद्यथा स्यात्तथा, स्पष्टार्थं स्पष्टतरमिति यावत्।

(५) कञ्चु इति। दिगवलोकनप्रासादः-दिशामवलोकनाय कश्चित् कुतश्चिद् वा राजधान्याक्रमणायागच्छति किमिति शंकायां पर्यवेक्षणाय निर्मितः प्रासादः—हर्म्य-

जिस तरह कि वायु अश्वत्थ के समस्त अंगों में व्याप्त होकर अपना अस्तित्व प्रगट करता है उसी तरह तुम्हारे में भी इस समय बहुत अधिक कम्प दिखाई पड़ता है ॥ २९ ॥

(१) कंचुकी—महाराज ! अपने मित्र को बचाइए।

(२) राजा—किस से बचाऊँ ?

(३) कंचुकी—बड़ी भारी विपत्ति से।

(४) राजा—ऐ साफ साफ कहो।

(५) कंचुकी—दिशाओं को देखने के लिये वह जो मेघच्छन्न प्रासाद है—

राजा—किन्तत्र ? (१)

कञ्चु—

तस्याग्रभागाद् गृहनीलकण्ठैरनेकविश्रामविलङ्घ्यशृङ्गात् ।
सखा प्रकाशेतरमूर्त्तिना ते केनापि सत्त्वेन निगृह्य नीतः ॥ ३० ॥

राजा—[सहसोत्थाय] आः, ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः ? (२)

मिति विग्रहार्थो । अत्रेदानीन्तनवत्तदानीमपि राजधान्यादौ दिगवलोकनार्थमत्युच्चगृहनिर्माणप्रथाऽऽसीदिति द्योत्यते ।

(१) राजेति । तत्र-मेघच्छन्नप्रासादे किं वृत्तमिति शेषः ।

तस्येति । गृहनीलकण्ठैः-गृहपालितमयूरैः, 'मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्' इत्यमरः, अनेकविश्रामैः-एकवारेण रोहणाय कुण्ठितसामर्थ्यात्, पुनः पुनः विश्रामकरणैर्विलङ्घ्यानि-अतिक्रमणीयानि शृङ्गाणि-शिखराणि तस्य तस्मात्, एतेनात्युच्चत्वं ध्वन्यते, 'शृङ्गं प्रभुत्वे शिखरे' इति मेदिनी, तस्य-मेघच्छन्नप्रासादस्य, अग्रभागात्-उपरितनालिन्दात्, प्रकाशेतरमूर्तिना-प्रकाशेतरा-अप्रकाशा अलक्ष्या मूर्तिर्यस्य तेन तथाभूतेन-विद्याविशेषप्रच्छन्नाकृतिनेत्यर्थः, केनापि-अदृश्येन, सत्त्वेन-रक्षःपिशाचादिजन्तुना 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः' इति विश्वः, ते-तव, सखा-माधव्यः, निगृह्य-पराभूय सनिग्रहं कृत्वा, नीतः-अन्यत्स्थानं प्रापितः । एतादृशकृच्छ्रान्माधव्यं परित्रायतामित्यभिप्रायः । अत्र मेघच्छन्नप्रासादस्यात्युच्चत्वस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रत्यायनात् पर्यायोक्तमलङ्कारः'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' । इति तल्लक्षणस्य दर्पणोक्तत्वात् । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ३० ॥

(२) राजेति । सहसा—हठात्, उत्थाय आसनादिति शेषः, सक्रोधमाह—आ इति । इदं-कोपसूचकमव्ययम् । ममापि—दुष्यन्तस्यापि; अत्रात्मनिर्देशेन स्वस्य वीरत्वादिकं प्रत्याय्यते, सत्वैः-रक्षःपिशाचादिभिर्जन्तुभिः, अभिभूयन्ते-आक्रम्यन्ते, अत्याचारगोचरीक्रियन्त इति यावत् । गृहाः—सद्मानि; तत्स्थिता लोका वेति तात्पर्यम्, अत्र 'गृहाः पुंसि च भूम्न्येवे'त्यमरवचनात् पुंस्त्वम् । आश्चर्यं दुःसाहसं सत्वानामित्याशयः ।

(१) राजा—हाँ, तो वहाँ क्या है ?

कंचुकी—घर में पाले हुए मयूर अनेक बार सुस्ता कर जिसके सबसे ऊपर के भाग में जा सकेंगे, उसी मेघच्छन्न प्रासाद के सबसे ऊपरवाले हिस्से से आकर कोई अदृश्य आकृति का जन्तु आपके मित्र को पकड़ ले गया है ॥ ३० ॥

(२) राजा—हमारे घर के लोगों पर भी जन्तुओं का आक्रमण होता है ?

अथवा बहुप्रत्यवायं नृपत्वम् ।
अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।
प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतः कस्य पुनः प्रभुत्वम् ॥ ३१ ॥

[नेपथ्ये] अभिधाव भोः ! अभिधाव (१) । (अविधावेहि भो ! अविधावेहि ।)

प्रजाकृतकर्मणः षष्ठांशभागित्वाद्राज्ञस्तथा सम्भवत्येवेति पूर्वोक्तमाक्षिप्याह-अथवेति । बहुप्रत्यवायम्—नानाविधाः प्रत्यवायाः—विहितानुष्ठानलंघनजनितानि पापानि यस्मिन् तत् तादृशम्, नृपत्वं—राजधर्मः, राजकार्यमित्यर्थः ।

नृपत्वस्य बहुप्रत्यवायत्वे कारणमप्रस्तुतमुखेन दर्शयति—अहनीति । अहनि अहनि-प्रतिदिनम्, वीप्सायां द्विरुक्तिः, आत्मन एव—स्वस्यैव, अन्यस्य का कथेति तात्पर्यम्, तावत् साकल्येन, प्रमादस्खलितम्ः—प्रमादेन—अनवधानतया जातं स्खलितं—दुराचरणं त्रुटितमिति यावत्, ज्ञातुं—निर्णेतुम्, न शक्यम्; मादृशैर्नृपैरिति शेषः । अत्र स्वस्य प्रमादपतितं शकुन्तलापरित्यागं मनसिकृत्यात्मनः प्रमादस्खलितमित्युक्तम् । अथ पुनः—किन्तु, प्रजासु—प्रकृतिषु स्वराज्यवासिजनेष्विति यावत् मध्ये; निर्धारणे सप्तमी, कः—जनः, केन—न्यायेन अन्यायेन वा पथा—मार्गेण, प्रयाति—गच्छति, कः किमाचरतीत्यर्थः, इत्येतत्; अशेषतः—कारस्न्येन, प्रकृत्यादित्वात्तृतीयायाः सार्वविभक्तिकस्तसिल्, ज्ञातुम्—अवधारयितुम्, अत्राप्यस्यानुषङ्गोऽस्तीति बोध्यम्, कस्य नृपस्य, प्रभुत्वं—शक्तिरस्तीति शेषः । काका कस्यापि नेत्यर्थः । तथा चात्मनः प्रमादस्खलनात् प्रजानामन्यायाचरणाद् वा समुद्भूतेन प्रत्यवायेनैव मद्गेहेऽपीदृशी सत्त्वबाधेति भावः । प्रजाकृतादपि पापान्नृपस्यापि पापयुक्तत्वमाह भगवान् मनुः—

'सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥' इति ।

अत्र काव्यार्थापत्तिस्तदुत्थापिताऽप्रस्तुतप्रशंसा च । मतिर्भावः उपजातिर्वृत्तम् ॥

(१) नेपथ्य इति । अभिधाव—मां लक्ष्मीकृत्य द्रुतमायाहि । संभ्रमे द्विरुक्तिः । अनेन वीररसं पोषयति ।

अथवा राजकार्य में बहुतेरे पाप होते ही हैं—

प्रमादवश मनुष्य प्रतिदिन त्रुटि करता हुआ भी अपनी सभी त्रुटियों को नहीं समझ पाता, तो फिर प्रजा में से कौन मनुष्य किस रास्ते जाता है, यह सब बातें जानने की शक्ति भला किस राजा में हो सकती है ॥ ३१ ॥

(१) नेपथ्य में—ओ मेरी तरफ आओ—मेरी तरफ आओ !

राजा—[आकर्ण्य गतिभेदं रूपयन्] सखे ! न भेतव्यं न भेतव्यम्(१)।

[नेपथ्ये] भोः ! कथं न भेष्यामि । एष मां कोऽपि प्रत्यामोड्य शिरोधराम् इक्षुमिव भग्नास्थिं कर्तुमिच्छति (२) । (भो कधं न भाइस्सम् । एसो मं को वि पच्चामोडिअ सिरोधरं इक्खु विअ भग्गत्थि करिदुमिच्छदि ।)

राजा—[सदृष्टिक्षेपम्] धनुर्धनुः (३) ।

[प्रविश्य धनुर्हस्ता प्रतीहारी] जयतु जयतु भर्त्ता । एतत् सशरं शरासनं हस्तावारकश्च (४) । (जअदु जअदु भट्टा । एवं ससरं सरासणं हत्थावारओ अ ।)

राजा—[सशरं धनुरादत्ते] (५) ।

---

(१) राजेति । गतिभेदं—धावनमिति तात्पर्यम् । न भेतव्यमिति तदाश्वासनपरम् । भयं न कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

(२) नेपथ्ये इति । कथं न भेष्यामि—भयं न करिष्यामि । कोऽपि—अनिर्णीतः पुरुषः शिरोधरां—ग्रीवाम्, प्रत्यामोड्य-पश्चाद्मोडयित्वा, माम् इक्षुम्—इक्षुखण्डमिव, भग्नास्थिं—खण्डितम् । 'ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । 'भग्नास्थिम्' इत्यत्र 'त्रिभङ्गम्' इति पाठे—त्रिखण्डमित्यर्थः । अत्रोपमालङ्कारः, क्वचिच्च 'तीपणभङ्गम्' इति पाठः—तत्र भङ्गः—परिभवः; इक्षुपक्षे भञ्जनम् ।

(३) राजेति । सदृष्टिक्षेपं—माधव्याह्वानदिशि दृष्टिपातपूर्वकम् । धनुर्धनुरिति-क्रोधे द्विरुक्तिः, आनयेति शेषः ।

(४) प्रविश्येति । शरासनम्—शरान् अस्यतीत्यनेनेति विग्रहः धनुरित्यर्थः । हस्तावारकः-हस्तं-पाणिमावृणोति-व्याघातनिवारणायाच्छादयतीति सः, लौहनिर्मितहस्तावरणविशेषः । अत्र हस्तावापसहितमिति पाठे—हस्तावापेन—लौहनिर्मित हस्तावरणविशेषेण सहितमिति धनुर्विशेषणं बोध्यम् ।

(५) राजेति । आदत्ते—प्रतीहारीहस्ताद् गृह्णाति ।

---

(१) राजा—(सुनकर जल्दी जल्दी चलने का अभिनय करते हुये) मित्र ! मत डरो, मत डरो—

(२) नेपथ्य में—डरूं क्यों नहीं ? यह कोई व्यक्ति मेरी गर्दन मरोड़ कर हड्डियों को ऊख की तरह चूर चूर कर देना चाहता है !

(३) राजा—(देखकर) धनुष लाओ धनुष !

(४) प्रतीहारी—(हाथ में धनुष लिये आती है) महाराज की जय हो, जय हो । यह धनुष बाण और हस्तावरण प्रस्तुत है !

(५) राजा—धनुष—बाण लेता है ।

[नेपथ्ये]

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।
आर्त्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा
दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥ ३२ ॥

नेपथ्ये इति । एष इति । अभिनवकण्ठशोणितार्थी—अभिनवं-प्रत्यो निःसरणात् नूतनं कण्ठशोणितं गलरक्तमर्थयति-कामयते इति स तादृशः, एषः-अहम्, शार्दूलः व्याघ्रः' 'शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्र' इत्यमरः। पशुं—मृगादिजन्तुमिव, चेष्टमानम्—आत्मरक्षणाय पलायितुं यतमानम्, त्वां हन्मि—नाशयामि । अत्रोपमया मारणे प्रयासातिशयो न भविष्यतीति द्योत्यते । आर्त्तानां-पीडितानाम्, भयम् अपनेतुं—दूरीकर्तुम्, आत्तं—गृहीतं धनुर्धन्वा येन स तथाभूतः, धनुःपदे 'धनुषश्च' इति (पा०) सूत्रेण अनङादेशः 'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमरः, दुष्यन्तः, इदानीम्—अस्मिन् मारणव्यापारे सम्प्रति, तव शरणं—रक्षको भवतु, तस्य सामर्थ्यमस्ति चेत् स रक्षत्वित्यर्थः । अत्र 'अभिनवे' त्यादिविशेषणं शार्दूलपदेऽपि योज्यम् । तथा 'चेष्टमानम्' इति पशुपदेऽपि सङ्गमनीयम् । अत्राहुर्भट्टाः—'अनेन बीभत्सरसो ध्वनितः । तल्लक्षणं तु—

'हृद्यानां तु पदार्थानां दर्शनश्रवणादयः ।
स्वभावाद्धातुदोषाद्वा वस्त्वत्यन्ताप्रियात्मकम् ॥
स्याद्विभावोऽथानुभावाद्घृत्कम्पो गात्रधूननम् ।
अथ सञ्चारिणो मोहावेगापस्मारमृत्यवः ।
व्याधिश्च यत्र बीभत्सः संस्थायिन्या जुगुप्सया ॥
शुद्धोऽशुद्धोऽत्यन्तशुद्धौ बीभत्सस्तु त्रिधा मतः ।
आदौ रुधिरविष्ठादिशुद्धाशुद्धविभावजौ ॥' इति ।

दशरूपकेऽपि—'रुधिरान्त्रकीकसवसास्नाय्वादिभिः क्षोभणः"
इति द्वितीयो बीभत्सभेदः ।'—इति ।

आर्त्तानामित्यादि स्वाभाविकं क्रोधावेगसूचनम् ।

अत्र श्रौतोपमालङ्कारः । तथा 'लतेव राजसे तन्वि !' इति साहित्यदर्पणोद्धृतोदाहरणवत् 'अहं हन्मि शार्दूलस्तु हन्ति' पुरुषभेदेनार्थकरणाद् भग्नप्रक्रमतादोषः । तत् समाधानं तु सहृदयैर्विभावनीयम् ॥ प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ तल्लक्षणं तु—

नेपथ्य में—नूतन रुधिर पीने की इच्छा रखनेवाले व्याघ्र की तरह मैं छटपटाते हुए पशु की तरह तुझे मार डालता हूँ, दुखियों का भय दूर करने के लिए धनुष धारण करने वाले दुष्यन्त मैं यदि सामर्थ्य हो तो आकर तेरी सहायता करें ॥ ३२ ॥

राजा—[सरोषम्] कथं मामेवोद्दिशति । आः, तिष्ठ, तिष्ठ, कौणपापसद ! त्वमिदानीं न भवसि [चापमारोप्य] पार्वतायन ! सोपानमार्गमादेशय (१) :

कञ्चु—इत इतो देवः (२) ।

[सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति] (३) ।

राजा—[समन्तादवलोक्य] अये ! शून्यं खल्विदम् (४) !

[नेपथ्ये] भोः ! परित्रायस्व परित्रायस्व(५) ! अहं त्वां प्रेक्षे, त्वं मां

'त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' ॥ इति ॥ ६२ ॥

(१) राजेति । तत्कृतस्य 'दुष्यन्त' इति नामोच्चारणद्वारा गम्भीराक्षेपस्य फलमाह—कथमिति । मामेवेत्यात्मनिर्देशेन जगत्यद्वितीयवीरत्वं प्रकाश्यते । उद्दिशति—लक्षीकृत्य वदति । आ इति कोपसूचकमव्ययम् । तिष्ठ तिष्ठेति वीप्सा रोषावेगं सूचयति । कौणपापसद !—कुणपं-शवमदन्तीति कौणपाः क्रव्यादादयस्तेऽप्यपसीदति-पश्चाद् वर्त्तत इति सः तत्सम्बोधने रूपम्, हे राक्षसाधम ! इत्यर्थः; 'विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः । निहीनोऽपसदो जाल्म' इत्यमरः । न भवसि लपथमिति शेषः । काक्वा प्रश्नो गम्यते; तेनेदानीं त्वं मे लपथमेव भवसीत्यर्थः । तथा च त्वामद्यैव हन्मीत्यभिप्रायः ।

'कुणपः शवमस्त्रियाम्' इत्यमरः 'राक्षसः कौणपः क्रव्यात्' इत्यमरोऽपि ।

(२) कञ्चु इति । इत इतः पुरोवर्त्तिनानेनानेन मार्गेण, देव एत्विति शेषः ।

(३) सर्वे इति । उपसर्पन्ति मेघच्छन्नप्रासादागारमिति शेषः ।

(४) राजेति । समन्तात्—इतस्ततः, शून्यं-केनाप्यनधिष्ठितम् । अये इत्याश्चर्ये । इदं स्थानम्, शून्यं-सत्त्वरहितम् । तथा च क एवं विचेष्टते कं वा निहन्मीति भावः । अत्र विस्मयः ।

(५) पुनरपि रसपरिपोषायाह-नेपथ्ये इति । मार्जारगृहीतः—विडालाक्रान्तः;

---

(१) राजा—(क्रोध के साथ) ऐं, क्या हमी को लक्ष्य कर कह रहा है । अतः राक्षसाधम ! ठहर, ठहर ! मैं अभी तुझे समाप्त कर देता हूँ । (धनुष चढ़ाकर) पार्वतायन । सीढ़ी का रास्ता दिखाओ ।

(२) कंचुकी—महाराज ! इधर आइए इधर ।

(३) [सब शीघ्रता के साथ चले जाते हैं ।]

(४) राजा—(चारों ओर देखकर) ऐं ! यहां तो कोई नहीं है ।

(५) नेपथ्य में—मित्र मुझे बचाओ—मेरी रक्षा करो । मैं तो तुम्हें देख रहा हूँ और

न प्रेक्षसे। मार्जारगृहीत उन्दुरुरिव निराशोऽस्मि जीविते। (भो परित्ताआहि परित्ताआहि। अहं तुमं पेक्खामि, तुमं मं ण पेक्खसि। मज्जारगहिदो उन्दुरू विअ णिरासोह्मि जीविदे।)

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित! मदीयमस्त्रमपि त्वां न पश्यति? स्थिरो भव, मा च ते वयस्यसम्पर्काद्विश्वासोऽभूत्। एष तमिषुं सन्दधे(१)।

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः॥ ३३॥

उन्दुरुरिव=मूषिक इव, जीविते-जीवने, निराशोऽस्मि निष्प्रत्याशोऽस्मि। अत्रोपमालङ्कारः, उपमया जीवितनाशस्यावश्यंभावो द्योत्यते।

(१) राजेति। तिरस्करिणीगर्वित!-तिरस्करिण्या-चक्षुषोऽदृश्यताकरणविद्यया गर्वितः-साहङ्कारः; तिरस्करिणीवशादहमेव सर्वं पश्यामि न कोऽपि मामिति सञ्जातगर्व इत्यर्थः, तत्सम्बोधनम्, तद्गर्वमपहरामीति भावः। न पश्यति-काक्वा पश्यत्येवेत्यर्थः। वयस्यसम्पर्कात्-माधव्येन संयोगात्, विश्वासः-माधव्याङ्गेषु पतनसम्भावनया दुष्यन्तो बाणं न निक्षेप्तुं शक्यतीति प्रत्ययः, माभूत्—न भवतु। तत्कारणमाह;-एष इति। एषः—अहम्, तं तथाविधम्, इषुं-बाणम्, सन्दधे-योजयामि।

कीदृशोऽयमिषुः? इति तत्स्वरूपमाह—य इति। यः—इषुः, वध्यं-विनापि कारणेन ब्रह्महत्यायां प्रवृत्तत्वाद् वधार्हम् त्वाम्, हनिष्यति-प्रहरिष्यति; तथा रक्ष्यं-निरपराधत्वेनावश्यं रक्षायोग्यम्, द्विजं—माधव्यब्राह्मणम् रक्षिष्यति। तमिषुं सन्दधे इति भावः। उक्तार्थेऽसम्भाव्यत्वशङ्कां परिहर्तुं दृष्टान्तमाह—हंस इति। हि-तथाहि, हंसः-तदाख्यः पक्षिविशेषः क्षीरं—दुग्धम्, आदत्ते जलमध्याद् गृह्णाति, किन्तु तन्मिश्राः क्षीरसम्पृक्ताः, अपः-जलानि, वर्जयति—त्यजति। तथा च स्वभाव एवायमिति भावः।

अत्र दृष्टान्तोऽलङ्कारः। श्रौतोपमालङ्कार इति वागीशाः।

तुम मुझे नहीं देखते? बिल्ली के पंजे में पड़े चूहे की तरह मैं तो जीवन से निराश हो गया हूँ।

(१) राजा—ओ तिरोहित अत एव गर्वीले व्यक्ति! क्या मेरा अस्त्र भी तुझे नहीं देख सकेगा। ठहरो, मित्र के शरीर का संस्पर्श पा लेने के कारण क्या तुम बच जाओगे, तुम्हें यह विश्वास न हो जाय, इसीलिए मैं ऐसा बाण चढ़ाता हूँ कि—

जो तुम आततायी को मार डालेगा और वह रक्षणीय ब्राह्मण बचा रहेगा। जैसे दूध और पानी मिले हुए पात्र से हंस दूध ले लेता है और पानी त्याग देता है॥ ३३॥

[इति शस्त्रं संधत्ते ।] (१)

(ततः प्रविशति मातलिर्विदूषकश्च (२) !)

मात—आयुष्मन् ! (३) ।

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः ॥३४॥

'रक्षिष्यति द्विजम्' इत्यत्र 'रक्षति च द्विजम्' इति पाठान्तरम्;, तत्र-भविष्यत्सामीप्ये लट्, रक्षिष्यतीत्यर्थः, अस्मिन्, पक्षे क्रियाद्वयसमुच्चयबोधकश्चकारो युक्त एव । अत्र रौद्रो रसो ध्वन्यते । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

(१) इतीति । शस्त्रं—बाणम् ।

(२) तत इति । मातलिः—इन्द्रसारथिः ।

(३) मात इति । आयुष्मन्—आयुःप्रशस्तिमन् ।

कृता इति । हरिणा—इन्द्रेण, 'हरिर्यमानिलेन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः, असुराः तव शरव्यं-शरमोक्षणलक्ष्यं कृताः 'लक्ष्यं लक्षं शरव्यञ्चे'त्यमरः, एकेनैव शरपातेन 'निखिलानामसुराणां विनाशं प्रतिपादयितुं शरव्यमित्येकत्वं कृतम्, क्लीबत्वञ्च नित्यत्वात्, ततश्च 'एको वृक्षः पञ्च नौका भवती'तिवत् कृता इति बहुत्वम् । यथोक्तम्—'प्रकृतेर्विकृतेर्वापि यत्रोक्तत्वं द्वयोरपि । वाचकः प्रकृतेः संख्यां गृह्णाति विकृतेर्न तु ॥' इति । इदं—शरासनं धनुः, तेषु—असुरेषु विकृष्यताम्—आकृष्यताम्, न मयीति भावः, यतः सुहृज्जने-मित्रजने सतां—प्रशस्तपुरुषाणाम्, प्रसादेन—प्रसन्नतया, सौम्यानि—सुन्दराणि 'सौम्यन्तु सुन्दरे सोमदैवत' इत्यमरः, चक्षूंषि पतन्ति, दारुणः-भीषणाः, शरा न पतन्ति । अतः संहितमपि शरमुपसंहृत्य सप्रसादं चक्षुरेव पातयेत्याशयः ।

अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः । 'चक्षूंषि पतन्ति शरा न पतन्ति' इति शरव्यपोहनात् शाब्दी परिसंख्यापि । तथा पूर्वार्द्धे प्रथमपादवाक्यं प्रति द्वितीयचरणावाक्यस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कारश्चेति केचित् । सतां तादृशचक्षुषा सुहृज्जनसम्बन्धप्रतीतेः समालङ्कारोऽप्यत्र ध्वनितः

(१) (ऐसा कह कर बाण चढ़ाता है ।)

(२) (इसके अनन्तर मातलि और विदूषक आते हैं ।)

(३) मातलि—आयुष्मन् !

देवराज इन्द्रने दैत्यों को आपके बाण का लक्ष्य निर्दिष्ट कर दिया है । इसलिये आप उन असुरों के ऊपर ही यह धनुष चढ़ावें ! सज्जन उन अपने बन्धुओं पर प्रसाद-सुन्दर दृष्टिपात ही कर सकते हैं, भयानक बाण का प्रयोग नहीं करते ॥ ३४ ॥

राजा—[ससम्भ्रममस्त्रमुपसंहरन्] अये मातलिः ! स्वागतं देवराजसारथेः (१)।

विदू—भो मनस्विन् ! अनेनाहं पशुमारणं मारयितुं प्राप्तः, भवान् पुनरिमं स्वागतेनाभिनन्दति (२)। (भो मणस्सि ! इमिणा अहं पशुमारणं मारिदुं पाविदो, भवं उण इमं साअदेण अहिणन्ददि ।)

मात—[सस्मितम्] आयुष्मन् ! श्रूयतां यदर्थमस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रेषितः (३)।

राजा—अवहितोऽस्मि (४)।

'तेषु विकृष्यताम्' इत्यनेन तदर्थमात्रमहमागतोऽस्मीति सूचितम् । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ३४ ॥

(१) राजेति । ससम्भ्रमं—सोद्वेगम् । अस्त्रं बाणम्, उपसंहरन्-अयोजयन् । अये इति विस्मये । 'देवराजसारथेः' इति गौरवं द्योतयति ।

(२) विदू इति । सासूयमाह-भो इति । मनस्विन् !-प्रशस्तमनः !, सोल्लुण्ठनसम्बोधनमिदम् । प्रशंसायां विनिप्रत्ययः । असूयाकरणे कारणं दर्शयति—अनेनेति । अनेन—मातलिना । पशोर्मारणमिव मारणं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, मारयितुं-हन्तुम्, प्राप्तः-गृहीतः । स्वागतेन-स्वागतप्रश्नेन, अभिनन्दति-आद्रियते । इदं ते महदनुचितमिति भावः ।

क्वचित् पुस्तके 'पशुमारणम्' इति स्थाने 'इष्टिपशुमारम्' इति पाठः तत्र—यथा यागे पशुर्मार्यते तथेत्यर्थः ।

(३) मातेति । सस्मितमिति । विदूषकवचनेन कौतुकोदयात् स्मितम् । यत्-यस्मात्, हरिणा—इन्द्रेण । अस्मि—अहम् ।

(४) राजेति । अवहितोऽस्मि-कृतावधानोऽस्मि, अवोपसर्गात् धातोः क्तप्रत्ययः । श्रोतुमिति शेषः । अनेन श्रवणादरं द्योतयन्निन्द्रे बहुमानं प्रकाशयति ।

---

(१) राजा—(घबराहट के साथ बाण धनुष से उतारता हुआ) अहो मातलि ! देवराज इन्द्र के सारथि ! मैं आपका स्वागत करता हूँ ।

(२) विदूषक—ओ मनस्वी ! यह मुझे पशु की मौत मारना चाहता था, मगर तुम स्वागत करके इसका अभिनन्दन कर रहे हो ?

(३) मातलि—(मुस्कुराते हुए) आयुष्मन् ! जिस कार्य से इन्द्र ने मुझे आपके पास भेजा है, वह सुनिये ।

(४) राजा—मेरा ध्यान उसी ओर है, आप कहें ।

मात—अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः (१) ।

राजा—अस्ति, श्रुतपूर्वो मया नारदात् (२) !

मात—सख्युस्ते स किल शतक्रतोरवध्य-
　　स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता । संग्रामे
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्ति-
　　स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥ ३५ ॥

स भवानात्तशस्त्र एवेदानीं देवरथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम् (३) ।

---

(१) मातेति । कालनेमिः-तदाख्यासुरः तस्य प्रसूतिः-सन्ततिः, दुःखेन जीयत इति दुर्जयः । खल् प्रत्ययः । जेतुमशक्य इत्यर्थः । नामेति सम्भावनायाम् ।

(२) राजेति । श्रुतपूर्वः-अस्मीति मया पूर्वं श्रुत इत्यर्थः, स दानवगण इत्य-नुषज्यते, राजदन्तादित्वात् पूर्वनिपातः श्रुत इति कर्मणि क्तः ।

मातेति । कृत्यं वक्तुमारभते-सख्युरिति । सः-दानवगणः किलेति प्रसिद्धौ, ते-तव, सख्युः-पूर्वं साहाय्यानुष्ठानात् सुहृदः शतक्रतोः इन्द्रस्य, अनेन पराक्रमातिशयो द्योत्यते, अवध्यः-कुतोऽपि कारणाद् हन्तुमशक्यः रणशिरसि-युद्धाग्रे, त्वम्, तस्य-दानवगणस्य, निहन्ता-विनाशकर्त्ता, स्मृतः शतक्रतुनैव निर्णीतः । ननु शतक्रतो-रवध्यः कथं मम वध्य इति शङ्कां परिहर्तुं दृष्टान्तमाह—उच्छेत्तुमिति । सप्त सप्तयः-अश्वा यस्य सः सप्तसप्तिः-सप्ताश्ववाहनः सूर्य इति यावत्, नैशं—निशाभवम्, यत् तिमिरम्—अन्धकारम्, उच्छेत्तुं—नाशयितुम्, न प्रभवति—शक्नोति; चन्द्रः तत्-तिमिरम्, अपाकरोति-विध्वंसयति । तथा च तद्दानवगणस्येन्द्रावध्यत्वेऽपि त्वद्व-ध्यत्वमित्यत्र नैशतमसः सूर्याविनाश्यत्वेऽपि चन्द्रविनाश्यत्वमिव विधिरेव नियामक इति भावः । तेन शतक्रतोर्नास्त्येव नैकृष्ट्यावसर इति ध्वन्यते ।

अत्र दृष्टान्तोऽलङ्कारः । प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ ३५ ॥

(३) अथ कर्त्तव्यमाह-स इति । आत्तशस्त्रः—गृहीतायुध एवेत्येवकारेण सहा-यान्तरव्यवच्छेदः । देवरथं—व्योमयानमिदम् । विजयाय—विजेतुम्, 'तुमर्थाच्च

---

(१) मातलि—कालनेमि के वंशज कुछ दुर्जय राक्षसों का समुदाय है !

(२) राजा—हाँ, मैंने नारद द्वारा सुना था ।

मातलि—ये सब दानव तुम्हारे मित्र इन्द्र द्वारा नहीं मारे जा सकते । संग्राम में आप ही उसका वध कर सकेंगे ऐसा उन्होंने विचारा है । क्योंकि सूर्य जिस अन्धकार को नष्ट करनेमें समर्थ नहीं होता, उस रात्रिकालीन अन्धकारको चन्द्रमा नष्ट कर दिया करता है ।

(३) अतएव आप अभी अपने सब शस्त्रों को लेकर और देवरथ पर बैठ कर उन असुरों को जीतने के लिए चलें ।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि अनया मघवतः सम्भावनया ! अथ माधव्यम्प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम् (१)।

मात—[सस्मितम्] तदपि कथ्यते। किञ्चिन्निमित्तादपि मनःसन्तापादायुष्मान् मया विक्लवो दृष्टः, पश्चात् कोपयितुमायुष्मन्तं तथा कृतवानस्मि। कुतः (२)—

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
तेजस्वी संक्षोभात् प्रायः प्रतिपद्यते तेजः ॥ ३६ ॥

भाववचनात्' इति (पा०) चतुर्थी, प्रतिष्ठतां—गच्छतु, 'समवप्रविभ्यः स्थः' (पा०) इत्यात्मनेपदम्।

(१) राजेति। सविनयमनुवदति-अनुगृहीत इति। मघवतः-इन्द्रस्य सम्भावनया बहुमत्या। इत्यन्वयमिन्द्रस्य सर्वपूज्यत्वं वदंस्तत्सम्भावनया स्वस्य कृतार्थतां प्रकाशयति। अथ वयस्यपरिभवे कारणं पृच्छति-अथ इति। अथशब्दः प्रश्ने। 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः। किं—कथम्।

(२) मातेति। सस्मितमिति। माधव्यपीडनघटनाया अकिञ्चित्करत्वसूचनाय स्थितम्। कथ्यते मयेति शेषः। किञ्चित् अस्माभिरज्ञातं किमपि निमित्तं कारणं यस्य स तस्मात्, मनःसन्तापात्, मनस्तापात्, आयुष्मान्—आयुःप्राशस्त्यवान्, भवान्, विक्लवः-अधीरः अस्वभावस्थ इत्यर्थः। पश्चात्—अस्वभावस्थत्वदर्शनानन्तरम्, आयुष्मन्तं-भवन्तम्, कोपयितुं—कोपाविष्टं कर्तुम्, तथा—माधव्यग्रीवापीडनम्। कोपाधाने हेतुं दर्शयितुं भूमिकां रचयति-कुत इति।

हेतुं दृष्टान्तेन समर्थयते-ज्वलतीति। अग्निः-वह्निः दाह्याभावतया निर्वाणप्रायोऽपीति शेषः, चलितं-प्राप्तचलनं सुष्ठुदाहे पुनर्निक्षेपात्सञ्चरितमिति यावत् इन्धनं-काष्ठं यस्मिन् स तादृशः सन्, 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः' इत्याद्यमरः, ज्वलति-पुनर्दीप्यते। तथा पन्नगः-सर्पः सुस्थोऽपीति शेषः; विप्रकृतः;-केनाप्युद्वेजितः सन्, फणां कुरुते-दर्शयति, 'करोतिः सर्वधात्वर्थं वक्ती'त्यभियुक्तोक्तेः; फणोत्तोलनपूर्वकं स्वपराक्रममाविष्करोतीति तात्पर्यम्। तेजस्वी-पुमान्, केनापि कारणेन प्रशमिततेज-

(१) राजा—देवराज के इस सम्मान से मैं अपने को अनुगृहीत मानता हूँ। लेकिन आपने माधव्य के प्रति ऐसा व्यवहार क्यों किया ?

(२) मातलि—(थोड़ा मुस्कराकर) वह भी बताता हूँ। किसी कारणवश मैंने आपको शोकाकुल देखा था अतः आपको क्रुद्ध करने ही के लिये मैंने ऐसा किया है। क्योंकि—

काष्ठ को इधर-उधर खिसकाने से आग धधकती है और छेड़ने से सांप फन फैलाता है। इसी तरह तेजस्वी मनुष्य उत्तेजना पाने ही पर प्रायः अपना तेज प्रगट करता है ॥३६॥

राजा—युक्तमनुष्ठितं भवद्भिः । [विदूषकं प्रति] वयस्य ! अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा, तद्गच्छ परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि (१) ।
त्वन्मतिः केवला तावत् प्रतिपालयतु प्रजाः ।

स्कोऽपीति शेषः, संक्षोभाद्-सम्यक् क्षोभम्-उत्तेजनां प्राप्येत्यर्थः, ल्यब्लोपे पञ्चमी, कुतश्चिदिति तात्पर्यम्, प्रायः—बाहुल्येन, इदं बाहुल्यार्थकमव्ययम्, तेजः—स्वकीयं पराक्रमम्, 'तेजो दीप्तौ प्रभावे च स्यात् पराक्रमरेतसोः' इति मेदिनी, प्रतिपद्यते—आसादयति आविष्करोति तात्पर्यम् । तथा चास्य ते प्रियवयस्यस्य माधव्य-ब्राह्मणस्योत्पीडनरूपामुत्तेजनां प्राप्य त्वमपि आगन्तुकसन्तापादित्यागपूर्वकं पुनः पूर्वं तेजः प्राप्तवानेवेत्याशयः ।

अत्र सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनाद् दृष्टान्तालंकारः । स च वह्निपन्नगरूपोप-मानद्वयसाधर्म्यस्य प्रतिबिम्बनान्मालारूपो बोध्यः । तथा भवानिति विशेषे प्रस्तुते तेजस्वीति सामान्योक्तेरप्रस्तुतप्रशंसाऽपि । केचित्तु अत्र प्रतिवस्तूपमां समनु-यन्ति । तेजःप्रतिपत्तिरूपैकक्रियायाः पृथक् पृथङ् निर्देशात् । यदुक्तं दर्पणे—

'प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥ इति ॥

आर्या जातिः ॥ ३६ ॥

(१) राजेति । तदुक्तमनुमनुते-युक्तमिति । युक्तम्-उचितम्, अनुष्ठितम्-आच-रितम् । अन्यथा मम मनःसन्तापात् प्रशमिततेजःप्राप्तिर्दुरधिगमैव स्यादिति भावः । अत्र विमर्शसन्धेः शक्तिनामाङ्गमुपन्यस्तं मातलिकर्तृकमाधव्यपरिपीडनरूपविरोधस्य प्रशमनात्, तल्लक्षणं यथा दर्पणे—

'शक्तिः पुनर्भवेद् । विरोधस्य प्रशमनम्' । इति ।

विदूषकमिति । दिवस्पतेः—स्वर्गाधीश्वरस्येत्यनतिक्रमणीयत्वे हेतुः । दिवस्पति-रिति अलुक् षष्ठीसमासः । कस्कादित्वात् सुट् च । अनतिक्रमणीया-अनवहेलनीया । परिगतार्थम्—परिगतः परिज्ञातः अर्थः अयं वृत्तान्तो येन तं तथाभूतणम्, कृत्वा—एतद्वृत्तान्ताभिज्ञं कृत्वेत्यर्थः, अमात्यपिशुनं-पिशुननामानं प्रधानं मन्त्रिणम् ।

ब्रूहीति वचनप्रकारमाह-त्वन्मतिरिति । केवला-एकाकिनी, धनुषः सहायिनोऽ-भावादिति भावः । पूर्वं प्रजापरिपालने उभयमपि व्यापृतमासीदधुना ते मतिरेवेति केवलेत्युक्तम् । एतेन नायकस्योभयायत्तसिद्धित्वं दर्शितम्, त्वन्मतिः—तव बुद्धिः-

---

(१) राजा—अपने ठीक ही किया । (विदूषक के प्रति) मित्र ! देवराज की आज्ञा टाली नहीं जा सकती, इसलिये जाओ और महाराज इन्द्र का यह समाचार हमारे ही शब्दों में सुना कर मंत्री पिशुन से कह दो—

अब कुछ रोज एकमात्र आपकी बुद्धि ही समस्त प्रजाका पालन करे । गुणयुक्त मेरा

अधिज्यमिदमन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतं धनुः ॥ २७ ॥

विद०—यद्भवानाज्ञापयति (जं भवं आणवेदि ।) [इति निष्क्रान्तः] (१)

मात—आयुष्मान् रथमारोहतु (२) ।

राजा— तथा करोति (३) ।

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे] (४)

षष्ठोऽङ्कः ।

प्रजाः—राज्यस्थान् जनान्—तावत्—अद्य तदवधि, मदागमनपर्यन्तम् इत्यर्थः, प्रतिपालयतु—परिरक्षतु । ननु त्वद्धनुरिदानीं किं कुर्यादित्यत आह—अधिज्यमिति । अधिज्यम्-अध्यारूढा ज्या यत्र तत्; युक्तमौर्वीकम्, इदं-मदीयम्; धनुः अन्यस्मिन् कर्मणि—दुर्जयदानवगणहनने व्यापृतं—नियुक्तम् । अनेनोत्साहातिशयः प्रकाश्यते, व्यापृतत्वञ्च धनुषि आत्मनिष्ठमारोप्यते । एवमेव पूर्वमुक्तम्—

'विश्रामं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः' इति । अत्र वीररसस्य परिपोषः कृतः । काव्यलिङ्गमलंकारः ॥ २७ ॥

(१) विदू इति । निष्क्रान्तः—विदूषक इति शेषः ।

(२) मातेति । रथं—देवरथम् ।

(३) राजेति । तथा करोति—रथमारोहतीत्यर्थः ।

(४) इतीति । एवं वृत्ते सति इत्यर्थः सर्वे—दुष्यन्तादयः, पात्राणां बहुत्वात् बहुवचनम् ।

(५) षष्ठेति । अस्मिन्नङ्के चेट्योरभयदानलाभः । मिश्रकेश्याः शकुन्तलामनोरथपूरणसम्पत्तिः । नायकस्य चित्रदर्शनादिना विप्रलम्भपरिपोषः । क्षेपे मातलिप्रवेशेन वीर्यसन्धुक्षणम् । अहो षष्ठाङ्कस्य विस्तृतता । अहो पूर्वमानवा अपि स्वदेहेन स्वर्गं जग्मुः । नमस्तेषां पुण्यकर्मभ्य इति शिवम् ।

इति किशोरकेलिव्याख्यायां षष्ठोऽङ्कः समाप्तः ।

यह धनुष अब दूसरे काम में लग रहा है ॥ २७ ॥

(१) विदूषक—श्रीमान् की जो आज्ञा । (चला जाता है)

(२) मातलि—आप रथ पर बैठें ।

(३) राजा—(रथ पर बैठता है)

(४) (सब जाते हैं)

षष्ठ अंक समाप्त ।

सप्तमोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्याकाशयानेन रथारूढो राजा मातलिश्च ।] (१) ।

राजा—मातले ! अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये (२) ।

कलौ तां कालिकां देवीं कलापाहालनाशिनीम् ।
लोलकुन्तलसन्तानां नमामः संवलेश्वरीम् ॥ १ ॥

(१) तत इति । षष्ठाङ्कवृत्तानन्तरम् । अथ षष्ठेऽङ्के मिश्रकेशीवचनेनोपक्षिप्तं राज्ञः शकुन्तलासङ्गमं वर्णयिष्यन् कविः 'अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यमुत्तराङ्कार्थसूचना' इत्युक्तेनाङ्कास्येन राज्ञो मातलिना सह प्रवेशमाह—प्रविशतीति । रथारूढः—स्यन्दनारूढः, व्योमयानारूढ इति यावत् , आकाशवर्त्मनेति प्रयुक्तत्वात् ; भूगामिरथस्याकाशसञ्चरणासम्भवात् । एतेन सत्यादियुगेऽपि व्योमयानमासीदिति नास्याधुनिकी कल्पनेति प्रतीयते । इदं मारीचाश्रमगमने बीजम् । अत्राङ्के रसस्तु वीरोऽद्भुतश्च रतिर्देवादिविषयेति लक्षितो भावश्च । तथा शकुन्तलायाः प्रवेशात् परतो रसः शृङ्गारः; स चाङ्गी ।

(२) राजेति । अथ हतदुर्जयदानवगणो दुष्यन्तो दिवस्पतिना परितुष्टेन सगौरवं विसृष्टो व्योमयानेन भूलोकमवतरन् दिवस्पतिकृतसत्कारातिशयस्यात्मनोऽयोग्यत्वमाह—मातले इत्यादि । अनुष्ठितनिदेशोऽपि—दुर्जयदानवगणवधद्वारा प्रतिपालिताज्ञोऽपि, 'प्रैष्यादेशनिदेशाज्ञा नियोगः शासनं तथा' इति धनञ्जयः । अनेन दिवस्पतिना दानववधार्थं नियुक्तो राजा दानवैर्विगृह्य तान् पराजित्य चागतवानिति युद्धादिकं द्योतितम्, 'दूराह्वानं वधो युद्धम्' इत्यादिना ऽङ्के युद्धवर्णनस्य निषिद्धत्वादुत्तरचरिते विद्याधरमिथुनवदन्यद्वारा वार्त्तिकाभिनयेनापि प्रदर्शनस्य प्रकृतेऽनुपयुक्तत्वाद् वीररसस्यातिशयेन वर्णने त्वनङ्गाभिधानरूपरसदोषापत्तेश्च दानवयुद्धवृत्तमेतद् दुष्यन्तवाक्येनैव व्यक्तीकृतमिति विवेचनीयम्, मघवतः—महेन्द्रस्य सत्क्रियाविशेषात्—सम्मानातिशयात् , सम्मानातिरेकमपेक्ष्येत्यर्थः, ल्यब्लोपे पञ्चमी अनुपयुक्तमिव—अयोग्यमिव, इन्द्रं प्रत्यकृतोपकारमिवेति यावत् , समर्थये—सम्भावयामि; सामान्यमानवत्वेन तादृशसम्माननाभाजनत्वादिति भावः । 'अत एवात्र इन्द्रं प्रति यन्मया कार्यं कृतं तदिन्द्रसम्माननायाः सहस्रांशेनापि तुलयितुं न क्षममिति सूक्ष्मार्थप्रकाशनात् सूक्ष्मालङ्कारः । एतेनेन्द्रस्य प्रत्युपकारशीलत्वं विनय-

---

(१) (तदनन्तर आकाशपथ से जाते हुये रथारूढ मातलि और राजा प्रवेश करते हैं)

(२) राजा—मातलि ! यद्यपि मैंने देवराज की आज्ञा का पालन किया है, फिर भी मैं यही सोचता हूँ कि उन्होंने जो मेरा इतना बड़ा सम्मान किया है, मैं उसके योग्य नहीं हूँ ।

मातलिः—[सस्मितम्] आयुष्मन् ! उभयत्राप्यसन्तोषमवगच्छ ।
कुतः—(१) ।

युक्तत्वं गुणग्राहित्वञ्च; आत्मनस्तु परमशौर्यशालित्वसिन्द्रेण तथा पूजितत्वाद्-त्यन्तसौभाग्यास्पदत्वञ्च व्यज्यते' इत्यर्थद्योतनिका । इतः प्रभृति ग्रन्थसमाप्तिपर्यन्तो निर्वहणसन्धिरिति प्राचीनाः । विश्वनाथपादास्तु–शकुन्तलाभिज्ञानात्परमासमाप्ति निर्वहणसन्धिरित्याहुः । निर्वहणलक्षणमुक्तन्तैर्दर्पणे—

'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ॥' इति ।

अस्य किल सन्धेश्चतुर्दशाङ्गानि भवन्ति । यदुक्तं तत्रैव—

'सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।
कृतिः प्रसाद आनन्दः समयोऽप्युपगूहनम् ॥
भाषणं पूर्ववाक्यञ्च काव्यसंहार एव च ।
प्रशस्तिरिति संहारे ज्ञेयान्यङ्गानि नामतः ॥' इति ।

एतेषां लक्षणानि यथास्थानं वक्ष्यन्ते । किञ्चात्र शकुन्तलाप्राप्तिरूपं कार्यं नामार्थ-प्रकृतिर्दर्शिता; कार्यस्य च दुष्यन्तस्य पुत्रेण सह स्त्रिया लाभात् फलागमो नामा-वस्था निबद्धा । यथा च दर्पणे—

'अपेक्षितन्तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ।
समापनन्तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति सम्मतम् ॥' इति ।
'अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
प्रारम्भयत्नप्राप्त्याशा नियताप्तिफलागमाः' ॥ इति ।

तत्र फलागमलक्षणमुक्तं तत्रैव—

'सावस्था फलयोगः स्याद् यः समग्रफलोदयः' । इति ।

एवं संवादो यथा रत्नावल्याम्—

'रत्नावलीलाभश्चक्रवर्त्तित्वलक्षणफलान्तरलाभसहितः' इति ।

(१) मातलिरिति । सस्मितं–सेषद्धासम् । कविवाक्यमिदम् । तच्चोभयत्राप्य-सन्तोषदर्शनेन कौतुकोद्गमाद्बोध्यम् । उभयत्रापि–भवति मघवति च, असन्तोषम्–अपरितोषम् एकत्र सत्कारानुरूपोपकाराकरणावधारणादपरत्रोपकारानुरूपसत्कारा-करणावधारणादिति भावः । यद्वा एकत्रात्मनो मानवतया देवराजकृतसत्कारविशेषा-योग्यत्वभावनादपरत्र दुर्जयदानवगणहननकर्तुः कृते साधारणसत्कारस्य तुच्छत्व-भावनादिति भावः । तत्र स्वयमेव हेतुमुत्थापयति–कुत इति ।

(१) मातलि—(मुस्कुराते हुए) आयुष्मन् ! असन्तोष दोनों तरफ है क्योंकि—



उपकृत्य हरेस्तथा भवान् लघु सत्कारमवेक्ष्य मन्यते ।
गणयत्यवदानसम्मितां भवतः सोऽपि न सत्क्रियामिमाम् ॥ १ ॥

उपकृत्येति-भवान् हरेः-इन्द्रस्य, तथा-दुर्जयदानवहननात्मकव्यापारसाधनद्वारा; उपकृत्य-अभीष्टं पूरयित्वा, सत्कारं-परमसन्तुष्टेनेन्द्रेण कृतं सम्मानम्, अवेक्ष्य-अवलोक्य, लघु-स्वल्पम्, मन्यते-सम्भावयति, आत्मकृतमुपकारमिति शेषः । महदुपकृतमपीन्द्रकृतसम्भावनापेक्षया तुच्छं भावयतीत्यर्थः, तथा चैकस्मिन् पक्षे भवतोऽसन्तोष इति भावः । तथा सः-हरिरपि, इमां-स्वकृताम्, सत्क्रियां-सत्कारम्, भवतोऽवदानेन दुर्जयदानवगणहननरूपं (कर्म) व्यापारेण सम्मितां-परिमिताम् तदुपयुक्तामिति यावत् 'अवदानं कर्म वृत्तम्' इत्यमरः, न गणयति-न मन्यते, तथा चापरस्मिन् पक्षे इन्द्रस्याप्यसन्तोष एवेति भावः ।

क्वचित् पुस्तकेऽस्य श्लोकस्य पाठो न दृश्यते तस्य स्थाने निम्नोक्तः श्लोकस्तु दृश्यते, स तथा—

प्रथमोपकृतं मरुत्वतः प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् ।
गणयत्यवदानविस्मितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ॥' इति ।

अथ व्याख्या—भवान् मरुत्वतः-इन्द्रस्य, प्रतिपत्त्या-पश्चात् कृतेन गौरवेणेत्यर्थः, प्रथमोपकृतं-सत्कारात् पूर्वमनुष्ठितं न तु सामान्यजनस्येव ततः परमनुष्ठितं दानवहननलक्षणमुपकारम् लघु-स्वल्पं मन्यते, अहन्तु तत् बहु मन्ये इति भावः । तथा सः—इन्द्रोऽपि, भवतः अवदानेन-शुद्धकर्मणा विस्मितः-जातविस्मयः 'अवदानं शुद्धकर्म' इति राघवधृतपाठेऽमरः, सत्क्रियायां—स्वकृतसम्माननायां गुणान्—यत्नातिशयादीन्, अथवा सत्क्रियया-स्वकृतसम्माननया गुणान्—विनयार्जवादीनित्यर्थः, न गणयति-न साधु मन्यते, तव कर्म स्मृत्वा मया तस्य सम्मानना कृतेति चेतस्यपि तस्य नायातीत्यर्थः । भवानिन्द्रश्च उभावपि न परितुष्यतः अहो द्वयोरपि सौजन्यमिति मातलेर्विस्मयो हर्षश्च ।

अत्र क्रिया चेत् कथं गुणा इति शब्दशक्तिमूलो विरोधाभासो व्यङ्ग्यः । तथा सत्क्रियालक्षणे कारणे सत्यपि गणनलक्षणकार्यानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिरपि । अथ च गणनाभावलक्षणकार्योत्पत्तौ कारणाभावात् विभावनाप्युन्नेया । तथा च विभावनाविशेषोक्त्योः सन्देहसाङ्कर्यम् । सुन्दरी वृत्तम् । लक्षणं प्राक् प्रदर्शितम् ॥ १ ॥

आप इस प्रकार इन्द्रका उपकार करके भी इस सेवा को तुच्छ समझते हैं और उधर देवराज भी इस सन्मान को आपके उपकार की अपेक्षा स्तुत्य नहीं मानते ॥ १ ॥

राजा—मातले ! मा मैवम् । स खलु मनोरथानामपि दूरवर्त्ती, यो विसर्जनावसरे सत्कारः । मम हि दिवौकसां समक्षमर्द्धासनोपवेशितस्य (१) ।

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥ २ ॥

(१) राजेति । 'भवतः सोऽपि न सत्क्रियामिमाम्' इत्युक्तं प्रतिषिध्य तत्कृतगौरवे अतिशय्य दर्शयति—मातले इति । मा मैवं ब्रूहीति शेषः, इन्द्रस्यापरितोषस्य नावकाशो न ममापि वा प्रशंसनीयत्वमिति भावः । कुत इत्यत्राह—स खल्विति । विसर्जनावसरे—मम प्रस्थापनकाले, यः सत्कारः—सम्माननम्, वासवेन कृत इति शेषः, स खलु सत्कारः, मनोरथानाम्—अभिलाषाणामपि, दूरवर्त्ती अगोचरः क्वचिदभूमिरिति पाठः; तत्र स एवार्थः । उक्तमुपपादयति ममेति । हि—यस्मात्, दिवौकसाम्—द्यौः-स्वर्गः ओकः—वासस्थानं येषां तादृशानामन्येषां देवानाम्, पृषोदरादित्वादकारागमे ओकस ओकारस्यौकारः, कप्रत्ययान्ताद्दिवधातोर्निष्पन्नेनाकारान्तदिवशब्देन ओक इत्यस्य वा सन्धिः; बहुवचनेन न तु यस्य कस्यचिदेकस्य परन्तु सकलानां देवानामित्यर्थः, समक्षं-प्रत्यक्षमास्थानमण्डपे, अनेन श्रूयमाणत्वस्य व्यवच्छेदः, अर्द्धासने-स्वासनार्द्धभागे, अनेनान्यासनसाधारणस्य व्यवच्छेदः, उपवेशितस्य—इन्द्रेण स्वयं गृहीत्वा निवेशितस्य न तु स्वयमुपविष्टस्येत्येतस्य व्यवच्छेदः ममेत्यस्य 'हरिणा मन्दारमाला पिनद्धा' इति श्लोकस्थवाक्येनानुषङ्गः । अत्रोपवेशनं तदपीन्द्रकर्तृकं तच्च स्वार्द्धासने तच्च सर्वदेवसमक्षमित्येते सर्वेऽपि सत्कारप्रकारा मालासमर्पणस्याङ्गभूताः ।

अन्तर्गतेति । अन्तिकस्थं—समीपवर्त्तिनं न तु दूरस्थम्, अन्तर्गता—हृद्गता न पुनर्वाचा प्रकाशिता प्रार्थना—मन्दारमालाविषयिणी याच्ञा यस्य तम्, जयन्तं—जयन्तनामानं स्वपुत्रम्, 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः, उत्—अधिकम् वीक्ष्य—दृष्ट्वा तदन्तर्गतप्रार्थनां ज्ञात्वापीत्यर्थः, कृतस्मितेन—कौतुकोदयात् कृतमन्दहासेन, तन्मनोगतप्रार्थनानुमानेन स्मितोदय इति ज्ञेयम्, एतेन जयन्तादपि आत्मनोऽधिकस्नेहपात्रताऽत्र ध्वनिता, हरिणा—इन्द्रेण, आमृष्टस्य—संश्लिष्टस्य वक्षोहरिचन्द-

(१) राजा—मातलि ! नहीं, ऐसा न कहिये । विदा करते समय उन्होंने मेरा जो सम्मान किया, वह आशातीत सम्मान था । क्योंकि उन्होंने देवताओं के सामने मुझे अपने आधे आसन पर बैठाया था ।

देवराज के समीप ही उनके पुत्र जयन्त बैठे थे, वे भी मन्दारमाला के लिये प्रार्थी होना चाहते थे । ऐसी अवस्थामें इन्द्र ने जयन्त की तरफ निहारा और कुछ मुस्कराये । फिर इसके

मात०—किमिव नायुष्मानमरेश्वरादर्हति ? । पश्य (१)—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम् ।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेशरिणश्च पुरा नखैः ॥ ३ ॥

नस्य-वक्षःस्थललिप्तसुरलोकसुलभचन्दनविशेषस्य अङ्कः-चिह्नं यस्याः सा तथोक्ता, स्वोरःस्थलस्थितेति भावः, अत्राङ्कपदोपादानेन मालायास्तत्कालधारणं तस्यास्तत्कालकृतं चन्दनानुलेपस्वञ्च व्यज्यते, तेन तत्कण्ठयोग्यत्वाम्लानत्वात्यन्तसुरभित्वमनोहरत्वादिकं व्यज्यते, मन्दारमाला मन्दारनामकदेवतरुकुसुमस्रक्, न तु या काचित् पुष्पमाला, पिनद्धा-मम कण्ठे परिधापिता न तु दत्ता । तथा च सर्वेषां देवानां समक्षं पुत्रमप्यविगणय्यैतादृशसम्मानकरणं ममाशातीतमेवेति भावः । इह राज्ञो हरिविषयिका हरे राजविषयिका च रतिभावः । किंच-अत्र गौरवाधिक्यवर्णनादुदात्तालङ्कारः । तथा साभिप्रायविशेषणबाहुल्यात् परिकरालङ्कारोऽपि । उपजातिर्वृत्तम् ॥२॥

(१) मातेति । आयुष्मान्-प्रशस्तायुःशाली भवान्, अमरेश्वरात्-देवाधिपतेः, एतेन मनोरथातीतवस्तुदानेऽपि तस्सामर्थ्यमस्तीति व्यञ्जितम्, आदातुमिति शेषः, किमिव नार्हति ?-सर्वमेव वस्तु आदातुं योग्यो भवतीत्यर्थः । यदतिप्रियमतिरम्यमत्युत्कृष्टं जीवितायमानमपि तदाप्नुमर्हति अन्यदर्हतीति किमु वक्तव्यम् इति भावः । एतेन सर्वशक्तिसम्पन्नस्य देवराजस्य प्रसादेन राज्ञाऽन्तर्हृदयनिहिता प्रियतमा शकुन्तला अचिरेणैव लभ्या भविष्यतीति व्यज्यते ।

कुत इत्यत्राह—सुखेति । अधुना-इदानीम्, नतपर्वभिः-नतानि—किञ्चिदाकुञ्चितानि पर्वाणि-ग्रन्थिदेशा येषां तैस्तथोक्तैः, तव शरैः-बाणैः, दुर्जयदानवगणहननादिति भावः, तथा पुरा-पूर्वस्मिन् काले, नतपर्वभिः-नतानि-किञ्चित् कुञ्चितानि पर्वाणि-अङ्गुलिपर्वभागा येषां तैः, पुरुषकेशरिणः-पुरुषश्चासौ केशरी चेति तस्य नृसिंहस्य भगवतः नखैः-नखरैश्च, हिरण्यकशिपोर्विदारणादिति भावः, इत्युभयैः कर्तृभिः, सुखपरस्य, सुखे परः सुखपरस्तस्य; अथ वा सुखमेव परं यस्य तथाभूतस्य केवलसुखभोगासक्तस्य न तु युद्धादौ कठिनं कर्म कर्तुमिच्छत इति भावः हरेः—इन्द्रस्य, त्रिदिवं-त्रयः-ब्रह्मविष्णुमहेशा दीव्यन्ति यत्र तत् स्वर्गधाम, घञर्थे आधारे कः यद्वा त्रिदिवं-सुखं विद्यते यत्र तत्, अर्श आदित्वादच्, 'त्रिदिवं सुखे; स्वर्गे च त्रिदिवा नद्याम्' इति हैमः; उद्धृतदानवकण्टकम्-उद्धृतम्-अपसारितं दानव-

याद तो उन्होंने वक्षःस्थल में लिप्त श्रीखण्ड चन्दन से अंकित वह माला अपने गले से उतारी और मुझे पहना दी ॥ २ ॥

(१) मातलि—आप देवराज के पास से क्या नहीं पा सकते ? देखिये—
इस समय झुका हुआ है ग्रन्थिभाग जिनका ऐसे आपके बाणोंने और पूर्व समय में

राजा—तत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा । पश्य (१)—

सिद्ध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।

रूपं कण्टकं यस्मात् तत् तथाभूतं कृतम् । तथा चायुष्मानमरेश्वरात् किमिव नार्हतीति भावः । अत्र दुष्यन्तस्य प्रस्तुततया तच्छराणामपि प्रस्तुतानामप्रस्तुतानाञ्च पुरुषकेशरिनखानां कृतमित्येकक्रियया सहान्वयाद्दीपकालङ्कारः । अत्रोद्धृतपदेन तेषां समूलोन्मूलनादत्यन्ताभावो ध्वन्यते । तेन च द्वयोः प्रकर्षाधिक्यमपि द्योत्यते । उपमासाधकमेतत् । अत्र च सुखपरस्य सिंहीविलासलालसस्य हरेः सिंहस्य त्रिदिवं-सुखकरं स्थानम्; 'त्रिदिवं सुखे स्वर्गे च' इति हैमः, एतादृशं दानं-मदोदकं वान्ति-वहन्तीति तादृशाः गजा इत्यर्थः; ते इव कण्टकाः-क्षुद्रशत्रवो यस्मात्तादृशं कृतम् । कैः ? इत्याह-उभयैरिति । कैरुभयैः ? इत्याह-तवेति । पुरा-पूर्वम्, नतपर्वभिः-किञ्चिद् कुटिलाङ्गुलिपूर्वभागैः, पुरुषकेशरिणः-पूर्वपुरुषसम्भूतसिंहस्य नखैः, सम्प्रति तव शरैरित्यर्थोऽपि ध्वन्यते । उभयैरिति नखानां शराणाञ्च बहुत्वाद्राश्यपेक्षया बहुत्वम् । यदुक्तमभियुक्तैः—

'राश्यपेक्षयोभयशब्दो व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनम्' इति

'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' इत्यमरवचनेन त्रिदिवशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वप्राप्तावपि पूर्वोक्तविग्रहार्थकरणेन क्लीबत्वात् । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

(१) राजेति । तत्र-मत्कर्तृकदानवोद्धरणे, शतक्रतोः इन्द्रस्यैव, महिमा—माहात्म्यम् न ममेति भावः ।

उक्तमुपपादयति-सिद्ध्यन्तीति । नियोज्याः-नियोक्तुं योग्याः किंकराः, 'नियोज्यकिङ्करप्रैष्यभुजिष्यपरिचारकाः' इत्यमरः, महत्सु-गुरुतरेष्वपि कर्मसु, यत् सिध्यन्ति-कृतकार्या भवन्ति, तत्; ईश्वराणां-प्रभूणां सम्भावनायाः-बहुमानस्य नियोज्येभ्यो बहुमानकरणस्येति यावत्; गुणम्-अङ्गम्, यद्वा ईश्वराणां-प्रभूणां सम्भावनायाः-गौरवस्य गुणम्; प्रभावमाहात्म्यमित्यर्थः, अवेहि-अवगच्छ । नियोज्यान् प्रति बहुमानप्रत्यर्पणेच्छोः प्रभोर्माहात्म्येनैव तत्कार्यसिद्धेर्भृत्यानां न तत्र कोऽपि गुणविकास इति भावः । तदेव समर्थयितुमाह-किमिति । अरुणः-सूर्यसारथिः,

नृसिंहरूपधारी नारायण के नख, इन दोनों ही ने भोग और विलास में आसक्त देवराज के स्वर्गराज्य के दानवरूपी कण्टकों को दूर किया है । ॥ ३ ॥

(१) राजा—उस विषय में भी देवराज की महिमा ही कारण है । देखिए—

कोई अधीनस्थ व्यक्ति यदि बड़े से भी बड़े कार्य में सफल हो जाय तो उसमें उस व्यक्ति का नहीं, बल्कि उसके प्रभु का सम्वर्धन गुण ही कारण हुआ करता है, ऐसा जानो ।

किं प्राभविष्यदरुणस्तमसां वधाय
तञ्चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥ ४ ॥

मात--सदृशमेतत् । [स्तोकमन्तरमतीत्य] आयुष्मन् ! इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः (१) ।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु ।

तमसां-तिमिराणाम् वधाय-ध्वंसाय, समर्थार्थक्रियायोगे चतुर्थी, किं प्राभविष्यत्-प्रभुः-समर्थोऽभविष्यत् ? नैवेत्यर्थः, चेत्-यदि, सहस्रकिरणः-सहस्रं किरणा यस्य सः सूर्यः, तम्-अरुणम्, धुरि-अग्रे यानमुखे इति यावत्, न अकरिष्यत्, कथमपि नैवेत्यर्थः, 'धूः स्त्री क्लीबे यानमुखम्' इत्यमरः । तथा च सूर्यस्य प्रभावेणैवारुणकृततमोनाश इव इन्द्रस्य प्रभावेणैवास्मत्कृतदानवविनाश इति भावः । एवञ्चात्राप्रस्तुताद्वियोज्यसामान्यात् प्रस्तुतस्य दुष्यन्तरूपनियोज्यविशेषस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । तथा सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारोऽपि । अनयोः परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । अत्र च देवेन्द्रविषयिका रतिर्भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४ ॥

(१) मातलेति । तदुक्तमनुमोदमान उपसंहरन्नाह-सदृशमिति । एतत् कथनम्, तव-महापुरुषस्य पद इति भावः, सदृशम्-उपयुक्तम्, महापुरुषस्यैव विनयनम्रतादेरौचित्यादिति भावः । स्तोकम्-अल्पम्, अन्तरम्-अवकाशम्, किञ्चिद्दूरमित्यर्थः, अतीत्य-अतिक्रम्य । कविवचनमिदम् । आयुष्मन्-प्रशस्तायुःशालिन् ! इतः-निर्दिश्यमानायां दिशि, नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य-नाकपृष्ठे-स्वर्गतले प्रतिष्ठितस्य-सर्वदा स्थिरत्वेन प्रतिष्ठां प्राप्तस्य, आत्मनो यशसः सौभाग्यं-समधिकभाग्यवत्त्वम्, पश्य । स्वर्लोकप्रतिष्ठाया भाग्याधीनत्वादिति भावः ।

सौभाग्यमुपपादयति-विच्छित्तीति । अमी-पुरो लक्ष्यमाणाः, दिवौकसः-देवाः, गीतिक्षमं-सङ्गीतयोग्यम्, अर्थबन्धं-पदावलीम्, सञ्चिन्त्य-चिन्तापूर्वकं विरचय्य, सुरसुन्दरीणां-देवाङ्गनानाम्, विच्छित्तिशेषः-विच्छित्तिः-तिलकादिरलङ्कारस्तच्छेषः-तदवशिष्टैः, यद्वाङ्गरागावशिष्टैरित्यर्थः, वर्णैः-रञ्जनसाधनैः रक्तपीतादिभिर्वर्णकैः कल्पलतांशुकेषु-कल्पतरुसमुद्भूतवसनेषु, केचित्तु 'कल्पलतानामंशुकेषु पल्लवेषु'

क्योंकि यदि सूर्य अपने आगे न बिठालें तो क्या अरुण में अन्धकार नष्ट करने की सामर्थ्य आ सकता है ? ॥ ४ ॥

(१)—आपके मुख से ऐसा ही उत्तर मिलना चाहिये । (थोड़ी दूर आगे चलकर) आयुष्मन् ! इधर देखिए स्वर्ग पर प्रतिष्ठित आपका यश कितना सुन्दर दीखता है ।

ये देवता गाने योग्य पद बनाकर देवांगनाओं के काम आने से बचे अंगराग द्वारा

सञ्चिन्त्य गीतिक्षममर्थबन्धं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ॥ ५ ॥

राजा--मातले ! असुरसम्प्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता न लक्षितोऽयं प्रदेशो मया; तत् कतमस्मिन् पथि वर्त्तामहे मरुताम् (१)।

इति व्याचक्षते; त्वच्चरितं—परोपकारादिरूपं तव चरित्रम्, लिखन्ति। अर्थबन्धमित्यत्र अर्थम्-अभिधेयम् बध्नाति-आत्मना सह सम्बध्नातीति तमिति विग्रहार्थः। केचित्तु अर्थबन्धम्-अभिधेयरचनाम् इति व्याचक्षते। क्वचित् अर्थजातमिति पाठः, तत्र अर्थसमूहमित्यर्थः।

'कल्पलतांशुकेषु' इत्यनेन तदेवाधिकरणं तल्लेखनयोग्यमिति ध्वन्यते।

अत्र विशिष्टकर्तृविशिष्टमरणविशिष्टाधिकरणनिर्देशेन चरितलेखनस्य वर्णितत्वादुदात्तालङ्कारः। तेन च देवानामेवंविधसदाशृङ्गाररसोपभोगयोग्यगीतादिकं त्वदनुग्रहादेवेति वस्तु ध्वनितम्। विच्छित्तिशेषस्य यक्षकर्दमादेर्वर्णकत्वेन निरूपणात्तस्य च प्रकृतोपयोगित्वाच्च परिणामालङ्कारः। केचित्तु राज्ञो यशोविस्तारवर्णने प्रस्तुते गीतिरचनायाः अप्रस्तुतायाः कथनात् 'लिखन्ति' इति क्रियापदस्यान्ते विनिवेशात् प्राचो मतेनान्तदीपकं नाम दीपकालंकारभेदं वदन्ति। अत्र च वीरोपस्कृतो मातलेर्विस्मयो राजभावस्याङ्गं देवनिष्ठा राजभावश्च तमुपस्करोति। उपजातिर्वृत्तम् ॥ ५ ॥

(१) राजेति। अथ राजाऽऽत्मस्तुतिमसहमानो मातलिं विषयान्तरं प्रवेशयितुमाह—मातले इत्यादि। असुराणां-दैत्यानां सम्प्रहारे-युद्धे विषये उत्सुके-उत्कण्ठितेन, दिवं-स्वर्गम्, अधिरोहता-आरोहता मया, अयं प्रदेशः-अयं मार्गभागः, पूर्वेद्युः पूर्वस्मिन्नहनि, न लक्षितः—न निरीक्षितः तत् तस्मात्, तदा वा, मरुतां—वायूनाम्, कतमस्मिन् पथि—कस्मिन् मार्गे, वर्त्तामहे—वर्त्तमानाः स्मः। वायूनां सप्तत्वेन तत्पथानामपि सप्तत्वादयं प्रश्नः। तथा च आवहादयः सप्त वायवस्तेषां मध्ये कतमस्मिन् वायोर्मार्गे सम्प्रति वयं वर्त्तमानाः स्मः तत्कथयेत्यर्थः। यदुक्तं सिद्धान्तशिरोमणौ—

'भूवायुरावह इह प्रवहस्तदूर्ध्वं स्याद्वुद्वहस्तदनु संवहसंज्ञकश्च।
अन्यस्ततोऽपि सुवहः प्रतिपूर्वकोऽस्माद् बाह्यः परावह इमे पवनाः प्रसिद्धाः॥' इति

अपने कल्पलतानिर्मित वस्त्रों पर आपका चरित्र लिख रहे हैं ॥ ५ ॥

(१) राजा--मातलि ! गत दिवस राक्षसों के साथ युद्ध करने की उत्कण्ठा थी इस लिये यद्यपि मैं स्वर्ग को आ रहा था फिर भी मैंने इन स्थानों की तरफ ध्यान ही नहीं दिया तो इस समय हम वायु के किस पथ पर हैं ?

मात—त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां
ज्योतींषि वर्त्तयति च प्रविभक्तरश्मिः ।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं
वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥ ६ ॥

महाभारतेऽप्युक्तम्—

'आवहः प्रवहश्चैव तथैवानुवहः परः । संवहो विवहश्चैव तदूर्ध्वं स्यात् परावहः ।
तथा परिवहश्चोर्ध्वं वायोर्वै सप्त नेमयः ॥' इति च ।

मातेति । भूवायोरुपरि विद्यमानस्य प्रवहवायोः पथं वर्णयति—त्रिस्रोतसमिति । यः प्रवहो नाम वायुः, गगनप्रतिष्ठां—गगने—अन्तरिक्षे प्रतिष्ठा—स्थितिर्यस्यास्ताम्, त्रिस्रोतसं—गङ्गां मन्दाकिनीमिति यावत्, वहति—धारयति । तथा चक्रविभक्तरश्मिः चक्रेण—स्वस्थितज्योतिषां मण्डलेन विभक्ता विभज्य विन्यस्ता रश्मयः—किरणाः यत्र स तथोक्तः सन् यः प्रवहो वायुः, ज्योतींषि—ग्रहनक्षत्रादीनि, वर्त्तयति—चालयति धारयति वा । व्यपेतरजसः—व्यपेतानि भूवायोरुपरि स्थितत्वात् विगतानि रजांसि धूलयो यस्मात् तस्य, तस्य—तादृशगुणोपेतस्य प्रवहस्य—तन्नामकस्य वायोः, एषः—दृश्यमानः, द्वितीयहरिविक्रमपूतः—द्वितीयेन हरेः—वामनस्य विक्रमेण—पादक्षेपेण पूतः—पवित्रीकृतः, मार्गः—पन्थाः, वर्त्तत इति शेषः । प्रवहवायुना त्रिस्रोतसो धारणमाह वायुपुराणे—'विभज्यमानसलिला तेजसेनानिलेन सा ।
मेरोरन्तरकूटेषु निपपात चतुर्ष्वपि ।' इति ।

तेनैव च ज्योतिर्गणधारणमाह विष्णुपुराणे—
'सूर्याचन्द्रमसौ तारा नक्षत्राणि ग्रहैः सह ।
वातानीकमयैर्बन्धैर्ध्रुवे बद्धानि तानि च ॥' इति ।

सूर्यसिद्धान्तेपि—'भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तप्रवहानिलैः ।
पर्येत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथाक्रमम् ॥ इति ।

'ज्योतींषि वर्त्तयति' इत्यादिना यथा कश्चित् सारथिः प्रग्रहं धृत्वा स्वरथं चालयति तद्वदत्र चक्रपदेन ग्रहनक्षत्रादिसमष्टिरूपभचक्रस्य, रश्मिपदेन वातान्तररूपप्रग्रहस्य, तथा प्रवहस्य शीघ्रमन्दोच्चपाताख्यदेवतानां परिग्रहः शब्दशक्तिमूलया व्यञ्जनया बोध्यः । तदुक्तं सूर्यसिद्धान्ते—

मातलि—जो वायु आकाश-गंगा को सम्हाले हुए हैं और जो नक्षत्रमंडल को धारण किये हुए हैं और वही वायु नक्षत्रमंडल के ऊपर पृथक् भावसे किरण विन्यस्त किये हुए हैं, यह पार्थिव धूलिशून्य प्रवह नाम के वायु का पथ है । यह पथ वामनरूपधारी नारायण के द्वितीय पादक्षेप से पुनीत हो चुका है ॥ ६ ॥

राजा—अतः खलु मे सबाह्यान्तःकरणोऽन्तरात्मा प्रसीदति [रथाङ्गमवलोक्य] शङ्के मेघपदवीमवतीर्णाः स्मः (१) ।

मात—आयुष्मन् ! कथमवगम्यते ? (२) ।

'अदृश्यरूपा कालस्य मूर्त्तयो भगणाश्रिताः ।
शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः ॥
तद्वातरश्मिभिर्बद्धास्तैः सव्येतरपाणिभिः ।
प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्नं स्वदिङ्मुखम् ॥' इति ।

वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ६ ॥

(१) राजेति । अतः-उक्तगुणविशिष्टवायुमार्गवर्त्तनात्, मन्दाकिनीवाहिनो वायोः सम्बन्धाच्चेति भावः, सबाह्यान्तःकरणैः-बाह्यैश्चक्षुरादिभिः अन्तःकरणैः-मनःप्रभृतिभिश्च सह वर्त्तत इति स तादृशः, मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्' इति वेदान्तिनो वचनात् । अत्र सांख्यकारिका—
'अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ इति ।

तत्राहुर्वाचस्पतिमिश्राः-'अन्तःकरणं त्रिविधं बुद्धिरहंकारो मन इति शरीराभ्यन्तरवृत्तित्वादन्तःकरणम् । दशधा बाह्यमिन्द्रियम्' इति । अन्तरात्मा-जीवात्मा; प्रसीदति-प्रसन्नो भवति । रथाङ्गं-चक्रम् । शङ्के-मन्ये मेघपदवीं-मेघानां गमनागमनपथम्, प्रवहादधोवर्त्तिनमावहापरपर्यायं भूवायुमित्यर्थः । तथा च सिद्धान्तशिरोमणौ-'भूमेर्बहिर्द्वादश योजनानि भूवायुरत्राम्बुदविद्युदाद्यम् ।
तदूर्ध्वगो यः प्रवहः स नित्यं प्रत्यग्गतिस्तस्य तु मध्यसंस्था ॥
नक्षत्रकक्षाः खचरैः समेता यस्मादतस्तेन समागतोऽयम् ।
भपञ्जरः खेचरचक्रयुक्तो भ्रमत्यजस्रं प्रवहानिलेन ॥' इति ।

अवतीर्णाः-उपस्थिताः ।

(२) मातेति । मेघपदवीं सम्यगशक्नुवन्मातलिः राजानं प्रत्याह-आयुष्मन्निति । अवगम्यते-ज्ञायते, मेघपदवीमवतीर्णाः स्म इतीति शेषः । एतेन मातलिबुद्ध्यपेक्षया राजबुद्धेर्वैशद्यं सूच्यते, तेन च राज्ञ उत्कर्षोऽपि ।

(१) राजा—इसीलिये भीतर और बाहर दोनों तरह से मेरी अन्तरात्मा प्रसन्न हुई है । (रथ के पहियों को देखकर) मैं सोचता हूँ कि अब हमलोग मेघपथ पर उतर रहे हैं ।

(२) मातलि—आयुष्मन् ! आपने यह कैसे जाना ?

राजा—अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः ।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां
पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमिः ॥ ७ ॥

राजेति । अवगमनसाधनान्याह—अयमिति । शीकरैः—अम्बुकणैः, क्लिन्नाः—आर्द्रीकृताः नेमयः—चक्रप्रान्तभागाः यस्य स तादृशः, ते—तव रथः, 'आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नं स्तिमितम्' इति, 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात् प्रधिः पुमान्' इति चामरः, अरविवरेभ्यः—शैलरन्ध्रेभ्यः निष्पतद्भिः—निर्गच्छद्भिः जलबिन्दुपानायेति भावः, चातकैः—तन्नामकपक्षिविशेषैः, अचिरम्—अचिरस्थायिन्यः भासः—दीप्तयो यासां तासां विद्युताम् तेजसा—किरणेन, अनुलिप्तैः—अनुरञ्जितैः, हरिभिः—वाजिभिश्च, वारीणि—जलानि गर्भे—मध्ये येषां तानि तथोक्तानि च उदराणि–अभ्यन्तरावकाशा येषां तेषां तादृशानाम्, घनानां—मेघानाम् उपरि ऊर्ध्वभागे, गतं—गमनम्, भावे क्तः, पिशुनयति—सूचयति, 'पिशुनौ खलसूचकौ' इत्यमरः । तथा च नेमेः क्लिन्नत्वात् हरीणां विद्युत्तेजसाऽनुलिप्तत्वात् चातकानां जलपानायागमनाच्चेयं मेघपदवी इत्यवगम्यत इति भावः ।

अथ 'शीकरक्लिन्ननेमिः' इत्यनेन नेमीनां वारिशीकरस्थितत्वाद् वारिशीकरस्य च तत्र मेघादन्यतः असम्भवादियं मेघपदवीति सुव्यक्तं प्रतीयते । तथा 'अरविवरेभ्यश्चातकैः' इत्यनेनापि चातकानामेव घनाम्बुपायित्वस्वभावाद् घनाम्बुबिन्दुलोभेन तेषां तत्रागमनस्य दर्शनादियं मेघपदवीति स्पष्टमनुमीयते । पुनः 'हरिभिरचिरभासाम्' इत्यादिनापि मेघसञ्चारपथादन्यत्र विद्युत्स्फुरणाभावादत्र तु विद्युत्तेजसा वाजिनामनुलेपनादियं मेघपदवीति स्फुटमाभास्यते । 'अगविवरेभ्यः' इत्यत्र 'अरविवरेभ्य' इति पाठः, तत्र–अराणि–चक्राङ्गानि नाभिनेमिवेधिनः शलाकाकृतिकाष्ठाविमयचक्रावयवविशेषः तेषां विवरेभ्यः–रन्ध्रेभ्यः; निर्गच्छद्भिरित्यर्थः । तथा च चातकाः घनाम्बुपानाय तत्रोपगताः सहसा जवेन स्यन्दनापतनाद् अन्यतो गन्तुमशक्नुवन्तो दिग्भ्रान्ता अरविवरेभ्य एव निर्गच्छन्तीति भावः । अत्र मेघपथगमनसूचनं प्रति पूर्वार्द्धगतकारणद्वयोपन्यासात् समुच्चयोऽलङ्कारः ।

तथा मेघपथगमनसूचनं प्रति शीकरक्लिन्ननेमिपदार्थस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् पदा-

राजा—आपके रथचक्र का प्रान्तभाग जलबिन्दु से कुछ कुछ गीला हो गया है। ऐसी अवस्था में रथ और पर्वतस्थ नीड़ों से निकलते चातकों तथा विद्युत् के तेज से रंजित घोड़ों द्वारा यही मालूम होता है कि हम जल से पूर्ण मेघ के ऊपर चल रहे हैं ॥ ७ ॥

मात—अथकिम् क्षणादायुष्मान् स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते (१)।

राजा—[अधोऽवलोक्य] मातले ! वेगादवतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः तथाहि (२)—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी,
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात् पादपाः ।

र्थहेतुकं काव्यलिङ्गमपि । तरूक्तविच्छित्त्या च हेतुभिर्घनपथगमनरूपसाध्यस्य ज्ञानादनुमानालङ्कारश्च । मतिर्भावः । मालिनीवृत्तम् ॥ ७ ॥

(१) मातेति । अथकिमित्येकमव्ययमङ्गीकारार्थकम् 'अङ्गीकारेऽपि चाथकिम्' इति हारावली, स्वाधिकारभूमौ स्वराज्यभूतमर्त्यलोके, वर्तिष्यते-वर्त्स्यते, उपस्थास्यतीत्यर्थः । क्षणादित्यनेन रथस्य वेगातिशयो द्योत्यते ।

(२) राजेति । अवतरणात्-अधोऽवनमनात्, आश्चर्यं दर्शनं यस्य स आश्चर्यदर्शनः—विस्मयकररूपः, मनुष्यलोकः—मर्त्यलोकः, संलक्ष्यते-संदृश्यते; अनुभूयते इति यावत् ।

मनुष्यलोकस्याश्चर्यदर्शनत्वमेवोपपादयति—शैलानामिति । मेदिनी—क्षितिः, उन्मज्जताम्-उन्नमताम्, शैलानां-पर्वतानाम्, शिखरात्—शृङ्गात्, जातावेकत्वम्, अवरोहतीव-अवतरतीव, अधोयातीवेति यावत्; प्रथमं वायुमार्गावस्थानकालेऽतिदूरतया शैलानां मेदिनीतो भेदेन अग्रहादेकाकारत्वेन ग्रह आसीत्, ततः किञ्चित् किञ्चित् क्रमिकावतरणेन सम्प्रति तयोः पृथक्त्वेन ग्रहारम्भात् मेदिनी शैलशिखरादवरोहतीवेत्युत्प्रेक्ष्यत इति भावः । पादपाः—द्रुमाः, स्कन्धानां मूलाच्छाखावधिदेशानाम्, उदयात्—स्फुटं प्रकाशात्, 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्याद् मूलाच्छाखावधेस्तरोः' इत्यमरः, पर्णानां-पत्राणाम्, अभ्यन्तरेषु-मध्येषु लीनतां लुक्कायितभावं पृथगनुपलब्धिम्, विजहति—विमुञ्चन्तीव । पूर्वं मेघपथावस्थानकालेऽतिदूरत्वात् पादपाः पत्राच्छादिताः सन्तो लुक्कायिता इवालक्ष्यन्त, ततः क्रमेण निकटोपस्थितेः पृथक्त्वेन स्कन्धानां प्रकाशनात् ते लुक्कायितत्वं परित्यजन्त इव प्रतीयन्त इति भावः । आपगाः-नद्यः, तनुभागेषु—अविस्तृतभागेषु नष्टानां—दूरतयाऽनुपलब्धानां सलिलानां—जलानां व्यक्तयः—क्रमशो नैकट्यात् प्रकाशेन 'नाशः पलायनेऽपि स्या-

(१) मातलि—और क्या । क्षण भर में आप अपनी अधिकार-भूमि में पहुँच जायँगे ।

(२) राजा—(नीचे देखकर) मातलि ! वेग से उतरने के कारण यह मानवलोक विस्मयजनक मालूम पड़ रहा है जैसे कि—

ऐसा मालूम पड़ता है कि पर्वत जाग रहे हैं और उनके शृङ्ग से पृथिवी नीचे उतर रही है । बड़ी बड़ी डारों के दिखलाई पड़ने से ऐसा दीखता है कि वृक्ष पत्तों के भीतर छिपे थे

सन्धानं तनुभागनष्टसलिलव्यक्त्या व्रजन्त्यापगाः,
केनाप्युत्क्षिप्तपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥ ८ ॥

मात—आयुष्मन् ! साधु दृष्टम् [सबहुमानमालोक्य] अहो ! (१)

न्निधानानुपलम्भयोः' इति मेदिनी, सन्धानं-संयोगमविच्छिन्नत्वमिति यावत्, व्रजन्ति-प्राप्नुवन्तीव । प्राक् मेघमार्गादधोऽवतरणकाले दूरतयाऽऽपगानां तनुभागेषु जलानामदृश्यत्वात् आपगा विच्छिन्नप्राया लक्षिता आसन् सम्प्रति तु क्रमशः समीपागमनादविच्छिन्ना इव लक्ष्यन्त इति भावः । तथा उत्क्षिप्तपता-भुवनमेवोर्ध्वं निक्षिप्ता, केनापि-कुतुकिना जनेन, भुवनम्-अयं भूलोकः, मत्पार्श्वं-मम समीपम्, आनीयते-प्रापय्यत इवेति त्वं पश्य-अवलोकय । पूर्वं किञ्चिद् दूरावस्थितत्वेन भुवनस्याचलत्वरूपेण मदीयप्रतीतिरासीत् सम्प्रति तु मम निकटवर्तितया जवेनावतरणात् केनापि कुतुकिना भुवनमुत्क्षिप्तमिवालक्ष्यत इति भावः । 'सन्धानं तनुभागे-' त्यादौ 'सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं व्रजन्त्यापगाः' इति पाठान्तरम्; तत्र तनुभावेन-क्षीणत्वेन नष्टम्-अदृश्यं सलिलं यासां ता आपगाः-नद्यः सन्तानैः विस्तारैः 'सन्तानो विस्तृतौ देववृक्षे चापत्यगोत्रयोः' इति धरणिः । व्यक्तिं-प्रकटताम्, व्रजन्ति-गच्छन्ति इत्यर्थः । अत्र 'कार्श्यानाकलिताम्भसः पृथुतया व्यक्तिम्' इति पठित्वाऽस्थानस्थपदतादोषः परिहरणीयः । एतेन सन्तानशब्देऽप्रयुक्तत्वं निहतार्थत्वं वा परिहरणीयम्-इति राघवः । अपरं च स एवाह-'उन्मज्जतां-प्रकटीभवताम् । अत्रोन्मज्जनेन करणेन प्राकट्यं कार्यं लक्षयता तद्गतमत्परत्वं ध्वनितम् । यत्र धर्मी लक्ष्यते तत्र तद्गता धर्मा व्यङ्ग्याः । यथा तीरे लक्षिते तद्गतपावनत्वादयः । यत्र धर्मो लक्ष्यते तत्र धर्मान्तराभावात् तद्गतो विशेष एव व्यङ्ग्यः । यथा विकासेन प्रसृतत्वे लक्षिते तद्गतातिशायित्वादिति आकर एव स्थितम्' इति । अत्र प्रथमे चतुर्थे च पादे इव शब्दस्य सत्त्वाद् वाच्या, द्वितीये तृतीये च पादे तस्यासत्त्वात् प्रतीयमाना च क्रियोत्प्रेक्षा । अत्र च चतुर्थचरणवाक्यार्थं प्रति पूर्ववाक्यत्रयगतवाक्यार्थानां हेतुत्वेनोपन्यासात् काव्यलिङ्गम्-इति केचित् । परे तु स्वभावोक्तिरियमिति वदन्ति । अत्र चतुर्भिः पादैर्वर्णितानामनुभावानां क्रमो विवक्षितः । विस्मयो भावः । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥ ८ ॥

(१) मातेति । साधु-सम्यग् दृष्टमिति तदुक्तानुमोदनम् । अहो इत्यादिना

सी बाहर निकल आरहे हैं । पहले जल नहीं दीखता था, पर अब दिखाई दे रहा है, नदियाँ तो अब आपस में मिलती सी नजर आ रही हैं और देखिये ! जैसे कोई इस मानवलोक को हमारे पास ऊपर उछाल कर फेंक रहा है इस तरह मेरे समीप आता जाता है ॥ ८ ॥

(१) मातलि—आयुष्मन् ! आपने ठीक देखा (विशेष आदर के साथ देखकर)

उदाररमणीया पृथिवी ।

राजा—मातले ! कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरसनिष्यन्दी सान्ध्य इव मेघः सानुमानालोक्यते (१) ।

मात—आयुष्मन् ! एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वतः परं तपस्विनां क्षेत्रम् (२) ।

स्वायम्भुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः ।

स्वर्गिणो भूलोकबहुमतिः ख्याप्यते । उदाररमणीया—अतिमनोहरा ।

(१) राजेति । पूर्वापरसमुद्रावगाढः— पूर्वापरयोः पूर्वपश्चिमयोः सागरयोर्मध्ये अवगाढः—प्रविष्टः, कनकरसनिष्यन्दी—कनकरसं सुवर्णद्रवं निष्यन्दयितुं—स्रावयितुं शीलमस्यास्तीति तादृशः, स्वर्णमयधातुरसस्रावीति यावत् । अत्रोपमानमाह—सान्ध्य इति । सन्ध्याया अयमिति सान्ध्यः—सन्ध्याकालीनः मेघ इव, आरक्तत्वं साधर्म्यम्, सानुमान्—पर्वतः । अत्रोपमालङ्कारः 'गुणे रागे द्रवे रस' इत्यमरः ।

(२) मातेति । हेमकूटः—हेम्नः—काञ्चनस्य कूटानि—शृङ्गाणि यस्य सः, सुवर्णमयशृङ्गविशिष्टः; तन्नाम्ना प्रसिद्धः । किंपुरुषपर्वतः—किंपुरुषवर्षपर्वतः, तपस्विनां परम्—उत्कृष्टम्, क्षेत्रं—स्थानम् । यथोक्तं भागवते—

'दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय' इति
त्रयो 'हरिवर्षकिंपुरुषभारतानां मर्यादागिरय' इति ॥'

पद्मपुराणेऽपि—

'दक्षिणे भारतं वर्षमुत्तरे लवणोदधेः । कूलादेव महाभाग ! तस्य सीमा हिमालयः ॥
ततः किंपुरुषवर्षं हेमकूटादधः स्थितम् । हरिवर्षं ततो ज्ञेयं निषधोऽवधिरुच्यते ॥' इति ।

विष्णुपुराणेऽपि च—

'भारतं प्रथमं वर्षं ततः किंपुरुषं स्मृतम् । हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विजा ॥' इति ।

हेमकूटस्य महत्त्वमाह—स्वायम्भुवादिति । स्वयम्—आत्मना भवतीति स्वयम्भूः ब्रह्मा तस्यापत्यमिति स्वायम्भुवस्तस्मात्—ब्रह्ममानसपुत्रादित्यर्थः, मरीचेः—तदाख्याद् देवर्षेः, यः प्रजापतिः—प्रजास्रष्टा कश्यप इति यावत्, प्रबभूव—प्रथमं जज्ञे, सुरासुर-

---

अहो ! पृथिवी बड़ी सुन्दर दीख रही है ?

(१) राजा—मातलि ! पूर्व और पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट पिघले हुए सुवर्ण और सन्ध्याकालीन रक्त मेघ के समान यह कौन सा पर्वत दिखलायी पड़ रहा है ।

(२) मातलि—आयुष्मन् ! तपस्वियों के लिए सर्वोत्तम स्थान यह हेमकूट नामक पर्वत दीख रहा है—

ब्रह्मपुत्र मरीचि से जिनका जन्म हुआ है, देवताओं और दैत्यों के पिता काश्यप प्रजा-

सुरासुरगुरुः सोऽस्मिन् सपत्नीकस्तपस्यति ॥ ९ ॥

राजा—[सादरम्] तेन ह्यनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि । प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि (१) ।

गुरुः—सुराणामसुराणाञ्च गुरुः—पिता, सपत्नीकः—पत्न्या-देवजनन्या अदित्या सह वर्त्तत इति स तथाभूतः सन् , सः कश्यपः, अस्मिन्—हेमकूटपर्वते, तपस्यति-तपस्यामाचरति । तथा चायं तपस्विनां परं चेत्रमेवेति भावः । 'सुरासुरगुरुः' इत्यनेनावश्यं नमस्करणीयत्वं तेन तत्र गमनमपि सूचितम् । 'सपत्नीक' इत्यनेन तत्रापि पत्नीयोगोऽत्र भावीति च सूचितम् ।

'यदास्य ताः प्रजाः सर्वा नाभ्यवर्द्धन्त धीमतः ।
अथान्यान् मानसान् पुत्रान् सदृशानात्मनोऽसृजत् ॥
भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा ।
मरीचिं दक्षमत्रिञ्च वशिष्ठञ्चैव मानसान् ॥' इति ।

महाभारतमपि—

'मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात्तु इमाः प्रजाः ।
प्रजज्ञिरे महाभागा दक्षकन्यास्त्रयोदश ॥' इति ।

पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ९ ॥

(१) राजेति । अनतिक्रमणीयानि—अनवहेलनीयानि, आदरणीयानि इति यावत् , निषेधमुखेनोक्तिरतिक्रमणे प्रत्यवायं व्यञ्जयति । यथोक्तं रघौ—

'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः' इति श्रेयांसि—मङ्गलानि । भगवन्तं—माहात्म्यशालिनम्, यथोक्तं सौगततन्त्रे—

'गुणैरतुल्यैर्निखिलैः समागमादशेषदोषापगमाच्च नो गुरुः ।
समग्रमाहात्म्यविभूषितो यतः प्रकीर्त्यतेऽस्मद्भगवानसाविति ॥' इति ।

प्रदक्षिणीकृत्य—प्रगतं दक्षिणमिति प्रदक्षिणमतथा तथा कृत्वेति विग्रहः, अव्ययीभावसमासानन्तरमभूततद्भावे च्विप्रत्ययः, अत्राहुः पञ्चाननाः—

'दक्षिणः—दक्षिभागगतः संमुखपार्श्वपश्चाद्दिग्गमनेऽपि यस्तथा भवति स प्रकर्षेण दक्षिणतया प्रदक्षिण उच्यते; अतथाभूतं तथाभूतं कृत्वा—दक्षिणावर्त्तेन परिवेष्ट्येत्यर्थः' इति । प्रदक्षिणविधिमाह—

पति अपनी पत्नी के साथ इस पर्वत पर तपस्या कर रहे हैं ॥ ९ ॥

(१) राजा—(आदर सहित) यदि ऐसा है तो इस मंगलजनक आश्रम को यों ही त्याग देना उचित नहीं । मैं चाहता हूँ कि भगवान् कश्यप की प्रदक्षिणा करते जाऊँ ।

मात—आयुष्मन् ! प्रथमः कल्पः [अवतरणं नाटयन्] एताववतीर्णौ स्वः (१) ।

राजा—[सविस्मयम्] मातले ! (२)—

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः प्रवर्त्तमानं न च दृश्यते रजः ।
अभूतलस्पर्शतया निरुद्धतिस्तवावतीर्णोऽपि न लक्ष्यते रथः ॥१०॥

'मृदङ्गं दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रख्यातं च वनस्पतिम् ॥ इति ।

(१) मातेति । राजोक्तमनुमोदते-प्रथमा इति । प्रथम—मुख्यः कल्पः—पक्षः, 'मुख्यः स्यात् प्रथमः कल्प' इत्यमरः, कश्यपस्य प्रदक्षिणीकरणानन्तरं गमनं मुख्यमनुष्ठानं श्रेयःसाधनत्वादिति भावः, अवतरणम्—रथादवनमनम्, नाटयन्—अभिनयन्, एतौ स्वः आवामिति शेषः । स्व इत्यस्तेर्लटि उत्तमपुरुषद्विवचने रूपम् ।

(२) राजेति । सविस्मयमिति विस्मयो रथावतरणगुणविशेषदर्शनाद् बोध्यः । तमेव गुणविशेषं वर्णयति—उपोढेति । अभूतलस्पर्शतया—नास्ति भूतले—पृथिवीपृष्ठे स्पर्शो यस्य तथाभूततया, व्योमवर्त्तितयेत्यर्थः, रथाङ्गानां—चक्राणां नेमयः—प्रान्तभागाः, 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्' इत्यमरः, उपोढशब्दाः—उपोढाः—धृताः शब्दाः याभिस्तास्तादृश्यो न भवन्तीति शेषः, निःशब्दा भवन्तीति तात्पर्यम् । अतएव रजः—धूलिश्च, प्रवर्त्तमानं—नेमित उत्पद्यमानम्, न दृश्यते । तथा निरुद्धतिः-निर्-नास्ति-उद्धतिः-शनैः शनैः भूसंयोगादुच्चनीचस्पर्शजनितमौद्धत्यं यस्य स तथाभूतः तव रथः, अवतीर्णोऽपि भूतले कृतावतरणोऽपि न लक्ष्यते अवतीर्णत्वेन नावबुध्यते; नेमीनां शब्दाभावाद्रजसामदर्शनादुद्धतेरभावाच्चेति भावः । अवतरणे एतादृशगुणविशेषदर्शनहेतोः पूर्वं सविस्मयमित्युक्तम् । अत्र रथावतरणे कारणे सति तत्कार्याणां नेमिशब्दादीनामभावाद् विशेषोक्तिरिति—अर्थद्योतनिका । परे तु अवतरणबोधाभावं प्रति पूर्ववाक्यार्थानां हेतुत्वेनोपन्यासात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकार इति वदन्ति । अत्र च रथाङ्गनेमीनामित्यत्र पुनरुक्ततादोषो विशिष्टनेमिबोधकतया पुष्पमालादाविव वारणीयः । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ १० ॥

---

(१) मातलि—आयुष्मन् आपका यह विचार उत्तम है । (उतरने का अभिनय करते हुए) लो यह हम उतर आये ।

(२) राजा—(विस्मय के साथ) मातलि !—

ऐसा मालूम होता है कि आप का रथ पृथिवी का स्पर्श नहीं हो कर सका । क्योंकि उसके पहिये का शब्द नहीं हुआ, धूल भी उड़ती नहीं दीखती और पृथिवी पर उतरने पर भी धक्का नहीं लगा । यद्यपि आपका रथ उतर आया है । फिर भी ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि वास्तव में उतर आया है ॥ १० ॥

मात०—एतावानेव शतमन्योरायुष्मतश्च रथस्य विशेषः (१) ।

राजा—मातले ! कतमस्मिन् प्रदेशे मारीचाश्रमः ? (२) ।

मात०—[हस्तेन दर्शयन्] पश्य (३)—

वल्मीकार्द्धनिमग्नमूर्तिरुरगत्वग्ब्रह्मसूत्रान्तरः
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसम्पीडितः ।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं

(१) मातेति । शतमन्योः–शतक्रतोः इन्द्रस्य, आयुष्मतः=भवतश्च, विशेषः–अन्यरथेभ्यो वैलक्षण्यम् ।

शतमन्युपदेन शतसंख्यकयज्ञकरणफलभूतमिदमेकं वस्त्विति ध्वन्यते ।

(२) राजेति । मरीचेरपत्यं पुमान् मारीचः-कश्यपस्तस्य आश्रमः-मठः । कतमस्मिन्नित्यादिना मारीचदर्शनौत्सुक्यं गम्यते ।

(३) मातेति । हस्तेनोत्तानितेन पताकेन, दर्शयन्-आश्रमं निर्दिशन् ।

वल्मीकेति । वल्मीके-उपदीकोत्थापितमृत्पुञ्जमध्ये अर्द्धनिमग्ना-अर्द्धावगाढा मूर्त्तिः-शरीरं यस्य स तथाभूतः, अनेनानेककालव्यापितपश्चरणमुक्तम्; तथा च अनेककालं व्याप्यैकनिष्ठतया तपश्चरणादुपदीकाभिर्मृदमुत्तोल्य शरीरार्द्धं यावद्यस्यावृतं स तादृशः, अनेन सर्वजन्तुसाधारणत्वमुक्तम्; तथा च निश्चलतयावस्थानात् वल्मीककुक्षया केनचित् सर्पेण यस्य स्कन्धदेशे यज्ञोपवीतमिव निजनिर्मोकस्त्यक्तः स इत्याशयः । जीर्णानां-परिणतानां लतानां-वल्लीनां प्रतानः-कुटिलतन्तुः स एव वलयं-वर्तुलं वेष्टनं तेन, कण्ठे-गलदेशे, अवच्छेदे सप्तमी, अत्यर्थम्-अतिशयेन सम्पीडितः-क्लेशं प्रापितः, दृढबन्धनादिति भावः, तथा च यस्य कण्ठस्थलं समुत्पद्यमाना लता दीर्घकालावस्थित्या परिणतिं गता स्वकीयतन्तुभिर्निगडैरिव संबध्योत्पीडितः स इत्यभिप्रायः । अनेनापकारिण्युपकारकत्वमुक्तम् । एवम् अंसव्यापि-स्कन्धपर्यन्तव्यापकम्, शकुन्तानां-पक्षिणां नीडैः-कुलायैः निचितं-व्याप्तम्, 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः, जटामण्डलं-जटाजूटम्, बिभ्रत्-दधानः, अनेन परनिमित्तसम्पाद्यं द्योत्यते, तथा च यस्य निश्चलावस्थानेन जटासु पक्षिणोऽप्यावासं

(१) मातलि—आप के और देवराज के रथ में बस इतना ही अन्तर है ।

(२) राजा—मातलि ! महर्षि का आश्रम कहाँ है ?

(३) मातलि—(हाथ से दिखाते हुए) देखिए—

जिनका आधा शरीर वल्मीक में छिपा है, उस पर साँप की केचुल और यज्ञोपवीत पड़ा है, गले में पुरानी लता के पत्ते चिपटे हुए अत्यन्त कष्ट दे रहे हैं जिनकी जटा में

यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ॥ ११ ॥

राजा—[विलोक्य] नमोऽस्मै कष्टतपसे (१)।

कृत्वा स्थिताः स इति भावः, असौ-दृश्यमानः मुनिः, कश्चिन्महातपा महर्षिः, यत्र-यस्मिन् देशे, अचलः-निस्पन्दः, स्थाणुः-पत्रशाखादिवर्जितवृक्षकाण्ड इव, अभ्यर्कं-बिम्बम्-अर्कस्य-सूर्यस्य बिम्बं-मण्डलम् अभिलक्षीकृत्य, स्थितः-तिष्ठति, स मारीचाश्रम इत्यन्वयः। अत्र स्थाणुपक्षेऽपि सर्वाणि विशेषणानि, योज्यानि तथाहि—स्थाणुरपि वल्मीकाग्रनिमग्नकायः सर्पत्वक्परीतकोटरः कण्ठे-उपकण्ठे-समीपे इति यावत् जीर्णलतावलयेनाचितश्च पक्षिकुलायनिचितं स्कन्धप्रसृतं जटानां-प्ररोहरूपाणां मण्डलं दधदचलः सन् सूर्यबिम्बमभिवर्त्तत इति योज्यम् । केचित् स्थाणुः-शिव इवेति व्याचक्षते, 'स्थाणुः कीले हरे पुमान्' इति मेदिनीकोषोक्तेः, अस्मिन् पक्षेऽपि विशेषणानि यथावत्सङ्गमनीयानि । क्वचित् पुस्तके 'वल्मीकार्द्ध' इत्यत्र 'वल्मीकाग्र' इति पाठान्तरम्, तत्र-वल्मीकस्य-उपिताकृतमृत्तिकास्तूपस्य अग्रे-प्रान्ते इत्यर्थः। किञ्च 'उरगत्वग्ब्रह्मसूत्रान्तर' इत्यत्र 'उरसा संदष्टसर्पत्वचा' इति पाठान्तरम्, तत्र संदष्टा-निचिताः सर्पत्वचः-सर्पनिर्मोको यत्र तथाभूतेन, उरसा वक्षःस्थलेनोपलक्षितः, उपलक्षणे तृतीया-इत्यर्थः। केचित्तु 'जीर्णलताप्रतानवलयेन' इत्यस्य-जीर्णः—परिणतः यः लताप्रतानः-वल्लीसमूहः सः वलयः—कण्ठरोमाणीवेत्युपमितसमासं कृत्वा व्याचक्षते । वलयः कण्ठरोगिणि स्याद् वलयं कङ्कणेऽपि च' इति विश्वकोषोक्तेः। जीर्णेतिविशेषणेन लतायाः स्थूलत्वं बहुशाखत्वञ्च व्यज्यत इति तैरेवोक्तम् । 'अभ्यर्कबिम्बम्' इत्यस्याधस्तनोक्तं व्याख्यानं केचिदामनन्ति;—तद् यथा—'अर्कस्य-सूर्यस्य बिम्बो यत्र साऽर्कबिम्बा-पूर्वादिक् तामभिलक्षीकृत्येत्यर्थः। आभिमुख्येऽव्ययीभावः। लक्षणया मण्डलोदयस्य प्रागदर्शनम्, तस्या बीजन्तु 'सूर्यास्तगमनसमये मुनेस्तदभिमुखपातित्वे तस्य स्थाणोरिव निस्पन्दावस्थानविरोध' इति । अत्र साभिप्रायविशेषणबाहुल्यात् परिकरालङ्कारः। तथा श्लेषघटितश्रौतोपमा च। 'उरगत्वग्ब्रह्मसूत्रान्तर' इत्यत्र रूपकालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

(१) राजेति । कष्टतपसे-कष्टं कृच्छ्रं तपो यस्य तस्मै; अस्मै-मुनये नमः नमोयोगे चतुर्थी। अत्र भक्तिबहुमानादयो द्योत्यन्ते ।

पक्षियों ने अपने रहने के घोंसले बना दिये हैं और वह जटा स्कन्धप्रदेश तक छितराई हुई है, ऐसे वे मुनि ठूँठे वृक्ष की भांति सूर्य के बिम्ब की तरफ मुख कर अचलभाव से बैठे हुए हैं ॥ ११ ॥

(१) राजा—(देखकर) इन कष्टमय तपस्याकारी मुनि को प्रणाम है।

मात—[संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा] एतावदितिपरिवर्द्धितमन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः (१)।

राजा—अहो ! स्वर्गादिदमधिकतरं निर्वृतिस्थानम् । अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि (२)।

मात—[रथं स्थापयित्वा] अवतरत्वायुष्मान् (३)

राजा—[अवतीर्य] भवान् किमिदानीम् (४)।

मात—समययन्त्रित एवायमास्ते रथः; तद्वयमप्यवतरामः (५)

(१) मातेति । संयतः-कराभ्यां धृतः प्रग्रहः-रज्जुर्यस्य तं संयतप्रग्रहं-बद्धरज्जुकमित्यर्थः। अदित्या-कश्यपपत्न्या परिवर्द्धितः-जलसेकादिना वृद्धिं प्रापितः मन्दारवृक्षः-तन्नामकदेवतरुर्यस्मिन् तम्; प्रजापतेः-कश्यपप्रजापतेः; आश्रमं-तपोवनम् । स्वः—आवामिति शेषः ।

(२) राजेति । अथ स्वतः सत्त्वगुणापन्नो राजा सत्त्वोद्दीपनक्षेत्रसम्पर्केण प्रवृद्धसत्त्वगुणतया प्रहृष्यदन्तःकरण आह-अहो ! इत्यादि । निर्वृतेः सुखस्य स्थानम्-आस्पदम् । 'निर्वृतिः सुस्थतायां स्यादस्तंगमनसौख्ययोः' इति विश्वः । निर्वृतिस्वरूपमाह—अमृतेति। अमृतस्य—सुधायाः ह्रदं-महाजलाशयमिवेत्युत्प्रेक्षा; अवगाढोऽस्मि—अभ्यन्तरे प्रविष्टोऽस्मि । अत्र पुत्रेण सह प्रियतमायाः समागमो भविष्यतीति भाविसुखं सूच्यते ।

(३) मातेति । स्थापयित्वा-स्थिरीकृत्य । अवतरतु-अवरोहतु रथादिति शेषः ।

(४) राजेति । अवतीर्य—अवरुह्य । अथ राजा स्वयमवतीर्णोऽपि तत्तपोवनस्यापरिचिततया मार्गविदकं बिना गन्तुमशक्नुवन् मातलिमपि तत्र नेतुमनाः देवसारथित्वात 'भवानवतरतु' इति तस्मै सम्मानभङ्गभियाऽनुक्त्वाऽसम्पूर्णवाक्येन पृच्छति; भवानिति । भवान् किमिदानीमवतरेदिति वाक्यशेषः । देवराजसारथित्वात् सम्मानरक्षार्थं तदपि स्पष्टतया नोक्तमित्यपि मन्तव्यम् । भवदवतरणमपेक्षे इति भावः।

(५) मातेति । समययन्त्रितः—समयेन—'यावदहं प्रत्यावृत्यागच्छामि तावद-

(१) मातलि—(रथ की बागडोर कड़ी कर) अब हम कश्यप प्रजापति के आश्रम में प्रविष्ट हो गये । अदिति देवी ने अपने हाथों इस मन्दार वृक्ष को सींचकर बड़ा किया है ।

(२) राजा—अहो ! स्वर्ग से भी बढ़ कर यह शान्तिप्रद स्थान है । यहाँ पहुँचकर मैं मानों अमृत-सरोवर में डुबकी लगा रहा हूं ।

(३) मातलि—(रथ रोककर) आप उतरें ।

(४) राजा—(उतरकर) तो क्या अब आप···?

(५) मातलि—यह रथ संकेतमात्र से रक्षित है । सुतरां मैं भी उतरूँगा । (उतरकर

[तथा कृत्वा] इत इत आयुष्मन् ! दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः।

राजा—ननु विस्मयादुभयमप्यवलोकयामि (१)।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने,
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया।

त्रैव तिष्ठ' इति नियमेन यन्त्रितः—अवरोधित एव। ईदृशनियमव्यवस्थापनं देवविमानस्य सचेतनत्वात् पलायनसम्भवादिति बोध्यम्। यद्वा—समयेन—संकेतविशेषेण यन्त्रितः सङ्कोचित एवेत्यर्थः, आस्ते—तिष्ठति। नैकं पदमपि चलितुं शक्नुयादिति भावः।

'समयः शपथे भाषासम्पदोः कालसंविदोः।
सिद्धान्ताचारसंकेतनियमावसरेषु च॥
क्रियाकारे निर्देशे च'-इति हेमचन्द्रः।

तत्-तस्मात्; इतोऽन्यत्र गमनासम्भवात्, वयमपि-अहमपि, अस्मद एकत्वेऽपि बहुत्वस्य विकल्पेन विवक्षितत्वात्, अवतरामः—अवरोहामः। तथा च ममाप्यवरोहणेन नैव काचिद्धानिरस्तीत्याशयः। तथा—अवतरणम्। तपोवनप्रदेशं राजानं दर्शयितुमाह—इत इत्यादि। इत इतः अस्यामस्यां दिशि। अत्र भवतां पूजनीयानाम्, तपोवनभूमयः—तपःसाधनवनभूमयः, दृश्यन्तां—दृश्यदृष्ट्याऽवलोक्यन्तामित्यर्थः।

(१) राजेति। नन्विति सम्बोधने विस्मयात्—विस्मयमवलम्ब्य, ल्यब्लोपे पञ्चमी, उभयं—तपः तपोवनभूमिश्चैतद् द्वयमपि।

विस्मयावहत्वमुपपादयति—प्राणानामिति। अथवा निरुपाधिकेच्छाविषयत्वेन स्वर्गस्य। तपःफलत्वादेतस्स्थानस्य तद्धर्मान् दर्शयन् तपोऽनुष्ठाने विस्मयमुपपादयति-प्राणानामिति। सन्तः-विद्यमानाः कल्पवृक्षाः-अभीष्टफलदायिनः देवतरुविशेषा यस्मिन् तत् तादृशे, वने—तपोवने, अनिलेन—वायुना केवलवायुभक्षणेन न तु कल्पवृक्षदत्तभक्ष्यवस्तुनेत्यर्थः, प्राणानां वृत्तिः—स्थितिः उचिता—अभ्यस्ता 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः। तथा च प्रार्थनामात्रेणैव नानाविधसात्त्विकानां चर्व्यचोष्यलेह्यपेयादिद्रव्याणां दातरि कल्पवृक्षसम्पन्नवनेऽपि वायुभक्षणेनैव जीवनधारणमतीव विस्मयकरमिति भावः। काञ्चनपद्मानां—सुवर्णकमलानां रेणुभिः—परागैः, कपिशे—पिङ्गलवर्णे, तोये-जले, पुण्या-पावनी, अभिषेकक्रिया-नियमस्नान-

इधर, इस रास्ते से आइए और माननीय मुनियों की तपोवन-भूमि देखिए।

(१) राजा—मैं विस्मय के साथ दोनों बातें देख रहा हूँ :—

ऋषि तपस्या से जिस बन में कल्पवृक्ष रहता है, उस वन में भी केवल वायु भक्षण करके जीवित रहने का अभ्यास, स्वर्णकमल के पराग ने जिस जल को पीत

ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यद्वाञ्छन्ति तपोऽभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥१२॥

कर्म्मसम्पादनं न तु विहारप्रवृत्तिरित्यर्थः । तथा च कमलरजःसुरभिजले सुन्दरीभिः सह विहारमकृत्वा नियमस्नानसम्पादनमतीव विस्मयापादकमिति भावः । रत्नशिलाः रत्नविकारा उपलाः तासां गृहेषु-तन्निर्मितेषु भवनेषु, ध्यानम्-आत्मप्रत्ययैकतानता, न तु सुन्दरीभिः सहैकत्र शयनमित्यर्थः । 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इति योगदर्शनम् । तथा च मणिमयोपलमण्डितसद्मसु सुन्दरीभिः सहैकत्र शयनादिकमन्तरेण परमात्मचिन्तनमतीव विस्मयजनकमिति भावः । तथा विबुधस्त्रीणां-सुरसुन्दरीणाम् अप्सरसां सन्निधौ-समीपे, संयमः-इन्द्रियनिग्रहः न त्विन्द्रियचरितार्थतेत्यर्थः । तथा चाप्सरोरूपसुन्दरीणां सम्भोगमकृत्वा तासां सन्निधाविन्द्रियवशीकरणमतीव विस्मयाधायकमिति भावः । एवञ्च अन्यमुनयः विश्वामित्रादयः, तपोभिः तपश्चरणैः यत् स्थानम् वस्तु वा, वाञ्छन्ति-लब्धुं कांक्षन्ति, अमी दृश्यमानाः मुनयः तस्मिन् स्थाने, स्थितमपि तदनादृत्य चेत्यर्थः, अनादरे भावलक्षणे सप्तमी, तपस्यन्ति-तपस्यां कुर्वन्ति 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति (पा०) क्यङ्; ततः 'तपसः परस्मैपदं च' इति (वा०) परस्मैपदम् । इत्यहो ! महदाश्चर्यकरमिति भावः । अत्र पद्मपुराणम्—

हिरण्यशृङ्गः सुमहान् दिव्यो मणिमयो गिरिः ।
तस्य पार्श्वे महद्दिव्यं शुभ्रकाञ्चनवालुकम् ।
रम्यं बिन्दुसरो नाम………' ॥ इति ।

अत्र तत्तत्कारणसत्त्वेऽपि तत्तत्कार्याभावाद् विशेषोक्तिः । तथा चतुर्थचरणवाक्यार्थं प्रति पूर्वचरणत्रयगतवाक्यार्थानां हेतुत्वेनोपन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । तथान्यमुन्यपेक्षया तत्रस्थानां मुनीनामाधिक्यप्रदर्शनाद् व्यतिरेकालङ्कारोऽपि । विशेषोक्त्या चैतन्निवासिनां मुनीनां धैर्यातिशयो व्यज्यत इत्यलंकारेण वस्तुध्वनिः । पञ्चाननास्तु-अत्र स्वर्गधर्मप्रदर्शनात् तुल्ययोगितालंकारः । यदुक्तम्—

'वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता' इति-इत्याहुः ।

अत्र च राज्ञो विस्मयस्तदुपस्कृता मुन्यालम्बना रतिश्च भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १२ ॥

वर्णन कर दिया है उसमें स्नान, रत्नशिलानिर्मित भवन में ध्यान, देवाङ्गनाओं के समीप रहकर भी संयम, इस तरह की जिन वस्तुओं की अन्य मुनिजन अभिलाषा करते हैं उस भूमि में रहते हुए भी ये मुनिगण तपस्या कर रहे हैं ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वगामिनी

मात—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना ! [परिक्रम्य आकाशे] वृद्धसाकल्य ! किंव्यापारः सम्प्रति भगवान् मारीचः ? । [आकर्ण्य] किं ब्रवीषि-दाक्षायण्या पतिव्रतापुण्यमधिकृत्य पृष्टस्तदस्यै महर्षिपत्नीगणसहितायै कथयतीति । तत् प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः [राजानमवलोक्य] (१) अस्यामशोकच्छायायां तावदास्तामायुष्मान्, यावत्त्वामहमिन्द्रगुरवे निवेदयामि ।

(१) मातेति । उत्सर्पिणी—उत्-ऊर्ध्वम् उपर्युपरि सर्पति-गच्छतीति या सा तथोक्ता—क्रमिकोर्ध्वगामिनी ऊर्ध्वोर्ध्वफलापेक्षिणीति यावत्, णिनिः प्रत्ययः, महतां-मनस्विनाम् प्रार्थना-आशंसा, महान्तः खलु उत्तरोत्तरमुन्नतिमेव काङ्क्षन्तीत्यर्थः । तथा चात्रत्या मुनयस्तपस्यन्तो ब्रह्मलोकादिकं सम्भवतः कामयन्त इत्याशयः । अत्र प्रागुक्तराजवाक्यसमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ।

परिक्रम्य—कश्यपसमीपगमनाय पादक्रमणं कृत्वा, आकाशे-शून्ये; वृद्धसाकल्याभाववत्यामपि रङ्गभूमौ इत्यर्थः । वृद्धसाकल्य इति कस्यचित् कश्यपशिष्यस्य तापसस्य सम्बोधनम्, केचित्तु वृद्धसाकल्य-वृद्धसमुदाय इति व्याचक्षते; तच्चिन्त्यम्, समुदायवाचित्वे क्लीबलिङ्गत्वापत्तेः । किंव्यापारः—को व्यापारो यस्य स इति विग्रहः; किमाचारः; किं करोति इत्यर्थः, मरीचेरपत्यं मारीचः—कश्यपः । आकर्ण्य—श्रुतिमभिनीयेत्यर्थः । दाक्षायण्या—दक्षस्यापत्यं स्त्री दाक्षायणी तया—अदित्या । पतिव्रतापुण्यं-पतिव्रतायाः-पातिव्रत्यसम्पन्नायाः स्त्रियाः पुण्यम्-धर्मम्, अधिकृत्य—आश्रित्य, अस्यै-दाक्षायण्यै, उद्देश्यतामात्रविवक्षायां चतुर्थी, तत्—पतिव्रतापुण्यम्, कथयति—श्रावयति, भगवान् मारीच इति शेषः; इति किं ब्रवीषीत्यनुषङ्गः । तत्-तस्मात् कर्मविशेषे व्यापृतत्वात्, प्रतिपाल्यावसरः-प्रतिपाल्यः—प्रतीक्ष्यः अवसरो यस्य तादृशः अपेक्षणीयसमय इत्यर्थः; प्रस्तावः विषयान्तरप्रसङ्गः । तत्कथनपरिसमाप्तौ सत्यां विषयान्तरप्रसङ्गः आरम्भणीयः इति भावः । राजानं-दुष्यन्तम्, अवलोक्य-तदभिमुखं दृष्टिं निधाय । अशोकच्छायायाम्—

(१) मातलि—महात्माओं की प्रार्थना क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी हुआ करती है । (कुछ) कदम चलकर आकाश में वृद्धसाकल्य ! इस समय भगवान् कश्यप क्या करते हैं ? (सुन कर) क्या कहा कि दाक्षायणी ने पतिव्रता के धर्म-विषय में प्रश्न किया था, सो अन्य बहुत सी महर्षिपत्नियों के साथ बैठी हुई दाक्षायणी को पतिव्रता धर्म बता रहे हैं । अतएव कोई दूसरा प्रस्ताव लाने के लिए कुछ समय की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी । (राजा को देख कर) आप थोड़ी देर इस अशोक की छाया में बैठें । तब तक मैं इन्द्र-गुरु (कश्यप) को आप के आगमन की सूचना दे आऊँ ।

राजा—यथा भवान् मन्यते । [इति स्थितः ।] (१) ।

[मातलिर्निष्क्रान्तः ।] (२) ।

राजा—[निमित्तं सूचयित्वा ।] (३) ।

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो ! स्पन्दसे मुधा ।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्त्तते ॥ १३ ॥

अशोकवृक्षतलस्थितानातपभूभागे, अशोकेत्यन्वर्थेनात्र स्थितौ तस्य शोकराहित्यं भविष्यतीति द्योत्यते, बाहुल्ये गम्यमाने एव छायान्तः तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति अत्र तु तदर्थकत्वविरहादेव न तत्त्वमिति बोध्यम् । आस्ताम्-उपविशतु । इन्द्रगुरवे-इन्द्रस्य गुरवे—पित्रे; कश्यपायेत्यर्थः ।

(१) राजेति । यथा भवान् मन्यते—भवतो यदभिमतं तत् करोमीत्यर्थः ।

(२) मातलिरिति । अत्र मातलेः सहसा निष्क्रामणेन राज्ञ आश्रमेऽनानयनेन शकुन्तलायामप्सरःसम्भवायां व्यभिचारशङ्कानिरासाय मारीचमुखेन पतिव्रतापुण्यख्यापनेन 'राज्ञो जायासुतसम्मिलनार्थरूपः पदार्थः कविनोपनिबद्धः' इति व्यज्यते ।

(३) राजेति । निमित्तं—दक्षिणबाहुस्पन्दनरूपं शुभलक्षणं सूचयित्वा—रूपयित्वा । दक्षिणबाहुस्पन्दनफलमाह गर्गः—'दक्षिणबाहुस्पन्दनमर्थलाभं बन्धुदर्शनं' वा इति ।

अथ दक्षिणबहुस्पन्दनस्य बन्धुसमवाप्तिसूचकत्वेन तदुद्बोधित—दयितापरित्यागखेदः सानुशयमाह—मनोरथायेति । हे बाहो !—दक्षिणभुज !, मनोरथाय—मनोरथविषयीभूताय शकुन्तलासमागमायेति यावत्, न आशंसे—न प्रार्थये मम तु मनोरथाशंसापि नास्ति शकुन्तलाप्राप्तिस्तु दूरे आस्तां तस्या अत्यन्तासम्भाव्यत्वादिति भावः । तस्मात् किं—कथम्, मुधा—वृथा, स्पन्दसे—स्फुरसि । तथा च मत्पक्षे शकुन्तलासमागमस्यासम्भाव्यत्वान्नैराश्ये प्राप्तिसूचकं ते स्फुरणं निरर्थकमेवेति तात्पर्यम् । उक्तं प्रथमवाक्यार्थं सामान्येनोपपादयति-पूर्वेति । हि—तथा हि पूर्वावधीरितं-प्रथमं तिरस्कृतम्, श्रेयः-कल्याणम्, दुःखं सत् ; परिवर्त्तते-व्यावर्त्तते, दुःखरूपेण परिणमतीत्यर्थः ।

---

(१) राजा—जैसा आप उचित समझें, करें । (यह कह कर बैठ जाता है ।)

(२) (मातलि चला जाता है ।)

(३) राजा—(शुभ लक्षण की सूचना कर)—

मैं अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये आशा नहीं रखता तब हे बाहु तू व्यर्थ क्यों फड़क

[नेपथ्ये] मा खलु चपलतां कुरु, यस्मिन् तस्मिन्नेव आत्मनः प्रकृतिं दर्शयसि (१)। (मा क्खु चवलदं करेहि, जहिं तहिं ज्जेव अत्तणो पेइदिं दंसेसि ।)

राजा—[कर्णं दत्त्वा ।] अभूमिरियमविनयस्य, तत् को नु खल्वेवं निषिध्यते ! [शब्दानुसारेणावलोक्य सविस्मयम् ।] अये ! को नु खल्वयमवरुध्यमानस्तापसीभ्यामबालसत्त्वो बालः (२) ।

'परिवर्त्तो विनिमये कूर्मराजे प्रवर्त्तने' इति मेदिनी ।

तथा च पूर्वकृता शकुन्तलावधीरणा सम्प्रति मम चित्ते दुःखरूपेणैव परिणता भवतीति भावः । अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । मनोरथायेति शकुन्तलारूपविषयस्य निगिरणादतिशयोक्तिः पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ १३ ॥

(१) अथ कालप्रवेशं वक्तुमुपक्रमते:—नेपथ्ये इति । उपमातृस्थानीये केचित्तापस्यौ कमपि केशरिकिशोरं कर्षन्तं बालकं निषेधतः—मा खल्विति । चपलतां—चाञ्चल्यम्, मा कुरु—परिहर; इति निषेधः । यत्र तत्र—यस्मिन् तस्मिन्, स्वस्माद् बलिष्ठेऽपीति यावत्, आत्मनः—क्षत्रियस्य बालस्य वा, प्रकृतिं—स्वभावम् । केचित्तु—अनेन नेपथ्योत्थवाक्येन 'चापल्यं मुञ्च, तव शकुन्तलालाभोऽवश्यं भविष्यति' इति शकुन्तलाप्राप्तौ परित्यक्ताशस्य राज्ञो मनोरथायेति भावगस्य प्रत्युत्तरीभूतमिति सूच्यते, तेन तृतीयं पताकास्थानमिदमिति—आचक्षते ।

(२) राजेति । अविनयस्य—औद्धत्यस्य, इयमभूमिः—इदमस्थानम् । अत्र महर्षीणां तपःक्षेत्रत्वादशिष्टाचारस्यावकाशो नास्तीति भावः । निषिध्यते—अविनयाद् वार्यते । शब्दानुसारेण—शब्दस्य अनुसारः-अनुसरणं तेन, यस्माद् देशात् 'मा क्खु' इत्यादिशब्द आयातस्तस्मिन् देशे दृष्टिपातेनेत्यर्थः । अये इति विस्मये । तापसीभ्यां-तपस्विनीभ्याम्, अवरुध्यमानः-अवष्टभ्यमानः ध्रियमाण इति यावत्, अबालसत्त्वः-अबालम्-अस्तोकं प्रभूतमिति यावत् सत्त्वं-पराक्रमो यस्य सः,

---

रहा है ? जब मैंने उस समय मंगल का तिरस्कार कर दिया तो अब उसके बदले मुझे दुःख ही प्राप्त होगा ॥ १३ ॥

(१) नेपथ्य में—चंचलता मत कर, तू जहाँ होता है वहीं अपना स्वभाव दिखाता रहता है ।

(२) राजा—(कान देकर) यह स्थान तो अशिष्टाचरण के योग्य नहीं है । फिर किसे मना किया जा रहा है ।

(जिधर से आवाज आयी थी उधर ही देखर विस्मय के साथ) ओह ! यह बालक कौन है ? दो तपस्विनियाँ इसे पकड़े हैं, इसकी शक्ति तो असाधारण मालूम पड़ती है ।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेशरम् ।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं करेणैवावकर्षति ॥ १४ ॥

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्म्मा तापसीभ्यां सह बालः] (१)

बालः—जृम्भस्व रे सिंहशावक !! जृम्भस्व, दन्तान् ते गणयिष्यामि । (२) । (जिम्भ ले सिंहसावआ ! जिम्भ, दन्ताइं दे गणइस्सं ।) ५६

'सत्त्वोऽस्त्री जन्तुषु क्लीबे व्यवसाये पराक्रमे' इति केशवः, अथ वा अबालस्य—यूनः सत्त्वमिव सत्त्वं-पराक्रमो यस्य सः, महाबल इत्यर्थः, इति विग्रहः, 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः' इति विश्वः, बालः-शिशुः । अस्य श्लोकस्यावकर्षतिक्रिययाऽन्वयः ।

अबालसत्त्वत्वमुपपादयति-अर्द्धेति । मातुः-सिंहशिशोरेव जनन्याः केशरिण्याः, अर्द्धम्-असमग्रं यथा स्यात्तथा पीतः स्तनः-स्तननिःसृतं दुग्धं येन तम्, आमर्दन-तेनैव बालकेन कृतविमर्दनेन क्लिष्टाः-सपीडं स्रस्ताः केशराः-सटा यस्य तम्, 'सिंहसटासु पुन्नागे बकुले नागकेशरे, केशरः पुंसी'ति त्रिकाण्डशेषः सिंहशिशुं—केशरिशावकम्, प्रक्रीडितुं-क्रीडां कर्तुं मनोविनोदनार्थमिति भावः, करेणैव-हस्तेनैव, एवेन रज्ज्वादेर्व्यवच्छेदः अवकर्षति-आकर्षति । अन्यः खलु बालः कस्याप्याकर्षणमेव नैव कर्तुमर्हति, तत्रायं बालः सिंहशिशुं तत्रापि मातुः क्रोडात् स्तन्यं पिबन्तं तत्रापि दूरस्थो भूत्वा केनचिद्दण्डादिना नैव किन्तु स्वकरेण तत्रापि रज्ज्वादिना बद्ध्वा नैव किन्तु सटां धृत्वा तत्रापि नात्मत्राणार्थं किन्तु मनोविनोदनार्थमेव तत्रापि बद्ध्वा नैव पलायते किन्त्वाकर्षतीत्यस्य सर्वेभ्यः प्रभावातिशयो व्यज्यते-इत्यर्थद्योतनिका । तथा चाबालसत्त्व एवायं बाल इत्याशयः । अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । महच्चरितवर्णनादुदात्तालङ्कारश्च । पथ्यावक्त्रम् ॥ १४ ॥

(१) तत इति । यथानिर्दिष्टं-सिंहबालकाकर्षणरूपं कर्म यस्य सः यथानिर्दिष्टकर्मा-सिंहीसकाशात् जटायां सिंहशिशुमाकर्षन्नित्यर्थः ।

(२) बाल इति । बालकस्य क्रीडाप्रकारं दर्शयति—जृम्भस्वेति । जृम्भस्व-विदारितास्यो भव । कथमित्यत्राह-दन्तानिति । दन्तान्-दंष्ट्राः, गणयिष्यामि-

सिंहशावक के साथ खेलने के लिए उसे हाथ से पकड़ कर अपनी ओर खींच रहा है। इस सिंहशावक ने अभी माता के स्तन से आधा ही दूध पिया है : इस तरह उस बालक के खींचने से इसके केसर तितर-बितर हो गये हैं ॥ १४ ॥

(१) (इसके बाद दो तपस्विनियों के साथ पूर्वोक्त कार्य में लगा हुआ बालक प्रविष्ट होता है ।)

(२) बालक—मुँह फैला रे सिंह के बच्चे ! मैं तेरे दाँतों को गिनूंगा ।

प्रथमा—अविनीत ! किं नः अपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि । हन्त ! वर्द्धत इव ते संरम्भः । स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि (१) । (अविणोद ! किं णो अवच्चणिव्विसेसाइं सत्ताइं विप्पअरेसि । हन्त ! वड्ढइ विअ दे संरम्भो । ट्ठाणे क्खु इसिजणेण सव्वदमणोत्ति किदणामहेयोसि ?)

राजा—किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे हृदयम् । [विचिन्त्य ।] नूनमनपत्यता मां वत्सलयति (२)

संख्यास्यामि दन्तानां मुखान्तर्वर्त्तित्वान्मुखव्यादानाभावे तद्गणनं न सम्भवतीति भावः । इयं बालकोच्चरिता शौरसेनी भाषा बोद्धव्या । तथा चोक्तं दर्पणे—

'बालानां षण्ढकानाञ्च नीचग्रहविचारिणाम् ।
उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात् ॥' इति ।

तत्र तच्छब्देन शौरसेनीभाषायाः परामर्शः ।

(१) प्रथमेति तापस्योर्मध्ये एका तापसी । अविनीत ! दुःशील !, इदं बालसम्बोधनम् । नः–अस्माकम्, अपत्यनिर्विशेषाणि–अपत्येभ्यः–सन्तानेभ्यो निर्विशेषाणि—अभिन्नानि, सन्ततुल्यानि इत्यर्थः । सत्त्वानि–जन्तून्, 'सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः, सामान्योक्तिरियम्; सिंहशिशुमिति भावः, विप्रकरोषि–उत्पीडयसि । मैवं कुरु इत्यभिप्रायः । हन्तेति विषादे, संरम्भः–आटोपः, दर्पं इति यावत्, 'आवेशाटोपसंरम्भा' इति त्रिकाण्डशेषः । स्थाने खलु—अन्वर्थत्वात् युक्तमेव । सर्वदमनः–सर्वान्–समस्तान् प्राणिनः दमयति–अभिभवतीति तथोक्तः, कृतनामधेयः–कृतं नामधेयं—नाम यस्य तथाविधोऽसि ।

इयमपि तापसीभाषिता शौरसेन्येव भाषा । यदुक्तं दर्पणे—

'शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनाञ्च योषिताम्' ॥ इति ।

तादृशीनां—शिक्षितानामुच्चवंशजातानाञ्चेत्यर्थः ।

(२) राजेति । अथ राजा 'आत्मा प्रविश्य जायायां पुत्ररूपेण जायते' इति पुत्रस्य तादात्म्यात्तद्दर्शनेन वात्सल्यहृदयस्तत्त्वमजानन् तद्धेतुं विमृशति–किं नि-

(१) पहली तपस्विनी—दुष्ट हमारे बच्चों की तरह सब बच्चों को क्यों तंग करता है ? हाय ! तेरा अभिमान तो बढ़ता ही जारहा है । ऋषियों ने जो तेरा सर्वदमन नाम रखा था, वह ठीक ही निकला ।

(२) राजा—मेरा हृदय इस बालक पर औरस पुत्र के समान क्यों स्नेह कर रहा है ? (सोचकर) अवश्य ही सन्तान का अभाव मेरे द्वारा ऐसा प्रेम करा रहा है ।

द्वितीया—एषा त्वां केशरिणी लङ्घयिष्यति, यद्यस्याः पुत्रकं न मोक्ष्यसि (१)। (एसा तुमं केसरिणी लंघइस्सदि, जइ से पुत्तअं ण मुञ्चिस्सदि।)

बालः—[सस्मितम्] अहो! बलीयः खलु भीतोऽस्मि (२)। [इत्यधरं दर्शयति] (अह्महे! बलिअं क्खु भीदह्मि)

राजा—[सविस्मयम्] (३)।

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधोऽपेक्ष इव स्थितः ॥ १५ ॥

त्यादि। किं न्विति वितर्के। औरसे—आत्मजे, परिणीतायां सवर्णायां भार्यायां स्वयमुत्पादिते इति यावत्। यथाह भगवान् मनुः—

'स्वे क्षेत्रे संस्कृतायान्तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्।
तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्रथमकल्पिकम् ॥'

स्निह्यति—स्नेहं करोति। अथात्र हेतुमुत्प्रेक्षते—नूनमिति। अनपत्यता-सन्तानशून्यता, वत्सलयति—वात्सल्ययुक्तं करोति। सन्तानशून्यस्य जनस्य बालमात्रेऽपि तथैव स्नेहदर्शनादिति भावः।

(१) द्वितीयेति। तापस्योर्मध्येऽपरा। बालं निवर्त्तयितुं भीषयति—एषेति। एषा-पुरःस्थिता, केशरिणी—अस्य सिंहशिशोर्जननी सिंही, लङ्घयिष्यति—आक्रमिष्यति। अस्याः—सिंह्याः, पुत्रकं—क्षुद्रं पुत्रम्। अल्पार्थे कन्।

(२) बाल इति। विभीषिकाश्रवणेनोपहासात् स्मितम्। अतएव सोल्लुण्ठमाह—अहो इत्यादि। अहो इति सम्बोधने। बलीयः खलु-अत्यर्थमेव, भीतोऽस्मिविपरीतलक्षणया सिंहीतो मनागपि न बिभेमीत्यर्थः। तथा च नैतं मुञ्चामीति भावः। अधरं—निम्नोष्ठम्, दर्शयति प्रसार्थ तापस्यै इति शेषः, अयमवज्ञाप्रकाशः, रोषानुभावोऽयमिति केचित्। बालस्वभावोऽयम्।

(३) राजेति। सविस्मयं—बालकगतलाहसिकत्वदर्शनेन विस्मयः; तेन सहितमित्यर्थः।

महत इति। एधोऽपेक्षः एधः—काष्ठमपेक्षत इति तथाभूतः, 'काष्ठे दार्विन्धनं त्वेधः' इत्यमरः, स्फुलिङ्गावस्थया—कणमात्ररूपेण स्थित इत्यर्थः, वह्निः—अग्निरिव,

---

(१) दूसरी तप०—यह सिंहनी तुझे धर दबायेगी, यदि तू उसका बच्चा न छोड़ेगा।

(२) बालक—(मुस्कराकर) 'ओ माँ! मैं बहुत डर गया। (ऐसा कह अधरोष्ठ दिखाता हुआ उसे चमकाता है।)

(३) राजा—(विस्मय के साथ) ईंधन की अपेक्षा करता हुआ अग्निकण के समान यह बालक भविष्य में महातेजस्वी होगा। ऐसा मुझे मालूम पड़ता है ॥ १५ ॥

प्रथमा--वत्स ! मुञ्च बालमृगेन्द्रकम् , अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि (१) । (वच्छ ! एदं मुञ्च बालमइन्दअं अवरं दे कीलणअं दाइस्सं ।

बाल--कस्मिन् देहि एनम् ! [इति हस्तं प्रसारयति] (२) ।(कहिं देहि णं।)

राजा--[बालस्य हस्तं दृष्ट्वा ।] कथं चक्रवर्त्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते (३)।

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः ।

अयं-पुरोवर्त्ती, बालः-शिशुः, मे-मम सम्बन्धे, महतः-अनल्पस्य, तेजसः-प्रभावस्य; वह्निपक्षे दीप्तेश्च बीजं-कारणम्, 'हेतुर्ना कारणं बीजम्' इत्यमरः, प्रतिभाति-प्रतीतिविषयो भवति। तथा च यथोऽल्पेलोऽग्निकणो यथा महादीप्तेः कारणं भवेत् तथाऽयं शिशापेक्षो बालो महाप्रभावस्य कारणं भविष्यतीति मे प्रतिभातीति समुदितोऽर्थः।। केचित्तु बीजमिति प्रतीकं धृत्वा 'यथा बीजमङ्कुरादिक्रमेण महातरुर्भवति तथा महातेजा भविष्यंश्चित्यर्थः' इत्यर्थमाकलयन्ति । अत्र श्रौतोपमालङ्कारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ १५ ॥

(१) प्रथमेति । बालमृगेन्द्रकं-सिंहशिशुम्, मृगाणां-पशूनामिन्द्रो मृगेन्द्रः बालश्चासौ मृगेन्द्रो बालमृगेन्द्रः, अनुकम्पायां कन् , अनुकम्पा तु सर्वदमनकर्तृकपीड्यमानत्वात् बालत्वाद् वा, 'पशवोऽपि मृगा' इति 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः' इति चामरः, तमिति विग्रहः । क्रीड्यतेऽनेनेति क्रीडनं-क्रीडासाधनम्, करणे ल्युट् ; ततः स्वार्थे कन् ।

(२) बाल इति । कस्मिन्—क्रीडनकं कस्मिन् स्थानेऽस्तीत्यर्थः। एनं—क्रीडनकम् । हस्तमिति । हस्तप्रसारणमादानार्थम् ।

(३) राजेति । कथमिति विस्मये । चक्रवर्त्तिलक्षणं—सार्वभौमचिह्नम्, अपिना वीर्यातिशयस्य परिग्रहः । अनेन—बालेन ।

उक्तमुपपादयति—प्रलोभ्येति । प्रलोभ्यं—प्रलोभकारकं यद्वस्तु क्रीडनकादिकं तत्र यः प्रणयः—प्रार्थना प्रीतिर्वा तेन प्रसारितः—विस्तृतः, तेन विना दर्शनासम्भवात् , जालवत्-गवाक्षवत् गवाक्षगतसरलदारुवदित्यर्थः, ग्रथिताः-परस्परं निरन्तरसंश्लिष्टा अङ्गुलयो यस्मिन् स तथोक्तः, करः-अस्य बालकस्य पाणिः, इद्धः-प्रकाशितः

---

(१) प्रथमा—इस सिंह के बच्चे को छोड़ दे । मैं तुझे और खिलौना दे दूंगी ।

(२) बालक—कहाँ है ? लाओ दो । (हाथ फैलाता है)

(३) राजा—(बालक का हाथ देखकर) अच्छा ! सम्राट् के लक्षण भी इस के हाथ में हैं ।

मानो अभी कुछ अन्धकार है इस कारण जिसके दल अलग-अलग नहीं देखे जा सकते और देदीप्यमान एवं रक्तिमशाली प्रभातकाल ने जिसे विकसित कर दिया है इस तरह का एक कमल जैसे सुशोभित होता है । उसी प्रकार गवाक्ष की तरह आपस में सटी हुई

अलब्ध पत्रान्तरमिद्धरागया नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ॥१६॥

द्वितीया—(१) सुव्रते ! मुञ्चैनम् । नैव शक्यो वाङ्मात्रेण शमयितुम् ।

रागः-लौहित्यं यस्याः सा तथा, नवोषसा-उषःप्रारम्भेण, भिन्नं-विघटितं प्रस्फुटितीकर्त्तुमारब्धमिति यावद्, अलब्धानि-तदानीमप्यालोकातिशयाभावादननुभवनीयानि पत्राणां दलानामन्तराणि-परस्परावकाशदेशा यस्य तत्तथाभूतम्, एकम्-अद्वितीयम्, पङ्कजं-पद्ममिव, विभाति-शोभते । तथा च यथाप्रसन्ध्यायां प्रथमसुपस्थितायामेवालोकातिशयाभावेनैवद्धिकचभावमाप्नुवतोऽपि कस्यचित् पद्मस्य कतिपयदलमात्रं विकसितं परिलक्ष्यते न तु दलान्तर्देशः, तथा क्रीडनकादानाय करप्रसारणकाले कतिपयाङ्गुलिमात्रं परिलक्ष्यते न स्वङ्गुलीतन्निमाग इति समुदितोऽर्थः । केचित्तु 'जालग्रथिताङ्गुलिः' इत्यस्य-जालं-गवाक्षविवरमिवाङ्गुलिविवरं तेन ग्रथिताः-संयुता अङ्गुलयो यत्र । तादृशः, यद्वा जालेन-जालाकारावर्त्तविशेषेण ग्रथिताः-युक्ता अङ्गुलयो यत्र तादृशः, अथ वा जालेन-समूहेन संहत्या इति यावत्, ग्रथिता-निर्मिता अङ्गुलयो यस्मिन् स तथोक्तः, संहताङ्गुलिरित्यर्थः, 'जालं समूह आनाये' इत्यमरः-इत्यर्थं समाकलयन्ति । 'इद्धरागया' इत्यनेन नवोषाया विकाससामर्थ्यं ध्वनितम् । नवोषसेत्यत्र राघवस्तु-'नवोषसा-नूतनप्रातःकालेन उषा रात्रौ तदन्ते स्याद्रात्रव्ययमप्युषा' इति विश्वः, नूतनत्वमजरठीभावः—इत्याह । क्वचित् 'नवोषया' इति पाठः, अत्र उषःशब्दस्य 'उषः प्रत्युषसी अपि' इत्यमरवचनेन क्लीबलिङ्गत्वमेवेति नाशङ्कनीयम्; तस्य स्त्रीलिङ्गस्यापि प्रयोगदर्शनात्, यथा भागवते-'अथोषस्युपवृत्तायाम्' इति । एवञ्च नात्र च्युतसंस्कारतादोषः । अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावेनौपम्यादुपमाया भिन्नलिङ्गत्वं न सहृदयोद्वेगकरम् तस्मान्नानौचित्यं दोषोऽपि । यदुक्तं दण्डिना—

'न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा ।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥' इति ।

चक्रवर्तिलक्षणमाह—सामुद्रिकम्—

'अतिरिक्तः करो यस्य ग्रथिताङ्गुलिको मृदुः ।
चापाङ्कुशाङ्कितः सोऽथ चक्रवर्ती भवेद् ध्रुवम् ॥' इति ।

उक्तं च गरुडपुराणे—'घनाङ्गुलिश्च सघनस्तिस्रो रेखाश्च यस्य वै। नृपतेः करतलगा मणिबन्धे समुत्थिताः ॥' इति । वंशस्थबिलं वृत्तम् ॥ १६ ॥

(१) द्वितीयेति । 'सुव्रता' इति प्रथमतापस्या नाम, तत्सम्बोधने 'सुव्रते'

उँगलियों से युक्त और ललचाने वाला एक वस्तु के लिये फैला हुआ उसका हाथ बड़ा सुन्दर लगता है ॥ १६ ॥

(१) तपस्विनी—सुव्रते ! इसे छोड़ दे, तू बातों में इसे नहीं भुला सकती ।

तद् गच्छ मदीये उटजे सङ्कोचनस्य ऋषिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति, तमस्योपहर। (सुव्वदे! मुञ्च णं। ण एसो सक्को वाआमेत्तेण समइदुं ता गच्छ ममकेरए उडए सङ्कोचणस्स इसिकुमारस्स वण्णचित्तिदो मट्टिआमोरओ चिट्ठदि, तं से उवहर।

प्रथमा—तथा। (तह।) (१) [इति निष्क्रान्ता]

बालः—तावदनेनैव क्रीडिष्यामि (२)। (दाव-इमिणा ज्जेव कीलिस्सं!)

तापसी—[विलोक्य हसन्ती] ननु मुञ्चैनम् (३)। (ण मुव णं।)

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै। [निःश्वस्य।] (४)।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।

इति रूपम्। एनं—बालम्। वाङ्मात्रेण-केवलवचनेन, शमयितुं-निवर्त्तयितुम्, यावदस्य हस्ते क्रीडनकं न दीयते तावन्नायमस्मात् संरम्भाद् विरमिष्यतीति भावः। उटजे-पर्णशालायाम्, सङ्कोचनस्य-तन्नाम्नः, क्वचित् मार्कण्डेयस्येति पाठः, वर्णचित्रितः वर्णैः-रक्तपीतश्वेतादिभिर्नानावर्णैश्चित्रितः-चित्रीकृतः, मृत्तिकामयूरः-मृत्तिकानिर्मितमयूरः मध्यमपदलोपी समासः, अस्य—बालकस्य समीपे, सम्बन्धे षष्ठी, उपहर—आनय।

(१) प्रथमेति। सुव्रतेत्यर्थः। तथा-उटजान्मृत्तिकामयूरमेवानयामि; इत्यर्थः।

(२) बाल इति। तावत्-यावन्मयूरो नानीतस्तत्पर्यन्तमित्यर्थः, अनेनैव सिंहशावकेनैव, न तु विरमामीति भावः। बालस्वभावोऽयम्।

(३) तापसीति। इयं द्वितीयैव प्रथमतापस्या मयूरानयनाय निष्क्रान्तत्वात्। एकस्या अभावात् प्रथमाद्वितीयापदप्रयोगाभावः। हसन्तीति तापस्या हासो बालस्वभावावलोकनेन कौतुकोदयात्। अनुनये ननुशब्दः। एनं सिंहशिशुम्।

(४) राजेति दुर्ललिताय-दुर्दान्ताय, अस्मै-बालकाय, 'स्पृहेरीप्सितः' इति (पा०) सम्प्रदानाच्चतुर्थी, स्पृहयामि—आदातुमिच्छामि; अतिशयेन वात्सल्योदयादिति भावः।

अथ लोकातिगबालकस्य तादृशं कौतुकदं स्वभावमवलोक्य तदुद्बोधितानप-

जा, मेरी कुटिया में ऋषिकुमार संकोचन का एक रंगीन मृन्मय मयूर है, उसे ले आ।

(१) प्रथमा—अच्छा मैं जाती हूँ (वह चली गई)।

(२) बालक—तब तक मैं इसी से खेलूँगा।

(३) तापसी—(देख कर हंसती हुई) अरे इसे छोड़ दे।

(४) राजा-इस नटखट बच्चे को प्यार करने के लिए बड़ी इच्छा हो रही है। (ठण्डी साँस लेकर) अकारण हंसने से जिसके नये-नये दाँत कभी-कभी दिखाई दे जाते, हैं, तोतली

अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा कलुषीभवन्ति ॥

तापसी—[साङ्गुलीतर्जनम् ।] भोः ! न मां गणयसि । [पार्श्वमवलोक्य ।] कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम् ? [राजानं दृष्ट्वा] भद्रमुख ! एहि तावत् मोचय अनेन दुर्मोक्षहस्तग्रहेण डिम्भकेन बाध्यमानं बालमृगेन्द्रकम् (१)

स्यताखेदो राजा आत्मानमनुशोचति-आलक्ष्येति । धन्याः-सुकृतिनो जनाः, अनिमित्ताः-अकारणाः ये हासाः तैरनिमित्तहासैः—कारणं विना हास्यकरणैरित्यर्थः, आलक्ष्याणि-ईषत् प्रेक्षणीयानि दन्तमुकुलानि-दन्ताङ्कुरा नवोद्गता दन्ता इत्यर्थः । येषां तान्, अव्यक्तैः अपरिस्फुटैः वर्णैः—अक्षरैः रमणीया-बालमुखे विकलीकृत्योच्चरितत्वेन श्रुतिसुखावहत्वात् मनोहारिणी वचसां-वाक्यानां, प्रवृत्तिः-आविर्भावो येषां तान्, तथा अङ्क-क्रोडे यः आश्रयः—निवासः—अस्मिन् यः प्रणयः—प्रार्थना तद्वतः, तनयान्-पुत्रान् वहन्तः-अङ्के धारयन्तः सन्तः, येषां—तनयानाम् अङ्गरजसा-गात्रच्युतधूल्या, कलुषीभवन्ति-मलिनीभवन्ति; तादृशा एव धन्याः-भाग्यवन्तः, न पुनर्मादृशा अपुत्रकाः, तस्मात् परपुत्राय स्पृहयामीति भावः । 'अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्' इत्यत्र—अव्यक्ता वर्णा यासु ता अत एव रमणीया वचःप्रवृत्तयः-वाक्प्रसरा येषां तान्, इति वा विग्रहः । 'कलुषीभवन्ति' इत्यत्र 'मलिनीभवन्ति' 'परुषीभवन्ति' इति पाठान्तरद्वयं दृश्यते तत्र स एवार्थः । क्वचित् तत्रैव 'पुरुषीभवन्ति' इत्यपि पाठान्तरं दृश्यते, तत्र अपुरुषाः पुरुषा भवन्तीत्यर्थः । अजातपुत्रसम्बन्धाः पुरुषकारा अपि क्लीबा इवेति भावः । सर्वत्राभूततद्भावे च्विप्रत्ययः । अत्रेतद्बालेस्यादिविशेषे प्रस्तुते सामान्यवचनादप्रस्तुतप्रशंसा, तथा चाहमधन्य इति व्यज्यते—इत्यर्थद्योतनिका । 'आलक्ष्यदन्तमुकुलान्' इत्यत्र दन्ताः मुकुलानीवेति समासगता लुप्तोपमा । तथा बालस्वभाववर्णनात् स्वभावोक्तिश्च । तादृशा धन्या मादृशास्त्वधन्या इत्यन्यनिगूहनादार्थीपरिसंख्यालङ्कारोऽपि सम्भवति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १७ ॥

(१) तापसीति । साङ्गुलीतर्जनम्—अङ्गुल्या तर्जनमभिनीयेत्यर्थः । न गणयसि—न मन्यसे । अथ बालकं भीषयितुमृषिकुमारेष्वेकमाह्वयति—कोऽत्रेत्यादि । ऋषिकुमाराणां—मुनिबालकानां मध्ये, निर्धारणे षष्ठी, कोऽत्र वर्त्तत इति शेषः । भद्र-

वाणी में जिसके वाक्य बड़े मीठे लगते हैं और गोद में आने के लिये जो प्रार्थना कर रहा है, इस प्रकार के पुत्र या पुत्री को गोद में लेने से भाग्यवान् लोगों ही के अङ्ग उन बच्चों के अङ्ग की धूलि से मलिन होते हैं—अभागों के नहीं ॥ १७ ॥

(१) तापसी—(उङ्गली से धमकाती हुई) क्यों रे मेरी बात नहीं मानता ? (इधर-उधर देख कर) कोई ऋषिकुमार यहाँ है ! (राजा को देख कर) हे भद्रप्रवर ! इधर

(भो ! ण मं गणेसि । को एत्थ इसिकुमारआणं । भद्दमुह ! एहि दावमोआवेहि इमिणा दुम्मोक्खहत्थग्गहेण डिम्भएण बाधीअमाणं बालमइन्दअं ।)

राजा—तथा [इत्युपगम्य सस्मितम्] । अयि भो महर्षिपुत्रक ! (१) । एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमी किमिति जन्मतस्त्वया ।

मुखेति मान्यं प्रति सम्बोधनम्; तच्च राजानमुद्दिश्येति बोध्यम्, 'सौम्य भद्रमुखेत्येवं मान्यो राजसुतो भवेत्' इत्युक्तेः । दुर्मोक्षहस्तग्रहेण-दुर्मोक्षः—दुःखेन मोचनीयः हस्तग्रहः—हस्तेन धारणं यस्य तेन, 'दुर्मोक्ष' इत्यत्र 'दुर्मोच्यः' 'दुर्मोक' इति पाठान्तरद्वयं दृश्यते, तत्र स एवार्थः, अनेन डिम्भकेन—शिशुना कुत्सितबालकेनेति यावत्, 'कुत्सिते' (पा०) इति कन्प्रत्ययः 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः, अत्र 'डिम्भलीलया' इति पाठः, तस्य बालक्रीडयेत्यर्थः । बाध्यमानम्—आकर्षणप्रकर्षणादिना बहुधा पीड्यमानम्, बालमृगेन्द्रकं—सिंहशावकम्, अल्पार्थे कन्, मोचय—अस्यैव हस्तात् परित्रायस्वेत्यर्थः ।

(१) राजेति । तथा-मोचयामीत्यर्थः । उपगम्य-गत्वा बालकस्य समीपमिति शेषः । अयीत्यनुनये, महर्षिपुत्रकेति सौम्यताभिप्रायेण सम्बुद्धिः पुत्रकेत्यनुकम्पायां कन् ।

एवमिति । एवम्—अनेन प्रकारेण, आश्रमविरुद्धा—पीडाकरत्वात् तपोवनविरोधिनी वृत्तिः—सिंहशिशुपीडनरूपव्यवहारो यस्य तेन तादृशेन त्वया, सत्त्वसंश्रयः—आत्मावलम्बनमेव गुणो यस्य सः परमात्मध्यानपरायण इत्यर्थः, चन्दनपक्षे सत्त्वेन—सत्त्वगुणेन संश्रयः—ललाटादौ तिलकरूपेण धारणमेव गुण यस्य स तादृशोऽपि, 'सत्त्वं द्रव्ये गुणान्तरे, पिशाचादौ बले चित्ते स्वभावात्मत्वबुद्धिषु, आत्मनि व्यवसायेऽस्त्रे धने प्राणेषु सम्मतम्' इति शब्दार्णवः, यद्वा सत्त्वसंश्रयः—आत्मनिष्ठः गुणः—विद्याध्यानसौजन्यादिः, चन्दनपक्षे शैत्यसौगन्ध्यादिर्यस्य स तथोक्तोऽपि स्वयं गुणवानपीत्यर्थः, जन्मदः—जनयिता, संयमी-मुनिः, किमिति-कथम्, कृष्णसर्पस्य उग्रविषधरविशेषस्य शिशुना—अर्भकेण, चन्दनः तदाख्यो वृक्ष इव, दूष्यते—निरपराधप्राणिपीडनेन कलुषीक्रियते, कृष्णसर्पशिशुनापि स्वगरलैश्चन्दनवृक्षो दूष्यते । इदं ते महदनुचितं; तस्माद् बालमृगेन्द्रकं मुञ्चेति भावः । उक्तं च महाभारते—

'अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणिहितं परम् ।
तस्मात् प्राणभृतः सर्वान्न हिंसेद् ब्राह्मणः क्वचित् ॥'

आइए और यह बालक इस सिंह-शिशु को बहुत सता रहा है। इसके हाथों से इसे छुड़ाना बहुत मुश्किल है, इसलिये आप ही इसको छुड़ा दीजिए ।

(१) राजा—अच्छा ! (पास जाकर मुस्कराते हुए) ओ महर्षिपुत्र !—

काले सांप का बच्चा जैसे चन्दन-वृक्ष को दूषित कर देता है, इसी तरह तुम भी

सत्त्वसंश्रयगुणोऽपि दूष्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः ॥ १८ ॥

तापसी--भद्रमुख ! न खल्वेष ऋषिकुमारकः (१) । (भद्दमुह ! ण क्खु एसो इसिकुमारओ ।)

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति; स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवंतर्किणः । [यथाभ्यर्थितमनुतिष्ठन् बालकस्य स्पर्शमुपलभ्य स्वगतम् ।] (२) ।

'ब्राह्मणः सौम्य एवेह जायेयेति परा श्रुतिः ।' इति ।

अत्र द्वितीये पादे 'संयमी किमिति जन्मतस्त्वया' इति पाठान्तरं दृश्यते, तृतीयपादेऽपि 'सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि' इत्युपलभ्यते, चतुर्थपादे तु 'चन्दनम्' इत्यपि पाठभेदो दृश्यते । तत्रेयं योजना-आश्रमविरुद्धवृत्तिना त्वया, सत्त्वसंश्रयः-सत्त्वगुणाश्रितः अत एव सुखः-सुखकरः, संयमः-हिंसादिभ्य उपरमः, जन्मतः-जन्मारभ्य, एव-सत्त्वोपद्रवादिना, कृष्णसर्पशिशुना चन्दनमिव किमिति दूष्यते इति । अत्र च पक्षे सामान्यधर्मस्योभयत्र यथास्थितत्वेनान्वयान्न विलिङ्गता दोषः । अथवा 'चन्दनोऽस्त्रियाम्' इति कोशाच्चन्दन इति पाठ्यम्, तदा सत्त्वसंश्रयसुख इति विशेषणमत्रापि युज्यते । क्लीबलिङ्गतापक्षेऽपि उक्तविशेषणपदस्य विभक्तिविपरिणामेन चन्दनपदान्वयित्वे न काचिद्धानिः । ननु अत्र कृष्णसर्पस्योपमानत्वात् उपमेयस्य च बालकस्य जात्याद्यैः प्रकृष्टत्वादनौचित्यं दोष इति चेन्न, आश्रमेत्यादिविशिष्टस्यैवोपमेयत्वात् । अत्र श्रौती पूर्णोपमालङ्कारः, इदं रथोद्धता नाम वृत्तम् । तदुक्तम्-'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति ॥ १८ ॥

(१) तापसीति । भद्रमुख इति राजसम्बोधनम् । 'एसो' इत्यत्र 'अअं' इति पाठान्तरम् । अयमिति संस्कृतानुवादः ।

(२) राजेति । अनुवदति-आकारेति । आकारसदृशम्-आकृत्यनुरूपम्, अस्य-शिशोः, चेष्टितं-कर्म, कथयति-'नायमृषिकुमार' इति स्पष्टं विज्ञापयति । आकारव्यवहाराभ्यामयं न मुनिकुमार इत्यवगम्यत एवेत्यर्थः । कथं तर्हि 'संयमी जन्मत' इत्यादिना मुनिकुमारत्वेन तर्कितम् इत्यत्राह-स्थानेति । तु-किन्तु, स्थानस्य-तपोवनस्य प्रत्ययात्-विश्वासात्, स्थानमिदं तपस्विनामेवेति विश्वासादिति भावः, एवं तर्किणः-ऋषिकुमारतया अनुमापिनः । तथा च ऋषीणां स्थानमिदमत्र तिष्ठता

बोलो आश्रम के विरुद्ध व्यवहार कर सतोगुणी और अपने जितेन्द्रिय जन्मदाता को क्यों दूषित कर रहा है ॥ १८ ॥

(१) तापसी—भद्रमुख ! यह ऋषिकुमार नहीं है ।

(२) राजा—आकृति के अनुरूप इसकी चेष्टा ही कह रही है कि यह ऋषिकुमार नहीं है । फिर भी इस स्थान को ध्यान में रख कर मैंने ऐसा अनुमान किया था । (तपस्विनी की प्रार्थनानुसार सिंहशावक को छुड़ाकर बालक का स्पर्श कर मन ही मन

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण स्पृष्टस्य गात्रे सुखिता ममैवम् ।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद् यस्यायमङ्गात् कृतिनः प्रसूतः ॥१९॥

तापसी— [उभौ विलोक्य ।] आश्चर्यमाश्चर्यम् (१) (अच्चरीअं अच्चरीअं ।)

राजा—आर्ये । किमिव ? (२)

तापसी—अस्य बालकस्य असम्बद्धेऽपि भद्रमुखे संवादिनी आकृतिरिति विस्मितास्मि । अपि च वामशीलोऽपि भूत्वा अपरिचितस्यापि ते वचनेन प्रकृतिस्थः संवृत्तः (३) । (इमस्स बालअस्स असम्बद्धेवि

बालेन तत्कुमारेणैव भवितव्यमिति विश्वासात् तत्त्वेनैव वयं सम्भावनाकारिणः तस्मान्नात्रयत्र मे दोष इति समुदितार्थो भावार्थश्च । यथाभ्यर्थितं-बालमृगेन्द्रमोचनम्, अनुतिष्ठन्-कुर्वन् ।

'न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथाविधः' इति नीत्या हृष्यत्त्वगिन्द्रियः स्वयं परामृशति अनेनेति । कस्यापि-अनिर्दिष्टजनस्य वाचा वर्णयितुमशक्यस्येत्यर्थः, कुलाङ्कुरेण-अल्पदिनजातत्वकोमलत्वमनोहरत्वादिना वंशेऽङ्कुररूपेण; एतेन स्वसम्बन्धित्वभावो व्यज्यते, अनेन—बालकेन कर्त्रा, गात्रे-कतिपयाङ्गे 'गात्रमङ्गे कलेवर' इति विश्वः, स्पृष्टस्य—आलिङ्गनं कुर्वतः मम, एवम्—इत्थम् अनुभवैकवेद्येत्यर्थः । सुखिता-सुखित्वं भवतीति शेषः । किन्तु अयं बालकः, यस्य कृतिनः-सुकृतिनः महाभागस्येति यावत्, स एव सुकृतीति भावः । अङ्गात् प्रसूतः—उत्पन्नः, तस्य—कृतिनः, चेतसि-हृदि, कां निर्वृतिं—कीदृशं सुखम् 'निर्वृतिस्तु सुखे जीव्ये' इति धरणिः; कुर्यात्—इति न शक्यते निरूपयितुमिति भावः । अत्र अर्थापत्तिरलंकारः । कुलाङ्कुरेणेत्यत्र रूपकम् । पुत्रप्रीतिर्भावः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १९ ॥

(१) तापसीति । उभौ-दुष्यन्तं बालकञ्च, द्वितीयाविभक्तेर्द्विवचने रूपम् ।

(२) राजेति । किमिवाश्चर्यमिति शेषः ।

(३) तापसीति । आश्चर्यस्वरूपं वक्ति-अस्येति । असम्बद्धे-सर्वथा सम्पर्कशून्येऽपि, भद्रमुखे-सज्जनश्रेष्ठे त्वयि, अस्य बालकस्य आकृतिः—आकारः अवयव-

---

किसी भी वंशके अंकुरस्वरूप इस बालक का अङ्ग-स्पर्श कर जब इतना आनन्द हुआ है तो जिस पुण्यात्मा के शरीर से यह उत्पन्न हुआ होगा उसके हृदय को कितना आनन्द होता होगा ? ॥ १९ ॥

(१) तापसी—(दोनों को देख कर) आश्चर्य ! आश्चर्य !!

(२) राजा—आर्ये ! आश्चर्य कैसा ?

(३) तापसी—यद्यपि आपका और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी आप

भद्दमुहे संवादिणो अक्किदित्ति विम्हदह्मि । अवि अ वामसीलोवि भविअ अवरिचिदस्सवि दे वअणेण पइदित्थो संवुत्तो ।)

राजा—[बालकमुपलालयन् ।] आर्ये ! न चेन्मुनिकुमारोऽयम्, तत् कोऽस्य व्यपदेशः (१) ?

तापसी—पौरव इति (२) । (पोरवोत्ति ।)

राजा—[स्वगतम्] कथमेकान्वयोऽयमस्माकम् । अतः खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते । [प्रकाशम्] अस्त्येतत् पौरवाणामन्त्यं कुलव्रतम् (३) ।

संस्थानम् इति यावत्, संवादनी–तुल्यदर्शा, इति–हेतोः, विस्मितास्मि–विस्मयमापन्नास्मि । तथा च सति सम्भवे पितापुत्रत्वादिसम्बन्धस्थले एवाकृतिगतसाम्यं दृश्यते; अत्र तु युवयोस्तदभावेऽपि तदिति प्रथमसाश्चर्यम् । अपि च वामशीलः—अशिष्टस्वभाव; आश्रमविरुद्धाचारोऽपीति यावत् । एषः बालक इति शेषः; प्रकृतिस्थः सुस्थः, शान्त इति यावत् । तथा च सर्वत्र परिचितादेव पित्रादेर्बालानां भयं भवति, अत्र त्वस्यापरिचितादपि भवतो न भयमिति द्वितीयमाश्चर्यमित्याशयः ।

(१) राजेति । उपलालयन्—हस्तेन परामृशन्, तस्याङ्गं पाणिना स्पृशन्नित्यर्थः । पृच्छति—आर्ये ! इत्यादि, तत्–तदा, अस्य–बालकस्य, व्यपदिश्यते विख्यायते अनेनेति व्यपदेशः-कुलम्; कौलिकं नामेति यावत् ।

(२) तापसीति । पौरव इति व्यपदेश इति शेषः ।

(३) राजेति । स्वगतम्—अनतिस्पष्टम् । एकान्वयः-अभिन्नवंशः 'वंशोऽन्ववायः' इत्यमरः । अतः खलु—एकान्ववायत्वेनैव हेतुना, सति सम्भवे 'एकवंशोत्पन्नयोरप्याकृतिसाम्यसम्भवादिति भावः, अत्रभवती पूज्या तापसी, मदनुकारिणं-मत्सदृशाकृतिम्; मन्यते-अनुभवति । एतत्–वक्ष्यमाणम्, पौरवाणां–पुरुकुलसम्भूतानाम्, अन्त्यं–चरमम्, वानप्रस्थाश्रमविषयकम्, कुलव्रतं–कौलिको नियमः । तथा च स्मृतिः–

दोनों की आकृति एक तरह की देख कर मुझे आश्चर्य हुआ । और यद्यपि यह बालक चञ्चल प्रकृति का है, फिर भी आप जैसे एक अपरिचित के कहने से यह शान्त हो गया ।

(१) राजा—(बच्चे को प्यार करते हुए) आर्ये ! यदि यह मुनिकुमार नहीं है तो फिर किसी वंश का है ?

(२) तापसी—पौरव वंश ।

(३) राजा—(स्वगत) तो क्या हमारे ही वंश का है । इसीलिए यह तपस्विनी इसे हमारे अनुरूप मान रही है । (प्रकाश) लेकिन पुरुवंशियों का तो यह (वनवास) अन्तिम कुलव्रत है—

भवनेषु सुधासितेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात् तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥२०॥

'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् ।
बाहुजातोरुजातानामयं धर्मो न विद्यते ॥' इति ।

किन्तत् कुलव्रतमिति तदेव व्यनक्ति—भवनेष्विति । ये—पौरवाः, पूर्वं—यौवने वयसि, क्षितिरक्षार्थं-भुवः परिपालनार्थम्, अनेन भोगस्यानुषङ्गिकत्वमुक्तम्, यथा रघौ-'असक्तः सुखमन्वभूत्' इति, सुधासितेषु-सुधाभिः भित्तिलेपनसाधनद्रव्य-विशेषैः सितेषु—धवलेषु अनेन भोगप्रवणत्वमुक्तम्, 'सुधाऽमृते स्नुहीमूर्वालेपगन्धे-ष्टकासु च' इति विश्वः, भवनेषु—अट्टालिकासु, निवासम्—अवस्थितिम्, यथा रघौ-'यौवने विषयैषिणाम्' इति । तत्र केवलं क्षितिरक्षायै स्थितिर्वाञ्छैव तत्त्वतः स्थिति-रिति भावः । तेषां—पौरवाणामेव, पश्चात्—वार्द्धके वयसि नियतैकपतिव्रतानि-नियतम्-अवश्यकर्त्तव्यतया विहितम् एकं-केवलं यतिव्रतं येषु तानि तथाविधानि, तरुमूलानि-तपोवनवृक्षतलानि, गृहीभवन्ति-अगृहाण्यपि निवासाश्रयत्वाद् गृहाणि भवन्ति । यथा रघौ—'वार्द्धके मुनिवृत्तीनाम्' इति । वानप्रस्थाश्रमं विधायाश्रमे निवसन्तीत्यर्थः । तथा च कस्यचित् पुरुवंशीयस्य चरमे वयसि दारैः सह तपोवने वानप्रस्थाश्रमं परिपालयतोऽपि पुनरुद्भूतरागेण पुत्रोत्पत्तिसम्भवात् तस्यैवायं पुत्र उत्पन्न इत्याशयः ।

दारैः सह वनगमने वैकल्पिकविधिमाह भगवान् याज्ञवल्क्यः—

'पुत्रेषु दारान् निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥ इति ।

अत्र 'सुधासितेषु' इत्यत्र क्वचित् पुस्तके 'रसाधिकेषु' इति पाठान्तरम्, तत्र—रसाः—श्रृङ्गारादयः मधुरादयः आस्वादाश्च तेऽधिका येषु, तेषु तैरधिकानि-आढ्यानि तेषु वेत्यर्थः । 'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः । श्रृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देह-धात्वम्बुपारदे ॥'-इति विश्वः । तथा 'नियतैकयतिव्रतानी'त्यत्र 'नियतैकपतिव्र-तानि' इति पाठान्तरम्, तत्र—नियता नियमयुक्ता तपःसन्तोषादियुता एका-केवला पतिव्रता-धर्मपत्नी येषु तानि-इत्यर्थः । 'वनं गच्छेत् सहैव वा' इत्याद्युक्तरूपं दारैः सह गमनपक्षमेवावलम्ब्येदमुक्तम् । अत्र 'तरुमूलानि गृहीभवन्ति' इति तरु-मूलेषु गृहत्वारोपस्य प्रकृतयतिव्रतोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः । तत्रैव असमस्त-भावेन तादात्म्यरूपणाद् व्यस्तरूपकमिति राघवमतानुयायिनः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् । मालभारिणी वृत्तमिति राघवः ॥ २० ॥

वे अपनी पहली उमर में पृथ्वी-पालन के लिये चूने से पुते हुए उज्ज्वल भवनों में रहने की इच्छा करते हैं और चौथेपन में यतियों का व्रत लेकर वृक्षों की छाया को घर बनाते हैं ॥ २० ॥

कथं पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः (१) ।

तापसी—यथा भद्रमुखो भणति । किन्तु अप्सरःसम्बन्धेन पुनरस्य बालकस्य जननी इहैव देवगुरोस्तपोवने प्रसूता (२) । (जधा भद्दमुहो भणादि । किन्तु अच्छरासम्बन्धेण उण इमस्स बालअस्स जणणी इधज्जेव देवगुरुणो तवोवणे पसूदा ।)

राजा—[स्वगतम्] हन्त ! द्वितीयमिदमाशाजननम् । [प्रकाशम्] अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी (३) ।

---

(१) अथान्यन्यत्र तपोवने वानप्रस्थाश्रमावलम्बनायागतस्य कस्यचित् दारैः सह पुरुवंशीयस्यानुरागात्पुत्रोत्पत्तिसम्भवेऽपि अमानुषसञ्चारेऽस्मिंस्तु धर्मारण्ये तन्न सम्भवतीति पुनराशङ्कते-कथमिति । मानुषाणां—मर्त्यानाम्, एषः—स्वर्गीयदेशः मारीचाश्रमः, कथं पुनः, आत्मगत्या-विनापि विमानेन केवलपादचारेण मानुषगत्या चेत्यर्थः, विषयः-आश्रययोग्यः स्यादिति शेषः । तथा च मनुष्याणां स्वभावत एवायमगम्य इति कथं वात्र पौरवाणां पुत्रसम्भव इति शङ्काशयः । ननु मानुषत्वेऽपि स्वस्य (दुष्यन्तस्य) यथाऽऽगमनं तथाऽन्यस्यापि पौरवस्यागमनसम्भवः स्यादिति चेन्न, तस्य देवानुग्रहेणैवागमनेऽविवादात्र अन्यस्य तु तथात्वे सन्देहादिति मूकीभावः ।

(२) तापसीति । समाधत्ते-यथेत्यादि । भद्रमुखः-भवान्, यथा भणति तत्तथैवेति शेषः, तथा चात्मगत्या एषः स्वर्गीयदेशो मारीचाश्रमो मानुषाणामविषय एवेत्यर्थः । तत्कथमत्र मानवबालकस्यागमनमिति तस्य सङ्गतिमाह—किन्त्वित्यादि । अप्सरःसम्बन्धेन—अप्सरःसहकारेण, अप्सरोभिरानयनेनेति यावत्, देवानां गुरुः पिता कश्यपस्तस्य, तपोवने—आश्रमे; मारीचाश्रमे इति यावत् । प्रसूता—बालं प्रसुषुवे । तथा च कयाचिदप्सरसा आनीताऽस्य जननी अत्रैनं बालं प्रसुषुवे इत्यर्थः ।

(३) राजेति । हन्तेति हर्षे । इदम्—अप्सरःसम्बन्धकथनम्, आशाजननम् एनच्छिशुगतपुत्रत्वविषयकमनोरथसञ्चारकम्; शकुन्तलाया मेनकापत्यत्वादिति भावः । तथा च एकमाशाजननन्त्वावयोः पौरवतया आकृतिगतसाम्यं द्वितीयमस्य मातुरप्सरःसम्बन्ध इति स्पष्टार्थः । आशां द्रढयितुं पृच्छति—अथेति । अथशब्दः प्रश्ने, 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथे'त्यमरः,तत्रभवती—आश्रमवासित्वेन

---

(१) किन्तु यह स्थान मनुष्य की स्वाभाविक गति से प्राप्त ही कैसे हो सकता है ?

(२) तापसी—जैसा कि श्रीमान् कह रहे हैं ठीक है, किन्तु इस बालक की माता का सम्बन्ध यहाँ की अप्सरा से है, उसने यहीं इसका प्रसव किया है ।

(३) राजा—(स्वगत) ऐं ! यह तो दूसरी आशाजनक बात निकल पड़ी । (प्रकट) हाँ तो वे श्रीमती किस राजर्षि की पत्नी हैं ?

तापसी--कस्तस्य धर्म्मदारपरित्यागिनो नाम कीर्त्तयिष्यति (१)।
(को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम कीत्तइस्सदि ।)

राजा—[स्वगतम् ।] कथमियं कथा मामेव लक्ष्यीकरोति । यावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छेयम् । [विचिन्त्य ।] अथवा अनार्यः खलु परदारपृच्छाव्यापारः (२) ।

मान्या, सा—एतस्य बालकस्य जननी, किमाख्यस्य–का आख्या–नाम यस्य तस्य; किमभिधानस्येत्यर्थः, राजर्षेः—ऋषिकल्पस्य राज्ञः, राजर्षित्वकथनं पुरुवंशीयत्वेन निश्चयात् ।

(१) तापसीति । कः—जनः, धर्मदारपरित्यागिनः—परिणीतामपि पत्नीमवजानतः, पापिन इत्यर्थः, नाम कीर्त्तयिष्यति—ग्रहीष्यति; अपि तु न कोऽपि कीर्तयिष्यतीत्यर्थः । तथा च धर्मदारत्यागेन पापोदयात् पापिनोऽपि नामकीर्त्तने पापोत्पत्तिसम्भवात् अहन्तु तस्य नाम न ग्रहीष्यामीत्याशयः ।

अत्र परिभाषणं नाम निर्वहणसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम् । यथा दर्पणे—

'वदन्ति परिभाषणम् । परिवादकृतं वाक्यम् ॥' इति ।

प्रकृतेऽत्र दुष्यन्तस्य परिवादसूचनात् परिभाषणमिति लक्षणसमन्वयः । दर्पणकृता इदमेव वाक्यं घात्रोदाहृतम् । पापिनां नामोच्चारणकर्तुरपि पापोत्पत्तिर्भवेदित्युक्तं गारुडे—

'स्पर्शनाद्भाषणाच्चापि परस्य स्तवनादपि ।
दशांशं पुण्यपापानां नित्यं प्राप्नोति मानवः ॥'

'कीर्त्तयिष्यति' इत्यत्र 'कीर्त्तयितुं चिन्तयिष्यति' इति पाठान्तरम्, तत्र—सङ्कीर्त्तनार्थं' हृदि चिन्तनेऽपि दोषः सङ्कीर्तने पुनः किं वक्तव्यमिति भावः ।

(२) राजेति । अथ राजा आत्मनोऽपि धर्मदारत्यागित्वात् तापस्युक्तस्य लक्ष्यमात्मानमेव मन्यमान आह—कथमिति । इयं कथा—तापस्युक्तप्रकारा कथा, मामेव लक्ष्यीकरोति—विषयीकरोति, शकुन्तलाप्रत्याख्यानेन ममैव धर्मदारपरित्यागित्वादित्याशयः । प्रकृतं लक्ष्यं विनिश्चेतुमुपक्रमते—यावदिति । यावदिति वाक्यालङ्कारे अस्य, शिशोः—बालकस्य, मातरं;नामतः–नाम्ना, प्रकृत्यादित्वात् तृतीया, तत्र सार्वविभक्तिकतसिल्प्रत्ययः पृच्छेयं—ज्ञातुमिच्छेयम्, विधिलिङ् । तदप्याक्षिपन्नाह—अथवेति । मातुर्नाम न पृच्छामीत्यर्थः । कुत इत्यत्राह–अनार्य इति । परदारपृच्छा-

---

(१) तापसी—अपनी धर्मपत्नी का परित्याग करनेवाले का नाम कौन लेगा ।

(२) राजा—(स्वगत) क्या यह बात मुझ ही पर लागू हो रही है ? तो क्या इस बालक की माता का ही नाम पूछूं ? (सोच कर) नहीं, पराई स्त्री का नाम इस तरह पूछना ठीक नहीं है ।

[प्रविश्य मृन्मयूरहस्ता तापसी ।] सर्वदमन ! प्रेक्षस्व शकुन्त-लावण्यम् (शकुन्तला-वर्णम्) (१) । (सव्वदमण ! पेक्ख ! सउन्तलावण्णं ।)

बालः—[सदृष्टिक्षेपम] कस्मिन् सा मे अम्बा (२) ।(कहिं सा मे अम्बा ।)

उभे—(प्रहसतः ।) (३)

व्यापारः—परपत्नीविषयकप्रश्नप्रसङ्गः, अन्याय्यः अनुचितः—परस्त्रीविषयकप्रश्नकरणे तत्कर्तुर्लम्पटत्वसूचनादित्याशयः । अनेन राज्ञो धर्मप्रवणत्वं सूच्यते । 'अस्त्येतत् पौरवाणाम्' इत्यादिना 'परदारपृच्छाव्यापारः' इत्यन्तेन विबोधनामकं निर्वहणसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम्, तल्लक्षणं तु—'कार्यस्यान्वेषणं युक्त्या विबोधः परिकीर्त्तितः ॥' इति ।

(१) प्रविश्येति । तापसी—सुव्रता नाम प्रथमा तपस्विनी । सर्वान्—प्रतिपक्षयोद्धॄन् दमयति—स्वशक्त्या परिभावयतीति सर्वदमनस्तत्सम्बुद्धौ हे सर्वदमन ! बालकस्य नाम्ना सम्बोधनमिदम्, शकुन्तलावण्यम्—शकुन्तस्य—पक्षिणः मृन्मयमयूरस्येत्यर्थः, लावण्यं-कान्तिविशेषणम्, प्रेक्षस्व-अवलोकय । तथा च एतत्प्रेक्षणेन च तं गृहीत्वा क्रीडां कुरु जीवं सिंहशावकं मुञ्चेत्याशयः । 'सउन्तलावण्णं' इत्यस्य 'शकुन्तला—वर्णम्' इत्यपि च्छाया, प्राकृतश्लेषोऽयम्, अस्मिन् पक्षे तु—शकुन्तलायाः—तदाख्यायाः स्वमातुः वर्णं—रूपम्, प्रेक्षस्वेत्यर्थः अत एव अग्रे 'कहिं सा मे अम्बा' (कस्मिन् सा मे अम्बा) इति बालकस्य प्रश्नोत्थापनम् । अत्र श्लेषमूला वक्रोक्तिरलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा दर्पणे—

'अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद् यदि ।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥' इति ।

एवञ्चात्र विश्वनाथोक्तं चतुर्थं पताकास्थानमपि उपक्षिप्यते ।

'द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।
प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम् ॥' इति लक्षणात् ।

(२) बाल इति । सदृष्टिक्षेपम्—दृष्टिक्षेपेण सह, इतस्ततो दृष्टिं सञ्चाल्येत्यर्थः । दृष्टिक्षेपश्च शकुन्तलान्वेषणार्थः । सा—शकुन्तलाभिधाना, अम्बा माता ।

(३) उभे इति । तापस्यावित्यर्थः । प्रहसतः—उच्चैर्हसतः । श्रवणेनैव बालकस्य तदन्वेषणारम्भात् तेन च कौतुकोदयात् ।

---

(१) (हाथ में मिट्टी के बने मयूर को लिए एक तापसी आती है ।) सर्वदमन ! देख इस पक्षी की सुन्दरता ।

(२) बालक—(देखकर) कहाँ है वह मेरी माँ ?

(३) दोनों तापसियाँ—(हँसती हैं)

प्रथमा--नामसादृश्येन उपच्छन्दितो मातृवत्सलः(१)। (णामसारिस्सेण उवच्छन्दिदो मादिवच्छलो ।)

द्वितीया—अस्य मयूरस्य रमणीयतां प्रेक्षस्वेति भणितोऽसि (२)। (इमस्स मोरस्स रमणीअदं पेक्खेत्ति भणिदोसि ।)

राजा--[स्वगतम्] किं शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या। अथवा सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि, अपि नाम मृगतृष्णकेव नामप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते (३)।

(१) प्रथमेति । नामसादृश्येन—शकुन्तलेति वर्णसाम्यात्, मातुर्नामसदृशं नाम श्रुत्वेत्यर्थः। उपच्छन्दितः—मातृनिमित्तं प्रलोभितः, मातृवत्सलः—मातरि स्नेहवान्; अयं बाल इति शेषः, 'स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः।

(२) द्वितीयेति । बालकस्य अन्यथा प्रतिपत्तिं व्यपोहति—अस्येति । मयूरस्य मृत्तिकामयूरस्य, रमणीयतां—सौन्दर्यम्, प्रेक्षस्व—पश्य, इति भणितोऽसि-'पेक्ख सउन्तलावण्णं' इति पूर्ववाक्येनैवमुक्तोऽसि न तु 'शकुन्तला-वर्णम्' इतीत्यर्थः।

(३) राजेति । स्वगतम्—अस्पष्टम् । अथ राजापि बालकस्य तापस्योश्च वाग्भङ्ग्या प्रस्तुतशकुन्तलायां जातभावनः सवितर्कमाह—किमित्यादि । अस्य-बालकस्य मातुः—जनन्याः, शकुन्तलेति; आख्या—नाम किम् इति योजना, एवञ्च माता ह्यस्य शकुन्तला चेत् तदयं मम पुत्र एव सम्भाव्यत इति भावः । अत्र केचित्—'यावदस्य शिशोः' इत्यादिना 'मातुराख्या' इत्येतदन्तेन वाक्येन शोभा नाम नाटकलक्षणं प्रदर्शितम्, 'सिद्धैरर्थैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते । श्लिष्टश्लक्ष्णचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते ॥' इति लक्षणात्—इत्याहुः । तदपि अन्यथा सम्भाव्याऽऽक्षिपन्नाह—अथवेति । सन्तीति । अन्यस्या अपि एवं नाम सम्भवतीत्यर्थः। अपीति शङ्कायाम्। नामेति सम्भावनायाम् । मृगतृष्णिकेव—सूर्यमरीचिषु उदकबुद्धिरिव, पिपासोरिति शेषः, नाममात्रप्रस्तावः—केवलशकुन्तलेति नाममात्रोल्लेखः, मे—मम, विषादाय—खेदाय, कल्पते—भवति, 'क्लृपि सम्पद्यमाने च' (वा०) इति चतुर्थी। तथा च यथा मृगतृष्णिकायां पिपासोर्जलभ्रान्तिरेव भवति न तु वस्तुतो जलं तथात्र नाममात्रेणैव सादृश्यं न तु वस्तुतः शकुन्तलेत्यतो मे विषाद एव वर्द्धते न पुनः

(१) प्रथमा तापसी–इसने नाम के सादृश्यसे ही इस मातृवत्सल बच्चेको लुभा लिया।

(२) द्वितीया—इस मयूर की सुन्दरता देखने को मैंने तुमसे कहा था।

(३) राजा—(स्वगत) क्या इसकी माता का नाम शकुन्तला है! नहीं, नाम का मेल प्रायः हो ही जाता है। मृगमरीचिका की तरह केवल 'शकुन्तला' इसके नाम के लेने से मेरे हृदय में विषाद उत्पन्न हो गया।

बाल — अन्तिके ! रोचते मे चटुलक एष मयूरः । [इति क्रीडनकमादत्ते । (१) (अन्तिए ! रोअदि मे चडुलके एसे मौले ।)

प्रथमा—[विलोक्य सावेगम् ।] अहो ! रक्षाकाण्डकः अस्य मणिबन्धे न दृश्यते (२) । (अम्मो ! रक्खाकाण्डओ से मणिवन्धे ण दीसदि ।)

राजा—आर्ये ! अलमावेगेन नन्वयमस्य सिंहशावकस्य विमर्दात् परिभ्रष्टः । [इत्यादातुमिच्छति ।] (३)

शकुन्तलाप्राप्तिसम्भावनेति सरलार्थो भावार्थश्च । अत्र मुखसन्धौ निवेशितस्य शकुन्तलानुरागरूपकस्य वीजस्य पुनरुद्गमनान्निर्वहणसन्धेः सन्धिर्नामाङ्गमुपक्षिप्तम् । 'बीजोपगमनं सन्धिः' इति दर्पणोक्तेः । उपमालङ्कारोऽत्र ।

(१) बाल इति । अन्तिका-ज्येष्ठा भगिनी 'अन्तिका भगिनी ज्येष्ठा' इत्यमरः, तत्सम्बोधने;—अन्तिके-हे ज्येष्ठभगिनि !, चटुलकः—चञ्चलः, 'चटुलश्चञ्चले प्रोक्तः' इति शब्दार्णवः, मे-मह्यम्, रोचते-रुचिकरो भवति, 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा०) इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । एतेन बालत्वात् मृत्तिकामयूरेऽप्यस्य तात्त्विकमयूरत्वबुद्धिरुपस्थितेति द्योत्यते । क्रीडनकं-खेलोपकरणीभूतं मृत्तिकामयूरम्, आदत्ते-गृह्णाति । कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् ।

(२) प्रथमेति । सावेगम्—आवेगोऽतिसम्भ्रमस्तेन सहेत्यर्थः । अहो ! इति विस्मये, अस्य-बालकस्य, मणिबन्धे-प्रकोष्ठ, करस्य वलयधारणस्थाने इति यावत्, रक्षाकाण्डकः—रक्षार्थमाबद्धो वलयाकारसमूललतौषधिविशेषः 'काण्डः स्तम्भे तरुस्कन्धे बाणेऽवसरनीरयोः । कुत्सिते वृक्षभिन्नाडीवृन्दे रहसि न स्त्रियाम्' ॥ इति मेदिनी, 'काण्डो मूलं तरोरपि' इत्यनेकार्थध्वनिमञ्जरी, क्वचित् पुस्तके 'रक्षाकरण्डक' इति पाठः, तत्र-रक्षावीटिकेत्यर्थः, 'करण्डो मधुकोशे स्याद् वीटिकाखड्गकोषयोः' इत्यमरः । रक्षाकरण्डकं रक्षार्थमोषधिभाजनम्—इति केषांचिद् व्याख्यानम् । न दृश्यत इति तददर्शनादेवावेगः ।

(३) राजेति । अलमिति निषेधे, आवेगेन— सम्भ्रमेण । रक्षाकाण्डादर्शननिबन्धन आवेगो मा भवत्वित्यर्थः । नन्वित्यवधारणे, अयं-भूतले दृश्यमानः रक्षाकाण्डः अस्य सिंहशावकस्य-सिंहशिशोः, विमर्दात्—एतद्बालकर्तृकसंघर्षणात् , परिभ्रष्टः-

(१) बहन ! यह चञ्चल मयूर मुझे अच्छा लगता है (यह कहकर उसे लेता है ।)

(२) प्रथमा—(देखकर घबड़ाहट के साथ) हाय ! इसके हाथ का रक्षासूत्र नहीं दीखता ।

(३) राजा—आर्ये ! आप घबड़ायें नहीं । इस सिंहशावक के साथ संघर्ष करते समय वह यहाँ गिर पड़ा है । (यह कहकर उसे उठाना चाहता है)

उभे--मा खलु मा खलु एनम्! [विलोक्य] कथ गृहीत एव? [विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयतः] (१)। (मा क्खु मा क्खु एदं! कधं गहिदो ज्जेव ?)

राजा—किमर्थं भवतीभ्यां प्रतिषिद्धोऽस्मि (२)।

प्रथमा--शृणातु महाभागः। एषा महाप्रभावा अपराजिता नाम सुरमहौषधिः। अस्य दारकस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। एतां किल मातापितरौ आत्मानञ्च वर्जयित्वा अपरो भूमिपतितां न गृह्णाति। (३) (सुणादु महाभाओ। एषा महाप्पहावा अवराजिदा णाम सुरमहोसही, इमस्स दारअस्स जादकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा। एदं किल मादापिदरो अप्पाणं

मणिबन्धात् भूतले विच्युतः। आदातुं-भूतलादुत्तोलयितुम्, इच्छति—उपक्रमते।

(१) उभे इति। मा खल्विति निषेधे। एतं—रक्षाकाण्डम्, पाठान्तरे तु रक्षाकरण्डकमित्यर्थः, गृहाणेति शेषः। विलोक्य कथ्नावसरे एव तं गृहीतमवलोक्य। गृहीत एव-भूतलादुत्तोल्य हस्ते धृत एव रक्षाकाण्ड इति शेषः। उरोनिहितहस्ते-उरसि-वक्षसि, निहितौ-उपस्थापितौ हस्तौ याभ्यां ते तथाभूते। विस्मयाभिनयोऽयम्। एतदुक्तमाविभरते चित्राभिनयाध्याये—

'शिरोधृतं पताकञ्च वक्षःस्थो विस्मये भवेत्।' इति।

अनेनात्राद्भुतरसो व्यज्यते, निर्वहणे तस्यावश्यकर्त्तव्यत्वात्। उक्तं च धनिकेन 'कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्' इति। आदिभरतेऽपि—

'निर्वहणे कर्त्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्भुतः कविभिः'॥ इति।

अनेन चोपगूहनं नाम निर्वहणसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम्। तल्लक्षणं तु—

'तद्भवेदुपगूहनम्। यस्स्याददद्भुतसम्प्राप्तिः' इति।

(२) राजेति। प्रतिषिद्धोऽस्मि—रक्षाकाण्डग्रहणविषये वारितोऽस्मि।

(३) प्रथमेति। गृहीतस्यापि रक्षाकाण्डस्य विकाराभावमवलोक्यास्य बालस्यायमेव पितेति निश्चिन्वानाह-शृणोत्विति। महाभागः-महैश्वर्यशाली, क्वचित् 'महाराजः' इति पाठः, महाप्रभावा-महाशक्तिशालिनी। सुरमहौषधिः-देवलोकजात-

---

(१) दोनों—नहीं, नहीं ऐसा न करिए! (देखकर) क्या आपने उठा ही लिया? (विस्मय के साथ छाती पर हाथ रखे दोनों आपस में एक दूसरे को निहारती हैं)

(२) राजा—आप दोनों ने मुझे रोका क्यों था?

(३) प्रथमा—अच्छा सुनिए श्रीमान्। यह अतिशय प्रभावशालिनी अपराजिता नाम की सुरमहौषधि है। जब इस बालक का जातकर्म संस्कार हो रहा था, उस समय

च वज्जिअ अवरो भूमिपदिदं ण गेह्णादि ।)

राजा—अथ गृह्णाति (१) ?

प्रथमा—ततः सर्पो भूत्वा तं दशति (२) । (तदो सप्पो भविअ तं दंसइ।)

राजा—अत्रभवतीभ्यां कदाचिदन्यत्र प्रत्यक्षीकृतमिदम् ? (३)

उभे—अनेकशः (४) । (अणेअसो) ।

राजा—[सहर्षमात्मगतम्] तत् किं खल्विदानीं पूर्णमात्मना मनोरथं नाभिनन्दामि ? [इति बालकं परिष्वजते ।] (५)

लताविशेषः । दारकस्य—शिशोः । जातकर्मसमये—नाडीच्छेदात् प्राक् अनुष्ठीयमान-जातकर्माख्यसंस्कारकरणकाले इत्यर्थः, 'प्राङ्नाभिवर्द्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते' इति मनुवचनात्, ननु जातकर्मसंस्कारस्य पितृकर्त्तव्यतया कथं स महर्षिणा अनुष्ठित इति चेन्न, पितुरसन्निधानेऽन्यस्याप्यधिकारश्रवणात् । तथा च—

'अष्टौ संस्कारकर्माणि गर्भाधानमितस्वयम् ।
पिता कुर्यात्तदन्यो वा तदभावे तु तत् क्रमात् ॥' इति स्मृतिः ।

(१) राजेति । अथेति प्रश्ने । यद्यन्यः कश्चित् गृह्णाति तर्हि किं स्यादित्यर्थः ।

(२) प्रथमेति । ततः—तदा सर्पो भूत्वा, एषौषधिरित्यनुषज्यते ।

(३) राजेति । पुनर्निर्णेतुं पृच्छति-अत्रभवतीभ्यामिति । अत्रभवतीभ्यां-पूज्याभ्यां युवाभ्याम्, कदाचित्-कस्मिंश्चित्समये, अन्यत्र-मदितरस्मिन् ग्रहीतरि इदं—रक्षाकाण्डस्य सर्पभावेन दंशनम् ।

(४) उभे इति । अनेकशः-बहुशः; बहुवारमित्यर्थः, प्रत्यक्षीकृतमिति योजना । अत्र 'शृणोतु महाराजः' इत्यादिना 'अनेकशः' इत्यन्तेन पूर्ववाक्यं नाम निर्वहण-सन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम् । यथोक्तं दर्पणे -

'पूर्ववाक्यन्तु विज्ञेयं यथोक्तार्थोपदर्शनम्' इति ।

(५) राजेति । अथ रक्षाकाण्डस्य विकाराभावेन अयं ममौरस एवेति निश्चित्य सहर्षमात्मगतमाह—तत् किमिति । सतत्-सर्वविधसंशयच्छेदात् उत्करूपहेतुप्रचयेन

भगवान् कश्यप ने इसे दिया था । और कहा था—यदि यह भूमि में गिर पड़े तो माता—पिता और स्वयं इन तीनों के सिवा इसे दूसरा कोई नहीं उठा सकता ।

(१) राजा—दूसरा कोई यदि उठा ही ले तो ?

(२) प्रथमा—तो सर्प बन कर यह उसे काट लेगा ।

(३) राजा—आप दोनों ने दूसरी जगह कहीं ऐसा होते देखा है ?

(४) दोनों—अनेक बार ।

(५) राजा—(हर्ष के साथ स्वगत) यदि ऐसा है तो मेरी अभिलाषा पूर्ण हो गई ।

द्वितीया—सुव्रते ! एहि इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायाः शकुन्तलाया निवेदयावः (१)। (सुव्वदे ! एहि इमं वुत्तन्तं णिअमवावडाए सउन्तलाए णिवेदेह्म । [इति निष्क्रान्ते]

बालः—मुञ्च मां मुञ्च माम्, अम्बायाः सकाशं गमिष्यामि (२)। (मुञ्च मं मुञ्च मं, अम्वाए सआसं गमिस्सं ।)

राजा—पुत्र ! मयैव सह मातरमभिनन्दिष्यसि (३)।

बालः—दुष्यन्तो मम तातः, न खलु त्वम् (४)। (दुष्यन्तो मम तादो, ण क्खु तुमं।)

च 'अयं मत्पुत्र एवेति' निश्चयाद्धेत्यर्थः, पूर्णं—स्त्रीपुत्रलाभेन सफलम्, मनोरथम्—अभिवाञ्छितम्, नाभिनन्दामि—लघीकृत्य नानन्दितो भवामि, अवश्यमेवाभिवाञ्छितं लब्ध्वाऽभिनन्दामीत्यर्थः, परिष्वजते—आलिङ्गति। अत्र विषयनिगरणेन बालके मनोरथाभेदाध्यवसायात् अतिशयोक्तिरलंकारः। किञ्चात्र आनन्दो नाम निर्वहणसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम्। यदुक्तं दर्पणे—'आनन्दो वाञ्छितागमः।' इति। तथेह प्रहर्षो नाम नाट्यालङ्कारोऽप्युपन्यस्तः; 'प्रहर्षः प्रमदाद् वाक्यम्' इति तल्लक्षणात्।

(१) द्वितीयेति। तत्कालोचितां प्रतिपत्तिमाह—सुव्रते ! इत्यादि। इमं—भूमिपतितं रक्षाकाण्डं गृह्णतोऽपि राज्ञः तत्कर्तृकसर्परूपेणादंशनम्, वृत्तान्तं—वार्त्ताम्, नियमव्यापृतायाः—पातिव्रत्यव्रतपालननिरतायाः, शकुन्तलायाः समीपे इति शेषः। निवेदयावः—विज्ञापयावः। अनेनाद्यापि पतिप्राप्त्यर्थं सा नियमव्यापृता तिष्ठति इति सूच्यते। निष्क्रान्ते इति। अत्र राज्ञे बालवृत्तान्तस्य शकुन्तलायै राजवृत्तान्तस्य च बोधनं तापस्योः प्रवेशनस्य फलमिति स्पष्टम्।

(२) बाल इति। अम्बायाः—मातुः, सकाशं—समीपम्।

(३) राजेति। पुत्र ! इति। अत्र पुत्रक ! इति पाठे अनुकम्पायां कः।

(४) बाल इति। 'पुत्र' इत्यामन्त्रणं श्रुत्वा सहजतेजस्वितयाऽऽह—दुष्यन्त इति ! तातः-पिता, न खलु त्वं मे पितेत्यर्थः। तथा च किमेवमसंगतं वदसीत्याशयः।

अब फिर क्यों न इनका आदर करूँ ? (यह कह कर बालक को गले से लगा लेता है)

(१) द्वितीया तापसी—सुव्रते ! चलो, यह समाचार व्रतनिरत शकुन्तला को भी सुना दें। (दोनों जाती हैं)

(२) बालक—मुझे छोड़ दो। मैं अपनी माँ के समीप जाऊँगा।

(३) राजा—पुत्र ! मेरे साथ ही माँ के पास चल कर उसका अभिनन्दन करना।

(४) बालक—मेरे पिता दुष्यन्त हैं, तुम नहीं हो।

राजा—एष विवाद एव मां प्रत्याययति (१) ।

[ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला ।] (२)

शकु—[सवितर्कम्] विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्य ओषधिं श्रुत्वा न मे आशंसा आत्मनो भागधेयेषु । अथवा यथा मिश्रकेश्या मे आख्यातं तथा सम्भाव्यते एतत् (३) । (विआरकाले वि पइदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसंसो अत्तणो भाअदेएसुं । अथवा जधा मिस्सकेस्सीए मे आचक्खिदं तथा सम्भावीअदि एदं । (इति परिक्रामति]

(१) राजेति । एष विवादः—विरुद्धो वादः, 'पुत्र !' इति संबोधनवाक्यस्य 'दुष्यन्तो मम तातः, न खलु त्वम्' इति प्रतिवाद एवेत्यर्थः, प्रत्याययति-त्वं मे पुत्र इति विश्वासं जनयति; ममैव दुष्यन्तत्वादिति भावः । एतावत्कालपर्यन्तं प्रत्ययो नोत्पन्न इति हृदयम् ।

(२) तत इति । एकवेणीधरेति । विरहचिह्नमिदम् ।

(३) शकु इति । सवितर्कम्-ईषत्स्तब्धीभावभ्रून्नमनादिरूपतर्काभिनयेन सहेत्यर्थः । अथ शकुन्तला मिश्रकेश्या कथितेन कान्तवृत्तान्तेन किञ्चिदाश्वस्ता पुनस्तापसीभ्यां निवेदितं वृत्तान्तं निशम्य 'अपायदर्शी स्नेहः' इति नीत्या सवितर्कमाह—विकारकालेऽपीति । विकारकालेऽपि—विकारयोग्यकालेऽपि, अन्येन ग्रहणे सर्परूपताप्राप्त्यवसरेऽपीत्यर्थः,प्रकृतिस्थाम्-अविकाराम् स्वस्वरूपेणैवावस्थितामिति यावत्, सर्वदमनस्य—पुत्रस्य, ओषधिं—मारीचदत्तां रक्षाकाण्डरूपामपराजितां नाम सुरमहौषधिम्, श्रुत्वा विद्यमानाया इति शेषः, तच्छ्रवणेन भर्त्रागमने निश्चितेऽपीति भावः, मे—मम, भागधेयेषु—भाग्येषु भर्तृकर्तृकस्वीकरणरूपेषु इत्यर्थः, अत्र कार्ये कारणोपचारः, न आशंसा-न प्रत्याशा; आशा नैव जायते इत्यर्थः, आत्मनो मन्दभाग्यत्वादिति भावः । तथा च जन्मप्रभृतिपितृमातृवियोगस्ततो वनेऽधिवासस्ततस्तादृशेनापि सर्वगुणाकरेण भर्त्रा प्रत्याख्यानमित्यादिकं सर्वमेव भाग्यमान्द्यस्य लक्षणम्; एवं परिस्थितौ (सत्यां) भर्त्ता स्वयमागत्य मां पुनर्ग्रहीष्यतीति दुराशामात्रमिति निगूढोऽर्थः । अथवेति—आशंसा अस्तीत्यर्थः । कुत इत्यत्राह—यथेत्यादि-

(१) राजा—यह विवाद ही तो मुझे विश्वास दिलाता है ।

(२) (इसके बाद एक वेणी धारण किये शकुन्तला आती है)

(३) शकुन्तला—(वितर्क के साथ) यद्यपि सर्वदमन की ओषधि गिरने और उसके उठायी जाने की बात मैंने सुनी है, फिर मुझे अपने भाग्य से यह आशा नहीं है कि ये स्वयं यहाँ आये होंगे । लेकिन जैसा कि मिश्रकेशी ने कहा था, वह यदि सच हो तो यह भी संभव है । (ऐसा कहकर आगे बढ़ती है)

राजा—[शकुन्तलां विलोक्य सहर्षखेदम्] अये ! सेयमत्रभवती शकुन्तला (१)—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्त्ति ॥ २१ ॥

मे-मम समीपे । अनेन मिश्रकेशीप्रसङ्गः सुष्ठु संघटितः । एतत्-भर्तृस्वीकरणम्; भर्त्रागमनमिति केचित् । परिक्रामति—राज्ञोऽन्तिकं गन्तुं पादसञ्चारं करोति । अनेनात्र समयाख्यं निर्वहणसन्धेरङ्गमुपन्यस्तम्; तल्लक्षणं यथा—

'दुःखस्यापगमो यस्तु समयः स निगद्यते' इति-इति राघवभट्टाः ।

परे त्वत्र पूर्वं मिश्रकेश्या उक्तस्य वाक्यार्थस्य प्रदर्शनात् पूर्ववाक्याख्यं निर्वहणसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम्; 'पूर्ववाक्यन्तु विज्ञेयं यथोक्तार्थोपदर्शनम्' इति दर्पणोक्तलक्षणात्—इति वदन्ति ।

(१) राजेति । सहर्षखेदं-हर्षखेदाभ्यां सह वर्तते इति तद्यथा स्यात्तथा । दुर्लभाया अपि प्राणप्रियाया दर्शनात् हर्षः तस्या एव वियोगव्रतनिबन्धनमलिनकृशत्वादिदुरवस्थादर्शनाच्च खेद इति तौ राज्ञः शकुन्तलादर्शनदशायां युगपदेव जाताविति बोध्यम् । अये इति सम्भ्रमे सेयमिति प्रत्यभिज्ञा । अत्रभवतीति प्रशंसागर्भम् । तथा च या खलु पूर्वं सौन्दर्यादिसहस्रगुणेन मां प्रीणितवती पश्चान्मोहेनैव मया प्रत्याख्याता च सेयमित्यर्थः । अस्य वाक्यस्य श्लोकीयपदकदम्बकेनान्वयः ।

वसन इति । परिधूसरे-संस्काराद्यभावान्मलिने, वसने-अधरोत्तरवस्त्रे, वसाना-परिदधाना, 'वस आच्छादने' इत्यस्मात् शानच्प्रत्ययः, नियमैः-व्रताङ्गैरुपवासादिभिः क्षीणं मुखं यस्याः सा, धृता शिरसि इति शेषः, एका वेणिर्यया सा, अत एव शुद्धं पवित्रं शीलं-चरित्रं यस्याः सा, साध्वीत्यर्थः, अतिनिष्करुणस्य—गर्भावस्थायामपि पतिव्रतायाः प्रत्याख्यानात् सुतरां क्रूरस्य मम दीर्घं—बहुकालव्यापि, विरहव्रतं-वियोगनियमं; बिभर्त्ति-पालयति । अहो दुःखपराकाष्ठेति भावः । 'नियमक्षाममुखी' इत्यत्र अपावृतमुख्याः तस्याः केवलं मुखस्यैव दर्शनात् क्षाममुखीत्युक्तिः । अनेन स्वजनगृहस्थिताया अपि अतिशयलज्जालुत्वं व्यज्यते, सम्प्रति मुखावरणापनयनन्तु केवलं दर्शनोत्कण्ठयैवेति नायिकागतं नानौचित्यम् । 'अतिनिष्करुणस्य मम'

(१) राजा—(शकुन्तला को देखकर हर्ष और खेद के साथ) अरे ! यही वह शकुन्तला है !—

दो मैले-कुचैले कपड़े पहने है, व्रत का पालन करने से मुख सूख गया है और एकमात्र वेणी धारण किये है इससे ज्ञात होता है कि यह मुझ निर्दयी पति के लिये बहुत दिनों से विरहव्रत का पालन कर रही है ॥ २१ ॥

शकु—[पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा सवितर्कम्] न खलु आर्यपुत्रोऽयम्, तत् क एष, कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति (१)। (ण क्खु अज्जउत्तो अअं, ता को एसो किदरक्खामङ्गलं दारअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि ।)

इत्यत्र मा कौर्यमेवैकमिह निमित्तमिति भावः। सम्बन्धे षष्ठी। इह प्रथमविशेषणत्रयेण विरहव्रतस्वरूपमुक्तम्, तत्र वियोगनियममाह हारीतः—

'आर्त्तार्त्ते मुदिते हृष्टा वियोगे मलिना कृशा।
मृते म्रियेत या पत्यौ साध्वी ज्ञेया पतिव्रता॥' इति।
'विष्णुधर्मोत्तरञ्च—
'मण्डनं वर्जयेन्नारी तथा प्रोषितभर्तृका।

देवताराधनपरा तिष्ठेद् भर्तृहिते रता॥' इति।

किञ्चात्र ' न सा तु विधवावेशं कथञ्चिदपि धारयेत्' इति विष्णुधर्मोत्तरे वैधव्यवेशधारणप्रतिषेधात् प्रोषितपतिकानामेकवेणीधारणसमाचारः। उक्तं चालङ्कारिकशिरोमणिना विश्वनाथपादेन दर्पणे—

'प्रवासो भिन्नदेशत्वं कार्याच्छापाच्च सम्भ्रमात्।
तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः॥' इति।

अत्र राघवः—'राजा इत्यादिनैतदन्तेन सन्धिर्नाम निर्वहणसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम्, तल्लक्षणं तु—'मुखबीजोपगमनं सन्धिरित्यभिधीयते'। इति।' इत्याह। अत्र नायिकाश्रयो विप्रलम्भो नायकगतो विषादाद्युपस्कृतो निर्वेदश्च ध्वन्यते। तथेह काव्यलिङ्गस्वभावोक्त्यलङ्कारौ। औपच्छन्दसिकं वृत्तम्॥ २१॥

(१) शकु इति। पश्चात्तापविवर्णम्; पश्चात्तापेन—स्वप्रत्याख्यानजनितानुतापेन विवर्णं—विरूपं मलिनाकृतिमिति यावत्। पश्चात्तापविवर्णत्वमेव वितर्के हेतुः। न खलु आर्यपुत्रः—स्वामी दुष्यन्तः, आकृतिवैषम्यात् इति भावः। कृतं रक्षायै मङ्गलं यस्य तं, दारकं—बालकं पुत्रम्, गात्रसंसर्गेण—आलिङ्गनेन, दूषयति—अपवित्रतां नयति पुत्रबुद्ध्येति भावः। 'कृतरक्षामङ्गल'मिति विशेषणेन रक्षामङ्गलस्यापि दूषणं जातमिति व्यज्यते। रक्षाकाण्डस्य शक्त्यभावदर्शनात्।

---

(१) शकुन्तला—(पश्चात्ताप के कारण मलिन आकृति वाले, राजा को देखकर वितर्क के साथ) नहीं, ये आर्यपुत्र नहीं हैं। तब यह कौन है, जो रक्षासूत्रधारी मेरे बालक को अपने शारीरिक स्पर्श से दूषित कर रहा है ?

बालः—[मातरमुपगम्य] अम्ब ! क एष मां पुत्रकेति सस्नेहमालिङ्गति (१)। (अम्ब ! को एसो मं पुत्तकेत्ति ससिणेहं आलिङ्गदि।)

राजा—प्रिये ! क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तम्। तदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानमिच्छामि (२)।

---

(१) बाल इति। अम्ब—मातः। पुत्रकेति सम्बुद्ध्येति शेषः।

(२) राजेति। त्वयि प्रयुक्तं-मयैवाचरितम्, क्रौर्यं—नृशंसत्वम्, प्रत्याख्यानरूपमित्यर्थः, मे—मम सम्बन्धे, अनुकूलः—शुभकरः परिणामः—परिपाको यस्य तत् तादृशं, संवृत्तं—सञ्जातम्। सपुत्रायास्ते कालेन समागमादिति भावः। केचित्त्वस्य वाक्यस्य भावान्तरं प्रकटयन्ति। तद् यथा—

देवलोके मारीचाश्रमे एव प्रसवेन पुत्रस्य देववत् प्रभावसम्भवात् देवगुरुणा च कृतजातकर्मादिसंस्कारतया चिरजीवित्वादिबहुविधशुभयोगसम्भवात् मर्त्यलोके प्रसवे तु तादृशशुभयोगस्यासम्भवात् पूर्वं त्वयि मया प्रयुक्तं प्रत्याख्यानादिरूपं क्रौर्यं परिणामे क्षेमकरमेव सञ्जातमिति। परे त्वस्यान्यथैव भावमाकलयन्ति। यथा—पूर्वं ममान्तिके तव गमनदशायां मोहान्मया त्वं न प्रत्यभिज्ञाता इदानीं त्वदन्तिकं मयि पुनरागते त्वयाऽहं प्रत्यभिज्ञात एवेति स्पष्टमनुकूलपरिणामत्वमिति। अन्ये तु वाक्यमिदमेवं व्याचक्षते। तद्यथा—अथेयं मां न जानातीत्यवधारयन्नाह—प्रिय इत्यादि। क्रौर्यमिति। तत्कार्यं प्रत्याख्यानमित्यर्थः। अनुकूलपरिणाममिति। अनुकूलः परिणामः-पश्चात्तापलक्षणो यस्य तत्तथाभूतम् परिणामो नामोपादानस्य स्वाकारपरित्यागेनाकारान्तरापत्तिः, यथा मृदादेर्घटाद्याकारापत्तिः। प्रकृते तु प्रत्याख्यानं पश्चात्तापतया परिणतमित्यर्थः-इति। तत्—तस्मात्, इदानीमात्मानं त्वया प्रत्यभिज्ञातम् 'आर्यपुत्र एवायम्' इति परिचितमिच्छामि। शकुन्तलासमीपे राज्ञः सविनयनिवेदनमिदम् इति बोध्यम्। अन्यमतार्थावलम्बिनस्तु 'तदहम्' इत्यत्र 'यदहम्' इति पाठं मत्वा 'त्वया प्रत्यभिज्ञातम्' इत्यत्र 'त्वयाऽप्रत्यभिज्ञातम्' इति विश्लेषं कृत्वा 'इच्छामि' इत्यत्र 'पश्यामि' इति पाठान्तरं स्वीकृत्यान्तिमवाचनिकस्यान्यथा कृतं व्याख्यानमाकलयन्ति। तद्यथा—तस्यानुकूल्यं तुल्यदुःखकारित्वादिति दर्शयन्नाह—यदिति। तुल्यदुःखहेतुः पश्चात्तापजनितवैवर्ण्यतानुवादिना ह्यप्रत्यभिज्ञानमिति भावः—इति

---

(१) बालक—माँ, यह कौन है, जो मुझे पुत्र कहकर प्यार करता है ?

(२) ~~बालक~~ राजा—प्रिये ! यद्यपि मैंने तुझ पर क्रूरता की थी फिर भी आज वह हमारे लिये अनुकूल ही सिद्ध हुई है। इसलिये अब मैं यही चाहता हूँ कि तुम मुझे पहचान लो।

शकु—[स्वगतम्] हृदय ! समाश्वसिहि । प्रहृत्य परित्यक्तमत्सरेण अनुकम्पिताऽस्मि दैवेन । आर्यपुत्र एव एषः (१) । (हिअअ ! समस्सस समस्सस । पहरिअ परिचत्तमच्छरेण अणुकम्पिदह्मि देव्वेण । अज्जउत्तो एव्व एसो ।)

राजा—प्रिये —!

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि ! ।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥ २२ ॥

---

(१) शकु इति । स्वगतम्—अनतिस्पष्टम् । अथ पतिं प्रत्यभिजानत्याह—हृदय इति । प्रहृत्य-प्रहारं कृत्वा, प्रहारकरणानन्तरमित्यर्थः, परित्यक्तमत्सरेण-परित्यक्तः-बहुतरयातनार्पणादपराधापगमबुद्ध्या परिहृतः मत्सरः—शुभद्वेषः क्रोधो वा येन तेन तथोक्तेन, 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः 'क्रुधि तद्वत्कृपणेऽपि मत्सरः' इति रत्नकोषः, दैवेन—विधिना, अनुकम्पिता—अनुग्रहपात्रीकृता अस्मि । पुरा यो हि विधिर्मामार्यपुत्रेण संगतिं न सेहे, स एवाद्य सदयो भूत्वेह तं समानीय मया योजितवानिति भावः । अनेनानन्दनामकं निर्वहणसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम्, तल्लक्षणं यथा दर्पणे—'आनन्दो वाञ्छितागमः' ॥ इति ॥

राजेति । अथ मोहापगमे मया पूर्ववृत्तविस्मरणात् त्वयि क्रौर्यं प्रयुक्तमिति दर्शयन्नावर्जनार्थमाह—प्रिये ! स्मृतीति । हे सुमुखि ! साभिप्रायसम्बोधनमेतत्, सुमुखस्यैव संमुखे स्थापनयोग्यत्वात्, कुमुखस्य गोपनमेव सर्वथोचितमित्याशयः, दिष्ट्या—भाग्येन, स्मृत्या—पूर्ववृत्तान्तपातस्मरणेन, भिन्नं—खण्डितं मोह एव तमः—अन्धकारः मोहः तमः—राहुरिव वा यस्य तस्य तादृशस्य, 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः' इत्यमरः, अनेन मोहस्य प्रगाढत्वं व्यज्यते, मे—मम, प्रमुखे-संमुखे स्थितासि—स्थितासि । कीदृशमेतत् तत्राह—उपेत्यादि । रोहिणी—दक्षकन्या नक्षत्ररूपा चन्द्रपत्नी, उपरागान्ते—राहुग्रासावसाने 'उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पूष्णि च' इत्यमरः, शशिनः—चन्द्रमसः, योगं—सम्मिलनम्, समुपागता—संप्राप्ता । तादृशयोगः कार्तिकपूर्णिमायामेव सम्भवति । तथा च उपरागापगमे शशिना सह रोहिण्या मिलनमिव विस्मरणावसाने मया सह तव मिलनं जातमिति तयोर्मिलनमिवावयोर्मिलन-

---

(१) शकुन्तला—हृदय ! धीरज धरो ! विधाता ने पहले तो मुझ पर आघात किया लेकिन बाद में द्वेषभाव त्याग कर उसने मेरे ऊपर दया की है । ये आर्यपुत्र ही हैं ।

राजा—हे प्रिये ! हे सुमुखि ! भाग्यवश पूर्वसमय की बातें याद आगयीं और मेरे अज्ञान का अन्धकार दूर हो गया । इस समय तुम मेरे सम्मुख खड़ी हो । यह मिलन उसी प्रकार हुआ है जैसे कि ग्रहणकाल के बाद रोहिणी और चन्द्रमा का सम्मिलन होता है ॥२२॥

शकु—[सहर्षम् ।] जयतु जयतु आर्यपुत्रः (जअदु जअदु अज्जउत्तो ।)
(इत्यर्धोक्ते बाष्पसन्नकण्ठी विरमति ।) (१)

राजा—
बाष्पेण प्रतिरुद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया ।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम् ॥ २३ ॥

मतीव दृश्यतरमिति भावः। अत्र दृष्टान्तोऽलङ्कारः, तेन च मोहस्य दैवकृतत्वं तदुपायो योगस्यौचित्यं चेति व्यज्यते। तथा यत्तद्भ्यामुपक्रान्ताभ्यामेकवाक्यत्वात् सम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शना। सा च मोहतम इत्यत्र राहुरूपार्थ उपमाधिका; तत्र तु मोह इव तम इति समासः, प्रथमे च—अन्धकाररूपेऽर्थे रूपकम्; राजपक्षे द्वितीयार्थेऽपि मोहस्तम इव इत्यपि समासो भवत्येव; इति उभयो रूपकोपमयोः साङ्कर्यम्। उत्तरार्द्धे च-साधकबाधकप्रमाणाभावाद् दृष्टान्तनिदर्शनयोरपि सन्देहसङ्करालङ्कारः। किञ्चात्र दुष्यन्तस्य शकुन्तलाप्राप्तिरूपेण शकुन्तलाया दुष्यन्तप्राप्तिरूपेण चार्थेन परस्परदुःखशमनात् कृत्याख्यं निर्वहणसन्धेरङ्गमुपन्यस्तम्। यदुक्तं विश्वनाथेन —'लब्धार्थशमनं कृति'रिति। आर्या जातिः ॥ २२ ॥

(१) शकु इति। अर्द्धोक्तेरिति। समुदायवाक्यस्य कथनसमये अन्तरा बाष्पेण रुद्धकण्ठतया तदर्द्धमात्रमुच्चरितं वक्तव्यान्तरं तु कण्ठाधोविवरवर्त्याकाशे एव स्थितमिति बोध्यम्। बाष्पसन्नकण्ठीति। बाष्पेण—अश्रुभारेण सन्नः—अवरुद्धः कण्ठो यस्याः सा तथाभूता सतीत्यर्थः, अत्र बाष्पोद्गमः स्मर्यमाणस्य दुःखस्यानुभूयमानस्यानन्दस्य चानुभावः। विरमति—अन्यस्माद् वक्तव्यान्निवर्त्तते; तत्प्रकाशने उपायान्तराभावादिति भावः।

राजेति। चाटूक्तिं करोति—प्रिये इति। बाष्पेणेति। बाष्पेण—अश्रुभारेण, एतेनातिविरहक्लान्तत्वं व्यज्यते, जयशब्दे—'जयतु जयत्वार्यपुत्रः' इति शब्दे; प्रतिरुद्धेऽपि निरुद्धेऽपि मया जितं समोत्कर्षोऽभूदित्यर्थः, अकर्मकोऽयं जयतिः प्रकर्षलाभे वर्त्तते। यत्—यस्मात्, असंस्कारेण—नियमपरायणत्वादलक्तकदानादिसंस्काराभावेन पाटलः—श्वेतरक्तः ओष्ठपुटो यस्य तत् तादृशं, 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः, अकृत्रिममनोहरमित्यर्थः, ते—तव, मुखं दृष्टम्। तच्च विशिष्टमुखस्य दर्शनेन च विरहनाशात्

(१) शकुन्तला—(आनन्द के साथ) आर्यपुत्र की जय हो, जय हो। (केवल आधी बात कहने पर आंसू से गला भर आता है, इस कारण चुप रह जाती है)

राजा—प्रिये! यद्यपि अश्रुवेग ने जय शब्द को रोक लिया है, फिर भी मैंने जयलाभ कर ही लिया। क्योंकि संस्कार विहीन और पाटल वर्ण के तुम्हारे दोनों होंठो को मैंने आज देख पाया है ॥ २१ ॥

बालः—अम्ब ! क एषः (१) । (अम्ब को एसो)

शकु—भागधेयानि पृच्छ (२) । (भाअधेआइं पुच्छ ।)

राजा—सुतनु ! हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते

किमपि मनसः सम्मोहो मे तदा बलवानभूत् ।

प्रबलतमसामेवंप्राया: शुभेषु हि वृत्तयः

मया जितमिति भावः । अत्र जयशब्दे प्रतिषिद्धेऽपि जितमिति विरोधाभासालंकारः। तथा जितं प्रति परार्द्धवाक्यार्थस्य हेतुत्वेनोपपादनात् काव्यलिङ्गमपि ॥ २३ ॥

(१) बाल इति । अथ तयोस्तथाविधं परस्परालपनं श्रुत्वा मातुस्तद्वानीं बाष्पसन्नकण्ठत्वं पूर्वं 'पुत्र' इति निजसम्बोधनं चेत्यादिकं सर्वमालोच्य स्वाभाविकबालकतया जातकुतूहलो मातरं पृच्छति—अम्ब इति । अम्ब ! मातः !

(२) शकु इति । अथाखण्डमहीमण्डलाधीशतनयोऽपि विधिविडम्बनावशान्निजजनकमपि न जानातीति मर्मणि भृशं सन्ताडिताऽऽह—भागधेयानीति । भागधेयानि—अदृष्टानि, येषां विडम्बनया ताततनययोरपि नैव परिचयस्तानीत्यर्थः । यद्वा येषां फलं पुनरस्य दर्शनलाभस्तानीत्यर्थः, यद्वा कार्ये कारणोपचाराद् फलमित्यर्थः, पृच्छ—जिज्ञासस्व; पुत्र ! मां किं पृच्छसीति हृदयम् । अत्र गुरोर्नामग्रहणरूपं नायिकागतमौचित्यं कारुण्यातिशयश्च ध्वन्यते ।

सुतन्विति । हे सुतनु !—शोभनाङ्गि !, ते—तव, हृदयात् प्रत्यादेशेन—मत्कृतनिराकरणेन व्यलीकं-पीडा, 'पीडार्थेऽपि व्यलीकं स्यात्' इत्यमरः, अपैतु-अपसरतु । इदं मे त्वयि निवेदनमित्याशयः। ननु कथं त्वया प्रत्याख्यानेन पीडा दत्तेत्यत्र हेतुमाह—किमपीति । तदा—प्रत्याख्यानकाले, मे-मम-मनसः किमपि-अनिर्वचनीयः; केनापि हेतुना वा, बलवान्—अधिकः केनाप्यनिवर्त्तनीय इत्यर्थः, सम्मोहः—भ्रमः अभूत् । सम्मोहादेव च प्रत्याख्यानेन पीडा दत्ता न तु कामतः ततस्तदपराधो भवत्या क्षन्तव्य इत्यभिप्रायः । हि—तत्र हिः प्रबलं—बलवत् तमः—सम्मोहोऽन्धकारश्च येषां तेषां तादृशानां जनानाम्, शुभेषु—श्रेयःसाधनेषु विषयेषु, वृत्तयः—प्रवृत्तयः—'वृत्तिर्विवरणाजीवकैशिक्यादिप्रवर्त्तने' इति मेदिनी, एवंप्रायाः-बाहुल्येनेत्थम्भूताः, निराकरणरूपा इत्यर्थः। 'प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि' इति

---

(१) बालक—माँ ! ये कौन हैं ?

(२) शकुन्तला—अपने भाग्य से पूछ ।

राजा—हे सुन्दरी ! अब तुम उस समय की त्याग-सम्बन्धी बातें भूल जाओ । क्योंकि उस समय मेरे मन में बलवान् अज्ञान उत्पन्न हो गया था । अत्यन्त अज्ञानी की कल्याणकमना करनेवालों को ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए । देखो, किसी अन्धे के गले में एक-

स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥ २४ ॥

[इति पादयोः पतति] (१)।

शकु—उत्तिष्ठतु आर्य्यपुत्रः। नूनं मे सुखप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामसुखमासीत्; येन सानुक्रोशोऽपि आर्य्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः (२)। (उत्थेदु अज्जउत्तो। णूणं मे सुहप्पडिबन्धअं पुराकिदं

विघ्नः, भवन्तीति शेषः। उक्तार्थे दृष्टान्तमाह—स्रजमिति। अन्धः—चक्षुर्भ्यां विहीनो जनः, शिरसि—मस्तके क्षिप्ताम्—अन्येनार्पिताम्, स्रजं—पुष्पमालामपि, अहिशङ्कया—सर्पभ्रान्त्या, तद्दर्शनासामर्थ्यादिति भावः। धुनोति—कम्पयति शिरःकम्पनेन कम्पयित्वाऽधः क्षिपतीत्यर्थः। तथा चान्धस्येव प्रबलतमसो जनस्य शुभेषु विपरीतवृत्तयो भवन्तीति भावः। अत्र प्रथमपादगतार्थं प्रति द्वितीयपादगतार्थस्य हेतुतेति वाक्यार्थगतकाव्यलिङ्गम्। तथा तृतीयपादगतसामान्येन पूर्वार्द्धगतविशेषस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽपि। चतुर्थपादे तूपमानोपमेयगतसाधर्म्यप्रतिबिम्बनात् दृष्टान्तश्च। 'अहिशङ्कया' इत्यत्र भ्रान्तिमानपि। अत्र प्रतिवस्तूपमेति केचिद् वदन्ति; तच्चिन्त्यम्। हरिणी वृत्तम् ॥ २४ ॥

(१) इतीति। उक्त्वेति शेषः। पादयोः शकुन्तलाया इति शेषः। पादयोः पतनं कोपशान्त्यर्थम्, तदुक्तम्—

'साम भेदोऽथ दानञ्च नत्युपेक्षे रसान्तरम्।
तद्भङ्गाय पतिः कुर्यात् षडुपायानिति क्रमात् ॥
तत्र प्रियवचः साम भेदस्तत्सख्युपार्ज्जनम्।
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः ॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधारणम्।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥' इति।

'सुतनु !' इत्यादिना 'पादयोः पतति' इत्यन्तेन अनुनयो नाम नाटकलक्षणमुपक्षिप्तम्। यदुक्तं दर्पणे—

'वाक्यैः स्निग्धैरनुनयो भवेदर्थस्य साधनम्।' इति। क्वचिदयं पाठो नास्ति।

(२) शकु इति। अथ तादृशानुनयप्रकाशपूर्वकं पादयोः प्रणतं पतिमुत्थापयन्ती आह—उत्तिष्ठतु इति। नूनं—निश्चितम्, मे—मम, सुखप्रतिबन्धकम् सुखस्य

एक यदि कोई फूल की माला भी डाल दे तो वह उसे साँप समझ कर फेंक देगा ॥ २४ ॥

(१) [ऐसा कह कर पैरों पर गिरता है]

(२) शकुन्तला—उठिये, उठिये आर्यपुत्र ! उस समय हमारे पूर्वजन्म का कोई ऐसा

तेसुं दिअसेसु परिणाममुहं आसि; जेण साणुक्कोसे वि अज्जउत्तो मह विरसो सम्वुत्तो ।)

राजा—[उत्तिष्ठति] (१) ।

शकु---अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभागी अयं जनः (२) । (अध कथं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअं जणो ।)

राजा —उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि (३) !

प्रतिबन्धकं—व्याघातकम्, दुःखोत्पादकमित्यर्थः, पुराकृतं—पूर्वजन्मानुष्ठितं दुष्कृतं कर्मेति शेषः, तेषु—अतीतेषु दिवसेषु—निराकरणावधिवेलासु, परिणाममुखं-परिपाकाभिमुखम्, दुःखजननप्रवृत्तमित्यर्थः, आसीत् । येन-हेतुना, सानुक्रोशोऽपि-मयि अनुरागातिशयेन सदयोऽपि, 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशः' इत्यमरः । विरसः-विगतः रसः—रागः अनुरागो यस्य सः, 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । संवृत्तः—सञ्जातः । तथा च मम पूर्वजन्मकृतकर्मणो दुरदृष्टवशादेव दुःखभोग आसीत् तत्र न भवतोऽपराध इति भावः ।

अनेनेन वाक्येन कविना शकुन्तलायाः सौशील्यादिगुणातिशयः प्रकाश्यते । अत्र मत्स्यपुराणम्—

'पुराकृतानि पापानि फलन्त्यस्मिंस्तपोधन ! ।
रोगदौर्गत्यरूपेण तथैवेष्टवधेन च ॥ इति ।

(१) राजेति । उत्तिष्ठति—शकुन्तलायाः, पादतलादिति शेषः ।

(२) शकु इति । अथ शकुन्तला राजानं स्मरणप्रकारं पृच्छति—अथेति । अथेति प्रश्ने । दुःखभागी-दुःखैकमात्रभोगी, अयं जनः-अहमित्यर्थः, आत्मनिर्देशोऽयम्, कथं स्मृत इति योजना ।

(३) राजेति । राजोत्तरमाह—उद्धृतेत्यादि । उद्धृतम्—उन्मूलितं विषादः-शोकः शल्यं शङ्कुरिव येन सः तादृशः, अपनीतशोकशङ्कुः सन्नित्यर्थः, 'वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना' इत्यमरः, कथयिष्यामि—वक्ष्यामि, स्मरणप्रकारमिति शेषः । अत्रोपमालङ्कारः । वक्ष्यमाणश्लोके शोकस्य प्रशमनकथनेन खेदवत्त्वं व्यङ्ग्यम् ।

पाप ही उदय हो गया था, जिस से वे दिन ही वैसे हो गये थे कि आप जैसे सहृदय भी मेरे प्रति निर्दयी बन गये थे ।

(१) राजा—(उठता है)

(२) शकुन्तला—तो श्रीमान् ने इस दुखिया को कैसे याद किया ?

(३) राजा—विषादरूपी बाण जब निकल जायगा तभी वह सब बातें बताऊँगा—

मोहान्मया सुतनु ! पूर्वमुपेक्षितस्ते
यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः ।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
कान्ते ! प्रमृज्य विगतानुशयो भवामि ॥ २५ ॥

विषादशल्योद्धारप्रकारमाह—मोहादिति । हे सुतनु-शोभनाङ्गि !, मया परमविवेकिना धर्मभीरुणा परमविदग्धेन दुष्यन्तेनेत्यर्थान्तरसङ्क्रमितम्, अधरम्-अधरोष्ठम्, परिबाधमानः—परितः—सर्वतः बाधमानः-पीडयन् ; तथा च नेत्रयोर्निर्गत्य कपोलावतिक्रम्योपचयेन चिरावस्थानेन चाधरं निपीडयन्नित्यर्थः, अनेन बाष्पबिन्दूनामनवरतपातित्वं स्थूलत्वमुष्णत्वं चिरावस्थायित्वञ्च ध्वनितम्, शोकजनितबाष्पबिन्दूनां तथात्वसम्भवात्, अत एवाधरपीडनमपि सम्भवति, 'बाधमानो' इत्यनेन च अधरस्यातिकोमलत्वं व्यञ्जयता शकुन्तलाया अपि सौन्दर्यातिशयो ध्वनितः, अत्र मार्जनकरणसामग्रीसत्त्वेऽपि तदनुपपत्तेर्विशेषोक्तिः, ते-तव, यः बाष्पबिन्दुः—अश्रुकणः, जातावेकवचनम्, पूर्वं—प्रत्याख्यानकाले, मोहात्—अज्ञानात्, उपेक्षितः-न प्रोञ्छितः । हे कान्ते ! अद्य-इदानीम्, आकुटिलेषु-ईषद्वक्रेषु पक्ष्मसु-नेत्रलोमसु विलग्नं-संसक्तम्, 'कुञ्चितं नतम् । आविद्धं कुटिलम्' इत्यमरः, तं—बाष्पबिन्दुम्, तं बाष्पमिति पूर्वतनाद्यतनबाष्पयोरैक्यमध्यवसीयते, आकुटिलपक्ष्मविलग्नमित्यनेन अद्यतनबाष्पस्य अधरपरिबाधनभावः प्रकाश्यते, तेन ततः पूर्वं परिमार्जनीयत्वमासीदिति सूच्यते च, प्रमृज्य तावत्-परिप्रोञ्छ्यैव, विगतानुशयः-विनष्टानुतापः, उद्धृतविषादशल्य इति यावत, भवामि । 'अथानुशयो दीर्घद्वेषानुतापयोः' इत्यमरः । तथैव चोद्धृतविषादशल्यः सन् कथयिष्यामीति भावः । अपराधादिनाऽनुशयस्यैव विषादत्वमाह सुधाकरे—

'अपराधपरिज्ञानादनुतापस्तु यो भवेत् । स विषादः' इति ।

अत्र प्रथमार्द्धे प्रमार्ज्जनकारणे सत्यपि तदभावाद् विशेषोक्तिः । तथा पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमपि । अत्र च 'बाष्पबिन्दुप्रोञ्छनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोधाख्यं निर्वहणसन्ध्यङ्गमुपक्षिप्तम् । तल्लक्षणं यथा दर्पणे—'विबोधः कार्यमार्गणम् ॥' इति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २५ ॥

उस समय मोहवश ओठों को सतानेवाले जिन आँसुओं की बूँदों की मैंने उपेक्षा की थी, हे कान्ते ! कुछ तिरछी पलकों में लगे उन्हीं अश्रुबिन्दुओं को आज मैं अपने हाथों पोंछ कर अनुतापविहीन हो जाऊँगा ॥ २५ ॥

[इति यथोक्तं करोति] (१) ।

शकु— [प्रमृष्टबाष्पा अङ्गुलीयकं विलोक्य] आर्यपुत्र ! तदेतद् अङ्गुलीयकम् ? (२) । (अज्जउत्त [तं एदं अङ्गुलीअअं ? !)

राजा–अथ किम् । अस्याद्भुतोपलम्भान्मया स्मृतिरुपलब्धा (३) ।

शकु— विषमं कृतं खल्वनेन, यत् तदा आर्यपुत्रस्य प्रत्यायनकाले दुर्लभमासीत (४) ! (विसमं किदं क्खु इमिणा, जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चाअणकाले दुल्लहं आसि ।)

---

(१) इतीति । उक्त्वेति शेषः, यथोक्तं करोति—कराभ्यां शकुन्तलानेत्रगतं बाष्पं प्रमार्ष्टीत्यर्थः । नाट्येनेति शेषः ।

अत्र प्रसादाख्यं निर्वहणसन्ध्यङ्गमुपन्यस्तम् । तल्लक्षणं यथा दर्पणे—'शुश्रूषादिः प्रसादः स्यात् ॥' इति ।

(२) शकु इति । प्रमृष्टः–दुष्यन्तेन प्रोञ्छितः, बाष्पः नेत्रजलं यस्याः सा, अङ्गुलीयकं दुष्यन्ताङ्गुलिस्थितनाममुद्राम्, विलोक्य–दृष्ट्वा, अथ पृच्छति–आर्यपुत्र इति । तदेतदङ्गुलीयकं यदपायान्ममेयं दुर्दशेति भावः । इदमेवाङ्गुलीयकं मदङ्गुलौ निवेशितमासीदिति गूढाभिसन्धिः । अत्र काक्वा प्रश्नो गम्यते ।

(३) राजेति । अनुवदति—अथकिमिति । इदमेकमव्ययपदमङ्गीकारार्थकम् । स्मरणनिदानं वक्ति–अस्येति । अस्य–अङ्गुलीयकस्य अद्भुतोपलम्भात्–मत्स्योदरगतत्वेनाश्चर्यरूपाल्लाभात्, स्मृतिः—परिणीतारूपेण तव स्मरणम्, उपलब्धा—प्राप्ता । अनेन राज्ञा स्वापराधपरिमार्जनं सूचितम् ।

(४) शकु इति । शकुन्तलाऽङ्गुलीयकमुपालभते—विषममिति । अनेन–अङ्गुलीयकेन, विषमं–विसदृशं दारुणं कार्यमित्यर्थः, यत् यस्मात्, प्रत्यायनकाले–विश्वासजननसमये, दुर्लभम्—अनासन्नम् ।

---

(१) [ऐसा कहकर आँसू पोछता है]

(२) शकुन्तला—(आँसू पुंछ जाने पर अंगूठी देखकर) आर्यपुत्र ! यह वही अँगूठी है ।

(३) राजा—और क्या एक विचित्र ढंग से इसके मिलने पर ही तो मुझे तुम्हारी याद आयी !

(४) शकुन्तला—इसने बड़ी गड़बड़ी की जो उस समय आपको विश्वास दिलाने के लिए नहीं मिली ।

राजा—तेन हि ऋतुसमागमचिह्नं प्रतिपद्यतां लता कुसुमम् (१)।

शकु—नास्य विश्वसिमि, आर्यपुत्र एव एनं धारयतु (२)। (ण से विस्ससेमि, अज्जउत्तो ज्जेव णं धारेदु।)

[ततः प्रविशति मातलिः] (३)।

मात—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन च आयुष्मान् वर्द्धते (४)।

---

(१) राजेति। तेन—इदानीमासादितत्वेनेत्यर्थः, ऋतुसमागमचिह्नम्-ऋतोः-वसन्तस्य (ममेति गूढम्) यः समागमः-सम्मेलनं तस्य चिह्नं-चिह्नस्वरूपम् सूचकमित्यर्थः, कुसुमं-स्वपुष्पम्, (अङ्गुलीयकमिति गूढम्), लता-वल्ली (लतेव तन्वी त्वमिति गूढम्) प्रतिपद्यतां-लभताम्। तथा च लता यथा वसन्तादिसमागमचिह्नभूतं स्वपुष्पं धारयति तथा त्वमपि मत्समागमचिह्नभूतमिदमङ्गुलीयकं पुनर्धारयेति भावः। अत एवात्र सादृश्यनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः। अत्र निर्वहणसन्धेर्भाषणाख्यमङ्गमुपन्यस्तम्। यदुक्तं दर्पणे-'सामदानादि भाषणम्' ॥ इति।

(२) शकु इति। अथ शकुन्तलाऽङ्गुलीयकस्य धारणे पुनरपि स्वकरात् तस्य भ्रंशे पुनरपि स्वविरहो भविष्यतीत्युत्प्रेक्ष्य राजानं तदाग्रहात् वारयति-नास्येति। अस्य-अङ्गुलीयकस्य सम्बन्धे, सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी, न विश्वसिमि-न विश्वासं करोमि; प्रतारणापरत्वात्। तथा च पूर्वं प्रत्यायनकाले असान्निध्येन विषमाचरणस्यैव, परमपि कदाचित् तादृशस्य सम्भवाद्नास्य प्रामाण्यं मन्ये इति भावः। अतएव आर्यपुत्रः—भवान्, एतत्—अङ्गुलीयकम्, धारयतु अङ्गुलौ इति शेषः।

अत्र 'राजा-प्रिये! स्मृतिभिन्न-' इत्यादिना 'नास्य विश्वसिमि' इत्याद्यन्तेन निर्वहणसन्धेः परिभाषणं नामाङ्गमुपक्षिप्तम्। यदुक्तं धनञ्जयेन—'परिभाषा मिथो जल्पः'।—इति।

(३) तत इति। अत्र मातलिप्रवेशेन ग्रथनं नाम निर्वहणसन्धेरङ्गमुपन्यस्तम्, यदुक्तं धनञ्जयेन—'ग्रथनं तदुपक्षेपः॥' इति। तेषां—कार्याणामुपक्षेपः-उपन्यासः। इदमेव विश्वनाथेनाप्युक्तम्-'उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनम्' ॥ इति।

(४) मातेति। दिष्ट्येत्यानन्दे, भवद्वृद्ध्या मे हर्षो जात इति भावः। वर्द्धते-

---

(१) राजा—यदि ऐसा है तो लता ऋतु के साथ सम्मिलित होने के चिह्नस्वरूप इस पुष्प को धारण करे।

(२) शकुन्तला—मुझे इसका विश्वास नहीं है। इसे आप ही पहने रहें।

(३) [इसके बाद मातलि आता है]

(४) मातलि—भाग्यवश धर्मपत्नी के मिलने और पुत्र का मुख देखने से आपने अभ्युदय-लाभ किया है।

राजा—सुहृत्सम्पादितत्वात् साधुतरफलो मे मनोरथः । मातले ! न खलु विदितोऽयमाखण्डलस्यार्थः ? (१) ।

मातलि—[सस्मितम्] किमीश्वराणां परोक्षम् । एहि भगवान् मारीचस्ते दर्शनमिच्छति (२) ।

राजा—प्रिये ! अवलम्ब्यतां पुत्रः, त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि (३) ।

अभ्युदेति; पत्नीसमागमस्य पुत्रमुखदर्शनस्य चाभ्युदयरूपत्वात् 'वृद्धिरभ्युदयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

(१) राजेति । सुहृत्सम्पादितत्वात्—सुहृदा—सख्या भवता सम्पादितत्वात्—साधितत्वात् , मे–मम, मनोरथः–अभिलाषः, साधुतरफलः— साधुतरम्–अतीवोत्कृष्टं फलं यस्य स तथाभूतो जात इति शेषः । स्त्रिया सह पुत्रस्यापि लाभादिति भावः । अयमर्थः—शकुन्तलाप्रत्याख्यानरूपोऽर्थः, यद्वा—प्रत्याख्याता शकुन्तला प्रसूतपुत्रा सती मारीचाश्रमे एव वर्त्तत इत्येवंविषयः; अथवा—मम पुत्रपत्नीसमागमरूपो विषयः आखण्डलस्य—महेन्द्रस्य, न खलु विदितः–इन्द्रेण नैवावगतः ? [अत्र काका प्रश्नो गम्यते । यद्वा खल्विति प्रश्ने । अत्र विदित इति वर्त्तमाने क्तः, तद्योगादाखण्डलस्येति कर्त्तरि षष्ठी । अत्रापि प्रहर्षो नाम नाट्यालङ्कार उपक्षिप्तः । यथोक्तं दर्पणे—'प्रहर्षः प्रमदाधिक्यम्' ॥ इति । अन्यत्रापि—'प्रहर्षः प्रमदाद् वाक्यम् ॥' इति च ।

(२) मातेति । आखण्डलस्य देवराजत्वेनान्तर्यामितया न किमप्यगोचरमस्तीति जानतोऽपि राज्ञस्तादृशप्रश्नं निशम्य मातलिः सस्मितमनुवदति—किमित्यादि । ईश्वराणाम्—अणिमाद्यैश्वर्यशालिनाम्, किं—वस्तु, परोक्षम्—अगोचरम्, किमपि नेत्यर्थः । तथा च विदित एवायमर्थ आखण्डलस्येति भावः ।

भगवान्—षडैश्वर्यशाली, मारीचः—कश्यपः, अनेन तद्दर्शनस्यात्यावश्यकत्वं सूच्यते, दर्शनं—साक्षात्कार दर्शनावसरं वेति केचित् , इच्छति—आकाङ्क्षति । न तु त्वामागन्तुमादिशतीति भावः । अनेन राज्ञोऽपि कश्यपादेशानर्हत्वकथनेन प्रभावातिशयो द्योत्यते । एहीत्यादिना कविना मारीचप्रवेशसूचनं दत्तम् ।

(३) राजेति । अथ राजा मातलेर्वचनमङ्गीकुर्वन्नाह- प्रिये इति । अवलम्ब्यतां–

---

(१) राजा—मित्र की सहायता से मुझे सर्वोत्कृष्ट फल की प्राप्ति हुई है । मातलि ! क्या इन्द्र को यह विषय नहीं मालूम था ?

(२) मातलि—(मुस्करा कर) ऐश्वर्यशालियों के लिए कोई बात छिपी हुई नहीं रहती है ? चलिए भगवान् कश्यप आपको देखना चाहते हैं ।

(३) राजा—प्रिये ! बच्चे को सम्हालो, तुम्हें आगे कर के ही मैं भगवान् कश्यप का दर्शन करना चाहता हूँ ।

शकु—लज्जे खलु आर्यपुत्रेण सार्द्धं गुरुजनसमीपं गन्तुम् (१)।
(लज्जे क्खु अज्जउत्तेण सद्दं गुरुअणसमीवं गन्तुम् ।)
राजा—आचरितव्यमेतदभ्युदयकालेषु; तदेहि तावत् (२)।
[इति सर्वे परिक्रामन्ति] (३)।
[ततः प्रविशत्यदित्या सहासनोपविष्टो मारीचः] (४)
मारीचः—[राजानमवलोक्य] दाक्षायणि ! (५) अदिति

अङ्कमारोप्यताम्, पुरस्कृत्य—अग्रेसरीकृत्य, भगवन्तं—कश्यपम्, अनेनाभ्युदयसम्भावना सूचिता।

(१) शकु इति। अथ शकुन्तला राजनियोगानुष्ठानमङ्गीकुर्वती सलज्जमाह—लज्जे इति। आर्यपुत्रेण-भवता पत्या, सार्द्धं-सह। लज्जे-जिह्रेमि। पत्या सह गुरुजनसमीपे गमनं लज्जाकरमिति भावः। अनेन नायिकागतमौचित्यं ध्वनितम्।

(२) राजेति। शकुन्तलाया लज्जां परिहरन् संगतिमाह—आचरितव्यमिति। अभ्युदयकालेषु—मङ्गलोत्सवादिसमयेषु, एतत्—वन्दनार्थं गुरुजनसमीपे स्त्रीपुत्रैः सह भर्तुर्गमनम्, आचरितव्यं—विधातव्यम्। तथा चाभ्युदयिककालेषु भर्त्रा सह गुरुसाक्षात्कार आचार एवेति तत्र लज्जाकरणमनुचितम्, अतो न लज्जितव्यमिति भावः।

(३) इतीति। परिक्रामन्ति—कश्यपसमीपे गमनाय पादन्यासं कुर्वन्ति।

(४) तत इति। अदित्या-स्वपत्न्या सह, आसनोपविष्टः—एकासनस्थः, मारीचः—मरीचिपुत्रः कश्यपः, प्रविशति—लक्षणया जवनिकापसरणादिना सभ्यानां दृग्गोचरीभवति, आसनस्थस्य प्रवेशाभावात् मुख्यार्थबाधे लक्षणाकरणमिति बोध्यम्। अत्र वक्ष्यमाणेन मारीचवचनेन विस्मृतेः शापहेतुकत्वावगमात् नायिकाया नायके निरपराधित्वनिश्चयः, तस्मात् मिथोऽनुरागस्य भूयस्त्वम्, तथा पुत्रस्य चक्रवर्तित्वनिवेदनेन परमप्रीतिश्चेति द्रष्टव्यम्। अथ मारीचस्यासनोपविष्टत्वकथनेन कृतकर्मतया वन्दनयोग्यावसरत्वं व्यज्यते।

(५) मारीच इति। ततः अदित्या सार्द्धमासनस्थः प्रविष्टो मारीचः राजानं

---

(१) शकुन्तला—आर्यपुत्र के साथ गुरुजन के समीप जाने में मुझे शरम मालूम पड़ती है।

(२)—अभ्युदय के समय ऐसा करना ही चाहिये। इस लिए चलो।

(३) [सब जाते हैं]

(४) इसके बाद अदिति के साथ आसन पर बैठे कश्यप दिखाई पड़ते हैं।)

(५) मारीच—(राजा को देखकर) दक्षतनये !—

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्त्ता ।
चापेन यस्य विनिर्वर्त्तितकर्म्म जातं
तत् कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः ॥ २६ ॥

इष्ट्वा स्वपत्नीमाह—दाक्षायणीति । दाक्षायणीत्यदितेराभिजात्यबोधकं सम्बोधनम् । दक्षस्यापत्यं स्त्रीति तत्सम्बुद्धाविदं रूपम् । अत्र—

'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठपुत्रकलत्रयोः' ॥

इत्यादिना कलत्रनामग्रहणस्य निषेधात् मुनिना स्वकलत्रस्य नामग्रहणं न कृतमिति बोध्यम् ।

पुत्रस्येति । अयम्-उपस्थित एष पुरुषः, ते-तव, पुत्रस्य-इन्द्रस्य अनेन प्रीतिपात्रत्वं व्यज्यते, रणशिरसि-समरमूर्द्धनि, अग्रयायी-अग्रेसरः, सर्वेषां सैन्यानां पुरोगामीत्यर्थः, अनेन वीर्यातिरेको द्योत्यते, दुष्यन्त इति अभिहितः-दुष्यन्त इति नाम्ना लोके ख्यातः, अनेन भुवनविदितत्वं सूच्यते, भुवनस्य-भूमण्डलस्य मर्त्यलोकस्येति यावत्, भर्त्ता—पालकः. अनेन चक्रवर्त्तित्वं प्रजावात्सल्यं च व्यज्यते । एतत्कथनेनाप्यपरितुष्यन्ननितरसाधारणमवदानमस्याह-चापेनेत्यादि । यस्य—दुष्यन्तस्य, चापेन-धनुषा, चापे प्रयोजककर्तृत्वारोपणं चारुत्वार्थम्, विनिर्वर्त्तितं-सम्पादितं दानवहननादिति भावः । कर्म-विजयरूपं कार्यं यस्य तत् तथाभूतं सत् , तत्-प्रसिद्धम्, कोटिमत्-तीक्ष्णाग्रम्, निर्व्यापारत्वेन कुण्ठिताग्रत्वमित्यर्थः, कुलिशं-वज्रम्, मघोनः-इन्द्रस्य, आभरणम्-अलङ्कारस्वरूपम्, शोभामात्रफलकमिति यावत् , जातं-सम्पन्नम्; तथा च कुलिशं हि केवलं मघोनः करशोभामात्रं जनयति न तेन शत्रुपराजयः साध्यते, दुष्यन्तेनैव निखिलशत्रोर्हननादिति भावः । अत्र लोकातिशयवीर्यसम्पद्वर्णनादुदात्तालङ्कारः । तथा आभरणत्वं प्रति विनिवर्त्तितकर्मपदार्थस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । चापकर्तृककुलिशकर्मविनिवर्त्तनरूपकार्येण निखिलपरिपन्थिसंहारलक्षणं कारणं गम्यत इति पर्यायोक्तं, प्रस्तुताङ्कुरो वाऽलङ्कारः । आभरणमाभरणरूपमिति निरङ्गं केवलरूपकञ्च, वीररसोपस्कृता राजविषयिका रतिर्भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २६ ॥

तुम्हारे पुत्र देवराज के युद्ध में यह आगे चलनेवाला है, इसका दुष्यन्त नाम है और यह मर्त्यलोक का राजा है । इसके धनुष से वज्र का काम सम्पादित होकर इन्द्र का वह तीक्ष्ण वज्र इन्द्र के लिये अलङ्कारमात्र रह गया ॥ २६ ॥

अदितिः—सम्भावनीयप्रभावा अस्याकृतिः (१)। (सम्भावणीअप्पहावा से आकिदी।)

मात—आयुष्मन्! एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्तमवलोकयतः, तदुपसर्प (२)।

राजा—मातले!

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम्।

(१) अदितिरिति। उक्तमनुवदति। सम्भावनीयेति। सम्भावनीयः—ऊह्यः प्रभावः—शक्तिर्यया सा, 'प्रभावः शक्तितेजसोः' इति विश्वः, आकृतिः—मूर्तिः। यथा चास्याकृतिरेव तादृशालौकिकप्रभावं सूचयतीति भावः। उक्तं च—

'यत्राकृतिस्तत्र गुणा विशन्ति॥' इति।

(२) मातेति। मातली राजानमाह—आयुष्मन्निति। एतौ दिवौकसां—देवानां पितरौ—मातापितरौ अदितिकश्यपौ, आयुष्मन्तं—भवन्तम्, पुत्रप्रीतिपिशुनेन—पुत्रे—पुत्रसहचरत्वात्पुत्रस्वरूपे त्वयि या प्रीतिः—स्नेहः तस्याः पिशुनेन—सूचकेन, चक्षुषा नेत्रेण, उक्तं च—'सर्वे भावाश्चक्षुषी'ति, अवलोकयतः—पश्यतः। तत्—तस्मात्, उपसर्प—एतयोः समीपं गच्छेत्यर्थः।

राजेति। राजा अदितिकश्यपौ दृष्ट्वा मातलिं पृच्छति—मातले! इति। प्राहुरिति। मुनयः—व्यासादयः, अनेनैषां वाक्यस्य वेदमूलकत्वेन प्रामाण्याद् विषयेऽस्मिन् भ्रमप्रमादराहित्यं द्योत्यते, यत् द्वन्द्वं—मिथुनम् (कर्म), द्वादशधा—द्वादशभिः प्रकारैः स्थितस्य—विद्यमानस्य, द्वादशसु मासेषु द्वादशमूर्तिधरस्येत्यर्थः, तेजसः—सूर्यस्य, कारणं—प्रभवम्, प्राहुः—वदन्ति, अनेनास्य द्वन्द्वस्य जगत्त्रयविद्योतकस्याशेषक्रियाकलापकारणभूतस्य महामहिमतेजसः सूर्यस्योत्पादकत्वेन निरतिशयप्रभाशालित्वं व्यज्यते। यत्—द्वन्द्वम्; (कर्तृ) भुवनत्रयस्य—भूर्भुवःस्वर्लक्षणस्य न त्वेकस्य लोकस्य, भर्तारं—पालकं पोषकत्वेन धारणसमर्थं स्वामिनमिति यावत्, तथा यज्ञे भागो

(१) अदिति—इसकी आकृति देख कर ही इसके प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है।

(२) मातलि—आयुष्मन्! ये दोनों देवताओं के माता-पिता आपको पुत्र के समान प्रेमभरी दृष्टि से देख रहे हैं। इसलिये इनके पास चलिए।

राजा—मातलि!—

मुनिगण जिनको द्वादश कलाओं में विभक्त तेज (सूर्य) का पिता कहते हैं, जिन्होंने तीनों लोकों के राजा और यज्ञभाग के अधिकारी इन्द्र को उत्पन्न किया और ब्रह्मा से भी

यस्मिन्नात्मभुवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसम्भवमिदं तत् स्रष्टुरेकान्तरम् ॥ २७ ॥

येषां ते यज्ञभागाः—देवास्तेषामीश्वरम्-अधिपतिम्, न तु यस्य कस्यचित् एकस्याधिपतिम्, इन्द्रमिति तात्पर्यम्, सुषुवे—जनयामास । अनेनापि कोऽप्यतिशयो द्योत्यते । तथा यस्मिन्-द्वन्द्वे, आत्मभुवः-स्वयम्प्रभवात् ब्रह्मणः, परः-उत्कृष्टः पुरुषः-नारायणः, भवाय-वामनरूपेण जन्मने, आस्पदं-जन्यतासम्बन्धेन प्रतिष्ठाम्, चक्रे-कृतवान् । दक्षमरीचिभ्यां सकाशात् सम्भवतीति दक्षमरीचिसम्भवं—दक्षसम्भवा अदितिः मरीचिसम्भवः कश्यपश्चेत्युभयरूपमित्यर्थः, स्रष्टुः-विधातुर्ब्रह्मणः सकाशात्, एकेन—पुरुषेण दक्षेण मरीचिना च अन्तरं-व्यवधानं यस्य तत् तादृशम्, दक्षस्य-ब्राह्मणो वृद्धाङ्गुलीसम्भूतपुत्रत्वेन मरीचेस्तु तस्यैव मानसपुत्रत्वेन च ताभ्यामप्यदितिकश्यपयोर्जातत्वे नैवैकपुरुषव्यवधानमिति मुख्यत्वम्, अनेन ब्रह्मणस्तुल्यप्रभावत्वं ध्वन्यते, इदं पुरः दृश्यमानम्, तत-प्रसिद्धं, द्वन्द्वम्-अदितिकश्यपात्मकस्त्रीपुंसौ किम् ? काक्काऽयं प्रश्नो गम्यते । 'स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्' इत्यमरः । द्वादशात्मनः सूर्यस्यादितिसम्भवत्वमाह महाभारते—

'अदित्यां द्वादशादित्याः सम्भूता भुवनेश्वराः ।' इति । विष्णुपुराणेऽपि—

'तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव हि । अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च ॥
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च । अंशुर्भगश्चादितेश्च आदित्या द्वादश स्मृताः' इति ॥ ।

'द्वादशधा' इत्यस्य केचित्तु व्याख्यानान्तरमाकलयन्ति तद्यथा—'द्वादशधा स्थितस्य = द्वादशकलात्मकस्वेत्यर्थः' इति । द्वादश कला यथा—

'तपिनी तापिनी धूम्रा मरीचिर्ज्वालिनी रुचिः ।
सुषुम्ना भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा ॥' इति ।

इन्द्रस्य जनकावदितिकश्यपावित्याह तत्रैव विष्णुपुराणे—

'अदितेः कश्यपाज्जाता देवाश्चेन्द्रादयोऽनघ ! ।' इति ।

वामनरूपिणो नारायणस्यादितिकश्यपाभ्यामुत्पत्तिमाह तत्रैव च विष्णुपुराणे—

'मन्वन्तरे च सम्प्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज ! ।
वामनः कश्यपाद् विष्णुरदित्यां संबभूव ह ॥' इति ।

अत्राद्यपादत्रयेऽङ्गभूतमहापुरुषत्रयचरितवर्णनान्मालारूपोदात्तालंकारः ।

क्वचित् पुस्तके 'आत्मभुवः' इत्यत्र 'आत्मभवः' इति पाठान्तरम् तत्र आत्मना भवतीत्यात्मभवः-स्वयम्भूः, परः-परमः पुरुषो नारायण इत्यर्थः, प्रथमा-

प्रधान पुरुष नारायन वामन रूप मे जन्मग्रहण करने के लिये जिनका आश्रय लिये, दक्ष और मरीचि से उत्पन्न तथा ब्रह्मा के केवल एक पुरुष से व्यवहित क्या वह यही दम्पति है ? ॥ २७॥

मातलिः—अथकिम् (१)।

राजा—[प्रणिपत्य] उभाभ्यामपि वां वासवनियोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति (२)।

मारीचः—वत्स ! चिरं जीवन् पृथिवीं पालय (३)।

स्तपदमिदम्, यस्मिन्—द्वन्द्वे, भवाय-वामनरूपेणोत्पत्तये, आस्पदं—जन्यतासम्बन्धेन स्थितम्, चक्रे-कृतवान्—इति योजना। अस्मिन् पाठपक्षे आपाततः 'आत्मभवो भवाये'ति विरुद्धवत् प्रतीयमानत्वात् विरोधाभासोऽलंकारः। तथा प्रथमे चरणे 'कारणं' द्वितीयचरणे 'सुषुवे' तृतीये चरणे च 'भवायास्पदं चक्रे' इत्येकस्यैव कारणस्य पर्यायैर्ग्रहणादर्थावृत्तिरलङ्कारोऽपि। केचित्तु-'अदितिकश्यपयोर्महोत्कर्षप्रतिपादककार्यं प्रति नानाविधकारणोपन्यासात् समुच्चयालङ्कारोऽपी'त्याहुः। अत्र चादित्यादिविषयकरत्याद्युपस्कृता द्वन्द्वविषयिका रतिर्भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

(१) मातलिरिति। मातली राजोक्तमनुवदति—अथकिमिति। इदमेकमव्ययमङ्गीकारार्थकम्। त्वं यदात्थ तत्तथैवेत्यर्थः।

(२) राजेति। प्रणिपत्य—नम्रीभूय। राजा सपत्नीकं मारीचमुपगम्य प्रणमन्नाह—उभाभ्यामपीति। वासवनियोज्यः वासवस्य—इन्द्रस्य नियोज्यः—किङ्करः 'नियोज्यकिङ्करप्रैष्यभुजिष्यपरिचारकाः' इत्यमरः, एतेनात्मनोऽत्यन्तापकर्षो व्यज्यते तेन करुणापात्रत्वमपि, दुष्यन्तः—तन्नामधेयः, उभाभ्यामपि वां—युवाभ्याम्, अदितिकश्यपाभ्यामित्यर्थः उद्देश्यतामात्रविवक्षायां चतुर्थी, प्रणमति—नमस्कुरुते। अत्र गुरुपत्न्याः पादग्रहणपूर्वकाभिवादनस्य शास्त्रनिषिद्धत्वात्पादग्रहणमकृत्वैव अभिवादनसमये स्वनामग्रहणस्य च कर्त्तव्यत्वात् 'दुष्यन्त' इति नामग्रहणं कृत्वैव च प्रणामः कृत इति बोध्यम्। तदाह भगवान् मनुः—'गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्या तु पादयोः। पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता॥' इति 'तथा-'कामन्तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि। विधिवद् वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन्॥' इति। अभिवादनसमये नामग्रहणविधिमाह स एव भगवान्—'अभिवादात् परो विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्। असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्त्तयेत्॥' इति च।

स्त्रीणां पक्षे तु नैष विधिरिति अग्रे 'शकुन्तला पादयोः पतति' इति कविः स्वयमेव वक्ष्यते।

(३) मारीच इति। मारीच आशिषं प्रयुङ्क्ते—वत्स ! इति। वत्स ! इति

---

(१) मातलि—और क्या।

(२) राजा—(प्रणाम करके) इन्द्र का दास दुष्यन्त आप दोनों को प्रणाम करता है।

(३) कश्यप—वत्स ! बहुत समय जीते हुये प्रजा का पालन करो।

अदितिः—अप्रतिरथो भव (१)। (अप्पदिरधो होहि !)

[शकुन्तला पुत्रसहिता पादयोः पतति] (२)।

मारीचः—वत्से ! तव

आखण्डलसमो भर्त्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योज्या पौलोमीमङ्गला भव ॥ २८ ॥

अदिति—जाते ! भर्तुर्बहुमता भव। अयञ्च दीर्घायुः उभयपक्षमलङ्करोतु। एतम् उपविशतम् (३)। (जादे ! भत्तुणो बहुमदा होहि, अअञ्च

पितृचक्रवहारः पुत्रवात्सल्यं सूचयति। चिरं जीवन् चिरं पृथिवीं पालयेति चिरशब्दस्योभयत्राप्यन्वयः।

(१) अदितिरिति। अदितिरप्याशिषं प्रयुङ्क्ते-अप्रतिरथ इति। प्रतिपक्षशून्य इत्यर्थः। तथात्वे हि पृथिव्याः पालनं पुरन्दरस्य साहाय्यं चापपद्येतेति भावः।

(२) शकु इति। पादयोः—अदितिकश्यपयोरित्यर्थः।

मारीच आशिषं प्रयुङ्क्ते, वत्से ! इति आखण्डलेति। वत्से-पुत्रि शकुन्तले !, भर्ता—तव पतिर्दुष्यन्तः, आखण्डलसमः—आखण्डलेनसमर्थम्, प्रभावे सम्पत्तौ चेन्द्रतुल्य इत्यर्थः, तथा सुतः—पुत्रः सर्वदमनः, जयन्तप्रतिमः-जयन्तः-पाकशासनिः प्रतिमा-उपमा यस्य स तादृशः, जयन्ताख्येन्द्रपुत्रतुल्येत्यर्थः, अत एव, ते तव सम्बन्धे, अन्या—एतदतिरिक्ता, क्रियमाणेतरेति यावत्; आशीः—शुभाशंसनम्, न योज्या-अस्माभिर्न प्रवर्तनीया, अन्यासामाशिषामितो न्यूनत्वादिति भावः, केवलं पौलोम्याः-पुलोमदुहितुः शचीदेव्याः मङ्गलमिव मङ्गलं-सौभाग्यरूपं यस्याः सा तादृशी भव। अत्र भवेति पदं भवत्विति विपरिणामेनाद्यवाक्ययोरपि सम्बध्यते इत्याशीर्वादत्रयम्। यद्वाऽन्त्यवाक्ये एवाशीः पूर्ववाक्यद्वयं तत्साधकम्। तथा च-यथेन्द्राणी नियतमिन्द्रेणाविरहिता चिरमविधवा च तथा त्वं भूया इति भावः। एवञ्चात्र तृतीयपादार्थं प्रति प्रथमद्वितीयपादगतवाक्यार्थद्वयस्य हेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। उपमा च। तथा आशंसा नाम नाट्यालङ्कारश्चोपचिह्नः; 'आशंसनं स्यादाशंसा' इति दर्पणोक्तेः। वात्सल्यं भावः। अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ २८ ॥

(३) अदितिरिति। अदितिरप्याशिषं प्रयुङ्क्ते—जाते ! इति। भर्तुः—पत्युः,

---

(१) अदिति—विपक्षविहीन होओ।

(२) [पुत्र के साथ शकुन्तला भी उनको प्रणाम करती है]

कश्यप—वत्से ! इन्द्र के तुल्य तुम्हारा स्वामी है और जयन्त के समान तुम्हारा पुत्र है। इसलिये तुमको मैं यही आशीर्वाद देता हूं कि तुम इन्द्राणी के समान मंगलवती होओ ॥२८॥

(३) अदिति—पुत्री ! स्वामी की आदरणीया होओ और यह चिरंजीवी बालक

दीहाऊ उहअपक्खं अलङ्करेदु । एध उपविसध ।)

(सर्वे प्रजापतिमभित उपविशन्ति) (१) ।

(मारीचः—एकैकं निर्दिशन् ।) (२) ।

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी, सदपत्यमिदं, भवान् !

श्रद्धा, वित्तं, विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम् ॥ २९ ॥

बहुमता-अत्यादृता भव, ईदृशं दुःखं पुनः कदापि ते मा भूयादिति भावः, अयम् दीर्घायुः-चिरञ्जीवी ते पुत्रः सर्वदमनः, उभयपक्षं-मातृकुलं पितृकुलम्, अलङ्करोतु भूषयतु । सदाचारादिभिरित्यभिप्रायः । एतम्-आगच्छतम्, उपविशतम्-उपवेशनं कुरुतम्, युवामिति शेषः, नियोगोऽयम् ।

(२) तदङ्गीकारं दर्शयति—सर्वे इति । सर्वे—दुष्यन्तः मातलिः पुत्रसहिता शकुन्तला च, प्रजापतिं—कश्यपम्, अभितः—उभयपार्श्वयोः, तं परिवार्येत्यर्थः ।

(२) मारीच इति । निर्दिशन्—अङ्गुल्या दर्शयन्नित्यर्थः ।

अथ तेषां सङ्गममभिनन्दति-दिष्ट्येति । दिष्ट्या-भाग्येन, साध्वी-सच्चरित्रा पतिव्रतेति यावत् । शकुन्तला, इदं सदपत्यम्-अयं सत्पुत्रः, तथा भवान्-तत्तद्गुणगरिष्ठो भवान्, इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम्; तेन विशेषणक्रमभङ्गः परिहृतः । अत्र स्वानुभावयोग्यतरं दृष्टान्तमाह-श्रद्धेति । तत्-तस्मात्, श्रद्धा-आस्तिक्यबुद्धिः, वित्तं-धनसञ्चयः, विधिः-यागादिक्रिया, इति त्रितयम्—एतत्त्रयम्, त्रयवयवं वस्तु, समागतं—मिलितम् । तथा च शकुन्तला श्रद्धा सदपत्यं वित्तं भवांश्च विधिरेवेति भावः । यथेदमपत्यं शकुन्तलादुष्यन्तनिमित्तकमुपस्थितं तथा वित्तं श्रद्धाविधिभ्यां नोपस्थीयत इति महद्वैपम्येऽपि तथा श्रद्धावित्तयोगाद् यागाद्यनुष्ठापकरूपो विधिर्लोकमुपतिष्ठते तथा शकुन्तलातदपत्यसम्बन्धाद् भवान् मामुपतिष्ठत इति तात्पर्यार्थोऽध्यवसेयः । अत्र त्रितयपदेन समागमं प्रति प्रत्येकं तोषयता लीलाकथोरवज्ञा न कार्येति ध्वन्यते । अत्र च वस्तुतस्तदानीं श्रद्धावित्तविधीनां समागमाभावेऽपि तत्समागमे यज्ञादिकार्यमिव पुत्रसहितायाः शकुन्तलाया भवतः समागमे गार्हस्थ्यधर्मपालनं सुसम्पन्नं भविष्यतीति बोधनादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कारः । केचित्तु सम्भवद्वस्तुसम्बन्धैः श्रद्धावित्तविधिभिः शकुन्तलातदपत्य-

---

मातृ-पितृ उभयकाल को अलंकृत करे । आओ बैठो ।

(१) [सब लोग कश्यप के आस-पास बैठ जाते हैं ।]

(२) कश्यप—(एक एक का निर्देश करते हुये)—

यह साध्वी शकुन्तला, उत्तम पुत्र और तुम आज तीनों ही भाग्यवश एकत्रित हो, इससे मालूम होता है कि श्रद्धा, धन और भाग्य ये तीनों ही आज एकत्रित हो गये हैं ॥२९॥

राजा—भगवान् ! प्रागभिप्रेतसिद्धिः, पश्चाद्दर्शनम्; इत्यपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः । कुतः (१)— अपोद्धत्रः

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः ।
निमित्तनैमित्तकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ॥३०॥

दुष्यन्तानां बिम्बप्रतिबिम्बभावबोधनादेव निदर्शनेत्याहुः । 'त्रितयं वः समागतमि'ति पाठे एकैकं निर्दिशन्निति योजनया अभिरूपसमागमात् समालंकारोऽपि । यथासंख्या चेत्यप्याहुः । वः समागमः श्रद्धादीनां समागम इवेत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः । निदर्शनया च संगमस्य रम्यत्वजगदभ्युदयहेतुत्वादिकं पृथग्भावस्य शोच्यत्वादिकं च द्योत्यते । शकुन्तलादीनां प्रत्येकं श्रद्धादिसाम्यं च विवक्षितमिति तदनुरोधेनापत्यपदेन पुन्ननिर्देशः । तदुपमानवाचकस्य वित्तपदस्य नपुंसकत्वादित्यलं पल्लवितेन । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ २९ ॥

(१) राजेति । भगवन्-अणिमाद्यैश्वर्यपूर्ण !' 'देवानामपि ये देवा महात्मानो महर्षयः । भगवन्निति ते वाच्या यास्तेषां योषितस्तथा ॥' इति भरतोक्तेर्भगवन्निति सम्बोधनम्, अनेन तदनुग्रहस्याभिप्रेतसाधनसामर्थ्यं सूच्यते, अभिप्रेतस्तु पुत्रकलत्रसमागम इति बोध्यम् । तदेव व्याचष्ट-प्रागिति । अभिप्रेतस्य-अभिलषितस्य पुत्रकलत्रसमागमरूपस्येति यावत् । सिद्धिः—निष्पत्तिः, 'सिद्धिर्निष्पत्तियोगयोः' इति विश्वः, दर्शनं युष्माकमिति शेषः । इति हेतोः, वः—युष्माकम्, अपूर्वः खलु—विचित्र एव । प्राक् फलं पश्चाद्दर्शनमित्यपूर्वता । कथमेतदित्याह—कुत इति । अनेनात्मनः शकुन्तलावियोगदुःखनिर्याणसूचनात् समयाख्यं निर्वहणसन्धेरङ्गमत्रोपक्षिप्तम् । 'समयो दुःखनिर्याणमि'ति दर्पणोक्तेः ।

उक्तमर्थमुपपादयति-उदेतीति । पूर्वं फलसमागमात् प्राक्, कुसुमं-फलकारणीभूतं पुष्पम्, उदेति-उद्गच्छति, ततः—तदनन्तरम्, फलं—कुसुमकार्यभूतं फलम् उदेति; आम्रादीनामिति शेषः । तथा प्राक्-पयोवर्षणात् पूर्वं, घनोदयः-पयःकारणीभूतमेघाविर्भावो भवतीति शेषः, तदनन्तरं-ततः परम्, पयः-घनोदयकार्यभूतं वृष्टिजलं भवति । तथा च निमित्तनैमित्तिकयोः-कारणकार्यमात्रयोः अयम्—उक्तरूपः, क्रमः, पौर्वापर्यभावनियमः, सर्वत्र प्रतिनियम इति शेषः । तत्र व्यतिरेकमाह—तवेति ।

(२) राजा—भगवन् ! पहले तो हमारी अभीष्टसिद्धि हुई, बाद में आपका दर्शन हुआ । यह आपका अनुग्रह अनोखा है क्योंकि—

पहले फूल आते हैं, उसके बाद फल ! पहले मेघ दीखता है बाद में जल । इस तरह निमित्त और नैमित्तिक का क्रम बँधा हुआ है, पर आपकी कृपा का फल सम्पत्तियाँ पहले ही उपस्थित हो जाती हैं ॥ ३० ॥

मात—आयुष्मन्! एवं प्रसीदन्ति विश्वगुरवः (१)।

राजा—भगवन्! इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित् कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात् (२) प्रत्यादिशन्नप-

---

तु-किन्तु, तव प्रसादस्य-सत्परकारणीभूतानुग्रहस्या पुरः-पूर्वमेव, सम्पदः-कार्यभूत-पुत्रकलत्रादिलाभसम्पत्तयः। तथा चापूर्वः खलु वोऽनुग्रह इति भावः। सर्वत्राशिषोऽनन्तरं सम्पल्लाभस्य नियमोऽस्ति; अत्र तु शकुन्तलारूपसम्पल्लाभानन्तरमाशीः-प्रकाश इति निपुणं भवत आशिषो वैशिष्ट्यमिति तात्पर्यार्थः। अत्र तृतीयपादगतार्थं प्रति पूर्वार्द्धगतवाक्यार्थानां हेतुत्वेनोपन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। चतुर्थपादे तु कार्यकारणयोः पूर्वापरभावव्यतिक्रमनिबन्धनातिशयोक्तिश्चेत्यनयोः परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः। केचित्तु उदेतीति क्रियायाः सर्वत्र योजनादत्र क्रियादी-पकालङ्कार इत्याहुः। तथा मम सपुत्रशकुन्तलालाभ इति प्रस्तुतमनुक्त्वा संपद इति सामान्यवचनादप्रस्तुतप्रशंसा च। अत्र दृष्टान्तोऽलङ्कार इत्यन्ये। अत्र च प्रियोक्ति-र्नाम नाट्यलक्षणं प्रदर्शितम्; यथोक्तं दर्पणे—'स्यात् प्रमाणयितुं पूज्यप्रियोक्तिर्हर्ष-भाषणम्।' इति विस्मयोऽत्र भावः। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ३० ॥

(१) मातेति। अत्र नास्ति विस्मयावकाश इत्याशयेनाह-एवमिति। विश्व-गुरवः=विश्वेषां निखिलानां गुरवः—स्रष्टारः, 'कश्यपात् सकलं जगत्' इत्युक्ते, क्वचित् "विधातार" इति पाठः, तत्र स एवार्थः पर्यायतया कर्त्तव्यः, एवम् इत्थम्प्रकार-मेव, प्रसीदन्ति-अनुगृह्णन्ति। तथा च भवतायं लौकिकः कार्यकारणभाव उक्तः, अलौकिकस्तु भिन्न एव क्रमः, इच्छासिद्धयो विश्वगुरवो यद् यदेवेच्छन्ति तत्तदेव सम्पद्यत इति नात्र किञ्चिदपूर्वत्वमिति भावः।

(२) राजेति। अथ राजा प्रियाविस्मरणकारणं जिज्ञासमानः पृच्छति-भगव-न्निति। अनेनास्य दिव्यज्ञानसम्पत्तिः प्रकाश्यते, वः-युष्माकम्, आज्ञाकारिणी-परि-चारिकाम्, इमः-शकुन्तलाम्, अङ्गुल्या निर्देशः, विनयोक्तिरियम् उपयम्य-परिणीय कस्यचित् कालस्यातिक्रमानन्तरमिति शेषः, किञ्चित्कालानन्तरमित्यर्थः, आनीतां-मत्समीपमुपस्थापिताम्, इमां शकुन्तलामिति सम्बन्धः, स्मृतिशैथिल्यात्=स्मृतिभ्रं-शात्; स्मृतेर्दुर्बलत्वादिति तात्पर्यम्, तेन स्थायिन्या रतेरविच्छेदान्न तत्त्वतः स्मृते-

---

(१) मातलि—आयुष्मन्! जो जगत् के गुरु हैं वे इसी तरह प्रसन्न होते हैं।

(२) राजा—भगवन्! आज्ञाकारिणी इस शकुन्तला के साथ पहले मैंने गान्धर्व विवाह किया था। कुछ समय बीतने पर जब इसके बान्धव इसे मेरे पास ले गये। उस समय

राद्धोऽस्मि, अत्र भवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य, पश्चादेनामङ्गुरीयकदर्शनारूढस्मृतिः ऊढपूर्वामवगतोऽहम्, तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति !

यथा गजो साधु समक्षरूपे कस्मिन्नपि क्रामति संशयः स्यात् ।
पदानि दृष्ट्वाऽथ भवेत् प्रतीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥ ३१ ॥

रभाव इति सूचितम्, प्रत्यादिशन्-निराकुर्वन्-अत्रभवतः-पूजनीयस्य, युष्मत्सगोत्रस्य-भवद्वंशीयस्येत्यर्थः, कण्वस्येति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, अपराद्धः-कृतापराधोऽस्मि, तत्कन्यायाश्च तस्याः प्रत्याख्यानात्परम्, अङ्गुरीयकदर्शनेन—नामाङ्कितमुद्रादर्शनेन आरूढा-उदिता समुत्पन्नेति यावत्, स्मृतिर्यस्य तादृशः अहम्, ऊढपूर्वां-पूर्वं परिणीताम्, इमां शकुन्तलामिति सम्बन्धः, अवगतः-ज्ञातवान्, तत्-स्मृतिशैथिल्यं साक्षाद्दृष्टायामज्ञानमङ्गुरीयकदर्शनाच्च ज्ञानमित्यर्थः, चित्रमिव—आश्चर्यमिव, मे-मम सम्बन्धे, प्रतिभाति-प्रकाशते । 'युष्मत्सगोत्रस्य' इत्यत्र 'युष्मद्गोत्रस्य' इति पाठान्तरम्, तत्र-यूयमेव गोत्राणि यस्य तस्य, भवत्सन्ततेरित्यर्थः, 'सन्ततिर्गोत्रजननकुलानि' इत्यमरः ।

अत्राद्भुतलक्षणस्य शकुन्तलाप्राप्तिचरितस्य वर्णनाद् निर्वहणसन्धेरुपगूहनं नामाङ्गमुपक्षिप्तम् । यदुक्तं दर्पणे-'तद्भवेदुपगूहनं, यत्स्यादद्भुतसम्प्राप्तिः' । इति ।

अथ स्वप्रतीतेरसम्भवद्दृष्टान्तप्रदर्शनेन चित्रत्वमुपपादयति—यथेति । साधु-सम्यक्, समक्षं—प्रत्यक्षीभूतं रूपम् आकृतिर्यस्य तस्मिन् तथोक्ते; कस्मिन्नपि गजे हस्तिनि, क्रामति—तिरोहिते सति, तथा संशयः—'गजो वा न वा' इति सन्देहः स्यात्—भवेत् । अथ—अनन्तरम्, पदानि—तस्यैव गजस्य पादन्यासप्रतिबिम्बानि, दृष्ट्वा, प्रतीतिः—'अयं दृष्टो गज एव' इति निश्चयात्मकः प्रत्ययो भवेत् । मे—मम, मनसः—चित्तस्य, तथाविधः-तादृशः, विकारः-अन्यथात्वभावः, आसीदिति शेषः । तथा च पूर्वमस्यामुपगतायामियं न मम भार्येति पुनस्तिरोहितायाम् 'इयं किं परिणीतपूर्वा' इति पश्चादङ्गुलीयदर्शनेन 'मम भार्यैवे'ति च प्रतीतिर्जातेति भावः । क्वचित्-'यथा गजो नेति समक्षरूपे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात् ।' इति पाठान्त-

विवाह की बात भूल जाने के कारण इस का तिरस्कार कर मैं आपके वंशज पूज्य कण्व ऋषि का अपराधी हुआ । उसके बाद अंगूठी देखने पर मुझे वह बात याद आयी कि मैंने तो शकुन्तला के साथ विवाह किया था । मैं सोचता हूं कि उस समय हमारी वह विस्मृति भी विचित्र थी वह तो वैसा ही हुआ—

जैसे कोई हाथी ठीक अपने सामने से निकल जाय, बाद में संशय हो कि हाथी गया है या नहीं । उसके बाद उसके पैरों का निशान देख कर यह निश्चय किया जाय कि हाथी ही गया है । इसी प्रकार मेरे मन का भी विचार हुआ ॥ ३१ ॥

मारीचः—वत्स ! अलमात्मापराधशङ्कया, सम्मोहोऽपि त्वय्युपपन्न एव । श्रूयताम् (१) ।

राजा—अवहितोऽस्मि (२) ।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात् प्रत्याख्यानविक्लवां शकुन्तलामादाय दाक्षायणीमुपगता मेनका, तदैव ध्यानादवगतवृत्तान्तोऽस्मि, दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा; स चाङ्गुरीयदर्शनावसानः शाप इति (३) ।

रम्, तत्र स एवार्थः । अत्रासम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शनेति केचित्, परे तु श्रौतो पमेयमिति वदन्ति । अत्राप्यद्भुतो रसो वर्णितः 'कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्' इति वचनात् । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ३१ ॥

(१) मारीच इति । अथ मारीचो राज्ञः कण्वविषयकात्मापराधशङ्कां निरस्यन् प्रकृतघटनां वक्तुमुपक्रमते—वत्स ! इति । आत्मापराधशङ्कया—आत्मनो योऽपराधः—शकुन्तलाप्रत्याख्यानद्वारा कण्वमहर्षौ समाचरितो दोषः तस्य शङ्कया—सम्भावनया अलं—न प्रयोजनम्, शकुन्तलाप्रत्याख्यानद्वारा कण्वमहर्षौ समाचरितोऽपराधो नाशङ्कनीयः यतः स चापराधः शकुन्तलाया एवेति भावः । ननु सर्वदा प्रबुद्धस्य मम तदानीं कथं तादृशः सम्मोहोऽभूदित्याशङ्कामपनयति—सम्मोह इति । सम्मोहः—स्मृतिभ्रंशः उपपन्न एव—युक्त एव । सम्मोहस्योपपन्नत्वे कारणं दर्शयति—श्रूयतामिति । सम्मोहकारणं वर्णयामि तदाकर्णयेत्यर्थः ।

(२) राजेति । अवहितः श्रवणाय कृतमनोयोगोऽस्मि ।

(३) मारीच इति । सम्मोहकारणं वक्ति—यदैवेति । अप्सरस्तीर्थावतरणात् अप्सरस्तीर्थस्य—तन्नाम्ना प्रसिद्धस्य शचीतीर्थस्य ववतरणाव् घट्टात् प्रत्याख्यानविक्लवां—निराकरणकातराम् । दाक्षायणीम्—अदितिम् उपगता—शकुन्तलाया रक्षणार्थमुपस्थिता । तदैव—तस्मिन्नेव क्षणे ध्यानात्—प्रणिधानात्, योगजप्रत्यक्षेणेतियावत्, अवगतवृत्तान्तः—ज्ञातसमाचारोऽस्मि । तपस्विनी—दीना । प्रत्यादिष्टा-प्रत्याख्याता । अङ्गुरीयकदर्शनावसानः अङ्गुरीयकदर्शनमेवावसानं—समाप्तिर्यस्य स तथोक्तः

---

(१) कश्यप—वत्स ! तुम अपने को अपराधी होने की शंका न करो । उस समय इस तरह की विस्मृति हो जाना स्वाभाविक ही था । सुनो ।

(२) राजा—मैं सावधान हूँ ।

(३) कश्यप—जिस समय त्याग हो जाने के कारण विह्वला उस शकुन्तला को मेनका शचीतीर्थ से लेकर यहाँ अदिति के पास आयी, उसी समय मैंने ध्यान से वह

राजा—[सोच्छ्वासमात्मगतम्] एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि (१) !

शकु:—[स्वगतम् ।] दिष्ट्या अकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्रः । न पुनः शप्तमात्मानं स्मरामि । अथवा न श्रुतः शून्यहृदयया मया अयं शापः, यतः सखीभ्यामत्यादरेण सन्दिष्टास्मि, 'स राजा यदि त्वां न स्मरति, तदा इदमङ्गुरीयकं दर्शयसि' इति (२) ! (दिट्ठिआ अआरणपच्चादेशी ण अज्जउत्तो । ण उण सत्तं अत्ताणं सुमरेमि। अधवा ण सुदो सुण्णाहिअआइ मए अअं सावो, जदो सहीहिं अच्चाअरेण सन्दिट्ठम्हि 'सो राआ जइ तुमं ण सुमरदि, तदा एदं अङ्गुलीअअं दंसेसि'त्ति ।)

तथा च दुर्वाससः शापादेव त्वयि सम्मोहः समुत्पन्न इति भावः । अत्र 'मारीचः' वत्स, अलमात्मापराध—' इत्यादिना 'दर्शनावसानः' इत्यन्तेन निर्णयो नाम निर्वहणसन्धेरङ्गमुपक्षिप्तम्, यदुक्तं दर्पणे-'निर्णयः पुनः, अनुभूतार्थकथनम्' इति । दशरूपकेऽपि-'अनुभूताख्या तु निर्णयः' इति च । यथा रत्नावल्याम्-'यौगन्धरायण—[कृताञ्जलिः] देव ! श्रूयताम्, इयं सिंहलेश्वरदुहिता' इत्यारभ्य 'यदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः' इत्यन्तेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानित्यत्र निर्णयो नाम निर्वहणसन्धेरङ्गमिति धनिकेनोपदर्शितम् ॥

(१) राजेति सोच्छ्वासं-सदीर्घनिश्वासम् । उच्छ्वासो भयविच्छेदानुभावः, भयं च लोकापवादात्। वचनीयात्-विनापि कारणं शकुन्तला निराकृता इति लोकापवादात्, निन्दावादादिति यावत्, मुक्तोऽस्मि-दुर्वाससः शापात् विनष्टस्मृतितयेदृशसमाचरणस्य लोके प्रचारणसम्भवादिति भावः ।

(२) शकु इति । राजकृतनिजप्रत्याख्यानकारणं निशम्य शकुन्तला स्वगतमाह-दिष्ट्येति । दिष्ट्या-भाग्येन, अकारणप्रत्यादेशी-कारणं विनैव मम निराकरणकारी न । दुर्वाससः शापरूपस्य गुरुतरकारणस्य जागरूकत्वादिति भावः । तथा च नार्यपुत्रस्य दोष इति तात्पर्यम् । शप्तं-तच्छापवादविषयम् । शून्यहृदयया-चिन्तावशादन्यमनस्कया, भर्तृप्रेरितमनसेत्यर्थः। सखीभ्याम्—अनसूयाप्रियंवदाभ्याम्, सन्दिष्टा—पतिगृहप्रस्थानकाले उपदिष्टा । तथा च असति शापे तपोवनात्

सब वृत्तान्त जान लिया था कि दुर्वासा के शाप से इसके स्वामी होते हुए भी तुमने इसे त्याग दिया है और अंगूठी का दर्शन ही उस शापका अन्त था ।

(१) राजा—(ठंढी सांस लेकर स्वगत) लो, बदनामी से छुटकारा मिला ।

(२) शकुन्तला—(स्वगत) भाग्यवश महाराज ने अकारण नहीं त्यागा था । किन्तु मुझे यह बात याद नहीं आती कि मुझे दुर्वासा ने शाप दिया था । अथवा मैं उस समय शून्यहृदय थी, इससे वह शाप सुन ही न पाया हो । क्योंकि चलते समय मेरी सखियों ने

मारीचः—[शकुन्तलां विलोक्य ।] वत्से ! विदितार्थासि । तदिदानीं सहधर्म्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः करणीयः । पश्य (१)—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिलोपरूक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव ।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥ ॥ ३२ ॥

पतिगृहे गमनवेलायामनसूयाप्रियंवदाभ्यां 'यदि प्रत्यभिज्ञानमन्थरो राजा त्वां न स्मरिष्यति तदास्मै इदमङ्गुरीयकं दर्शयिष्यसि' इत्येवं कथं वोक्तमभूदित्याशयः। अत्रापि निर्णयो नाम निर्वहणसन्धेरङ्गमुपन्यस्तमिति केचित् । लक्षणं तु पूर्वं प्रदर्शितम् ।

(१) मारीच इति । अथ कश्यपः शकुन्तलायाः 'संशयं समूलमुन्मूलयितुमाह—वत्से इति। विदितार्था—अवगतवस्तुतत्त्वाऽसि । अत्र काक्वा प्रश्नः । तत किमित्याह—सहेति । सहधर्मचारिणं—भर्त्तारम्, मन्युः—आत्मप्रत्याख्याननिबन्धनः क्रोधः, 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि'इत्यमरः, न करणीयः—न कर्त्तव्यः; तथात्वे तु गार्हस्थ्यधर्माचरणस्यैव व्याघातः स्यात् व्याघाते च महान् प्रत्यवाय आपतेदित्याशयः । अत एव सहधर्मेत्युक्तम् ।

अथ परमार्थं विवृणोति—शापादिति । भर्त्तरि—पत्यौ दुष्यन्ते, शापात्—अभिशापात् दुर्वाससः इति शेषः, अनेन तस्य दोषाभाव उक्तः; स्मृतिलोपरूक्षे—स्मृतिलोपेन—स्मृतिभ्रंशेन रूक्षे—प्रत्याख्याननिष्ठुरे सतीत्यर्थः, प्रतिहता त्वं निराकृताऽसि । अधुना अपेतम्—अपगतं तमः—मोहो यस्य स तथोक्ते, भर्त्तरि—तस्मिन्नेव पत्यौ, तवैव प्रभुता—पत्नीलभ्यं प्रभुत्वं सहवासादिविषये वर्तत इति शेषः, नान्यस्या इति भावः । तथा च छाया—प्रतिबिम्बम्, 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातप' इत्यमरः, मलोपहतप्रसादे—मलेन—आगन्तुकेन धूल्यादिसंसर्गजन्यमालिन्येन उपहतः—विलुप्तः प्रसादः—स्वच्छता यस्य तस्मिन् तथोक्ते, दर्पणतले—मुकुरोपरि, न मूर्च्छति—न पतति तु—परन्तु शुद्धे—निर्मले तस्मिन्नेव दर्पणतले, सुलभावकाशा—सुलभः—अभ्याहत्या

विशेष आदर का प्रदर्शन करते हुए मुझसे कहा था कि—'यदि राजा तुम्हें भूल जायँ तो उन्हें यह अंगूठी दिखा देना ।'

(१) कश्यप—(शकुन्तला पर दृष्टिपात करते हुए) वत्से ! समस्त वृत्तान्त तुम्हें मालूम हो गया है । इसलिए अब कभी अपने स्वामी पर कोप न करना । देखो—

दुर्वासा के शापवश भूल जाने के कारण इन्होंने निष्ठुरभाव से तुम्हारा तिरस्कार किया था । अब जब इनको वह बात याद आ गयी है तब तो इन पर तुम्हारा ही प्रभुता हो गयी । क्योंकि दर्पण पर यदि धूल आदि हो तब तो प्रतिबिम्ब अच्छी तरह नहीं दीखता और यदि दर्पण निर्मल हो तब प्रतिबिम्ब अच्छी तरह दीखता है॥ ३२ ॥

राजा--यथाह भगवान् (१) ।

मारीचः--वत्स ! कच्चिदभिनन्दितस्त्वया अस्माभिर्विधिवदनुष्ठित-जातकर्मादिक्रियः पुत्र एष शाकुन्तलेयः (२) ?

राजा--भगवन् ! अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा । [इति बालकं हस्तेन गृह्णाति ।] (३)

मारीचः--भाविनं चक्रवर्तिनमेनमवगच्छतु भवान् । पश्यतु (४)--

लब्धः अवकाशः--प्रवेशो यया सा तथोक्ता भवत्येवेति शेषः, अत्यन्तं व्यक्ता दृश्यत इत्यर्थः । अत्र 'भर्तरि' इति पदोपादानेन तस्य भरणपोषणकारणशीलत्वं न केवलं वैधव्यविरोधिचिह्नरूपत्वमिति ध्वन्यते । अत्र च यो भर्ता स प्रभुः या तु वनिता सा गुणभूतैवेति शास्त्रस्थितौ प्रकृते तु भर्तृत्वं तस्मिन् प्रभुता चास्यामित्यसङ्गतेर-सम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः । तथा छायाशकुन्तलयोः साधर्म्यस्य बिम्बानुबि-म्बभावबोधनाद् दृष्टान्तोऽलङ्कारोऽपि । तेन मनसः प्रसादस्य नैसर्गिकत्वं सूच्यते । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

(१) राजेति । राजा मुनिवचनमनुवदति-यथेति । तथा च भवान् यदुक्तवान् तत्सत्यमेव; एतद्वचनानुरूपमेवाचरणीयमिति भावः ।

(२) मारीच इति । अस्माभिः-मया अन्यमुनिगणेन समम्, बहुवचनबलाद् यमर्थो बोध्यः, केचित्तु बहुवचनेन मुनेर्वेदविरव-विदितसकलमन्त्रतन्त्रानुष्ठानत्वेन्द्र-गुरुत्वादिधर्मशतं द्योत्यते—इति वदन्ति, विधिवत्—यथाशास्त्रम् अनुष्ठिताः—कृताः जातकर्मादिक्रियाः यस्य सः, अनेनातिपवित्रता च द्योतिता, शाकुन्तलेयः—शकुन्त-लाया अपत्यमिति विग्रहः, शकुन्तलागर्भसम्भूत इत्यर्थः, एषः—पुरःस्थितः, पुत्रः—पुन्नामकनरकपरित्राता सन्तानः अनेनाभिनन्दने हेतुरुपदर्शितः, त्वया अभिनन्दितः—अतिशयेनादृतः कच्चित् ?, इत्यहं वेदितुमिच्छामीत्यर्थः । 'कच्चित् कामप्रवेदने' इत्यमरः ।

(३) राजेति । अत्र खलु-अस्मिन्नेव शाकुन्तलेये पुत्रे इत्यर्थः । पुत्रान्तराभावा-दिति भावः, वंशस्य—कुलस्य प्रतिष्ठा-स्थितिः, पुरुकुलसन्ततेरयमेव निदानम् । तस्मात् कथं नाभिनन्दामि ? इत्याशयः ।

(४) मारीच इति । एन-पुत्रम्, भाविनं-भविष्यन्तम्, चक्रवर्तिनं सम्राजम्

---

(१) राजा—आपका कहना यथार्थ है ।

(२) कश्यप—वत्स ! जिसका मैंने विधिपूर्वक जातकर्म संस्कार आदि कार्य कर दिया है, उस शकुन्तला के पुत्र का तुमने अभिनन्दन किया या नहीं ?

(३) राजा—भगवन् ! इस बालक ही पर तो मेरे वंश का भार अवलम्बित है । (यह कहकर बालक को हाथों से उठाता है ।)

(४) कश्यप—आप इसे भावी चक्रवर्ती समझें : देखिए—

शाकुन्तलेयः नि:सपत्नः

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥३३॥

राजा—भगवत्कृतसंस्कारेऽस्मिन् सर्वमाशंसे (१)।

अवगच्छतु-जानातु। अयमेव तव पुत्रः कालेन चक्रवर्ती भविष्यतीत्यवधेहीत्यर्थः। चक्रवर्तित्वमुपपादयितुमाह-पश्यत्विति।

तदेवोपपादयति-रथेनेति। अयम्-एषः शाकुन्तलेयः अप्रतिरथः-निःसपत्नः सन्, अनुद्घातेन-अभूतलस्पर्शात् प्रतिघाताभावेन स्तिमिता-निश्चला स्थिरेत्यर्थः, गतिः-गमनं यस्य तेन तादृशेन, रथेन-रथाकारेण व्योमयानेन, प्रसिद्धरथेन जलधितरणानुपपत्तेः, तीर्णाः-लङ्घिताः जलधयः-सप्तद्वीपपरिखाभूताः सप्त समुद्राः येन तथाविधः सन् पुरा-आगामिनि काले, सप्तद्वीपां-जम्बूप्लक्षादिसप्तद्वीपसमेताम्, समग्रामिति तात्पर्यम्, वसुधां-रत्नधात्रीं पृथिवीम्, जयति-जेष्यतीत्यर्थः, 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' (पा०) इति पुरायोगे भविष्यदर्थे लट्। इह-अस्मिन्नाश्रमे, सत्त्वानां—सिंहव्याघ्रादिजन्तूनाम् 'सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः, प्रसभं—हठेन बलेन वा दमनात्—शासनाद्धेतोः, सर्वदमनः—सर्वदमननामा, अयं—बालः, पुनः—भूयोऽपि, लोकस्य—भुवनस्य, भरणात्—रक्षणात् पोषणाद् वा, भरत इति आख्यां-संज्ञां, इतिनाऽभिहितत्वात् प्रथमा, यास्यति—प्राप्स्यति। तथा च महाप्रभावोऽयं बालकस्त्वया निश्चिन्तेनावश्यमेवाभिनन्दनीय इति भावः। अत्र भाविनो वसुधाजयस्य प्रत्यक्षायमाणत्वाद् भाविकालङ्कारः काव्यलिङ्गञ्च। सप्त द्वीपानाह विष्णुपुराणम्—

जम्बूप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलिश्चापरो द्विज!।
कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः॥

इति शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३३ ॥

(१) राजेति। तदुक्तमनुमोदते—भगवदिति। भगवत्कृतसंस्कारे—भगवता—अणिमाद्यैश्वर्यशालिना भवता कृताः—विहिताः संस्काराः—जातकर्मादिक्रियाः यस्य तस्मिन् तादृशे, अस्मिन्—मम पुत्रे; शाकुन्तलेये, सर्वं—जलधितरणादिकं भवदुक्त-

आपका यह पुत्र शत्रुविहीन होकर किसी को हानि न पहुँचाते हुए गंभीर गतिसे अपना रथ समुद्रके पार तक ले जायगा और सप्तद्वीपवती पृथिवीको जीतेगा। इस आश्रमके सभी जन्तुओं का इसने दमन कर दिया था, इसलिए इसका सर्वदमन यह नाम पड़ गया था। भविष्यमें समस्त जगत् का भरण करनेके कारण इसका 'भरत' यह नाम पड़ेगा ॥३३॥

(१) राजा—स्वयं आपने इसका संस्कार किया है, इसलिये इन सभी बातों की आशा की जा सकती है।

अदितिः—अनया दुहितृमनोरथसम्पत्त्या कण्वस्तावत् श्रुतविस्तारः क्रियताम्, दुहितृवत्सला मेनका पुनरिह मां परिचरन्ती सन्निहितैव (१)। (इमाए दुहिदिमणोरहसम्पत्तीए कण्णो दाव सुदवित्थारो करीअदु, दुहिदिवच्छला मेणआ उण इध मं परिअरन्ती सण्णिहिदा ज्जेव ।

शकु—[आत्मगतम्] मनोगतं मे व्याहृतं भगवत्या (२)। (मणोगदं मे वाहरिदं भअवदीए ।)

प्रकारम्, आशंसे—सम्भावये । भवत्कृतसंस्कारशक्तिमूलकतयैवास्य सर्वाः सम्पदः सम्पत्स्यन्ते इत्याशयः। तथा चोक्तम्—

चित्रं कर्म यथानेकै रङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारविधिपूर्वकैः॥ इति ।

अत्र 'मारीचः—वत्से, विदितार्थाऽसि' इत्यादिना 'आशासे' इत्यन्तेन प्रसादाख्या लक्षणं निर्वहणसन्धेरङ्गमुपन्यस्तम् । तल्लक्षणं तु—

'शुश्रूषाद्युपसंपन्ना प्रसादस्तु प्रसन्नता' इति–इत्यर्थद्योतनिकायां राघवभट्टाः।

(१) अदितिरिति । अथादितिः कर्त्तव्यं विमृश्याह—अनयेति । दुहितृमनोरथ-सम्पत्त्या–दुहितुः–सुतायाः शकुन्तलायाः यः मनोरथः–प्रियसमागमरूपः सर्व्वं प्रति-ग्रहरूपो वा तस्य या सम्पत्तिः–सिद्धिस्तया, श्रुतविस्तारः–श्रुतः–आकर्णितः विस्तारः विस्तृतवृत्तान्तो व्यासोक्तिरामूलवर्णनं येति यावत्, येन सः तादृशः क्रियताम् कण्व-स्यापि एतदभ्युदयसंविभागो भवत्विति भावः। 'ननु मातुर्मेनकाया निमित्तं किमनु-ष्ठेयमित्याह—दुहितृवत्सलेति । दुहितरि–शकुन्तलायां वत्सला–स्नेहवती, मेनका; मां परिचरन्ती–शुश्रूषमाणा, पुनरिह–आश्रमे, सन्निहितैव–उपस्थितैवास्ति । तथा च मेनकान्तिके संवाददानाय नोद्वेगः करणीयस्तथा सर्वमिदं वृत्तान्तजातं ज्ञातमेवे-ति भावः।

(२) शकु इति । शकुन्तला अदित्युक्तमभिनन्दति—मनोगतमिति । मे–मम, मनोगतम्–अभिप्रेतम्, भगवत्या–अदित्या, व्याहृतम्—उक्तम् । तथा च तातस्य कण्वस्यान्तिके वार्त्ताप्रेषणं ममाभिप्रेतमासीत् तदेव भगवत्या प्रस्तुतमित्यर्थः । अत्र कृतिर्नामाङ्गमुपक्षिप्तम्, तल्लक्षणन्तु—

---

(१) अदिति—कन्या की यह अभिलाषा पूर्ण हो गयी है। अतएव इसका विस्तृत समाचार कण्व के पास भेज देना चाहिये। कन्यावत्सला मेनका तो हमारी सेवा करती हुई यहाँ ही है।

(२) शकुन्तला—(स्वगत) आपने मेरे मन की बात कही।

मारीचः--तपःप्रभावात् सर्वमिदं प्रत्यक्षं तत्रभवतः कण्वस्य (१)।

राजा—अतः खलु ममानतिक्रुद्धो मुनिः (२)।

मारीचः--तथाऽप्यसौ दुहितुः सपुत्रायाः पत्या परिग्रहप्रियमस्माभिः श्रावयितव्यः। कः कोऽत्र भोः (३)?

शिष्यः--[प्रविश्य] भगवान्! अहमस्मि (४)

मारीचः--वत्स! गालव! मद्वचनादिदानीमेव वैहायस्या गत्या (६)

'लब्धस्यार्थस्य शमनं कृतिरित्यभिधीयते'। इति।
दर्पणेऽपि—'लब्धार्थशमनं कृति'रिति विश्वनाथः प्राह।

(१) मारीच इति। मारीचः प्रबोधयति—तप इति। तपःप्रभावात्—तपो बलेन, तत्रभवतः—अपत्यत्वेऽपि नैष्ठिकब्रह्मचारितया महातपस्वित्वेन च मान्यस्य; कण्वस्य—तन्नाममहर्षेः, सर्वमिदं—दुष्यन्तसमागमादिरूपं वृत्तान्तजातम्, प्रत्यक्षम्-अनुभूयमानमस्तीति शेषः; तथा च तत्र वार्त्ताहरप्रेषणे नातिप्रयोजनमिति भावः

(२) राजेति। अतः खलु—ध्यानबलेन विदिताद्यन्तवृत्तान्तत्वादेव, मुनिः—कण्वः; मम सम्बन्धे, अनतिक्रुद्धः—नातिक्रुद्धः अतिशब्दसामर्थ्यात् किञ्चित् क्रुद्ध एवेत्यर्थः। तथा च तपोबलेन विदिताद्यन्तवृत्तान्ततया दुर्वासःशापवृत्तान्ते ज्ञातेऽपि कन्यादुःखदर्शनेन मयि किञ्चित् क्रुद्ध एवेति भावः।

(३) मारीच इति। अथ लौकिकाचारमनुसरन्नाह-तथापीति। तथापि-तपःप्रभावात् कण्वस्य विदिताखिलवृत्तान्तत्वेऽपि, सपुत्रायाः—पुत्रयुक्तायाः, दुहितुः शकुन्तलायाः, पत्या-दुष्यन्तेन, परिग्रहप्रियं-ग्रहणरूपप्रीतिकरविषयमित्यर्थः, श्रावयितव्यः—निवेदयितव्यः, तथैव लोकाचारादिति भावः। कः कोऽत्रेति सन्देशार्थम्।

(४) प्रविश्येति। शिष्यः प्रविश्यात्मानं निवेदयति—भगवन्निति। अयमस्मि अहमिति शेषः।

(५) मारीच इति। सन्देशप्रकारं वक्ति—वत्स! इति। गालव इति शिष्य-

---

(१) कश्यप—तपोबल से श्रीयुत कण्व को सब बातें प्रत्यक्ष हो जाती हैं।

(२) राजा—इसलिये वे मुझ पर विशेष नाराज नहीं होंगे।

(३) कश्यप—फिर भी पुत्र के साथ कन्या को पति (तुम) ने स्वीकार कर लिय है, यह आनन्ददायक संवाद उनको सुनाना ही चाहिए। कौन, यहाँ कौन है?

(४) शिष्य—(आकर) भगवन्! यह मैं हूँ!

(५) कश्यप—वत्स गालव! मेरे कथनानुसार तुम अभी आकाशमार्ग से जाकर कण्वको

तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन परिगृहीतेति ।

शिष्यः--यथाज्ञापयन्ति गुरवः [इति निष्क्रान्तः] (१)

मारीचः--[राजानं प्रति ।] वत्स ! त्वमपि सापत्यदारः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य स्वां राजधानीं प्रतिष्ठस्व (२) ।

राजा--[सप्रणामम्] यदाज्ञापयति भगवान् (३)

नाम, मद्वचनात्-मम वचनमवलम्ब्य, ल्यब्लोपे पञ्चमी, इदानीमेवेति विलम्बासहत्वं द्योतयति, वैहायस्या--आकाशवर्त्तिन्या गत्या, अनेन शीघ्रगमनं सूच्यते । किं तदावेदनीयमित्याह--यथेति । तच्छापनिवृत्तौ, तस्याः--शकुन्तलायाः सम्बन्धे यः शापः--दुर्वासःकृताभिसम्पातस्तस्य निवृत्तौ-अवसाने, स्मृतिमता-शकुन्तलापरिणयविषये लब्धस्मृतिना ।

(१) शिष्य इति । गुर्वादेशमङ्गीकुर्वन्नाह--यथेति । गुरव इति मान्यार्थे बहुवचनम् । निष्क्रान्तः--वैहायस्या गत्या कण्वसमीपं प्रस्थितः ।

(२) मारीच इति । अथोपसंहर्तुमिच्छन् राजानमाह-वत्स ! इति । सम्बुद्ध्या स्नेहातिरेकः सूच्यते, सापत्यदारः-पुत्रकलत्रसहितः, सख्युः-सुहृदः, आखण्डलस्य-इन्द्रस्य, रथं-व्योमयानम् । स्वां--स्वकीयाम्, राजधानीं--प्रधाननगरीम्, 'प्रधाननगरी राज्ञां राजधानीति कथ्यते' इति शब्दार्णवः, प्रतिष्ठस्व--गच्छ ।

अत्रापि--'मारीचः-वत्से, विदितार्थाऽसि' इत्यारभ्य 'प्रतिष्ठस्व' इत्यन्तेन सन्दर्भेण च कर्त्तव्यविषयाणामुपन्यासात् निर्वहणसन्धेर्ग्रथनाख्यमङ्गमुपक्षिप्तम्; इति केचित्, तल्लक्षणं तु प्रागुपदर्शितम् ।

(३) राजेति । सप्रणामं--प्रणतिपूर्वकम्, प्रस्थानकालिकप्रणामोऽयम् । राजा कश्यपादेशमङ्गीकुर्वन्नाह--यदेति ।

यह सुखजनक समाचार सुनाओ कि शकुन्तला का शाप निवृत्त हो गया, राजा दुष्यन्त को भूली बात याद आ गयी। इसीलिये उन्होंने अपनी पुत्रवती पत्नी को अंगीकार कर लिया है ।

(१) शिष्य--जैसी गुरुजनों की आज्ञा । (चला जाता है ।)

(२) कश्यप--(राजा से) वत्स ! तुम भी पुत्र और स्त्री के साथ अपने मित्र इन्द्र के रथ पर बैठ कर अपनी राजधानी को प्रस्थान करो ।

(३) राजा--(प्रणाम करके) प्रभु की जैसी आज्ञा ।

मारीचः—सम्प्रति हि—

तव भवतु विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयालम् ।
युगशतपरिवृत्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥ ३४ ॥

राजा—भगवन् ! यथाशक्ति श्रेयसे यतिष्ये (१) ।

मारीचः—वत्स ! किन्ते भूयः प्रियमुपहरामि ? (२)

मारीच इति । गमनारम्भसमुचितामाशिषं प्रयुङ्क्ते—तवेति । विडौजाः–इन्द्रः, विट्-व्यापकमोजो यस्येत्यन्वर्थम्, प्रजासु विषये, प्राज्यवृष्टिः–प्राज्या–प्रभूता वृष्टिर्यस्मात् स तथोक्तो भवतु । 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः, इन्द्रो वृष्टिकरणेन ते प्रजाः पालयत्वित्यर्थः । त्वमपि—दुष्यन्तोऽपि; विततयज्ञः–वितताः–सम्यक् सम्पादिताः यज्ञाः येन सः तथोक्तः सन्, इदं प्रीणनप्रकारकथनम्, वज्रिणम्—इन्द्रम्, अलम्:—अत्यर्थम्, प्रीणय-यज्ञभागैस्तर्पय । युगशतं सत्यादिक्रमेण शतयुगं व्याप्य परिवृत्तैः–जातविनिमयैः, एवं–एवम्प्रकारैः, उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः–उभयोर्लोकयोः—स्वर्गमर्त्ययोरनुग्रहेण–यज्ञवृष्टिभ्यामुपकारेण श्लाघनीयैः–प्रशंसनीयैः अन्योन्यकृत्यैः अन्योन्यस्य—परस्परस्य कृत्यैः कर्त्तव्यैः–कर्मभिः, जयतं–सर्वोत्कर्षेण वर्त्तेथाम्, युवामिति शेषः । तथा च स्वर्गमर्त्याधिपयोर्द्वयोर्युवयोः परस्परोपकार्योपकारकत्वसम्बन्धप्रीतिभङ्गः कदापि मा भवत्विति भावः । अत्र परिवृत्तिरलङ्कारः, 'परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्' इति लक्षणात् । मालिनीनाम वृत्तम् ॥ ३३ ॥

(१) राजेति । सविनयमनुवदति-भगवन्निति । श्रेयसे-कल्याणाय, यथाशक्ति शक्तिमनतिक्रम्येत्यव्ययीभावः—यत्नं करिष्ये ।

(२) मारीच इति । उपसंहारमुखेन प्रियचिकीर्षया राजानं प्रत्याह-वत्स इति ।

कश्यप—अब से—

इन्द्र तुम्हारी प्रजा में विशेष वृष्टि करे और तुम भी विस्तृत भाव से यज्ञ कर इन्द्र को अत्यन्त सन्तुष्ट करो । स्वर्ग और मर्त्य इन दोनों लोकों का उपकार करने के कारण प्रशंसनीय होते हुए तुम दोनों सैकड़ों युगों तक परस्पर मिल—जुल कर कार्य करते हुए उत्कर्ष लाभ करो ॥ ३४ ॥

(१) राजा—भगवन् ! यथाशक्ति मैं कल्याण-प्राप्ति की चेष्टा करूँगा ।

(२) कश्यप—वत्स ! और तुम्हारा क्या कार्य प्रिय करूँ ?

राजा--अतः परमपि प्रियमस्ति ? तथाप्येतदस्तु (१) ?

[भरतवाक्यम् !] (२)

प्रवर्त्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहती न हीयताम् । श्रवणमधुरा

भूयः-पुनः ते-तव सम्बन्धे, प्रियम्-इष्टम्, उपहरामिः-उपनयामि, उपहाररूपेण नियच्छामीत्यर्थः । अनेन मारीचस्यौदार्यं प्रकाश्यते । अत्र 'मारीचः-सम्प्रति हि- 'तव भवतु बिडौजा' इत्यादिना 'प्रियमुपहरामि' इत्यन्तेन काव्यसंहारो नाम निर्वहणसन्धेरङ्गमुपन्यस्तम् ।

(१) राजेति । अतः—पुत्रदारसमागमादिरूपमनोरथसिद्धेः 'तव भवतु' इत्यादिना प्रदत्ताशिषश्च; परम्-अधिकम् , प्रियं-प्रीतिकरं वस्तु, अस्त्यपि—वर्त्तते किम् ?, इतोऽन्यत् किमप्यधिकं प्रियं नास्त्येवेत्यर्थः । अथ गृहीतराजभूमिकस्तदानीं निजवचनमाह—तथापीति । नेदं राजवचनं राज्ञा प्रियान्तरस्यानभ्यर्थितत्वादिति मन्तव्यम् ।

(२) भरतवाक्यमिति । नटवाक्यमित्यर्थः । नाटकाभिनयसमाप्तौ सामाजिकेभ्यो नटेनाशीर्दीयते, अत्र प्रस्तावनानन्तरं नटानामेव तत्तत्पात्ररूपेण रङ्गालये आविर्भूततया पुनस्तद्रूपेणाविर्भावासम्भवाद् भरतवाक्यमित्युक्तमिति बोध्यम् ।

प्रवर्त्ततामिति । पार्थिवः-पृथिवीपतिः, अनेन प्रकृतिहितकरणे औचित्यं सूच्यते, प्रकृतिः—सम्राज्ञी तस्या हिताय-हितं कर्तुं न स्वात्मतुष्टये इत्यर्थः, प्रवर्त्तताम्-प्रवृत्तिमान् भवतु, तथा सत्येव प्रजानां राज्ञश्च सुखं स्यादिति भावः, अनेन राज्ञे लोकपालनविषये आशीः प्रदत्ता । श्रुतौ—श्रवणविषये महती-प्रशस्ता श्रवणमधुरेत्यर्थः, श्रुतिभिः-वेदैः, 'देवीं वाचं वृणीमहे' इत्यादिवेदवाक्यैः महती-प्रकाशितमाहात्म्येति वा सरस्वती-वाग्देवी कविकृतभारती वा, न हीयताम्—लोकैर्न त्यज्यताम्, अनेन विदुषामाशीरुक्ता । सम्प्रति आत्मनो विषये आशिषमाह—ममापीति । परिगता—परितो व्याप्ता शक्तिः सामर्थ्यं यस्य सः, यद्वा परिगता—मिलिता,देहार्धतामापन्नेति यावत्, शक्तिः शिवा यस्य स तथोक्तः, आत्मना भवतीत्यात्मभूः स्वयम्भूः नीललोहितः—नीलश्चासौ लोहितश्चेति सः; वामे नीलः दक्षिणे लोहितश्च शिव इत्यर्थः, ममापि च-दुष्यन्तस्य भरतस्य च; कालिदासस्येति च द्योत्यते, पुनर्भवं—पुनर्जन्म, क्षपयतु—विच्छिनत्तु, तत्त्वज्ञानप्रदानेनेति भावः ।

(१) राजा—भगवन् ! क्या इससे भी बढ़कर कोई प्रिय कार्य हो सकता है ? फिर भी

(२) [भरत का वचन]

राजा लोग प्रजाओं की भलाई की चेष्टा करें, वेद जिसको महिमा गाते हैं वह सरस्वती

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥ ३५ ॥

केचित्तु—'सरस्वती श्रुतिमहतां महीयसाम्' इति द्वितीयचरणं पठन्ति, तत्र—श्रुत्या वेदज्ञानेन शास्त्रश्रवणेन वा महतां गरिष्ठानाम्, अनूचानानां ब्राह्मणानामित्यर्थः। सरस्वती–वाणी, महीयतां–पूजां लभतामित्यर्थः, महीङ् पूजायां कण्ड्वादिरकर्मकः।

परे तु तत्र 'श्रुतमहतां महीयसाम्' इति पठन्ति, तत्र; श्रुतेन–शास्त्रश्रवणेन महतां गरिष्ठानाम्, महीयसाम्–उत्कृष्टानामुत्कृष्टशक्तिमतां कवीनाम्, विशेषणेनैव विशेष्य-प्रतिपत्तेर्न विशेष्योपादानम्, सरस्वती—वाणी, प्रवर्त्ततामित्यनुषज्यते।

अन्ये तु—'श्रुतिमहिता महीयसाम्' इति तत्रैव पठन्ति, तत्र—श्रुतिमहिता—श्रोत्रेन्द्रियपूजिता, चमत्कारिणीति यावत्, महीयसां–महाकवीनाम्, सरस्वती-काव्यात्मिका भारती, प्रवर्त्ततामित्यनुषज्यते; अनेककवीन् प्रत्याशीरुक्ता। तथा च सरस्वती–स्वकविता महीयसां श्रुतिमहिता सती प्रवर्त्ततां–प्रकर्षेण सर्वोत्कर्षेण वर्त्ततामिति कवेराशयः। अत्र 'परिगतशक्ति'रित्यनेन शक्तिसेवाद्वारा। पुनर्जन्मनिवृत्ति-र्भवतीति द्योत्यते। तथा चोक्तम्—

'वामे मरकतश्यामा दक्षिणे विद्रुमारुणा।
देवता दम्पतिमयी सा मे कामदुघा भवेत्' ॥ इति।

'आत्मभूः' इत्यनेन शक्तिस्तदायत्तेति च व्यज्यते।

भगवतः सदाशिवस्य नीललोहितत्वे पौराणिकी वार्त्ता–पुरा जुह्वतो ब्रह्मणो ललाटस्वेदे यत्तेजोऽधिष्ठितं तदग्नौ निपत्य नीलं भूत्वा लोहितमभूत्, तस्माच्च जात-त्वेन नीललोहित इति प्रसिद्धिरिति। अत्र प्रकृतपद्ये परमशैवेन कविना भगवतः शङ्करस्य सकल–सकलनिष्कल—निष्कलेषु स्वरूपेषु सकलस्यैव त्रिलोचनत्वनीलक-ण्ठत्वबालार्द्धविग्रहवत्त्वादिविशिष्टस्य स्वरूपस्य सकलसाधकाभीष्टप्रदानसामर्थ्यं भा-वयता तदेवात्र वर्णितम्। 'सरस्वती श्रुतिमहती न हीयताम्' इत्यत्र हानाभावं प्रति श्रुतिमहतीत्यस्य हेतुतयोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। पाठान्तरपक्षे तु प्रथ-मार्द्धे क्रियासमुच्चयः श्लेषश्चार्थालङ्कारः वृत्त्यनुप्रासरूपः शब्दालङ्कारोऽपि। इह च निर्वहणसन्धेः प्रशस्तिर्नामाङ्गमुपन्यस्तम्, यथा दशरूपके–प्रशस्तिः शुभशंसनम् ॥' पद्येऽत्र परमेश्वरविषयकरतिर्भावः। रुचिरा वृत्तम्। तल्लक्षणन्तु—'जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः' इति ॥ ३५ ॥

(देववाणी—संस्कृत भाषा) कभी विनष्ट न हो—उसे संसार के लोग त्यागें नहीं। और सर्वशक्तिमान महादेवजी हमारे पुनर्जन्म को निवृत्त कर दें ॥ ३५ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।] (२)

सप्तमोऽङ्कः ।

समाप्तमिदं महाकविश्रीकालिदासविरचितमभिज्ञान-
शाकुन्तलनामकं नाटकम् ।

(१) इतीति । इति—एवमुक्तौ सत्याम्, सर्वे—भरताः, निष्क्रान्ता-रङ्गभूमितः प्रस्थिताः ।

नत्वा शिवं साम्बमूर्त्तिं कालिदासस्य भारतीम् ।
ध्यात्वा किशोररचिता व्याख्या पूर्त्तिमगादिह ॥
उत्कलीयोऽपि भूतेशक्षेत्रे श्रीकाशिकाह्वये ।
निवसन् विदुषां गोष्ठ्यामिमामकरवं स्वयम् ॥

इत्युत्कलकविताऽर्कदार्शनिकयास्कश्रीनवकिशोरकरशास्त्रिकृत-
किशोरकेलिव्याख्यायां सप्तमाङ्कव्याख्या समाप्ता ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

(१) (इसके बाद चले जाते हैं ।)

सप्तम अङ्क समाप्त

इति साहित्यशास्त्रि पं० रामतेजपाण्डेयेन विहितो
भाषानुवादः समाप्तः ।

हिन्दी-नोट्स

(पं० कान्तानाथ शास्त्री तेलंग एम० ए०)

प्रथम अङ्क

पृ. १—अभिज्ञानशाकुन्तलम्—अभिज्ञानं भावे ल्युट्, शकुन्तलायाः इदं शाकुन्तलं 'तस्येदम्' इत्यण्, अभिज्ञानञ्च तत् शाकुन्तलञ्च अभिज्ञानशाकुन्तलं, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः शकुन्तला की पहिचान, अभेदोपचार से नाटक भी अभिज्ञानशाकुन्तलं कहलाता है। अथवा अभिज्ञानं शाकुन्तलं यत्र तत् अभिज्ञानशाकुन्तलं, वह नाटक जिसमें शकुन्तला पहिचानी जाती है। अथवा अभिज्ञायते अनेन इत्यभिज्ञानं, करणे ल्युट्, पहिचानने का साधन अर्थात् अङ्गुलीयक, अभिज्ञानेन स्मृतं अभिज्ञानस्मृतं, अभिज्ञान से पहिचाना हुआ, शकुन्तलायाः इदं शाकुन्तलं, अण्, शकुन्तला का अर्थात् पाणिग्रहण, अभिज्ञानस्मृतञ्च तत् शाकुन्तलञ्च अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्गुलीयकरूप अभिज्ञान से पहिचाना हुआ शकुन्तला का पाणिग्रहण, अभेदोपचार से नाटकरूप ग्रन्थ भी अभिज्ञानशाकुन्तल, कहा जाता है। अथवा अभिज्ञानं करणे ल्युट्, शकुन्तलाम् अधिकृत्य कृतं नाटकं शाकुन्तलम्, 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इत्यण्, अभिज्ञानप्रधानं शाकुन्तलम् अभिज्ञानशाकुन्तलं, शाकुन्तल नाटक जिसमें अङ्गुलीयकरूप अभिज्ञान प्रधान है। कुछ लोग इस नाटक का नाम अभिज्ञानशकुन्तलं मानते हैं। उनके अनुसार विग्रह इस प्रकार होगा—अभिज्ञानं करणे ल्युट्, अभिज्ञानेन स्मृता अभिज्ञानस्मृता, अभिज्ञानस्मृता शकुन्तला अभिज्ञानशकुन्तला, शाकपार्थिवादि समास, अभेदोपचार से नाटक भी अभिज्ञानशकुन्तल कहा जाता है। नाटक की संज्ञा होने पर पद का लिङ्ग बदल कर नपुंसक हो जायगा और 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इस नियम से पद के अन्त का स्वर ह्रस्व हो जायगा। या सृष्टिः—यह मङ्गल पद्य है। ग्रन्थ के आरंभ में मंगल करना चाहिये। मंगल तीन प्रकार का होता है—आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक। यहां आशीर्वादात्मक मंगल किया गया है। आद्या सृष्टिः = जल, 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्' मनुस्मृ०। वस्तुतः जल आदि सृष्टि नहीं है। दर्शनशास्त्रों में जो सृष्टि का क्रम बतलाया गया है उससे इसका मेल नहीं बैठता। तैत्तिरीय उपनिषद् में सृष्टि—क्रम इस प्रकार बतलाया है—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी-इत्यादि। मनु ने भी अग्नि से जल की उत्पत्ति मानी है। 'ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः'—मनु०

१–७८। या विधिहुतं हविः वहति—जो तनु विधिपूर्वक हवन किये हुए हवि (घृतादि) को देवताओं के पास पहुँचती है, अर्थात् अग्नि। जिस हवि का विधिपूर्वक हवन नहीं किया जाता वह जलकर राख हो जाती है। उसे अग्नि देवताओं के पास नहीं पहुँचाता। इसलिए केवल हुतं न कहकर विधिहुतं कहा गया है। या च होत्री—यजमान भी हवन-काल में शिव का अङ्ग होता है। ये द्वे कालं विधत्तः—दिन और रात के रूप में काल का विभाग करनेवाले सूर्य और चन्द्र शिव की दो मूर्तियाँ हैं। कुछ लोगों के मत में कालविभाग करने के लिए केवल सूर्य ही पर्याप्त है। इस सम्बन्ध में चन्द्र का उल्लेख व्यर्थ है। परन्तु यहाँ यह न भूलना चाहिये कि काल के संबन्ध में चान्द्र और सौर दो मान प्रचलित हैं। अतः यदि यहां सूर्य और चन्द्र दोनों का उल्लेख किया जाय तो कोई आपत्ति की बात नहीं है। श्रुतिविषयगुणा—इस शब्द के द्वारा कवि ने आकाश का परामर्श किया है। शब्द कान का विषय है। न्यायशास्त्र के अनुसार वह आकाश का गुण है। रघुवंश में भी कवि ने इसी प्रकार आकाश का परामर्श किया है। 'अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः' इत्यादि, रघु० १३–१। विद्वानों का मत है कि कालिदास के ग्रन्थों में केवल इन्हीं दो स्थानों पर न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। सर्वबीजप्रकृतिः = पृथ्वी। सर्वेषां बीजानां प्रकृतिः। यहां बीज शब्द का अर्थ धान्य है। पृथ्वी सब धान्यों का मूल कारण है। वस्तुतः यहां प्रकृति शब्द द्वितीया विभक्ति में होना चाहिये। यां सर्वबीजप्रकृतिं आहुः। परन्तु 'इति' इस निपात से कर्म उक्त हो गया है। अतः उक्त कर्म में प्रथमा हुई है। क्वचित् निपातेनाऽभिधानम्। 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'—सि० कौ०, कारक प्र०। यया प्राणिनः प्राणवन्तः—शिवजी की जिस मूर्त्ति के द्वारा सब जीव प्राण धारण करते हैं, अर्थात् वायु। प्रत्यक्षाभिः—यद्यपि शिवजी की वायु और आकाश रूप दो मूर्तियों का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता तथापि वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है और आकाश में भी नीलरूप की भ्रान्ति होती है। इसी दृष्टि से कवि ने तनुभिः का प्रत्यक्षाभिः विशेषण दिया। अष्टाभिः—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और यजमान ये शिव की आठ मूर्तियां हैं। 'पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च। सूर्याचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यष्टमूर्तयः'। यादव। 'सूर्यो जलं मही वह्निर्वायुराकाशमेव च। दीक्षितो ब्राह्मणश्चन्द्र इत्येता अष्टमूर्तयः'—कूर्म पु०। कालिदास ने अपने ग्रन्थों के मंगलपद्यों में शिव की स्तुति की है। इससे यह न समझना चाहिये कि वे कट्टर शैव थे। वस्तुतः वे सब देवताओं की पूजा करते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में ब्रह्मा और विष्णु का भी स्मरण बड़ी श्रद्धा से किया है। शिव उनके इष्टदेव थे, अतः वे उनकी विशेष रूप से उपासना करते थे। उनके ग्रन्थों से वे वेदान्ती प्रतीत होते हैं।

पृ. ३—नान्द्यन्ते—नाटकों के मंगलपद्य को नान्दी कहते हैं। 'आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः। नान्दीति कथ्यते'—आदि भरत। 'देवतादेर्नमस्कारो गुरूणामपि च स्तुतिः। गोब्राह्मणनृपादीनामाशीर्नान्दीति कोहलः'—कोहलाचार्य। 'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता'—विश्वनाथ। नान्दी अष्टपदा अथवा द्वादशपदा होती है। 'पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत'। कुछ लोग नान्दी को चतुष्पदा और षोडशपदा भी मानते हैं। 'तां षोडशपदामेके केचिदाहुश्चतुष्पदाम्'। यहाँ पद का अर्थ 'सुबन्त और तिङन्त पद' पद्य का एक चरण अथवा अवान्तर वाक्य माना जाता है। 'श्लोकपादः पदं केचित् सुप्तिङन्तमथापरे। परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे—' नाट्यप्रदीप। 'या सृष्टिः' इत्यादि पद्य में चार चरण होने के कारण इस नान्दी को चतुष्पदा अथवा आठ अवान्तर वाक्य होने के कारण अष्टपदा कह सकते हैं। इस नान्दी में अभिधेय वस्तु के बीज का उपन्यास किया गया है अतः इसे पत्रावली नान्दी कहते हैं। 'यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः'। श्लेषेण का समासोक्त्या नान्दी पत्रावलीति सा'—नाट्यदर्पण। इसमें बीजोपन्यास कैसे किया गया है यह जानने के लिये किशोरकेलि टीका पृ. ४ में देखिये।

पृ. ५—सूत्रधार—नाट्योपकरणों को सूत्र कहते हैं। उसे धारण करने वाला सूत्रधार कहलाता है। 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते। सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः'। कुछ लोगों के अनुसार नाटकीय कथासूत्र की प्रथम सुचना देने वाले को सूत्रधार कहते हैं। नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते। रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते'। यह सूत्रधार ही नान्दी का पाठ करता है। 'सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रितः'—भरत। वस्तुतः सूत्रधार का नाम नान्दी के पहले ही लिखना चाहिये। परन्तु वैसा नहीं किया जाता। क्योंकि वैसा करने से अमङ्गल होगा। ग्रन्थ का आरंभ मंगलपद्य से होना चाहिये।

नेपथ्याभिमुखम्—नेपथ्य शब्द के अनेक अर्थ हैं पर्दा, पर्दे के पीछे का स्थान जहां पात्र वेश धारण करते हैं, सजावट और पात्रों की वेशभूषा, इन अर्थों में नेपथ्य शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ इसका अर्थ पर्दा है। नेपथ्यविधानं—वेशरचना।

पृ. ६—दीक्षागुरु=पण्डित, निष्णात। विक्रमादित्य—ये एक राजा थे। कालिदास इन्हीं की सभा के कवि थे। इनके काल के विषय में विद्वानों का मतभेद है। अभिरूपभूयिष्ठा—अभिरूपाः पण्डिताः भूयिष्ठा बहुतराः यस्यां सा अभिरूपभूयिष्ठा, पण्डितों से भरी हुई। परिषद्=सभा। वस्तु=कथावस्तु। नामधेय—नाम एव नामधेयं। नाम शब्द से स्वार्थ में धेय प्रत्यय हुआ है। भागरूपनामभ्यो धेयः—वा। उपस्थातव्यं=आराधना करनी चाहिये। प्रतिपात्रं—

पात्रे पात्रे इति प्रतिपात्रं, प्रत्येक पात्र के विषय में। आधीयतां यत्नः = यत्न करो।

पृ. ७—सुविहितप्रयोगतया—सुविहितः प्रयोगः येन सः सुविहितप्रयोगः, तस्य भावः, तत्ता, तया। आप अभिनय कला में निष्णात हैं इसलिये; अथवा आपने पात्रों को अभिनयकला की अच्छी शिक्षा दी है, इसलिये; अथवा आपने अभिनय की अच्छी व्यवस्था कर दी है, इसलिये। यहां 'आर्यस्य' को 'सुविहितप्रयोगतया' अथवा 'न किमपि परिहास्यते' दोनों में से किसी के भी साथ लगाया जा सकता है। न परिहास्यते=त्रुटि नहीं होगी, न्यूनता नहीं होगी। परिहास्यते यह 'हा' धातु का रूप है, हस् का नहीं। कथयामि ते भूतार्थ—ते यह चतुर्थी का रूप है। 'कर्मणा यमभिप्रैति तत् सम्प्रदानम्' इससे सम्प्रदान संज्ञा हुई है। अथवा 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' त्वां बोधयितुं कथयामि। भूतार्थ = सत्य। आ परितोषात्—परितोष पर्यन्त। 'आङ् मर्यादावचने' इस नियम से 'आङ्' के योग में 'परितोषात्' में पञ्चमी की गई है। यहां 'आङ्' का 'परितोषात्' के साथ समास नहीं है। यदि समास होता तो 'आपरितोषं' हो जाता। अतः 'आ' को 'परितोषात्' से अलग रखना चाहिये। प्रयोगविज्ञानं = अभिनय कला का ज्ञान।

पृ. ८—बलवदपि इत्यादि—अच्छी तरह शिक्षित लोगों के भी चित्त को अपने विषय में विश्वास नहीं होता। यहाँ 'बलवत्' का अन्वय 'शिक्षितानां' अथवा 'चेतः' दोनों में से किसी के साथ हो सकता है। राघवभट्ट के अनुसार 'अप्रत्यय' में अविमृष्टविधेयांश दोष है। इसके परिहार के लिये 'स्वस्मिन् प्रत्येति नो चेतः' यह पाठ करना चाहिये।

पृ. १०—सुभगसलिलावगाहाः—सु अतिशयेन भगः यत्नः येषु ते सुभगाः, 'भगशब्दो यशोज्ञानवीर्ययत्नार्कयोनिषु'-धरणिः, सलिलेषु अवगाहाः सलिलावगाहाः, सुभगाः सलिलावगाहाः येषु ते तथोक्ताः, जिन दिनों में जल में उतरना बहुत अच्छा लगता है। पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः—पाटल = गुलाब का फूल। यहाँ राघवभट्ट के अनुसार 'सुरभि' का अर्थ 'मनोज्ञ' है। मनोज्ञता का कारण शीतल-स्पर्श है। सुगन्ध तो पाटलसंसर्ग से ही व्यक्त हो जाती है। पुनः उसके लिये 'सुरभि' शब्द का प्रयोग करना पुनरुक्ति होगा। वन शब्द से मान्द्य व्यक्त होता है। समासवाक्य—पाटलानां संसर्गः येषु ते पाटलसंसर्गाः, पाटलसंसर्गाश्च सुरभयश्च वनवाताः येषु ते तथोक्ताः। वसन्त का अन्त होकर ग्रीष्म का आरंभ हुआ है। अतएव गुलाब का संसर्ग संभव है। प्रच्छायसुलभनिद्राः—प्रकृष्टा छाया येषु प्रदेशेषु ते प्रच्छायाः, तेषु सुलभा निद्रा येषु ते तथोक्ताः दिवसाः। परिणामरमणीयाः-परिणामे रमणीयाः, सायंकाल के समय मनोहर कालिदास को ग्रीष्मऋतु बहुत प्रिय है। 'प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षमवारिसंचयः। दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये—देखिये ऋतुसंहार।

पृ. ११—सुकुमारकेसरशिखानि—सुकुमाराः केसराणां शिखाः येषु तानि तथोक्तानि, अथवा सुकुमाराणि केसराणि एव शिखा येषां तानि तथोक्तानि। अवतंसयन्ति—अवतंसं कुर्वन्ति। 'तत्करोति तदाचष्टे' णिच्। कर्णभूषण बनाती हैं। दयमानाः–यह शब्द यह झलकाता है कि स्त्रियाँ प्रमदा होने पर भी फूलों को नरम हाथ से तोड़कर कानों में पहिनती हैं जिससे वे कुम्हला न जायँ।

पृ. १२—आलिखित इव—चित्रित की तरह। रङ्ग—रङ्गभूमि में बैठे हुए सभ्य प्रेक्षक। प्रयोगं—यहाँ यह शब्द सामान्यतः अभिनेय वस्तु के लिए आया है।

पृ. १३—प्रस्तावना—नाटक के आरम्भ का वह भाग जिसमें, सूत्रधार नटी अथवा किसी अन्य पात्र के साथ भाषण करते हुए नाटक की सूचना देता है, प्रस्तावना कहलाता है। इसी को आमुख भी कहते हैं। 'सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम्। स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेऽपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्। प्रस्तावना वा—दशरूपक। दशरूपक के अनुसार प्रस्तावना-कथोद्घात, प्रवृत्तक और प्रयोगातिशय भेद से तीन प्रकार की होती है। जहाँ सूत्रधार के 'एषोऽयम्' इस वाक्य से पात्र का प्रवेश होता है; वहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना होती है। प्रकृत नाटक में सूत्रधार के 'एष राजेव दुष्यन्तः' इस वाक्य के अनन्तर राजा मंच पर आता है। इसलिए यहाँ प्रयोगातिशय नाम की प्रस्तावना है। एषोऽयमित्युपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगतः। पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः–दशरूपक।

पृ. १२—कृष्णसार—यह एक प्रकार का मृग है। चितकबरा होने पर भी इसमें कालापन अधिक होता है। अधिज्यकार्मुके–ज्यां अधिगतं अधिज्यं, कर्मणे युद्धाय प्रभवति इति कार्मुकं अधिज्यं कार्मुकं यस्य सः तस्मिन्। ददत् '–नाभ्यस्तात् शतुः' इति नुमभावः। मृगानुसारिणं–एक बार दक्ष ने यज्ञ किया। उसमें उसने शिवजी को छोड़ कर सब देवताओं को बुलाया। सती के सामने शिवजी के लिए अभद्र भाषा का प्रयोग किया, इस पर दुखी हो कर सती ने शरीर त्याग किया। यह समाचार जब शिवजी तक पहुँचा तो वे बड़े क्रुद्ध हुए। वे यज्ञ-स्थल पर आए। उन्होंने दक्ष को मार डाला और देवताओं को मार भगाया। शिवजी के डर से यज्ञदेव हरिण का रूप लेकर भागा। शिवजी ने पिनाक लेकर उसका पीछा किया। महाभारत के अनुसार यह यज्ञ देवताओं ने किया था और इसमें शिवजी को भाग नहीं दिया था। यही शिवजी के क्रोध का कारण था। वायुपुराण में इस कथा का रूप और ही है। उसके अनुसार शिवजी की आज्ञा से वीरभद्र ने हरिणरूपी यज्ञदेव का पीछा किया था।

पृ. १६—सोऽयमिदानीमपि—बहुत दूर दौड़ने पर भी हरिण थका नहीं है। अभी भी वह पूर्ववत् वेग से दौड़ रहा है। ग्रीवाभङ्गाभिरामं—यह सम्पूर्ण वाक्य 'पश्य' का कर्म है। बद्धदृष्टिः—इसके स्थानपर 'दत्तदृष्टिः' पाठ अधिक अच्छा है।

'मुहुरनुपतति' का 'बद्धदृष्टि' के साथ मेल नहीं बैठता। तेजी से दौड़ने वाला हरिण रथ पर दृष्टि गड़ाए नहीं रह सकता। वह बारबार घूमकर देख सकता है। पश्चार्धेन—अपरः अर्धः पश्चार्धः तेन, पिछले भाग से। पूर्वकायं-पूर्वं कायस्य इति पूर्वकायः तं, शरीर के पूर्व भाग में। काव्यप्रकाशकार के अनुसार इस पद्य में भयानक रस है। का. प्र. ४।

पृ. १७—प्रयत्नप्रेक्षणीयः=मुश्किल से दिखाई पड़ने वाला। उद्घातिनी=ऊबड़ खाबड़। रश्मिसंयमनात्=लगाम खींच लेने से। विप्रकृष्टः=दूरं। समदेशवर्त्ती=सम भूमि पर स्थित। न दुरासदः भविष्यति=पाना मुश्किल न होगा। अभीषवः=लगाम।

पृ. १८—निरायतपूर्वकायाः—निरायतः पूर्वकायः येषां ते तथोक्ताः, जिन्होंने अपने शरीर का पूर्वभाग पूर्णरूप से फैला दिया है। स्वेषामपि इत्यादि—घोड़े इतनी तेजी से दौड़ रहे हैं कि उनके खुरों से उड़नेवाली धूल उनके आगे नहीं जा पाती। निष्कम्पचामरशिखाः-चामराणां शिखाः, चामरशिखाः, निष्कम्पाः चामरशिखाः येषां ते तथोक्ताः-तेजी से दौड़ने के कारण घोड़ों के शिर पर लगी हुई कलँगी के अग्र निष्कम्प खड़े हैं। च्युतकर्णभङ्गाः—कर्णयोः भङ्गाः कर्णभङ्गाः, च्युताः कर्णभङ्गाः एषां ते तथोक्ताः। जिनके कान हिलना-डुलता छोड़कर सीधे खड़े हैं। धावन्ति तरन्ति नु=दौड़ रहे हैं या पौंड़ रहे हैं? नूनमित्यादि-हमारे घोड़े वेग में हरिण से बढ़े हुए हैं इसमें सन्देह नहीं।

पृ. १९—समरेख—समा रेखा यस्य तत्, सीधी कतार में। नयनयोः-आंखों को सीधा दिखाई देता है वस्तुतः सीधा नहीं है। रथवेग का सुन्दर वर्णन ध्यान देने योग्य है। जिन्हें किसी तेज सवारी पर यात्रा करने का अवसर प्राप्त हुआ है वे इसका अनुभव कर सकते हैं। व्यापाद्यं=शिकार।

पृ. २०—बाणपातपथवर्त्तिनः—बाणस्य पातः, तस्य पन्थाः, तत्र वर्त्तते तस्य। प्रगृह्यतां=खींचो। अभीषवः=लगाम। वैखानसः=तापस, वानप्रस्थाश्रम में रहनेवाला। वैखानसः वनेवासी वानप्रस्थश्च तापसः-वंजयन्ती। विखनस मुनिप्रोक्त सूत्र का अनुसरण करनेवाला भी वैखानस कहलाता है। तूलराशौ=कपास के ढेर पर।

पृ. २१.—पुरोः वंशे-भारतवर्ष में क्षत्रियोंके दो प्रसिद्ध वंश थे-एक सूर्यवंश और दूसरा चन्द्रवंश। विवस्वत् मनु के पुत्र इक्ष्वाकु सूयवंश के आदिपुरुष थे। इस वंश में ककुत्स्थ, दिलीप, रघु आदि प्रसिद्ध राजा हुए। रामचन्द्रजी भी इसी वंश के थे।

पृ. २२—निशितनिपाताः—निशिताः तीक्ष्णाः निपाताः अग्रभागाः, येषां ते। निपतन्ति एभिः, करणे घञ्। तेज नोकवाले। वज्रसाराः=वज्रस्य सारः इव सारः स्थिरांशः येषां ते। वज्र के समान कड़े। अनागसि=निरपराधी पर।

अत्रि ऋषि के पुत्र सोम चन्द्रवंश के आदिपुरुष थे। इस वंश में सोम, बुध, पुरूरवस्, आयुस, नहुष, ययाति आदि प्रसिद्ध राजा हुए। ययाति के पांच पुत्र थे। उनमें से पुरु और यदु दो स्वतन्त्र वंशों के स्थापनकर्ता हुए। पुरु के वंश में तम्सू, अनिल, दुष्यन्त और भरत प्रसिद्ध राजा हुए। महाभारत के अनुसार पुरु से भरत बीसवें थे! यदु के वंश में वृष्णि, देवरात, अन्धक, शूर, वसुदेव और उनके दो पुत्र बलराम और कृष्ण हुए। दुष्यन्त के पुत्र भरत के वंश का महाभारत में वर्णन किया गया है। पुरु अपनी पितृभक्ति के लिये प्रसिद्ध हैं। ययाति को शुक्राचार्य ने शाप दिया कि तुम असमय में बूढ़े हो जाओगे। बहुत विनती करने पर उन्होंने कहा—अच्छा, तुम अपना बुढ़ापा अपने पुत्रों में से किसी को दे सकते हो। ययाति के पांचों पुत्रों में से केवल पुरु ही इस अवस्थापरिवर्तन के लिये तैयार हुए। ययाति ने एक हजार वर्षों के बाद पुरु को अपनी युवावस्था लौटा दी और वर दिया कि तुम एक प्रसिद्ध राजवंश के आदिपुरुष होगे। देखिये—अभिज्ञानशाकुन्तल पर काले की टिप्पणी। युक्तरूपं—अतिशयेन युक्तं युक्तरूपम्। प्रशंसायां रूपप् प्रत्ययः। एवंगुणोपेतं—एवं गुणाः तैः उपेतम्। समिदाहरणाय—यहां यह बात ध्यान देने की है कि राजा को सामने रहते हुए भी तापस उसे अपने साथ आश्रम में नहीं ले गए। उन्होंने उसे आश्रम का मार्ग दिखा दिया और स्वयं अपने कार्य को चले गए। इसका कारण राजा के प्रति तापस की उपेक्षा न समझनी चाहिए। यहां बात यह है कि कवि राजा को अकेले ही आश्रम में ले जाना चाहता है। तापस के साथ जाने से कवि जिस समय राजा को अचानक प्रवेश कराना चाहता है वह न हो सकता। राजा कुछ समय तक अज्ञात अवस्था में भी न रह सकता।

पृ. २३—कुलपतेः—जो दस हजार विद्यार्थियों को भोजन देकर पढ़ाता है उसे कुलपति कहते हैं। मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नपानादिपोषणात्। अध्यापयति विप्रर्षिः स वै कुलपतिः स्मृतः॥ यह श्लोक राघवभट्ट ने 'तल्लक्षणं पुराणे' कह कर अपनी टीका में उद्धृत किया है। आचार्यो बहुशिष्याणां मुनीनामग्रणीस्तु यः। व्रतयज्ञादिकर्माढ्यः स वै कुलपतिः स्मृतः—पद्मपुराण। अनुमालिनीतीरं—मालिनी-तीरे। विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः।

पृ. २४—शकुन्तलामतिथिसत्कारायादिश्य—अनेक छात्र के रहते हुए भी कण्व ने अतिथिसत्कार का भार शकुन्तला को सौंपा। यह दो बातें सूचित करता है—एक तो यह कि कण्व को शकुन्तला पर बहुत अधिक भरोसा था। दूसरी बात यह कि कण्व को कोई पुत्र नहीं था। सम्भव है उन्होंने यह भी सोचा हो कि अतिथिसत्कार के पुण्य से उसका प्रतिकूल दैव शान्त हो जाय। सोमतीर्थ—इसका दूसरा नाम प्रभासतीर्थ है। यह काठियावाड में सोमनाथ के मन्दिर के पास एक तीर्थ स्थान है वराहपुराण के अनुसार यहाँ चन्द्रमा ने क्षयरोग-निवृत्ति के

लिये तप किया था। कवि ने कण्व को आश्रम से बहुत दूर रख कर राजा और शकुन्तला के प्रणय के लिये समय दिया है। कण्व के आने के पहिले ही शकुन्तला के गर्भ रह गया था। इससे पता चलता है कि कण्व तीन चार महीने आश्रम से बाहर रहे।

पृ॰ २५—साधयामः—संस्कृत भाषा में 'गच्छामः' के स्थान पर 'साधयामः' कहने की चाल है। 'गच्छामः' कुछ अशुभ माना जाता है। 'अयि साधय साधये-प्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः'—नैषध। आभोगः=विस्तार, संबद्ध भूमि।

पृ॰ २६—नीवार—एक प्रकार का धान्य है। यह जङ्गलों में उगता है। इङ्गुदी-फल—यह एक प्रकार का फल है जिसमें से तेल निकलता है। बच्चे इन्हें फोड़ कर इनके बीज खाते हैं। जिन पत्थरों पर ये फोड़े जाते हैं उन पर तेल की चिकनाहट आ जाती है। ऐसे पत्थर यह सूचित करते हैं कि पास ही बस्ती है। विश्वासोप-गमात्=परच जाने का कारण। अभिन्नगतयः=न भागने वाले। तोयाधार=जलाशय। निष्यन्दरेखा=टपकने के कारण बनी जल की रेखा। कुछ तापस जलाशयों में स्नान करके बिना कपड़े निचोड़े ही वापस चले जाते थे। इससे मार्ग में टपकते हुए जल की रेखा बन जाती थी। इस पद्य में वर्णित बातें आश्रम का सान्निध्य सूचित करती हैं।

पृ॰ २७—कुल्या=नाली। रागः भिन्नः=लाली बदल गई है। आज्य=घी। अर्वाक्=समीप। नष्टाशङ्काः=निर्भीक। ये सब चिह्न भी आश्रम का सान्निध्य सूचित करते हैं।

पृ० २८—उपरोध=कष्ट। राजा के कार्य की तुलना आज अफसरों के कार्य के साथ कीजिये। आश्रमवासियों को कष्ट न हो इसलिये राजा आश्रम से दूर ही रथ से उतर जाता है। आज कल के अफसर ग्रहण की भीड़ में भी मोटरों पर चलते हैं।

पृ॰ २९—आर्द्रपृष्ठाः=ठण्डा। घोड़ों को नहला देने से उनकी थकावट दूर हो जाती है। प्रवेष्टकेन=भुजा से। दक्षिण भुजा का फड़कना पुरुषों के लिए शुभ सूचक होता है। 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः'—अमर।

पृ॰ ३०—वृक्षवाटिकां दक्षिणेन=वृक्षवाटिका के दक्षिण। 'एनपा द्वितीया' इस नियम से एनप् प्रत्ययान्त 'दक्षिणेन' इस शब्द के योग में 'वृक्षवाटिकां' में द्वितीया हुई। स्वप्रमाणानुरूपैः—यहां 'स्व' शब्द का अर्थ अपना शरीर अथवा अपना बल है। अपने शरीर अथवा बल के प्रमाण के अनुरूप।

पृ॰ ३१—शुद्धान्तः=अन्तःपुर। वपुः=सुन्दर शरीर। इस पद्य में महल की रानियों की उद्यानलता से और तापस कन्याओं की वनलता से तुलना की गई है। प्रतिपालयामि=बाट देखता हूँ।

पृ॰ ३२—पेलवा=सुकुमार। आलबाल=पौधों की क्यारी। नियोगः=आज्ञा।

उदकं लम्भिताः=सींच दिये। अनभिसन्धिगुरुकः-नास्ति अभिसन्धिः फलाशा यस्मिन् एतादृशः, अतएव गुरुकः। जो पौधे फूल नहीं देते उन्हें सींचना निष्काम धर्म है। निष्काम धर्म सकाम धर्म की अपेक्षा बड़ा होता है।

पृ. ३३—निर्वर्ण्य=ध्यान से देख कर। कथमियं सा इत्यादि-सखियों के साथ शकुन्तला की बातचीत से राजा को मालूम हुआ कि यही वह शकुन्तला है जिसके विषय में उसने वैखानस से सुना था। अव्याजमनोहरं-व्याजेन मनोहरं व्याजमनोहरं, न व्याजमनोहरं अव्याजमनोहरं, बिना बनावट के सुन्दर, स्वभाव से सुन्दर। तपःक्षमं=तपसः क्षमं, तप के योग्य।

पृ. ३४—अतिपिनद्धेन=बहुत कस कर बाँधे हुए।

पृ. ३५—स्कन्धदेशे उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना=कन्धे पर महीन गाँठ वाले। वल्कल की साड़ी खुल न जाय। इसलिये कन्धे पर महीन गाँठ लगा दी गई है। स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना=स्तनयुग के विस्तार को ढँकने वाले। वल्कलेन=वल्कल वस्त्र से। 'पाण्डुपत्रोदरेण पिनद्धं=पक जाने के कारण पीले पत्तों के गर्भ से ढँके हुए। यहाँ 'उदर' शब्द व्यर्थ प्रतीत होता है। राजा की 'सम्यगियमाह' इस उक्ति के बाद 'इदमुपहित' इत्यादि श्लोक असङ्गत मालूम पड़ता है। प्रियंवदा पयोधरविस्तार को उत्पन्न करनेवाले यौवन की बात कहती है। राजा उसका समर्थन करता है। इसके बाद जो श्लोक आता है उसमें यौवन और पयोधरभार का ही वर्णन होना चाहिये। छपे हुए पद्य में यद्यपि स्तनयुगपरिणाह का उल्लेख है, तथापि वह अर्थ में गौण हो जाता है। प्राधान्य तो 'इसके शरीर पर वल्कल शोभा नहीं देता' इस बात का रहता है। यह संगत है। यही कारण है कि कुछ पुस्तकों में राजा की उक्ति 'काममननुरूपं' से आरम्भ होती है। इस उक्ति का प्रियंवदा की उक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह राजा की स्वतन्त्र उक्ति होने से ठीक बैठती है।

पृ. ३६—सरसिजं—सरसि जातं, अलुक् समास। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इस नियम से सप्तमी विभक्ति का लोप न होने पर सरसिजं और लोप होने पर सरोजं बनता है। शैवल=सेवार। लक्ष्म=चिह्न। तन्वी=कृशाङ्गी। मण्डन=अलङ्कार।

पृ. ३७—रुचिभङ्ग=अनुरमा की हानि। स्तोक=थोड़ा। वृन्त=डाल का वह स्थान जहाँ फूल लगता है।

पृ. ३८—वातेरित=वायु से प्रेरित। व्याहरति=कहता है। चूतवृक्ष= आम का पेड़।

पृ. ३९—विटप=डाली। स्वयंवरवधूः-स्वयं वरणं स्वयंवरः, तेन वधूः। स्वयं वरण करनेवाली वधू। सहकार=आम। वनतोषिणी—शकुन्तला ने नवमालिका का नाम वनतोषिणी रखा था।

पृ. ४२—मुकुलिता=कलियों से भर गई है।

पृ. ४३—पाणिग्रहण = विवाह।

पृ. ४४—असवर्णक्षेत्रसम्भवा = दूसरी जाति की स्त्री से उत्पन्न। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय असवर्ण विवाह प्रचलित था।

पृ. ४५—क्षत्रपरिग्रहक्षमा—परिग्रहं क्षमते इति परिग्रहक्षमा, क्षत्रस्य परिग्रहक्षमा इति क्षत्रपरिग्रहक्षमा। क्षत्रिय के विवाह करने योग्य। तथापि तत्त्वतः एनां उपलप्स्ये = फिर भी इसके विषय में सच क्या है यह जानूँगा।

पृ. ४६—सलिलसेक इत्यादि—शकुन्तला पद्मिनी जाति की स्त्री थी। जिस स्त्री के शरीर से विशेष कर मुख से कमल की सुगन्ध आती है उसे पद्मिनी कहते हैं 'कमलमुकुलमृद्वी फुल्लराजीवगन्धा सुरतवयसि यस्याः सौरभं दिव्यमङ्गे'—देखिये राघवभट्ट की टीका। भवति कमलनेत्रा नासिका क्षुद्ररन्ध्रा, अविरलकुचयुग्मा दीर्घकेशी कृशाङ्गी। मृदुवचनसुशीला नृत्यगीतानुरक्ता, सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा। रतिमञ्जरी (शानदारञ्जन राय की टिप्पणी से उद्धृत)। बाधनं = भौंरे को भगाने की चेष्टा। षट्चरणः—षट् चरणाः यस्य सः, भौंरा। प्रेरितवामलोचना=प्रेरिते वामे सुन्दरे लोचने यथा सा। अकामापि = न चाहने पर भी। शकुन्तला दृष्टिविभ्रम नहीं सीखना चाहती तथापि भ्रमर के डर से उसे सीखना पड़ रहा है। शिष्य पढ़ना नहीं चाहता परन्तु गुरु के डर से उसे पाठ याद करना पड़ता है।

पृ. ४७—चलापाङ्गां—चलौ अपाङ्गौ यस्याः सा तां। अपाङ्ग=आँख के बाहरी कोने (किनारे)। रहस्य=गुप्त बात। स्वनसि = गूजते हो। अधरं पिबसि = अधर का चुम्बन करते हो। संस्कृत में चुम्बन को अधरपान कहने का रिवाज है। इसका अर्थ है अधरामृतपान। चुम्बन अधर का किया जाता है ओष्ठ का नहीं। रतिसर्वस्वं=अधर रति का सर्वस्व है। क्योंकि सुरत अधरपान से आरम्भ होता है। तत्त्वान्वेषात्—'यह किसकी लड़की है, हमारे विवाह करने योग्य है या नहीं' इत्यादि तथ्य की खोज में लगे रहने के कारण। हताः=वञ्चित रह गए। कृती=सफल हुए, धन्य हो।

पृ. ४८—आभुग्नेन = जरा झुकाए हुए, थोड़े टेढ़े। बलिमता=त्रिवली वाले। कम्रस्तनी=सुन्दर स्तनवाली। पल्लवनिभं=कोमल पत्तों के समान। शीत्कारखिन्नाधरा = भ्रमर के भय से शीत् (सीत्) शब्द करने के लिए जिसका अधर खुला है। अभिलङ्घन=आक्रमण, कादना।

पृ. ४९—न भेतव्यं न भेतव्यं—यह बात राजा जोर से कहता है, अथवा उसके मुंह से अचानक निकल पड़ती है। इसे प्रेक्षक सुनते हैं। परन्तु शकुन्तला और उसकी सखियाँ नहीं सुनतीं। इसलिये इस उक्ति के पहिले अभिनय का कोई निर्देश नहीं दिया है। आधी बात मुँह से निकलते ही राजा जीभ पर नियन्त्रण कर लेता है। यदि यह कल्पना ठीक है तो 'न भेत्वयम्' एक बार ही लिखना

चाहिए दो बार कहने से उक्ति एक प्रकार से पूरी हो जाती है। उस अवस्था में वह शकुन्तला और उसकी सखियों को सुनाई दे जायगी। फिर 'इत्यर्धोक्ते' यह निर्देश भी व्यर्थ हो जाता है। एक बार अचानक मुँह से बात निकलते ही जीभपर नियन्त्रण की बात जँचती है। सदाचार=व्यवहार। स्वगतं=अपने मन में। 'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम्'—दश०।

पृ. ५०—पौरवे—पुरोः गोत्रापत्यं पुमान् पौरवः=तस्मिन्। कैसे सुन्दर अवसर पर कवि ने राजा का प्रवेश कराया है!

पृ. ५१—अत्याहितं=बड़ा भय। 'अत्याहितं महाभीतिः कर्म जीवानपेक्षि च'—अमर०। अयि, तपो वर्द्धते=यहां 'अयि'के स्थान पर 'अपि'पाठ अच्छा होगा। 'अपि' प्रश्न का व्यञ्जक है। यह बात राजा ने शकुन्तला ही को कही। क्योंकि अब तक छिपकर उसने जो कुछ सुना उससे वह शकुन्तला को पहिचान गया था। इसके अतिरिक्त सखियों ने उसी की तरफ इशारा करके मधुकरजन्य पीड़ा की बात कही। इसलिये उसी से कुशल प्रश्न करना स्वाभाविक है।

पृ. ४२—उटजात्=पर्णकुटी से। फलमिश्रं अर्घ्यभाजनं—यहां 'भाजनं' व्यर्थ है। फल सहित अर्घ्य। सामन्यतः अर्घ्य में फल नहीं होता। इसलिए 'फलमिश्रं' कहना आवश्यक है। अर्घ्य में आठ पदार्थ होते हैं। 'आपः क्षीरं कुशाग्रञ्च दधि सर्पिः सतण्डुलम्। यवः सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गार्घः प्रकीर्तितः'—तंत्र। अर्घ्य और अर्घ दोनों शब्द चलते हैं। शारदारञ्जन राय ने श्राद्धतत्त्व का उद्धरण देकर लिखा है कि सामवेदी यकार के सहित और अन्य वेद वाले यकार-रहित उच्चारण करते हैं। पादोदकं=पैर धोने के लिए पानी। अनसूया और प्रियंवदा व्यवहारकुशल और प्रत्युत्पन्नमति हैं।

पृ. ५३—कथमिदं जनं इत्यादि—कामविकार तपोवननिवास के विरुद्ध है। यहां सर्वप्रथम शकुन्तला का अनुराग व्यक्त होता है।

पृ. ५४—जनान्तिकं—अन्य पात्रों से छिपाकर दो पात्रों का आपस में किसी के विषय में बातें करना जनान्तिकं कहलाता है। ऐसे अवसर पर वे तीन अंगुलियां खड़ी कर के हाथ से आड़ कर लेते हैं।

पृ. ५५—हृदय! मा इत्यादि—शकुन्तला भी यह जानने के लिए उत्सुक है कि वह पुरुष कौन है।

पृ. ५६—परिहारं—छिपाना। राज्ञः पौरवस्य इत्यादि—राजा की इस उक्ति से दो अर्थ निकलते हैं। पहिला यह कि मैं दुष्यन्त का मन्त्री हूँ। मुझे राजा ने नगर के धर्मकार्यों की देखभाल करने के लिए नियुक्त किया है। दूसरा यह कि विधि ने मुझे पुरुवंशी राजा के (अर्थात् मेरे पिता के) नगर के धर्मकार्यों की देखभाल करने के लिए नियुक्त किया है। मैं दुष्यन्त हूँ। इस प्रकार राजा ने

सत्यासत्य की बात कह कर असत्य के पाप से बचते हुए अपने को छिपाने की चेष्टा की है। फिर भी यह असत्य तो है ही। आगे चल कर राजा विदूषक से भी 'परिहासविजल्पितं सखे! इत्यादि झूठ बोलता है। यह झूठ बोलने की आदत राजा के चरित्र पर धब्बा प्रतीत होती है। यदि इन अवसरों को परिहास का अवसर माना जाय तो अपराध का गाम्भीर्य घट जायगा।

पृ. ५७—शृङ्गारलज्जां नाटयति—अनसूया की 'अद्य सनाथाः' इत्यादि उक्ति सुनकर शकुन्तला के मन में पति की कल्पना उत्पन्न हुई। इसीलिए वह लजा गई। हला शकुन्तले! इत्यादि—इस उक्ति के पहले 'जनान्तिकं' होना चाहिए। मूलग्रन्थ में नहीं छपा है।

पृ. ५८—जीवितसर्वस्वेनापि—यहां यह शब्द शकुन्तला के लिये आया है। सखियों का कहना है कि यदि कण्व ऋषि यहां होते तो शकुन्तला को देकर इस अतिथि को कृतार्थ करते। अपेतं युवां-शकुन्तला की इस उक्ति तक सब 'जनान्तिक' है।

पृ. ५९—शाश्वते ब्रह्मणि—शश्वत् भवं शाश्वतं अण्। यहां ब्रह्म शब्द ब्रह्मचर्य के लिए आया है। नित्य ब्रह्मचारी। कौशिकः—कुशिकस्य गोत्रापत्यं पुमान्, विश्वामित्र।

पृ. ६१—नियमविघ्नकारिणी—तप में विघ्न उत्पन्न करनेवाली। उन्मादहेतुकं= उन्मत्त करने वाला। मासे मधौ मधुरकोकिलभृङ्गनादैर्नार्यो हरन्ति हृदयं प्रसभं नराणाम्'—ऋतुसंहार।

पृ. ६२—प्रभातरलं ज्योतिः = बिजली।

पृ. ६३—शकुन्तला राजा के मुख से अपनी तारीफ सुनकर लजा गई। हन्त, लब्धावकाशः इत्यादि—शकुन्तला क्षत्रिय की लड़की निकली, अतः राजा को आशा बँध गई।

पृ. ६४—नियन्त्रणानुयोगः—अविद्यमानं नियन्त्रणं यस्मिन् स अनियन्त्रणः, तथाभूतः अनुयोगः यस्मिन् सः। बेखटके कोई भी प्रश्न पूछा जा सकता है। वैखानसं व्रतं = ब्रह्मचर्य। अत्यन्तमेव निवत्स्यति = जीवन भर रहेगी।

पृ. ६५—धर्माचरणपरवशः—धर्माचरणस्य परवशः। शकुन्तला धर्माचरण के तो परवश है। वह तो इसे करना ही पड़ेगा। यह पिता की आज्ञा बिना मनमाना काम नहीं कर सकती। हां, इसके पिता का संकल्प है कि इसे अनुरूप वर को देंगे। कुछ पुस्तकों में 'धर्माचरणेऽपि परवशः' ऐसा पाठ है। धर्माचरण करने में भी परवश है, विवाह की तो बात ही छोड़िये।

पृ. ६६—आशङ्कसे इत्यादि—पहिले राजा शकुन्तला को ब्राह्मण की कन्या समझता था। अतः वह उसके लिए अग्नि के समान अस्पृश्य थी। परन्तु जब

उसे मालूम हो गया कि वह क्षत्रिय की लड़की है तब तो वह उसके लिए स्पर्श-योग्य रत्न के समान हो गई। प्राचीन आचार के अनुसार क्षत्रिय ब्राह्मण की लड़की से विवाह नहीं कर सकता।

पृ. ६७—उज्झित्वा=छोड़कर।

पृ. ६८—जिघृक्षुरिव=मानो पकड़ना चाहता है। चेष्टानुरूपिणी इत्यादि—कामी पुरुषों की चित्तवृत्ति चेष्टा के समान होती है, चित्तवृत्ति इतनी प्रबल होती है कि चेष्टा न करने पर भी ऐसा अनुभव होता है मानो चेष्टा कर दी। आगे आने वाले श्लोक के प्रकाश में इस वाक्य का यही अर्थ ठीक प्रतीत होता है। उपेत्य=पास जाकर। चण्डि=अरी क्रोधवाली। 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपने'—अमर०।

पृ. ६९—धारयसि मे—'धारेरुत्तमर्णः' धृ धातु के योग में उत्तमर्ण (जिसका कुछ बाकी होता है) चतुर्थी विभक्ति में रखा जाता है। स्रस्तांसौ—स्रस्तौ अंसौ ययोः तौ। जिनके कंधे झुक गए हैं। उत्क्षेपण=उठाना। स्तनवेपथु=स्तनकम्प। प्रमाणाधिक=सामान्य मनुष्य के श्वास के प्रमाण से अधिक। सामान्य अवस्था में मनुष्य का श्वास नाक से बारह अंगुल लम्बा जाता है। थके हुए मनुष्य का इससे अधिक लम्बा जाता है।

पृ. ७०—कर्णशिरीषरोधि—कर्णावतंसीकृतं शिरीषपुष्प कर्णशिरीषं, शाकपार्थिवादिसमास, तत् रोद्धुं शीलं यस्य तत्। काम में पहिने हुए शिरीष के फूल के व्यापार को रोकने वाला। पसीने से धूल की कोमल पंखुडियां चिपक जाती हैं। घर्म्माम्भः=पसीना। जालकं=पसीने की बूंदों का जाल। बन्धे स्रंसिनि=बंधन खुल जाने पर। मूर्द्धजाः=केश। एकहस्तयमिताः=एक हाथ से बाँध लिये थे। अत एव पर्याकुलाः=इसीलिये बिखर गए हैं। अनृणं=ऋण से मुक्त।

पृ. ७१—अलमन्यथा इत्यादि—पुनः राजा झूठ बोल कर अपने को छिपाना चाहता है। यहां भी वह दो अर्थों वाली बात कहकर अपनी पहिली बात का समर्थन करना चाहता है। 'राज्ञः प्रतिग्रहोऽयम्' इसके दो अर्थ हैं। एक तो यह कि यह अङ्गूठी राजा ने मुझे पारितोषिक दी है। दूसरा यह कि मैं राजा हूँ। यह अंगूठी मैं आपको पारितोषिक के रूप में दे रहा हूँ। इसे लेने में हर्ज नहीं। इस प्रकार सत्यासत्य भरी दो अर्थ वाली बात कह कर वह लड़कियों को पुनः बहकाना चाहता है। तेन हि नार्हति इत्यादि—यह प्रियंवदा की उक्ति है। इसके बाद अनसूया की उक्ति आती है। कई पुस्तकों में वे दोनों उक्तियाँ एक में मिलाकर प्रियंवदा के मुख से ही कहलाई गई हैं। जो हो, इन उक्तियों के पूर्व 'किञ्चित् विहस्य' यह अभिनय का निर्देश होना चाहिये। हंसी यह व्यक्त करती हैं कि सखियों ने राजा को पहिचान लिया है और यह भी जान लिया है कि राजा और शकुन्तला एक दूसरे को प्रेम करते हैं।

पृ. ७२—कस्मिन्निदानीं गमिष्यति—यह पाठ ठीक नहीं है। अधिक पुस्तकों में 'गच्छेदानीं' पाठ है। यह राजा है। यह तुम्हें प्रेम करता है। यह जान लो। अब जाओ।

पृ. ७२—लब्धावकाशा मे मनोवृत्तिः—यहाँ 'मनोवृत्तिः' के स्थान पर 'प्रार्थना' पाठ अधिक अच्छा होता। मेरी प्रार्थना को स्थान मिल गया है। अर्थात् शकुन्तला भी मुझे प्रेमी कहती है। ऐसा सोचने का कारण अगले श्लोक में दिया है। वाचं न मिश्रयति इत्यादि—जब कोई स्त्री किसी पुरुष को प्रेम करने लगती है परन्तु उससे अच्छी तरह परिचित नहीं होती तब उस पुरुष की उपस्थिति में उस स्त्री की ऐसी अवस्था होती है।

पृ. ७५—विटपविषक्त=डालियों से बँधे। परिणतारुणप्रकाशः=सायंकालीन सूर्य के प्रकाश के समान रंग वाला। शलभसमूह=टिड्डीदल।

पृ. ७६—अभिरुन्धन्ति=वेर कर पीड़ा दे रहे हैं। पर्य्याकुलयन्=व्याकुल करता हुआ। व्रततिवलय=लतावलय। आलञ्जन=लपट जाना। जातपाशः= पाश में फँसा हुआ। भिन्नसारङ्गयूथः=जिसने मृगों के झुण्ड को तितर-वितर कर दिया है। विरुजति=पीड़ा दे रहा है।

पृ. ७७—अनुजानीहि=अनुमति दीजिये। उटज=पर्णशाला।

पृ. ७८—ऊरुस्तम्भविह्वला=जांघ अकड़ जाने से व्याकुल। स्वैरं स्वैरं= धीरे-धीरे।

पृ. ७९—कुरवक—एक प्रकार के फूल का पौधा है।

पृ. ८०—अनुयात्रिकान्—अनुयायियों को, साथ आए हुए सिपाहियों और सेवकों को।

पृ. ८१—असंस्थितं=अस्थिर। चीनांशुकमिव केतोः—प्राचीन काल में प्रायः चीन देश का बना रेशमी कपड़ा झंडे में लगाया जाता था। प्रतिवातं=हवा के प्रतिकूल। यद्यपि राजा अपने खेमे को जा रहा था तथापि उसका मन शकुन्तला को देखने के लिए पीछे आश्रम की तरफ दौड़ रहा था। कवि ने राजा के शरीर और मन की उपमा झंडे के बांस और कपड़े से दी है। यदि झंडा पवन के विरुद्ध ले जाया जाय तो उसका कपड़ा पीछे की ओर फड़फड़ाता है। निष्क्रान्ताः सर्वे—सब पात्र मञ्च पर से चले जाते हैं। यह अङ्क की समाप्ति का सूचक है।



द्वितीय अङ्क

पृ. ८३—वयस्यभाव=मैत्री। निर्विण्णः=ऊब गया हूँ। आहिण्ड्य=घूम कर, भटक कर। पत्रसंकरकषायविरसानि—पत्राणां संकरेण कषायाणि अत एव विरसानि। अनेक प्रकार के पत्तों के पड़ने के कारण कसैले अत एव पीने में बेस्वाद। गिरिणदी=पहाड़ी नदियाँ। 'गिरिनद्यादीनां वा' विकल्प से 'ण' होता है।

पृ. ८४—अनियतवेलं=बेसमय। प्रत्यूषे=प्रभात काल में। दास्याः पुत्रैः—'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' निन्दा होने के कारण अलुक् समास। कर्णोपघातिना=कान फोड़ने वाले।

पृ. ८५—मे पीडा न संवृत्ता=मेरा दुःख समाप्त नहीं हुआ है। गण्डस्योपरि विस्फोटकः=मर्मस्थान के व्रण पर दूसरा व्रण। एक दुःख पर दूसरा दुःख। यह संस्कृत की एक कहावत है। इससे दुःखपरम्परा व्यक्त होती है। 'अयमपरः गण्डस्योपरि स्फोटः'—मुद्रा. अंक ५। अस्मासु अवहीनेषु=हम लोगों के पीछे रह जाने पर। राजा का घोड़ा तेज दौड़ता था। इसलिये अनुयायी पीछे छूट जाते थे।

पृ. ८६—प्रभाता अच्णोः रजनी=जागते जागते रात बीत गई। कृताचार-परिग्रहं=प्रातःकालीन कृत्य करके आचार के अनुकुल अलङ्कार किये हुए। हृदय-निहितप्रियजनः=मन में अपने प्रियजन शकुन्तला का स्मरण करने वाले। अङ्गभङ्गविकलः भूत्वा=अङ्गभङ्ग के कारण विकल होकर विदूषक सोचता है कि शायद ऐसा करने से उसे छुट्टी मिल जाय। विदूषक हास्यरस का पात्र है। यह नायक का मित्र और विश्वासपात्र होता है। इसके शरीर, वेश और भाषा हास्योत्पादक होते हैं। यह नायक का चतुर्विध पुरुषार्थ में से काम पुरुषार्थ-सहायक होता है। इसे नर्मसचिव या नर्मसुहृत् भी कहते हैं। यह प्राकृत भाषा में बोलता है। 'विकृताङ्गवचोवेषैर्हास्यकारी विदूषकः'—रसार्णवसुधाकर। 'श्रृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः। भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः। कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः। हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात स्वकर्मज्ञः। विदूषकविटादीनां पाठ्यन्तु प्राकृतं भवेत्—दर्पण।

पृ. ८७—तद्भावदर्शनाश्वासि—तस्याः भावः, तस्य दर्शनं, तेन आश्वसिति। कर्तरि णिनिः। उसके भाव को देखकर आनन्दित होता है। भाव दिखाई नहीं देता। चेष्टा देखकर भाव का अनुमान होता है। यहाँ भाव शब्द भाव को व्यक्त करने वाली चेष्टा का बोधक भी माना जा सकता है। मनसिजे आकृतार्थेऽपि=काम के कृतार्थ न होने पर भी। अर्थात् रतिसुख प्राप्त न होने पर भी। उभय-प्रार्थना रतिं कुरुते—उभयोः प्रार्थना उभयप्रार्थना। समास में उभ शब्द के स्थान पर उभय हो जाता है। दोनों का अन्योन्य के प्रति अनुराग प्रीति उत्पन्न करता है।

पृ. ८८—विप्रलभ्यते=धोखा खाता है। स्निग्धं इत्यादि—कामी पुरुष की चित्तवृत्ति का वर्णन है। प्रेयसी जो कुछ भी करती है उसे कामी पुरुष 'इसने मुझे देखकर ही ऐसा किया' ऐसा समझता है। श्लोक के अर्थ के लिये टीका देखिये।

पृ. ८९—न मे हस्तः इत्यादि—जय बोलते समय हाथ उठाना आवश्यक है। परन्तु विदूषक का कहना है कि मेरा हाथ अकड़ जाने के कारण उठ नहीं रहा है। अतः मैं केवल वाणी से ही जयकार करता हूँ। जाप्यसे—'जि' धातु से णिच् करने पर 'जि' का 'जा' हो जाता है। इसके बाद पुक् का आगम करने पर लट् लकार में 'जाप्यसे' बनता है।

पृ. ९०—कुब्जस्य—कुब्ज एक पौधा होता है। वह जल में उगता है। वह सर्वदा झुका हुआ होता है। उसके आकार का अनुकरण करने के कारण कुबड़े को भी कुब्ज कहते हैं। बेतस या बेत लचकदार होता है। वह झुकाने पर झुकता है। अन्यथा सीधा रहता है। वह भी पानी में उगता है। जब पानी की धारा तेज रहती है तब वह कुब्ज की लीला का अनुकरण करता है। विडम्बयति= अनुकरण करता है।

पृ. ९२—युक्तं नाम एतत्—क्या यह ठीक है? अर्थात् यह बिलकुल अनुचित है। उज्झित्वा=छोड़कर। अस्खलितपदं प्रदेशञ्च—अस्खलितं पदं यस्मिन् सः तम्। उस भूमि को भी छोड़कर जहाँ पैर नहीं लड़खड़ाता। किमत्र मन्त्र्यतां= क्या कहें। श्वापद=हिंस्र जन्तु। संक्षोभितसन्धिबन्धनानां=जिनके बंधन ढीले हो गए हैं। एकाहमपि=एक दिन भी।

पृ. ९३—हृदये कृत्वा मन्त्रयति=मन में सोच रहे हो। अरण्ये रुदितम्= जङ्गल में रोना अर्थात् व्यर्थ। जब कोई किसी से किसी बात के लिये प्रार्थना करता है परन्तु उसकी प्रार्थना व्यर्थ हो जाती है तो उसकी प्रार्थना 'अरण्य-रुदन' कहलाती है। स्थितोऽस्मि=मृगया का ख्याल छोड़ कर चुप हो गया।

पृ. ९४—सावशेषं वचः—अवशेषेण सहितं सावशेषं। बात पूरी नहीं हुई है। अनायासे कर्मणि=ऐसे काम में जिसमें कोई परिश्रम नहीं है।

पृ. ९५—गृहीतः क्षणः—'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' अमर०। मैं यह अवसर लेता हूँ। लो, मैं स्वस्थ बैठा, कहो। आलापदत्तकर्णः=बातें सुनते हुए। उपसर्पतु—पास जाइये।

पृ. ९६—स्वेदलेशैः अभिन्नः=पसीने की बूँदें नहीं निकलतीं। यहाँ यह समझना चाहिए कि शरीर दृढ़ होने के कारण थोड़े परिश्रम से पसीना नहीं निकलता। अधिक परिश्रम होनेपर तो पसीना निकलेगा ही, और निकलना ही चाहिये। 'तस्य कर्कश-विहारसंभवं स्वेदमाननविलग्नजालकम्। आचचाम सतुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः'-रघु०। अथवा पसीना निकलने से घबड़ाता नहीं। अपचित=दुर्बल।

व्यायत = विशाल। नाग=हाथी। प्राणसारं-प्राणस्य सारः, तं। बल का हीर, शक्ति का तत्त्व। अर्थात् बड़ा शक्तिशाली है।

पृ. ९७-मृगयापवादिना-शिकार की निन्दा करने वाले। स्थिरप्रतिज्ञो भव-अपनी बात पर अड़े रहो। सेनापति के चरित्र पर ध्यान दीजिये। वह स्वयं मृगया से ऊब गया है; परन्तु राजा को खुश रखने के लिये शिकार की तारीफ करता है।

पृ. ९८-वैधेयः = मूर्ख।

पृ. ९९—प्रकृतिमापन्नः = स्वभाव में आ गया है। अर्थात् शिकार की हवस छोड़ दी है।

पृ. १००—नाभिनन्दामि = सराहना नहीं करता। निपान = गढ़ही-जलाशय जिसमें जानवर पानी पीते हैं। वस्तुतः यह शब्द कूंए के पास की गढ़ही का वाचक है। परन्तु वह अर्थ यहाँ ठीक नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि यहां चर्चा जंगल की है। रोमन्थ = पगुरी। रोगाणां मन्थः रोमन्थः। कुछ जानवरों के लिये पगुरी करना आवश्यक है। उससे उनका खाया हुआ पच जाता है और वे नीरोग रहते हैं। इस पद्य के तीन चरणों में क्रियापद आत्मनेपदी धातु का है, एक चरण में परस्मैपदी धातु का है। यह प्रक्रमभङ्ग है। इसके निवारण के लिये 'अभ्यस्यतु' के स्थान पर 'अभ्यस्यताम्' किया जा सकता है। 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' इस वार्तिक से विकल्प से आत्मनेपद हो सकता है।

पृ. १०१—विश्रब्ध=निर्भय। मुस्ता = एक प्रकार की घास है। वह गढ़हियों में उगती है। पल्वल = कीचड़ से भरी गढ़ही।

पृ. १०२—शमप्रधान = शान्त, मनोनिग्रहवाले। गूढं = छिपा हुआ। सूर्यकान्त = एक प्रकार का पत्थर है। उस पर सूर्य की किरण पड़ने पर उसमें से आग निकलती है। अन्यतेजोऽभिभवात् = दूसरे तेज के द्वारा आक्रान्त होने पर, दूसरे तेज का स्पर्श होने पर।

पृ. १०३-स्वनियोगं अशून्यं कुरु = अपने काम पर जाओ। कृतं निर्मक्षिकं = यह बोलने का मोहावरा है। जहाँ से सब लोग हटा दिये गए हों उस स्थान को निर्मक्षिकं कहते हैं। इसका शब्दार्थ है-जहाँ मक्खी भी न हो। मक्षिकाणां अभावः।

पृ. १०३-१०४-पादपच्छायाविरचितवितानसनाथे = पेड़ की छाया से जिस पर चंदवा सा बन गया है। द्रष्टव्यानां परं = देखने की चीजों में सबसे उत्तम अर्थात् शकुन्तला। ननु भवानेव मे इत्यादि-विदूषक राजा से कहता है कि आप द्रष्टव्य पदार्थों में सबसे उत्तम हैं और आपको मैं प्रत्यक्ष (अपने सामने) देख रहा हूँ। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि मेरी आँखें निष्फल हैं।

पृ. १०५-आश्रमललामभूतां = आश्रम के आभूषण स्वरूप। प्रश्रय = प्रणय।

अनभ्यर्थनीय = सुरतप्रार्थना करने योग्य नहीं है। विदूषक का आशय यह है कि तपस्विकन्या होने के कारण यदि शकुन्तला से प्रणय नहीं किया जा सकता तो उसे देखने से क्या प्रयोजन।

पृ. १०६—निवारितनिमेषाभिः इत्यादि—जिस प्रकार चन्द्रमा की कला अप्राप्य होने पर भी नेत्रों को आनन्द देने वाली होने के कारण लोग बड़ी स्पृहा से उसकी ओर देखते हैं, उसी प्रकार शकुन्तला मुनिकन्या होने के कारण अप्राप्य होने पर भी लोकोत्तर सौन्दर्य वाली है, अतः उसको देखकर नेत्रों को आनन्द दिया जा सकता है। न च परिहार्ये—अग्राह्य वस्तु पर दुष्यन्त का मन कभी जाता ही नहीं।

पृ. १०७—अर्कस्योपरि इत्यादि—यद्यपि मन्दार का फूल मनुष्य अपने उपभोग के लिये नहीं लेता तथापि डंठल से शिथिल होकर मन्दार के वृक्ष पर टपका हुआ नवमालिका का फूल लेने में कोई आपत्ति नहीं। शकुन्तला कण्व की कन्या तो है नहीं। वह अप्सरा से विश्वामित्र की कन्या है। अप्सरा ने उसे छोड़ दिया इसलिये कण्व ने उसे पाला। ऐसी अवस्था में उसको ग्रहण करने में कोई दोष नहीं।

पृ. १०८—पिण्डीखर्जूर—मीठा खजूर एक प्रकार का फल है। कुछ पुस्तकों में पिण्डखर्जूर भी पाठ है। तिन्तिडी—इमली।

पृ. १०९—चित्ते निवेश्य इत्यादि—सौन्दर्य निर्माण के लिये बनाई हुई सब सामग्री को चित्त में रख कर अर्थात् उस पर अच्छी तरह विचार करके अन्तमें ब्रह्माने केवल रूपराशि से ही उस कृशाङ्गी को बनाया। कुछ पुस्तकों में 'चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा' पाठ है मानो पहिले चित्र बनाकर पश्चात् उसमें प्राणसञ्चार किया है।

पृ. ११०—अपरा—नास्ति—परा यस्याः सा। जिससे बड़ी अर्थात् अधिक सुन्दर और कोई नहीं है, सर्वोत्तम। प्रत्यादेशः = जवाब, निराकरण, उसके सौन्दर्य के सामने अन्य स्त्रियों का रूप फीका पड़ जाता है।

पृ. १११—किसलय = कोमल पत्ता। अलूनं = न तोड़ा हुआ। कररुह = नख। अनामुक्त = कभी न पहिना हुआ। कुछ पुस्तकों में 'अनाविद्धं' पाठ है। बर्मी से न छेदा हुआ।

पृ. ११२—अनघं=दोषरहित। समुपस्थास्यति = मिलेगा। सेवा में जायगा।

पृ. ११३—लघु लघु = शीघ्र। इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य = इङ्गुदी का तेल लगाने के कारण चिकनी खोपड़ी वाले।

पृ. ११४—अप्रगल्भा=ढीठ नहीं होतीं। मयि अभिमुखे=मेरे सामने होने पर ईक्षितं संवृतं=दृष्टि हटा ली। अन्तनिमित्तकथोदयं—अन्यनिमित्ता या कथा तस्याः उदयः यस्य तत्। दूसरे के सम्बन्ध की बातों से उत्पन्न होने वाला अर्थात्

किसी बात के बहाने से हँसती थी। विनयवारितवृत्तिः—विनयेन वारिता वृत्तिर्यस्य सः। विनय के कारण जिसका व्यापार दबा है। न विवृतः न संवृतः = न प्रकाशित किया न छिपाया। अनुरक्ता नितम्बिनी नायक के सामने ऐसा करती है।

पृ. ११५—अकाण्डे = अचानक, वास्तविक अवसर न होने पर भी।

पृ. ११६—विवृत्तवदना—मुँह फेर कर। असक्तम् = न फँसा हुआ भी। शकुन्तला के मन में राजा के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया था। अतः वह वहाँ से जाना नहीं चाहती थी। जब उसकी सखियां जाने लगीं तो वह कुछ न कुछ बहाना करके कुछ देर और राजा को देखना चाहती थी। पाथेय = मार्गभोजन।

पृ. ११७—अपदेशेन = बहाने से।

पृ. ११८—भागधेयं = कर। निर्व्वपन्ति = देते हैं।

पृ. ११९—वर्णेभ्यः = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों से। उत्तिष्ठति = करके रूप में मिलता है। क्षयि = नष्ट होने वाला। तपःषड्भागं = तप का छठा हिस्सा। अक्षय्यं = कभी नष्ट न होने वाला। आरण्यकाः = जङ्गल में रहने वाले। प्रतिहारभूमि = द्वार।

पृ. १२१—ऋषिकल्प = ऋषितुल्य। ऋषेः ईषद् न्यूनः। ईषदसमाप्तो कल्पप्—कल्पप् प्रत्यय। अध्याक्रान्ता=स्वीकार की है, ग्रहण की है। अमुनापि=इस राजा ने भी। यहां 'अपि' शब्द से सब चरणों में ऋषियों का आक्षेप होता है। ऋषियों की तरह यह भी। इस पद्य में राजा की ऋषियों से तुलना की गई है। जो गुण ऋषियों में हैं वे सब इस राजा में भी हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि यह राजर्षि कहलाता है, वे केवल ऋषि। सर्वभोग्ये आश्रमे=राजा के पक्ष में इसका अर्थ है 'गृहस्थाश्रम'। ऐसे आश्रम में जिसका अन्य आश्रमों के लोग आश्रय लेते हैं। 'यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वं आश्रमाः—मनु। ऋषिपक्ष में इसका अर्थ है तपोवन जिसमें सब आश्रमों के लोग आश्रय लेते हैं। रक्षायोगात्-रक्षायाः योगः तस्मात्। प्रजा की रक्षा करके। ऋषिपक्ष में रक्षार्थं योगः तस्मात्। शरीररक्षा के लिये अष्टाङ्ग योग करके। तपः—राजा के पक्ष में लोकोत्तर धर्म। ऋषिपक्ष में—चान्द्रायणादि व्रत।

पृ. १२२—द्यां स्पृशति = स्वर्ग तक पहुँचता है। वशिनः = जिसने काम, क्रोध आदि दुर्भावनाओं को वश में कर लिया है। यह अर्थ दोनों पक्षों में लगता है। चारणद्वन्द्वगीतः=राजा के पक्ष में स्तुतिपाठकों के स्त्री-पुरुष-युगल से गाया हुआ। ऋषिपक्ष में गन्धर्वमिथुन के द्वारा गाया हुआ। पुण्य=पवित्र।

पृ. १२३—वलभित्सखः—वलभित् इन्द्रः तस्य सखा। टच् प्रत्यय होकर यह शब्द अकारान्त हो गया है। चित्रं=आश्चर्य। उदधिश्यामसीमां—उदधिः एव श्यामा सीमा यस्याः सा तां। समुद्र पर्यन्त। कृत्स्नां=संपूर्ण। परिघ = अर्गला,

ब्योड़ा, वह लकड़ी जो दरवाजा बन्द करके उसके पीछे लगाई जाती है। प्रांशु=लंबे। भुनक्ति=भोग करता है, शासन करता है।

पृ. १२४—आशासन्ते=आशा करते हैं, अभिलाषा करते हैं। समितिषु=लड़ाइयों में। पौरुहूते=इन्द्र के।

पृ. १२५—उपनयतः=दोनों देते हैं। इहस्थः=यहां रहने वाला। अभ्यर्थयन्ते प्रार्थना करते हैं।

पृ. १२६—इष्टि=यज्ञ। सनाथीक्रियतां=सनाथ करिये, रहिये।

पृ. १२७—गलहस्त=गरदनियां। गलहस्त देकर आदमी को बाहर निकाला जाता है। परन्तु यहां राजा को जहाँ वह जाना चाहता है वहां ढकेला जा रहा है। राजा आश्रम में जाना चाहता है और वहीं से तापस बुलाने आए हैं। इसीलिये विदूषक ने 'अनुकूलगलहस्त' कहा है। पूर्वेषां अनुकारिणि=पूर्वजों का अनुकरण करने वाले। राजा के पूर्वज भी सदा मुनियों की रक्षा में तत्पर रहते थे। युक्तरूपं अतिशयेन युक्तम्, युक्त शब्द से रूपप् प्रत्यय।

पृ. १२८—आपन्नाभयसत्रेषु—आपन्नानां अभयं एव सत्राणि तेषु। आपद्ग्रस्त लोगों को अभय देने के यज्ञ में। दीक्षिताः–दीक्षा संजाता एषां ते। व्रतग्रहण किया है। यज्ञ करने के पहिले यज्ञ करने की योग्यता संपादन करने के लिये एक कर्म किया जाता है उसे दीक्षा कहते हैं। दीक्षा लेने पर पुरुष उस कार्य को छोड़ कर अन्य कार्य नहीं कर सकता है। अनुपदं=पीछे पीछे। अपरिबाधं=बाधारहित। सपरिबाधं=बाधासहित।

पृ. १२९—रथचक्ररक्षीभूतोऽस्मि=रथ के पहियों की रक्षा करने वाला हो गया हूँ। विदूषक की यह उक्ति उसकी कायरता के अनुकूल होने के कारण हँसी उत्पन्न करने वाली है। यह वैसी ही उक्ति है जैसे कोई कहे कि यदि हमें कोई न मारे तो हम सबको मार डालेंगे। देवीनां–यहाँ यह शब्द दुष्यन्त की माता के लिये आया है। आदर के लिये बहुवचन का प्रयोग किया गया है। आज्ञप्तिहारः=आज्ञावाहक, समाचारवाहक।

पृ. १३०—पुत्रपिण्डपालनो नाम उपवासः=पुत्र की देह की रक्षा की कामना से किया जाने वाला उपवास। यह उपवास माता अपने पुत्रको दीर्घायु करने के लिये करती है। अब इसका व्यवहार बहुत कम हो गया है। कुछ लोगों के मत में यह उपवास पौत्रप्राप्ति के लिये किया जाता है जिसमें पुत्र को मरने पर पिण्ड मिले। परन्तु यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता है। तस्मिन् दीर्घायुषा इत्यादि= उस अवसर पर आपको अवश्य आना चाहिये।

पृ. १३१—त्रिशङ्कुः–यह सूर्यवंशी राजा था। इसने तीन बड़े पाप किये थे— १. पिता को रुष्ट करना, २. वसिष्ठ की गाय मारना और ३. गोमांसभक्षण ये पाप तीन

शङ्कु तुल्य हो गए थे इसीसे इसका नाम त्रिशङ्कु पड़ा। 'पितुश्चापरितोषेण गुरोर्दोग्ध्रीवधेन च। अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रमः'–वायुपुराण। यह अपने शरीर को बहुत प्रेम करता था। एक बार इसने सदेह स्वर्ग जाने की इच्छा से वसिष्ठ को यज्ञ करने को कहा। वसिष्ठ ने ऐसा करना अस्वीकार कर दिया। तब वह उनके पुत्रों के पास पहुँचा। उन्होंने भी उसकी बात नहीं मानी। इस पर उसने उन्हें अपशब्द कहे। उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि 'तू चाण्डाल हो जायगा।' तब वह विश्वामित्र के पास पहुँचा। उन्होंने उसे यज्ञ कराया और अपने प्रभाव से सदेह स्वर्ग भेज दिया परन्तु इन्द्र और सब देवताओं ने उसे स्वर्ग से नीचे ढकेल दिया। जब विश्वामित्र ने यह देखा तो उन्होंने उसे मार्गमें ही रोक दिया। तब से वह आकाश में उलटा लटक रहा है। अन्तरा = बीच में।

पृ. १३०—कृत्ययोः भिन्नदेशत्वात्—दो काम दो भिन्न भिन्न स्थानों पर करने हैं। आश्रम का पालन करने के लिए तपोवन में रहना आवश्यक है और माता की आज्ञा पालन करने के लिए घर जाना आवश्यक है। द्वैधीभवति = दो भागों में बँट गया है। स्रोतः = प्रवाह। स्रोतोवहा = नदी। जिस प्रकार पहाड़से प्रतिहत होने पर नदी का प्रवाह दो भागों में बँट जाता है।

पृ. १३३—पुत्र इव गृहीतः = पुत्र की तरह माना है।

पृ. १३४-१३५—इमां अस्मत्प्रार्थनां—हमारी इस प्रार्थना को अर्थात् हमारी शकुन्तलाविषयक चाह को। अन्तःपुरिकाभ्यः = रानियों से। परोक्षमन्मथः-परोक्षः मन्मथः यस्य सः। कामकला से अनभिज्ञ। परमार्थेन न गृह्यतां—सच मत मानना। राजा का तात्पर्य यह है कि मैं तो विषयानन्द से पूर्णतया परिचित पुरुष हूँ और वे तापस कन्याएँ तो जङ्गली लड़कियाँ हैं। मृगों के साथ पली होने के कारण उन्हें कामकेलि का क्या ज्ञान? हमारा उनके साथ प्रणय नहीं हो सकता। हमने जो कुछ कहा उसे सच मत मानना।

पृ. १३६—एवमेतत् = ठीक कहते हो। ऐसी बात है। स्वनियोगं अनुतिष्ठ = अपना काम करो।



तृतीय अङ्क

पृ. १३७—कुश–एक प्रकार की घास है। इसका धार्मिक कृत्यों में काम पड़ता है। यजमानशिष्यः = यज्ञ करने वाले = ऋषि का शिष्य। धर्मशास्त्र के अनुसार शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह गुरु के लिये जङ्गल से कुश लावे। प्रविष्टमात्र एव = प्रविष्टः एव प्रविष्टमात्रः तस्मिन् प्रविष्टमात्रे। मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। वस्तुतः 'प्रविष्टमात्रं' होना चाहिये। भट्टोजि ने कौमुदी में 'चिदेव चिन्मात्रं'

उदाहरण दिया है। यह नित्यसमास होने के कारण अस्वपद विग्रह होता है। इस पर बालमनोरमाकार ने लिखा है 'निपातनाद् अनुनासिकनित्यतेत्याहुः'। परन्तु कालिदास ऐसे शब्द का पुंल्लिङ्ग में प्रयोग करते हैं। 'स विद्धमात्रः किल नागरूपं' रघु०। तत्रभवान् = पूज्य। संस्कृत में आदर प्रकट करने के लिये 'तत्रभवान्, अत्रभवान्' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। निरुपप्लव = निर्बाध।

पृ. १३८—हुङ्कारेणैव-वस्तुतः यहां हुङ्कारेणेव' पाठ होना चाहिये। 'वर्णात् कारः'—वा। जहां वर्णनिर्देश करना हो वहां वर्ण से स्वार्थ में 'कार' प्रत्यय होता है। यहां 'हुं' वर्ण से 'कार' प्रत्यय हुआ है। यहां बालमनोरमाकार ने लिखा है—यद्यपि 'कार' प्रत्यय धातु से विहित नहीं है तथापि अधिकारबलात् इसकी कृत् संज्ञा होती है। इसीलिए प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुप् विभक्ति आती है। प्रयोजनाभावात् ककार की इत्संज्ञा नहीं होती। अनार्धधातुकत्वात् इट् नहीं होता बहुलं की अनुवृत्ति होने से कहीं कहीं वर्णनिर्देश में कार प्रत्यय नहीं भी होता—जैसे 'अस्य च्वौ' इस सूत्र में। हुङ्कार की तरह। व्यपोहति = दूर करता है। वेदीसंस्तरणार्थं = वेदी पर बिछाने के लिए। दर्भान् = कुश नामक घास को। ऋत्विज् = हवन करने के लिये कम से कम चार ब्राह्मणों की आवश्यकता होती है उन्हें ऋत्विज् कहते हैं। उपाहरामि = ले जाता हूँ। उशीर = खस।

पृ. १३९—श्रुतिमभिनीयं = सुनने का अभिनय करके। आपतलङ्घनात् = लू लग जाने से। निर्वापणाय = गरमी शान्त करने के लिये। उपचर्यतां = उपचार करो। द्वितीयं उच्छ्वसितं = दूसरा प्राण है।

पृ. १४०—वैतानिकं-वितान = यज्ञ, विताने भवं वैतानिकं, ठञ् यज्ञ का शान्त्युदकं—शान्त्यर्थं उदकं शान्त्यदुकं, शान्तिकारक जल अथवा तीर्थं। विसर्जयामि = भेजता हूँ। इसी जल को देने के बहाने से तृतीय अङ्क के अन्त में गौतमी का प्रवेश होता है। विष्कम्भक—कथा के वे अंश जिनको अङ्कों में विस्तार से दिखलाना अभीष्ट न हो परन्तु घटनाचक्र को समझने के लिए जिनका ज्ञान आवश्यक हो उन्हें अर्थोपक्षेपकों के द्वारा उपस्थित करना चाहिये। अर्थोपक्षेपक पांच होते हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कावतार और अङ्कमुख। बीते हुए और आगे आने वाले कथांशों को दिखलाने वाले दृश्य को विष्कम्भक कहते हैं। विष्कम्भ्नाति इति विष्कम्भकः। यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और सङ्कीर्ण। एक या अनेक मध्यम पात्रों के द्वारा कल्पित विष्कम्भक शुद्ध होता है। एक मध्यम और एक नीच दो भिन्न वर्गों के पात्रों के द्वारा कल्पित विष्कम्भक संकीर्ण होता है। यह अङ्क के आदि में आता है। इसीलिए यह प्रथम अङ्क के पहिले भी आ सकता है। प्रकृत विष्कम्भक शुद्ध श्रेणी का है।

पृ. १४१—निम्नात् = नीचे की ओर से। जिस प्रकार जल नीचे की भूमि से

ऊपर की ओर नहीं बहता उसी प्रकार मेरा मन शकुन्तला की ओर से नहीं लौट रहा है।

पृ. १४२—कुसुमायुधस्य इत्यादि—कुसुमायुध होते हुए भी यह गरमी। और्वं=वडवानल। मद्विधानां=मेरे ऐसे लोगों के लिये। भस्मावशेषः=राख हो जाने पर भी।

पृ. १४३—अतिविश्वसनीयाभ्यां—काम और चन्द्रमा के नाम से संसार को विश्वास होता है कि इनसे कोई कष्ट नहीं होगा। क्योंकि काम कुसुमायुध है और चन्द्रमा की किरणें ठंढी होती हैं। अभिसन्धीयते=धोखा दिया जाता है। काम और चन्द्रमा कामिजनों को अपने नाम से विश्वास उत्पन्न करके धोखा देते हैं। क्योंकि उनसे उनको बहुत कष्ट होता है। कामिसार्थ=कामियों का झुंड।

पृ. १४४—वज्रसारीकरोषि—वज्रस्य सारः इव सारः येषां ते वज्रसाराः, न वज्रसाराः अवज्रसाराः तान् वज्रसारान् करोषि। च्वि प्रत्यय। वज्र के समान स्थिरांश वाले बनाते हो। इस पद्य के पूर्वार्ध में पहिले कुसुमशर का और बाद में इन्दु का नाम आया है। उत्तरार्ध में क्रम बदल गया है। इसलिये यहाँ प्रक्रम-भंग दोष है। परन्तु राजा की उन्मादावस्था के कारण वह गुण हो गया है। इसी प्रकार 'इन्दु' शब्द दो बार आने पर भी यहाँ कथितपदता दोष नहीं है।

पृ. १४५—अनिशमपि इत्यादि–इस श्लोक का दो प्रकार से अर्थ लगाया जाता है—(१) जिस प्रकार काम हमें पीड़ा दे रहा है उसी प्रकार यदि वह शकुन्तला को भी पीड़ा दे रहा हो तो निरन्तर पीड़ा देने वाला होने पर भी वह हमें प्रिय है। (२) यदि काम शकुन्तला को लक्ष्य करके (शकुन्तला के लिये) हमें पीड़ा देता है तो वह हमें प्रिय है। पहिले अर्थ में दोष यह है कि राजा को यह मालूम है कि शकुन्तला मुझ पर आसक्त है। द्वितीय अंक से यह बात स्पष्ट होती है। इसके अतिरिक्त कोई भी पुरुष अपनी प्रेमिका को कष्ट हो यह नहीं चाहता। दूसरे अर्थ में यह दोष है कि यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि मुझे जो कामपीड़ा हो रही है वह शकुन्तला के कारण है। फिर भी दूसरे अर्थ में एक प्रकार का त्याग झलकता है इसलिये पहिले अर्थ की अपेक्षा दूसरा अर्थ अच्छा है।

पृ. १४६—अनुक्रोशः=दया। श्रवणोपकण्ठे—श्रवणस्य उपकण्ठे=कान तक।

पृ. १४७—निरस्तविघ्नैः=जिनका विघ्न दूर कर दिया गया है। अनुज्ञातः= अनुमति पाकर। प्रियादर्शनात् ऋते—प्रिया दर्शन को छोड़ कर। उग्रातपां=उग्र धूप के समय। अन्य पुस्तकों में 'उग्रतपां' पाठ है।

पृ. १४८—बालपादपवीथ्या=छोटे छोटे पौधों वाले मार्ग से। बन्धनकोषाः= फूलों के वृन्त। अवचितपुष्पा=जिनसे फूल तोड़ लिये गए हैं।

पृ. १५१—विटपान्तरेण—डालियों के बीच से। लब्धं नेत्रनिर्वाणं=नेत्रों का सुख पा लिया। शिलापट्टं अधिशयाना–'अधिशीङ्स्थासां कर्म' अधि उपसर्गपूर्वक

शीङ् धातु के योग में शिलापट्टं में द्वितीया हुई। उपास्यते = शुश्रूषा की जा रही है। लतान्यवहितः = लता की आड़ से। विश्वस्तकथितानि = निर्भय होकर की जाने वाली बातें। आसां = इनकी।

पृ. १५२—उपवीज्य=हवा करके।

पृ. १५३—आतपदोषः = लू की पीड़ा। निर्वर्ण्य=ध्यान से देख कर। स्तनन्यस्तोशीरं=जिस शरीर में कामजन्य सन्ताप शान्त करने के लिये स्तनों पर खस का लेप लगाया गया है। प्रशिथिलमृणालैकवलयं = मृणाल के ढीले-ढाले एक वलय वाला। कामपीड़ा शान्त करने के लिये उपचार किये जा रहे हैं। शकुन्तला इतनी शिथिल हो गई थी कि वह एक से अधिक वलय धारण नहीं कर सकती थी। साबाधं-आबाधया सहितं=कामपीड़ा से युक्त।

पृ. १५४—प्रसर = वेग। सुभगमपराद्धं = सुन्दर अपराध। कामपीड़ा और लू दोनों से समान व्यथा होती है। परन्तु कामपीड़ा में शरीर सुन्दर दिखाई देता है और लू की व्यथा से वह नीरस हो जाता है। शकुन्तला का शरीर व्यथित होनेपर भी सुन्दर था। इसीसे राजा ने अनुमान किया कि उसे मदनबाधा है।

पृ. १५८—निगूहसि-छिपाती हो। परिहीयसे = दुबली होती जा रही हो। अवितथं=सच। क्षामक्षामकपोलं-क्षामक्षामौ कपोलौ यस्य तत्, चुचुके गालवाला। काठिन्यमुक्तस्तनं—काठिन्येन मुक्तौ स्तनौ यस्य तत्, ढीले कुच वाली। मध्यः = कमर। क्लान्ततरः=अत्यन्त दुर्बल। प्रकामविनतौ=अत्यन्त झुके हुए। अंसौ=कन्धे।

पृ. १५९—पत्राणामिव इत्यादि—पत्तों को सुखाने वाले पवन के द्वारा छूई हुई माधवीलता की तरह। वः आयासहेतुका = तुम लोगों को कष्ट देने वाली।

पृ. १६०—निर्बन्धः = आग्रह। स्निग्धजनसंविभक्तं= स्निग्धजनेषु संविभक्तं, मित्रों में बाँटा हुआ। सह्यवेदनं—सह्या वेदना यस्य तत्, सहन करने योग्य है। समदुःख-सुखेन जनेन = सुख और दुःख में समान रूप से साथ देने वाले मित्रों के द्वारा। आधिहेतुं=आधेः हेतुः तं मनोव्यथा का कारण।

पृ. १६१—अत्रोत्तरश्रवणकातरतां गतोऽस्मि = इस प्रश्न के उत्तर को सुनने के लिये कातर हो गया हूं। राजा यह जानता है कि शकुन्तला उससे प्रेम करती है। तथापि जब सखियाँ शकुन्तला से उसके आयास का कारण पूछती हैं तो वह उसका उत्तर सुनने के लिये अधीर हो जाता है।

पृ. १६३—निर्वापयिता = ताप शान्त करने वाला। तपात्यये—तपस्य अत्ययः तस्मिन्, ग्रीष्म ऋतु के बाद। काम ने ही राजा को कष्ट दिया था, अब उसी ने शकुन्तला के मुख से युक्त उत्तर दिला कर उसे शान्ति प्रदान की। ग्रीष्म ऋतु में जो दिवस लोगों को कष्ट देता है वही दिवस वर्षा ऋतु में सुख देता है।

पृ. १६४—वां अनुमतं-तुम दोनों को इष्ट हो। अन्यथा स्मरतं माम् = नहीं

तो मुझे स्मरण करना। अर्थात् मैं मर जाऊँगी। केवल तुम्हारी स्मृति में रह जाऊँगी। विमर्शच्छेदी=संशय दूर करनेवाला।

पृ. १६५—दूरं गतः अस्याः मनोरथः=इसका मनोरथ गहराई तक चला गया है। राजा के प्रति इसका प्रेम इसके मन में दृढ़ हो गया है। अक्षमा इयं कालहरणस्य=अब यह विलम्ब बरदाश्त नहीं कर सकती।

पृ. १६६—निभृतं=गुप्त रूप से। प्रजागरकृशः=जागने के कारण दुबला कामपीड़ा अधिक होने पर रात में निद्रा नहीं आती।

पृ. १६७—अन्तस्तापैः अशिशिरतरैः=हृदय की व्यथा के कारण गरम। यह 'अश्रुभिः' का विशेषण है। अन्तस्ताप अशिशिरतर होने में कारण है। यहाँ 'अन्तस्तापात्' पाठ अधिक अच्छा होगा। कार्य और कारण में एक ही विभक्ति होने से अर्थ समझने में कठिनाई होती है। विवर्णमलीमस यहाँ 'विवर्णमणीकृतं' पाठ अच्छा होगा। विकृत वर्ण होने के कारण मैला अथवा जिसके रत्न मैले हो गये हैं। भुजन्तस्तापाङ्गप्रवर्त्तिभिः—भुजे न्यस्तात् अपाङ्गात् प्रवर्त्तितुं शीलं येपां ते तैः। कामपीडा के कारण राजा प्रायः जमीन पर ही सो जाता था। अपनी भुजा को मोड़ कर तकिया बना लेता था। ऐसा करने से उसकी एक आँख का कोना उसके कङ्कण के पास आ जाता था। उसमें से बहने वाले आंसुओं से कङ्कण के रत्न मैले हो जाते थे।

पृ. १६८—अनतिलुलितज्याघाताङ्कात् मणिबन्धनात्—किशोरकेलिकार ने इसकी दो प्रकार से व्याख्या की है। दोनों व्याख्यान सन्तोषप्रद नहीं हैं। यहाँ 'लुल विमर्दने' धातु है। वस्तुतः यह क्रियाविशेषण होना चाहिए और 'अनति' के स्थान पर 'अनभि' होना चाहिए। अनभिलुलितज्याघाताङ्कं—मणिबन्धन पर के प्रत्यञ्चाघातजन्य व्रणकिण को बिना रगड़े कङ्कण नीचे खसक जाता था। यह इस बात को व्यक्त करता है कि राजा बहुत दुर्बल हो गया था। स्रस्तं स्रस्तं=बार बार नीचे खसक आता है। प्रतिसार्यते=पुनः ऊपर सरका दिया जाता है।

पृ. १६९—मदनलेखनं=प्रेम का पत्र। सुमनोगोपितं=फूलों में छिपा कर। देवतासेवापदेशेम=देवपूजा के व्याज से। कहीं कहीं 'देवशेपापदेशेन' पाठ है। देवनिर्माल्य के बहाने से। शेषा का अर्थ है निर्माल्य। 'शेषा निर्माल्यदाने स्यात्'—हैम। 'तथेति शेपामिव भर्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदनः प्रतस्थे'—कुमार०।

पृ. १७०—उपन्यासानुरूपां=अपनी अवस्था का परिचय देने योग्य।

पृ. १७१—अवधीरणाभीरुकं=अवज्ञा से डरने वाला। शकुन्तला डरती है। कि कहीं राजा गँवार लड़की समझ कर उस के प्रेम को अस्वीकार न कर दे। पत्र लिखने के बाद यदि ऐसा हुआ तो बड़ा ही अपमान होगा। वेपते—काँपता है।

पृ. १७२—करभोरु—करभौ इव ऊरू यस्याः सा तस्याः सम्बोधने। हे करभ के

समान ऊरु वाली। मणिबन्ध से लेकर कनिष्ठिका के मूल पर्यन्त हथेली का बाहरी हिस्सा करभ कहलाता है। यह जिस प्रकार चढ़ाव उतारदार होता है उसी प्रकार सुन्दर चढ़ाव उतार दार जघन वाली।

पृ. १७३—आत्मगुणावमानिनि—राजा का आशय यह है कि शकुन्तला सब गुणों से भरी है। वह जिस पुरुष को इशारा करे वही अपने आपको उसे अर्पण कर दे। फिर भी वह अपने गुणों को कुछ न समझकर यह सोचती है कि राजा उसके प्रणय की अवज्ञा करेगा। यह तो विचित्र बात है। को नाम सन्तापनिर्वापहेतुकां इत्यादि-कौन पुरुष ऐसा है जो सन्ताप दूर करने वाली शरत् काल की चांदनी को छाते से रोकेगा।

पृ. १७४—विस्मृतनिमेषेण=बिना पलक गिराये।

पृ. १७६—असन्निहितानि लेखनसाधनानि=लिखने का सामान पास नहीं है। शुकोदरसुकुमारे—शुकस्य उदरं इव सुकुमारे, सुग्गे के पेट के समान कोमल। भक्तिः—रचना।

पृ. १८०—तपति इत्यादि-तुम्हें तो काम केवल सन्ताप देता है, हमें तो वह जला डालता है। दिवस जितना चन्द्रमा को हतप्रभ कर देता है उतना कुमुदिनी को नहीं। यहां 'तपति' और 'दहति' के अन्तर पर ध्यान दीजिए।

पृ. १८१—यथासमीहितफलस्य स्वागतं=मनचाहे फल का स्वागत है। राजा मनचाहा फल है। वह अचानक मिल गया। अविलम्बिनो मनोरथस्य=अविलम्ब प्राप्त होने वाले मनोरथ का स्वागत है। यहां मनोरथ का अर्थ है मनोरथ विषयीभूत राजा।

पृ. १८२—सन्दष्टकुसुमशयनानि-यह 'गात्राणि' का विशेषण है। सन्दष्टं कुसुमशयनं येषु तानि। राघवभट्ट ने 'सन्दष्ट' का अर्थ 'सम्यक् लग्नं' किया है। जिनमें कुसुमशयन चिपक गया है। अङ्ग उठाये जाते हैं तो उनमें चिपका हुआ कुसुमशयन भी उठ आता है। यह अन्दर की गरमी का सूचक है अथवा सन्तुष्टं कुसुमशयनं यः तानि। जिन्होंने कुसुमशयन को रगड़ कर म्लान कर दिया है। आशु=शीघ्र। विमर्दितमृणालवलयानि—विमर्दितानि मृणालवलयानि यैः तानि। जिन्होंने शीघ्र मृणाल के कङ्कणों को रगड़ कर खराब कर दिया है। इससे बेचैनी व्यक्त होती है। बेचैनी के कारण छटपटाने वाले अङ्गों ने मृणालवलयों को विमर्दित कर दिया है। गुरुपरितापानि-गुरुः परितापः येषु तानि। बहुत गरमीवाले। यह विशेषण उपर्युक्त दोनों विषयों में कारण है। गरमी के कारण ही अङ्गों में कुसुमशयन चिपक गया है और मृणालवलय विमर्दित कर दिये गये हैं। गात्राणि अङ्ग। उपचारं न अर्हन्ति-माननीय पुरुष के आने पर सम्मान प्रदर्शन के लिए जो कार्य किया जाता है, जैसे उठकर खड़ा हो जाना इत्यादि, उपचार कहलाता है। तुम्हारे अङ्ग उपचार करने

योग्य नहीं हैं। राजा को देखकर शकुन्तला खड़ी होना चाहती थी। उसी पर राजा ने यह कहा है। ससाध्वसं = घबराहट से। उत्तम्य = उत्कण्ठित होकर।

पृ. १८३—लब्धौषधः इत्यादि—शकुन्तला राजा के वियोग में पीड़ा का अनुभव कर रही थी। वह उसके पास आ गया है। अतः औषध प्राप्त हो गया है।

पृ. १८४—पुनरुक्तवादिनीं करोति—राजा और शकुन्तला का प्रेम उनकी अवस्था और चेष्टा से ही व्यक्त है। उसी बात को पुनः कहने के कारण प्रियंवदा पुनरुक्तवादिनी हुई। उस विषय में उसका कुछ भी कहना व्यर्थ है। क्योंकि दोनों एक दूसरे के भाव को जानते हैं।

पृ. १८५—आर्त्ति = पीडा।

पृ. १८६—अभ्युपपत्त्या = अनुग्रह करके। साधारणोऽयं प्रणयः=यह प्रार्थना तो दोनों तरफ से है।

पृ. १८७—अलं वा इत्यादि—रानियों के विरह से उत्कण्ठित महाराज को कष्ट मत दो। शकुन्तला की यह उक्ति चतुराई से भरी है। वह यह जानती है कि राजा पूर्णरूप से उसके प्रेमपाश में बँध गया है। फिर भीं वह उसके मुख से यह बात स्पष्ट सुनना चाहती है। वह उसके मुख से यह कहलाना चाहती है कि रानियों को देखकर वह उसे भूल न जायगा। अनन्यपरायणं = दूसरे को न चाहने वाला। अन्यथा = दूसरे रूप में। अर्थात् यदि तुम यह समझती हो कि मैं तुम्हारी अपेक्षा दूसरी स्त्रियों को अधिक चाहता हूँ। पुनः हतः—एक बार तो काम ने मारा ही था दूसरी बार विचित्र कल्पना करके तुमने मारा।

पृ. १८८—बन्धुजनशोचनीया = सम्बन्धियों के शोक का कारण यदि कोई पुरुष किसी स्त्री को एक बार स्वीकार करके कुछ समय बाद छोड़ दे तो वह स्त्री बन्धुजनों के शोक का कारण हो जाती है।

पृ. १८९—परिग्रहबहुत्वेऽपि=बहुतसी पत्नियाँ होने पर भी। परिग्रह=भार्या, पत्नी। समुद्ररसना = समुद्र से घिरी हुई। उर्व्वी = पृथ्वी।

पृ. १९१—प्रेक्षस्व इत्यादि—देखो देखो जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में बादल की हवा लगने से मयूरी प्रसन्न होती है उसी प्रकार राजा की बात सुनकर शकुन्तला ताजी हो रही है। मर्षय तं लोकपालं = तुम दोनों राजा से माफ कराओ। विस्रब्ध प्रलापिनीभिः अस्माभिः = मनमानी बकवाद करने वाली हम लोगों के द्वारा। उपचारातिक्रमेण = शिष्टाचार का उल्लङ्घन करके। यत् भणितं = जो कहा।

पृ. १९२—मन्त्रितं=कहा। मर्षयतु = माफ करावे। कः अत्ययः = क्या दोष। विषोढुं अर्हति = क्षमा करें। परोक्षं वा इत्यादि—पीठ पीछे कौन क्या नहीं कहता। शकुन्तला उस समय को ध्यान में रख कर कह रही है 'जब राजा छिपकर बात सुन रहा था।

पृ. १९३—रम्भोरु=कदली स्तम्भ के समान चिकने और चढ़ाव उतारदार जघन वाली। तवाङ्गसङ्गमृष्टे=तुम्हारे बदन से विमर्दित। क्लमापहे=ग्लानि दूर करने वाले। स्वजनत्वात्=अपना समझ कर। अवकाशं अनुमन्यसे=स्थान दोगी। मया क्रीडसि=मुझसे मजाक करती हो।

पृ. १९४—तपस्वीमृगपोतकः=बेचारा मृग का बच्चा। प्रभ्रष्टां=खोई हुई को। संयोजयामि=मिला देती हूँ। इस बहाने से दोनों सखियाँ चली जाती हैं और शकुन्तला और राजा को एकान्त में मिलने का अवसर देती हैं।

पृ. १९६—सखीभूमौ=सखी के स्थान पर। शीकरैः=जल के कणों से। ताल-वृन्त=पंखा। संवाहयामि=दबाऊँ।

पृ. १९८—अपरिनिर्वाणः दिवसः=अभी सायंकाल नहीं हुआ है।

पृ. २००—आत्मनः अनीशां कृत्वा=अपने ऊपर बेकाबू बनाकर।

पृ. २०१—अप्यौत्सुक्ये इत्यादि—यह प्रथम मिलन के समय नवोढा नायिका की अवस्था का वर्णन है। प्रतीपाः=प्रतिकूल। काङ्क्षन्त्योऽपि=चाहते हुए भी। व्यतिकरसुखं=परस्पर अंग दान से मिलन (सुरत) सुख। स्वाङ्गदाने कातराः=अपना अंगदान करने में लज्जा और भय से आक्रान्त रहती हैं। लब्धान्तरत्वात् मदनेन एव न खलु आबाध्यन्ते=मन में स्थान पाकर काम इनको पीड़ा देता है केवल इतना ही नहीं। क्षिप्तकालाः कुमार्यः मनसिजं अपि आबाधन्ते=जिन्होंने रतिसुख का काल अर्थात् यौवन का आरम्भ व्यर्थ अकेली अवस्था में बिता दिया है ऐसी कुमारियाँ काम को भी पीड़ा देती हैं। क्योंकि काम अचरितार्थ रहता है।

पृ. २०४—साङ्गभङ्गम्=अंगडाई लेकर। यह कामपीड़ा का परिणाम है।

पृ. २०५—पर्यन्तकुरबकैः=पास ही तपोवन के किनारे पर उगे हुए कुरबक के वृक्षों से। भावानुबन्धं=प्रेम।

पृ. २०६—निर्दयोपभोगस्य इत्यादि=शिरीष का पुष्प तो कोमल होता है पर उसका वृन्त कठिन होता है। उसी प्रकार तुम्हारा रूप तो अति कोमल है परन्तु तुम्हारा हृदय न जाने से कैसे इतना कठिन है। इदं श्रुत्वा इत्यादि=यह सुनकर अब तो मेरा यहाँ से जाने का सामर्थ्य नहीं है।

पृ. २०७—संक्रान्तोशीरपरिमलं—संक्रान्तः उशीरस्य परिमलः यस्मिन् तत्। जिसमें खस की खूशबू पैठ गई है। निगडमिव=बेड़ी की तरह।

पृ. २०९—अपदेशेन=बहाने से। परिदेवनानन्तर=रोने के बाद।

पृ. २१३—भर्तुराभापणपदमेतत्=यह पति को बुलाने का शब्द है। शकुन्तला के मुख से अपने लिये 'आर्यपुत्र' शब्द सुन कर राजा को विश्वास हुआ कि इसने मुझे पति मान लिया है। स्त्रियाँ अपने पति को आर्यपुत्र कहती हैं।

पृ. २१४—प्रतिमोच्य=पहिना कर। श्यामलतामनोहरं करं-इससे यह प्रतीत

होता है कि शकुन्तला श्याम वर्ण की थी। नवो निशाकरः=नया चन्द्रमा, जिसमें एक कला होती है। उभयकोटिम् आश्रितः=उसके दोनों किनारे मिल गए हैं। नया चन्द्रमा मोड़े हुए मृणाल के समान दिखाई देता है। उसके दोनों किनारे मिल जायँ तो वह मृणालवलय के समान दिखाई देगा।

पृ. २१६—सेव्य=मालिक। अयमेव अत्यादरः इत्यादि–जब कोई पुरुष किसी स्त्री की बहुत चापलूसी करता है तो समझना चाहिये कि उसके मन में प्रेम है और वह समागम चाहता है।

पृ. २१७—अयि मदिरेक्षणे इत्यादि–ओ मस्त करने वाले नेत्र वाली! हम कोई अविनय करेंगे, इसकी शंका मत करो। शकुन्तला के मन में यह सन्देह उत्पन्न हो गया है कि कहीं यह फूँक कर आँख में गया हुआ कमलरेणु निकालने के बहाने चुम्बन न कर ले। स्फुरितेन=स्पन्दन से, फड़कान से। अपरिक्षतकोमलः=पहिले कभी दाँत से परिक्षत न होने के कारण कोमल।

पृ. २१९—इदमपि उपकृतपक्षे—यह भी तो उपकार ही है। सुरभि मुखं-शकुन्तला पद्मिनी नायिका है। उसके मुख से कमल की सुगन्ध आती है।

पृ. २२०—इदम्—यह कह कर राजा चुम्बन करने का प्रयत्न करता है। वक्त्रं ढौकते–शकुन्तला मुख फेर लेती है।

पृ. २२१—आमन्त्रयस्व सहचरम्—अपने सहचर से विदा लो। गौतमी आ रही है। अतः शकुन्तला को सचेत करने के लिये यह कहा गया है। अनसूया और प्रियंवदा में से किसी ने दूर से चक्रवाक-वधू के बहाने से कहा है। मञ्च पर चुम्बन आदि नहीं दिखलाना चाहिये। इसलिये कवि ने इस अवसर पर नायक और नायिका को अलग किया है।

पृ. २२२-२२३—धर्मकनीयसी=धर्म की (मानी हुई) छोटी बहिन। मम वृत्तान्तोपलम्भनिमित्तम्=मेरा समाचार जानने के लिए। विटपान्तरितः=डालियों के आड़। जाते=बच्ची!। अत्याहितं=महाभीतिः, यहाँ इसका अर्थ है 'खराब हालत'। इह देवता इत्यादि=तू क्या यहाँ अकेली बैठी है?

पृ. २२४—मालिनी=एक नदी का नाम है। अभ्युक्षय=सींच कर। अस्ति विशेष=अवस्था में फरक है।

पृ. २२६—सुखोपनते=अनायास प्राप्त होने पर। कालहरणं=वृथा समय खोना। लतागृह, सन्तापहर इत्यादि=शकुन्तला की यह उक्ति दो अर्थ वाली है। एक अर्थ लतागृह के पक्ष का है और दूसरा राजा के। हे लतागृह!=हे कुञ्ज!। हे सन्तापहर!=हे छाया देकर सन्तापहरण करने वाले!। राजा के पक्ष में हे लतागृह सन्तापहर' एक साथ लिया जा सकता है। हे लतागृह में सम्भोग करके कामजन्य सन्ताप को हरण करने वाले। आमन्त्रयामि=लतागृह के पक्ष में 'विदा

लेती हूँ' राजा के पक्ष में 'पुनः बुलाती हूँ'। 'परिभोगार्थं=लतागृह के पक्ष में 'सुखपूर्वक आश्रय लेने के लिये' राजा के पक्ष में 'सम्भोग के लिये'।

पृ. २२६—अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम् = अधरश्च ओष्ठश्च अधरोष्ठं, 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्', इस नियम से एकवद्भाव और नपुंसकत्व होता है। अङ्गुलिभिः संवृतम् अधरोष्ठं यस्मिन् तत्। अथवा—अधरः ओष्ठः अधरोष्ठः अङ्गुलिभिः संवृतः अधरोष्ठः यस्मिन् तत्। जिस समय राजा चुम्बन का प्रयत्न कर रहा था उस समय शकुन्तला ने अपनी अङ्गुलियों से अपने ओठ ढक लिये थे। प्रतिषेधाक्षरविक्लवं—मा, मा, इत्यादिभिः प्रतिषेधाक्षरः विक्लवम् अपि अभिरामम् अथवा-प्रतिषेधाक्षराणां विक्लवम् अस्पष्टोच्चारणं तेन अभिरामं=चुम्बन का प्रतिषेध करते समय घबड़ाया हुआ होने पर भी सुन्दर।

पृ. २२७—अंसविवर्त्ति = अंसे विवर्त्तते इति अंसविवर्त्ति = कन्धे पर फेरा हुआ। पहिले मना करने पर फिर अङ्गुलियों से ढकने पर भी जब राजा नहीं माना तब शकुन्तला ने अपना चेहरा कन्धे की तरफ फेर लिया।

पृ. २२८-शरीरलुलिता=लोटपोट करने के कारण शरीर से विमर्दित। मन्मथलेखः—प्रणय का पत्र। नखैः अर्पितः=नखों से लिखा हुआ। आसज्यमानेक्षणः—आसज्यमाने ईक्षणे यस्य सः। जिसकी दृष्टि गड़ गई है (टकटकी बँध गई है) ऐसा मैं। निर्गन्तुं न ईशः अस्मि = बाहर निकलने में समर्थ नहीं हूँ।

पृ. २२९—सुवदना यदि पुनः रहः प्रत्यासत्तिं यास्यति = सुवदना यदि पुनः एकान्त में मिले। कालं न हास्यामि = समय न खोऊँगा। विषमाः प्रकृतिदुरवापाः हि = क्योंकि विषयभोग स्वभाव से ही दुर्लभ होते हैं।

पृ. २३०—विघ्नैः क्लिष्टं = विघ्नों से पीडित। मे मूढहृदयं=मेरा मूढ हृदय। इति गणयति = ऐसा मानता है। प्रियायाः प्रत्यक्षम् इत्यादि = प्रिया के सामने न जाने मेरा मन उस प्रकार कैसे कातर हो गया। सायन्तने = सायं भवं सायन्तनं तस्मिन्=सायंकालीन। सवनकर्म=यज्ञकार्य, अग्निहोत्र, होम। 'सवनं त्वध्वरे स्नाने सोमनिर्दलनेऽपि च'—मेदिनी। सम्प्रवृत्ते=प्रारम्भ होने पर।

पृ. २३१—हुताशनवतीं वेदीं परितः=अग्नियुक्त वेदी के चारों तरफ। प्रकीर्णाः= व्याप्त। छायाः=प्रतिबिम्ब, परछाहीं। भयमादधानाः = भय उत्पन्न करने वाली, डरावनी। सन्ध्याभ्रकूटकपिशाः=सन्ध्याकालीन मेघसमूह के समान काले और पीले रङ्ग की। 'श्यावः स्यात् कपिशः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ'—अमर०। पिशिताशनानां—पिशितं मांसम् अशनं भोजनं येषां ते। तेषां=राक्षसों की। राक्षस आकाश में उड़ते हैं। इसलिये वे स्वयं पृथ्वी पर नहीं दिखाई देते। उनकी छाया दिखाई देती है। इस श्लोक में भयानक रस है।

पृ. २३२—सावष्टम्भम् = अकड़ के साथ। अवष्टम्भ में गर्व, हिम्मत, धैर्य, तेज आदि अनेक भाव मिले होते हैं।

—:o:—

चतुर्थ अङ्क

पृ. २३४—कुसुमावचयं—पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'सुकुमावचायं' होना चाहिये। 'हस्ताऽऽदाने चेः अस्तेये'–इस नियम से 'घञ्' होकर वृद्धि होगी 'कुसुमावचय' का अर्थ है फूल चोराना। 'अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः'—काव्य प्र०। यह कालिदास के अपाणिनीय प्रयोग का एक उदाहरण है। निर्वृत्तकल्याणा—निर्वृत्तं कल्याणं तस्याः सा=यहाँ कल्याण शब्द विवाह के अर्थ में आया है। विवाह हो गया है। अनुरूपभर्तृभागिनी–अनुरूपं भर्तारं भजते इति अनुरूपभर्तृभागिनी=योग्य पति पा गई है।

पृ. २३४—इष्टिः=यज्ञ। विसर्जितः=विदा किया जाने पर। अन्तःपुरसमागमाद्=महल की सुन्दरियों से भेंट होने पर। आकृतिविशेषाः आकृतीनां विशेषाः। सुन्दर आकृति। अथवा—आकृतिः विशेषः येषां ते=विशेष प्रकार की सुन्दर आकृति वाले पुरुष। गुणविरोधिनः—गुणैः विरोधः येषां ते=गुणहीन। ऐसा माना जाता है कि सुन्दर आकार वाला पुरुष गुणहीन नहीं होता। जहाँ सुन्दर रूप है वहां अच्छे गुण अवश्य रहते हैं। यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः'—कुमार०। 'नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्—मृच्छ०। 'आकारसदृशप्रज्ञः–रघु०। 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'—वृ० सं०।

पृ. २४०—अविरलपादत्वरया-अविरलाः पादाः यस्यां तादृशी त्वरा यस्यां सा तया=जल्दी जल्दी कदम बढ़ाते हुए तेज गति से।

पृ. २४१—अर्घ्योदकं—सत्कार के लिये पूजा की सामग्री और जल। आवेगस्खलितया=घबड़ाहट और जल्दी के कारण लड़खड़ाने वाली। अग्रहस्तात्—अग्रश्चासौ हस्तश्च। अवयव और अवयवी का लक्षणया अभेद मान लिया जाता है। अथवा–हस्तस्य अग्रम्–ऐसा करके आहिताग्न्यादि गण में पाठ करके विकल्प से 'अग्र' का पूर्वनिपात किया जा सकता है। परन्तु ऐसा करने से बहुव्रीहि समास की प्रक्रिया तत्पुरुष में करनी पड़ेगी। अतः पहिला प्रकार ही ठीक है। (काले की टिप्पणी)

पृ. २४५—हला, द्वयोरेव इत्यादि–शकुन्तला को दुर्वासा के शाप का पता नहीं था। उसका ध्यान राजा की ओर लगा था। सखियाँ उस वृत्तान्त को उनसे छिपाना चाहती हैं। क्योंकि उनके मन पर 'उस वृत्तान्त का असर बहुत खराब हो सकता है। कस्तावदुष्णोदकेन इत्यादि–शकुन्तला को दुर्वासा के शाप का वृत्तान्त बताना नवमलिका को गरम पानी से सींचने के समान होगा।

पृ. २४५—प्रभाता रजनी=रात समाप्त होकर प्रभात हो रहा है। कण्व प्रवास से लौट आये हैं। उन्होंने अपने शिष्य को समय का ध्यान रखने के लिये कहा है।

पृ. २४७—दशान्तरेषु—दशानाम् अन्तराणि दशान्तराणि तेषु=राघवभट्ट के अनुसार यहां 'अन्तर' शब्द 'विशेष' वाचक है। दशाविशेषों के विषय में, अथवा अनेक दशाओं के विषय में, अथवा दशाओं के अनेक रूपों के विषय में, अथवा अन्याः दशा दशान्तराणि तेषु। भिन्न भिन्न दशाओं के विषय में अर्थात् दशाओं के भेद के विषय में। नियम्यते=शिक्षा दी जाती है। राघवभट्ट के अनुसार इस वाक्य में 'दैवेन' कर्ता है। उसका अध्याहार करना होगा। 'व्यसनोदयाभ्यां' यह हेतु समर्पक पद है। दैव चन्द्र और सूर्य के व्यसन और उदय के द्वारा मानो मनुष्यों को विभिन्न दशाओं के विषय में शिक्षा दे रहा है। अथवा 'व्यसनोदयाभ्यां' को ही कर्ता मान सकते हैं। चन्द्र और सूर्य के व्यसन और उदय मानो मनुष्यों को ही विभिन्न दशाओं की शिक्षा दे रहे हैं।

पृ. २४८—अन्तर्हिते—अस्त हो जाने पर। संस्मरणीयशोभा=जिसकी शोभा केवल स्मरण का विषय रह गई है। इस पद्य से दुष्यन्त और शकुन्तला के वृत्तान्त की व्यञ्जना हो रही है। चन्द्रवंश में उत्पन्न राजा दुष्यन्त के चले जाने से शकुन्तला शोभाहीन हो गई। उसे उसका वियोग असह्य हो रहा है।

पृ. २४९—कर्कन्धूः=बेर। तुहिनम्=ओस को। अग्रसन्ध्या=प्रभात काल। प्रभात और सायं दोनों वेलाएं दिन की रात्रि के साथ सन्धि होने के कारण दोनों सन्ध्या कहलाती हैं। एक को प्रभातसन्ध्या और दूसरी को सायंसन्ध्या कहते हैं। रञ्जयति=लाल कर रही है। दार्भ=दर्भ नाम की घास का बना हुआ। उटजपटल= झोपड़ी का छप्पर।

पृ. २५०—आयच्छमानः=फैलाता हुआ, अंगड़ाई लेता हुआ। इस पद्य में स्वभावोक्ति अलङ्कार है। पादन्यासं कृत्वा=पैर रख कर। क्षितिधरगुरोः= पर्वतों में श्रेष्ठ।

पृ. २५१—क्रान्तं-पार किया। विष्णोः मध्यमं धाम=आकाश। अत्यारूढिः= अत्यन्त उन्नति। अपभ्रंशनिष्ठा=अन्त में पतनवाली। उन्नति के शिखर पर पहुँचने के बाद पतन होता है। यह पद्य शकुन्तला पर आगे आने वाली आपत्ति की सूचना देता है। अपटीक्षेपेण=परदा हटा कर। अपटी जवनिका इति राघवभट्टः। जब किसी पात्र को आनन्द, दुःख, भय आदि भावों के वेग में सहसा प्रवेश कराना होता है तब संस्कृत नाटकों में अपटीक्षेपेण-लिखा रहता है।

पृ. २५२—एवं नाम इत्यादि-विषयपराङ्मुख तपोवन में रहने वाले जनोंपर ऐसी आफत कभी नहीं पड़ी जैसी दुष्यन्त के अनार्य आचरण के कारण शकुन्तला पर पड़ी है। तपोवन से नगर जाने पर राजा शकुन्तला को एकदम भूल गया। उसने उसका समाचार जानने के लिए कभी कोई आदमी नहीं भेजा और न कोई पत्र ही भेजा। प्रेमसंबन्ध स्थापन करके इस प्रकार भूल जाना अनार्य आचरण

है। इस वाक्य के अनेक पाठ मिलते हैं। कविसम्मत मूलपाठ कौन सा है यह कहना कठिन है। इस संस्करण में जो पाठ छपा है उसमें 'इति' व्यर्थ मालूम पड़ता है।

पृ. २५३—ननु प्रभाता रजनी इत्यादि—यहाँ अनसूया के दो-तीन वाक्य ढीले ढाले से लगते हैं। किशोरकेलिकार कहते है—शिष्यवाक्येन प्रभात बुद्ध्वा। परन्तु 'अपटीक्षेपेण' से अनसूया की दूसरी उक्ति तक का ग्रन्थ पढ़ने से प्रतीत होता है कि न अनसूया का वाक्य शिष्य सुन रहा है और न शिष्य का वाक्य अनसूया। अनसूया तो शयन पहिले ही छोड़ चुकी है। शयन छोड़ने के बाद ही तो वह परदा हटा कर मञ्च पर आयी। वह शकुन्तला के भविष्य के विषय में इतनी चिन्तित है कि उसके पुनः सोने जाने की कोई सम्भावना नहीं। बम्बई संस्करण-में अनसूया की दूसरी उक्ति इस प्रकार आरम्भ होती है—'प्रतिबुद्धापि किं करिष्यामि। न मे उचितेष्वपि निजकरणीयेषु हस्तपादं प्रसरति। कामः इदानीं सकामो भवतु'—इत्यादि। हमारे विचार से निम्नलिखित पाठ अधिक अच्छा होगा—प्रतिबुध्यापि किं करिष्यामि। न मे उचितेषु करणीयेषु हस्तपादं प्रसरति। कामः इदानीं सकामो भवतु'—इत्यादि। मैं यह जान कर भी क्या कर सकती हूँ कि राजा ने अभद्र व्यवहार किया है। इस दुःख का प्रतीकार करने के लिये जो उचित कार्य करना चाहिये उसमें मेरे हाथ पैर नहीं चलते। दुष्ट काम सफल मनोरथ हो। इत्यादि। यह उक्ति अनसूया की प्रथम उक्ति से सम्बद्ध होगी।

पृ. २५४—दुःखशीले तपस्विजने=जिनका दुःखसहन करने का अभ्यास पड़ गया है ऐसे तपस्वियों में से। सखीगामी दोषः इति=सखी का (शकुन्तला का) दोष है यह। व्यवसाययितुं=निश्चय करके कहना।

पृ. २५५—आपन्नसत्त्वा=गर्भिणी। प्रस्थानकौतूहलं=विदाई का उत्सव। निर्वर्तयितुं=सम्पन्न करने के लिये।

पृ. २५६—सुखसुप्तिकाप्रश्ननिमित्तं=सुख से निद्रा आई या नहीं यह पूछने के लिये। धूमोपरुद्धदृष्टेः=धूम से व्याकुल दृष्टि। पावकस्य=अग्नि के।

पृ. २५७—सुशिष्यपरिदत्ता=अच्छे शिष्यको दी हुई। ऋषिपरिरक्षितां=ऋषियों से रक्षित। विसर्जयामि=भेजता हूँ। आख्यातः—कहा।

पृ. २५८—अग्निशरणं—अग्निशाला में। अग्निहोत्री के घर में एक कमरा अग्नि रखने के लिये अलग कर दिया जाता है। धनिक लोग एक स्वतन्त्र मकान में अग्निशाला बनाते हैं। श्रौत अग्नि तीन होते हैं-गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणा। छन्दोमय्या वाचा=छन्दोबद्ध वाणी से।

पृ. २५९—अग्निगर्भां शमी—एक बार देवताओं की आज्ञा से अग्नि ने शिवजी का शुक्र धारण किया। परन्तु वह उसकी गरमी सहन न कर सका। तब उसने

शमी वृक्ष में शरण ली। देवता जब अग्नि को खोजने निकले तब उन्होंने उसे शमी वृक्ष में पाया। तभी से उन्होंने शमी वृक्ष को उसका स्थायी निवासस्थान बना दिया। यह कथा महाभारत के अनुशासनपर्व में दी है। इस सम्बन्ध में एक और कथा महाभारत के शल्यपर्व में मिलती है। एक बार भृगु के शाप के डर से अग्नि ने शमी वृक्ष में शरण ली। कण्व को शकुन्तला के कुमारी अवस्था में गर्भिणी होने का समाचार देववाणी द्वारा अग्निशरण जैसे पवित्र स्थान पर उपासना के समय मिला। इस अप्रिय समाचार को कोई भी मनुष्य कण्व तक नहीं पहुँचा सकता था। यदि कण्व को किसी मनुष्य से यह समाचार मिलता तो वे उस पर विश्वास न करते। कदाचित् झूठी शिकायत समझ कर समाचार देने वाले को ही शाप देकर भस्म कर डालते। कदाचित् क्रुद्ध होकर अविनय के लिए दुष्यन्त को ही शाप देकर भस्म कर डालते। देववाणी के द्वारा यह समाचार मिलने से यह अनर्थ न हो पाया। उन्हें दुष्यन्त और शकुन्तला के सम्बन्ध पर विश्वास हो गया, और इस बात का भी सन्तोष हुआ कि जो कुछ भी हुआ वह देवताओं की इच्छा से जगत् के कल्याण के लिए हुआ। इस घटना से अनसूया और प्रियंवदा के भी सिर का बहुत बड़ा बोझ उतर गया। उत्कण्ठासाधारणं परितोषं=भावी वियोगजन्य दुःख के साथ सुख।

पृ. २६०—नारिकेलसमुद्गके=नारियल के डब्बे में नरियरी में। कालहरणक्षमा= समय बीतने पर भी खराब न होनेवाली। केसरगुण्डा=नागकेसर का पराग।

पृ. २६१—गोरोचना—यह गाय के सिर से निकलता है। कुछ लोगों के अनुसार यह गाय के पित्त अथवा मूत्र से बनता है। इसका उपयोग औषध रूप में किया जाता है। इसका तिलक के लिए अथवा सुगन्धित द्रव्य के रूप में भी उपयोग होता है। तीर्थमृत्तिका=तीर्थ की मिट्टी। दूर्वाकिसलयानि=दूब। समालम्भनं=अलङ्कार। 'समालम्भनमालेपे तिलकेऽलङ्कृतावपि'—यादवप्रकाश। उपर्युक्त पदार्थ माङ्गलिक माने जाते हैं। जब कोई व्यक्ति यात्रा करता है तो उसे ये पदार्थ दिए जाते हैं। विरचयामि=एकत्र करती हूँ।

पृ. २६३—प्रतीष्टनीवाराभिः=जिन्होंने निवार धान्य हाथ में लिया है। स्वस्तिवाचनिकाभिः—स्वस्ति इति वाचनं स्वस्तिवाचनं, तत् प्रयोजनं आसां ताः स्वस्तिवाचनाः, 'पुण्याहवाचनादिभ्यः लुग् वक्तव्यः'—इस वार्तिक से छ प्रत्यय का लोप होता है। स्वस्तिवाचनाः एव स्वस्तिवाचनिकाः, स्वार्थे कन्, 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः'—इस नियम से 'क' के पूर्व, के 'अ' को 'इ' हो गया है। अथवा—स्वस्तिवाचनाय हिताः स्वस्तिवाचनिकाः, ठक्। स्वस्तिवाचन (आशीर्वाद देने) के लिये आई हुई, अथवा बूढ़ी सुहागिन होने के कारण नववधू को आशीर्वाद देने योग्य।

पृ. २६४—वीरप्रसविनी = पुत्र को जन्म देने वाली। निषीदतं=बैठो।

पृ. २६५—ऋजुका = सीधी। प्रसाधयतः = अलंकृत करती हैं।

पृ. २६६—विप्रकार्यते = अपमानित किया जा रहा है। यहाँ इसका अर्थ है 'विरूप बनाया जा रहा है' तुम्हारा रूप रत्नाभरणों से अलंकृत करने योग्य है। आश्रम सुलभ पुष्पादि आभरणों से तुम्हारा सौन्दर्य बिगड़ रहा है।

पृ. २६७—मानसी सिद्धिः = अलौकिक योग बल से उत्पन्न किये पदार्थ। क्षौम = रेशमी साड़ी। आविष्कृतं = प्रगट किया, दिया।

पृ. २६८—निष्ठयूतः = उगिला, दिया। चरणोपराग = पैर रंगाना। लाक्षारसः= महावर। आपर्वभागोत्थितैः = मणिबन्ध तक बाहर निकले हुए। किसलयच्छाया-परिस्पर्धिभिः=सौन्दर्य में कोमल पत्तों के साथ स्पर्धा करने वाले।

पृ. २६९—कोटरसम्भवाऽपि इत्यादि = प्रियंवदा शकुन्तला से कहती है कि यद्यपि तू तपोवन में पैदा हुई है तथापि तुझे रानियों के समान अलङ्कार मिले हैं। अभ्युपपत्त्या = वनदेवताओं के इस अनुग्रह से। वनस्पतिसेवां=तपोवन के वृक्षों के द्वारा की हुई सेवा को। अभिषेकार्थं = स्नान के लिये। मालिनीतीरं अवतीर्णाय= मालिनी नदी के तट पर उतरे हुए।

पृ. २७०—अननुभूतभूषणः इत्यादि—कवि ने अनसूया से यह जानबूझ कर कहलाया है। क्योंकि यह प्रश्न उठ सकता है कि तपोवन में रहने वाली लड़कियों को महल में पहिने जाने वाले आभूषणों का उपयोग कैसे मालूम हुआ। यह तपोवन की लड़कियों का भोलापन व्यक्त करता है। विनियुञ्जाते=दोनों पहिनाती हैं।

पृ. २७१—स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषः—स्तम्भिता या बाष्पस्य वृत्तिः तया कलुषः। अश्रु के प्रवाह को रोकने के कारण रुँधा हुआ। दर्शनं=दृष्टि। राघवभट्ट के अनुसार सब इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला ज्ञान। दर्शनं तत्तदिन्द्रियजं ज्ञानम्। वैक्लव्यं = विह्वलता। अरण्यौकसः—अरण्यं एव ओकः यस्य तस्य। जङ्गल में रहने वाले। तनयाविश्लेषदुःखैः=लड़की के वियोग के दुःख से। अभिज्ञानशाकुन्तल के सर्वोत्तम चार श्लोकों में से यह पहिला है। 'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला। तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र पद्यचतुष्टयम्।'

पृ. २७४—ययातेरिव शर्मिष्ठा—ययाति चन्द्रवंश के एक राजा थे। इनका शुक्राचार्य की लड़की देवयानी के साथ विवाह हुआ था। राक्षसों के राजा वृषपर्वा की लड़की शर्मिष्ठा देवयानी के साथ दासी के रूप में भेजी गई थी। शर्मिष्ठा सुन्दरी और गुणवती थी। ययाति उस पर मुग्ध हो गए और उन्होंने उससे गान्धर्व विधि से विवाह कर लिया। वह उनको देवयानी की अपेक्षा अधिक प्रिय थी। शर्मिष्ठा और शकुन्तला के साम्य पर ध्यान दीजिये। दोनों का गान्धर्व विधि से विवाह हुआ था। दोनों ने पिता की आज्ञा प्राप्त करने के पहिले ही विवाह कर

लिया था। दोनों को बड़ी सवतें थी। इसी कारण यहाँ शर्मिष्ठा का उदाहरण दिया गया है। (देखिये शाकुन्तल पर काले की टिप्पणी)

पृ. २७५—क्लृप्तधिष्ण्या = क्लृप्तानि धिष्ण्यानि येषां ते। जिसके स्थान बनाये गए हैं। अर्थात् वेदी के चारों तरफ स्थापित। समिद्वन्तः—समिधा वाले, जिनमें समिधा हवन की गई है। प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः—प्रान्तेषु संस्तीर्णाः दर्भाः येषां ते। जिनके चारों तरफ दर्भ रखे गए हैं। हव्यगन्धैः दुरितं अपघ्नन्तः=हवि के गन्ध से पाप को दूर करने वाले। वैतानाः वह्नयः—यज्ञसम्बन्धी अग्नि। त्वां पावयन्तु= तुम्हें पवित्र करें। यहाँ 'पावयन्तु' के स्थान पर 'पालयन्तु' पाठ अधिक अच्छा होगा।

पृ. २७८.—न व्यवस्यति=प्रवृत्त नहीं होती। शकुन्तला प्रातःकाल आश्रम के वृक्षों को अच्छी तरह जल से सींच कर तब स्वयं जल पीती थी। नादत्ते इत्यादि- अपने अलङ्कार के लिये पत्तियों को तोड़ने से वृक्षों को कष्ट होगा यह समझ कर वह कोमल पत्तियाँ नहीं तोड़ती थी। आदौ इत्यादि—जब पौधे में फल लगने का समय आता था तो उसे आश्रम के अन्य सब लोगों की अपेक्षा पहिले खुशी होती थी। अनुज्ञायतां = अनुमति दीजिये। आकाशे—आकाश से वाणी सुनाई देती है। अगला पद्य आकाशवाणी है।

पृ. २८०—कमलिनीहरितैः सरोभिः रम्यान्तरः—खिली कमलिनियों से बीच बीच में हरे सरोवर वाला। छायाद्रुमैः नियमितार्कमरीचितापः = छाया-प्रधान वृक्षों से निवारित सूर्यताप वाला। पन्थाः = मार्गः। कुशेशयरजोमृदुरेणुः—कमलों के पराग से कोमल धूल वाला। शान्तानुकूलपवनः = शान्त और अनुकूल पवन वाला। शिवः = मङ्गलमय। जिस तरफ यात्री जाता है उसी दिशा में बहने वाला पवन अनुकूल पवन कहलाता है। मन्द और अनुकूल पवन शुभसूचक होता है। हिंस्र जन्तुओं आदि की बाधा से रहित होने के कारण मार्ग शिव होगा।

पृ. २८१—सविस्मयं आकर्णयन्ति-रम्यान्तरः इत्यादि पद्य परदे के पीछे से पढ़ा गया है। यह आकाशवाणी है। कोई वक्ता न दिखाई देने के कारण सब आश्चर्य चकित होकर सुनते हैं। वनवासबन्धुभिः—वनवासेन बन्धुभिः। वन में एक साथ रहने के कारण ज्ञातिभाव को प्राप्त हुए। प्रतिवचनीकृतं = प्रत्युत्तर बनाया है। कण्व ने तपोवन के वृक्षों को सम्बोधन करके कहा था कि शकुन्तला पतिगृह जा रही है आप लोग अनुमति दीजिये। उसी पर शार्ङ्गरव ने यह पद्य कहा है। उसका कहना है कि तपोवन के वृक्ष कोकिल के मधुर शब्द द्वारा अपनी अनुमति दे रहे हैं।

पृ. २८३—उद्गीर्णदर्भकवलः इत्यादि = प्रियंवदा कह रही है कि मनुष्यों की बात ही गलत है तपोवन की मृगी, मयूर और लताएँ भी दुःखी हैं। लताओं से गिरने वाले पत्ते उनके अश्रु माने गये हैं।

पृ. २८५—सङ्कल्पितं इत्यादि—मेरे द्वारा तुम्हारे लिए पहिले ही से निश्चय किए हुए, गुणों में अपने समान, पति को तुमने अपने गुणों से प्राप्त किया। तुम्हारे विषय में मेरी चिन्ता दूर हो गयी। अब मैं इस समीपवर्ती आम के पेड़ को इस माधवी लता का वर बनाऊंगा। यह ध्यान देने की बात है कि कण्व ने शकुन्तला के विवाह को अपनी अनुमति दे दी इतना ही नहीं बल्कि वे कहते हैं कि उन्होंने दुष्यन्त को ही पहिले ही से उसके लिए चुना था। सौभाग्य से वह उसी के हाथ पड़ी। उन्हें उसके लिए कोई प्रयत्न भी नहीं करना पड़ा। शकुन्तला ने अपने गुणों से ही आकृष्ट कर लिया।

पृ. २८६—निक्षेपः=धरोहर। अयं जनः=इसके द्वारा दोनों सखियां अपना परामर्श कर रही हैं। उनका आशय यह है कि माधवी लता को तो हमें सौंप रही हो, परन्तु हमें किसके हाथ सौंपा।

पृ. २८७—स्थिरीकर्तव्या=ढाढ़स देना चाहिए। उटजपर्यन्तचारिणी=कुटी के आसपास घूमने वाली। गर्भभारमन्थरा=गर्भ के भार से शिथिल। सुखप्रसवा=सुखपूर्वक बच्चा दे दे। विसर्जयिष्यसि=भेजना।

पृ. २८८—व्रणविरोपणं=घाव को भरनेवाला। 'रुहः पोऽन्यतरस्याम'—इस नियम से 'रुह' के 'ह' को विकल्प से 'प' हो गया है। न्यषिच्यत–डाला जाता था, लगाया जाता था। 'उपसर्गात् सुनोति' इत्यादि नियम से 'नि' उपसर्ग के बाद 'सिच्' के 'स' को 'ष' हो गया है। पुत्रकृतकः=माना हुआ पुत्र, धर्म का पुत्र। कृतकः पुत्र पुत्रकृतकः। मयूरव्यंसकादि समास। किशोरकेलिकार ने 'आहिताग्न्यादित्वात् परनिपातः' लिखा है। परन्तु यह नियम 'बहुव्रीहि समास के लिये है। 'पुत्रकृतकः' में बहुव्रीहि समास नहीं है। श्रेण्यादयः कृतादिभिः'-इस नियम से समास करने में भी एक कठिनाई है। 'पुत्र' शब्द का श्रेण्यादिगण में पाठ नहीं है। वह गण आकृतिगण भी नहीं है। अतः यहां मयूरव्यंसकादि समास मानना ही ठीक होगा। श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकः—श्यामाक वन में उत्पन्न होने वाला एक धान्य है। मुट्ठी मुट्ठी भर श्यामाक धान्य खिला कर पाला हुआ। पदवी—मार्ग।

पृ. २८९—अनुबध्नासि=पीछे पीछे आ रहे हो। अचिरप्रसूतोपरता=थोड़े ही दिन हुए बच्चा देकर मरी हुई।

पृ. २९०—उत्पक्ष्मणोः=उन्नत बरौनी वाले। नयनयोः उपरुद्धवृत्तिं=नेत्रों के व्यापार को रोकने वाले, अर्थात् दृष्टि को ढंकने वाले। स्थिरतया=धीरज से। शिथिलानुबन्धं कुरु=प्रवाह रोको। नतोन्नतभूमिभागे=ऊबड़-खाबड़ भूमि वाले। विषमीभवन्ति=लड़खड़ा रहे हैं।

पृ. २९१—ओदकान्तं=आ उदकान्तात्=जलाशय तक। जब कोई विदेश जाता है तो घर के लोग किसी जलाशय तक उसके साथ साथ जाते हैं यह

शिष्टाचार है। स्निग्धः=प्रिय व्यक्ति। नः=हम लोगों को। सन्दिश्य प्रतिगन्तुम अर्हसि=विदा करके वापस जा सकते हैं। क्षीरवृक्ष—वट वृक्ष या ऐसे ही अन्य वृक्ष जिनमें से दूध निकलता है क्षीरवृक्ष कहलाते हैं। ये शुभ होते हैं।

पृ. २९२—युक्तरूपम्=अतिशयेन युक्तं, रूपप् प्रत्यय। चित्तवान्=प्राणी। पुटकिनीपत्रान्तरितां=कमलिनी के पत्ते से ढकी। व्याहृतः अपि=पुकारने पर भी। मुखे उदूढमृणाला=मुख में मृणाल लिये।

पृ. २९४—संयमधनान्—संयमः धनं येषां तान्। तप को ही अपना धन समझने वाले। कण्व की इस युक्ति की व्यञ्जना यह है कि हमारी अनुपस्थिति में तुमने जो कुछ किया उसे हमने यथार्थ दृष्टि से देख कर तुम्हें क्षमा कर दिया। परन्तु अब हमारे तपोबल का स्मरण रख कर उसके साथ उचित व्यवहार करना। अन्यथा जो परिणाम होगा उसे तुम समझ सकते हो। अथवा—हम लोग तपोधन हैं। तुम लड़की के साथ चाहे जैसा व्यवहार करो हम कुछ न कहेंगे। खराब व्यवहार से उस बेचारी को कष्ट होगा। उससे तुम्हारा भी जीवन सुखमय न होगा। बस यही बात है अथवा—हम गरीब तपस्वी हैं। वरदक्षिणा के रूप में तुम्हें कुछ दे नहीं सकते। हमारे पास केवल कन्या है। उसे तुम्हारे घर विदा कर रहे हैं। गरीब की लड़की समझ कर इसे कष्ट मत देना। उच्चैः कुलञ्चात्मनः—अपने बड़े कुल का भी ध्यान रखना। उच्च कुल के लोग किसी के साथ बुरा व्यवहार नहीं करते। त्वय्यस्याः इत्यादि—यह सम्बन्धियों के दबाव के बिना अपने मन से तुम्हारे प्रेम में पड़ गई। तुमने भी इसे अपने मन से स्वीकार किया। तुम्हें किसी ने आग्रह नहीं किया था। ऐसा होने पर अब यदि तुम इसे स्वीकार न करोगे तो यह तुम्हारी कृतघ्नता होगी। तुम्हारे प्रति इसका जो अटूट अनुराग है इसके बदले में तुम्हें इसे क्या देना चाहिए इसे अच्छी तरह सोच लो।

पृ. २९५—सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकं=सामान्या प्रतिपत्तिः पूर्वा यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात्तथा सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वं तदेव सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकम्। तुम अन्य पत्नियों को जिस आदर और प्रेम से देखते हो उसी आदर और प्रेम से इसे भी देखना। भाग्य-धीनम् इत्यादि—अन्य सब पदार्थ—अच्छे वस्त्र, उत्तम आभूषण इत्यादि—भाग्य के अनुसार मिलते हैं। उनके विषय में लड़की के सम्बन्धी कुछ नहीं कह सकते। यहां 'स्त्रीबन्धुभिर्याच्यते' के स्थान पर 'वाच्यं वधूबन्धुभिः' पाठ अच्छा होगा इस नाटक के चार प्रसिद्ध श्लोकों में से यह दूसरा है।

पृ. २९७—शुश्रूषस्व गुरून्=ससुराल के वृद्धजनों की सेवा करना। विप्रकृतापि=पति के द्वारा अपमानित की जाने पर भी। रोषणतया=क्रोध से। प्रतीपं मास्म गमः=प्रतिकूल व्यवहार मत करना। भूयिष्ठं=बहुत। दक्षिण=अनुकूल, उदार। भोगेषु=सब प्रकार का सुख प्राप्त होने पर। अनुत्सेकिनी=घमंडरहित।

वामः=जो बातें कहीं है उनके विरुद्ध व्यवहार करने वाली। आधयः=मनस्ताप। यह ससुराल जाते समय बेटी को पिता की शिक्षा है। भारतीय आदर्श पर ध्यान दीजिये। यह इस नाटक का तीसरा प्रसिद्ध श्लोक है।

पृ. ३००—अभिजनवतः=उत्तम कुल में उत्पन्न। विभवगुरुभिः कृत्यैः—घर में जितनी अधिक सम्पत्ति होती है उस घर में उतना ही अधिक काम भी होता है। सम्पन्न पुरुष की पत्नी होने के कारण रात-दिन बहुत से बड़े बड़े कामों में लगी रहोगी।

पृ. ३०१—प्राची इव=पूर्व दिशा की तरह। शुचं=शोक को। शकुन्तला ने कण्व से कहा था कि आप से वियुक्त होकर मैं कैसे जीऊँगी। इस पर कण्व कह रहे हैं कि यह दुःख तुम्हें थोड़े ही दिनों तक सतावेगा। अपने घर जाकर जब तुम गृहस्थी के कामों में लग जाओगी और तुम्हें लड़के-बच्चे हो जायँगे तब तुम मेरे विरह को भूल जाओगी। सख्यौ एतम् इत्यादि—दोनों सखियों के प्रति शकुन्तला का प्रेम समान था। ऐसी अवस्था में यदि वह किसी को पहिले आलिङ्गन करे और किसी को बाद में, तो भेद प्रकट होगा। अतः उसने दोनों को एक साथ आलिङ्गन करने को कहा। यह चौथा श्लोक है।

पृ. ३०३—सदिगन्तमहीसपत्नी—दिगन्तैः सह सदिगन्ता, सदिगन्ता च सा मही च, तस्याः सपत्नी। दिगन्तपर्यन्त पृथ्वी की सौत बन कर। पृथ्वी भी राजा की पत्नी मानी जाती है। इसलिये उसकी रानी पृथ्वी की सौत हुई। दौष्यन्तिम्–दुष्यन्तस्य अपत्यं पुमान् तम्। 'अत इञ्'—अपत्यार्थ में इञ् प्रत्यय हुआ है। अप्रतिरथं—न विद्यते प्रतिरथः यस्य तं। बेजोड़ बहादुर। तत्सन्निवेशितधुरेण—तस्मिन् सन्निवेशिता धूः येन तेन। यहां समासान्त अच् प्रत्यय हुआ है। पुत्र को साम्राज्य का भार सौंप कर। कुछ लोग 'अभिजनवतो भर्तुः' इत्यादि पद्य के स्थान पर 'भूत्वा चिराय' इत्यादि पद्य को चौथा उत्तम पद्य मानते हैं।

पृ. ३०६—रचितपूर्वं=पहिले डाले हुए। उटजद्वारविरूढं=पर्णकुटी के द्वार पर पौधे के रूप में उगे हुये। नीवारबलिं=पालतू पशु-पक्षियों के खाने के लिये डाला हुआ नीवार-धान्य। यहां बलि शब्द पञ्च महायज्ञ वाले बलि के लिये नहीं आया है। क्योंकि वह तो सिद्धान्न का होता है। सिद्धान्न से पौधे नहीं उग सकते। यहां बलि से पौधों के उगने की बात कही गई है। अतः यह बलि शब्द तपोवन की लड़कियों द्वारा वहां के पशु-पक्षियों के खाने के लिये डाले कच्चे नीवार धान्य का बोधक है। ये पौधे उटज के द्वार पर ही उगे होने के कारण हर बार बाहर भीतर आते जाते कण्व को शकुन्तला की याद दिलावेंगे।

पृ. ३०८—अर्थः=धन। परिग्रहीतुः=स्वामी के घर। चिरस्य निक्षेपं=बहुत काल से रखे हुए धरोहर को। अर्पयित्वा=लौटा कर। कण्व शकुन्तला के पति के घर भेज कर ऐसा अनुभव कर रहे हैं मानों उनके सिर से बहुत बड़ा बोझ उतर गया हो।

पंचम अङ्क

पृ. ३०९—कञ्चुकी—यह अन्तःपुरः में काम करने वाला वृद्ध नौकर है। कञ्चुक अथवा लम्बा कुरता पहिनने के कारण इसे कञ्चुकी कहते हैं। यह ब्राह्मण होता है। यह अनेक गुण-सम्पन्न और सर्वकार्य-कुशल होता है। अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते'—भरतः। 'ये नित्यं सत्यसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः। ज्ञानविज्ञानकुशलाः कञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः'—मातृगुप्ताचार्यः। संस्कृत नाटकों में प्रथम वार प्रवेश करते ही यह अपनी वृद्धावस्था पर दुःख करता हुआ देखा जाता है। कञ्चुकः अस्यास्तीति कञ्चुकी।

पृ. ३१०—आचारः इति—कञ्चुकियों का यह कर्तव्य है इस लिये। अधिकृतेन = नियुक्त। अवरोधगृहेषु = जनानखाने में। बहुतिथे = बहुत अधिक। 'तस्य पूरणे डट्—इस नियम से डट् प्रत्यय करके 'बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक्'—इस नियम से तिथुक् आगम किया गया है। प्रस्थानविक्लवगतेः—प्रस्थाने विक्लवा गतिः यस्य तस्य। चलते समय लड़खड़ाती हुई गति वाले।

पृ. ३११—अभ्यन्तरगताय = अन्तःपुरः में स्थित। स्वम् अनुष्ठेयं = अपना काम। अकालक्षेपार्हं = जिसमें देर नहीं लगाई जा सकती। आं ज्ञातम् इत्यादि—बुढ़ापे के कारण कञ्चुकी भूल गया था कि उसे क्या करना है। जरा सोचने पर उसे याद आई कि महाराज को कण्व के शिष्यों के आगमन की सूचना देनी है। लङ्घयते तमसा पुनः—फिर अज्ञान से ढंक जाती है। बूढे आदमी की बुद्धि क्षण भर में जागती है और पुनः क्षण भर में लुप्त हो जाती है। इसकी उपमा बुझते हुए दीप से दी गई है। क्योंकि उसकी लौ क्षणभर में तेज और क्षण भर में मन्द हो जाती है।

पृ. ३१२—प्रजाः स्वाः प्रजाः इव = अपनी प्रजा को अपनी सन्तान की तरह। तन्त्रयित्वा = अच्छे मार्ग पर चला कर। विविक्तम् = एकान्त। यूथानि सञ्चार्य = झुण्डों का नेतृत्व करके।

पृ. ३१३—अनतिपात्यम्—इस वाक्य में यदि 'देवस्य' को कर्ता माना जाय तो 'महाराज देर नहीं लगाते' ऐसा अर्थ होगा यदि 'मया' इस पद का अध्याहार करके उसे कर्ता माना जाय तो 'मुझे देर नहीं लगाना चाहिये' ऐसा अर्थ होगा। धर्मासनात्—राजा दरबार में जिस आसन पर बैठ कर न्याय करते हैं उसे धर्मासन कहते हैं।

पृ. ३१४—षष्ठांशवृत्तः—राजा अपनी प्रजा की आमदनी का छठा भाग कर के रूप में लेता है। अतः उसे 'षष्ठांशवृत्ति' कहते हैं।

पृ. ३१५—चरितार्थता = अभीष्टसिद्धि। अतिश्रमापनयनाय न—यहां 'अति' का अन्वय 'अपनयन' से है। अतिशयेन श्रमापनयनं तस्मै। जिस प्रकार हाथ में

पकड़ा हुआ छाता जितना आराम देता है उसकी अपेक्षा अधिक कष्ट देता है। उसी प्रकार राज्य राजाओं को जितना सुख देता है उसकी अपेक्षा अधिक कष्ट देता है।

पृ. ३१७—अतनुषु इत्यादि—बहुत सम्पत्ति की अवस्था में भाई-बन्धुओं में झगड़ा होने पर तुम उनका विभाग करके झगड़ा मिटाते हो। यहाँ 'सविभक्ताः' यह पाठ ठीक नहीं है। इसका अर्थ करने में बहुत खींचातानी करनी पड़ती है। बम्बई संस्करण का 'ज्ञातयः सन्तु नाम' पाठ अच्छा है। बहुत धन रहने पर सगे सम्बन्धी भले ही साथ रहें। यदि 'संविभक्ताः' रखना है तो 'प्रतनुषु विभवेषु' कर देना चाहिए। धन कम हो जाने पर सम्बन्धी साथ छोड़ देते हैं। त्वयि तु इत्यादि-प्रजा के बन्धु का कार्य आप,में समाप्त होता है। अर्थात् आपही सच्चे बंधु हैं।

पृ. ३१८—गोवृन्दारक इत्यादि—दिन भर परिश्रम करके थके हुए बैल को यदि सायंकाल कहा जाय कि तुम श्रेष्ठ बैल हो तो क्या उसकी थकावट दूर हो जायगी? विदूषक की उक्ति की व्यञ्जना यह है कि परिश्रम करके थका हुआ राजा वैतालिकों के मुख से अपनी तारीफ सुन कर ताजगी का अनुभव कर रहा है; यह अजब सी बात है। सस्मितं—विदूषक की बात सुन कर राजा हँस देता है। क्योंकि उसके पास विदूषक की बात का कोई जवाब नहीं है।

पृ. ३२१—इस पद के एक वाच्याथ और दो व्यङ्ग्यार्थ हैं। वाच्यार्थ आम्र-मञ्जरी, कमल और भ्रमर के पक्ष का है। दो व्यङ्ग्यार्थों में से एक राजा और हंसवती के पक्ष का और दूसरा राजा और शकुन्तला के पक्ष का है। राजा आम्रमञ्जरी और हंसवती के पक्ष का अर्थ समझता है। शकुन्तला के पक्ष का अर्थ दुर्वासा के शाप के कारण उसे समझ में नहीं आया। प्रेक्षक तीनों अर्थ समझते हैं।

पृ. ३२२—सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः—यहां 'अयं जनः' यह हंसवती और राजा दोनों में से किसी एक के लिए माना जा सकता है। हंसवती मेरे द्वारा केवल एक बार प्रेम की गई। अथवा मैंने हंसवती के साथ केवल एक बार प्रेम किया। हंसवतीमन्तरेण=हंसवती के विषय में। उपालम्भनम् आगतोऽस्मि= ताना मारा गया हूँ।

पृ. ३२३—गृहीतस्त्वया इत्यादि—तुमने दूसरे के हाथों से भालू की चोटी पकड़ी है। इसी अवस्था में जीवन से निरास मुझ असहाय का छुटकारा कैसे हो सकता है? राजा ने विदूषक से हंसवती को समझाने के लिए कहा। उसी पर विदूषक ने यह कहा। यहां विदूषक हंसवती को भालू और अपने को उसकी चोटी पकड़ने वाला समझता है। राजा पर कुपित हंसवती विदूषक की न मालूम क्या दुर्दशा करेगी यह सोच कर वह जीवन से निराश है और अपने को असहाय समझता है। जो भालू की चोटी पकड़ेगा उसी पर तो भालू चोट करेगा। वह यह तो देखेगा नहीं कि किसकी आज्ञा से चोटी पकड़ी गई है।

पृ. ३२४—रम्याणि इत्यादि—हंसवती का गाना सुन कर राजा किसी इष्टजन के विरह का अनुभव कर रहा है। यह इष्टजन शकुन्तला है। दुर्वासा के शाप के कारण उसे अपनी उत्कण्ठा का कारण समझ में नहीं आ रहा है। वह अपनी उत्कण्ठा को पूर्वजन्म के किसी प्रिय व्यक्ति के विरह का फल समझ रहा है।

पृ. ३२५—उपत्यका = पर्वत के पास की भूमि। देवः प्रमाणम् = जैसी महाराज की आज्ञा।

पृ. ३२६—अग्निशरण = अग्निशाला।

पृ. ३२७—सम्मार्जन = झाड़ू देना, लीपना, सफाई करना। अलिन्द = दरवाजे के सामने का चबूतरा। उपोढतपसां = जिन्होंने तपस्या का व्रत ग्रहण किया है।

पृ. ३२८—मम अपरिचितैः = मुझे न जानने वाले लोगों द्वारा। वीरुधां प्रसवः = लताओं से उत्पन्न होने वाले फूल, फल। विष्टम्भितः = नष्ट कर दिया। कुछ पुस्तकों में 'मम अपचरितैः' पाठ है। मेरे दुष्कर्मों के कारण। यह माना जाता है कि राजा के दुष्कर्मों का फल प्रजा को भोगना पड़ता है। आरूढबहुप्रतर्क = आरूढाः बहवः प्रतर्काः यस्मिन् तत्। बहुत प्रकार के तर्क करने वाला। अपरिच्छेदाकुलं = अपरिच्छेदेन आकुलं। निश्चय न होने के कारण घबड़ाया हुआ

पृ. ३२९—भुजदण्डनिर्वृते। भुजदण्डेन निर्वृते। भुजदण्ड से पालित समाजयितुम् = अभिनन्दन करने के लिए। अभिन्नस्थितिः = अभिन्ना स्थितिः येन सः। लोकमर्यादा का उल्लङ्घन न करने वाला।

पृ. ३३०—वर्णानाम्, अप्रकृष्टः अपि = वर्णों में जाति अथवा कर्म में नीच। अपथं न भजते = कुमार्ग पर नहीं जाता। न पन्थाः इत्यपथम्। यह नित्य नपुंसक है। जनाकीर्ण—मनुष्यों से भरा हुआ। हुतवहपरीतम् इव=आग लगे हुए की तरह। शार्ङ्गरव एकान्त में रहने वाला था। इस लिये वह मनुष्यों से भरे हुये नगर को देख कर घबड़ा गया। संवेगः = घबड़ाहट। अभ्यक्त = तेल लगाया हुआ। प्रबुद्धः=जागा हुआ।

पृ. ३३१—स्वैरगतिः = स्वतन्त्र। शारद्वत नगर के लोगों को अज्ञान में पड़े देखकर दुःखी हो रहा है। शार्ङ्गरव की अपेक्षा शारद्वत अधिक प्रबुद्ध प्रतीत होता है।

पृ. ३३२—प्रागेव मुक्तासनः—राजा खड़ा होकर ऋषियों की प्रतीक्षा कर रहा था।

पृ. ३३३—तथापि वयमत्र इत्यादि—पुरोहित ने राजा के विनय की प्रशंसा की। परन्तु शार्ङ्गरव को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। उसके विचार से राजा ने वही किया जो किसी सभ्य पुरुष को करना चाहिए। वह दरबारी चापलूसी से अपरिचित होने के कारण खरी सुनाने वाला था।

पृ. ३३५—अवगुण्ठनवती=घुंघुट वाली। इससे यह स्पष्ट है कि घुंघुट की प्रथा

बहुत पुरानी है। यह कहना ठीक नहीं है कि परदे की प्रथा मुसलमानों के साथ भारत आयी। 'असूर्यंपश्या' आदि शब्दों का प्रयोग पाणिनीय व्याकरण में भी मिलता है। कुछ लोगों का मत यह है कि प्राचीन काल में यज्ञ आदि अवसरों पर स्त्रियां सबके सामने आती थीं'। अतः परदे की प्रथा तो भारत में थी नहीं। अवगुण्ठन की बात तो वह नव वधू और धनिक घर की स्त्रियों का आभूषणमात्र था। असूर्यंपश्या आदि शब्द भी केवल सौकुमार्य व्यक्त करते हैं। उनसे परदे की प्रथा का समर्थन नहीं होता। नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या—नातिपरिस्फुटं शरीरस्य लावण्यं यस्याः सा। अथवा—नातिपरिस्फुटं शरीरं लावण्यं च यस्याः सा। घूँघट के कारण और शार्ङ्गरव आदि मुनियों के बीच में होने के कारण शकुन्तला का शरीर और लावण्य स्पष्ट नहीं दिखाई देता था। यहां शकुन्तला की उपमा पकने के कारण पीले पत्तों पर पड़े कोमल पत्ती से दी गई। शार्ङ्गरव आदि पके पत्ते हैं और शकुन्तला कोमल पत्ती है।

पृ. ३३६—कुतूहलगर्भः इत्यादि—कुतूहल से भरा होने पर भी मेरा तर्क काम नहीं कर रहा है। किशोरकेलिकार ने कुतूहलगर्भ होना अप्रसरण में हेतु माना है और 'प्रतिहतः' का अर्थ 'उपहितः' किया है। यह ठीक नहीं प्रतीत होता। कुतूहल होने से तो अधिक तर्क करने की इच्छा होती है। वह गलत होने के कारण ठीक लक्ष्य पर न पहुँचे यह बात भिन्न है। वस्तुतः यहां 'कुतूहलगर्भः प्रहितो न मे तर्कः प्रसरति' अथवा 'कुतूहलगर्भोऽपि हतो न मे तर्कः प्रसरति' पाठ होना चाहिये। भवतु अनिर्वर्ण्यम् इत्यादि—यह उक्ति राजा के चरित्र को ऊपर उठाती है। अनेक भार्या वाला होने पर भी दूसरे की विवाहित स्त्री को देखने की उसकी प्रवृत्ति नहीं है।

पृ. ३४२—एकैकस्य इत्यादि—किशोरकेलिकार ने इस चरण का अन्वय इस प्रकार माना है:—एकैकस्य एकस्मिन् चरिते एकः किं भणतु। परस्पर के एक प्रकार के चरित्र में तीसरा कथा कहे? तुमने उसको प्रेम किया, उसने तुम्हें चाहा। दोनों ने तीसरे किसी से कुछ नहीं पूछा। इस प्रकार दोनों का चरित्र एक ही तरह का हुआ। इसका अन्वय इस प्रकार से भी हो सकता है:—एकैकस्य चरिते एकः एकस्मिन् किं भणतु। परस्पर के चरित्र में तीसरा आदमी दोनों में से एक को क्या कहे? एकैकस्य = परस्पर के। यहां द्विरुक्ति वीप्सा का बोधक है। द्विरुक्त 'एक' शब्द बहुव्रीहिवत् माना जाता है। बहुव्रीहिवत् मानने से समास के दोनों खण्डों में सुब्लोप और पूर्व खण्ड को पुंवद्भाव होता है। ऐसा सम्पूर्ण पद सर्वनाम माना जाता है। यहां गौतमी की दोनों उक्तियों के बीच में राजा की उक्ति 'आर्ये कथ्यताम्' अनुचित प्रतीत होती है। शार्ङ्गरव की बात सुनने पर राजा के मन में इतनी स्थिरता कैसे हो सकती है कि वह गौतमी को अपनी बात कहने को अनुमति दे। हां, गौतमी धड़ाके से अपनी बात कह जाय यह हो सकता है।

पृ. ३४३—किमिदमुपन्यस्तं = मेरे सामने यह क्या उपस्थित किया गया ? किं नाम इत्यादि = क्या, आप कहते हैं मेरे सामने यह क्या रखा गया ? आप तो स्वयं ही दुनियां में क्या होता है इसे अच्छी तरह जानते हैं।

पृ. ३४६—किं कृतकार्यद्वेषात् इत्यादि—शार्ङ्गरव का आशय यह है कि राजा ने पहिले तो शकुन्तला से प्रेम सम्बन्ध स्थापित किया। परन्तु बाद में विचार करने पर उसे वह अच्छा न लगा। इसीलिये अब उसे छिपा रहा है। मूर्च्छन्ति = बढ़ते हैं, उत्पन्न होते हैं। मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः—सि. कौ.। समुच्छ्राय माने वृद्धि।

पृ. ३४७—विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि = मेरी बहुत अधिक भर्त्सना की गई।

पृ. ३४८—कुन्दमन्तस्तुषारं—शकुन्तला के साथ तुषार के बूंद से भरे कुन्द के फूल की उपमा दी गई है। क्योंकि जैसे कुन्द के पेट में तुषार है वैसे ही शकुन्तला के पेट में बच्चा है। इसके अतिरिक्त सौकुमार्य और सौन्दर्य में भी दोनों समान हैं।

पृ. ३४९—अहो, धर्मावेक्षिणः इत्यादि—यह उक्ति राजा के चरित्र पर प्रकाश डालती है। राजा को अपने सुख की अपेक्षा धर्म का अधिक ध्यान है।

पृ. ३५०—अक्षत्रियं मन्यमानः = अपने को अक्षत्रिय मानते हुए। शकुन्तला के पेट में बच्चा है। इससे यह स्पष्ट है कि उसका किसी पुरुष से समागम हो गया है। ऐसी अवस्था में यदि राजा उसे स्वीकार करे तो दूसरे की वस्तु का अपहार होगा। क्षत्रिय का धर्म अपहरण करना नहीं, रक्षा करना है।

पृ. ३५१—दूरारोहिणी—बहुत ऊँचे बढ़ने वाली। शकुन्तला के मन में बड़ी बड़ी आशायें थीं। वह समझती थी कि अब मैं रानी बनूंगी। परन्तु जब राजा ने उसे नहीं पहिचाना तब उसकी आशालता मूल से कट गई। मा तावत्—इसका अन्वय 'विस्मान्यः' से करना चाहिये। मुनि का अपमान = मत करो। कुछ लोग मा तावत्' के बाद 'प्रतिपद्यस्व' का अध्याहार करके इस अंश का अर्थ स्वतन्त्र रूप से करते हैं। इस अवस्था में 'कृतावमर्शाम्' इत्यादि श्लोक का पूर्वार्द्ध सोल्लुंठन अथवा धमकी की उक्ति समझनी चाहिये। मत स्वीकार करो। तुम्हारे जैसे चोर के साथ सत्पात्र का सा व्यवहार करने वाले मुनि का अपमान करो। अथवा—मुनि का अपमान करते हो ? जानते नहीं क्या परिणाम होगा ? कृतावमर्शा = रगड़ी हुई। अर्थात् जिसके साथ तुमने चोरी से संभोग किया। अनुमन्यमानः = स्वीकृति देने वाला।

पृ. ३५२—मुष्टं = चुराये हुए। प्रतिग्राहयता = अर्पण करने वाला। पात्रीकृतः = सत्पात्र बनाये गये हो।

पृ. ३५४—अथवा संशयित इत्यादि—स्त्रियां अपने पति को आर्यपुत्र कहती हैं। परन्तु जब राजा ने शकुन्तला को पहिचाना ही नहीं तब वह उस सदाचार का पालन कैसे कर सकती है। अतः उसने बदल कर 'पौरव' शब्द से संबोधन किया है।

पृ. ३५५—व्यपदेशं=कुलको। आविलयितुं=गन्दा करना। समीहसे=चाहती हो। कूलङ्कषा=तट को काटने वाली। सिन्धुः=नदी। ओघं=जल प्रवाह को।

पृ. ३५७—शक्रावतार=एक स्थान का नाम है। शचीतीर्थ=एक पवित्र जलाशय का नाम है। प्रत्युत्पन्नमतित्वं=हाजिर जवाबी।

पृ. ३५८—नलिनीपत्रभाजनगतं=कमल के पत्ते के बरतन में रखा हुआ। दोने में रखा हुआ।

पृ. ३५९—मृगपोतकः=मृग का बच्चा। उपच्छन्दितः=प्यार करके खुश करना चाहा। उपगतः=पास आया। तेन प्रणयः कृतः=वह पीने लगा। स्वगणे=अपने मण्डल में। आरण्यके=जङ्गल में रहने वाले।

पृ. ३६१—स्त्रीणाम् इत्यादि—इस पद्य का सीधा अर्थ कोकिल के पक्ष का है। इसके व्यङ्ग्यार्थ के रूप में शकुन्तला की उत्पत्ति की कथा झलकती है। 'परभृताः' यह पद मेनका का व्यञ्जक है। वेश्या होने के कारण वह दूसरों के द्वारा पाली जाती थी। 'स्वमपत्यजातं' यह मेनका की लकड़ी शकुन्तला का व्यञ्जक है। 'अन्यद्विजैः' यह पद कण्व का व्यञ्जक है। 'अन्तरिक्षगमनात् प्राक्' यह शकुन्तला को जन्म देकर आकाश में उड़ जाने के पहिले के काल का व्यञ्जक है। यह श्लोक सुनकर शकुन्तला ने अपनी उत्पत्ति के संबंध का व्यङ्ग्यार्थ अवश्य समझा होगा। व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर यह जानकर कि राजा उसे पहिचान कर भी न पहिचानने का नाटक कर रहा है उसे क्रोध आना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त यह जानकर कि राजा उसे एक परभृता की लड़की समझता है, उसका क्रोध चरम सीमा तक पहुँच गया होगा। यही कारण है कि वह चतुर्थ अङ्क में दी हुई कण्व की शिक्षा को भूलकर आगे की उक्ति में राजा को 'अनार्य' और धोखेबाज कहती है। आखिर सहन करने की एक हद होती है। कुछ लोगों के मत में यह पद्य आगे आने वाली कथा की सूचना देता है। 'परभृताः' यह शकुन्तला का सूचक है। 'स्वमपत्यजातं' यह भरत का सूचक है। 'अन्यद्विजैः' यह मारीच के आश्रम में रहने वाले ऋषियों का सूचक है। 'प्रागन्तरिक्षगमनात्' यह स्वर्ग से लौटते समय शकुन्तला से राजा की भेंट होने के पहिले के काल का सूचक है। स्वर्ग से लौटते समय राजा की शकुन्तला से भेंट होने के पहिले मारीच के आश्रम के ऋषियों ने शकुन्तला के पुत्र भरत को पाला था। अन्तरीक्षम्—अन्तः ईक्ष्यते इति अन्तरीक्षम्, कर्मणि घञ्। अन्तः ऋक्षाणि यस्य तत् अन्तरिक्षम्। पृषोदरादित्वात् ह्रस्वम्।

पृ. ३६२—धर्मकञ्चुकव्यपदेशिनः—धर्म एव कञ्चुकः तेन व्यपदिशति तस्य। धर्म का चोंगा पहिन कर अपने को धार्मिक कहने वाले। तृणच्छन्नकूपोपमस्य—तृणैः छन्नः यः कूपः सः उपमा यस्य तस्य। घास से ढके कूएँ के समान। घास से

ढके कुएँ को जमीन समझकर यदि कोई पैर रखे तो नीचे गिर जायगा। अर्थात् धोखेबाज। राजा को सत्पुरुष समझ कर शकुन्तला ने सम्बन्ध किया। परन्तु वह धोखेबाज निकला।

पृ. ३६३—अविभ्रमः=शृङ्गार के विकार से रहित। अर्थात् सच्चा। बनावटी क्रोध में शृङ्गार का विकार झलकता है। न तिर्यक् इत्यादि इस पद्य में क्रोध की अवस्था का चित्र खींचा गया है। पदेषु न सङ्गच्छते—क्रोध में मनुष्य सच झूठ सब कह देता है। शकुन्तला जो कह रही है वह मेरे विषय में घटता नहीं।

पृ. ३६५—भेदात् भ्रुवोः इत्यादि—अति क्रोध से अत्यधिक लाल आँखों वाली इस रमणी ने, टेढ़ी भौंहों के बीच से अलग हो जाने के कारण, मानो काम का धनुष तोड़ डाला। जब भौंहें अत्यधिक चढ़कर टेढ़ी हो जाती हैं तो वे बीच से अलग हुई सी प्रतीत होती हैं। ऐसी अवस्था में ऐसा मालूम होता है मानो प्रत्यञ्चा को बहुत तान देने के कारण धनुष बीच से टूट गया हो।

पृ. ३६७—इत्थमप्रतिहतम् इत्यादि—इस वाक्य तथा इसके आगे के 'अतः परीक्ष्य' इत्यादि श्लोक के द्वारा कालिदास प्रेमविवाह के विषय में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं। उनके मत में प्रेमविवाह खतरनाक होता है। युवक और युवतियाँ एक दूसरे को अच्छी तरह समझे विना काम के वशीभूत शरीर-संबंध में कूद पड़ते हैं। प्रायः इसका परिणाम अप्रिय होता है। संभव है कालिदास के काल तक प्रेम-विवाह की प्रथा लोक में अप्रिय हो गई हो।

पृ. ३६८—असम्भृतदोषैः—जो दोष नहीं किया वह दोष लगाकर।

पृ. ३६९—परातिसन्धानम् इत्यादि—राजा लोग राजनीति विद्या के रूप में दूसरों को धोखा देकर अपना काम सिद्ध करना सीखते हैं।

पृ. ३७२—वत्स, शार्ङ्गरव इत्यादि—गौतमी स्त्री है। अतः उसकी शकुन्तला के साथ अधिक सहानुभूति है।

पृ. ३७२—पुरोभागिनी—दूसरों के दोष देखने वाली। शकुन्तला ने राजा और शार्ङ्गरव आदि दोनों पक्षों के दोष दिखलाये। देखिये पृ. ३७२ 'अहमिदानीम्' इत्यादि। परन्तु विना आज्ञा के शार्ङ्गरव आदि के पीछे जाने से उसका दोष हो गया। उसको उसने नहीं देखा।

पृ. ३७४—पतिगृहे इत्यादि—यह वाक्य भी कालिदास का हृदय व्यक्त करता है। विवाह होने पर स्त्रियों के कर्त्तव्य के विषय में कालिदास का यह मत है।

पृ. ३८१—स्त्रीसंस्थान-स्त्रियाः संस्थानम् इव संस्थानं यस्य तत्। स्त्री के आकार का। आरात्=समीप। इस पद्य के उत्तरार्ध की व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। परन्तु सीधा अर्थ यह मालूम होता है:—अप्सरास्तीर्थ के पास तेजोमयी स्त्री के आकार की एक मूर्ति प्रकट हुई और इसे गोद में उठाकर गायब हो गई।

पृ. ३८२—प्रत्यादिष्ट—छोड़ दिया है।

पृ. ३८३—कामम् इत्यादि = त्यागी हुई मुनि की लड़की हमारी भार्या है यह बात हमें भले ही याद न आती हो। प्रत्याययतीव = विश्वास दिलाता है।

पृ. ३८४—अङ्कावतारः पृ. ३८४ से पृ. ३९७ तक के अंश को इस संस्करण में अङ्कावतार लिखा गया है। साहित्यदर्पणकार का भी यही मत है। दर्पणकार ने लिखा है कि—'अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः। यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः। यथा—अभिज्ञाने पञ्चमाङ्के पात्रैः सूचितः षष्ठाङ्कस्तदङ्कस्याङ्गविशेष इवावतीर्णः। परन्तु अन्य संस्करणों में इस अंश को प्रवेशक माना गया है। 'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्तया नीचपात्रप्रयोजितः। अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषविष्कम्भके यथा'। राघवभट्ट ने इस अंक को प्रवेशक माना है।

पृ. ३८५—कुम्भीलक = चोर। महामणिभासुरम् = अमूल्य रत्न जड़ा होने से चमकता हुआ। उत्कीर्णनामाक्षरं = जिस पर नाम खुदा है।

पृ. ३८६—धीवरः=मल्लाह। मा अन्तरा प्रतिबधान—बीच में मत रोको।

पृ. ३८७—आवुत्त = भगिनीपति। लप = बोल। वडिश = मछली मारने की कटिया। आजीवः = जीविका।

पृ. ३८८—श्रोत्रियः=यज्ञ करने वाला अग्निहोत्री ब्राह्मण।

पृ. ३८९—कल्पितः = काटा। आगमः = प्राप्ति की कथा। आमिषगन्धः = मांस की दुर्गन्ध।

पृ. ३९०—ग्रन्थिच्छेदक = गिरहकट। गोपुरद्वारे = नगर के द्वार पर। सम्भवतः यह शब्द यहां राजमहल के फाटक के लिए आया है।

पृ. ३९१—अवसरोपसर्पणीयाः=राजाओं के पास मौका देखकर जाया जाता है।

पृ. ३९२—स्वकुल्यानाम् = अपने कुल के लोगों का। उपपन्नः=ठीक है।

पृ. ३९३—तव क्रीतकं मे जीवितम्=आपने मेरी जिन्दगी खरीद ली है। सम्मितं=तुल्य बराबर।

पृ. ३९५—अभिमतः जनः=प्रियजन। पर्युत्सुकमनाः=उत्कण्ठित।

पृ. ३९६—सुरामूल्यं = शराब का दाम। शराब पीने के लिए। कादम्बरीसाक्षिकं = शराब को साक्षी रख कर। शौण्डिकालय=शराब चुवाने वाले के घर। शराब की दुकान पर। यह दृश्य उस समय की सामाजिक अवस्था पर प्रकाश डालता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय के पुलिस अधिकारी अशिक्षित होते थे। उच्च पद पर राजवंश से संबंध रखने वालों की नियुक्ति होती थी। राजपुरुष अपराधियों को उनसे अपराध स्वीकार कराने के लिये कष्ट देते थे। परन्तु वे राजाज्ञा का पालन बड़ी ईमानदारी से करते थे। वे घूस नहीं लेते थे। काम हो

जाने पर यदि कोई इनाम दे तो ले लेते थे। निम्न वर्ग के लोगों में शराब पीने की प्रथा थी। प्रायः लोग अपना जन्मसिद्ध पेशा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। चोरी आदि अपराधों के लिये प्राण-दण्ड तक दिया जाता था। धीवर की 'पशुमारण कर्मदारुणः' इत्यादि उक्ति से मालूम पड़ता है कि बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे बढ़ रहा था।



षष्ठ अङ्क

पृ. ३९७—आकाशयानेन = आकाश मार्ग से। अप्सराओं की उड़ने की शक्ति होती है। उन्हें विमान की आवश्यकता नहीं होती। मिश्रकेशी—अन्य संस्करणों में यहां प्रवेश करने वाली अप्सरा का नाम सानुमती है। इस संस्करण में उसका नाम मिश्रकेशी माना गया है।

पृ. ३९८—पर्यायनिर्वर्तनीयं = यह नियम था कि वारक्रम से एक अप्सरा अप्सरस्तीर्थ पर उपस्थित रहे। उस दिन मिश्रकेशी की पारी थी। अतः वह कार्य उसने संपन्न किया। अप्सरस्तीर्थसन्धिष्टम्—अप्सरा योनि में उत्पन्न मेनका आदि अप्सराओं का कहा हुआ। कुछ पुस्तकों में 'अप्सरस्तीर्थसान्निध्य' पाठ है। यह पाठ अच्छा मालूम पड़ता है। तद्यावत्........तावत्—किशोरकेलिकार ने इस अंश की जैसी व्याख्या की है उस प्रकार यहां 'तत् व्यर्थ' हो जाता है। जहां उसका प्रयोग किया गया है वहां वह ठीक नहीं बैठता। यदि उसका प्रयोग करना ही है तो उसे 'साम्प्रतं' के पास लाना चाहिये। हिन्दी का अनुवाद दूसरे ही मार्ग पर जा रहा है। यदि उसे ठीक माना जाय तो 'साम्प्रतं' व्यर्थ हो जायगा। इसके अतिरिक्त अनुवाद से यह झलकता है कि कुबेर का स्नान होने के पहिले ही मिश्रकेशी राजा का वृत्तान्त देखने चली जाती है। इस अवस्था में राजा का वृत्तान्त जानने के बाद उसे कुबेर के स्नान के समय पुनः अप्सरातीर्थ पर आना चाहिये। परन्तु वह उसका नाम भी नहीं लेती। उद्यान में राजवृत्तान्त जानने के बाद वह वहां से सीधे शकुन्तला के पास चली जाती है। देखिये पृ. ४८१। अनुवाद को ठीक मानने से एक और कठिनाई उपस्थित होती है। मिश्रकेशी कुबेर के स्नान का समय होने के पहिले ही राजा का वृत्तान्त जानने के लिये उद्यान चली जाती है। वहां वह प्रायः मध्याह्नोत्तर दो बजे के समय तक रुकती है। क्या इतनी देर तक कुबेर के स्नान का समय ही नहीं होता? इन्हीं सब कठिनाइयों के कारण जो पाठ इस संस्करण में अपनाया गया है वह ठीक नहीं है। बम्बई संस्करण का पाठ अच्छा प्रतीत होता है। वह पाठ इस प्रकार है—निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयम् अप्सरस्तीर्थसान्निध्यं यावत् साधुजनस्याभिषेककालः इति, साम्प्रतम् आदि।

पृ. ३९९—शरीरभूता=अपने शरीर के समान प्यारी शकुन्तला मेनका की लड़की है। मिश्रकेशी भी एक अप्सरा है। इस नाते मेनका उसकी बहिन हुई। बहिन की लड़की होने के कारण शकुन्तला उसे अपने शरीर के समान प्यारी हुई। तथा च इत्यादि—मेनका ने मुझे पहिले ही से लड़की का समाचार लेने के लिये कह रखा है। उपस्थितोत्सवेऽपि दिवसे—वसन्त ऋतु में मदनोत्सव या वसन्तोत्सव मनाया जाता है। इस अवसर पर कामदेव का पूजन किया जाता है। लोग एक दूसरे पर अबीर रंग आदि डालते हैं। आजकल यह उत्सव होली के नाम से प्रसिद्ध है। विभवः=सामर्थ्य।

पृ. ४००—प्रणिधानेन=समाधि के द्वारा, योगबल से। तिरस्करिण्या विद्यया-यह एक विद्या है। इसे जानने वाला सबको देख सकता है, परन्तु उसको कोई नहीं देख सकता।

पृ. ४०१—आताम्रहरितवृन्तम्=जरा लाल और हरे वृन्त वाला। उच्छ्वसित-मिव=प्राण की तरह, प्राण के समान। क्षणमङ्गल्यं—मङ्गलाय हितं मङ्गल्यं, क्षणेषु मङ्गल्य क्षणमङ्गल्यम्, उत्सवों में मङ्गलकारक। नियच्छामि=निश्चय करती हूँ। जरा लाल और हरे, उत्सवों में मङ्गलकारक दिखाई देने वाले इस आम के अङ्कुर को मैं वसन्त के प्राण के समान समझती हूँ। परभृतिके—एक का नाम परभृतिका और दूसरी का नाम मधुकरिका है। कालिदास के नामों के चुनाव पर ध्यान दीजिये। वसन्तऋतु में कोयल और भ्रमरी मस्ताती हैं।

पृ. ४०२—अग्रपदे परिस्थिता भूत्वा=पैर के पंजों पर खड़ी होकर। चूतप्रसवं=आम के बौर को।

पृ. ४०३—कपोतहस्तं—बन्द अञ्जलि। अञ्जलि के पीछे का भाग फूला हुआ होता है और आगे अङ्गुलियाँ सटकर चोंच की तरह हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में उसका आकार कबूतर का-सा दिखाई देता है। मिलाये हुए हाथों का ऊपर का हिस्सा यदि खुला हो तो अञ्जलि होती है और यदि वह भी बन्द कर दिया जाय तो कपोतहस्त होता है।

पृ. ४०४—पञ्चान्तरितः शरः=पाँच में से एक बाण। अरविन्द, अशोक, चूत, नवमल्लिका और नीलोत्पल ये कामदेव के पाँच बाण हैं।

पृ. ४०५—अनात्मज्ञे=अपने को न पहिचानने वाली। क्या तुम नहीं जानतीं कि तुम दासियाँ हो। तुम्हें राजा की आज्ञा के विरुद्ध नहीं जाना चाहिये। राजा की आज्ञा है कि वसन्तोत्सव न मनाया जाय। फिर भी तुम उसकी तैयारी कर रही हो यह अनात्मज्ञता है। अगृहीतार्थेआवाम्=हम दोनों को इस बात का पता नहीं था।

पृ. ४०८—मिश्रकेशी—नास्त्यत्र इत्यादि—मिश्रकेशी तिरस्करिणी विद्या के प्रभाव से कञ्चुकी वगैरह को दिखाई नहीं दे रही है। इसीलिये उसकी बातें भी

किसी को सुनाई नहीं दे रही हैं। उसकी उक्तियाँ प्रेक्षकों के लिये हैं। कतिचित् दिवसानि = कुछ ही दिन हुए। चित्रकर्म अर्पयितुं = चित्र बनाने के लिये।

पृ. ४०९—बहुलीभूतोऽयमर्थः = यह बात फैल गई है, सबको मालूम हो गई है।

पृ. ४१०—भवत्योः कर्णपथं आयातं = आप दोनों ने सुना होगा। कौलीनं = अफवाह। पुरा यथा इत्यादि—मन्त्री आदि कर्मचारी पहिले की तरह रोज राजा से नहीं मिलते। क्योंकि दुःखी होने के कारण राजा उनसे मिलना नहीं चाहता। सारांश यह कि आजकल राजा राज्य के कार्य में विशेष ध्यान नहीं देता।

पृ. ४११—दाक्षिण्येन = अन्य रानियों के प्रति प्रेम व्यक्त करने के लिए आदरपूर्वक। अन्तःपुरेभ्यः—रानियों को। गोत्रेषु स्खलितः = नाम की गलती करने पर। जब कोई पुरुष किसी स्त्री से गुप्त प्रेम करता है और रात दिन उसी का चिन्तन करता है तो अन्य स्त्रियों के साथ भी बातें करते समय उसके मुख से अचानक अपनी प्रेमिका का नाम निकल पड़ता है। नाम की इस गलती को गोत्रस्खलन कहते हैं। गोत्रस्खलन स्त्रियों को भी होता है। राजा शकुन्तला को बहुत प्रेम करता था। तथापि वह अन्य रानियों को यह मालूम नहीं होने देना चाहता था। अतः उनके साथ बातें करते समय वह बड़े प्रेम और आदर से उत्तर देता था। यह उसका दाक्षिण्य था। फिर भी कभी-कभी उसके मुख से गोत्रस्खलन हो जाता था। ऐसा होने पर वह लज्जा से सिर झुका लेता था।

पृ. ४१२—प्रभवतो वैमनस्यात् = बढ़ते हुए अथवा महान् मनस्ताप के कारण।

पृ. ४१३—वैमनस्यपरीतोऽपि = व्याकुल होने पर भी।

पृ. ४१४—वामप्रकोष्ठे इत्यादि—कफोणि (कोहनी) से लेकर मणिबन्ध कलाई) तक के भाग प्रकोष्ठ कहते हैं। राजा के केवल बायें हाथ में कड़ा) था। इस पर किशोरकेलिकार कहते हैं कि बायें प्रकोष्ठ में वलय धारण करना मङ्गलकारक होता है। यह ठीक नहीं प्रतीत होता। पुरुषों का दाहिना अङ्ग प्रधान होता है, बायाँ नहीं। सच बात यह मालूम पड़ती है कि कुछ काम करते समय दाहिने हाथ का कड़ा कहीं गिर पड़ा। विरहजन्य दुःख से राजा का चित्त अस्वस्थ होने के कारण उसका उधर ध्यान नहीं गया। अथवा पुरुषों में एक ही कड़ा पहिरने की प्रथा होगी। वह दाहिने हाथ में होना चाहिये। परन्तु चित्त अस्वस्थ होने के कारण भूल से बायें में पहिर लिया था। अथवा प्रथा के अनुसार दाहिने हाथ में पहिरना अलङ्कार होगा। विरह की अवस्था में अलङ्कार करना ठीक नहीं। तथापि कड़ा पहिरना आवश्यक है। अतः बायें हाथ में डाल लिया था। एकमेव काञ्चनं वलयं = केवल सोने का कड़ा। रत्नजड़ित नहीं। क्योंकि विशेष मण्डनविधि छोड़ दी थी। संस्कारोल्लिखितः = सान पर खरादा हुआ, अथवा परिष्कार के लिये खरादा हुआ। यहाँ 'संस्कार' का अर्थ 'सान' या 'परिष्कार' दोनों हो सकता है। न आलक्ष्यते = पता नहीं चलता।

पृ. ४१५—प्रत्यादेशविमानिताऽपि—राजा ने शकुन्तला का परित्याग कर दिया। इससे उसका बड़ा अपमान हुआ। इस प्रकार परित्याग करके अपमानित की गई थी। अनुशयदुःखाय—पश्चात्तापजन्य दुःख का अनुभव करने के लिये।

पृ. ४१६—भूयोऽपि लङ्घितः इत्यादि—फिर शकुन्तला रूपी वायु इसके सिर पर चढ़ा है। न जाने इत्यादि = न मालूम इसकी चिकित्सा कैसी होगी।

पृ. ४१८—शिशिरविच्छेदरमणीये—शीतकाल के बीत जाने से अर्थात् वसन्त के आरम्भ होने के कारण रमणीय। निर्मक्षिकम्—मक्षिकाणां अभावः, मक्खियों तक का अभाव अर्थात् निर्जन। रन्ध्रोपपातिनः अनर्थाः—जब मनुष्य कष्ट में रहता है तब उस पर चारों तरफ से आपत्तियाँ आती हैं। छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति।

पृ. ४२०—ब्रह्मवर्चसम् = ब्रह्मतेज। 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः'—इस सूत्र से अच् प्रत्यय होने से यह शब्द अकारान्त नपुंसकलिङ्ग हो गया है।

पृ. ४२१ = आसन्नपरिचारिका—सदा पास रहने वाली सेविका। लिपिकरी = चित्रकारिणी। मेधाविनी = किशोरकेलिकार ने इसे 'लिपिकरी' का विशेषण मान कर इसका अर्थ 'स्मरणशक्तिसम्पन्ना' किया है। वस्तुतः यह लिपिकरी का नाम है। अन्य संस्करणों में इसका नाम चतुरिका है। अतिवाहयिष्यामि = बिताऊंगा। तस्मिन् चित्रफलके इत्यादि = चित्रपट पर मेरे स्वयं अपने हाथ से बनाया हुआ शकुन्तला का चित्र वहीं लाओ।

पृ. ४२४—सखे, सर्वमिदानीमित्यादि—राजा दुर्वासा के शाप के कारण शकुन्तला का परिणय भूल गया था। परन्तु विदूषक को क्या हो गया था। उसने राजा को स्मरण क्यों नहीं दिलाया। वह भी तो सब वृत्तान्त जानता था। यह इस कथा की एक ग्रन्थि है। इसी को सुलझाने के लिये कवि ने राजा से यह सब कहलाया है। राजा की उक्ति से मालूम पड़ता है कि शकुन्तला के परित्याग के समय विदूषक वहाँ उपस्थित नहीं था।

पृ. ४२५—विदूषक कहता है कि वह शकुन्तला का वृत्तान्त भूला नहीं था। परन्तु उसे उसने हँसी समझ लिया था। क्योंकि सब बतला कर अन्त में राजा ने कहा था कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ उसे सच मत मानना। मैंने हँसी की है। देखिये पृ. १३५ क्व वयं क्व परोक्षमन्मथः—इत्यादि। यह सब होने पर भी कवि को यह बात खटक रही है कि यह ग्रन्थि ठीक तौर से सुलझती नहीं। इसीलिये अन्त में वह भवितव्यता को बलवती कह कर टाल देता है।

पृ. ४२७—बलवत् अशरणः = बहुत असहाय। व्यवसिता = प्रवृत्त हुई। बाष्पप्रकर = आंसुओं का बोझ।

पृ. ४२९—जन्मप्रतिष्ठा = जन्मस्थान, माता।

पृ. ४३२—असन्निवृत्त्यै = फिर न मिलने के लिए। अतीतं = चला गया। अतट-

प्रपातः=पहाड़ की चोटी से पतन। वस्तुतः अतट और प्रपात पर्याय हैं। परन्तु यहां 'अतट' का अर्थ पहाड़ की चोटी अथवा ऊँची चट्टान है और 'प्रपात' का अर्थ पतन। राजा कहता है कि हमारे मनोरथों का अतटप्रपात हो गया। जिस प्रकार कोई व्यक्ति ऊँची चट्टान से गिरने पर मर जाता है उसी प्रकार शकुन्तलाविषयक मेरे मनोरथ सर्वदा के लिये नष्ट हो गये।

पृ. ४३३—अवश्यंभाविनः इत्यादि—अवश्य होने वाले विषयों का समागम अचानक होता है। इसका उदाहरण अंगूठी की प्राप्ति है।

पृ. ४३६—यदि अन्यहस्तगतं भवेत् इत्यादि—यदि यह अंगूठी राजा के हाथ में वापस न आकर किसी दूसरे के हाथ पड़ी होती तो अवश्य शोचनीय हो जाती। सखि—यह शब्द यहां शकुन्तला के लिए आया है।

पृ. ४३८—मदवरोधनिदेशवर्त्ती—अवरोध की आज्ञा में रहने वाला भृत्य रानियों का नौकर होगा। वह शकुन्तला को लेने क्यों जायगा? रानियां अपने लिये एक नई सवत लाना नहीं चाहेंगी। इसलिये 'मदवरोधगृहप्रवेशं' पाठ ठीक है। किशोरकेलिकार ने 'मदवरोधगृहप्रवेशं' यह पाठान्तर देखकर लिखा है 'नलोक-' इति षष्ठीनिषेधः। वस्तुतः यहां षष्ठी का निषेध नहीं है। 'गुणकर्मणि वेष्यते' इस वार्तिक से विकल्प से द्वितीया हुई है। कालिदास ने स्वयं अन्यत्र नेता शब्द का षष्ठी के साथ प्रयोग किया है। 'नेता चमूनामिव कृत्तिकासु'—देखिये रघु० चतुर्दश सर्ग श्लो० २२। इस श्लोक से पता चलता है कि तपोवन से राजमहल तक जाकर वापस आने में तीन दिन का समय लगता है। क्योंकि राजा के नाम में तीन अक्षर हैं। सम्भव है कि एक तरफ का मार्ग चौबीस घण्टे का ही हो। जाने और आने में केवल दो ही दिन लगते हों। एक दिन राजा ने सिपाही और सवारी आदि भेजने का इन्तजाम करने के लिये रख लिया हो। यह समय पैदल यात्रा का मालूम पड़ता है। सवारी से यात्रा करने वाले लोग इसके कुछ पहिले ही पहुँच जाते होंगे। क्योंकि राजा की उक्ति से मालूम पड़ता है कि उसके सिपाही शकुन्तला को लेने के लिये तीन दिन पूरा होने के पहिले ही पहुँच जायँगे। इसी बात का चतुर्थ अंक से समर्थन होता है। शकुन्तला राजभवन जाने के लिये ऋषियों के साथ तपोवन से प्रातःकाल करीब नौ-दस बजे रवाना हुई। क्योंकि शार्ङ्गरव कहता है—दूरमधिरूढः सविता। कण्व भी शकुन्तला से कहते हैं—उप-रुध्यते मे तपोऽनुष्ठानम्। यह तो हुआ रवाना होने का समय। अब राजमहल में पहुँचने के समय पर ध्यान दीजिये। यह समय भी करीब दस-ग्यारह बजे का ही है। राजा सवेरे का दरबार करके तुरन्त उठा था। पञ्चम अङ्क के आरम्भ में कञ्चुकी कहता है—तथापि शङ्कितवानस्मि इदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय देवाय कण्वशि-ष्यागमनं निवेदयितुम्। इसके अतिरिक्त प्रतिहारी राजा से कहती है—एष अभि-

नवसम्मार्जनरमणीयः अग्निशरणालिन्दः। यह बात मध्याह्न के पूर्व ही हो सकती है। मध्याह्नोत्तर तो सम्मार्जन वासी हो जाता है। इस प्रकार शकुन्तला चौवीस घण्टे में रास्ता तय करके पैदल तपोवन से राजमहल पहुँची।

पृ० ४४१—वन्धुर = सुन्दर।

पृ. ४४४—दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं = विस्तृत अपाङ्गों के कारण बड़े नेत्र वाला। लीलाञ्चितभ्रूलतं = विलासयुक्त भ्रूलता वाला। दन्तान्तः इत्यादि = दांतों के बीच फैलने वाले हास्य की किरण रूपी ज्योत्स्ना से चमकने वाले ओठ वाला। कर्कन्धू इत्यादि—बेर की कान्ति वाले लाल ओठों से सुन्दर। विभ्रमलसत् = शृङ्गारभाव के विकार से शोभायमान। प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवं = पसीने की बूँदों के कारण आविर्भूत कान्तिद्रव वाला। चेहरे पर पसीने बूंदें क्या हैं मानो सौन्दर्य पिघल कर ऊपर आ गया है। ये सब मुख के विशेषण हैं। चित्रेऽप्यालपतीव = चित्र में होने पर भी मानो बोल रहा है।

पृ. ४४५—स्खलतीव मे दृष्टिः निभृतप्रदेशेषु=स्तनादि गुप्त स्थानों पर मेरी दृष्टि मानो लड़खड़ा रही है। स्तनादि अङ्गों के अत्यन्त सुन्दर होने के कारण मेरी दृष्टि बार बार वहीं पड़ती है। सत्त्वानुप्रवेशशङ्कया=प्राणसञ्चार की शङ्का से। चित्र सजीव है।

पृ. ४४६-४४७—यद् यत् साधु न इत्यादि—जो जो अङ्ग चित्र में चित्रकार के दोष के कारण सुन्दर नहीं बनते उन्हें चित्रकार बार बार कूंची फेर कर वस्तुभूत पदार्थकी तरह सुन्दर बनाता है। मैंने भी वैसा ही किया। परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं शकुन्तला के सौन्दर्य को यथावत् चित्रित नहीं कर पाया हूँ। उसका चित्र किञ्चित् ही लावण्य से युक्त हुआ है। तथा हि—राजा ऊपर कही हुई बात का उदाहरण दे रहा है चित्र कुछ सुन्दर और कुछ भद्दा है यह दिखला रहा है। चित्र के गुण और दोष व्यक्त कर रहा है। अस्यास्तुङ्गमित्यादि—इसके दोनों स्तन कुछ ऊँचे से मालूम पड़ते हैं। अर्थात् वस्तुतः वे जितने ऊँचे हैं उससे चित्र में वे कुछ अधिक ऊँचे हो गए हैं। नाभि निम्न सी मालूम पड़ती है। अर्थात् वस्तुतः वह जितनी निम्न है उससे चित्र में कुछ अधिक गहरी हो गई है। चित्रपट सम होने पर भी वलियां (त्रिवलि) विषम और ऊँची हो गई हैं। अर्थात् वस्तुतः वे जैसी सम और जितनी ऊँची हैं वैसी नहीं बन पाई हैं। स्याही में अधिक तेल के प्रभाव से अङ्गों में मार्दव पुराना (प्रौढ़ा स्त्रियों के मार्दव जैसा) प्रतीत होता है। अर्थात् युवतियों के सौकुमार्य में जो ताजगी होती है वह ताजगी नहीं दिखाई देती। ये चित्र के दोष हैं। अथवा तेल के प्रभाव से अङ्गों का मार्दव चिरस्थायी दिखाई देता है—ऐसी व्याख्या करके तृतीय चरण को चित्र का गुण व्यक्त करने वाला माना जा सकता है। प्रेम से वह मानो जरा जरा मेरे मुख की तरफ देख रही है। मुस्कराती हुई मानों वह मुझसे बोल रही है। ये चित्र के गुण हैं। इस

प्रकार प्रथम तीन चरणों में चित्र के दोष और अन्तिम चरण में गुण अथवा प्रथम दो चरणों में दोष और अन्तिम दो चरणों में गुण व्यक्त किये गए हैं।

पृ. ४४८—निकामजलां=बहुत जल वाली, जल से भरी। अतीत्य=छोड़कर। मृगतृष्णिकायां=असत्य वस्तु में। चमकती हुई बालू को देखकर मृग उसे जल समझता है और अपनी प्यास बुझाने की लालसा से उसकी तरफ दौड़ता है। यह मृगतृष्णा है।

पृ. ४५०—शिथिलबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशहस्तेन=बन्धन ढीला हो जाने के कारण जिससे फूल टपक रहे हैं ऐसे केशकलाप वाली। उच्चलितनीविना वसनेन= जिसकी साड़ी की गाँठ ढीली हो गई है ऐसी।

पृ. ४५४—लम्बकूर्चानां=लम्बी दाढ़ी और मूँछ वाले। प्रसाधनं=अलङ्कार।

पृ. ४५६—पाटच्चर=चोर।

पृ. ४५९—त्वां कारयामि इत्यादि=राजा ने भौंरे के लिये जो जेल की सजा निर्धारित की है उस पर ध्यान दीजिये।

पृ. ४६१—अहमपि इदानीं इत्यादि=अब तक मिश्रकेशी समझ रही थी कि सचमुच कोई भौंरा चित्र पर बैठ रहा है जिसे राजा उड़ाना चाहता है। परन्तु विदूषक के यह कहने पर कि 'यह चित्र है' वह समझी कि भौंरा चित्र का ही है। राघवभट्ट के अनुसार यहां 'एष' विदूषक के लिये आया है। परन्तु यह ठीक नहीं है। यहां यह शब्द राजा के लिये ही है। किशोरकेलिकार ने ठीक लिखा है। पौरोभाग्यं=गलती। दूसरे का दोष दिखलाना। राजा अब तक चित्र के पदार्थों को सच्चे पदार्थ समझ रहा था। विदूषक ने उसकी गलती दिखला कर उसे सचेत किया। राजा विदूषक से कहता है कि तुमने यह अच्छा नहीं किया। अब तक मैं एक रस होकर प्रिया के सहवास का आनन्द लूट रहा था। अब वह पुनः चित्र हो गई।

पृ. ४६२—पूर्वापरविरुद्धः=पहिले तो व्यभिचारिणी समझ कर शकुन्तला का परित्याग किया अब उसके लिये रो रहा है। यह पूर्वापरविरोध है। राघवभट्ट ने इसका अर्थ दूसरे प्रकार से किया है। पहिले तो चित्र को चित्र माना, फिर उन्मादावस्था में उसे सत्य समझा, अब पुनः उसे चित्र समझ रहा है। यह पूर्वापरविरोध है। यह अर्थ सरस नहीं है। पहिला अर्थ ठीक है।

पृ. ४६३—अविश्रामं=निरन्तर। विरह के कारण निद्रा नहीं आती। निरन्तर जागता रहता हूँ। अतः स्वप्न में उसका समागम नहीं हो पाता। सतत बहने वाले आँसुओं के कारण चित्र में भी उसे नहीं देख पाता।

पृ. ४६४—पिङ्गलिकावेदितया=पिङ्गलिका से यह समाचार पाकर कि किसी स्त्री का चित्र बनाने के लिये चतुरिका कलम वगैरह समान ले जा रही है। सबलात्कारं=जबरदस्ती।

पृ. ४६५—बहुमानगर्विता=किशोरकेलिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

बहुमानेन सत्कर्तृकेणात्यादरेण गर्विता जातगर्वा। यह ठीक नहीं मालूम पड़ता। कवि ने रानी वसुमती को कुलभार्या के रूप में चित्रित किया है। वह राजा से अधिक आदर पाकर घमण्ड क्यों करेगी? सो भी अपने पति से? यहाँ बहुमान का अर्थ है 'बहुत बढ़ी हुई ईर्ष्या'। जब रानी ने सुना कि राजा शकुन्तला के विरह से दुखी है तो उनके मन में सपत्नी के प्रति ईर्ष्या दीप्त हो गई। वह ईर्ष्याकृत कोप से भरी थी।

पृ. ४६६—आत्मानमपि = अपने को भी। यहाँ 'आत्मानं' राजा या विदूषक का परामर्श करता है। विदूषक का आशय यह है कि चित्र छिपाने से तुम्हारी भी तो रक्षा होगी। अथवा चित्र के साथ मुझे अपनी भी तो रक्षा करनी पड़ेगी। नहीं तो कुपित होकर रानी न मालूम क्या करावेगी। कूटवागुरातः = गुप्त जाल से, षड्यन्त्र से। मेघच्छन्नप्रासादः=राजा के एक महल का नाम है। पारावत=कबूतर।

पृ. ४६७—प्रथमसम्भावनां = पहिले आकर की अथवा पहिले किये हुए प्रेम की रक्षा करता है। राजा यद्यपि शकुन्तला से प्रेम करने लगा है। फिर भी उसने अपनी पहिली रानियों के प्रति प्रेम और आदर का व्यवहार छोड़ा नहीं है। यह उसकी चतुराई है। नागरिक ऐसा ही व्यवहार करते हैं। अन्तरे = रास्ते में। कार्योपरोधं इत्यादि-कार्य में बाधा नहीं डालना चाहती। पहिले तो चेटी को चित्र का सामान ले जाते देख रानी कुपित हुई थी और राजा को ताना मारने जा रही थी। परन्तु पीछे प्रतीहारी को पत्र ले जाते देख समझी कि अब राजा राज्य के कार्य में व्यस्त रहेंगे। ऐसे अवसर पर मेरा जाना ठीक नहीं। अतः लौट गई। यह रानी के चरित्र पर प्रकाश डालता है।

पृ. ४६८—वारिपथोपजीवी = जहाजी व्यापार से धन कमाने वाला। नौव्यसनेन = जहाज डूब जाने से। विपन्नः=मर गया। वसु = धन। राजस्वमापद्यते = राजा का धन हो रहा है। जो लोग लावारिस मर जाते हैं उनकी सम्पत्ति राजा की हो जाती है। धनवृद्धि को भी कोई सन्तान नहीं थी।

पृ. ४७०—आपन्नसत्त्वा=गर्भिणी। साकेतपुरस्य=अयोध्या के। निर्वृत्तपुंसवना= पुंसवन संस्कार गर्भ के तृतीय या चतुर्थ मास में किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि धनवृद्धि की स्त्री गर्भिणी थी।

पृ. ४७१—पित्र्यं रिक्थम् अर्हति = पिता के धन का अधिकारी है।

पृ. ४७२—पापादृते=इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। हमारी प्रजा में जिसका जो सम्बन्धी मर जाय उसके स्थान पर दुष्यन्त उसका वह सम्बन्धी होगा यदि मरा हुआ आदमी पापी न रहा हो। अथवा—जिसका जो सम्बन्धी मर जायगा उसके स्थान पर दुष्यन्त उसका वह सम्बन्धी होगा यदि वह जीवित व्यक्ति पापी न हो अथवा—जिसका जो सम्बन्धी मर जायगा उसके स्थान पर दुष्यन्त उसका वह सम्बन्धी होगा यदि वह सम्बन्ध पाप का कारण न हो। अर्थात् यदि

किसी का पिता या पुत्र मर जाय तो दुष्यन्त उसका पिता या पुत्र होगा। परन्तु यदि किसी स्त्री का पति मर जाय तो दुष्यन्त उसका पति नहीं होगा।

पृ. ४७२—काले प्रवृष्टमिव = समय पर हुई वृष्टि के समान।

पृ. ४७३-सन्ततिविच्छेदनिरवलम्बना इत्यादि-सन्तति के विच्छेद से अवलम्बन-विहीन होने के कारण सम्पत्ति मूल पुरुष के मर जाने पर दूसरे के पास चली जाती है। मेरे मरने के बाद पुरुवंश की लक्ष्मी का भी तो यही हाल होगा। उपनतश्रेयोऽवमानिनं=आये हुए कल्याण का तिरस्कार करने वाले। राजा का आशय यह है कि गान्धर्व विधि से विवाहित मेरी स्त्री शकुन्तला गर्भिणी थी मैंने अज्ञानवश उसका परित्याग किया। अब मैं सन्तान के लिये रो रहा हूँ।

पृ. ४७४—संरोपितेऽप्यात्मनि = अपने आप को रोपित करने पर भी, गर्भिणी होने पर भी। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस सिद्धान्त के अनुसार पुरुष गर्भ के रूप में स्त्री के उदर में अपने को ही रोपित करता है।

पृ. ४७६—पिण्डभाजः=पितर, स्वर्ग गए हुए पूर्वपुरुष। दुष्यन्त का आशय यह है कि मुझे सन्तान न होने के कारण मेरे मरने के बाद मेरे पितरों को पिण्ड देने वाला कोई न रहेगा। यथाश्रुति सम्भृतानि = वेदोक्त विधि से आयोजित। निवपनानि = पिण्डप्रदान, तर्पण वगैरह।

पृ. ४७७—धौताश्रुसेकं—धातूनामनेकार्थत्वात् धौतः का प्रवाहितः अर्थ करना चाहिए। धौतः अश्रुसेकः; यस्मिन तत् धौताश्रुसेकं। यह उदकं का विशेषण होगा। जिस जल में आँसू बहाये गए हैं ऐसा जल अर्थात् आँसू मिला जल। यदि इसे क्रिया-विशेषण माना जाय तो-धौतः अश्रुसेकः यस्मिन् कर्मणि तत् धौताश्रुसेकं यथा स्यात्तथा पिबन्ति। आँसू बहाते हुए पीयेंगे। व्यवधानदोषेण=पर्दे से आड़ हो जाने के कारण।

पृ. ४७८—अनुरूपमपि औषधं इत्यादि—यहाँ 'अपि' 'एव' के अर्थ में आया है। बीमारी के योग्य ही औषध उसे दूर कर सकता है। चेटी का आशय यह है कि मैं एक मजदूरिन हूँ। इसलिए राजा मेरी बात पर ध्यान नहीं दे रहा है। उसकी बराबरी का कोई आदमी उसे समझावे तो वह धीरज धारण करेगा। विदूषक उसका मुँह लगा है। वह समझावेगा तब राजा को धीरज होगा।

पृ. ४७९-आमूलशुद्धसन्तातिः=मूल से ही शुद्धसन्तति वाला। प्रजावन्ध्ये=निःसन्तान। जिस प्रकार अनर्थों के देश में विद्या का प्रवाह नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मूल से ही शुद्धसन्तति वाला यह पुरुवंश मेरे निःसंतान होने के कारण अस्त हो रहा है।

पृ. ४८०—निर्वृतं करोमि = शकुन्तला का वृत्तान्त बतला कर सुखी करूँ। देवजनन्याः = देवताओं की माता अदिति के।

पृ. ४८१—यज्ञभागसमुत्सुका देवाः = यज्ञभाग पाने के लिये उत्सुक देवगण। मिश्रकेशी का आशय यह है कि यदि दुष्यन्त निःसन्तान मर गया तो यज्ञों के द्वारा

देवताओं को तृप्त करने वाला कोई न रहेगा। अतः यज्ञभाग पाने के लिये उत्कण्ठित देवता स्वयं ही ऐसी व्यवस्था करेंगे जिससे दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन हो जाय।

पृ. ४८२—अनिषिद्धपरिजनां=अपनी सहेलियों को मना न करने वाली। राजा का कहना यह है कि रानी ने अपनी सहेलियों को माधव्य के साथ दुर्व्यवहार करने की छूट दे कर अच्छा नहीं किया।

पृ. ४८३—अत्याहितं=महाभीति, डर की बात।

पृ. ४८४—आविष्करोति इत्यादि=यथा मारुतः अश्वत्थं व्याप्य आत्मानं आविष्करोति तथा कम्पः सर्वाङ्गं व्याप्य आत्मानं आविष्करोति। जिस प्रकार पवन पीपल के वृक्ष में व्याप्त होकर अपने को व्यक्त करता है उसी प्रकार कम्प सर्वाङ्ग में व्याप्त होकर अपने को व्यक्त कर रहा है। यहां किशोरकेलिकार ने 'नन्वत्राविष्कारस्य' इत्यादि लिख कर जो प्रश्न उठाया है वह प्रश्न 'आविष्करोति' यह पाठ रखने से नहीं उठता। 'आविष्करोति' सकर्मक क्रिया है। उसके स्थान पर 'आविर्भवति' पाठ कर दिया जाय तो वह प्रश्न उठेगा। जो पाठ इस संस्करण में रखा गया है उसे रखने से 'व्याप्य' और 'आत्मानं' इन दो पदों का अध्याहार करना पड़ता है। इस पाठ को बदल कर 'आविर्भवति सर्वाङ्गम् अश्वत्थ इव मारुतः' कर देने से किसी भी पद का अध्याहार नहीं करना पड़ेगा। दिगवलोकनप्रासादः=दिशाओं में दूर तक देखने के लिये बना महल। मेघच्छन्न प्रासाद बहुत ऊँचा था। उसकी छत से दिशाओं में दूर तक दिखाई देता था। ऐसे प्रासाद राजधानियों में बनाये जाते थे। उनकी छत से यह देखा जाता था कि कहीं से कोई शत्रु आक्रमण तो नहीं कर रहा है।

पृ. ४८५—तस्याग्रभागात् इत्यादि—जिस अत्युच्च प्रासाद की उपरितन भूमि पर पालतू मोर भी मार्ग में कई बार सुस्ता कर पहुँचते हैं, उस प्रासाद के शिखर पर किसी अदृश्य आकार वाले प्राणी ने तुम्हारे मित्र विदूषक को पकड़ लिया है। गृहाः—संस्कृत में 'गृह' शब्द सामान्यतः नपुंसक लिङ्ग में चलता है। परन्तु उसका प्रयोग पुंल्लिङ्ग में भी किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में वह नित्य बहुवचन में रखा जाता है। 'इमे नो गृहाः'—मृच्छ० अङ्क प्र०। 'स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः'—नैषध सर्ग २, श्लो० ७४।

पृ. ४८७—गतिभेदं=बदली हुई चाल अर्थात् तेज गति। हस्तावारकः—चमड़े या अन्य किसी पदार्थ का बना लम्बा दस्ताना जो धनुष की प्रत्यञ्चा की चपेट से हाथ की रक्षा करता है।

पृ. ४८९—कौणपापसद=राक्षसाधम। विस्तार के लिये टीका देखिये।

पृ. ४९०—भोः तिरस्करिणीगर्वित=हे तिरस्करिणी विद्या का गर्व रखने वाले तिरस्करिणी वह विद्या है जिसके प्रभाव से मनुष्य स्वयं तो सबको देख सकता है

परन्तु उसको कोई नहीं देख सकता। मा च ते वयस्यसम्पर्कात् इत्यादि—मेरे मित्र माधव्य से लिपटे होने के कारण तुम्हारे मन में यह विश्वास न हो कि मैं माधव्य को लगने के डर से तुम्हारे ऊपर बाण न चला सकूंगा। मैं ऐसा बाण मारूंगा कि वह तुम्हें मार डालेगा और माधव्य बच जायगा।

पृ. ४९३—कालनेमिप्रसूताः=कालनेमि नाम के राक्षस की सन्तान। दानवगणः=राक्षसों का समूह। रणशिरसि=लड़ाई के मैदान में। सप्तसप्तिः=सूर्य। नैशं तिमिरं=रात के अन्धकार को। आत्तशस्त्रः एव=केवल शस्त्र लेकर ही।

पृ. ४९४—सम्भावनया=बहुमान से। तदपि कथ्यते—राजा शकुन्तला के विरह से दुःखी था। उस अवस्था में कदाचित् वह युद्ध करने न जाता। अतः मातलि ने उसे क्रोध दिलाने के लिये विदूषक को परेशान किया था।

पृ. ४९५—दिवस्पतेः=इन्द्र की। परिगतार्थं कृत्वा=यह वृत्तान्त समझा कर।



सप्तम अङ्क

पृ. ४९७—ततः प्रविशति इत्यादि—राजा राक्षसों को मार कर लौट रहा है। राक्षसों के साथ युद्ध का वृत्तान्त नाटक में नहीं दिखलाया गया है क्योंकि नाटकों में युद्ध दिखलाना मना है। किसी पात्र के द्वारा उसका वर्णन भी नहीं कराया गया है। क्योंकि युद्ध कथा का अङ्ग नहीं है। सप्तम अंक के आरम्भ में राजा और मातलि के संवाद से उसका पता चलता है। राजा और मातलि रथ पर बैठ कर आकाश मार्ग से आते हैं। सत्क्रियाविशेषात्—सत्क्रियाविशेषं अपेक्ष्य। ल्यब्लोपे पञ्चमी।

पृ. ४९९—अवदानसम्मितां—अवदानेन सम्मितां, पराक्रम के योग्य। राघवभट्ट ने लिखा है 'अवदानं शुद्धकर्म'—इत्यमरः। परन्तु अमरकोश में 'अवदानं कर्मवृत्तं' पाठ मिलता है। रघुवंश के 'नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः'—इत्यादि श्लोक की व्याख्या में मल्लिनाथ ने लिखा है—'अवदानं पराक्रमः'। 'पराक्रमोऽवदानं स्यात्' इति भागुरिः। देखिये—रघु० सर्ग ११ श्लो० २१। यहां यही अर्थ ठीक प्रतीत होता है।

पृ. ५००—विसर्जनावसरे=विदाई के समय। आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का—आमृष्टं वक्षोहरिचन्दनं अङ्कं यस्याः सा। वक्षःस्थल पर लगे चन्दन से अङ्कित। माला निरन्तर वक्षःस्थल पर लटकने के कारण वहां का चन्दन पोछ डालती है। राजा को विदा करते समय इन्द्र ने उसे अपने पास अपने आधे आसन पर बैठाया और अपने गले की मन्दारमाला उसे पहिना दी। देवताओं के सामने राजा का बड़ा भारी आदर हुआ।

पृ. ५०१—उभयैः—उभय शब्द के रूप एक वचन और बहुवचन में चलते हैं। यहां शर और नख बहुत हैं। इसलिये बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

त्रिदिवं—त्रिदिव शब्द पुल्लिङ्ग में होता है। परन्तु हेमचन्द्र के अनुसार वह नपुंसक लिङ्ग में भी हो सकता है। नतपर्वभिः— नतानि पर्वाणि येषां तैः। बाणों के पक्ष में इसका अर्थ है–छोटी गाँठों वाले अथवा दबी गाँठों वाले। नखों के पक्ष में–अंगुलियों के मांस में काफी घुसे होने के कारण मजबूत गाँठों वाले। गहरी गाँठों वाले।

पृ. ५०२–५०३—नियोज्याः=सेवक। सिद्ध्यन्ति=सफल होते हैं। सम्भावना-गुणं-सम्भावनायाः गुणः तं। बहुमान का गुण अथवा प्रभाव की महिमा। राजा का आशय यह है कि जब स्वामी अपने परिचारक पर विश्वास करके उसे कोई बड़ा काम सौंप कर आगे करता है तो उसकी हिम्मत बढ़ जाती है' और वह बड़े-बड़े काम करने में सफल होता है। अथवा-सेवक बड़े-बड़े काम करने में जो सफलता प्राप्त करता है उसका कारण स्वामी का प्रभाव होता है। धुरि=आगे। प्राभविष्यत् और अकरिष्यत् लृङ् लकार के रूप हैं। यहाँ क्रियातिपत्ति द्योतकर्ता है। राघवभट्ट के अनुसार इस पद्य के पूर्वार्द्ध में अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। उससे उदात्तालङ्कार व्यक्त होता है। उत्तरार्द्ध में दृष्टान्तालङ्कार है। किशोरकेलिकार के अनुसार यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा और सामान्य से विशेष के समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि है। वस्तुतः यहाँ विशेष से सामान्य का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास है।

पृ. ५०३—सुरसुन्दरीणां विच्छित्तिशेषैः=देवाङ्गनाओं के अलङ्कार से बचे हुए। वर्णैः=लाल, पीले रङ्गों के द्वारा। ये रंग केशर, कस्तूरी आदि पदार्थों के बने होते हैं। कुछ टीकाकारों ने 'वर्णैः' का अर्थ 'यक्षकर्दमादिभिः' किया है। यक्षकर्दम अनेक सुगन्धित द्रव्यों को मिलाकर बनाया हुआ एक प्रकार का कल्क है। कुङ्कुमागुरु-कस्तूरीकर्पूरं चन्दनं तथा। महासुगन्धिमित्युक्तं नामतो यक्षकर्दमः'—धन्वन्तरि। कल्पलतांशुकेषु=कल्पलताओं से उत्पन्न वस्त्रों पर, अथवा—कल्पलताओं के पत्तों पर। सञ्चिन्त्य=सोचकर। गीतिक्षमं अर्थबन्धं=गाने योग्य अर्थ की योजना वाले। त्वच्चरितं=तुम्हारे चरित्र को, तुम्हारे बहादुरी के कार्यों को। ये देवगण देवाङ्गनाओं के अलङ्कार से बचे रंगों से कल्पलताओं से निकले वस्त्रों पर खूब सोच कर बनाये हुए तुम्हारे चरित्र के गीत लिख रहे हैं।

पृ. ५०४—मरुतां कतमस्मिन् पथि=वायु के किस मार्ग में। भारतीय कल्पना के अनुसार सात वायु हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, सुवह, परिवह और परावह। 'भूवायुरावह इह प्रवहस्तदूर्ध्वं स्यादुद्वहस्तदनु-संवहसंज्ञकश्च। अन्यस्ततोऽपि सुवहः परिपूर्वकोऽस्माद् बाह्यः परावह इमे पवनाः प्रसिद्धाः'—सिद्धान्तशिरोमणि। आवह वायु भूपृष्ठ से लेकर मेघों तक रहता है। यह सबसे नीचे का वायु है। प्रवह वायु उसके ऊपर है। यह मेघों से लेकर सूर्यलोक तक रहता है। इसी प्रकार सब वायु एक के ऊपर एक हैं। परावह वायु सबसे ऊपर सप्तम कक्षा में है। वायुओं के नाम और स्थान भिन्न-भिन्न पुराणों में

भिन्न भिन्न दिये हैं। राजा यह जानना चाहता है कि उसका रथ इनमें से किस वायु की कक्षा में है।

पृ. ५०५—यः गगनप्रतिष्ठां त्रिस्रोतसं वहति=जो वायु आकाश में बहने वाली गंगा को धारण करता है। चक्रविभक्तिरश्मिः ज्योतींषि वर्तयति—जो वायु अपने वायुरूप किरणों को चारो तरफ प्रसारित करके नक्षत्रों को चलाता है। चक्रेण विभक्ताः रश्मयो येन सः। 'चक्रेण' मानो चारों तरफ। रश्मयः का अर्थ है वायुरूप किरण। रश्मयोऽर्थाद्वायुरूपाः—राघवभट्ट। कुछ संस्करणों में 'चक्रविभक्तरश्मि' क्रियाविशेषण माना गया है। बम्बई के संस्करण में 'ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः' पाठ है। मातलि की इस उक्ति से मालूम पड़ता है कि राजा का रथ प्रवह वायु में था। परन्तु ऐसा मानने में एक कठिनाई उपस्थित होती है। यद्यपि प्रवह वायु में नक्षत्र हैं लेकिन आकाशगङ्गा नहीं है। उसका स्थान परिवह वायु में है। श्लोक में तो राजा के रथ का होना उस वायु में कहा गया है जिसमें आकाशगङ्गा और नक्षत्र दोनों हैं। यदि 'वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्' यह पाठ लिया जाय तो भी कठिनाई दूर नहीं होती। क्योंकि परिवह वायु में आकाशगङ्गा तो है परन्त नक्षत्र नहीं है। प्रवह वायु के पक्षपाती अपने मत का समर्थन करने के लिये यह युक्ति देते हैं कि आकाशगङ्गा परिवह वायु से निकल कर भूपृष्ठ पर आती है। वह मार्ग में प्रवह वायु में से होकर ही आती होगी। अतः प्रवह वायु में उसकी सत्ता किसी न किसी रूप में माननी ही पड़ेगी परिवह वायु के परिपक्षपाती अपने मत की पुष्टि के लिए यह युक्ति देते हैं कि इस श्लोक में 'ज्योतींषि' का अर्थ सप्तर्षि है। पुराणों में परिवह वायु में आकाशगङ्गा और सप्तर्षि दोनों की सत्ता मानी गई है। वस्तुतः इस श्लोक में कुछ गड़बड़ो है। जिस संस्करण में जैसा पाठ हो वैसी व्याख्या करके ग्रन्थ लगा देना चाहिये।

पृ. ५०६—शङ्के इत्यादि-राजा का रथ प्रवह वायु से उतर कर भूपृष्ठ पर आवह वायुमें आ गया है। परिवह वायुके पक्षपाती कहते हैं कि अत्यन्त द्रुत गति के कारण राजा का रथ बोलते-बोलते परिवह वायु से उतर कर आवह वायु में आ गया है।

पृ. ५०७—अगविवरेभ्यः=पर्वतों की दरारों से निकले हुए। कुछ संस्करणों में 'अरविवरेभ्यः' पाठ है। पहियों में लगी खड़ी लकड़ियों के बीच के अवकाशों से। अचिरभासां तेजसा=बिजली के प्रकाश से। पिशुनयति=सूचित करता है। शीकरक्लिन्ननेमिः=पानी की बूँदों से गीली हाल वाले। इस श्लोक में रथ का आवह वायु में होना सिद्ध करने के लिए कुछ हेतु दिये गए हैं।

पृ. ५०८—आकाश से पृथ्वी पर उतरते समय राजा ने जो दृश्य देखा उसका वर्णन है। इस श्लोक को पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है मानो हम

वायुयान में बैठ कर नीचे आ रहे हैं। जिन्हें हवाई जहाज में उड़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे इस श्लोक को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

पृ. ५१०—५११—स्वायम्भुवात् इत्यादि—स्वयंभू अर्थात् ब्रह्मा के पुत्र मरीचि थे। इनका दूसरा नाम स्वायंभुव था। मरीचि के पुत्र कश्यप थे। इनका दूसरा नाम मारीच था। उन्होंने दक्ष प्रजापति की कन्याओं से विवाह किया था। इनमें अदिति सबसे बड़ी थी। वह कश्यप की प्रधान पत्नी थी। कश्यप और अदिति ने सृष्टि को बढ़ाया। कश्यप को प्रजापति भी कहते हैं। पुराणों में दी हुई प्रजापतियों की सूची में इनका नाम नहीं है। परन्तु सृष्टि का विस्तार करने में इनका हाथ रहा। इसलिये इन्हें कहीं कहीं प्रजापति कहा गया है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि मरीचि और दक्ष दोनों ब्रह्मा के मानसपुत्र थे। इनकी सन्तानों ने आपस में विवाह किया था। इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में चचेरे भाई बहिनों का विवाह होता था। अनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि = मंगलदाता महापुरुषों का तिरस्कार न करना चाहिये। यहाँ 'श्रेयांसि' मंगलदाता महापुरुष मारीच और अदिति के लिये आता है।

पृ. ५१२—उपोढशब्दः इत्यादि—पहिये की हाल का शब्द नहीं सुनाई दे रहा है और न धूल ही उड़ रही है। पृथ्वी का न स्पर्श होने के कारण धक्का न खाने वाला तुम्हारा रथ यद्यपि उतर गया है तथापि उसके उतरने का पता नहीं चलता है।

पृ. ५१३—एतावानेव इत्यादि—आपके और इन्द्र के रथ में यही तो अन्तर है। आपका रथ पृथ्वी को छू कर चलता है, अतः उसमें वे सब बातें होती हैं जो 'उपोढशब्दा' इत्यादि श्लोक में कहीं गई हैं। इन्द्र का रथ पृथ्वी को नहीं छूता, अतः उसमें वे बातें नहीं होतीं। वल्मीकार्द्धनिमग्नमूर्तिः = चींटियों के द्वारा बनाये हुए मिट्टी के ढेर में जिसका आधा शरीर गड़ गया है। उरगत्वक्-ब्रह्मसूत्रान्तरः = साँप के केंचुल उनके शरीर पर इस प्रकार लटक रहे हैं मानो दूसरा यज्ञोपवीत हो। कण्ठे इत्यादि=पुरानी लताओं के कुटिल तन्तुओं से गला अत्यन्त जकड़ गया है। अंसव्यापी इत्यादि = पक्षियों के घोंसलों से भरे हुए और कन्धे तक लटकने वाले जटामण्डल को धारण किये हुए। यत्र इत्यादि = वह मुनि सूर्यमण्डल पर ध्यान लगाए जहाँ खम्भे की तरह निश्चल बैठे हैं। वह मारीच मुनि का आश्रम है। यह स्थितः स मारीचाश्रमः—इत्यन्वयः।

पृ. ५१५—एतावदिति इत्यादि—यहाँ 'एतौ' अलग पद है। भवान् किमिदानीम्—यह अपूर्ण वाक्य है। 'करिष्यति' जोड़कर इसे पूरा करना चाहिये। राजा चाहता है कि मातलि उसके साथ आश्रम में जाय। परन्तु वह उसे स्पष्ट ऐसा नहीं कह सकता। क्योंकि देवराज का मातलि देवतुल्य है। इसके अतिरिक्त उसे यह भी सन्देह है कि कहीं मातलि के जाने पर घोड़े रथ को लेकर भाग न

जायँ। समययन्त्रितः इत्यादि—मातलि का आशय यह है कि उसका रथ इशारे पर चलता है। रथ की अधिष्ठात्री देवता इशारा समझती है। रथ भाग नहीं सकता।

पृ. ५१६—प्राणानाम् इत्यादि—इस तपोवन में कल्पवृक्षों के रहते हुए भी मुनिगण वायु भक्षण करके रहते हैं। वे सोने के कमलों की धूल से जरा पीले जल में स्नान आदि कार्य करते हैं और रत्नों से बने घरों में ध्यान लगाते हैं। अप्सराओं के बीच रहने पर भी वे संयम से रहते हैं। अन्य मुनि जिन पदार्थों की प्राप्ति के लिये तप करते हैं यहाँ के मुनि उन्हीं पदार्थों में रहकर तप करते हैं। यह पद्य मारीच के आश्रम की समृद्धि और वहाँ के निवासियों की निःस्पृहता प्रकट करता है।

पृ. ५१८—वृद्धसाकल्य—किसी तापस का नाम है। दाक्षायण्या=दक्ष की लड़की के द्वारा, अदिति के द्वारा।

पृ. ५२०—अबालसत्त्वः=बहुत पराक्रमी।

पृ. ५२१—जृम्भस्व=जम्भाई लो। मुँह खोलो।

पृ. ५२३—लङ्घयिष्यति=आक्रमण करेगी। स्फुलिङ्गावस्थया इत्यादि—जिस प्रकार आग की चिनगारी ईंधन पाकर भयङ्कर रूप धारण करती है। यह बालक प्रताप की चिनगारी मालूम पड़ता है। समय पाकर यह महाप्रतापी होगा।

पृ. ५३१—संवादिनी=मिल रही है, सदृश है। राजा की आकृति से बालक की आकृति मिल रही है और राजा के कहते ही बालक शान्त हो गया। यह देख कर तापसी को आश्चर्य हो रहा है। व्यपदेशः=वंश, कुल। एकान्ववायः=एक वंश का।

पृ. ५३४—अथवा अनार्यः इत्यादि—यह वाक्य राजा के चरित्र पर प्रकाश डालता है। राजा का नैतिक चरित्र इतना ऊँचा है कि वह दूसरे की स्त्री के विषय में कोई भी प्रश्न करना अनुचित समझता है।

पृ. ५३५—शकुन्त-लावण्यम=पक्षी का रङ्ग। इस शब्द को सुनते ही बालक को अपनी माँ की याद आ गई।

पृ. ५३६—उपच्छन्दितः=लुभा गया। कवि कैसी चतुराई से धीरे धीरे शकुन्तला को ला रहा है इस पर ध्यान दीजिये।

पृ. ५४०—नियमव्यापृतायाः=पातिव्रत्य व्रत के पालन में लगी हुई।

पृ. ५४१—एकवेणीधरा—विरहिणी स्त्रियाँ अपने शरीर को अलङ्कृत नहीं करतीं। वियोग के दिन बाँधी हुई वेणी को पुनः मिलन के दिन तक नहीं खोलतीं। यह विरह का चिह्न माना जाता है। 'न प्रोषिते तु संस्कुर्यात् न वेणीं च प्रमोचयेत्'—हारीत। विरहिणी के एकवेणी होने की बात काव्यों में प्रायः आती है। 'आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा'—मेघदूत। विकारकालेऽपि इत्यादि—सर्वदमन के अङ्ग पर बँधी ओषधि विकार-काल में भी जैसी की तैसी रह गई यह सुनकर मुझे मेरे सौभाग्य की (दुष्यन्त से भेंट होने की) कोई आशा

नहीं रह गई है। अथवा मिश्रकेशी ने जैसा कहा था कदाचित् वैसा ही हुआ हो (दुष्यन्त आया हो)। शकुन्तला का आशय यह है कि ऋषि ने तो सर्वदमन के हाथ में ओषधि बाँधते समय यह कहा था कि यदि यह जमीन पर गिर जाय तो इसे यह बालक स्वयं अथवा इसके माता और पिता उठा सकते हैं। दूसरा कोई नहीं उठा सकता। यदि दूसरा कोई उठावेगा तो यह सर्प होकर उसे काट लेगी। परन्तु आज सुनने में आता है कि किसी पुरुष ने उसे उठा लिया है और वह अपने स्वरूप में ही है। ऐसी अवस्था में ऋषि की बात की सत्यता कहाँ रह गई और मैं अपने सौभाग्य की क्या आशा करूँ। इतनी बात कहने तक तो शकुन्तला के मन में यह कल्पना ही नहीं उठी कि ओषधि उठाने वाला दुष्यन्त होगा। वह समझती थी कि ऋषि की बात असत्य हुई और उसके सौभाग्य का कोई आशा नहीं रही। इसके बाद उसे अचानक मिश्रकेशी की बात याद आई और उसके मन में आशा का अङ्कुर उत्पन्न हुआ। टीकाकारों ने इस वाक्य की जैसी व्याख्या की है वह ठीक नहीं प्रतीत होती। कुछ संस्करणों में 'न मे आशासीदात्मनो भागधेयेषु' पाठ है। वह ठीक नहीं प्रतीत होता। इस संस्करण का पाठ अच्छा है।

पृ. ५४३—पश्चात्तापविवर्ण इत्यादि–विरह और पश्चात्ताप से राजा की आकृति इतनी बदल गई थी कि शकुन्तला उसे पहिचान न सकी।

पृ. ५४७—प्रत्यादेशव्यलीकं=त्यागने के कारण उत्पन्न हुई पीड़ा। प्रबलतमसां–प्रबल अज्ञान में पड़े लोगों की।

पृ. ५५१—इति यथोक्तम् इत्यादि = आँसू पोंछता है।

पृ. ५५२—तेन हि इत्यादि—यदि ऐसा है तो लता ऋतुसमागम के चिह्न स्वरूप फूल धारण करे। अर्थात् तुम मेरे समागम के चिह्न स्वरूप इस अंगूठी को धारण करो।

पृ. ५५५—पुत्रस्य ते-यहां यह अदिति के मन में दुष्यन्त के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए कहा गया। इन्द्र और अन्य देवता अदिति के पुत्र हैं। इसीलिए उन्हें 'आदित्याः' कहते हैं। यह द्वादश आदित्यों की भी माता है।

पृ. ५५७—आत्मभुवोऽपि परः = ब्रह्मा से भी बड़ा। द्वन्द्वं = जोड़ा। दक्षमरीचिसम्भवम् = दक्ष और मरीचि से उत्पन्न अर्थात् मारीच और अदिति। स्रष्टुः एकान्तरम् = ब्रह्मा से एक पुरुष हट कर। ब्रह्मा के पुत्र मरीचि और उनके पुत्र मारीच। इसी प्रकार ब्रह्मा के पुत्र दक्ष और उनकी लड़की अदिति।

पृ. ५५९—अप्रतिरथः = बेजोड़ बहादुर। आखण्डल = इन्द्र। जयन्तप्रतिमः = इन्द्र के पुत्र के समान। जयन्त इन्द्र के पुत्र का नाम है। पौलोमीमङ्गला=इन्द्राणी के समान सौभाग्यवती।

पृ. ५६०—एतम्=आओ। श्रद्धा वित्तं इत्यादि—श्रद्धा और धनसञ्चय का योग

होने पर यागादि क्रियाएं होती हैं। यहां शकुन्तला श्रद्धा के समान है और दुष्यन्त वित्त के समान। दोनों के योग से विधि के समान पुत्र उत्पन्न हुआ है।

पृ. ५६१—प्रागभिप्रेतसिद्धिः इत्यादि—सामान्यतः पहिले देवताओं का दर्शन होता है, पश्चात् सिद्धि प्राप्त होती है। परन्तु यहां तो पहिले सिद्धि प्राप्त हुई पीछे आपके दर्शन हुए। यह आपका अपूर्व अनुग्रह है। मारीचाश्रम में आने पर राजा को पहिले शकुन्तला मिली, पीछे मारीच के दर्शन हुए।

पृ. ५६२—कस्यचित् कालस्य = कुछ समय बीतने पर।

पृ. ५६३—यथा गजे इत्यादि = जैसे कोई किसी हाथी को ठीक अपने सामने से जाते देख कर तो संशय करे, पीछे उसके पद चिह्न देख कर विश्वास करे। मेरे मन की भी ठीक वैसी ही दशा हुई। जब शकुन्तला राजा के सामने खड़ी थी तब तो राजा ने संशय किया कि क्या जाने इससे विवाह किया है या नहीं। बाद अङ्गुली-यक देख कर याद आई।

पृ. ५६५—वचनीयात् = बदनामी से।

पृ. ५६८—अनुद्धातस्तिमितगतिना=धक्के न खाने के कारण स्थिरगतिवाले अर्थात् पृथ्वी को न छूकर आकाश-मार्ग से जाने वाले। सप्तद्वीपां = हिन्दू शास्त्रों के अनुसार पृथ्वी सात द्वीपों में बँटी है। उनके नाम इस प्रकार हैं–जम्बु, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर। इनमें से जम्बुद्वीप मनुष्यों का निवास-स्थान है।

पृ. ५७२—बिडौजाः = इन्द्र। प्राज्यवृष्टिः = पर्याप्त वृष्टि करने वाला। युगशत-परिवृत्तैः = सैकड़ों युग बीतने तक, सैकड़ों युग पर्यन्त।

पृ. ५७३—भरतवाक्यम्—नाटक समाप्त होने पर नटों की तरफ से प्रेक्षकों को लक्ष्य करके मङ्गल-वाक्य कहा जाता है। यह आशीर्वाद अथवा अङ्गल-कामना का रूप ग्रहण करता है। यह पद्य में होता है और किसी प्रधान पात्र के द्वारा कहलाया जाता है। सम्भव है इस वाक्य का यह नाम नाट्यशास्त्र-कर्त्ता भरत महामुनि के नाम पर रखा गया हो कुछ लोगों का मत है कि जो पात्र भरत-वाक्य कहता है वह उसे पात्र की हैसियत से नहीं कहता, नटों के प्रतिनिधि की हैसियत से कहता है। यहां तो वह राजा की उक्ति का अंश मालूम पड़ता है। कुछ लोगों का कहना है कि इसे कवि की उक्ति मानना चाहिये। प्रकृतिहिताय = प्रजा के हित के लिये। श्रुतिमहती-श्रुतिभिः महती। वेद भी जिसकी प्रशंसा करते हैं। सरस्वती= संस्कृत वाणी, अथवा सब प्रकार का ज्ञान, विज्ञान। इस भरतवाक्य में मङ्गल-कामना की गई है।

शुभम्।



श्लोकानुक्रमणिका


पाणिनि-प्रज्ञा-अनुराग
तिथी............
पु०सं०............



नाटक-ग्रन्थाः

१ चन्द्रकलानाटिका । विश्वनाथकविराज कृत । हिन्दी व्या
२ चैतन्यचन्द्रोदय । 'ज्ञानप्रभा' हिन्दी व्याख्या सहित
३ नलचम्पू । 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित
४ विद्यापरिणय । 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित
५ शुकसप्तति । 'विनोदिनी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित
६ हनुमन्नाटक । 'विभा' हिन्दी व्याख्या सहित
७ अमृतोदयनाटक । 'प्रकाश' संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित
८ आश्चर्यचूडामणि । शक्तिभद्र विरचित । 'रमा' संस्कृत-हि
९ चण्डकौशिक । 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित
१० प्रबोधचन्द्रोदय । 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित ३-५०
११ नाटकचन्द्रिका । रूपगोस्वामीप्रणीत । 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या ८-००
१२ [illegible]रणनाटकम् । पं० गोपालशास्त्री विरचित ४-००
१३ मुद्राराक्षस । संस्कृत-हिन्दी-अंगरेजी व्याख्या १०-००
१४ प्रभावतीपरिणय । हरिहर विरचित । 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या ६-००
१५ जवाहरलालनेहरूविजयनाटकम् । हिन्दी टीका सहित ४-००
१६ हिन्दी के पौराणिक नाटक । डॉ० देवर्षि सनाढ्य १२-००
१७ अनर्घराघव । प्रकाश संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित १०-००
१८ अभिज्ञानशाकुन्तल । किशोरकेलि संस्कृत-हिन्दी टीका सहित ८-००
१९ उत्तररामचरित । चन्द्रकला संस्कृत-हिन्दी टीका, नोट्स सहित ९-००
२० प्रसन्नराघव । चन्द्रकला संस्कृत-हिन्दी टीका सहित ७-००
२१ भासनाटकचक्र । 'प्रबोधिनी' 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित २५-००
२२ महावीरचरित । प्रकाश संस्कृत-हिन्दी टीका सहित ७-००
२३ मालतीमाधव नाटक । चन्द्रकला संस्कृत-हिन्दी टीका सहित ८-००
२४ मालविकाग्निमित्र । प्रकाश संस्कृत-हिन्दी टीका सहित ३-५०
२५ मुद्राराक्षस । शशिकला संस्कृत-हिन्दी टीका सहित ५-००
२६ मृच्छकटिक । प्रबोधिनी संस्कृत-हिन्दी टीका सहित १०-००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१